वनौषधि-निदर्शिका

[आयुर्वेदीय फार्माकोपिया]

लेखक

डॉ० रामसुशील सिंह

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

प्रकाशकीय

वनों में निवास करने वाले भारत के प्राचीन ऋषियों ने प्रकृति के नाना तत्त्वों एवं रहस्यों का पता लगा कर ज्ञान-विज्ञान की जिन शाखाओं का विकास किया, उनमें आयुर्वेद भी एक है। अतएव देशी चिकित्सा-प्रणालियों में आयुर्वेद का अपना विशेष महत्त्व है। कारण यह है कि बड़ी-बड़ी नदियों से अभिसिंचित और उत्तुंग पर्वत-श्रेणियों से परिवेष्टित यहाँ की उर्वरा भूमि में उगने वाली भाँति-भाँति की वनस्पतियों में ऐसे पदार्थ पाये जाते हैं जो हमारे स्वास्थ्य के लिए लाभकारी ही नहीं, आयु बढ़ाने वाले भी सिद्ध हुए हैं।

आयुर्वेद की चिकित्सा में काष्ठ-ओषधियों—अनार, अड़ूसा, अजमोद आदि का उपयोग किया जाता है। ये ओषधियाँ लाभप्रद होने के साथ ही सस्ती भी होती हैं। कुछ तो अनेक स्थानों में विना मूल्य ही थोड़े परिश्रम से मिल जाती हैं। बहुत-से लोग ओषधियों का नाम जानते हैं और उन्हें पहचानते भी हैं किन्तु उनके गुण और दोषों को न जानने के कारण उनका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकते। अतः इस पुस्तक में ओषधियों का नाम अकारादि क्रम से देकर उनके गुणों और उपयोग का विवरण दिया गया है। भिन्न-भिन्न प्रचलित नाम भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त ओषधियों के संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी और लैटिन नामों का भी उल्लेख कर दिया गया है। अतः एक व्यापक दृष्टिकोण लेकर यह पुस्तक तैयार की गयी है।

नामों की उपर्युक्त विशेषता के अतिरिक्त इसमें प्रत्येक ओषधि के प्राप्तिस्थान का—ओषधि किस देश, प्रदेश में प्राप्त की जा सकती है—विस्तृत वर्णन है। संक्षिप्त परिचय में ओषधि के आकार-प्रकार का, मूल, शाखा और पत्ते आदि का पूर्ण परिचय दिया गया है जिससे ओषधि के पहचानने में पूरी सहायता मिले। ओषधियों को किस ढंग से रखा जाय, वह कितने दिनों तक गुणयुक्त, सुरक्षित रह सकती हैं आदि आवश्यक ज्ञातव्य बातों का वर्णन इस पुस्तक में पाठकों को मिलेगा। हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के डॉ० रामसुशील सिंह, प्राध्यापक, द्रव्यगुण विभाग, इस ग्रन्थ के लेखक हैं। आप अपने विषय के प्रसिद्ध विद्वान् और इस शाखा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विशेषज्ञ हैं, आपने प्रगाढ़ अनुभव के आधार पर इस पुस्तक का प्रणयन किया है। आशा है, इस ग्रन्थ के प्रकाशन से आयुर्वेद में आस्था रखने वाले लोगों एवं विद्यार्थियों को यथेष्ट लाभ होगा।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति

प्राक्कथन

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् अपनी सरकार ने देश की सार्वदेशिक समुन्नति के लिए जिस तत्परता एवं उत्साह से प्रयास किया है, और कर रही है, यह सर्वविदित है। इस अभियान के अन्तर्गत भारतीय चिकित्सा-पद्धतियों को भी समुन्नत एवं स्वतंत्र सत्ता के स्तर पर लाने का प्रयास किया जा रहा है। चिकित्सा की सफलता के लिए सक्रिय एवं विश्वस्त ओषधियों की उपलब्धि सर्वमान्य तथ्य है। किन्तु आज आयुर्वेदीय एवं यूनानी ओषधियों में इस कठिनाई का अनुभव सर्वत्र किया जा रहा है, निर्मित योगों में न तो एकरूपता ही पायी जाती है, और न तो उपभोक्ता को यह विश्वास होता है कि बहुमूल्य उपादान उसमें डाले गये हैं या नहीं। योगों में बहुशः पड़ने वाली काष्ठौषधियों में भी बहुत मिलावट होने लग गयी है। एक ही नाम से सर्वथा भिन्न ओषधियाँ बेची जाती हैं, अथवा वास्तविक ओषधि का प्रयोग उस नाम से न होकर सर्वथा भिन्न द्रव्य के नाम से होता है। किन्तु इस दुर्व्यवस्था का कारण केवल यही नहीं है, कि ऐसा जानबूझ कर किया जाता है, अपितु कभी-कभी अज्ञान के कारण भी ऐसी स्थिति होती है। अतएव इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए भारतीय चिकित्सा-पद्धतियों के लिए भी एक **फार्माकोपिआ** की नितान्त आवश्यकता है, जिससे औषध-द्रव्यों एवं योगों के विनिश्चय, मानकीकरण एवं एकरूपता लाने में सहायता मिल सके। किन्तु ऐसी फार्माकोपिआ को मान्यता प्रदान करने के लिए उसकी रचना राजकीय स्तर पर आवश्यक हो जाती है। उक्त तथ्य को दृष्टि में रखते हुए ही भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों ने तथा केन्द्रीय स्वास्थ्य-मंत्रालय ने भी आयुर्वेदीय एवं यूनानी फार्माकोपिआ समितियों का गठन कर उनमें सक्रियता प्रदान की। राज्य सरकारों द्वारा इस दिशा में किये गये प्रयासों में उत्तर प्रदेश प्रथमोल्लेखनीय है, जिसका मुख्य श्रेय माननीय मुख्य मंत्री श्री चन्द्रभानु जी गुप्त को है, जिनके पूर्वस्वास्थ्यमंत्रित्व काल में आयुर्वेदीय एवं यूनानी फार्माकोपिआ समितियों का संगठन हुआ और उनको सदैव उनका प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। कुछ वर्षो बाद उक्त समितियों को समाप्त कर दिया गया, जिससे सब कार्य यथास्थान रह गया। समुपस्थित ग्रन्थ में जिस आलेख-प्रारूप का अवलम्बन किया गया है, वह उक्त फार्माकोपिआ समिति द्वारा ही निर्धारित किया गया था। इसमें प्रस्तुत एकौषधि फार्माकोपिअल आलेख तत्कालीन निदेशक, आयुर्वेद-यूनानी सेवाएँ उत्तर प्रदेश, के आदेश पर लेखक द्वारा लिखे गये हैं, जिसका प्रकाशन उत्तर प्रदेश की हिन्दी समिति द्वारा वर्तमान निदेशक, आयुर्वेद-यूनानी सेवाएँ उत्तर प्रदेश के अनुमोदन पर किया गया है। अतएव राज्य सरकार द्वारा स्थापित आयुर्वेदिक यूनानी फार्माकोपिआ के न होने से और इसका प्रकाशन उसके संरक्षण में न होने से ग्रंथ का विषय फार्माकोपिअल होने पर भी इसके नामकरण में किंचित् परिवर्तन करके मुख्य शीर्षक 'वनौषधि-निर्दशिका' तथा 'आयुर्वेदीय फार्माकोपिआ' शीर्षक कोष्ठक में रखा गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में अधिक प्रचलित आयुर्वेदीय एवं यूनानी योगों में उपादान रूप से पड़ने वाले वानस्पतिक द्रव्यों का समावेश है, जिसमें प्रत्येक द्रव्य के बारे में फार्माकोपिआ की दृष्टि से यथासम्भव उपलब्ध विषयों के समावेश का प्रयास

किया गया है। साथ ही आयुर्वेद-यूनानी के स्नातकीय एवं स्नातकोत्तर शिक्षण में पाठ्यक्रमोपयोगी हो इसका भी ध्यान रखा गया है। आदर्श आयुर्वेदीय एवं यूनानी फार्माकोपिआ के निर्माण की दिशा में यह प्रारम्भिक प्रयास है, अतएव इसमें कमियों का होना भी सम्भव है, किन्तु फार्माकोपिआ का क्रमिक विकास इसी प्रकार होता है और उसके उपयोगी अंशों का लाभ उठाना चाहिए तथा उसमें परिवर्धन एवं सुधार का निरंतर प्रयास होते रहना चाहिए। एतदर्थ लेखक का सभी विद्वानों एवं विशेषज्ञों से विनम्र निवेदन है, और आशा है कि उनका सहयोग सदैव प्राप्त होता रहेगा।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों एवं कृतियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनका उपयोग इस ग्रंथ में किया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की सरकार एवं तत्कालीन तथा वर्तमान आयुर्वेद निदेशक के प्रति भी इस कार्य में उनकी अभिरुचि के लिए धन्यवाद प्रकाश करता हूँ।

रामसुशील सिंह
द्रव्यगुण विभाग,
आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी—५

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी	पं०	पंजाबी
अ०	अरबी	पहा०	पहाड़ी
अफ०	अफगानी	पुर्त०	पुर्तगाली
अम०	अमेरिकी	फा०	फारसी
अस०	असमिया (आसामी)	फैमि०	फैमिली
इ०	इरानी	फ्रां०	फ्रांसीसी
उ०	उर्दू	बं०	बंगाली, बंगला
उड़ि०	उड़िया	बम्ब०	बम्बई
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश	भा० प्र०	भावप्रकाश
क०	कश्मीरी	भोटि०	भोटिया
क० अ०	कल्पस्थान	म०	मराठी
कना०	कनाडी, कन्नड़	मणि०	मणिपुरी
काठि०	काठियावाड़	मल०	मलयालम
कु०	कुमाऊँ	मा०	माशा
कों०	कोंकण	मार०	मारवाड़ी
को०	कोल	माल०	मालवा
खर०	खरवार	मि० ग्रा०	मिलीग्राम
खा०	खासिया	मि० मि०	मिलीमीटर
गढ़०	गढ़वाली	मुंग०	मुंगेर
गु०	गुजराती	यू०	यूनानी
गो०	गोवा	र०	रत्ती
ग्रा०	ग्राम	रा० नि०	राजनिघण्टु
च०	चरक	रा० पु०	राजपुताना
चि०	चिकित्सास्थान	ले०	लेटिन
त०, ता०	तमिल, तामिल	लेप०	लेपचा
तु०	तुर्की	सं०	संस्कृत
ते०	तेलुगु	संथा०	संथाल
तो०	तोला	सिंध	सिंधी
था०	थारो	सिंह०	सिंहली
द०	दक्षिण	सु०	सुश्रुत
देहरा०	देहरादून	सें० मी०	सेंटीमीटर
ध० नि०	धन्वन्तरीय निघण्टु	हिं०	हिंदी
ने०	नेपाली		

विषयानुक्रमणिका

वनौषधि-निदर्शिका

[आयुर्वेदीय फार्माकोपिया]

वनौषधि-निदर्शिका

[आयुर्वेदीय फार्माकोपिया]

अङ्कोल (ढेरा)

नाम। सं०–अङ्कोल, अङ्कोट, दीर्घकील। हिं०, द०–ढेरा, टेरा, थैल, अङ्कूल। को०–अंकोल। संथा०–ढेला। वं०–आंकोड़। (सहारनपुर)–विसमार। म०–आंकुल। गु०–ओंकला। आलांजिउम साल्वीफ़ोलिउम *Alangium salvifolium* (*L. f.*) *Wang.* (पर्याय–*A. lamarckii Thw.*)।

वानस्पतिक कुल–अंकोट-कुल (कॉर्नासी *Cornaceae*)।

प्राप्तिस्थान–अंकोट का पेड़, हिमालय की तराई, उत्तर प्रदेश, विहार, वंगाल, राजस्थान, दक्षिण भारत एवं वर्मा में पाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय–अंकोट के वृक्षस्वभाव के बड़े क्षुप अथवा छोटे वृक्ष (लगभग ३ मीटर से ६ मीटर या १० से २० फुट ऊंचा) होते हैं, जो प्रायः वनों अथवा शुष्क व उच्च भूमि में उत्पन्न होते हैं। पुराने वृक्षों की प्रशाखाएँ तीक्ष्णाग्र होने से कण्टकीभूत (*Spinescent*) मालूम पड़ती हैं। इसका प्रधान काण्ड (काण्डस्कन्ध) लगभग २॥ फुट व्यास में मोटा एवं गोल तथा धूसरित रंग के छाल से युक्त (*Bark : grey*) होता है। पत्तियाँ एकदलपत्र या अपत्रक (*Simple*), एकान्तर क्रम से स्थित ७॥ से १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्बी और विभिन्न आकार-प्रकार की होती हैं। माघ से चैत तक अर्थात् आरम्भिक ग्रीष्मकाल में यह पेड़ फूलता-फलता है। पुष्पितावस्था में वृक्ष प्रायः पत्रशून्य होता है। फल वैशाख से सावन तक पकते रहते हैं। पुष्प सफेद, पीताभ-सफेद, १.५ सेंटीमीटर से २ सेंटीमीटर ($\frac{3}{4}$ इंच से $\frac{4}{5}$ इंच) लम्बे तथा सुगंधित पुष्पवाहक दण्ड पर एक-एक अथवा स्तवक या गुच्छों में (*Solitary or fascicled*) निकलते हैं। पुष्पक्रम या पुष्पव्यूह एवं कैलिक्स या पुष्पवाह्य कोष (*Inflorescence and Calyx*) मृदु मखमली रोमावृत (*Woolly*) होता है। पेटल अर्थात् पंखुड़ी या दलपत्र (*Petals*) संख्या में ५-१० लगभग २.५ सें. मी. (१ इंच) लम्बे; पुंकेशर (*Stamens*) संख्या में ३० तक, छोटे तथा रोमावृत, एन्थर या परागकोश (*Anthers*) अपेक्षाकृत काफी लम्बे होते हैं। ओवरी या अण्डाशय (*Ovary*) अधस्थ एवं एककोष्ठीय (*Inferior and 1-celled*); कुक्षिवृन्त या स्टाइल (*Style*) काफी लम्बा एवं सूत्राकार (*Filiform*)।

उपयोगी अंग। मूलत्वक् (जड़ की छाल), पत्र, फल, बीज एवं बीजों से प्राप्त तैल।

मात्रा। मूलत्वक् चूर्ण–लगभग १२० मि० ग्रा० से ३०० मि० ग्रा० या १–२$\frac{1}{2}$ रत्ती (रक्तशोधक, कुष्ठनाशक आदि); ०.४ ग्राम से ०.६ ग्राम या ३–५ रत्ती (स्वेदजनन, मूत्रल एवं प्रवाहिकानाशक)। लगभग २.६ ग्राम या ३ माशा (वामक मात्रा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–(मूल) वजनी या भारी-सा, ठस, पीताभ वर्ण का तथा तैलीय रंग का होता है। इसकी छाल दालचीनी की तरह भूरे रंग की और वाह्य तल पर छोटी-छोटी गोल ग्रंथिल रचना से युक्त होती है और वाहरी छाल पतले-पतले पर्तनुमा टुकड़ों में छूटती है। छाल स्वाद में तिक्त एवं गंध हल्की उत्क्लेशकारक होती है। जड़ एवं जड़ की छाल पर फ़ेरिकपरक्लोराइड सॉल्यूशन डालने से यह मटमैले हरे रंग की हो जाती हैं। फल या वेरी (*Berry*)–१५.६ मि० मी० या $\frac{5}{8}$ इंच लम्बे तथा ९.४ मि० मी० या $\frac{3}{8}$ इंच चौड़े, अंडाकार (*Ellipsoidal*), पकने पर काले रंग के हो जाते हैं, जिनका गूदा (*Pulp*) काली आभा लिये लाल रंग का होता है। स्वाद में कसैलापन लिये खट्टा एवं किंचित् मधुर होता है। फल वाहर से सूक्ष्म एवं

कोमल लोमावृत अथवा उक्त लोमों के झड़ जाने से अन्ततः चिकने हो जाते हैं। गुठली अपेक्षाकृत बड़ी एवं कड़ी (*Endocarp bony*) होती है, जिसमें दीर्घवत् या लम्बोतरा बीज (*Seeds : oblong*) होता है। (अंकोट तैल) प्राप्त करने की विधि—एक प्याले के मुंह को कपड़े से बांध कर अंकोल के बीज की गिरी को कट कर इस पर बिछा दें, और एक टुकड़ा अभ्रक का इस पर रख कर कोयलों की आग करें। इसकी गर्मी से तैल टपक कर प्याले में एकत्रित हो जाता है। औषधि में इसी का व्यवहार करें। पत्तियाँ – ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० या ३ से ६ इंच लम्बी, २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच चौड़ी, रेखाकार-आयताकार (*Linear oblong*) से अंडाकार या दीर्घवृत्तीय या लम्बगोल (*Elliptic*), निशिताग्र (*Acute*) अथवा लम्बाग्र या लम्बानुकीली (*Acuminate*) अथवा कुण्ठाग्र (*Obtuse*) होती हैं। पत्तियों के तल प्रायः चिकने होते हैं। मुख्य शिरा की पार्श्वगामी शाखाएँ (*Lateral nerves*) ५ से ८ तथा सूक्ष्म होती हैं। पत्तियाँ आधार की ओर क्रमशः कम चौड़ी (*Base acute*), अथवा किन्हीं पत्तियों में आधार गोला (*Rounded*) भी होता है। पर्णवृन्त ०.५ सें० मी० से १.२५ सें० मी० या $\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{2}$ इंच लम्बा एवं रोमावृत होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयुक्त अंगों का संग्रह कर शीतल एवं अनार्द्र स्थान में मुखबन्द डिब्बों में रखना चाहिए। तैल को अम्बरी रंग की शीशियों में अच्छी तरह डाट बंद कर शीतल एवं अँधेरी जगह में रखें।

संगठन – इसकी जड़ (मूलत्वक्) में अङ्कोटीन (एलेन्जीन) (*Alangine*) नामक अत्यंत तिक्त ऐल्केलॉइड (०.८%) पाया जाता है। यह जल में तो अविलेय किन्तु अल्कोहल, क्लोरोफॉर्म एवं सालवेंट ईथर में घुल जाता है। तैल में भी ०.२% ऐल्केलॉइड पाये जाते हैं। चर्बी का अंश अपेक्षाकृत कम पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष। तैल कई वर्षों तक।

स्वभाव। गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, सर। रस–तिक्त, कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–विषघ्न। प्रधान कर्म – कफवातशामक एवं पित्तसंशोधन, वेदनास्थापन, शोथहर, विषघ्न, यकृदुत्तेजक, (अधिक मात्रा में) वामक, रेचन, मूत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, त्वग्दोषहर। फल–वातपित्तशामक, बल्य, बृंहण, दाहप्रशमन। तैल–वेदनास्थापन, व्रणरोपण।

मुख्य योग – अंकोल तैल।

विशेष – अल्प मात्रा में एलेन्जीन हृदय पर अवसादक प्रभाव के कारण रक्तभार ((*Blood pressure*) को कम करता है; किन्तु इससे आन्त्र की पुरस्सरण गति (*Peristaltic movement*) में वृद्धि होती है।

अंजवार

नाम। अ०–अंजवार, अंजि (जु) वार। भारतीय बाजार–अंजवार, अंजुवारे रूमी। अं०–ऐल्पाइन नॉट-वीड (*Alpine Knot-weed*), नॉट-वीड (*Knot-weed*)। ले०–पॉलीगोनुम बिस्टॉर्टा (*Polygonum bistorta Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – चुक्र-कुल (पॉलिगोनासी *Polygonaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तरी एशिया एवं यूरोप। इसकी कुछ निकटतम जातियों का प्रसार भारतवर्ष में भी हो गया है। पंजाब, कश्मीर तथा सिक्कम तक हिमालय प्रदेश में पॉलीगोनुम वीविपारुम (*P. vivi parum L.*) के स्वयंजात पौधे मिलते हैं। इसकी जड़ों का भी व्यवहार अंजवार के ही नाम से किया जाता है। पंजाब के बाजारों में अंजवार के नाम से प्रायः यही मिलता है। पंजाब एवं कश्मीर में इसको 'मस्लून' तथा 'बिल्लौरी' भी कहते हैं। पॉलीगोनुम बिस्टॉर्टा श्यामदेश में नहरों और नदियों के किनारे तथा झीलों के आसपास होता है। इसकी जड़ों का आयात फारस से अंजुवारे रूमी नाम से होता है।

संक्षिप्त परिचय – अंजवार का क्षुप १२० सें० मी० से १५० सें० मी० या ४-५ फुट तक ऊंचा तथा बहुशाखी होता है। काण्ड गोल, धारीदार तथा ललाई लिये और ग्रंथियों पर पर्णसंसक्त होता है। पत्तियाँ एकान्तर क्रम से स्थित, २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बी, रूपरेखा में अंडाकार या भालाकार, सवृन्त, कुछ चर्मिल (*Coriaceous*), खाकस्तरी या नीलाभ वर्ण की होती हैं। पुष्प श्वेत, गाढ़े लाल अथवा हरितवर्ण से चित्रित होता है। बीज त्रिकोणाकार, चमकीले और काले रंग के होते हैं। जड़ (मूल) लम्बी, कठोर, तन्तुल तथा कालिमा लिये लाल रंग की होती है।

उपयोगी अंग – मूल (जड़–विशेषतः मूलत्वक्)।

मात्रा – १.६४ ग्राम से ३.६ ग्राम या २ से ४ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भारतीय अंजवार (*Polygonum viviparum Linn.*) अंजवारे रूमी का उत्तम प्रतिनिधि है। भारतीय मांसरोहिणी की छाल भी अंजवार की उत्तम प्रतिनिधि हो सकती है। पॉलीगोनुम वीविपारुम के छोटे-छोटे बहुवर्षायु पौधे होते हैं, जो हिमालय प्रदेश में २.६४३ किलोमीटर से ३.६६ किलोमीटर या ६,०००-१३००० फुट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। मूलकांड (*Root stock*) काष्ठीय एवं बहुवर्षायु; काण्ड १० सें० मी० से ३० सें० मी० या ४-१२ इंच लम्बा एवं पतला; पत्तियाँ २.५ से १५ सें०मी० (१-५ इंच) लम्बी, साधारण (*Simpe*), सोपपत्र, रेखाकार या रेखाकार आयताकार, अग्र पर सहसानुकीली या कुण्ठिताग्र तथा सूक्ष्म गोलदन्तुर धार वाली एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं। पुष्प गुलाबी रंग के होते हैं, जो (२.५ से १० सें० मी० या १ से ४ इंच लम्बी) खड़ी (*Erect*) मंजरियों में निकलते हैं। कहीं-कहीं पुष्पों के स्थान में बल्बिल या पत्रकंद (*Bulbils*) भी पाये जाते हैं। फल छोटे-छोटे (*Nutlets*) तथा त्रिकोणीय या दोनों ओर उन्नतोदर (*Biconvex*) होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – अंजवार को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – जड़ में पॉलिगोनिक एसिड, टैनिक एसिड एवं गैलिक एसिड, श्वेतसार एवं केलिसयम् ऑक्जलेट आदि पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – अंजवार प्रथम कक्षा में शीत एवं रूक्ष होता है। यह शीतसंग्राही, रक्तस्तम्भन, आन्त्रामाशयबलप्रद, पित्त एवं रक्तप्रकोप संशमन होता है। चिरकालीन अतिसारों में यह बहुत गुणकारी होता है। रक्तातिसार, रक्तप्रवाहिका, रक्तमूत्र, रक्तप्रदर आदि में इसका उपयोग होता है। क्षतों पर सूक्ष्म चूर्ण छिड़कने से भी यह रक्तस्तम्भक क्रिया करता है। अहितकर – शीत प्रकृति के लोगों के लिए।

निवारण – सोंठ एवं मधु।

मुख्य योग – शर्बत अंजवार (सादा एवं मुरक्कब) एवं लऊक अंजवार।

विशेष – यूनानी चिकित्सक शर्बत अंजवार का प्रयोग बहुशः करते हैं। रक्तप्रदर में अन्य औषधियों के साथ सहायक औषधि के रूप में अथवा अनुपान के रूप में कर सकते हैं।

अंजरूत

नाम। फा०–अंजरूत। हिं०–लाई, लाही। बम्बई–गूजर (फारसी 'गूजद' का अपभ्रंश)। अ०–कोहल फारसी, कोहल किरमानी। ले०–अस्ट्रागालुस सार्कोकोला (*Astragalus sarcocola Dymock.*)। लेटिन नाम वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल (लेगूमिनोसी *Leguminosae*)।

प्राप्तिस्थान – अंजरूत शाइका नामक कंटीले वृक्ष का गोंद होता है। उक्त वृक्ष फ़ारस तथा तुर्किस्तान में प्रचुरता से पाया जाता है। बम्बई बाजार में इसका आयात फारस से होता है।

उपयोगी अंग – गोंद (अंजरूत)।

मात्रा – लगभग ½ ग्राम (०.४८ ग्रा०) से १ ग्राम (०.६६ ग्रा०) या ½ से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अंजरूत के संहतीभूत दाने होते हैं, जो सहज में ही खंडित एवं चूर-चूर हो जाते हैं। यह अपारदर्शक, अर्धस्वच्छ, निर्गंध और मिठास लिये अत्यंत तिक्त होता है, तथा गहरे लाल से पिलाई लिये सफेद अथवा भूरे रंग में बदलता रहता है। गरम करने से यह फूलता है, और जलते समय इसमें से जलती हुई चीनीकी-सी गंध आती है।

मिलावट – संग्रह में असावधानी के कारण गोंद में प्रायः वृक्ष के अन्य अंग पुष्प, पत्र एवं डंठल के टुकड़े भी मिले होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – अंजरूत को मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – अंजरूत में ६५.३०% सार्कोकोलीन, ४.६०% निर्यास, ३.३०% सरेसी पदार्थ, काष्ठमय द्रव्य आदि २६.८०%। सार्कोकोलीन ४० भाग शीतल जल तथा २५ भाग उबलते जल एवं ऐल्कोहॉल में घुल जाता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घकाल पर्यन्त।

स्वभाव। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य-उष्ण। यूनानी मतानुसार उष्ण एवं रूक्ष है। कर्म–कफरेचन, पिच्छिल, श्वयथुविलयन, व्रणलेखन-रोपण।

विशेष – विभिन्न श्वयथुविलयन एवं अस्थिभग्न-संधानीय लेपों में यह उत्तम आधारद्रव्य होता है। प्रायः इसका उपयोग यूनानी वैद्यक में होता है।

अंजीर

नाम। सं०–अंजीर, फल्गु। हिं०–अंजीर। फा०–अंजीर। अ०–तीन। अं०–फिग (*Fig.*)। ले०–फ़ीकुस-कारिका (*Ficus carica Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वट-कुल (उर्टीकासी *Urticaceae*)।

प्राप्तिस्थान – अंजीर एशिया माइनर का आदिवासी पौधा समझा जाता है। पूरब में तुर्की से लेकर पश्चिम में स्पेन, पुर्तगाल तक भूमध्य सागर तटवर्ती प्रदेशों में प्रचुरता से बोया जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका (*U.S.A.*), अरब, फारस, अफगानिस्तान एवं चीन, जापान में भी यह व्यावसायिक रूप से उत्पन्न किया जाता है। बिलोचिस्तान, पंजाब तथा कश्मीर एवं दक्षिण भारत में पूना, बेलारी, अनन्तपुर एवं मैसूर में भी काफी परिमाण में अंजीर के बगीचे लगाये गये हैं। माला में गुथे हुए इसके सुखाये पक्वफल बाजारों में मेवाफरोशों एवं पंसारियों के यहाँ मिलते हैं। भारतीय बाजारों में अंजीर का आयात विदेशों से तथा उपर्युक्त भारतीय केन्द्रों से भी होता है।

संक्षिप्त परिचय – अंजीर के छोटे या मध्यम कद (४.५७ मी० से ९.१४ मी० या १५-३० फुट ऊँचे) के पतझड़ करने वाले वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ चौड़ी-लट्वाकार अथवा गोलाकार-सी तथा ३-५ खण्डों से युक्त होती हैं। पत्रकोणों में सवृन्त फल लगते हैं, जो रूपरेखा में सेवाकार किन्तु छोटे तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। वट-कुल के अनुसार इसका फल भी उदुम्बरक या साइकोनस (*Syconus or Syconium*) या कुम्भव्यूहोद्भव होता है, जिसमें कुम्भव्यूह का दल्यक्ष मोटा और मांसल हो जाता है। एक अग्र पर छिद्र होता है, और अन्तः पृष्ठ पर पुंपुष्प और स्त्रीपुष्प होता है। प्रत्येक स्त्रीपुष्प से एक वास्तविक फल बनता है, जो युतोत्फल या एकीन (*Achene*) या अष्ठिफल (ड्रूप *Drupe*) होता है। उक्त फलों को ही लोग व्यवहार में बीज कह देते हैं। इसके तने को काट कर लगा देने से वृक्ष लग जाता है। इसी प्रकार कलम (*Cuttings*) से इसकी खेती की जाती है। २-३ वर्ष का होने पर ही वृक्ष फल देने लगते हैं और १४-१५ वर्ष तक काफी सक्रिय रहते हैं। अंजीर से प्रतिवर्ष २ फसलें तैयार होती हैं। भारतवर्ष में एक फसल जुलाई से अक्टूबर तक, दूसरी जनवरी से मई तक होती है। पक्व फलों का संग्रह वृक्षों से तोड़ कर किया जाता है। किन्तु साधारणतया जब फल अपने-आप टूट कर गिरते हैं, तो जमीन से ही संग्रह अधिक उपयुक्त समझा जाता है। संग्रह के बाद ५-७ दिनतक धूप में सुखाते हैं। सुखाने के पूर्व फलों को दबा कर पिचका दिया जाता है। इससे माला बनाने में सुविधा होती है। पैकिंग के पूर्व फलों को (३% बल के) लवण-जल में डुबोते हैं, जिससे यह मुलायम बने रहते हैं, और स्वाद में भी अभिवृद्धि हो जाती है।

उपयोगी अंग – पक्व फल।

मात्रा – २-३ दाना।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – शुष्क अंजीर मुलायम, गूदेदार, पीताभ या भूरे रंग का, लगभग ५ सें० मी० या २ इंच लम्बा और इतना ही चौड़ा होता है। फल का मांसल या गूदेदार भाग वास्तव में दल्यक्ष या पुष्पधर (*Receptacle*) ही होता है। जो अन्दर से खोखला या गह्वरयुक्त होता है, जिसमें अनेक दाने होते हैं। उक्त दाने, जिनको व्यवहार में बीज कह दिया जाता है, वास्तव में अष्ठि-फलिका (*Druplets*) होते हैं। फलों के शीर्ष पर एक छिद्र होता है, जो शल्कपत्रों के अवशेष से आवृत होता है। आधार या मूल की ओर डंठल-सा होता है। अंजीर में एक हल्की मनोरम सुगंधि-सी होती है तथा स्वाद में यह मधुर होता है। जल में विलेय सत्व (*Water-Soluble extractive*) कम से कम ६०% प्राप्त होता है। मधुर और परिपुष्ट फल सर्वोत्तम होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – देशी एवं विलायती, जंगली, पहाड़ी एवं बागी या कर्षित (*Cultivated*), बागी भी स्थान भेद से तथा सफेद, लाल, काला आदि रंग भेद से अंजीर नाना प्रकार का होता है। इसका एक भेद शाह अंजीर है जो बहुत गुदार एवं मधुर रस से परिपूर्ण होता है। बाजारों में जो अंजीर आता है, वह प्रायः कर्षित वृक्षों के ही फल होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – अंजीर को मुखबंद पात्रों में शुष्क स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – अंजीर में ४२% से ६२% तक शर्करा (जिसमें मुख्यतः इनवर्टसुगर (*Invert Sugar*) होता है, लौह, फास्फोरस, कैल्सियम् आदि खनिज द्रव्य, तथा विटामिन '*A*', '*C*' एवं '*B*' तथा '*D*' पाये जाते हैं।

ताजे फलों में सुखाये फलों की अपेक्षा विटामिन्स अधिक होते हैं। इनके अतिरिक्त 'फिसिन *Ficin*' नामक आन्त्र-कृमिनाशक सत्व भी अल्प मात्रा में पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – ताजे पक्व फल तो अधिक टिकाऊ (१ मास तक) नहीं होते। किन्तु संस्कारित एवं सुखाये हुए फल १ वर्ष तक ठीक बने रहते हैं।

स्वभाव। गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्त शामक, स्नेहन, अनुलोमन, सारक, यकृदुत्तेजक, प्लीहावृद्धिहर, रक्तशोधक, रक्त-पित्तहर, कफनिस्सारक, मूत्रल, वृष्य, वर्ण्य, दाहप्रशमन, बल्य, बृंहण। बाह्यतः इसका लेप व्रणशोथहर है। यूनानी मतानुसार अंजीर प्रथम कक्षा में उष्ण और द्वितीय में तर है। यह दोषमार्दवकर, कोष्ठमृदुकर, दोषपाचन, स्वेदन एवं कफोत्सारि तथा मूत्रल होता है। अंजीर को मेवे की तरह खाया जाता है, और औषध की भाँति भी उपयोग किया जाता है। यह अत्यंत पुष्टिकर जीवनीय मेवा है। इसीलिए यह शरीर का परिबृंहण करता तथा रंग को निखारता है। शारीरिक दोषों के पाचन एवं कब्ज निवारण के लिए तथा श्वास कास में कफोत्सर्ग के लिए इसका उपयोग करते हैं। यकृत्प्लीहा के अवरोधोद्घाटनार्थ एवं प्लीहा की सूजन उतारने के लिए भी इसका पुष्कल प्रयोग करते हैं। व्रणशोथपाचन के लिए इसका लेप लगाते हैं। अखरोट के साथ खाने से यह उत्तम वाजीकरण होता है।

मुख्य योग – शर्वत अंजीर।

अकरकरा (आकारकरभ)

नाम। सं०–आकारकरभ। हिं०–अकरकरा, करकरा। अ०–आक़िरक़र्हा, ऊदुलक़ई। फा०–वेख तर्खून कोही। अं०–पाइरेथ्रमरूट (*Phyrethrum Root*), स्पेनिश पेलिटरी (*Spanish Pellitory*), पेलिटरी रूट (*Pellitory Root*)। ले०–पीरेथ्रुम राडिक्स (*Pyrethrum Radix* (*Pyreth. Rad.*)।

वनस्पति का नाम – आनासीक्लुस् पीरेथ्रुम (*Anacyclus pyrethrum* D.C.)

वक्तव्य – आक़िरक़र्हा अरबी अक़र (=काटना) और तक़रीह (=जख्म डालना) से व्युत्पन्न है। ऊदुल् क़ई का अर्थ 'व्रणकारक काष्ठ' है। 'पीरेथ्रम्' यूनानी 'पायरोस' (*Pyros*=अग्नि) से व्युत्पन्न है।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़िटी *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तरी अफरीका, अलजीरिया तथा अरब। अल्जीरिया में काफी परिमाण में इसका संग्रह किया जाता है; और भारतीय बाजारोंमें इसका आयात मुख्यतः यहीं से होता है। भारतीय उद्यानों एवं वंगप्रदेश में भी कहीं-कहीं इसके लगाय हुए पौधे मिलते हैं। औषधीय दृष्टि से विदेशी अकरकरा अधिक वीर्यवान् एवं उत्तम होता है, किन्तु महँगा विकता है।

संक्षिप्त परिचय – अकरकरा के वर्षानुवर्षी या बहुवर्षायु कोमल शाकीय पौधे (*Perennial herb*) होते हैं। जड़ से ही गुलाबपुष्पवत् पत्तियों का पुंज (*Rosette of pinnatifid radical leaves*) तथा अनेक शाखाएँ निकलती हैं। शाखाएँ रोंगटेदार और पृथ्वी पर फैली होती हैं, केवल शाखाग्र ऊपर को उठे (*Erect*) होते हैं। इसकी शाखाएँ पत्र और पुष्प सफेद बाबूने के सदृश होते हैं; परन्तु डण्ठल पोली होती है। गुजरात और महाराष्ट्र देश में इसकी डण्डी का अचार और साग बनाते हैं। पुष्प शाखाओं पर गोल, गुच्छेदार छत्री के आकार के मुण्डकों में निकलते और पीले रंग के होते हैं। फल अभिलट्वाकार चर्मफल या एकीन (*Achene*) जिनमें एक छोटा बाह्य-दल-रोम या पैपस (*Pappus*) होता है। अकरकरा की जड़ तर्क्वाकार (*Fusiform*) तथा लम्बी होती है। औषधि में इन्हीं जड़ों का व्यवहार होता है। इसमें सोआ के सदृश बीज आते हैं।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – ½ ग्राम से १ ग्राम या २ से ८ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में अकरकरा के ७.५ सें० मी० से १० सें० मी० या ३-४ इंच (१५ सें० मी० या ६ इंच तक) लम्बे तथा ०.६ सें० मी० से १.२५ सें० मी० या ¾ से ½ (पौन इंच तक) इंच मोटे बेलनाकार अथवा अग्र की ओर क्रमशः पतले (*Tapering*) टुकड़े मिलते हैं, जो बाहर से भूरे रंग के तथा झुर्रीदार मालूम होते हैं। ऊपरी सिरे पर पत्रों के अवशेष (*Remains of the leaves*) से बने बेरङ्ग बालों की एक चोटी-सी होती है। जड़ को जहाँ से तोड़ें वहीं से टूट जाती है। टूटे हुए तल की रचना पहिए के आरों की भाँति (*Radiate*) मालूम पड़ती है, तथा मज्जक या पिथ (*Pith*)

का अभाव-सा मालूम होता है। इसमें पीताभ ऊर्ध्व वाहिनी (*Xylem*) एवं श्वेताभ मज्जक-किरणों (*Medullary rays*) की कतारें आरावत् होती हैं। मूलत्वक् लगभग $\frac{1}{28}$ इंच मोटी होती है, जो काष्ठीय भाग से चिपकी होती है। मूलत्वक् एवं मज्जक-किरणों में हल्के भूरे रंग की अनेक रेजिन-ग्रंथियाँ (*Resin glands*) होती हैं। अकरकरा की जड़ को मुँह में रखने से चरपरी लगती तथा जिह्वा में जलन-सी होने लगती है। इसको चवाने से मुँह से लालास्राव होने लगता है और सम्पूर्ण मुख एवं कण्ठ में चुनचुनाहट और कांटे से चुभते मालूम होते हैं। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम २०%; भस्म–अधिकतम ७%; सुरासार (ऐल्कोहॉल ७०%) में घुलनशील सत्व–कम-से-कम १४%।

संग्रह एवं संरक्षण – अकरकरा की जड़ में कीड़े लगने की सम्भावना वहुत रहती है, अतएव इसको अच्छी तरह मुखवन्द पात्रों में रख कर अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। मूलचूर्ण को रखना हो तो ऐसी शीशियों में रखें, जिसमें नमी विल्कुल न पहुँच पावे तथा प्रकाश से वचाना चाहिए। उग्र स्वभाव की होने के कारण इसका संग्रह भी पृथक् अन्य विषाक्त औषधियों के साथ करना चाहिए।

संगठन – अकरकरा की जड़ का मुख्य सक्रिय तत्त्व पेलिटोरीन ((*Pellitorine*) या पाइरेथ्रीन (*Pyrethrine* $C_{14}H_{25}ON$) नामक सत्व होता है, जो रंगहीन क्रिस्टल्स के रूप में प्राप्त होता है। अकरकरा की तीक्ष्णता एवं लालास्रावजनक क्रिया इसी के कारण होती है। क्रिया की दृष्टि से यह पिप्पली आदि में पाये जाने वाले या पाइपरीन सत्व से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त अंशतः उत्पत् तैल, स्थिर तैल (*Hydrocarbons*) एवं ५०% तक इन्युलिन तत्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह रखने से अकरकरा की जड़ ७ वर्ष तक वीर्य वना रहता है।

स्वभाव। गुण–रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म—वातकफनाशक, कटुपौष्टिक, लालास्रावजनक, नाड़ीवल्य, वेदनास्थापन, कामोद्दीपक (तिला के रूप में अथवा मौखिक प्रयोग से)। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में रूक्ष एवं उष्ण है। अहितकर–फुफ्फुस को। निवारण–कतीरा। प्रतिनिधि–पीपल।

मुख्य योग – आकारकरभादि चूर्ण, माजून, योगराजगुग्गुलु।

विशेष – असली एवं विदेशी अकरकरा का मूल्य वढ़ जाने से आजकल वाजारों में नकली अथवा देशी अकरकरा भी मिला कर या अकरकरा के नाम से वेचा जाता है। अतएव औषधि खरीदते समय इस वात को ध्यान में रखना चाहिए। वाजारों में अकरकरा असली तथा नकली और मोटा तथा पतला भी आता है। असली अकरकरा में अधिक तेजी होती है; जिसे खाते ही जीभ में झनझनाहट होने लगती है, तथा पानी विशेष निकलता है। इसका प्रभाव देर तक रहता है। नकली अकरकरा में झनझनाहट अपेक्षाकृत कम होती है; तथा इसका प्रभाव भी थोड़ी देर तक रहता है।

अखरोट (अक्षोट)

नाम। सं०–अक्षोट, अक्षोड। हिं०–अखरोट। वं०–आखरोट। म०, गु०–अखरोड। जौनसार–आखोर। अ०–जौज। फा०–गौज, चारमग्ज, गिर्दगाँ। अं०–(फल) वॉलनट (*Wal-nut*), (वृक्ष) वॉलनट-ट्री (*Wal-nut Tree*)। ले०–जुग्लांस रेगिआ (*Juglans regia Linn.*)।

वानस्पतिक कुल–अक्षोट-कुल (जुग्लांडासी *Juglandaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में ०.९१४ किलो० मी० से ३.६५ कि० मी० या ३,००० से लेकर १०,००० फुट की ऊंचाई तक–भूटान से लेकर कश्मीर, अफगानिस्तान, विलोचिस्तान तक तथा पूरव में खसिया की पहाड़ियों पर अखरोट के जंगली एवं लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। अखरोट के काष्ठवत् छिलकेदार समूचे फल तथा फलों की गिरी अखरोट नाम से वाजारों में पंसारियों के यहाँ तथा मेवाफरोशों की दूकानों में मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – अखरोट के ऊँचे-ऊँचे पतझड़ करने वाले सुगंधित वृक्ष होते हैं, जिसकी नयी शाखाओं का पृष्ठ मखमली (*Velvety*), छाल धूसर तथा उसमें अनुलम्ब दिशा में (खड़ेखड़) दरारें होती है, पत्तियाँ अयुग्म पक्षाकार (*Imparipinnate*), १५ सें० मी० से ३७.५ सें० मी० या ६-१५ इंच लम्बी, और नवीन होने पर सघन

तूलरोमश होती हैं। पत्रक-संख्या में ५-१३, लम्बाई में ७.५ सें० मी० से २२ सें० मी०.या ३-८ इंच, चौड़ाई में ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच, अण्डाकार-आयताकार, और सरल धार वाले होते हैं। पुष्प एक लिङ्गी होते हैं। नर पुष्प ५ से १२.५ सें० मी० या २-५ इंच लम्बी, हरित वर्ण की नम्य मंजरियों (*Cattkins*) में निकलते हैं; स्त्री पुष्प (१-३) शाखाओं पर पत्तियों के अभिमुख निकलते हैं। वाह्यकोश ४ खंडयुक्त तथा दलपत्र संख्या में ४ तथा हरिताभ वर्ण के होते हैं। पुंकेशर १०-२० होते हैं। फल लगभग ५ सें० मी० या २ इंच लम्बे, गोलाकार, मदनफल के आकार के तथा हरित वर्ण के होते हैं, इनपर जगह-जगह पीत विन्दु-से होते हैं। फलत्वचा, चर्मिल एवं सुगंधित। गुठली (*Nut*) १-१॥ इंच लम्बी, रेखायुक्त, कड़ी एवं दो कोष्ठों वाली, गिरी, धूसर-श्वेत, टेढ़ी-मेढ़ी, रूपरेखा में मस्तिष्क जैसी तथा पृष्ठतल पर दो खंडों में विभक्त-सी, खाने में स्वादिष्ठ, और अन्य गिरियों की भाँति इसमें भी काफी स्नेहांश पाया जाता है। वसन्त में पुष्प तथा शरद में फल आते हैं।

उपयोगी अंग – गिरी (मज्जा) एवं गुठली तथा गिरी का तेल (अखरोट का तेल)।

मात्रा – गिरी–११.६ ग्राम से २३ ग्राम या १ से २ तोला। तेल–३ ग्राम से ११.६ ग्राम या ३ माशा से १ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – फलमज्जा (गिरी) को मुखवंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। तैल को मुखबंद शीशियों में शीतल एवं अँधेरी जगह में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – अखरोट में ४० से ४५% तक स्थिर तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें जुगलेंडिक एसिड (*Juglandic acid*) एवं रेजिन (राल) आदि भी मिलते हैं। फलों में ऑक्ज़ेलिक एसिड पाया जाता है।

वीर्यकालावधि। गिरी–२ वर्ष। तैल–दीर्घकाल तक।

स्वभाव। गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य-उष्ण। कर्म-वातशामक, कफपित्तवर्धक, मेध्य, दीपन, स्नेहन, अनुलोमन, कफनिस्सारक, वल्य, वृष्य, बृंहण। इसका लेप—वर्ण्य, कुष्ठघ्न, शोथहर एवं वेदना स्थापन। गिरी या मज्जा तथा इससे प्राप्त तैल को छोड़ कर अखरोट के शेष अंग संग्राही होते हैं। अखरोट के तेल का उपयोग वादाम के तेल की तरह किया जा सकता है, गुठली या छिलके का भस्म दंतमंजन चूर्णों में डालते हैं। रक्तार्श में उक्त भस्म का मौखिक सेवन करने से यह रक्तस्राव को रोकता है। यूनानी मतानुसार अखरोट द्वितीय कक्षा में उष्ण एवं तृतीय में तर है। यह ताजे वादाम से अधिक गरम है। अखरोट की गिरी उत्तमांगों को, विशेषकर मस्तिष्क को वल प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह वुद्धि एवं मन आदि अन्तर्ज्ञानेन्द्रियों को भी पुष्ट करती तथा वाजीकर, मृदुसारक; विलयन एवं लेखनीय होती है। अखरोट को अधिकतया वाजीकर योगों में समाविष्ट कर उपयोग करते हैं। भुना हुआ शीतकास में उपकारी वताया जाता है। अर्दित, पक्षाघात एवं आमवात आदि व्याधियों में इसका वाह्यांतरिक प्रयोग किया जाता है। ताजी गिरी को पीस कर लेप करने से व्रणचिह्न मिट जाता है, और मुँह पर मलने से चेहरे की झाईं दूर हो जाती है। अखरोट का तेल वादाम के तेल की भाँति उष्ण एवं दोषादिविलयन है तथा शीतप्रकृति एवं शीत-व्याधियों एवं तज्जन्य वेदनाओं में उपयोगी होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–सेव एवं सिकंज-वीन।

मुख्य योग – हल्वुल् जौज।

अगर (अगुरु)

नाम। सं०–अगुरु, कृमिजग्ध, लोह। बं०–अगरु। हिं०–म०, गु० –अगर। अ०–ऊद। अं०–एलो वुड (*Aloe wood*), ईगल वुड (*Eagle wood*)। ले०–ऑक्वी-ल्लारिआ आगाल्लोचा (*Aquilaria agallocha* Roxleb.)।

वानस्पतिक कुल – अगुर्वादि-कुल (थीमेलासीई–*Thymelaceae*)।

प्राप्तिस्थान – आसाम, बंगाल, पूर्वी हिमालय पर्वत, खसिया पर्वत, भूटान, सिल्हट, टिपेरा पहाड़ी, मर्तबान पहाड़ी, मलावार, मलयाचल और मणिपुर तथा दक्षिण प्रायद्वीप मलक्का और मलाया द्वीप। इनमें सिल्हट का अगर सर्वोत्तम होता है।

संक्षिप्त परिचय – इसके सदाहरित ऊँचे-ऊँचे वृक्ष लगभग १८.२६ मीटर से ३०.४८ मीटर (६०-१०० फुट) होते हैं, जिनके काण्ड-स्कन्ध का घेरा १.५२४ मीटर से २.४३ मीटर या ५-८ फुट तक, काण्डत्वक् या तने की

छाल पतली तथा भोजपत्र के समान, पत्तियाँ ६.२५ सें० मी० से ७.५ सें. मी. या २॥-३ इंच लम्बी, नुकीली एवं चर्मिल (*Leathery*) होती हैं। ग्रीष्म में पुष्प आते हैं, जो सफेद रंग के तथा गुच्छों में लगते हैं। फलागम वर्षा में होता है; फल २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बे एवं मखमल के समान कोमल होते हैं। पुराने वृक्ष का सारकाष्ठ अगुरु के नाम से व्यवहृत होता है। पहिले तो इसकी लकड़ी बहुत साधारण पीले रंग की और गंधरहित होती है; पर कुछ दिनों में वड़ और शाखाओं में जगह-जगह एक प्रकार का रस आ जाता है, जिसके कारण उन स्थानों की लकड़ियाँ भारी हो जाती हैं। इन स्थानों से लकड़ी काट ली जाती है और अगर के नाम से बिकती है। यह रस जितना ही अधिक होता है, उतनी ही लकड़ी उत्तम और भारी होती है। पर ऊपर से देखने में यह नहीं जाना जा सकता कि किस पेड़ में अच्छी लकड़ी निकलेगी। बिना सारा पेड़ काटे इसका पता नहीं लग सकता। प्रायः कम-से-कम २० वर्ष पुराने पेड़ की ही लकड़ी अगर के लिए काटी जाती है। लकड़ी का बुरादा धूप, दशांग आदि में पड़ता है। बम्बई में जलाने के लिए इसकी अगरबत्ती बहुत बनती है। सिलहट में अगर का इत्र बहुत बनता है। चोवा नामक सुगंध इसी से बनता है।

उपयोगी अंग – काष्ठ (*Wood*) एवं अगर का इत्र या तैल (*Essential Oil*)।

मात्रा – (१) चूर्ण–½ ग्राम से २ ग्राम या ५ से १५ रत्ती।
(२) तैल–१ से ५ बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में मिलने वाला अगुरुकाष्ठ, काले-भूरे रंग के छोटे-बड़े टुकड़ों के रूप में प्राप्त होता है। जो अगर जल में डूब जाता है, उसे "ग़र्की (/) जल में डूबने वाला" तथा जो आंशिक जलमग्न होता है उसे "नीम ग़र्की=आधा डूबने वाला" और जो तैरता रहता है, उसको समालह कहते हैं। इनमें अन्तिम सामान्य होता है। ग़र्की काला होता है; और अन्य काले और धूसर वर्ण के होते हैं। औषधीय कार्य के लिए ऊदे ग़र्की, जो सिलहट से प्राप्त होता है, सर्वोत्तम होता है। इसे तिक्त, सुगन्धमय, तैलीय तथा किंचित् कषैला होना चाहिए। हलके तथा गहरे दोनों रंगों के टुकड़े लम्बाई के रुख गहरे रंग की नसों से चित्रित होते हैं। इसे चबाने से दाँतों से चिपट जाते तथा मृदु मालूम होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–इसमें चन्दन, तगर (तगर के नाम पर बिकने वाली नकली लकड़ियों) अथवा अन्य सस्ते दामों वाली सुगन्धित लकड़ियों का उपयोग मिलावट के लिए करते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पूर्वी बंगाल एवं आसाम के जंगलों से अगर का संग्रह किया जाता है। अगर संग्रह के लिए भी अनुभव एवं दक्षता की आवश्यकता है, वृक्षों का चुनाव कर लेने के बाद उन्हें गिरा दिया जाता है; और तमाम काण्ड को चीर कर अगरगर्भित काष्ठखण्ड को पृथक् कर लिया जाता है। काण्डस्कन्ध से जहाँ शाखाएँ फूटती हैं, उन स्थलों में अगर की उत्पत्ति अधिक देखी जाती है। अगर को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संग्रहीत करना चाहिए।

संगठन – अगर में एक उड़नशील एवं ईथर में विलेय, तैल तथा एक राल होते हैं, राल ऐल्कोहल् में घुलनशील किन्तु ईथर में अविलेय होती है।

वीर्यकालावधि – ५ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वातकफ-शामक। (इसका लेप) शोथहर तथा वेदनास्थापक, नाड़ी संस्थान पर उत्तेजक एवं बल्य, मुखदुर्गन्ध-नाशन, दीपन-पाचन, अनुलोमन, हृदयोत्तेजक, मूत्राशय-शैथिल्यहर।

यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष एवं उत्तमांगों को बल देने वाला, दोषतारल्यजनक, प्रमाथी, आमाशय एवं मूत्राशय दौर्बल्यहर; वाजीकरण। अहितकर – उष्ण प्रकृति को। निवारण–कपूर एवं गुलाब-पुष्पार्क। प्रतिनिधि–दालचीनी, लौंग, केसर आदि।

मुख्य योग – (१) अगुर्वादि तैल, (२) जुवारिश ऊद (शीरीं व मुलय्यिन)

विशेष–अगर का उपयोग व्यवसाय में अगरबत्ती तथा धूपबत्ती बनाने में भी किया जाता है।

चरकोक्त (सू० अ० ४) श्वासहर, एवं शीतप्रशमन महाकाषायों में तथा (विमान स्थान अ० ८) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में और शिरोविरेचन द्रव्यों में एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण, सालसारादिगण एवं श्लेष्म-

संशमन (सू० अ० ३९) वर्ग की औषधियों में अगरु का का भी उल्लेख है।

अगेथू – दे०, 'अग्निमन्थ'।

अग्निमन्थ

नाम। सं०–(वृहत्) अग्निमंथ, गणिकारिका, तर्कारी। हिं०–गिनेरी, गनियारी, अगेथू। नेपा०–गिनेरी। गढ़वाल–वाकर। उड़ि०–गन्वीना। कु०–अग्नो। बं०–गणियारी। ले०–प्रेम्ना लाटीफोलिआ (*Premna latifolia* Roxb.)।

वानस्पतिक कुल – (वर्बेनासी *Verbenaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष, विशेपतः हिमालय की तराई के प्रदेश, बंगाल, बिहार, उत्तरी सरकार, कर्नाटक एवं पूर्वीय तथा पश्चिमी समुद्रतट के शुष्क जांगल प्रदेश। दशमूल का उपादान होने से इसका मूल बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – गनियारी के झाड़दार छोटे वृक्ष या गुल्म होते हैं। पत्तियाँ कुछ-कुछ दुर्गन्धयुक्त, प्रायः लट्वाकार, कभी-कभी अंडाकार ७.५ सें० मी० से १२.५ सें० मी० या ३-५ इंच लम्बी, ५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० २-३ इंच चौड़ी, अखण्ड और अधस्तल पर अथवा नवीन होने पर दोनों तलों पर मृदुरोमश, मसलने पर दुर्गन्ध युक्त और सूखने पर काली हो जाती हैं। पुष्प-व्यूह त्रि-विभक्त और व्यास में २-५ इंच, रोमश और कोणपुष्पकों से युक्त; वाह्यकोश शीर्ष पर दन्तुर, और दांत संख्या में ५ होते हैं। आभ्यन्तरकोश, द्वि-ओष्ठीय; फल गोल, अग्र पर दबा हुआ और व्यास में ⅙ सें० मी० या ⅛ इंच तक होता है। इसका काण्डत्वक् धूसरित या कृष्णाभ वर्ण का होता है।

उपयोगी अंग – मूल (विशेपतः मूलत्वक्) एवं पत्र।

मात्रा – मूलत्वक् लगभग ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ माशा से ६ माशा।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – अग्निमन्थ वृहत् एवं क्षुद्र भेद से दो प्रकार का होता है। वृहद् अग्निमंथ से उपर्युक्त वनस्पति तथा स्थानापन्न रूप से इसकी अन्य कतिपय जातियों का, तथा क्षुद्राग्निमंथ (अरणी–सं०; अरनी, टेकार, रैन–हिं०) से क्लेरोडेन्ड्रॉन् फ्लोमिडेज (*Clerodendron phlomides* Linn. f. Family *Verbenaceae*) का ग्रहण किया जाता है। भावप्रकाश आदि निघण्टुओं में दोनों का वर्णन एक साथ ही किया गया है। वृहद् एवं क्षुद्र अग्निमंथ का एक दूसरे के अभाव में ग्रहण किया जा सकता है। वृहदग्निमंथ की उपर्युक्त जाति के अतिरिक्त इसकी कतिपय अन्य जातियों का भी ग्रहण एवं संग्रह इसके नाम से किया जाता है। (१) प्रेम्ना इन्टेग्रिफोलिआ (*P. integrifolia* Linn.) यह प्रायः समुद्र-तटवर्तीय प्रदेशों में पाया जाता है। बंगाल में विशेपतः इसी का संग्रह किया जाता है। इसके स्कन्ध तथा शाखाओं पर काँटे होते हैं। इसकी जड़ लम्बी, बेलनाकार, ठोस तथा वाह्यतः हल्के-भूरे रंग की तथा अन्दर पीताभ वर्ण की होती है। तोड़ने पर यह खट से टूट जाती है। इसमें कोई विशेप गंध या स्वाद नहीं पाया जाता (दक्षिण भारत विशेपतः ट्रावन्कोर-कोचीन में) अग्निमंथ के नाम से (२) वृहद् अग्निमंथ की प्रेम्ना सेर्राटीफोलिआ (*P. serratifolia* L.) नामक जाति का ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अभाव में प्रेम्ना मूक्रोनाटा (*P. mucronata* Roxb.) तथा प्रेम्ना वारबेटा (*P. barbata* Wall. एवं *P. coriacea* Clarke) नामक जातियों का भी प्रयोग लोग अग्निमंथ नाम से करते हैं। क्षुद्राग्निमंथ, अरणी या टेकार : – टेकार के बड़े गुल्म होते हैं। शाखाएँ प्रायः प्रसरणशील और टहनियाँ श्वेताभ एवं मृदुरोमश होती हैं। पत्तियाँ चौड़ी लट्वाकार अथवा कुछ-कुछ तिर्यगाकार, अखण्ड या दूर-दूर गोल-दन्तुर प्रायः ५ सें० मी० × ३.७५ सें० मी० या २ इंच × १॥ इंच बड़ी, और सवृन्त होती हैं। पुष्प सफेद तथा अत्यंत सुगन्धित, पत्रकोणीय या अग्रच गुच्छों में निकलते हैं। अष्ठिलफल (*Drupe*) अभ्यण्डाकार, शीर्ष पर दबा हुआ परन्तु अन्त में शुष्क होकर चार खंडों में फट जाता है। इसके गुल्म प्रायः गावों के आस-पास बाड़ों-बगीचों एवं खण्डहरों में मिल जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में अग्निमंथ की जड़ का संग्रह कर, मिट्टी आदि को साफ करके छाया शुष्क कर लें और मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – ६ मास।

स्वभाव। गुण–रूक्ष, लघु। रस–तिक्त, कटु, कषाय, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, वेदनास्थापन, शोथहर, दीपन-पाचन,

अनुलोमन, कटुपौष्टिक, रक्तशोधक, कफघ्न, प्रमेहघ्न शीतप्रशमन, अनुवासनोपग आदि ।

मुख्ययोग – यह वृहत् पंचमूल तथा दशमूल का उपादान है । चरकोक्त (सू० अ० ४) अनुवासनोपग, शोथहर, शीतप्रशमन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वरुणादि, वीरतर्वादि एवं महत्पंचमूल गणों में अग्निमंथ का भी पाठ है ।

अजमोद (अजमोदा)

नाम। सं०–अजमोदा, दीप्यक । हिं०–अजमोद । वं०–राणवोनी, वनूजोयान्, रान्वनी । म०–रानधणे (जंगली धनिया), अजमोदा । गु०–अजमोद, वोडी अजमोद । मा०–अजमोदो । सिंध–वनजाण । फा०, अ०–करफ्से हिंदी । ले०–ट्राकीस्पेर्मुम रॉक्सवुर्घिआनुम *Trachyspermum roxburghianum* (D.C.) *Sprague*. *Syn.* : कारुम रॉक्सवुर्घिआनुम *Carum roxburghianum Benth. & Hook f.*

वानस्पतिक कुल – गर्जरादि-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*) ।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष में जगह-जगह विशेषतः दक्षिण भारत तथा वंगाल में इसकी खेती की जाती है ।

संक्षिप्त परिचय – अजमोदा के एक वर्षायु छोटे पौधे होते हैं, जो ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट तक ऊँचे होते हैं, तथा देखने में अजवाइन के पौधों के ही समान मालूम पड़ते हैं । इनकी शाखाओं पर वड़े-वड़े छत्ते लगते हैं । उनपर श्वेत रंग के पुष्प आते हैं और जव वे छत्ते पक और फूट जाते हैं तव उनमें से जो दाने उत्पन्न होते हैं, उनको अजमोद कहते हैं ।

उपयोगी अंग – सुखाये हुए पक्व फल (व्यवहार में इनको वीज कहते हैं) ।

मात्रा – लगभग १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अजमोद का फल लगभग १½ सें० मी० या १⁄१६ इंच लम्बा, रूपरेखा में गोल, अजवायन के वीज से वड़े तथा धूसर वर्ण के होते हैं । इनके ऊपर छोटे-छोटे दाग़ भी होते हैं । छत्रक-कुल के अन्य फलों की भांति, यह भी दो एस्फोटीखण्डों (*Mericarps*) के परस्पर जुटने से वनते हैं । प्रत्येक फलखण्ड में ५ उन्नत रेखाएँ (*Ridges*) तथा लगभग १५ तेल नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं । उक्त उन्नत रेखाएँ रेखान्तरित अवकाश की अपेक्षा कुछ फीके वर्ण की होती हैं । अजमोद के वीजों (फलों) को मुख में चावने से धनिये – जैसे स्वाद (*Coriander-like flavour*) की अनुभूति होती है । वीजों को मसल कर सूंघने से एक विशिष्ट प्रकार (सौंफ के समान) की वहुत हल्की सुगन्धि मालूम पड़ती है ।

मिलावट एवं प्रतिनिधि द्रव्य – कोंकण में अजमोद की एक जंगली जाति (कारुम स्ट्रिक्टोकार्पुम *Carum strictocarpum*) प्रचुरता से होती है । इसके लिए भी मराठी नाम रानधणे प्रयुक्त होता है, जो वस्तुतः उपर्युक्त अजमोद का है । इसके फल (वीज) अजमोद के फलों की अपेक्षा काफी छोटे (लगभग आधे) होते हैं ।

कोई-कोई 'अजमोद' और 'करफ्स' को एक ही द्रव्य मानते हैं । इसका कारण यह है, कि करफस भी वाजार में करपस या 'वोड़ी अजमूद' के नाम से मिलता है । किन्तु करफ्स विल्कुल पृथक् द्रव्य है और इसका आयात भारतीय वाजारों में प्रधानतः फारस से होता है । करफ्स छत्रक-कुल के ही एक पृथक् पौधे (आपिउम ग्रावेओलेन्स *Apium graveolens Linn.*) के पक्व फल होते हैं, जो उपर्युक्त अजमोद के दानों से वहुत छोटे होते है; और रंग में भी इन दोनों में स्पष्ट अन्तर होता है । अधिक-से-अधिक भारतीय अजमोद को 'करफ्से हिंदी' कहा जा सकता है । इसका पृथक् वर्णन किया जायगा ।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों (वीजों) को छायाशुष्क करके अच्छी तरह डाटवन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए ।

संगठन – अजमोद के वीजों में एक उड़नशील तेल (*Volatile oil*) पाया जाता है ।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक ।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । रस–कटु, तिक्त । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । प्रधान कर्म–रोचन, दीपन, शूलप्रशमन, वात-कफ नाशक, हिचकी, आध्मान, कृमि, अरुचि और उदर-रोगनाशक । चरकोक्त (सू० अ० ४) दीपनीय एवं शूलप्रशमन महाकषायों तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पिप्पल्यादि गण के द्रव्यों में अजमोदा भी है ।

मुख्य योग – अजमोदादि चूर्ण, अजमोदादि वटक ।

विशेष – अजवाइन की भाँति ही अजमोद का उपयोग किया जाता है।

अजवायन (यवानी)

नाम। सं०–यमानिका, उग्रगंधा, यवानी, भूतीक। हिं०–अजवायन, जवाइन। वं०–अजोवान, जोयान्। पं० जवैण। म०–ओंवा। गु०–अजमा। अ०–कमूनुल् मुलूकी, कम्मून–एल् मुलूकी। फा०–नानखाह। अं०–किंग्स क्युमिन (*King's Cumin*), बिशप्सवीड (*Bishop's Weed*)। ले०–ट्राकीस्पेर्मुम आम्मी *Trachyspermum ammi* (*L.*) *Sprague ex Turrill.* (पर्याय–*Carum Copticum Benth.*)।

वानस्पतिक कुल – गर्जर-कुल (उम्बेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेषतः पंजाव, वंगाल, मालवा) अफगानिस्तान, ईरान और मिस्र में इसकी खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – अजवायन के क्षुप ३० सें० मी० से १.२० मीटर या १-४ फिट तक ऊंचा, प्रायः मसृण अथवा किंचित् रोमश होते हैं। पत्र शतपुष्पा के पत्तों के समान २–३ पक्षाकारी होते हैं। इसकी डालियों पर छत्रक (*Umbels*) से आते हैं, जिन पर सफेद फूल लगते हैं। जब वे छत्ते पक जाते हैं तब उनमें अजवाइन उत्पन्न होती है। इनको पीटने (*Threshing*) से छोटे-छोटे दाने से निकलते हैं। इन्हीं को अजवाइन कहते हैं। भारतीय कृषक प्रायः धनिये के साथ इसे खेतों में वोते हैं। वोने का समय अक्टूबर से नवम्बर (कातिक, अगहन) और काटने का समय फर्वरी है।

उपयोगी अंग – वीज (फल), पत्र, तैल, अर्क।

मात्रा। फल चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
तैल–१५ से ३० वूंद।
अर्क–२३.३ ग्राम से ४६.६ ग्राम या २ से ४ तो०।
सत अजवाइन–१/३२ ग्राम से १/८ ग्राम या १/४ से २ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अजवायन (फल) रूपरेखा में अजमोदा के समान तथा धूसर वर्ण (*Greyish-brown*), वाह्यतल खुरदरा एवं सूक्ष्म उभारदार होता है। गर्जर-कुल के अन्य फलों की भाँति यह भी दो एकस्फोटी खण्डों (*Mericarps*) के परस्पर जुटने से वना होता है। प्रत्येक खण्ड पर ५ उन्नत रेखाएँ (*Prominent ridges*) होती हैं। इनकी मध्यस्थ नालियाँ गाढ़े भूरे रंग की होती हैं और प्रत्येक परिखा में एक तेलनलिका या तैलिका (*Vitta*) होती है। संधि स्थान (*Commissural sides*) पर दो तेलनलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। अजवाइन में जंगली पुदीने (हाशा) की भाँति तीव्र सुगंधि पायी जाती है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य-अधिकतम २%।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों (वीजों) को लेकर अनार्द्र शीतल स्थान में अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में रखना चाहिए। सत अजवायन को अच्छी तरह मुखवंद शीशियों में शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए। यह अत्यंत उड़नशील होता है।

संगठन – फलों में एक उड़नशील तेल (४-६%) होता है। इससे आसुत अर्क के ऊपरी धरातल पर एक प्रकार का, स्फटिकीय द्रव्य (*Stearoptin*) इकट्ठा होता है, जिसे अजवायन का फूल या सत (थाइमोल *Thymol*) कहते हैं। इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में क्युमिन, टर्पीन तथा थाइमीन भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह सुरक्षित रखने से इसमें ४ वर्ष तक वीर्य रहता है।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन-पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, जीवाणुनाशक, गर्भाशयोत्तेजक, उदर-कृमिनाशक (अंकुशमुखकृमि पर विशिष्ट घातक क्रिया)। अफीम सेवन जन्य विकृतियों का शमन करती है। अहितकर–शिरःशूलकारक, शुक्र एवं स्तन्यापनयन। निवारण–धनिया, एवं उन्नाव। प्रतिनिधि–कलौंजी एवं काला जीरा। चरकोक्त (सू० अ० ४) शीतप्रशमन महाकषाय में यवानी (भूतीक नाम से) का भी उल्लेख है।

मुख्य योग – यमानीषाडव, यमान्यादिचूर्ण, यमानीसत्व (सत अजवाइन), यवान्यर्क, यवानिकादिक्वाथ, माजून नानखाह, माजून नानखाह हकीम अलीजीलानी।

विशेष – यूनानी मतानुसार यह तृतीय कक्षा में उष्ण एवं रूक्ष है। अजवायन का सत यद्यपि हिंदुस्तान में भी वनाया जाता है, तथापि यह अधिकतया विदेशों से ही आता है। यूनानी हकीम वहुत काल से इसका योगनिर्माण कर उपयोग करते हैं और इसे अत्यंत गुणदायक और आशु-

अनुलोमन, कटुपौष्टिक, रक्तशोधक, कफघ्न, प्रमेहघ्न शीतप्रशमन, अनुवासनोपग आदि ।

मुख्ययोग – यह वृहत् पंचमूल तथा दशमूल का उपादान है । चरकोक्त (सू० अ० ४) अनुवासनोपग, शोथहर, शीतप्रशमन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वरुणादि, वीरतर्वादि एवं महत्पंचमूल गणों में अग्निमंथ का भी पाठ है ।

अजमोद (अजमोदा)

नाम। सं०–अजमोदा, दीप्यक । हिं०–अजमोद । वं०–राणधोनी, वन्‌जोयान्, रान्धनी । म०–रानधणे (जंगली धनिया), अजमोदा । गु०–अजमोद, वोडी अजमोद । मा०–अजमोदो । सिंध–वनजाण । फा०, अ०–करफ्से हिंदी । ले०–ट्राकीस्पेर्मुम रॉक्सवुर्घिआनुम *Trachyspermum roxburghianum* (D.C.) *Sprague*. *Syn.* : कारुम रॉक्सवुर्घिआनुम *Carum roxburghianum* *Benth. & Hook f.*

वानस्पतिक कुल – गर्जरादि-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*) ।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष में जगह-जगह विशेषत: दक्षिण भारत तथा वंगाल में इसकी खेती की जाती है ।

संक्षिप्त परिचय – अजमोदा के एक वर्षायु छोटे पौधे होते हैं, जो ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट तक ऊँचे होते हैं, तथा देखने में अजवाइन के पौधों के ही समान मालूम पड़ते हैं । इनकी शाखाओं पर वड़े-वड़े छत्ते लगते हैं । उनपर श्वेत रंग के पुष्प आते हैं और जव वे छत्ते पक और फूट जाते हैं तव उनमें से जो दाने उत्पन्न होते हैं, उनको अजमोद कहते हैं ।

उपयोगी अंग – सुखाये हुए पक्व फल (व्यवहार में इनको वीज कहते हैं) ।

मात्रा – लगभग १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अजमोद का फल लगभग ५/२४ सें० मी० या १/१२ इंच लम्वा, रूपरेखा में गोल, अजवायन के वीज से वड़े तथा धूसर वर्ण के होते हैं । इनके ऊपर छोटे-छोटे दाग़ भी होते हैं । छत्रक-कुल के अन्य फलों की भाँति, यह भी दो एस्फोटीखण्डों (*Mericarps*) के परस्पर जुटने से वनते हैं । प्रत्येक फलखण्ड में ५ उन्नत रेखाएँ (*Ridges*) तथा लगभग १५ तेल नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Villae*) होती हैं । उक्त उन्नत रेखाएँ रेखान्तरित अवकाश की अपेक्षा कुछ फीके वर्ण की होती हैं । अजमोद के वीजों (फलों) को मुख में चावने से धनिये – जैसे स्वाद (*Coriander-like flavour*) की अनुभूति होती है । वीजों को मसल कर सूंघने से एक विशिष्ट प्रकार (सौंफ के समान) की वहुत हल्की सुगन्धि मालूम पड़ती है ।

मिलावट एवं प्रतिनिधि द्रव्य – कोंकण में अजमोद की एक जंगली जाति (कारुम स्ट्रिक्टोकार्पुम *Carum strictocarpum*) प्रचुरता से होती है । इसके लिए भी मराठी नाम रानधणे प्रयुक्त होता है, जो वस्तुत: उपर्युक्त अजमोद का है । इसके फल (वीज) अजमोद के फलों की अपेक्षा काफी छोटे (लगभग आधे) होते हैं ।

कोई-कोई 'अजमोद' और 'करफ्स' को एक ही द्रव्य मानते हैं । इसका कारण यह है, कि करफ्स भी वाजार में करपस या 'वोड़ी अजमूद' के नाम से मिलता है । किन्तु करफ्स विल्कुल पृथक् द्रव्य है और इसका आयात भारतीय वाजारों में प्रधानत: फारस से होता है । करफ्स छत्रक-कुल के ही एक पृथक् पौधे (आपिउम ग्रावेओलेन्स *Apium graveolens Linn.*) के पक्व फल होते हैं, जो उपर्युक्त अजमोद के दानों से वहुत छोटे होते हैं; और रंग में भी इन दोनों में स्पष्ट अन्तर होता है । अधिक-से-अधिक भारतीय अजमोद को 'करफ्से हिंदी' कहा जा सकता है । इसका पृथक् वर्णन किया जायगा ।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों (वीजों) को छायाशुष्क करके अच्छी तरह डाटवन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए ।

संगठन – अजमोद के वीजों में एक उड़नशील तेल (*Volatile oil*) पाया जाता है ।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक ।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । रस–कटु, तिक्त । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । प्रधान कर्म–रोचन, दीपन, शूलप्रशमन, वात-कफ नाशक, हिचकी, आध्मान, कृमि, अरुचि और उदर-रोगनाशक । चरकोक्त (सू० अ० ४) दीपनीय एवं शूलप्रशमन महाकषायों तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पिप्पल्यादि गण के द्रव्यों में अजमोदा भी है ।

मुख्य योग – अजमोदादि चूर्ण, अजमोदादि वटक ।

विशेष – अजवाइन की भाँति ही अजमोद का उपयोग किया जाता है।

अजवायन (यवानी)

नाम। सं०–यमानिका, उग्रगंधा, यवानी, भूतीक। हिं०–अजवायन, जवाइन। बं०–अजोवान, जोयान्। पं० जवैण। म०–ओंवा। गु०–अजमा। अ०–कम्नुल् मुलूकी, कम्मून-एल् मुलूकी। फा०–नानखाह। अं०–किंग्स क्युमिन (*King's Cumin*), विशप्सवीड (*Bishop's Weed*)। ले०–ट्राकीस्पेर्मुम आम्मी *Trachyspermum ammi* (*L.*) *Sprague ex Turrill.* (पर्याय–*Carum Copticum Benth.*)।

वानस्पतिक कुल – गर्जर-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेषतः पंजाव, बंगाल, मालवा) अफगानिस्तान, ईरान और मिस्र में इसकी खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – अजवायन के क्षुप ३० सें० मी० से १.२० मीटर या १-४ फिट तक ऊंचा, प्रायः मसृण अथवा किंचित् रोमश होते हैं। पत्र शतपुष्पा के पत्तों के समान २–३ पक्षाकारी होते हैं। इसकी डालियों पर छत्रक (*Umbels*) से आते हैं, जिन पर सफेद फूल लगते हैं। जव वे छत्ते पक जाते हैं तव उनमें अजवाइन उत्पन्न होती है। इनको पीटने (*Threshing*) से छोटे-छोटे दाने से निकलते हैं। इन्हीं को अजवाइन कहते हैं। भारतीय कृषक प्रायः धनिये के साथ इसे खेतों में वोते हैं। वोने का समय अक्टूवर से नवम्वर (कातिक, अगहन) और काटने का समय फर्वरी है।

उपयोगी अंग – वीज (फल), पत्र, तैल, अर्क।

मात्रा। फल चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
तैल–१५ से ३० वूंद।
अर्क–२३.३ ग्राम से ४६.६ ग्राम या २ से ४ तो०।
सत अजवाइन– $\frac{1}{32}$ ग्राम से $\frac{1}{8}$ ग्राम या $\frac{1}{8}$ से २ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अजवायन (फल) रूपरेखा में अजमोदा के समान तथा धूसर वर्ण (*Greyish-brown*), वाह्यतल खुरदरा एवं सूक्ष्म उभारदार होता है। गर्जर-कुल के अन्य फलों की भाँति यह भी दो एकस्फोटी खण्डों (*Mericarps*) के परस्पर जुटने से वना होता है। प्रत्येक खण्ड पर ५ उन्नत रेखाएँ (*Prominent ridges*) होती हैं। इनकी मध्यस्थ नालियाँ गाढ़े भूरे रंग की होती हैं और प्रत्येक परिखा में एक तेलनलिका या तैलिका (*Vitta*) होती है। संधि स्थान (*Commissural sides*) पर दो तेलनलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। अजवाइन में जंगली पुदीने (हाशा) की भाँति तीव्र सुगंधि पायी जाती है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य-अधिकतम २%।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों (वीजों) को लेकर अनार्द्र शीतल स्थान में अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में रखना चाहिए। सत अजवायन को अच्छी तरह मुखबंद शीशियों में शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए। यह अत्यंत उड़नशील होता है।

संगठन – फलों में एक उड़नशील तेल (४-६%) होता है। इससे आसुत अर्क के ऊपरी धरातल पर एक प्रकार का, स्फटिकीय द्रव्य (*Stearoptin*) इकट्ठा होता है, जिसे अजवायन का फूल या सत (थाइमोल *Thymol*) कहते हैं। इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में क्युमिन, टर्पीन तथा थाइमीन भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह सुरक्षित रखने से इसमें ४ वर्ष तक वीर्य रहता है।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन-पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, जीवाणुनाशक, गर्भाशयोत्तेजक, उदर-कृमिनाशक (अंकुशमुखकृमि पर विशिष्ट घातक क्रिया)। अफीम सेवन जन्य विकृतियों का शमन करती है। अहितकर–शिरःशूलकारक, शुक्र एवं स्तन्यापनयन। निवारण–धनिया, एवं उन्नाव। प्रतिनिधि–कलौंजी एवं काला जीरा। चरकोक्त (सू० अ० ४) शीतप्रशमन महाकषाय में यवानी (भूतीक नाम से) का भी उल्लेख है।

मुख्य योग – यमानीपाडव, यमान्यादिचूर्ण, यमानीसत्व (सत अजवाइन), यवान्यर्क, यवानिकादिक्वाथ, माजून नानखाह, माजून नानखाह हकीम अलीजीलानी।

विशेष – यूनानी मतानुसार यह तृतीय कक्षा में उष्ण एवं रूक्ष है। अजवायन का सत यद्यपि हिंदुस्तान में भी वनाया जाता है, तथापि यह अधिकतया विदेशों से ही आता है। यूनानी हकीम वहुत काल से इसका योगनिर्माण कर उपयोग करते हैं और इसे अत्यंत गुणदायक और आशु-

अनुलोमन, कटुपौष्टिक, रक्तशोधक, कफघ्न, प्रमेहघ्न शीतप्रशमन, अनुवासनोपग आदि।

मुख्ययोग – यह बृहत् पंचमूल तथा दशमूल का उपादान है। चरकोक्त (सू० अ० ४) अनुवासनोपग, शोथहर, शीतप्रशमन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वरुणादि, वीरतर्वादि एवं महत्पंचमूल गणों में अग्निमंथ का भी पाठ है।

अजमोद (अजमोदा)

नाम। सं०–अजमोदा, दीप्यक। हिं०–अजमोद। वं०–राणधोनी, वन्‌जोयान्, रान्धनी। म०–रानवणे (जंगली धनिया), अजमोदा। गु०–अजमोद, वोडी अजमोद। मा०–अजमोदो। सिंध–वनजाण। फा०, अ०–करफ्से हिंदी। ले०–ट्राकीस्पेर्मुम रॉक्सवुर्घिआनुम *Trachyspermum roxburghianum* (D.C.) *Sprague. Syn.* : कारुम रॉक्सवुर्घिआनुम *Carum roxburghianum Benth. & Hook f.*

वानस्पतिक कुल – गर्जरादि-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष में जगह-जगह विशेषतः दक्षिण भारत तथा बंगाल में इसकी खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – अजमोदा के एक वर्षायु छोटे पौधे होते हैं, जो ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट तक ऊँचे होते हैं, तथा देखने में अजवाइन के पौधों के ही समान मालूम पड़ते हैं। इनकी शाखाओं पर बड़े-बड़े छत्ते लगते हैं। उनपर श्वेत रंग के पुष्प आते हैं और जब वे छत्ते पक और फूट जाते हैं तब उनमें से जो दाने उत्पन्न होते हैं, उनको अजमोद कहते हैं।

उपयोगी अंग – सुखाये हुए पक्व फल (व्यवहार में इनको बीज कहते हैं)।

मात्रा – लगभग १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अजमोद का फल लगभग $\frac{5}{24}$ सें० मी० या $\frac{1}{12}$ इंच लम्बा, रूपरेखा में गोल, अजवायन के बीज से बड़े तथा धूसर वर्ण के होते हैं। इनके ऊपर छोटे-छोटे दाग़ भी होते हैं। छत्रक-कुल के अन्य फलों की भाँति, यह भी दो एस्फोटीखण्डों (*Mericarps*) के परस्पर जुटने से बनते हैं। प्रत्येक फलखण्ड में ५ उन्नत रेखाएँ (*Ridges*) तथा लगभग १५ तेल नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। उक्त उन्नत रेखाएँ रेखान्तरित अवकाश की अपेक्षा कुछ फीके वर्ण की होती हैं। अजमोद के बीजों (फलों) को मुख में चावने से धनिये – जैसे स्वाद (*Coriander-like flavour*) की अनुभूति होती है। बीजों को मसल कर सूंघने से एक विशिष्ट प्रकार (सौंफ के समान) की बहुत हल्की सुगन्धि मालूम पड़ती है।

मिलावट एवं प्रतिनिधि द्रव्य – कोंकण में अजमोद की एक जंगली जाति (कारुम स्ट्रिक्टोकार्पुम *Carum strictocarpum*) प्रचुरता से होती है। इसके लिए भी मराठी नाम रानधणे प्रयुक्त होता है, जो वस्तुतः उपर्युक्त अजमोद का है। इसके फल (बीज) अजमोद के फलों की अपेक्षा काफी छोटे (लगभग आधे) होते हैं।

कोई-कोई 'अजमोद' और 'करफ्स' को एक ही द्रव्य मानते हैं। इसका कारण यह है, कि करफ्स भी बाजार में करपस या 'वोड़ी अजमूद' के नाम से मिलता है। किन्तु करफ्स विलकुल पृथक् द्रव्य है और इसका आयात भारतीय बाजारों में प्रधानतः फारस से होता है। करफ्स छत्रक-कुल के ही एक पृथक् पौधे (आपिउम ग्रावेओलेन्स *Apium graveolens Linn.*) के पक्व फल होते हैं, जो उपर्युक्त अजमोद के दानों से बहुत छोटे होते है; और रंग में भी इन दोनों में स्पष्ट अन्तर होता है। अधिक-से-अधिक भारतीय अजमोद को 'करफ्से हिंदी' कहा जा सकता है। इसका पृथक् वर्णन किया जायगा।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों (बीजों) को छायाशुष्क करके अच्छी तरह डाटबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – अजमोद के बीजों में एक उड़नशील तेल (*Volatile oil*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–रोचन, दीपन, शूलप्रशमन, वात-कफ नाशक, हिचकी, आध्मान, कृमि, अरुचि और उदर-रोगनाशक। चरकोक्त (सू० अ० ४) दीपनीय एवं शूलप्रशमन महाकषायों तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पिप्पल्यादि गण के द्रव्यों में अजमोदा भी है।

मुख्य योग – अजमोदादि चूर्ण, अजमोदादि वटक।

विशेष – अजवाइन की भाँति ही अजमोद का उपयोग किया जाता है ।

अजवायन (यवानी)

नाम । सं०–यमानिका, उग्रगंधा, यवानी, भूतीक । हिं०–अजवायन, जवाइन । वं०–अजोवान, जोयान् । पं० जवैण । म०–ओंवा । गु०–अजमा । अ०–कम्नुल् मुलूकी, कम्मून–एल् मुलूकी । फा०–नानखाह । अं०–किंग्स क्युमिन (*King's Cumin*), विशप्सवीड (*Bishop's Weed*) । ले०–ट्राकीस्पेर्मुम आम्मी *Trachyspermum ammi* (L.) *Sprague ex Turrill.* (पर्याय–*Carum Copticum Benth.*) ।

वानस्पतिक कुल – गर्जर-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेषतः पंजाव, वंगाल, मालवा) अफ़गानिस्तान, ईरान और मिस्र में इसकी खेती की जाती है ।

संक्षिप्त परिचय – अजवायन के क्षुप ३० सें० मी० से १.२० मीटर या १-४ फिट तक ऊंचा, प्रायः मसृण अथवा किंचित् रोमश होते हैं । पत्र शतपुष्पा के पत्तों के समान २–३ पक्षाकारी होते हैं । इसकी डालियों पर छत्रक (*Umbels*) से आते हैं, जिन पर सफेद फूल लगते हैं । जब वे छत्ते पक जाते हैं तव उनमें अजवाइन उत्पन्न होती है । इनको पीटने (*Threshing*) से छोटे-छोटे दाने से निकलते हैं । इन्हीं को अजवाइन कहते हैं । भारतीय कृषक प्रायः धनिये के साथ इसे खेतों में वोते हैं । वोने का समय अक्टूवर से नवम्वर (कातिक, अगहन) और काटने का समय फर्वरी है ।

उपयोगी अंग – वीज़ (फल), पत्र, तैल, अर्क ।

मात्रा । फल चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।
तैल–१५ से ३० बूंद ।
अर्क–२३.३ ग्राम से ४६.६ ग्राम या २ से ४ तो० ।
सत अजवाइन– $\frac{1}{32}$ ग्राम से $\frac{1}{8}$ ग्राम या $\frac{1}{2}$ से २ रत्ती ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अजवायन (फल) रूपरेखा में अजमोदा के समान तथा धूसर वर्ण (*Greyish-brown*), वाह्यतल खुरदरा एवं सूक्ष्म उभारदार होता है । गर्जर-कुल के अन्य फलों की भाँति यह भी दो एकस्फोटी खण्डों (*Mericarps*) के परस्पर जुटने से वना होता है । प्रत्येक खण्ड पर ५ उन्नत रेखाएँ (*Prominent ridges*) होती हैं । इनकी मध्यस्थ नालियाँ गाढ़े भूरे रंग की होती हैं और प्रत्येक परिखा में एक तेलनलिका या तैलिका (*Vitta*) होती है । संधि स्थान (*Commissural sides*) पर दो तेलनलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं । अजवाइन में जंगली पुदीने (हाशा) की भाँति तीव्र सुगंधि पायी जाती है । विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य-अधिकतम २% ।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों (वीजों) को लेकर अनार्द्र शीतल स्थान में अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में रखना चाहिए । सत अजवायन को अच्छी तरह मुखवंद शीशियों में शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए । यह अत्यंत उड़नशील होता है ।

संगठन – फलों में एक उड़नशील तेल (४-६%) होता है । इससे आसुत अर्क के ऊपरी धरातल पर एक प्रकार का, स्फटिकीय द्रव्य (*Stearoptin*) इकट्ठा होता है, जिसे अजवायन का फूल या सत (थाइमोल *Thymol*) कहते हैं । इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में क्युमिन, टर्पीन तथा थाइमीन भी पाये जाते हैं ।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह सुरक्षित रखने से इसमें ४ वर्ष तक वीर्य रहता है ।

स्वभाव । गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । रस–कटु, तिक्त । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । प्रधान कर्म–दीपन-पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, जीवाणुनाशक, गर्भाशयोत्तेजक, उदर-कृमिनाशक (अंकुशमुखकृमि पर विशिष्ट घातक क्रिया) । अफीम सेवन जन्य विकृतियों का शमन करती है । अहितकर–शिरःशूलकारक, शुक्र एवं स्तन्यापनयन । निवारण–धनिया, एवं उन्नाव । प्रतिनिधि–कलौंजी एवं काला जीरा । चरकोक्त (सू० अ० ४) शीतप्रशमन महाकषाय में यवानी (भूतीक नाम से) का भी उल्लेख है ।

मुख्य योग – यमानीषाडव, यमान्यादिचूर्ण, यमानीसत्व (सत अजवाइन), यवान्यर्क, यवानिकादिक्वाथ, माजून नानखाह, माजून नानखाह हकीम अलीजीलानी ।

विशेष – यूनानी मतानुसार यह तृतीय कक्षा में उष्ण एवं रूक्ष है । अजवायन का सत यद्यपि हिंदुस्तान में भी बनाया जाता है, तथापि यह अधिकतया विदेशों से ही आता है । यूनानी हकीम वहुत काल से इसका योगनिर्माण कर उपयोग करते हैं और इसे अत्यंत गुणदायक और आशु-

प्रभावकर पाते हैं। इसके अन्दर अजवाइन के समस्त गुण अधिक वीर्य के साथ पाये जाते हैं। अंग्रेजी दवाखानों में मिलने वाला 'थाइमोल *Thymol*' यमानी सत्व ही होता है। किन्तु आजकल यह जंगली पुदीना (हाशा) तथा अन्य द्रव्यों से भी प्राप्त किया जाता है; और रासायनिक संश्लेषण पद्धति द्वारा कृत्रिम रूप से भी बनाया गया है।

अजवायन खुरासानी

नाम। सं०–पारसीक यमानी। हिं०–खुरासानी अजवायन। अ०–वंज सीकरान, खदाउर्रजाल। फा०–वंग, वंक, वंग दीवाना। अं०–हेनवेन (*Henbane*)। ले०–हिओस्सिआमुस रेटीकुलाटुस (*Hyoscyamus reticulatus Linn.*)। बीज। अ०–बज्रुलवंज। फा०–तुख्मवंग। अं०–हेन-वेन सीड्स (*Henbane Seeds*)।

वानस्पतिक कुल – कण्टकारी-कुल (सोलानासी *Solanaceae*)

प्राप्तिस्थान – बलूचिस्तान, खुरासान, एशियामाइनर एवं मिस्र आदि।

संक्षिप्त परिचय – 'बज्रुल वञ्ज' या 'तुख्मवङ्क,' जो खुरासान से भारतवर्ष में अधिक आता है, भारतीय चिकित्सकों ने अजवायन के समान समझ कर उसका नाम खुरासानी या पारसीक यमानी रख दिया जो अब उर्दू में एवं तिब्ब में अजवायन खुरासानी के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु इस बात को भलीभाँति स्मरण रखना चाहिए कि गुण-कर्म की दृष्टि से दोनों ही औषधियाँ सर्वथा भिन्न हैं। अतएव खुरासानी अजवायन को यमानी या अजवाइन का भेद नहीं समझना चाहिए। खुरासानी अजवाइन एक विषैली औषधि है। इसका क्षुप अजवाइन के क्षुप से ऊँचाई में कुछ बड़ा, कांड मोटा और रोईदार, पत्र गुलदाउदी या बिल्लीलोटन के समान बहुत मोटे, चौड़े एवं लम्बोतरे से होते हैं। पत्रतट कटे हुए कंगूरेदार, रंग में कालापन लिये हरे और रोईदार। पुष्प सफेद अनार की कलियों के समान, परंतु पंखड़ियों के कंगूरे, मध्य एवं मूल भाग ललाई लिये होते हैं। औषधि में प्रायः इनके बीजों का व्यवहार होता है। भारतवर्ष में इसका आयात प्रधानतः फारस से होता है।

उपयुक्त अंग – बीज, पंचांग।

मात्रा – ½ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में मिलने वाले बीज प्रायः रूपरेखा में वृक्काकार (*Reniform*) एवं चपटे (*Compressed laterally*) तथा खाकस्तरी भूरे रंग के (*Greyish-brown*) होते हैं। बीजों का बाहरी छिलका या बीजकवच (टेस्टा *Testa*) सूक्ष्म रेखांकित (*Finely reticulated*) होता है। अन्दर का मग्ज स्नेहमय (*Albumen oily*) होता है। बीजगर्भ (*Embryo*) अंग्रेजी संख्या नव (9) के आकार का होता है, जिसका नीचे का पुच्छाकार भाग आदिमूल या मूलांकुर (*Radicle*) से बनता है। बीजों का स्वाद तिक्त, कटु एवं तैलीय (*oily*) होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–कभी-कभी व्यवसायी लोग खुरासानी अजवायन में हुलहुर के बीजों का मिलावट कर देते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – बीजों को अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए। विषैला होने से इसको पृथक् स्थान में रखना चाहिए अथवा इस पर विषैला द्योतक निर्देशपत्रक लगा देना चाहिए।

संगठन – इसमें हायोसायमीन (*Hyoscyamine*) नामक विषैला ऐल्केलॉइड पाया जाता है, जिसकी रासायनिक रचना ऐट्रोपीन से मिलती-जुलती है। इसके सूच्याकार या त्रिपार्श्विक क्रिस्टल्स होते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव। गुण–गुरु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु कषाय। विपाक–कटु। वीर्य-उष्ण। प्रभाव–मादक। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। प्रधान कर्म–अवसादक, स्वापजनन, निद्रल, रक्तस्तम्भन एवं दोष विलोमकर्ता, अग्निदीपन एवं ग्राही।

अहितकर–मस्तिष्क को।

निवारण–शुद्ध मधु।

प्रतिनिधि–अफीम एवं पोस्ते का दाना।

मुख्य योग – खुरासानी अजवायन के बीज कतिपय यूनानी योगों में पड़ते हैं।

विशेष – पुष्प के रंगभेद से खुरासानी अजवायन के कई भेद होते हैं। इसकी एक निकटतम प्रजाति हिओस्सिआमुस मूटिकुस (*Hyoscyamus muticus Linn.*) है जिसे 'कोही भाँग' कहते हैं, पश्चिमी पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान एवं

वजीरिस्तान में यह प्रचुरता से पायी जाती है। काली खुरासानी अजवायन हिओस्सिआमुस नीगेर (*Hyoscyamus niger Linn.*) भी हिमालय प्रदेश में काश्मीर से गढ़वाल तक १५२४ मी० से ३३५२·८ मीटर या ५००० से ११००० फुट तक प्रचुरता से पायी जाती है। इसका ग्रहण ब्रिटिश फॉर्माकोपिआ में भी किया गया है।

अड़ूसा (वासक)

नाम। सं०–वासा, वासक, वृष, अटरूपक । हिं०–वाँसा, रूस, अरूसा, अड़ूसा, बसौंटा । पं०–वांसा, वहेंकड़, वौंकड़ । म०–अडुलसा । गु०–अरडुसो (सी) । अ०–हशीशतुस्सुआल । फा०–वाँस:, ख्वाजा । अं०–एढाटोडा (*Adhatoda*) । ले०–आढाटोडा वासिका (*Adhatoda vasica Nees.*) ।

वानस्पतिक कुल–वासकादि-कुल (अकान्थासी *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊंचाई तक इसके स्वयंजात पौवे वहुधा कड़ी, कंकरीली-पथरीली भूमि में समूहवद्ध उगते हैं।

संक्षिप्त परिचय – अड़ूसा के सदाहरित क्षुप या गुल्म होते हैं, जिनमें एक दुर्गन्धि (*Fetid smell*) होती है। पत्तियाँ १० से २० सें० मी० या ४-८ इंच लम्वी, ३.७५ से ७.५ सें० मी० या १.४ से ३ इंच चौड़ी, भालाकार, या अंडाकार, अग्र नुकीला, आधार की और चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती है। पर्णवृन्त २.५ से ३.७५ सें० मी० या १ से १॥ इंच लम्वा होता है। मंजरियाँ ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्वी, सघन तथा विदण्डिक पुष्पों को धारण करती हैं। पुष्प सफेद रंग के, पुष्पवाह्य कोश (*Calyx*) ८.३ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या ⅓ से ½ इंच लम्वा ५ समान खंडों में विभक्त; खण्ड (*Lobes*) प्रायः समान तथा भालाकार (*lanceolate*) होते हैं। आभ्यन्तर कोप (*Corolla*) सफेद रंग का द्वि-ओप्ठीय (*Bi-labiate*) सा होता है, जिससे सिंह-मुखाकृति मालूम होता है। अधरोष्ठ पर बैंगनी रंग की दो तिरछी धारियाँ तथा आभ्यन्तर कोप के भीतरी भाग पर रक्तानायुक्त लोहित वर्ण के धव्वे पड़े होते हैं। पुंकेशर दो। फल (*Capsule*) १७.५ मि० मी० या ७⁄१० इंच लम्वा मुद्गराकार (*Clavate*), अनुलम्व दिशा में परिखा-युक्त (*Chanelled*) जिसमें ४ वीज होते हैं। वीज ५ मि० मी० या ⅕ इंच लम्वे, चिकने एवं उभारयुक्त (*Tubercled*) होते हैं। पुष्पागम शरद् ऋतु में होता है। कहीं-कहीं उपयुक्त भूमि एवं जलवायु में वासा के वृक्षस्वभाव के वड़े गुल्म हो जाते हैं।

उपयुक्त अंग – पत्र, पुष्प, मूलत्वक्, पंचाङ्ग ।

मात्रा। पत्रस्वरस–५.८ मि० लि० से १७.५ मि० लि० या ६ माशा से १॥ तोला।

पुष्प–६२५ मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम ५ से १० रत्ती।

मूलत्वक्चूर्ण–२५० मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २ से ५ रत्ती।

मूलक्वाथ–२९.१५ मि० लि० से ५८.३० मि० लि० या २॥ से ५ तो०।

संग्रह एवं संरक्षण – वासा के सदाहरित पौवे सर्वत्र सुलभ है, अतएव पत्रों का संग्रह ताजी अवस्था में कर व्यवहार किया जा सकता है। संग्रह करना हो तो पत्र पुष्पादिक को छाया-शुष्क करके अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखें।

संगठन – पत्र एवं मूलत्वक् (जड़ की छाल) में वासीन (वासकीन) या वासीसीन (*Vasicine* : $C_{11}H_{12}N_2O$) नामक क्रिस्टलीय ऐल्केलॉइड (*Crystalline alkaloid*) पाया जाता है, जो अत्यंत तिक्त (*Bitter*) होता है। इसका रासायनिक स्वरूप वहुत कुछ हरमल में पाये जाने वाले क्षारोद या ऐल्केलायड 'पेगेनीन' से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त पत्र में एढाटोडिक एसिड (*Adhatodic acid*), एक उत्पत् तैल, वसा, रेजिन (राल), लवावी तत्त्व, शर्करांश एवं पीत रंजक तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ६ मास।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कपाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–कफनिस्सारक, श्वास-कास एवं रक्तपित्तनाशक एवं क्षयनाशक। अहितकर–शीत प्रकृति को। निवारण–कालीमिर्च एवं मधु।

मुख्य योग – वासावलेह, वासारिष्ट, वासापानक, वासादि-वटिका, वासाचन्दनादि तैल, वासक क्षार (पंचाङ्ग का) तथा फलों का गुलकन्द।

अतीस (अतिविषा)

नाम। सं०—अतिविषा, शुक्लकन्दा, भंगुरा, घुणवल्लभा, शिशुभैषज्या। हिं०—अतीस। म०, गु०—अतिविष। पं०—पतीस, वतीस। वं०—आतईच। क०—पतीस, पत्रीस। ता०—अतिविदयम्। ले०—आकोनीटुम हेटेरोफ़िल्लुम (*Aconitum heterophyllum Wall.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (राननकुलासी *Ranunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय के सिन्धु नदी से कुमाऊँ तक के १.८२ किलोमीटर से ४.५७ किलोमीटर या ६,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई के प्रदेश। अतीस की कन्दाकार जड़ पंसारियों के यहाँ मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – इसके ३० सें० मी० से १२० सें० मी० १ से ४ फुट ऊंचे क्षुप होते हैं। शाखाएँ चिपटी होती हैं। प्रत्येक पौधे में प्रायः एक ही काण्ड होता है, जिस पर अनेक पत्तियाँ निकली (*Leafy*) होती हैं। काण्ड के अधः भाग की पत्तियाँ सनाल या पर्णवृन्तयुक्त (*Stalked*) और रूपरेखा में तश्तरीनुमा गोलाकार या मण्डलाकार (*Orbicular*) या चौड़ी-लट्वाकार (*Broadly ovate*) अथवा हृदयाकार (*Cordate*) तथा पांच खण्डों में विभक्त-सी (5-*lobed*) होती हैं, जिनके किनारे कुण्ठिताग्र-दन्तिल या तीक्ष्णाग्र-दंतिल (*Teeth obtuse or acute*) होते हैं। ऊपर की पत्तियाँ विनाल (*Sessile*) तथा काण्ड-संसक्त (*Stem-clasping*) होती हैं। इनके किनारे तीक्ष्णाग्र-दन्तुर या दंतिल (*Sharply toothed*) होते हैं। पुष्प २.५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच लम्बे हरिताभ-नीले रंग के और देखने में फणाकार टोपी (*Helmet*) की तरह होते हैं। इन पर बैंगनी रंग की धारियाँ (*Purple veins*) होती हैं। मूल द्विवर्षायु होता है, जिनमें दो कन्द होते हैं, एक पिछले वर्ष का और दूसरा नये साल का। औषधि में इन्हीं कन्दाकार जड़ों का व्यवहार अतीस के नाम से होता है।

उपयोगी अंग – अतीस की जड़ में दो कन्द होते हैं, जिनमें एक पुराने साल का और दूसरा नये साल का; पुराने साल का कन्द (*The mother roots*) नये साल की अपेक्षा बड़ा तथा धूसर (*Grey*) वर्ण का; तथा नया कन्द (*The young daughter tuber*) अपेक्षाकृत छोटा तथा श्वेत वर्ण का होता है। औषधीय दृष्टि से यही श्रेष्ठतर एवं ग्राह्य है।

मात्रा – ५/८ ग्राम से ३ ३/४ ग्राम या ५ से ३० रत्ती (३॥ माशा) तक।

वल्यरूप से–५/८ ग्राम से २ ग्राम या ५ से १५ रत्ती।

ज्वरघ्न–२.५ ग्राम से ६ ग्राम या २॥ माशा से ६ माशा तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – औषधीय दृष्टि से नया एवं छोटा कन्द (*The young daughter roots*) उत्तम होता है, जिसपर इतस्ततः टूटीहुई सूत्राकार जड़ों के चिह्न (*Scars*) पाये जाते हैं। यह प्रायः १.८७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या ३/४ इंच से २ इंच तक लम्बे, रूपरेखा में अभिशंक्वाकार (*Obconical*) अथवा अण्डाभ (*Ovoid*) होते हैं, जो अग्र की ओर कभी-कभी द्विधा-विभक्त-से होते हैं। शीर्ष पर शल्कपत्रमय कलिका (*Scaly leaf-bud*) के अवशेष भी होते हैं। तोड़ने पर यह खटसे टूटता है, और अन्दर पिष्टमय पदार्थ निकलता है (*Fracture short and Starchy*)। टूटे हुए तल पर परिधि के पास अनेक विन्दु-से दिखाई देते हैं, जो वाहिनीपूलों या वंडलों (वैस्क्युलर वंडल *Vascular bundles*) के चिह्न होते हैं। अतीस स्वाद में अत्यंत तिक्त होती है, तथा इसमें कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती।

मिलावट – दक्षिण भारत में कहीं-कहीं क्रिप्टोकोरीने स्पीरालिस (*Cryptocoryne spiralis Fisch. : Family : Araceae*) के कन्दाकार भौमिक काण्ड (*Rhizome*) अतीस के नाम से वेचे जाते हैं। इसको तेलगू भाषा में नत्ती-अतिवस (*Natti-ativasa*) तथा तामिल में नत्तातिविदयम् (*Nattativadayam*) कहते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – शरद के अन्त में जब फल पक जाते हैं, मूलों को खोद कर छोटे कन्दों को संग्रहीत कर अनार्द्र शीतल स्थान में मुखवन्द पात्रों में रखना चाहिए। इसमें कीड़े लगने की सम्भावना अधिक रहती है।

संगठन – वत्सनाभ जाति की होने पर भी अतीस विषैली नहीं होती। इसमें अतिसीन (*Atisine*) नामक एमॉरफस (*Amorphous*) ऐल्केलॉइड पाया जाता है, जो स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है। इसके अतिरिक्त वत्सनाभाम्ल (एकोनीटिक एसिड *Aconitic acid*), टैनिक एसिड, पेक्टस तत्त्व (*Pectous substance*),

स्टार्च, वसा, इक्षुशर्करा तथा भस्म के मिश्रण २ प्रतिशत तक पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन-पाचन, ग्राही, ज्वरातिसार-नाशक, कृमिघ्न, छर्दि, कास-नाशक एवं अर्शोघ्न। बालकों के ज्वरातिसार, छर्दि, कास आदि रोगों में विशेष रूप से उपयोगी है। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है।

मुख्य योग – अतिविषादि चूर्ण, बालचतुर्भद्रा। चरकोक्त (सू० अ० ४) लेखनीय एवं अर्शोघ्न गण की औपधियों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पिप्पल्यादि, मुस्तादि और वचादि गण की औपधियों में अतिविषा भी है।

विशेष – आयुर्वेदीय निघण्टुओं में रंगभेद से अतीस के तीन-चार प्रकार बताये गये हैं—यथा, श्वेत पीत, रक्त एवं कृष्ण आदि। सम्प्रति व्यवहार में प्रायः श्वेत अतीस ही उपलब्ध होती है। अनेक कार्यो के लिए अतीस, अंग्रेजी फार्माकोपिआ में उल्लिखित अनेक औषधियों के उत्तम प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत की जा सकती है यथा :—

ज्वरप्रतिपेधक रूप से–सिंकोना, क्विनीन आदि।

ज्वरघ्न या संतापहर–लाइकर अमोनियाई एसिटास, वाइनम् एन्टीमोनिएलिस।

तिक्तबल्य रूप से–जेंशन एवं कलम्बा आदि।

अनन्तमूल, दे० 'सारिवा'।

अनन्नास (अनानास)

नाम। हिं०–अनन्नास, अनानास, कटहल सफरी। बं०–अनानाश, अनारस। म०–अन्नास। गु०–अनन्नास। मल०–परंगिच्चक्क (यूरूपीय फणस)। अं०–पाइन एपल (*Pine Apple*)। यू०, फ्रां०, पुर्त०, अम०–एनानास। ले०–आनानास कोमोसुस (*Ananas Comosus Linn.*) *Merril.* (पर्याय–*A. sativus Schult. f.*)। अनन्नास की विभिन्न प्रान्तीय संज्ञाएँ इसकी अमेरिकन 'अनासी' तथा 'नानस' संज्ञा से व्युत्पन्न हुई हैं।

वानस्पतिक कुल – अनन्नास-कुल (ब्रोमेलिआसी *Bromeliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – अनन्नास ब्रेजिल (दक्षिण अमरीका) का आदिवासी पौधा है। इस समय समस्त भारतवर्ष में (विशेषतः बंगाल, आसाम तथा पश्चिमी समुद्रतटवर्तीय प्रदेशों में) इसकी प्रचुर मात्रा में खेती की जाती है। इसके पक्व फल मौसम में मेवाफरोशों के यहाँ बिकते हैं। पश्चिमी समुद्रतटवर्तीय अनानास सर्वोत्कृष्ट होता है।

संक्षिप्त परिचय – अनन्नास के द्विवर्षायु, ६० सें० मी० या २ फुट तक ऊंचे शाकीय पौधे (*Erect herb*) होते हैं, जो आपाततः देखने में रामबास या घृतकुमारी के पौधों-जैसे लगते हैं। पौधे के मध्य भाग से छोटा प्रकाण्ड निकलता है जिसके मूल में चारों ओर पत्र-पुञ्ज (*Rosette of leaves*) होता है। पत्तियाँ ३० सें० मी० से ६० सें० मी० या १-२ फुट लम्बी, पतली किन्तु मजबूत रेशेदार रचना वाली होती है, और इनके किनारों पर छोटे तीक्ष्णाग्र कंटक होते हैं। उक्त प्रकाण्ड पर शंक्वाकार रूपरेखा का *अवृत्तकाण्डज* पुष्पव्यूह (*शूकी*) होता है, जिसमें शल्कपत्र प्रचुरता से होते (*Scaly Conical Spike*) हैं। उक्त पुष्पव्यूह ही क्रमशः वृद्धि को प्राप्त कर मांसल फल के रूप में परिणत हो जाता है, जो पकने पर नारंगी के समान पीत वर्ण का हो जाता है। फलों पर अनेक छोटे-छोटे कण्टकमय पत्र होते हैं, जिनको छत्र (*Crown*) कहते हैं। अनानास के फल औसतन १॥-२ सेर वजन के होते हैं। उक्त कण्टकमय पत्र फलों पर तिरछी पंक्तियों में स्थित होते हैं, अतएव फलों को छीला भी प्रायः तिरछे रूप से ही जाता है। अन्दर-अन्दर पीले या लालिमा लिये पीले रंग का स्वादिष्ठ खटमिट्ठा गूदा निकलता है।

उपयोगी अंग – पक्व एवं अपक्व फल तथा पत्र।

मात्रा। फलस्वरस–२३.३२ ग्रा० से ५८.३१ ग्राम या २ से ५ तोला।

पत्रस्वरस–११.६६ ग्राम से २३.३२ ग्राम या १ से २ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को लेकर उसके गूदे का शर्बत या मुरब्बा बना कर रखा जाता है। ठंढी जगह में रखने से फल भी महीनों तक ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

संगठन – इसमें ब्रोमेलिन (*Bromelin*) नामक तत्त्व पाया जाता है। ताजे फल के रस में शर्करा ((८-५%), (०.३-०.६%) अम्ल, विटामिन '*A*' तथा '*C*' और एक मांसतत्त्व को पचाने वाला किण्व (*Proteid digesting ferment*) तथा दूध को जमाने वाला किण्व (*Milk-*

curdling ferment) पाया जाता है। भस्म में फास्फोरिक एसिड, चूना, मैगनीसियम्, लौह तथा सोडियम्, पोटासियम् के लवण पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि। (फल)–३ मास तक।

मुरब्बा एवं शर्वत के रूप में–दीर्घ काल तक।

स्वभाव। गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–(पके फल में) मधुर तथा (कच्चे फल में) अम्ल। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–वात-पित्तशामक, रोचन, दीपन, अनुलोमन, रेचन, हृद्य, रक्तपित्तशामक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, वल्य, ज्वरघ्न। कच्चे फल का स्वरस तीव्र गर्भाशयोत्तेजक, आर्त्तवजनन तथा अधिक मात्रा में गर्भपातक। पत्रस्वरस–तीव्र रेचन एवं कृमिघ्न। यूनानी मतानुसार अनानास दूसरे दर्जे में शीत एवं तर होता है। अहितकर-कंठ को। निवारण–नमक, नीवू का रस, शर्करा, आर्द्रक स्वरस।

मुख्य योग – शर्वत अनन्नास, अनन्नास का मुरब्बा, अर्क अनन्नास।

विशेष – मात्रातियोग से यह गर्भपातक प्रभाव करता है। अतएव गर्भवती स्त्रियों में इसका प्रयोग सतर्कता पूर्वक करना चाहिए।

अनार (दाडिम)

नाम। सं०–दाड़िम, लोहितपुष्पक, दन्तवीज। हिं०–अनार। बं०–दाड़िम। म०–डालिंव। गु०–दाड़म। अ०–रुम्मान। फा०–अनार, नार। अं०–पॉमिग्रेनेट (*Pomegranate*)। ले०–पूनिका ग्रानाटुम (*Punica granatum Linn.*)। मीठा (मधुर) अनार – अ०–रुम्मान हुलुव्व। फा०–अनार शीरीं। वड़े दाने का गुठली रहित (वेदाना) कावुली अनार सर्वोत्तम होता है। इसका रस मीठा होता है। खटमिट्ठा (मधुराम्ल) अनार – रुम्मान मुज्ज। फा०–अनार मैखोश। अनार चाशनीदार। इसका रस खटमिट्ठा होता है। खट्टा (अम्ल) अनार –अ०–रुम्मान हामिज। फा०–अनारतुर्श। इसका रस खट्टा होता है। अनार का छिलका –हिं०–न (ना) सपाल। अ०–कश्रुर्रुम्मान। फा०–पोस्त अनार। (जड़)–फा०–पोस्तवेख अनार। सं०–दाड़िम-मूलत्वक्। हिं०–अनार के जड़की छाल। अनार-दाना–हिं०–अनारदाना। फा०–तुख्म अनार। अनार का फूल–हिं०–अनार का फूल। फा०– गुल अनार। अ०–वर्दुर्रुम्मान। यह गुलनार से भिन्न है। गुलनार–फा०–गुलनार, अनारगली। जुलनार इसका अरवी रूपांतर है।

वानस्पतिक कुल – दाड़िम-कुल (पूनिकासी *Punicaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिम हिमालय और सुलेमान की पहाड़ियों पर तथा ईरान एवं अफगानिस्तान में यह स्वयंजात होता है। सर्वत्र भारतवर्ष में अनार लगाया भी जाता है। कावुल, कन्धार के अनार सर्वोत्तम होते हैं।

संक्षिप्त परिचय – अनार के पर्णपाती वड़े गुल्म (*Shrub*) या छोटे वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ अभिमुख या विपरीत (*Opposite*) या लगभग-अभिमुख (*Sub-opposite*) या समूहवद्ध, (*Clustered*) २.५ सें० मी० से ६.५ सें० मी० या १ से २½ इंच लम्वी, आयताकार या दीर्घवत् (*Oblong*), अभिलट्वाकार या अभिप्रासवत् या प्रतिमालाकार (*Oblanceolate*), कुण्ठिताग्र (*Obtuse*) तथा चिकनी होती हैं। आधार की ओर चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती है, और अन्ततः छोटे पर्णवृन्त (*Petiole*) में अन्त होता है। पत्रतट अखण्डित होते हैं। पुष्प अवृन्त या वृन्तरहित (*Sessile*) अग्र्य (*Terminal*) तथा एकल (*Solitary*) अथवा तीन पुष्प वाले व्यूह (*3-flowered cyme*) में निकलते हैं। पुष्पवाह्यकोष या वाह्यदलपुंज (*Calyx*) हरिताभ रक्तवर्ण, नलिकाकार तथा मांसल एवं ५-७ खण्डयुक्त, दलपत्र (*Petals*) संख्या में वाह्यकोपखण्डों के वरावर १.२५ सें० मी० से २.५ सें.० मी० या ½ से १ इंच लम्वे, चिगुरे हुए (*Wrinkled*) तथा चमकीले लाल रंग के होते हैं। फल गोलाकार (जंगली वृक्षों के व्यास में ३.७५ सें० मी० या १॥ इंच किन्तु लगाये हुए वृक्षों के ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक) होते हैं, जिनके आधार पर पुटपत्रों के अवशेष लगे होते हैं, जिससे चूड़ावत् रचना मालूम होती है। फलाभ्यन्तर झिल्लीदार पर्दों द्वारा अनेक कोष्ठों में विभक्त होते हैं, जिनमें गुलावी या लाल वर्ण युक्त दन्ताकार अनेक वीज ठसाठस भरे होते हैं। माघ तथा फागुन में इसके नये पत्ते लगते हैं। इसके फूल हर मौसम में लगते हैं, किन्तु चैत, वैशाख में वहुत लगते हैं। आपाढ़ से भादों तक फल पकते हैं।

उपयोगी अंग – फल, फलत्वक् या नसपाल (*Rind*), पुष्पकलिका, पत्र एवं वीज (अनारदाना)।

मात्रा। फलरस– २ से ५ तोला।

फलत्वक्चूर्ण (अनार का छिलका)–२ ग्राम से ५ ग्राम या २ से ५ माशा।

मूलत्वक्चूर्ण (जड़ की छाल का चूर्ण)–३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।

अनार की कली–३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।

अनारदाना–६ ग्राम से ६ ग्राम या ६ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अनार के फल का छिलका (फलत्वक्)–छोटे-वड़े न्यूनाधिक नतोदर टुकड़ों के रूप में मिलता है। कुछ टुकड़ों में दंष्ट्राकार, नलिकामय पुष्पवाह्यकोप (*toothed tubular Calyx*) लगे होते हैं, जिनके अन्दर पुंकेसर एवं स्त्रीकेशर (*Stamens and Styles*) के अवशेष भी होते हैं। किन्हीं टुकड़ों में छोटा फलवृन्त लगा होता है अथवा उसके टूटे होने पर तज्जन्य चिह्न (*Scar*) पाया जाता है, जो व्यास में ०.५ सें० मी० या १/५ इंच होता है। छिलका १/८ सें० मी० से १/४ से० मी० १/२० से १/१० इंच तक मोटा होता है और तोड़ने पर खट से टूट जाता है। वाह्यतः छाल पीताभ-भूरे रंग की अथवा हलके लाल रंग की तथा खुरदरी होती है। अन्तस्तल पीले या हल्के भूरे रंग का होता है, जिस पर वीजों के दवाव से वने मधुमक्खी के छत्ते की भाँति छोटे-छोटे खाने-से चिह्न होते हैं। इसमें कोई विशेष गंध नहीं होती किन्तु स्वाद में अत्यंत कसैला होता है। अनार के छिलके में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं। भस्म (*Ash*) ४% तक प्राप्त होती है। काण्डत्वक् (*Stem bark*) एवं मूलत्वक् (*Root bark*)–काण्ड के छिलके के छोटे-वड़े टुकड़े होते हैं, जो लगभग ५/१४ सें० मी० या १/७ इंच मोटे होते हैं तथा धनुपाकार मुड़े होते (*Transversely curved*) या किनारे अन्दर को लपेटे से (*Quills*) होते हैं। वाह्य तल पीताभ से खाकस्तारी–भूरे रंग का होता है, जिसपर जगह-जगह खाकस्तरी चकत्ते एवं लेन्टिसेल्स (*Lenticels*) के चिह्न पाये जाते हैं। इसपर अनुलम्ब दिशा में झुर्रियाँ भी पड़ी होती हैं। अन्तस्तल हल्के पीले रंग का या पीताभ-भूरे रंग का है, तथा सूक्ष्मरेखांकित (*finely striate*) होता है। तोड़ने पर छाल खट से टूटती है (*Fracture Short*); तथा टूटे हुए तल पर हरिताभ वर्ण की वाह्यत्वचा का अन्तः भाग (*Greenish phelloderm*) दिखाई पड़ता है। इसमें एक हल्की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में कसैली तथा किंचित् तिक्त होती है। मूलत्वक्–जड़ की छाल के भी धनुपाकार टुकड़े होते हैं, जो वाहर से भूरापन लिये पीले रंग से, गाढ़े भूरे रंग के तथा अन्तस्तल पर गाढ़े पीले रंग के होते हैं; किन्तु इन टुकड़ों को तोड़ने पर टूटे हुए तल पर हरिताभ फिलोडर्म का अभाव होता है। अनार का काष्ठीय भाग एवं अन्य विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम ८%; भस्म–अधिकतम १५%; एल्केलायड्स; की सकल (*Total*) मात्रा–कमसेकम ०.४%। शक्ति-प्रमापन (*Assay*)–छाल में एल्कलायड्स की मात्रा का प्रमापन किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंगों को मुखवंद शीशियों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – फलत्वक् (फल के छिलके) में २८% तक टैनिक एसिड (*Gallotannic acid*) तथा पीत रंजक तत्त्व (*Yellow colouring matter*) पाया जाता है। काण्डत्वक् एवं मूलत्वक् में ०.५ से ०.६ प्रतिशत तक ऐल्केलॉइड्स पाये जाते हैं, जिनमें पेलीटिएरीन (*Pelletierine*) मुख्य होता है। शुद्ध पेलीटिएरीन रंगहीन द्रव के रूप में होता है, जो ऑक्सीजन के संपर्क से भूरे रंग के रालीय द्रव के रूप में परिणत हो जाता है। इसके अतिरिक्त २२% तक टैनिक एसिड होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव। गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय अम्ल। विपाक–मीठे अनार का मधुर, खट्टे अनार का अम्ल। वीर्य–अनुष्ण। प्रधान कर्म–मीठा अनार त्रिदोषघ्न तथा खट्टा अनार वातकफ नाशक होता है। इसके अतिरिक्त मेध्य, हृद्य, शोणितस्थापन, स्नेहन एवं कफनिस्सारक, दीपन–पाचन एवं शुक्रल। कलिका-ग्राही तथा अतिसार-प्रवाहिका नाशक। छाल-ग्राही एवं तिक्त, अतिसार-प्रवाहिका नाशक तथा कृमिघ्न। चरकोक्त (सू० अ० ४) हृद्य एवं छर्दिनिग्रहण महाकषायों के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) परूषकादिगण में दाडिम भी है। यूनानी मतानुसार मीठा अनार पहले दर्जे में शीत एवं तर (स्निग्ध), यकृत् और हृदय वलकारक, उरः कंठ-मार्दवकर, संताप एवं दाह प्रशमन होता है। खट्टा अनार दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष तथा खटमिट्ठा अनार सम-

प्रकृति के समीप शीत एवं तर होता है । अनार का छिलका; जड़ की छाल, अनारदाना तथा गुलनार आदि सभी शीत एवं रूक्ष माने जाते हैं । अहितकर–शीत प्रकृति को । गुलनार–शिरः शूल एवं विवन्धकारक ।

निवारण – (१) अनार का छिलका–अदरक ।
(२) अनारदाना–जीरा ।
(३) गुलनार–कतीरा ।

प्रतिनिधि द्रव्य–(१) अनार का छिलका–जरेवर्द (गुलाव पुष्पकेशर) ।
(२) अनारदाना–सुमाक ।
(३) गुलनार–अनार कली या छाल तथा जुफ्त वलूत ।

मुख्य योग – दाडिम चतुःसम, दाडिमाष्टक चूर्ण, दाड़िमाद्य घृत, दाडिमाद्य तैल, जुवारिश अनारैन, शर्वत अनार, जुवारिश अनारशीरीं ।

विशेष – काण्डत्व एवं मूलत्वक् में पाये जाने वाले ऐल्केलॉइड पैलीटिएरीन का टैनेट लवण (*Palletierine Tannate*) का उपयोग कद्दूदाना या स्फीतकृमि (*Tapeworm*) एवं चूर्णकृमि (*Thread worm*) के लिए विशिष्ट कृमिनाशक औषधि के रूप में किया जाता है। मात्रा–२ से ८ ग्रेन (१ से ४ रत्ती) ।

अपराजिता

नाम । सं०–अपराजिता, गिरिर्कणिका, विष्णुक्रान्ता। हिं०–कोयल। म०–गोकर्णी। गु०–गरणी। ले०–क्लीटोरिआ टेरनाटेआ *Clitoria ternatea Linn.* ।

वानस्पतिक कुल – शिम्वी-कुल : प्रजापति-उपकुल (लेगूमिनोसी: पैपिलिओनासी *Leguminosae*: *Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में गाँवों के आस-पास तथा वगीचों में और मन्दिरों की वाटिकाओं में इसकी लगायी हुई तथा वन्य लताएँ पायी जाती हैं। कहीं-कहीं अपराजिता के वीज कालादाना के नाम से वेचे जाते हैं। कहीं-कहीं वाजारों में अपराजिता की सुखाई हुई जड़ पंसारी भी रखते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – अपराजिता की सुन्दर और पतले काण्ड की वहुवर्षायु स्वरूप की चक्रारोही लताएँ होती हैं । शोभा के लिए इसको प्रायः वागों में लगाते हैं। पत्तियाँ पक्षवत्, प्रायः पंच-पत्रक, पत्रक २.५ से ५ सें. मी० या १-२ इंच लम्वे तथा अंडाकार होते हैं । किसी-किसी पत्ती में पत्रक ३-४ जोड़े भी होते हैं, किन्तु अग्र पर एक अयुग्म पत्रक होता है। पुष्प २.५ सें. मी० से ५ सें० मी० या १-२ इंच वड़े, गाढ़े नीले रंग के (दलपत्रों का किनारे का भाग प्रायः नील वर्ण का अन्दर का भाग सफेद) अथवा श्वेत वर्ण होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत पुष्पदण्ड पर एकाकी क्रम से स्थित होते हैं। निपत्रिका या कोण पुष्पक (*Bracteoles*) स्थायी एवं पर्णसदृश होते हैं । पुष्प में ध्वजदल (*Standard*) चिमचे के आकार का तथा पक्ष-दलों के नीचे फैला रहता है । फली चपटी और लगभग ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३-५ प्रायः २-३ इंच तक लम्वी होती है, जिसमें घूसर वर्ण के अनेक वीज भरे होते हैं। पुष्प के रंगभेद से यह मुख्यतः २ प्रकार की होती है—(१) श्वेतापराजिता, श्वेत गिरिर्कणिका या श्वेत विष्णुक्रान्ता अथवा सफेद कोयल । (२) वह जिसमें नील फूल आते हैं, इसको नीलापराजिता, नील-गिरिर्कणिका, कृष्णक्रांता या नीली कोयल आदि नामों से सम्वोधित करते हैं । नीलापराजिता का एक और उपभेद होता है, जिसमें दोहरे फूल लगते हैं। औषव्यर्थ अपराजिता के मूल एवं वीजों का व्यवहार होता है ।

उपयोगी अंग – मूल, वीज एवं पत्र ।

मात्रा । मूलचूर्ण–१.५ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा । वीजचूर्ण–१.२५ ग्राम से २.५ ग्राम या १० से २० रत्ती ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा । वीज–अपराजिता के वीज प्रायः $\frac{5}{7}$ सें० मी० या $\frac{1}{3}$ इंच या कुछ अधिक लम्वे होते हैं। वीजकवच या टेस्टा (*Testa*) चमकीले एवं चिकने तथा कालिमा लिये घूसर रंग का होता है, जिसपर छोटे-छोटे हरे-काले दाग से पड़े होते हैं। अन्दर द्विदल होते हैं, जिनमें प्रचुरता से स्टार्च के कण पाये जाते हैं; तथा स्वाद में ये कटु एवं तिक्त होते हैं । वीजों से ६% भस्म प्राप्त होती है । मूल या जड़–अपराजिता की ताजी जड़ सफेद, मांसल तथा व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच (या कभी और भी अधिक) मोटी होती है । मूलत्वक् मुलायम, काफी मोटी तथा रेशेदार होती है, और काष्ठीय भाग से आसानी से पृथक् हो जाती है ।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – अपराजिता वीज और काला दाना दोनों पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं; अतएव काला दाना

के नाम से अपराजिता बीज का ग्रहण करना युक्तियुक्त नहीं है। रेचन कर्म के लिए किन्हीं अवस्थाओं में काला दाना के स्थान में इनका व्यवहार किसी सीमा तक किया जा सकता है। अपराजिता के पुष्पभेद से विभिन्न भेदों के बीजों के गुण कर्म में कोई अन्तर नहीं होता।

संग्रह एवं संरक्षण – मूल का संग्रह जाड़ों में करना चाहिए। बीजों का संग्रह पक्व फलियों से करें। इन्हें मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – अपराजिता के मूलत्वक् में श्वेत सार, टैनिन, और राल प्रभृति तत्त्व तथा बीजों में एक स्थिर तैल, एक तिक्त राल (जो इसका सक्रिय घटक होता है) एवं टैनिन आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि। मूल–१ वर्ष। बीज–२ वर्ष।

स्वभाव। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म –त्रिदोषघ्न विशेषतः कफवात नाशक ; शोथ एवं व्रणपाचन, शिरोविरेचन, कण्ठ्य, चक्षुष्य, स्मृति एवं बुद्धिवर्धक, कुष्ठघ्न, आमपाचन, विषघ्न, मृदुभेदन, मूत्रजनन, श्वास-कासहर। मल–भेदन, वेदनास्थापन, मूत्रजनन, शिरोविरेचन। अपराजितबीज मृदुभेदन हैं अधिक मात्रा में देने से पेट में मरोड़ होकर पतले दस्त आते हैं। इस रूप में इसकी क्रिया जलापा की भाँति होती है। रेचन के साथ-साथ ये भेदन भी होते हैं। मरोड़ एवं ऐंठन आदि के निवारण के लिये इसमें सोंठ मिलाना चाहिए। उदर-रोग, कफविकार एवं आमवातादि में इसके मूल एवं बीज उपयोगी होते हैं। बालकों के श्वास-काल में बीजों को थोड़ा भून कर पीस लें और इसमें थोड़ा गुड़ और सेंधा नमक मिला कर देने से दस्त के साथ कफ निकल कर आराम हो जाता है। अर्धावभेदक (अधकपारी) में मूलस्वरस का नस्य दिया जाता है। त्वग् रोगों में पत्तियों का फाण्ट दिया जाता है। पत्रकल्क का प्रलेप शोथों पर किया जाता है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २ एवं वि० अ० ८) एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) शिरोविरेचन द्रव्यों में (श्वेता एवं गिरिकर्णिका नाम से) अपराजिता भी है।

अफ़संतीन

नाम। हिं०, द–विलायती अफ़संतीन। अ०–अफ़संतीन। फा०–मरवा, मूयवखुशा। अं०–मग-वर्ट (*Mug-wort*)। ले०–आर्टेमीसिआ एब्सिन्थिउम (*Artemisia absinthium Linn.*)

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़िटी *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तरी अफरीका, दक्षिण अमरीका, यूरोप के कतिपय पहाड़ी प्रदेश, साइबेरिया, मंगोलिया, खुरासान तथा भारत में कश्मीर (१५२४ मीटर से २१३०·८ मीटर या ५,००० से ७,००० फीट की ऊंचाई तक) आर्टेमीसिआ एब्सिन्थिउम के पौधे जंगली रूप से पाये जाते हैं। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः फ़ारस से होता है। शुष्क पंचाङ्ग बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलता है। इसे कभी-कभी विलायती अफ़संतीन के नाम से भी अभिहित करते हैं।

संक्षिप्त परिचय – अफ़संतीन के सुगंधित, बहुवर्षायु या वर्षानुवर्षी शाकीय (*Herbaceous perennial*) पौधे होते हैं। काण्ड ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट ऊंचा, सीधा या स्वावलम्बी, कोणाकार तथा अनुलम्ब उन्नत रेखाओं से युक्त (*Angular and ribbed*) तथा अनेक शाखा-प्रशाखामय होता है। पत्तियाँ २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बी, रूपरेखा में लट्वाकार अथवा अभिलट्वाकार किंतु २-३–पक्षवत् खण्डित (*2-3–pinnatifidly cut*) होती हैं। खण्ड (*Segments*) रेखाकार अथवा, भालाकार या कुण्ठिताग्र तथा फैले हुए (*Spreading*) होते हैं। अफ़संतीन का सम्पूर्ण पौधा कोमल रेशमी सफेदरोइयों से व्याप्त होता है, जिससे इसकी शाखाएँ एवं पत्रादि रजत वर्ण के प्रतीत होते हैं। पुष्प-मुण्डक व्यास में $\frac{1}{6}$ सें० मी० से $\frac{5}{8}$ सें० मी० या $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{4}$ इंच तथा अधोमुख होते हैं, जो शाखाग्र्य मंजरियों में स्थित होते हैं। पुष्प बाबूना के फूल के समान उससे छोटे, पिलाई लिये सफेद होते हैं। व्यूहासन या पुष्पधर (*Receptacle*) पर लम्बे एवं सीधे रोम होते हैं। इसमें छोटे-छोटे दाने (फल) लगते हैं, जिसके भीतर इस्पंद के समान सूक्ष्म बीज भरे होते हैं। गंध अति तीक्ष्ण एवं अप्रिय-सी और स्वाद अत्यंत तिक्त होता है। औषधि में इसके पंचाङ्ग का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – ताजा एवं शुष्क पंचाङ्ग (विशेषतः पत्र एवं पुष्पयुक्त शाखा)।

मात्रा – २ ग्राम से ५ ग्राम या २ से ५ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अफ़संतीन का पौधा भी दमनक की भाँति होता है। काण्ड सरल एवं शाखायुक्त, पत्र लगभग ५ सें० मी० या २ इंच तक लम्बे और काफी मात्रा में उपस्थित होते हैं। शाखाएँ एवं पत्र आदि सभी श्वेत रोमावृत होने के कारण रजत वर्ण के प्रतीत होते हैं। इसमें छोटे-छोटे फल दानों के रूप में लगते हैं, जिनके भीतर हरमल की तरह बीज होते हैं। अफसंतीन का पंचाङ्ग स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है, तथा इससे एक तीक्ष्ण एवं अप्रिय गंध आती है। स्थान भेद से बाजारों में यह भिन्न-भिन्न नामों (यथा नब्ती, रूमी एवं खुरासानी आदि) से मिलता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पौधे का संग्रह फलागम के बाद करना चाहिए। पंचाङ्ग को छाया शुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – अफ़सन्तीन में एब्सिन्थिन (*Absinthin*) नामक तिक्त एवं पीताभ-भूरे रंग का क्रिस्टलाइन स्वरूप का ग्लुकोसाइड पाया जाता है, जो ऐल्कोहाल में तो घुल जाता है, किन्तु ईथर एवं क्लोरोफॉर्म में अविलेय होता है। इसके अतिरिक्त अनेब्सिन्थिन (*Anabsinthin*) नामक एक दूसरा तिक्त सत्व भी पाया जाता है। अफ़संतीन के औषधीय गुणकर्म मुख्यतः इन्हीं तिक्त सत्वों के कारण होते हैं। उपर्युक्त तिक्त सत्वों के अतिरिक्त इसमें एक उत्पत् तैल (*Absinthe or Wormwood oil*) ताजे पौधे में ०.१२ से ०.५१% तक) भी पाया जाता है। इसका मुख्य घटक थूजोन (*Thujone*) नामक तत्त्व होता है, जिसमें कर्पूरवत् गुणकर्म पाये जाते हैं। अधिक मात्रा में सेवन करने से उक्त तैल विषाक्त प्रभाव (*Narcotic poison*) करता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव। गुण – लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, दीपन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न, ज्वरघ्न, मूत्रार्त्तवजनन, मेध्य, हृदयोत्तेजक, वातशामक; स्थानिक प्रयोग से शोथहर एवं वेदनास्थापन। यूनानीमतानुसार अफ़सन्तीन प्रथमकक्षा में उष्ण और द्वितीय कक्षा में रूक्ष होता है। यकृत्प्लीहा के रोगों, जैसे यकृच्छोथ, प्लीहाशोथ, जलोदर और जीर्णज्वरों में अफ़संतीन विपुल प्रयोग में आता है। नियतकालिक ज्वरों में वेग रोकने के लिए भी इसे देते हैं। मंदाग्नि एवं केंचुए (*Round worm*) को नष्ट करने के लिए भी इसे पिलाते हैं। अनार्तव और कृच्छ्रार्तव में इसका काढ़ा उपयोग करते हैं। मस्तिष्क दौर्बल्य, मृगी, शिरःशूल, कम्पवात, पक्षवध, अंगघात एवं अर्दित इत्यादि मस्तिष्क एवं वातरोगों में इसका उपयोग करते हैं। अहितकर–शिरः शूलजनक। निवारण–अनारका शर्बत और अनीसूँ।

विशेष – अफ़संतीन में पाया जाने वाला उत्पत् तैल मात्राधिक्य में सेवन किये जाने पर विषैला प्रभाव (*Violent narcotic poison*) करता है। कभी-कभी अफ़संतीन के सघन विस्तृत क्षेत्रों में यात्रा करने पर भी इसका उक्त शिरःशूल जनक अहितकर प्रभाव लक्षित होता है।

मुख्य योग – अर्क़ अफ़सन्तीन, शर्बत अफ़संतीन, हब्ब अफ़सन्तीन।

अफीम (अहिफेन)

नाम। (१) क्षुप–सं०–तिलभेद, खसतिल, अहिफेन क्षुप। हिं०–पोस्ता। अ०–नबातुल् ख़श्ख़ाश। फा०–कोकनार। अं०–ह्वाइट या ओपियम् पॉपी (*White or Opium Poppy*)। ले०–पापावेर सॉम्नीफेरुम (*Papaver somniferum Linn.*)।

(२) फल या डोंड़ा। सं०–खाखस, खसफल। हिं०–पोस्त, पोस्ता या अफीम का डोंडा (बोंडी, डोंड़ा)। अ०–क़िश्रुल् ख़श्ख़ाश। फा०–पोस्ते ख़श्ख़ाश, पोस्ते कोकनार। म०–खसखशीचें बोंड। गु०–खसखसना डोडा। अं०–पॉपी कैप्शूल्ज (*Poppy Capsules*), पॉपी हेड्स (*Poppy Heads*)। ले०–पापावेरिस काप्सूली (*Papaveris Capsulae*)।

(३) बीज। हिं०–खसखास, पोस्तदाना। अ०–बज्रुल् ख़श्ख़ाश। फा०–तुख्मे ख़श्ख़ाश (कोकनार), ख़श्ख़ाश। म०–, गु०–खसखस। अं०–ह्वाइट पॉपी सीड्स।

(४) आक्षीर (*Latex*) या निर्यास। सं०–अहिफेन, फणिफेन, आफूक। हिं०–अफीम। बं०–आफिम्। म०–अफू। गु०–अफीण। अ०–अफ़्यून, लब्नुल् ख़श्ख़ाश। फा०–तिर्याक। अं०, ले०–ओपियम् (*Opium*)।

वानस्पतिक कुल–अहिफेन-कुल (पापावेरासी *Papaveraceae*)।

प्राप्तिस्थान–भारतवर्ष के बिहार, राजस्थान, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य एवं पश्चिम भारत और मालवा में पोस्ते की खेती की जाती है। नेपाल में भी खेती होती है। विदेशों में ब्रह्मा, चीन, इरान, एवं एशिया माइनर में भी इसकी प्रचुर मात्रा में खेती की जाती है। मिस्र तथा यूनान एवं यूगोस्लाविया आदि यूरोपीय देशों में भी पोस्ता प्रचुर मात्रा में पैदा किया जाता है।

संक्षिप्त परिचय–पुष्प के रंगभेद से इसके २ अन्य भेद भी होते हैं। (१) लाल पोस्ता या पापावेर सॉम्नीफेरम प्र० ग्लेब्रम् (*Papaver Somniferum var. glabrum Boiss.*) तथा (२) काला पोस्ता या पापावेर सॉम्नीफेरम प्र०नीग्रम (*P. Somniferum var. nigrum D.C.*)। प्रथम भेद में पुष्प गुलाबी (*Purplish*) होते हैं। यह टर्की में अधिक पाया जाता है। भारतवर्ष में कश्मीर तथा यतस्ततः थोड़ा-बहुत अनेक स्थानों (मैदानों) में भी होता है। काले पोस्ते के फूल बैंगनी रंग के तथा बीज खाकस्तरी (*Slate-coloured*) होते हैं। औषधीय एवं अफीम की दृष्टि से इसका सफेद भेद ही महत्त्व का है। यहाँ पर इसी का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त नाम सफेद पोस्त (खशखाश सफेद या खशखाश बुस्तानी) के हैं। यूनानी वैद्यक में खशखाश शब्द से पोस्ते का डोंडा (पोस्त खश्खाश) विवक्षित होता है। परन्तु जनसाधारण पोस्ता के दाने को खश्खाश कहते हैं। केवल खशखाश शब्द से पोस्ते का सफेद भेद ही विवक्षित होता है, जिसका यहाँ वर्णन किया जायगा।

पोस्ते के ०.६ मीटर से १.२ मीटर या ३-४ फुट ऊँचे अर्धवार्षिक क्षुद्र क्षुप होते हैं। इसकी शाखाएँ तथा पत्तियाँ क्षोदलिप्त (*Glaucous*) होती हैं। पत्तियाँ लगभग १० सें० मी० या ४ इंच लम्बी, चौड़ी एवं अवृन्त-सा या डंठलरहित (*Sessile*) होती हैं। इनका फलक-मूल (*Base of lamina*) हृदयाकार एवं काण्ड-संसक्त (*Amplexicaul*) तथा पत्रतट आरावत् दंतुरित (*Dentate*) होता है। पुष्प एकल (*Solitary*) तथा पुष्पदण्ड किंचित् लोमश होता है। वाह्यकोष के पत्र कंडुकस (*Caducous*) अर्थात् कलिकायुष्क या शीघ्र-पाती होते हैं। फूल नीली आभा लिये सफेद जिसका अधः भाग बैंगनी होता है; अथवा सफेद रंग के तथा बैंगनी या चित्रित (*Variegated*) होते हैं। इसका फल अर्थात् सम्पुटिका या कैप्सूल (*Capsule*) प्रत्येक पौधे में ५-८ तक तथा अनार की भाँति गोल या अण्डाकृति होता है। इसके नीचे की ओर ग्रीवा तथा ऊपर कंगूरेदार चोटी होती है। फल का रंग पिलाई लिये भूरा होता है। रचना भीतर से खानेदार होती है, जिसमें बहुत-से छोटे-छोटे प्रायः सफेद पर कभी-कभी भूरे या काले रंग के बीज पाये जाते हैं। डोंड़ी के पक्व हो जाने पर स्फुटन के लिए फल के ऊर्ध्व भाग में कुक्षियों के नीचे कपाटाकार छिद्र (*Small valves*) हो जाते हैं, जो प्रायः संख्या में स्त्रीकेशरों (*Carpels*) के बराबर होते हैं।

पूर्ण प्रगल्भ किन्तु कच्चे डोड़ों (*Fully grown unripe capsules*) पर चीरा लगाने से एक गाढ़ा दूध (आक्षीर) या लैटेक्स (*Latex*) सा निकलता है। इसका संग्रह कर सुखा लिया जाता है। यही व्यावसायिक एवं औषधीय अफीम है। पक्व एवं सुखाये हुए डोंड़े तथा बीज (पोस्तदाना) भी पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

उपयोगी अंग–अफीम (कच्चे फलों या डोड़ों का सुखाया हुआ दूध *Latex*), दूध निकाले या बिना निकाले पके फलों का सुखाया हुआ छिलका (पोस्ते की डोंडी या पोस्ते खश्खाश); बीज (तुख्मे खशखाश या पोस्तदाना) एवं बीजोत्थ तेल (रोग़न खशखाश)।

मात्रा–अफीम–३० मि०ग्रा० से १२५ मि०ग्रा० या $\frac{1}{4}$ रत्ती से १ रत्ती।

पोस्तखश्खाश–१ ग्राम से २ ग्राम या १ माशा से २ माशा।

पोस्तदाना–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ माशा से ३ माशा।

रोग़न खशखाश–आवश्यकतानुसार

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–(१) फल (पोस्ते की डोंडी–पोस्त खश्खाश)–यह पोस्ते के सुखाये हुए पक्व फल अंडाकार (*Ovoid*) या गोलाकार (*Globular*) होते हैं। आधार की ओर का भाग ग्रीवा की भाँति संकुचित होता है, और शीर्ष पर कंगूरेदार चोटी होती है। उक्त डोंड़ा हल्के पीताभ-भूरे रंग का होता है, जिसपर इतस्ततः गाढ़े रंग के दाग होते हैं। फल का आभ्यन्तर झिल्लीनुमा पर्दों द्वारा कई कोष्ठों में विभक्त होता है। इसका स्फुटन चोटी के नीचे कई सूक्ष्म छिद्रों द्वारा होता है। बाजार में

जो पोस्त मिलता है, वह प्राय: अफीम निकाले हुए डोंड़े होते हैं, किन्तु जिस पोस्ते से अफीम न निकाली हुई हो वह अफीम निकाले हुए पोस्ते से अधिक वीर्यवान् होता है। बाजार में जो डोंड़ी मिलती है वह प्राय: समूची नहीं होती वल्कि उसके छोटे वड़े-टुकड़े होते हैं। इन टुकड़ों पर अफीम निकालने के लिए लगाये हुए चीरों (*Incisions*) के चिह्न वर्तमान होते हैं।

(२) पोस्ते का दाना (खश्खाश)–पोस्ते के बीज छोटे-छोटे प्राय: $\frac{१}{२५}$ से $\frac{१}{२०}$ इंच (१ से १.२५ मि० मी०) लम्बे तथा प्राय: सफेद रंग के या कोई खाकस्तरी (*Grey*) रंग के होते हैं। रूप रेखा में ये बीज किंचित् वृक्काकार (*Reniform*) होते हैं। इन पर स्पष्ट रेखाएँ (*Conspicuous raised reticulations*) मालूम होती हैं। उक्त बीज प्राय: गंधहीन तथा स्वाद में किंचित् तिक्त एवं अन्य तैलीय बीजों की भाँति होते हैं। खशखश मन्सूर एवं स्याह के बीज कृष्ण वर्ण के होते हैं। पोस्ते के बीजों में प्राय: ५०% तक तेल होता है। रोग़न ख़श्ख़ाश (खस्खास का तेल) – यह हल्के सुनहले रंग का, प्राय: गंधहीन एवं स्वाद में रुचिकर होता है। आपेक्षिक घनत्व (*Specific gravity*) ०.९२४ से ०.९२७ होता है। १८ सेंटीग्रेड पर यह जम जाता है। २५ भाग ऐल्कोहॉल् में घुल जाता है। उवलते ऐल्कोहॉल में अपेक्षाकृत अधिक घुलनशील (६ भाग में १ भाग) होता है। रासायनिक संघटन में यह तीसी के तेल (*Linseed oil*) से वहुत कुछ मिलता-जुलता है। रोग़न खसखास जैतून के तेल (*Olive oil*) का उत्तम-प्रतिनिधि द्रव्य है, और उसमें मिलावट के लिए प्रयुक्त भी होता है।

अफीम – यह पोस्ते के डोंड़ों का सुखाया हुआ आक्षीर या लैटेक्स (*Latex*) होता है, जो पूर्ण प्रगल्भ किन्तु कच्चे डोड़ों (*Fully grown unripe Capsules*) पर चीरा लगा कर प्राप्त किया जाता है। देश भेद से वाजार में ४ प्रकार की अफीम मिलती है। (१) भारतीय या देशी अफीम (*Indian Opium*); (२) तुर्की अफीम (*Turkish Opium*); यूरोपीय अफीम (*European Opium*) एवं फारसी अफीम (*Persian Opium*)। भारतीय अफीम के घनाकार टुकड़े (*Cubical pieces*) आते हैं, जो वजन में लगभग १ सेर (९०० ग्राम) के होते हैं तथा टिशू पेपर (*Tissue Paper*) में लपेटे हुए होते ह। तोड़ने में ये कभी भंगुर (*Hard and brittle*) तथा कभी नम्य (*Plastic*) होते हैं। रंग में उक्त अफीम कालिमा लिये गाढ़े भूरे रंग की एक विशिष्ट प्रकार की उग्र गंध से युक्त होती है। स्वाद तिक्त होता है। अफीम में कम-से-कम ९॥% मॉर्फीन (*Morphine*) होता है।

परीक्षण – (१) ०.१ ग्राम (१॥ ग्रेन) अफीम ५ मि० लि० (सी० सी०=७५ बूंद) जल में गरम कर घोलें। फिर इसको छान लें। इसमें कतिपय बूंद फेरिक क्लोराइड (*Ferric Chloride*) को डालने से यह वैंगनी लिये गाढ़े लाल रंग का (*Deep purplish-red*) हो जाता है। इसमें डायल्यूट हाइड्रोक्लोरिक एसिड अथवा मरक्यूरिक क्लोराइड सॉल्यूशन मिलाने से भी कोई परिवर्तन नहीं होता। (२) एक परखनलिका में ३ ग्रेन (०.२ ग्राम) अफीम का चूर्ण लेकर उसमें ५ सी० सी० क्लोरोफॉर्म मिलायें और १० मिनट तक उसे खूव हिलायें ताकि परस्पर मिल जाय। इसमें कतिपय बूंद डायल्यूट सॉल्यूशन ऑफ अमोनिया मिलावें। इस विलयन को शीशे के टुकड़े (*Watch glass*) पर फैला दें। क्लोरोफार्म स्वयं उड जायगा और खाकस्तरी सफेद (*Greyish-white*) रंग का पदार्थ लगा रह जायगा। इस पर १ बूंद फार्मेल्डिहाइड सॉल्यूशन तथा ५ बूंद सल्फ्यूरिक एसिड डालें। शीशे पर गाढ़े लाल रंग (*Deep crimson colour*) का परिवर्तन होगा।

संग्रह एवं संरक्षण – अफीम को अच्छी तरह डाट वंद पात्रों में रखना चाहिए। अफीम निकालने के वाद इसके पौधे खेतों में छोड़ दिये जाते हैं। जव डोंड़े पक कर सूख जाते हैं, तो उनको तोड़ लिया जाता है और पीट कर वीजों को पृथक् कर लेते हैं। सूखे हुए पके डोड़ों के टुकड़े तथा वीज पृथक् रूप से वाजारों में मिलते हैं। इनको अनार्द्र शीतल स्थान में मुखवंद पात्रों में रखना चाहिए।

संगठन – पोस्त (डोड़ीं) में अल्प प्रमाण में अफीम (०.१ से ०.३ प्रतिशत मॉर्फीन) तथा अंशत: कोडीईन, पापावरीन, नार्कोटीन एवं मेकोनिक एसिड आदि पाये जाते हैं। वीजों में हल्के पीले रंग का (५०% तक) मीठा स्थिर तैल होता है, जिसे पोस्ते का तेल (रोग़न

खश्खाश) कहते हैं। अफीम में मार्फीन, नार्कोटीन एवं कोडीईन आदि ऐल्केलॉइड्स पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक अन्य प्राथमिक ऐल्केलॉइड्स (*Primary alkaloids*) तथा एपोमॉर्फीन, एपोकोडीन आदि अनेक द्वितीयक ऐल्केलॉइड्स (*Secondary Alkaloids*), क्लीवतत्त्व (*Neutral principles*), लेक्टिक एसिड एवं मेकोनिक एसिड आदि सेन्द्रिय अम्ल (*Organic acids*), जल, राल, ग्लूकोज, वसा, उड़नशील तैल, आदि तत्त्व भी होते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह संरक्षित करने से अफीम में कई वर्षों तक वीर्य बना रहता है। इसी प्रकार पोस्ते का तेल भी कई वर्षों तक बिगड़ता नहीं।

स्वभाव। गुण–सूक्ष्म, रूक्ष। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–मादक। प्रधान कर्म–स्वापजनन, वेदनास्थापन, संग्राही, शुक्रस्तम्भन, ज्वरघ्न, प्रसेकावरोधक।

अहितकर – कामावसादकर, और समस्त बाह्याभ्यंतर शक्तियों को निर्बल बनाता है।

निवारण – केसर और जुंदवेदस्तर।

प्रतिनिधि – खुरासानी अजवायन।

फल – अन्य कर्म अफीम की भाँति। विशेषतः शुष्ककास हर। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में शीत और पहले दर्जे में रूक्ष।

अहितकर – फुफ्फुसों और शीत प्रकृति के लिए।

निवारण – शुद्ध मधु, शर्करा और मस्तगी।

प्रतिनिधि – अल्प मात्रा में अफीम।

बीज – दूसरे दर्जे में शीत और पहले में तर। काला पोस्ते का दाना (खश्खाश स्याह) सभी कर्मों में सफेद की अपेक्षा बलवत्तर होता है।

अहितकर – अधिकता फुफ्फुस को अहितकर है। काला मस्तिष्क के लिए अहितकर है। निवारण–मस्तगी, तज, अजमोदा, खांड और शहद। काले पोस्त दाने के लिए सौंफ। प्रतिनिधि–काहू के बीज; काले का जंगली काहू।

रोगन खश्खाश – निद्रल, वेदनाशामक।

मुख्य योग। (१) अफीम–अहिफेनासव, बृहद्गंगाधर चूर्ण, कर्पूर रस, निद्रोदया वटी, महावातराज रस, दुग्ध वटी।

(२) फल – शर्बत खश्खाश, लऊक़ खश्खाश, लऊक़ सपिस्ताँ, दियाकूजा।

विशेष – (१) अहिफेन को योगों में डालने के पूर्व इसको शुद्ध कर लेना चाहिए। इसके लिए इसको पानी में घोल, कपड़े से छान कर आग पर गाढ़ा कर लें। तदनन्तर इसको अदरख के स्वरस की इक्कीस भावना देने से यह शुद्ध हो जाता है।

(२) अफीम एक विषैला द्रव्य है। इसका पाठ 'उपविषों' में आया है। पोटासियम् परमैंगेनेट का विलयन मुख द्वारा देने से उत्तम प्रतिविष या अगद (*Antidote*) का कार्य करता है।

अमरबेल (अमरवल्ली)

नाम। सं०–आकाशवल्ली, अमरवल्ली। हिं०–आकासबेल, अमरबेल। को०–जाभसिंग। खर०–अलजजरी। बं०–फलगुसी। फा०–अफ़्तीमून हिंदी। अं०–डोडर (*Dodder*)। ले०–कस्कूटा रिफ्लेक्सा (*Cuscute reflexa* Roxb.)।

वानस्पतिक कुल – त्रिवृत्-कुल (कॉन्वॉल्वुलासी *Convolvulaceae*)।

प्राप्तिस्थान – आकासबेल की पराश्रयी लता सर्वत्र भारतवर्ष में पेड़ों तथा झाड़ियों पर चढ़ी हुई मिलती है। बाजार में पंसारियों के यहाँ इसका शुष्क पंचाङ्ग (लता) एवं बीज भी मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – आकासबेल की पत्ररहित परोपजीवी लता होती है, जो हरियाली लिये पीले या लाल रंग की डोरे-सी कीकर, बेर, अडूसा आदि वृक्षों पर अथवा बागों तथा खेतों की हेंज (*Hedge*) पर जाल की तरह फैली हुई होती है। फूल छोटे, सफेद रंग के तथा घंटाकृति तथा कुछ सुगंधित होते हैं, जो एकल क्रम से (*Solitary*) अथवा छत्राकार गुच्छकों (*Umbellate clusters*) में निकलते हैं। पुष्पवृन्त छोटे, चिकने तथा कुछ टेढ़े होते हैं। सम्पुटीफल (*Capsule*) छोटे-छोटे (व्यास में ५/८ सें० मी० से ५/६ सें० मी० या १/४ से १/३ इंच) मटर के आकार के गोल-गोल होते हैं। बीज २-४, काले तथा चिकने होते हैं। पंचाङ्ग का स्वाद तिक्त होता है। यद्यपि बीज से लता उगती है, किन्तु वृक्ष पर फैलने के बाद इससे मूल निकल कर वृक्षकांड में चिपक जाते हैं, जिनसे इसको पोषण प्राप्त होता है। इन पोषक मूलों के निकलने के बाद पहले की जड़ सूख जाती है। इसी से

इसे आकाशवेल कहते हैं। पुष्पागम वसन्त में तथा फलागम ग्रीष्म में होता है।

उपयोगी अंग – लता एवं वीज।

मात्रा। लतास्वरस–११.६ मि० लि० से २३.३ मि० लि० या १ से २ तोला।
वीजचूर्ण – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
लता (वाह्यप्रयोग के लिए) – आवश्यकतानुसार।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयुक्त अंगों को शुष्क करके मुखवन्द पात्रों में उचित स्थान में रखें।

संगठन – काण्ड एवं बीज में कस्कूटीन (*Cuscutine*) नामक ऐल्केलॉइड पाया जाता है। इसके अतिरिक्त क्वर्सेटीन (*Quercetin*) तथा रालीय तत्त्व भी होता है। वीजों में अमरवेलिन नामक रंजक तत्त्व, तथा पीताभ-हरित वर्ण का एक तैल भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, पिच्छिल। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–कफपित्तहर, वेदना-स्थापन, शोथहर, केश्य, दीपन-पाचन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, (वीज–पित्तविरेचक), रक्तशोधक, हृद्य, मूत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, कटुपौष्टिक। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष है।

विशेष – यूनानी वैद्यक में प्रसिद्ध अफ्तीमून ओषधि आकाश-वेल की ही एक विदेशी जाति हैं, जिसे कस्कूटा एउरोपेया (*Cuscuta europea L.*) कहते हैं। कोई-कोई हकीम अकाशवेल का भी प्रयोग उन सभी अवस्थाओं में करते हैं, जिनमें अफ़तीमून विलायती प्रयुक्त होती है।

अमलतास

नाम। सं०–आरग्वध। हिं०–अमलतास, सियारडण्डा। फा०–ख्यारचम्वर। अ०–ख्यारशम्बर। अं०–केसियाफ्रूट (*Cassia Fruit*)।
केसियाफ्रुक्टुस ले०–(*Cassiae Fructus*)।
वृक्ष का नाम–कास्सिआ फिस्टुला (*Cassia fistula Linn.*)

वानस्पतिक कुल – शिम्वीकुल–इम्लिका-उपकुल (लेगूमिनोसी: सिजलपिनेसिई *Leguminosae*: *Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्राय: समस्त भारत। सर्वत्र इसके जंगली अथवा लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। सौन्दर्य के लिए सड़कों के किनारे तथा वगीचों में भी इसके रोपित वृक्ष मिलते हैं। सूखी पक्व फलियाँ तथा फलों का गूदा (फलमज्जा) बाजारों में पंसारियों के यहाँ विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय। वृक्ष–मध्यमाकारी, ६.४० मीटर से ६.१४ मीटर या ७-१० गज ऊँचा, मसृण। मूल–साधारण। तना–०.६ मीटर से १.२ मीटर या ३-४ फीट, गोल, मसृण। पत्र–संयुक्तदलपर्ण। पत्रक–४-८ जोड़ों में, लम्बाई–२२.५ सें० मी० से ४० सें० मी० या ६ से १६ इंच, लट्वाकार लम्वगोल, हरित वर्ण, उभयपृष्ठमसृण। पुष्प-पीत वर्ण। पुष्प–आभ्यन्तर कोषदल–५, पुष्पवृन्त–३.७५ सें० मी० से ५.६ सें० मी० या डेढ़ से सवा दो इंच लम्वा। पुष्पवाह्यकोष १२ सें० मी० या २॥ इंच लम्वा। पुंकेशर–संख्या में १०। फली ३० सें० मी० से ६० सें०मी० या १-२ फीट लम्वी, व्यास में लगभग २.५ सें० मी० (१ इंच), अधोलम्वी, अपक्वावस्था में हरित तथा पक्वावस्था में रक्ताभ-कृष्ण एवं कठोर। फल-मज्जा–वर्ण में कृष्ण तथा साधारण मधुर। वीज–संख्या में ४० से १०० तक, चौड़े-लट्वाकार।

उपयोगी अंग – मूलत्वक्, फलमज्जा तथा पत्र एवं पुष्प।

मात्रा – मूलत्वक्क्वाथ–५ तोला।
मज्जा (गूदा)–८ ग्राम से १२ ग्राम (८ माशा से १ तोला)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अमलतास की फली एक हाथ या उससे भी अधिक लम्वी, मजवूत, काष्ठीय, सवृन्त, अग्र पर नोकदार तथा रूपरेखा में वेलनाकार किन्तु पार्श्वों में कुछ चपटी (*Subcylindrical*) और व्यास में १ इंच होती है। पकने पर यह गाढ़े भूरे रंग की या काली हो जाती है। वाह्यत: आपातत: देखने में चिकनी, किन्तु समीप से देखने पर सर्वत्र वेडे-वेडे दरार की भाँति सूक्ष्म रेखाएँ होती हैं। इसके भीतर पैसे के वरावर अनेक परत होते हैं, जिससे फली अनेक कोष्ठों में विभक्त होती है। प्रत्येक कोष्ठ में अफीम के समान काले रंग का तथा दुर्गंधयुक्त, चिपचिपा एवं मधुर गूदा भरा होता है, जो वाद में सूख कर सिकुड़ जाता और कोष्ठ के पार्श्वों में लगा होता है। प्रत्येक कोष्ठ में एक वीज होता है, जो अंडाकार चिपटा, चिकना, रक्ताभ भूरे रंग का $\frac{1}{3}$ इंच लम्वा और $\frac{1}{10}$ इंच चौड़ा होता है। जल में घुलनशील-सत्व (फलों से प्राप्य) न्यूनतम ३.० प्रतिशत।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलियों एवं अन्य उपयोगी अंग (मूलत्वक् और पत्र आदि) को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में रखें।

संगठन – मज्जा में–म्यूसिलेज, पेक्टिन, शर्करा, किंचित् उड़नशील तेल तथा हाइड्रॉक्सीमेथिल ऐन्थ्राक्विनोन्स।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–मृदुरेचन। चरकोक्त (सू० अ० २) विरेचन द्रव्यों में तथा (सू० अ० ४) कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न महाकषायों के द्रव्यों में और तिक्त स्कन्ध (वि० अ० ८) तथा सुश्रुतोक्त आरग्वधादि और श्यामादि गण एवं अधोभागहर द्रव्यों में आरग्वध या कृतमाल भी है।

मुख्य योग – आरग्वधारिष्ट, आरग्वधादिसूत्रवर्ति एवं लऊक अमलतास आदि।

विशेष – इसके ताजे पुष्पों का उपयोग गुलकन्द बनाने के लिये किया जा सकता है।

अम्लवेतस (अमलवेत)

(थैकल ?)

नाम। सं०–अम्लवेतस, शतवेधि। हिं०–अमलवेत। बं०–थैकल। लै०–गार्सीनिआ पेडुन्कुलाटा (*Garcinia pedunculata* Roxb.)।

वानस्पतिक कुल – वृक्षाम्ल-कुल (गुट्टीफ़ेरी *Guttiferae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर-पूर्वी बंगाल, आसाम (सिलहट, मनीपूर) आदि में थैकल के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। खट्टे फलों के लिए इसके वृक्ष लगाये भी जाते हैं। कलकत्ता बाजार में पक्व फलों के सुखाये हुए टुकड़े प्रचुरता से बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – थकल के १५.२३ मीटर से १८.२८ मीटर या ५०-६० फुट ऊँचे वृक्ष होते हैं, जिसका काण्डस्कन्ध आधार की ओर कुछ फूला हुआ, शाखाएँ प्रायः छोटी तथा चारों ओर फैली होती हैं। पत्तियाँ १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ६-१२ इंच लम्बी, ७.५ सें० मी० से १२.५ से० मी० या ३-५ इंच चौड़ी रूपरेखा में अभिलट्वाकार या अभि-भालाकार, मध्यशिरा मोटी और स्पष्ट होती है। जनवरी से मार्च तक पुष्प आते हैं और फल अगले मई-जून में पकते हैं। फल, गोल, नासपाती के आकार का, किन्तु उसकी अपेक्षा दुगुना या तिगुना बड़ा, कच्चे पर हरा और पकने पर पीला और चिकना होता है। इसके गूदे का रस अत्यंत तीक्ष्ण एवं खट्टा होता है। इसमें सूई गल जाती है। कलकत्ते में फलों के सुखाये हुए टुकड़े थैकल के नाम से बिकते हैं, जिसका प्रयोग बंगीय वैद्य अम्लवेतस के स्थान में करते हैं।

उपयोगी अंग – फल।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम (११.६ ग्राम) या ३ माशा से ६ माशा (१ तोला) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – थैकल कलकत्ता के बाजारों में एक अत्यम्ल, शुष्क, परंतु कृष्ण वर्ण द्रव्य मिलता है, जो आकार में आम या गलगल (नीबू) के शुष्क टुकड़ों की भाँति होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – अम्लवेतस एक संदिग्ध द्रव्य है। अतएव भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस नाम से अनेक द्रव्य प्रचलित हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं मध्य भारत आदि में अम्लवेतस के नाम से तन्तुओं (टहनियों) के गुच्छे से मिलते हैं, जो स्वाद में अत्यंत खट्टे होते हैं। यह संभवतः रेवन्दचीनी की सुखाई हुई टहनियाँ होती हैं। कहीं-कहीं अम्लवेत के नाम से नीबू जाति के सीट्रस मैक्सिमा *Citrus maxima* (Burm.) Merrill (पर्याय–सीट्रस डेकूमाना *Citrus decumana* Linn.) नामक वृक्ष के फल व्यवहृत होते हैं। इसके फल आकार में गोले तथा बहुत बड़े (व्यास में ६.८ इंच), पकने पर पीले या रक्तपीत वर्ण के हो जाते हैं। गूदा सफेद या लाल तथा अत्यंत खट्टा होता है। अम्लवेत के स्थान पर थैकल एवं उक्त चकोत्रा नीबू का व्यवहार किया जा सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण–पक्व फलों को कतरेनुमा काट कर, सुखाकर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – थैकल में प्रधानतः सेवाम्ल या मेलिक एसिड (१३-२०%) तक पाया जाता है। चकोत्रे नीबू में सीट्रिक एसिड, गन्धकाम्ल, शर्करा, प्रभृति तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष तक।

स्वभाव। गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–अम्ल (अति)। विपाक–अम्ल। वीर्य–उष्ण। कर्म–रोचन, दीपन-पाचन, अनुलोमन, भेदन, हृदयोत्तेजक, हिक्कानिग्रहण, कास-श्वासहर, मूत्रल, पित्तरक्तसंशमन। यूनानी मतानुसार अमलबेद दूसरे दर्जे से में शीत एवं रूक्ष है।

इसका रस (अथवा फल) दीपन-पाचन चूर्णों में मिलाकर खिलाते हैं। नीबू के रस की भाँति इसके रस के शर्बत से पित्त एवं रक्तगत उद्वेग शमन होता है। चरकोक्त (सू० अ० ४) दीपनीय, हृद्य एवं श्वासहर महाकषायों में अम्लवेतस भी है।

अयापान

नाम। हिं०, बं०, गु०—अयापान। अं०—अयापान टी (*Ayapana Tea*)। लें०—एउपाटोरिउम अयापाना *Eupatorium ayapana Vent.* (पर्याय—*E. triplinerve Vahl.*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोजिटी : *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – अयापान वास्तव में अमेरिका का आदिवासी पौधा है। सम्प्रति समस्त भारतवर्ष के बगीचों में लगाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – आयापान के सुगन्धित गुल्मक होते हैं, जिसकी शाखाएँ चिकनी एवं फैली हुई तथा स्वावलम्वी, और पत्तियाँ छोटे वृन्तयुक्त (*Sub-sessile*), रूपरेखा में भालाकार एवं लम्बाग्र, चिकनी तथा तीन स्पष्ट शिराओं से युक्त, काण्ड पर अभिमुखक्रम से स्थित होती हैं। पुष्प सिलेटी नीले रंग के होते हैं, जो मुण्डकों में निकलते हैं। (फल) ऐकीन (*Achenes*) पंचकोणीय एवं रुण्डित (*Truncate*) होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (विशेषतः पत्र)।

मात्रा – पत्रस्वरस—३ माशा से १ तोला तक।
प्रवाही घनसत्व (*Liquid Extract*)—३० से ६० बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अयापान की पत्तियों में एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि पायी जाती है, तथा स्वाद में भी यह सुगंधित होती हैं। इनमें कम-से-कम १% उड़नशील तैल, ०.१% अयापिन (*Ayapin*) एवं अयापानिन (*Ayapanin*) नामक तत्त्व पाये जाते हैं। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं। इनके आधार पर इसकी परीक्षा करें।

संग्रह एवं संरक्षण – प्रगल्भ पत्तियों को संग्रहीत कर छाया-शुष्क कर लें और अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखें।

संगठन – अयापान की पत्तियों में (१.१३%) एक उड़नशील तेल पाया जाता है। सूखी पत्तियों में एक क्रिस्टलाइन सत्व ($C_{12}H_{10}O_4$) तथा ताजी पत्तियों में अयापिन एवं अयापानिन नामक दो क्रिस्टलाइन स्वरूप के तत्त्व पाये जाते हैं, जिनमें तीव्र रक्तस्तम्भक गुण पाया जाता है।

स्वभाव – अयापान एक उत्तम रक्तस्तम्भक औषधि है। इसकी यह क्रिया स्थानिक प्रयोग से तथा आन्तरिक रक्तस्रावी अवस्थाओं में मौखिक सेवन से होती है। एतदर्थ ताजी पत्तियों का स्वरस अधिक उपयुक्त होता है। शोणितमेह एवं रक्तष्ठीवन आदि में इसका स्वरस अथवा प्रवाही घनसत्व तथा रक्तार्श आदि में स्थानिक क्रिया के लिए इसका व्यवहार मलहर के रूप में कर सकते हैं। मौखिक सेवन से साधारण मात्राओं में यह हृदयोत्तेजक एवं बल्य प्रभाव भी करता है; किन्तु अधिक मात्रा में सारक होता है। पत्तियों का उष्णफाण्ट कुछ हृल्लासजनक, स्वेदजनन एवं शीतप्रशमन होता है।

अरणी—देखो अग्निमन्थ।

अर्जुन

नाम। सं०—अर्जुन, पार्थ, ककुभ। हिं०—अर्जुन, कोह, कौह, कहुआ। म०—अर्जुनसादडा। पं०—जुमरा। ता०—मरुतै। ते०—तेल्लमद्दि। बं०—अर्जुन। लें०—टॅर्मिनालिआ अर्जुना *Terminalia arjuna W. & A.*।

वानस्पतिक कुल – हरीतक्यादि-कुल (कॉम्ब्रेटासी *Combretaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में, विशेषतः हिमालय की तराई में, छोटा नागपुर, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, बम्बई एवं मद्रास के जंगलों में इसके स्वयंजात वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। बगीचों में तथा सड़कों के किनारे लगाये हुए वृक्ष भी मिलते हैं। ब्रह्मा के जंगलों में भी यह पाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – अर्जुन के ऊँचे-ऊँचे १८.२९ मी० से २४.३८ मी० (६०-८० फुट) तथा पतझड़ करने वाले (*Deciduous*) विशाल वृक्ष होते हैं। छाल (*Bark*) बाहर से श्वेताभ (*Whitish*) तथा अन्दर से चिकनी, मोटी एवं हल्के गुलाबी रंग की (*Pinkish grey*) होती है, जो पतले-पतले चप्पड़ों (*Thin flakes*) में छूटती है। इसकी पत्तियाँ लगभग अभिमुख

(*Sub-opposite*), ७.५ सें० मी० से २० सें० मी० (३ से ८ इंच) तक लम्बी रूपरेखा में दीर्घवत् या आयताकार (*Oblong*) या अंडाकार (*Elliptic*), कुण्ठिताग्र (*Obtuse*) अथवा किन्हीं-किन्हीं में अग्र पर सहसा नुकीली (*Shortly acute*) तथा बनावट में चर्मिल (*Coriaceous*) होती हैं। इसकी पत्तियों के किनारे सरल या किन्हीं-किन्हीं में सूक्ष्मदन्तुर (*Crenulate*) होते हैं। पर्णवृन्त छोटा (लगभग $\frac{5}{8}$ सें० मी० या किंचित् अधिक) तथा दो ग्रंथियों से युक्त होता है। पुष्प पीताभ वर्ण के तथा शाखाग्रों पर खड़ी पुष्पगुच्छमय मंजरियों (*Erect terminal panicles*) में निकलते हैं। पुष्पों में प्रायः दलपत्र (*Petals*) नहीं होते। फल देखने में कमरख की तरह तथा ५–७ पंखसदृश उभारों (*Wings*) से युक्त, किन्तु कड़े (*Woody*) तथा २.५ से ५ सें० मी० (१-२ इंच) लम्बे होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प एवं शरद् में फल आते हैं।

उपयोगी अंग – काण्ड-त्वक् (तने की छाल)।

मात्रा – त्वक् चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम (१ से ३ माशा)।
क्षीरपाक में–६ ग्राम से १२ ग्राम (६ माशा से १ तोला)।
क्वाथ–२३ ग्राम से ४६ ग्राम (२ से ४ तो०)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में मिलने वाली छाल विभिन्न लम्बाई की तथा चपटी या अन्दर की ओर किंचित् मुड़ी हुई (*Half quills*) होती है। यह टुकड़े १५ सें० मी० (६ इंच) तक लम्बे, १० सें० मी० (४ इंच) तक चौड़े एवं ३.१२५ मि० मी० से १० मि० मी० ($\frac{1}{8}$ से $\frac{3}{8}$ इंच) तक मोटे होते हैं। बाह्य वल्कल या एपिडर्मिस (*Epidermis*) पतला एवं खाकस्तरी रंग (*Grey*) का किन्तु अन्तस्त्वचा गुलाबी (*Pink*) रंग की होती है। मुख में चाबने पर छाल का अन्तर्वस्तु रेशेदार तथा कुरकुरा एवं कसैला होता है। छाल का अन्तस्तर (*Internal surface*) हल्के रंग का तथा सूक्ष्म रेखांकित (*finely striated*) होता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – अर्जुन की छाल को सुखा कर अनार्द्र शीतल स्थान में बन्द डिब्बों में रखें।

संगठन – इसमें अर्जुनीन (*Arjunine*) नामक रंगहीन, क्रिस्टलाइन तत्त्व, अर्जुनेटीन (*Arjunetin* $C_{11}H_{18}O_4$), लेक्टोन एवं टैनिन (१५$\frac{1}{2}$%), एक उत्पत् तैल, तथा २५% तक जल में घुलनशील केल्सियम्- साल्ट्स तथा अल्प मात्रा में मैगनीसियम् साल्ट, आर्गेनिक एसिड्स एवं रंजक तत्त्व (*Colouring matter*) पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–हृद्य ? प्रधान कर्म–रक्तस्तम्भक, हृद्य, रक्तपित्तशामक, प्रमेहनाशक। चरकोक्त (सू० अ० ४) उदर्दप्रशमन महाकषाय एवं कषायस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सालसारादि गण एवं न्यग्रोधादि गण के द्रव्यों में अर्जुन भी है।

मुख्य योग – अर्जुनारिष्ट, अर्जुनघृत, ककुभादि चूर्ण, अर्जुन क्षीरपाक।

विशेष – अंग्रेजी दवाखानों में अर्जुन की छाल का प्रवाही घनसत्व (लिक्विड एक्स्कट्रैक्ट) भी मिलता है। मात्रा–३० से ६० बूंद।

अलसी (तीसी)

नाम। सं०–अतसी, नीलपुष्पी, क्षुमा। हिं०–अलसी, तीसी। बं०–मशिना। म०–जवस। गु०–अलसी। क०–अलिश। अ०–कत्तान। फा०–तुख्मे कत्तान। अं०–लिनसीड (*Linseed*), फ्लैक्ससीड (*Flax Seed*)। ले०–(१) बीज – लीनुम् (*Linum*), लीनी सेमिनी (*Lini Seminae*)। (२) वनस्पति–लीनुम- ऊसीटाटीस्सिमुम् (*Linum usitatissimum Linn.*)। इस पौधे के रेशों से बने कपड़े (क्षौमवस्त्र) को भी अरबी में कत्तान कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – अतस्यादि-कुल (लीनासी *Linaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में जाड़े की फसल के साथ तीसी की काफी परिमाण में खेती की जाती है। हिमालय प्रदेश में भी १.८ किलोमीटर या ६००० फुट की ऊंचाई तक तीसी बोई जाती है। इसके अतिरिक्त विदेशों में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका (*U. S. A.*), कनाडा, रूस, आर्जेन्टाइना एवं हालैंड एवं मिस्र आदि में भी प्रचुर मात्रा में तीसी की खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – भारतवर्ष में तीसी जाड़े की फसल में गेहूँ, जौ, चने के साथ बोयी जाती है। इसके २-४ फुट तक ऊंचे तथा कोमल, एकवर्षायु क्षुप होते हैं। पत्तियाँ-

छोटी, रेखाकार-भालाकार, अग्र नुकीला (*Acute*) तथा फलक तीन स्पष्ट नाड़ियों से युक्त (*3-nerved*) होते हैं। पुष्प आसमानी रंग के, व्यास में १ इंच तक (2.5 *cm. across*) तथा पुष्पव्यूह सवृन्तकाण्डज होता है, जो समस्थकाण्डज की भाँति (*Corymbose panicles*) मालूम होता है। इसमें छोटे-छोटे गोल, घुंडीदार फल (*Globular Capsules*) लगते हैं, जो अन्दर कई कोष्ठों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक फल में १०, चपटे, चमकदार, चिकने तथा चपटे एवं गाढ़े भूरे रंग के बीज पाये जाते हैं। देश एवं उत्पत्ति स्थान भेद से तीसी के बीजों के आकार-प्रकार एवं रंग में भेद पाया जाता है। इस प्रकार श्वेत, पीत, रक्त एवं कुछ कालापना लिये भेद से तीसी के बीज कई प्रकार के प्राप्त होते हैं। इसमें उष्ण प्रदेशों की तीसी आकार में अपेक्षाकृत बड़ी एवं भूरे या लाल रंग की होती है। यह अधिक उत्तम समझी जाती है। तीसी के पौधे से बहुत उत्तम प्रकार का रेशा (*Fibres*) प्राप्त होता है, जिससे कपड़ा बनाया जाता है। इसके कपड़े को क्षौम या कत्तान कहते हैं।

उपयोगी अंग – बीज एवं बीजों से प्राप्त तैल (तीसी का तेल) एवं पुष्प। बीजचूर्ण का वाह्यतः प्रयोग पुल्टिस के रूप में होता है। सांस्थानिक क्रिया के लिए चूर्ण एवं बीजों से प्राप्त लुआव (*Mucilage*) का व्यवहार मुखद्वारा किया जाता है। तीसी का तेल एक मीठा तेल होता है, जो जलाने एवं खाने के काम में लाया जाता है, तथा औषधीय रूप में भी व्यवहृत होता है।

मात्रा – बीजचूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
तैल–६ माशा से १ तोला।
पुष्प-कल्क–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बीज– अतसी के बीज स्वाद में तैलीय एवं लवाबी होते हैं। जल में भिगोने पर बीज एक पतले, फिसलनदार एवं वर्णरहित श्लैष्मिक कला के आवरण से आवृत हो जाते हैं। यह शीघ्र जेलीरूप में घुल जाता है, तथा बीज कुछ फूल जाता एवं उनका पालिश जाता रहता है। बीजांडद्वार (*Micropyle*) तथा नाभि (*Hilum*) नुकीले सिरे के पास स्थित होते हैं। ताजे, भारी और मोटे बीज उत्तम होते हैं। तीसी का चूर्ण (लीनुम कॉन्टूसुम *Linum Contusum* (*Linum Contus.*)–ले०; क्रश्डलिनसीड *Crushed Linseed*; लिनसीड मील (*Linseed Meal*–अं०)– यह पीताभ-भूरे रंग का स्थूल चूर्ण (*Coarse powder*) होता है, जिसमें बीज के भूरे छिल्के (*Brown testa*) के छोटे-छोटे कण दिखाई देते हैं। गर्म जल में मिलाने पर इसके गंध एवं स्वाद में कोई विकृति नहीं होती। प्रयोग करना हो तब ताजा चूर्ण बनाना चाहिए।

परीक्षण – तीसी के बीजों में सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं। भस्म (*Ash*)–अधिकतम ५%। अम्ल में अघुलनशील भस्म (*Acid-insoluble ash*)– अधिकतम १%। जलमें घुलनशील सत्व (*Water-soluble extractive*)–कम-से-कम १५%। स्थिर तैल (*Fixed oil* : तीसी का तेल) कम-से-कम ३०%। स्टार्च एवं स्टार्च बहुल अन्य बीजों के परीक्षण के लिए निम्न परीक्षा कर सकते हैं––१ ग्राम (८ रत्ती) तीसी के चूर्ण को ५० सी० सी०, आसुत जल (*Distilled water*) में मिला कर उबालें। विलयन ठंढा होने पर इसे छान लें। पुनः छाने हुए द्रव में आयोडीन सॉल्यूशन मिलावें। स्टार्च की उपस्थिति में विलयन का रंग हल्का नीला हो जाता है।

मिलावट एवं प्रतिनिधि द्रव्य – कभी-कभी इसमें सफेद अग्राह्य बीज (*White linseed*) मिले होते हैं। चूंकि तीसी प्रायः गेहूँ, सरसों आदि अन्य अनेक बीजों के साथ बोयी जाती है, अतएव व्यावसायिक बीजों में ये बीज भी मिले होते हैं। इनको छलनी द्वारा पृथक् कर देना चाहिए। पुल्टिस के लिए प्रयुक्त बीजों से तो कम-से-कम सरसों, राई आदि तीक्ष्ण एवं क्षोभक प्रभाव करने वाले बीज अवश्य पृथक् कर देने चाहिए। तीसी के चूर्ण में इसकी खली के चूर्ण (*Powdered linseed cake*) का मिलावट किया जा सकता है। इससे स्थिर तैल की प्राप्ति बहुत कम (६ से ८%) होती है। वैसे तीसी चूर्ण से बीजों की भाँति कम-से-कम ३०% तैल मिलना चाहिए।

(२) अलसी या तीसी का तेल (ओलियम् लीनी *Oleum Lini* (*Ol. Lini*)–ले०; लिनसीड ऑयल *Linseed oil*–अं०)–यह एक स्थिर तैल (*Fixed oil*) या मीठा तेल होता है, जो तीसी के सुखाये हुए पक्व बीजों से कोल्हू में पेर कर प्राप्त किया जाता है।

यह पीताभ-भूरे द्रव के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गंध होती है; तथा स्वाद में मीठा (*Bland*) होता है। हवा में अधिक समय तक खुला रहने से कुछ गाढ़ा हो जाता है। इस क्रिया से रंग भी गाढ़ा हो जाता तथा गंध कुछ उग्र हो जाती है। अब चखने से कुछ कड़वा-सा (*Acrid*) मालूम होता है। इस तेल को पतला लेप के रूप में फैलाने से चमकीले वार्निश की तरह जम जाता है। इसीलिए जिस पात्र में बराबर तीसी का तेल रखा जाता है, उस पर गाढ़े रंग का वार्निश-सा चिट्ट जमा हो जाता है। यह–१५° तापक्रम पर जमने लगता है।

२०° तापक्रम पर प्रति मिलिलिटर (सी० सी०) तेल का भार ०.९२४ से ०.९३४ ग्राम होता।

आपेक्षिक गुरुत्व – ०.९२४-०.९३४।

अपवर्तनांक (*Refractive index*) ४०° पर १.४७२५-१.४७५०।

एसिड वैल्यू (*Acid Value*) – अधिकतम ५।

आयोडीन वैल्यू (*Iodine Value*) – १७० से २००।

साबुनीकरण वैल्यू (*Saponification Value*) १८७ से १९५।

मिलावट – इसमें खनिज तैलों (*Mineral oils*), राल (*Resins*) तथा रालीय तेल (*Resin oils*) अथवा अन्य सस्ते मीठे तेल विशेषतः कुसुम्भ या बर्रे के तेल का मिलावट किया जाता है।

परीक्षण – (१) न सूखने वाले तेल (*Non-drying oils*)— तीसी के तेल का शीशे पर प्रलेप करने से यह वार्निश की भाँति सूख जाता है। न सूखने वाले तेलों का मिलावट होने पर ऐसा नहीं होता। (२) खनिज तेल–पोटासियम् हाइड्रॉक्साइड के एल्कोहॉलिक विलयन में थोड़ा-सा तीसी का तेल मिला कर साबुनीकरण करें। इस घोल में पुनः आसुत जल (*Distilled water*) मिलाने से यदि विलयन स्वच्छ हो जाय और उसमें तैलीय बिन्दु न दिखें तो यह खनिज अम्लों के अभाव का द्योतक होता है। रेजिन एवं रेजिन आयॅल्स – २ मि० लि० (सी०सी०) तेल में २ मि० लि० एसीटिक ऐन्हाइड्राइड (*Acetic anhydride*) मिलावें और इस मिश्रण को खूब हिला कर रख दें। अब दूसरे पात्र में भार से २ भाग सल्फ्यूरिक एसिड तथा १ भाग जल मिलावें। पहले वाले मिश्रण में कतिपय बूंद दूसरा मिश्रण मिलावें। यदि अब मिश्रण का रंग बैंगनी न हो तो यह मिलावट का अभावद्योतक है।

संग्रह एवं संरक्षण – सुखाये हुए पक्व तीसी के बीजों को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें। तीसी चूर्ण एवं तेल को अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में रखना चाहिए।

संगठन – (१) बीज–तीसी के बीजों में ३० से ४०% तक स्थिर तैल (*Fixed oil*), २०-२५ प्रतिशत तक प्रोटीन, ६% लबाब (म्युसिलेज) पाया जाता है। लबाबी अंश प्रायः बीज के छिलके बाह्य स्तर (*Epidermis*) में होता है। इसके अतिरिक्त कुछ मोमीय पदार्थ (*Wax*), रालीय पदार्थ (*Resin*) तथा फास्फेट्स एवं १८% तक शर्करांश एवं अत्यल्प मात्रा में लाइनेमेरिन (*Linamarin : phaseo-lunatin*) नामक ग्लाइको साइड भी पाया जाता है। कच्चे बीजों में स्टार्च के कण पाये जाते हैं। कच्चे बीजों एवं पुष्प में अत्यल्प मात्रा (०.६८% तक) हायड्रोसायनिक एसिड तथा लाइपेरीन (*Liparine*) नामक ऐल्केलॉइड भी पाया जाता है।

(२) तैल–तेल में प्रधानतः लिनोलीक (*Linoleic*) तथा लिनोलेनिक एसिड्स के ग्लिसराइड्स तथा ८ से १०% तक घन वसाम्ल (*Solid fatty acids*) होते हैं।

वीर्यकालावधि – बीजों में २ वर्ष तक वीर्य रहता है। तथा तैल अच्छी तरह सुरक्षित करने से चिरकाल पर्यन्त सक्रिय रहता है। चूर्ण का प्रयोग प्रायः ताजा ही करना चाहिए।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–बाह्यतः स्थानिक प्रयोग से शोथविलयन एवं फोड़े-फुंसी को शीघ्रतापूर्वक पकाता है। इसका लुआब कफनिस्सारक एवं कासहर है। बीज एवं तैल पौष्टिक, वाजीकर एवं किंचित् सर हैं। यूनानी मतानुसार तीसी के बीज पहले दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष तथा तेल उष्ण एवं तर होता है। अग्निदग्ध पर इसका तेल चूने के पानी में मिला कर लगाने से फौरन लाभ होता है। अहितकर–मन्दाग्निकारक है। निवारण–धनिया और सिकंजबीन। प्रतिनिधि–मेथी के बीज।

मुख्य योग – अतस्यादि लेप, मरहम दाखीलून। शल्य-

चिकित्सा में तीसी के पुल्टिस (उपनाह) का प्रयोग शोथपाचन के लिए किया जाता है।

असगंध (अश्वगंधा)

नाम। सं०–अश्वगंधा, वाराहकर्णी। हिं०–असगंध, आकसन, असकन। म०–डोरगुंज, आसंध। गु०–आसंध, घोड़ाआहन, घोड़ा आकुन। फा० बहमने बर्री। अं०–विन्टर–चेरी (*Winter cherry*)। ले०–विदानिआ सोम्नीफ़ेरा (*Withania somnifera Dunal.*) (पर्याय–*W. asvagandha* ?)।

वानस्पतिक कुल–कण्टकारी-कुल (सोलानासी *Solanaceae*)।

प्राप्तिस्थान–प्रायः समस्त भारतवर्ष, विशेषतः शुष्क प्रदेशों तथा हिमालय प्रदेशों में १६६१.३८ मीटर (१.६६ कि० मी०) या ५,५०० फुट की ऊंचाई तक इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। कहीं-कहीं इसकी खेती भी की जाती है। पहले असगंध नागौर प्रदेश में बहुत होता था, और वहाँ से सर्वत्र भेजा जाता था। इसी हेतु इसको नागौरी असगंध भी कहते हैं। यही असगंध सर्वोत्तम होता है।

संक्षिप्त परिचय–असगंध के १.५ मीटर से १.८ मीटर या ५-६ फुट तक ऊंचे तथा सीधे गुल्मक (*Erect undershrub*) प्रायः शाखा-बहुल होते हैं। पत्र जोड़े-जोड़े ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बे तथा २.५ से ५ सें० मी० (१-२ इंच) चौड़े, बाह्य रूपरेखा में चौड़े लट्वाकार, अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़े (*subacute*) तथा पत्र-तट अखण्डित, पत्रवृन्त ५/८ सें० मी० से ५/४ सें० मी० (१/४ से १/२) इंच लम्बे होते हैं। असगंध का समस्त पौधा सूक्ष्म श्वेतरोमावृत होता है। ताजे पौधे को मसल कर सूंघने से घोड़े के मूत्र की भाँति गंध आती है। इसीलिए इसको अश्वगंध कहा जाता है। उक्त गंध अपेक्षाकृत इसकी ताजी जड़ में अधिक पायी जाती है। पुष्प हरिताभ अथवा बैंगनी आभा लिये पीताभ तथा वृन्तरहित (*Sessile*) अथवा ह्रस्ववृन्त (*Subsessile*) तथा पत्रकोणोद्भत छत्रकसम गुच्छकों (*Umbelli form cymes*) में पाये जाते हैं। प्रत्येक गुच्छक में ५-५ पुष्प होते हैं। बाह्यदलपुंज या कैलिक्स (*Calyx*), घंटिकाकार तथा मृदुरोमावृत होता है, जो फलों के साथ बढ़ कर उनको रसभरी के फलों की भाँति आवृत कर लेता है। किन्तु अग्र पर यह खुला होता है। अग्र पर यह ५-६ खण्डों में विभक्त (5-6 *toothed*) होता है। दलपुंज या कोरोला घंटिकाकार, बाह्यतल पर मृदुरोमावृत तथा ३-६ खण्डों में विभक्त होता हैं। पुंकेशर संख्या में पांच; फल (*Berries*) छोटे, लाल, मसृण, मटराकार तथा एक झिल्लीवत् कुण्ड (*Calyx*) से आवृत और शिखर पर खुले होते हैं। बीज, असंख्य अति क्षुद्र, १/१६ इंच लम्बे, पीताभ श्वेत, रूपरेखा में वृक्काकार, पार्श्वद्वय संकुचित तथा बीजबाह्यावरण अर्थात् बीजचोल (*Testa*) मधुमक्खी के छत्ते की भाँति होता है। इसके बीजों से दूध जम जाता है।

उपयोगी अंग–मूल, पत्र एवं बीज तथा क्षार।

मात्रा–मूल ३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
क्षार १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–असगंध की जड़ मूली की भाँति कुछ-कुछ शंक्वाकार किन्तु उसकी अपेक्षा काफी पतली, पेन्सिल की मोटाई से लेकर २.५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० (१-१॥) इंच व्यास की मोटाई तक तथा ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० (१-१॥ फुट) तक लम्बी होती है। बाह्य तल पर हल्के धूसर वर्ण की किन्तु तोड़ने पर भीतर सफेद होती है। स्वाद में यह तिक्त होती है। बाजारों में मिलने वाली शुष्क जड़ १० सें० मी० से २० सें० मी० (४ से ८ इंच) लम्बी अथवा छोटे-बड़े टुकड़ों के रूप में होती है। शिखर से किंचित् नीचे स्थूलतम भाग की मोटाई का व्यास ६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० (१/४ से १/२ इंच) होता है। यह मसृण, चिक्कण, बाहर से हल्का पीताभ धूसर वर्ण का और भीतर से श्वेत तथा तोड़ने पर भंगुर (*Fracture short and starchy*) होता है। मूल विरला ही सशाख होता है। शिखर से संश्लिष्ट कतिपय कोमल काण्ड के अवशेष वर्तमान होते हैं। असगंध स्वयंजात (जंगली) और खेती किया हुआ दो प्रकार का होता है। बाजारू असगंध प्रायः खेती किये हुए पौधों का जड़ होता है। जंगली पौधों की अपेक्षा कर्षित पौधों की जड़ों में स्टार्च का संग्रह अधिक पाया जाता है; और इसके स्वरूप, गुणों एवं रसादिक में भी कुछ अन्तर हो जाता है। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए बाजारू या खेती किये हुए पौधों की जड़, तथा लेपादि बाह्य प्रयोग तथा तैलादि में जंगली असगंध के मल लेने चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – उत्तम जड़ों को लेकर सुखा लें और वायु-धूलि रहित अनार्द्र एवं शीतल स्थान में मुखबन्द डिब्बों में रखें।

संगठन – अश्वगंधा की जड़ में एक उड़नशील तेल तथा विथेनियोल (*Withaniol* : C_{25} H_{35} O_5) नामक तत्त्व पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सोम्नीफेरिन (*Somniferin* C_{12} H_{16} N_2) नामक क्रिस्टलाइन ऐल्केलॉयड एवं फाइटॉस्टेरोल (*Phytosterol*) आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वातकफनाशक, बल्य, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, नाड़ीबल्य, दीपन-पाचन आदि। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–कतीरा एवं घी। प्रतिनिधि–बहमन सफेद (काम शक्ति वर्धक एवं कटिशलादि के लिए), मीठा कूट (श्वास-कासहर प्रभाव के लिए), सूरंजान (आमवात या गठिया आदि के लिए)।

चरकोक्त (सू० अ० ४) बृंहणीय एवं बल्य महाकषायों तथा मधुरस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में अश्वगंधा भी है।

मुख्य योग – अश्वगंधादि चूर्ण, अश्वगंधारिष्ट, अश्वगंधा-रसायन, अश्वगंधाघृत।

विशेष – साधारणतः अश्वगंधा की जो जड़ें बाजार में मिलती हैं, वे कृषिजन्य पौधों की जड़ें होती हैं। इन्हें 'नागौरी असगंध" कहते हैं। असगंध के पौधे वन्यज या स्वयंजात स्वरूप के भी पाये जाते हैं। तैलादि पाक के लिए अथवा अन्य बाह्य उपयोग के लिए ये अधिक उपयुक्त होते हैं। एतदर्थ इनका ग्रहण ताजी अवस्था में करना अधिक श्रेयस्कर है। क्योंकि, अश्वगंधा का भी उल्लेख उन द्रव्यों के साथ मिलता है, जिनका प्रयोग आर्द्रावस्था में करना चाहिए।

वीदानिआ कोआगुलान्स (*Withania coagulans Dunal*) अश्वगंध की एक निकटतम जाति है, जिसे पुनीर या देशी असगंध कहते हैं। पंजाब, सिंध, अफगानिस्तान, बिलूचिस्तान आदि प्रदेशों में अथवा भारतवर्ष में अन्यत्र भी इतस्ततः इसके जंगली पौधे मिलते हैं। इसके फलों का उपयोग रेनेट की भाँति दूध जमाने के लिए किया जाता है।

आँबा हल्दी (आम्रहरिद्रा)

नाम। सं०–कर्पूरहरिद्रा, वनहरिद्रा। हिं०–आंबाहल्दी। फा०–दारचोबा। अं०–मेंगो जिंजर (*Mango Ginger*), वाइल्ड टर्मेरिक (*Wild Turmeric*)। ले०–कुर्कूमा आरोमाटिका (*Curcuma aromatica Salisb.*)।

वानस्पतिक कुल–हरिद्राकुल (स्किटामिनासी *Scitaminaceae*)।

प्राप्तिस्थान – जंगली प्रदेश, विशेषकर पूर्वी हिमालय, बंगाल आदि में यह स्वयंजात होती है; तथा कहीं-कहीं इसकी खेती भी की जाती है। कंद पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – क्षुप-द्विवर्षायु, काण्डहीन, हरिद्राक्षुप के समान किन्तु पत्र अपेक्षाकृत बड़े और गोल, जो ३० सें. मी० से ६० सें० मी० (१ से २ फुट) लम्बे, गोल, स्निग्ध, बैंगनी हरित वर्ण तथा विशिष्ट गन्धयुक्त होते हैं।

उपयोगी अंग – कन्द।

मात्रा – चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम (१ से ३ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – आंवा हल्दी के कन्दों का चौड़ा भाग रूप-रेखा में आयताकार अथवा शंक्वाकार, व्यास लगभग ५ से० मी० या २ इंच या कभी-कभी इससे भी अधिक, वाह्य तल गाढ़े खाकस्तरी या भूरे रंग का जिसपर जगह-जगह मुद्रिकाकार चिह्न तथा मोटे सूत की भाँति इतस्ततः निकली हुई रचनाएँ मालूम होती हैं। किन्हीं-किन्हीं कन्दों के सिरों पर गोलाकार शाखाएँ अथवा भौमिक काण्ड लगा होता है। आंवा हल्दी को तोड़ने पर टूटा हुआ तल हल्दी की भाँति गाढ़े नारंगी के रंग का दिखाई पड़ता है। कन्दों से कपूर की-सी उग्र गन्ध आती है।

संग्रह एवं संरक्षण – शुष्क कन्द को ग्रहण कर सूखे और निर्वात स्थल पर भलीभाँति मुखबन्द शीशियों में रखें।

संगठन – सुगन्धित एवं उड़नशील तैल।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – रस–तिक्त, कटु। गुण–लघु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण।

मुख्य योग – दार्वी रसाञ्जन।

आँवला (आमलकी)

नाम। सं०–आमलकी, धात्रीफल। हिं०–आँवला। अ०–आमलज। फा०–आमलह। अं०–एम्बलिक माइरोबलन्स (*Emblic myrobalans*)।

आॅफ़ीसिनालिस (*Emblica officinalis Gaertn.*) (पर्याय – *Phyllanthus emblica Linn.*) ।

वानस्पतिक कुल–एरण्ड-कुल (एउफॉर्बिआसी *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारत, लंका, चीन, तथा मलाया आदि । आँवले के वृक्ष वहुतायत से आरोपित किये जाते हैं । जंगलों में इसके स्वयंजात वृक्ष भी पाये जाते हैं, किन्तु इनसे प्राप्त फल छोटे तथा अधिक कसैले होते हैं । कलमी आंवला के फल काफी वड़े (१ तो० से ½ छटांक तक) होते हैं । पक्व हरे फल जाड़ों में वाजारों में विकते हैं। सुखाये हुए पक्व तथा अपक्व फल पंसारियों के यहाँ हमेशा मिलते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – वृक्ष–मध्यमाकारी । कांड–धूसर स्निग्ध । शाखा–साधारण गोल । पत्र–पीताभ, आकृति में इमली-पत्र के समान, लम्व-गोल, ¾ सें० मी० से ⅘ सें० मी० (०.३ से ०.५ इंच लम्बे लघुवृन्तयुक्त (*Subsessile*) पतली-पतली अनुशाखाओं पर सघन द्विपंक्तिक्रम से स्थित । पुष्प–एकलिंगी, सघन, हरिताभ पीत । पुष्पवृन्त–छोटा । नरपुष्प–वहुसंख्यक । पुष्प–वाह्य कोषदल–लम्वगोल, कुंठिताग्र, $\frac{1}{20}$ इंच लम्वा । परागकोष संख्या ३: । स्त्रीपुष्प–अल्पसंख्यक; पुष्प-वाह्यकोषदल, नरपुष्प के समान । गर्भाशय–त्रिकोषीय । फल–मांसल, पीताभ हरित, अंडाकार, ६ रेखाओंयुक्त, व्यास में लगभग ७.५-१० सें० मी० या ३-४ इंच । वीज–संख्या में त्रिकोणाकार, कठोर । पुष्पागम काल–आश्विन ।

उपयोगी अंग – फल (ताजे एवं शुष्क) ।

मात्रा – फलचूर्ण ३ ग्राम से ११.६ ग्राम (३ माशे से १ तोला)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा– आँवले के ताजे फल अखरोट के फलों के वरावर तथा गोलाकार, गूदेदार, चिकने तथा पीताभ हरित वर्ण के होते हैं। इस पर खरवूजे की भाँति ६ फांकदार धारियां होती हैं । स्वाद में यह किंचित् खट्टा, कपैला तथा कड़ुवा होता है। वाजार में जो सूखा आँवला मिलता है, उसमें कच्चे तथा पक्व दोनों ही प्रकार के सुखाये फल मिले होते हैं। सुखाये हुए कच्चे फल कालिमा लिये खाकस्तरी रंग के तथा पके हुए शुष्क फल पीताम-भूरे रंग के होते हैं। च्यवनप्राशावलेह एवं मुरब्वा वनाने के लिए वड़े एवं ताजे पक्व आँवलों का व्यवहार करना चाहिए ।

संग्रह एवं संरक्षण – माघ, फाल्गुन में पक्व फलों को ग्रहण कर, छाया में सुखा कर वायु-धूल रहित, अनार्द्र और शीतल स्थान में मुखवन्द किये डिव्वों में रखें ।

संगठन – फल में टैनिन होती है, जिसमें गैलिक एसिड, इलेगिग एसिड होता है। पेक्टिन और विटामिन सी (*C*) की प्राप्ति का यह मुख्य साधन है। इसमें १०० ग्राम में ६०० से ९०० मिलीग्राम तक विटामिन सी (*C*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण-लघु, रूक्ष, शीत । रस–लवण रस को छोड़ कर शेप पांचों रस (किंतु अम्ल प्रधान) । विपाक–मधुर । वीर्य–शीत । प्रधान कर्म–त्रिदोपहर, दीपन रसायन, चक्षुष्य, केश्य, मेध्य, दाहप्रशमन आदि । चरकोक्त (सू० अ० ४) विरेचनोपग एवं वयःस्थापन महाकपायों तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) परूपकादि एवं त्रिफला-गण में आँवला भी है ।

मुख्य योग – च्यवनप्राशावलेह, आमलकी रसायन, धात्रीलौह, त्रिफला, धात्र्यरिष्ट तथा इत्रीफल उस्तखुद्दूस ।

आक (अर्क)

नाम । सं०–अर्क, मन्दार । हिं०–(वड़ा) आक, आख, (वड़ा) मदार, अकौआ । वं०–आकंद । कु०–आंक । म०–रुई । गु०–आकडो । क०, सिं० पं०–अक । अ०–उषर ,उष्पर, उषार । फा०–खरक, दरख्ते ज़हर-नाक, ज़हूक । अं०–मडार (*Mudar*), जायगंटिक स्वॉलो वर्ट (*Giagantic Swallow Wort*) । ले०–(१) सफेदमदार–कालोट्रॉपिक्स जीगांटेआ *Calotropis gigantea* R. Br. (२) लाल मदार–कालोट्रॉपिस् प्रोसेरा *Calotropis procera* R. Br. । आक की वे सभी संज्ञाएँ जो भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों में व्यवहृत हैं, प्रायः संस्कृत 'अर्क' शब्द से विगड़ कर वनी जान पड़ती हैं । विपैला होने से फारसी में इसे 'दरख्ते जहरनाक' कहते हैं । वुर्हान महोदय के अनुसार उशर फारसी भापा का शब्द है और प्रायः उन सभी वनस्पतियों के लिए व्यवहार में आता है, जिनमें दूव होता है और विशेपतः ऐसे पौधों के लिए जिनको हिन्दुस्तान में 'आक' कहते हैं । इससे ज्ञात होता है, कि 'उशर' अरवी भापा का शब्द नहीं, जैसा प्रायः कोशों में

लिखा मिलता है; प्रत्युत आर्य्य-भाषा, सम्भवतः संस्कृत 'उष (जलाना)' शब्द से व्युत्पन्न जान पड़ता है।

अर्कशर्करा – अ०–सुक्करुल् उषर, समग़े उषर। फा०–शकरक, शकर कोही, शकर उषर। हि०, उर्दू–आक की शर्करा, आक का गोंद, शकर मदार, आक की मिश्री।

वानस्पतिक कुल–अर्क-कुल (ऐस्क्लेपिआडासी *Asclepiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान – (१) कालोट्रॉपिस जिगाटेआ–समस्त भारतवर्ष के उष्ण एवं शुष्क प्रदेश तथा मलाया द्वीप समूह एवं दक्षिण चीन। (२) कालोट्रॉपिस् प्रोसेरा–भारत के मध्य एवं पश्चिम प्रदेश, फारस से अफ्रीका तक।

संक्षिप्त परिचय – आक के ९० सें० मी० से २.७ मीटर या ३ से ९ फुट ऊँचे, (किन्तु सफेद मदार का पुराना पौधा कहीं-कहीं इससे भी ऊँचा छोटे वृक्ष की भाँति देखने में आता है) वर्षानुवर्षी या बहुवर्षायु तथा बहुशाखी क्षुप होते हैं, जो एक प्रकार के दुग्धमय एवं चरपरे रस (*Acrid juice*) से परिपूर्ण होते हैं। प्रायः ऊषर और शुष्क भूमि में, जहाँ किसी अन्य प्रकार के पौधे प्रफुल्लित नहीं रह सकते, इसके क्षुप बहुतायत से हरे-भरे दिखाई देते हैं। तने और प्रधान शाखा की त्वचा बहुत हल्की, पीताभ-खाकस्तारी रंग की तथा नरम और विदीर्ण होती है। कोमल शाखाएँ धुनी हुई रूई की तरह सफेद रोईं (*Covered with adpressed white tomentum*) से घनावृत होती हैं। पत्तियाँ अभिमुख, छोटे डंठलों वाली (*Sub-sessile,*), १० सें० मी० से २२ सें० मी० या ४ से ८ इंच लम्बी, २.५ सें० १० सें० मी० या १-४ इंच चौड़ी, अभिलट्वाकार (*Obovate*) अथवा दीर्घवत् आयताकार (*Oblong*), अग्र पर सहसा नुकीली या लम्बाग्रवाली (*Acute or acuminate*), चर्मिल (*Coriaceous*), आधार की ओर किंचित् हृदयाकार तथा अधस्तल पर रूई की भाँति रोमावृत (*Cottony beneath*) होती हैं। लाल मदार की पत्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक लम्बी तथा चौड़ी (२० सें० मी०–२२.५ सें० मी०×१० सें० मी० या ८-९ इंच ×४ इंच) तथा अधस्तल पर अपेक्षाकृत कम रोयेंदार होती हैं। पुष्प—सफेद मदार में बाहर से सफेद एवं सूक्ष्म रोयेंदार तथा भीतर सफेदी मायल बैंगनी रंग के, तथा लाल मदार में बैंगनी-लाल रंग के होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत या शाखाओं के पास से छत्रकों या समशिख गुच्छकों (*Axillary or subterminal pedunculate simple or compound umbels or corymbs*) में स्थित होते हैं। फल (डोंड़ा) या पुटिका अथवा फॉलिकिल (*Follicles*), युग्म, मसृण, स्फुटनशील, लम्बोतरा, उभरा हुआ और बीच से मुड़ा (*Recurred*) होता है, जिससे उसकी नोक, पक्षी के चोंच जैसी मालूम होती है। बीज—लट्वाकार, चपटे ५/८ सें० मी० या १/४ इंच लम्बे तथा स्याही मायल होते हैं, जिनके ऊपरी सिरों पर जो डोंड़े के सिरे की ओर होता है चमकीले रेशम की भाँति रोमों का गुच्छा (*Bright Silky white coma*) लगा होता है। मदार के पौधे प्रायः सालभर में कभी फूल-फल से खाली नहीं रहते; किन्तु अपेक्षाकृत जाड़ों में अधिक फूलते-फलते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, पत्र, पुष्प, क्षीर (*The Milky juice*) एवं मन्दारशर्करा आदि।

मात्रा – मूलत्वक् चूर्ण–१/२ ग्राम से १ ग्राम या १/२ माशा से १ माशा तक। वल्य रूप से—१/५ ग्राम से ३/५ ग्राम या १॥ से ५ रत्ती। वामक मात्रा – ३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ माशा से ५ माशा तक।

क्षीर–१/८ ग्राम से १/४ ग्राम १ से २ रत्ती (२ रत्ती से ६ रत्ती)।

पुष्प–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

अन्तर्धूम दग्धपत्र अर्थात् मन्दारक्षार–२ से ४ ग्राम या २ माशा से ४ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – दोनों प्रकार के मदार का मूलत्वक् प्रायः समान होती है, जो २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच चौड़े एवं ३.१२५ मि० मी० से ५ मि० मी० या १/८ से १/५ इंच मोटे छोटे-छोटे सिकुड़े हुए या अन्दर को मुड़े हुए टुकड़ों (*Short curved or quilled pieces*) के रूप में प्राप्त होती है। इनके बाह्य तल पीताभ-खाकस्तरी रंग के, कोमल, कार्की (*Corky*) तथा अनुलम्ब दिशा में दरारयुक्त होते हैं। तोड़ने पर यह खट से टूटते तथा छोटे-छोटे दानेदार टुकड़े निकलते हैं। कभी-कभी इसमें सूत्राकार जड़ें लगी होती हैं तथा कभी काष्ठीय भाग भी लगे होते हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है, तथा स्वाद में किंचित् लुआबी तथा तिक्त एवं चरपरे (*Acrid*) होते हैं। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – मूलत्वक् का संग्रह अप्रैल, मई के महीनों में करना चाहिए। एतदर्थ प्रायः रेतीली भूमि में उगे पौधे अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं। जड़ को खोद कर निकाल, छाया में सुखा लें और छाल पृथक् कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करें। रखने पर कीड़े आदि के लगने से कुछ महीनों में ही छाल खराब हो जाती है। पत्तों का संग्रह जाड़ों या गर्मियों में करें। वर्षा ऋतु में जब अन्य पौधे हरे भरे होते हैं, तब मदार (अर्क) एवं जवास प्रायः पत्ररहित हो जाते हैं।

संगठन – मदार में एक प्रकार का कड़ुआ और चरपरा पीला राल होता है, जो इसका प्रभावकारी अंश है। इसके जड़ की छाल में 'मदार एल्बन *Mudar alban*' और 'मदार फ्लुएविल *Mudar fluavil*' नाम तत्त्व पाये जाते हैं। ये गटापरचा में पाये जाने वाले एल्बन' और 'फ्लूएविल' के बहुत कुछ समान होते हैं। मदार एल्बन या "मन्दारीन" एक स्फटिकीय सत्व होता है, जो ऐल्कोहल और ईथर में विलेय तथा ठंढे पानी और जैतून के तेल में अविलेय होता है। इसके अतिरिक्त इसमें रबड़ की-सी (*Caoutchoue*) एवं पपेन की भाँति प्रोटीनविलायक किण्व-सा तत्त्व भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वेदनास्थापन, शोथघ्न, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न, वमनोपग, दीपन-पाचन, वामक, कफनिस्सारक, श्वासहर।

यूनानी मतानुसार आक का दूध विष के साथ चौथे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष है; तथा पत्र, शाखा, जड़ और पुष्प तीसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष हैं।

मुख्य योग – अर्क-लवण, अर्क तैल, अर्केश्वर, हब्ब हैजा।

विशेष – (१) चरकोक्त (सू० अ० ४) भेदनीय, स्वेदोपग, वमनोपग महाकषायों में 'सदापुष्पा' नाम से तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३) अर्कादि गण एवं अधोभागहर गण (सू० अ० ३९) में अर्क का भी उल्लेख है। (२) अर्क-लवण बनाने के लिए मदार के बड़े पत्रों को लेकर एक के ऊपर एक करके तथा प्रत्येक पत्ती पर सेंधा नमक का चूर्ण छिड़कते जायँ। इस प्रकार रख करके ऊपर कपड़ा लिपेट कर कपड़ मिट्टी करें। अब इसे उपलों के बीच रख कर पुटपक्व कर लें। इस प्रकार प्राप्त भस्म अर्क-लवण होती है।

आम (आम्र)

नाम। सं०–आम्र, सहकार, चूत, रसाल। हिं०–आम, आँब। बं०–आम। म०–आंबा। गु०–आंबो। सिं०–अम्ब। क०–अंब, अंभ। पं०–अंब। फा०–अंबः। अ०–अंबज। ता०–माङ्गामरम, मामरम। अं०–मैंगोट्री (*Mango Tree*)। ले०–मांगीफ़ेरा इंडिका (*Mangifera indica Linn.*)। अंगरेजी, लेटिन एवं तमिल नाम इसके वृक्ष के हैं।

कलमी आम। हिं०–पैवंदीआम्ब। द०–पैवंदी आम, अल्फन। ता०–वट्टुमांगमरम। अं०–ग्राफ्टेड मैंगो (*Grafted Mango*)।

वानस्पतिक कुल – भल्लातक-कुल (आनाकार्डिआसी *Anacardiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – आम भारतवर्ष एवं पूर्वी द्वीप-समूह का आदिवासी पौधा है। यह ग्रीष्म-प्रधान देश का वृक्ष है। शीत-प्रधान देश में नहीं उगता। छोटा नागपुर एवं भारतवर्ष के दक्षिण में यह पहले जंगली होता था। हिमालय पर भूटान से कुमायूं तक इसके जंगली पौधे मिलते हैं। उत्तर पश्चिम प्रान्त को छोड़ कर अब सारे भारतवर्ष में इसके वृक्ष लगाये गये हैं, और काफी फूलते-फलते हैं।

परिचय – आम के बड़े-बड़े सदाहरित वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ अपत्रक (*Simple*) तथा एकान्तर क्रम से स्थित (*Alternate*) किन्तु शाखाग्रों पर पुंजीभूत तथा महुए के पत्तों की तरह एक डंठल पर चारों ओर आवर्त रूप से स्थित होती हैं। अतः आम के वृक्ष छायादार होते हैं। प्रगल्भ पत्ते १५ से ३० सें० मी० या ६ से १२ इंच लम्बे ३.७५ से ५ सें० मी० या १॥ से २ इंच चौड़े, लम्बोतरे (*Oblong*) अथवा अभिलट्वाकार-मालाकार (*Obovate lanceolate*), अखण्डित (*Entire*), रचना में चर्मिल (*Coriaceous*) तथा गाढ़े हरे रंग के और चिकने होते हैं। पत्र-तट या पत्तों के किनारे प्रायः लहरदार (*Wavy*) होते हैं। आधार की ओर चौड़ाई कम होती जाती है। मुख्य शिरा से अनेक शिराएँ निकल कर दोनों पार्श्वों में धनुपाकार टेढ़ी होकर (*Arcuate*) फैलती हैं। पर्णवृन्त या डंठल

(*Petiole*) २.५ सें० मी० से ६.२५ सें० मी० या १ से २॥ इंच तक लम्बा होता है और आधार पर अधिक मोटा होता या फूला होता है। नये पत्ते (नूतन पल्लव), कोमल, गुलाबी रंग के तथा स्वाद में कसैले होते हैं। इनको मसल कर सूंघने से एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि मालूम होती है। माघ में इसमें पुष्प आना प्रारम्भ हो जाता है, और फागुन के महीने (मार्च-अप्रैल) में इसके पेड़ शाखाग्रों पर मंजरियों या पुष्प-गुच्छों (*Terminal panicles*) से लद जाते हैं। सहपत्र या कोणपुष्पक पत्र (*Bracts*) अंडाकार एवं खातोदर (*Concave*) होते हैं। आम की पुष्प मंजरियों को मौर (बौर) कहते हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार की मीठी सुगंधि होती है। आम जब बौरने लगता है, तो उसके कोमल कल्लों एवं मंजरी पर एक प्रकार का विशेष गंधि चिपचिपा निर्यासवत् पदार्थ स्रावित होकर लगा रहता है। आम के फूल व्यास में $\frac{3}{4}$ सें० मी० या $\frac{3}{10}$ इंच तथा पीताभ-हरित वर्ण के होते हैं। एक ही मंजरी में केवल नरपुष्प तथा द्विलिंगी (*Bisexual*) दोनों ही प्रकार के फूल होते हैं। वाह्य कोष (पुटचक्र) या बाह्य दलपुंज (कैलिक्स *Calyx*) ४-५ खंडों वाला, जो पतनशील होते हैं। आभ्यन्तर कोष (*Corlla*) भी ४-५ खण्डों वाला होता है। पुष्पासन आभ्यन्तर कोष के अन्दर उठा हुआ और मांसल (*Disc fleshy*) होता हैं। पुंकेसर संख्या में ४-५, जो उक्त पुष्पासन पर लगे होते हैं। इनमें सांगोपांग एवं पूर्ण विकसित (*Perfect*) एक ही होता है, जो शेष पुंकेसरों की अपेक्षा बड़ा होता है। अण्डाशय अवृन्त (*Sessile*) होता है। चैत के आरम्भ में बौर झड़ने लगते हैं और सरसई (सरसों के बराबर फल) बैठने लगती है। जब कच्चे फल बैर के बराबर हो जाते हैं, तब वे टिकोरे कहलाते हैं। जब वे पूरे बढ़ जाते हैं और उनमें जाली (अस्थि) पड़ने लगती है, तब उन्हें अँबिया या केरी कहते हैं। डाल से तोड़ने पर इससे जो एक प्रकार का चिपचिपा मंद तारपीनवत् गंधमय द्रव (गम-रेजिन *gum-resin*) स्रावित होता है, वह अत्यंत दाहक (*Irritant*) होता और शरीर के जिस भाग पर लग जाता है, वहाँ जलन एवं प्रदाह पैदा करता है, और एक प्रकार का काला धब्बा डाल देता है। इसे चोपी या चेंपी कहते हैं। आकार-परिमाण के विचार से आम अनेक प्रकार का होता है। कभी-कभी तो वह पेवन्दी बेर से भी छोटा किन्तु कभी छोटी हांडी या बच्चे के शिर के बराबर का होता है। सामान्यतया आम का अष्ठिफल (*Drupe*) ५ सें० मी० से १५ सें० मी० या २ से ६ इंच लम्बा, आकार में लम्बगोल (*Ovoid*) तथा चपटा (*Laterally compressed*) होता है। इसके अग्र भाग की ओर एक छोटा-सा नुकीला उभार (*Protuberance*) होता है। गुठली (*Putamen*) प्रायः रेशेदार (*Fibrous*) होतीं है।

उपयोगी अंग – फल, बीजमज्जा (*Kernel*), छाल एवं कोमल पत्र तथा गोंद (*Gum*)।

मात्रा – (१) बीजमज्जा का चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

(२) क्वाथ–५ से १० तो०।

(३) स्वरस (कोमल पत्तियों का)–१ से २ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) गुठली (*Nut*)–आम की सुखाई हुई गुठली पंसारियों के यहाँ मिलती है। आम के आकार-प्रकार भेद से गुठली के आकार-प्रकार में भी काफी भिन्नता पायी जाती है। सामान्यतः गुठली दीर्घाण्डाकार या ईषत् वृक्काकार, दोनों पार्श्वों से दबी हुई, चपटी तथा ३.७५ सें० मी० से ६.२५ सें० मी० या १॥ से २॥ इंच लम्बी और २.५ से ३.७५ सें० मी० या १ से १॥ इंच तक चौड़ी होती है। खूब सूख जाने पर गिरी ढीली पड़ जाती है और ऊपर के कड़े छिलके या जाली (*Shell*) के भीतर गतिशील जान पड़ती है। गुठली का अन्तस्तर (*Endocarp*) भी कड़ा (*Woody*) होता है। मींगी (*Seed*) सर्वथा वृक्काकार होती है, जो सूखने पर बहुत कड़ी, सफेद अथवा भूरे रंग की और ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १॥ से २ इंच लंबी एवं २.५ से ३.७५ सें० मी० या १ से १॥ इंच चौड़ी तथा दो दलों (*Cotyledons*) में विभक्त होती है। ताजी होने पर यह लगभग तिहाई और लम्बी तथा चौड़ी, सफेद एवं नरम होती है। मींगी के ऊपर भी दो पतले झिल्लीदार आवरण होते हैं, जिनमें बाहरी झिल्ली सफेद तथा एरिल (*Aril*) के स्वभाव की होती है। अन्तस्तर में भी दो झिल्लियाँ होती हैं, जो परस्पर चिपकी रहने से पृथक् नहीं मालूम होतीं।

गिरी का स्वाद हल्का तीतापन लिये कसैला होता है। किन्तु इसमें कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती। ताजे कच्चे आम की गिरी को चाकू से काटने पर चाकू एवं गिरी दोनों पर बैंगनी धब्बा पड़ता है, जो टैनिक एसिड की उपस्थिति का द्योतक होता है।

गोंद (*Gum*) – आम के पेड़ से निकले हुए गोंद के विभिन्न-आकार के छोटे-बड़े विषमाकार टुकड़े (*Irregular-shaped pieces*) अनेक अत्यंत सूक्ष्म अश्रुविंदुवत् टुकड़ों के परस्पर मिलने से बना हुआ साधारण लाली लिये हुए पीले या रक्ताभ धूसर वर्ण का होता है। जल में विलेय होता है; किंतु रंग एवं विलेयता में बहुत भिन्नता देखने में आती है। गोंद में एक मंद सुगंधि भी आती है, जो ताजे गोंद में अधिक स्पष्ट होती है। शुष्क गोंद भंगुर (*Brittle*) तथा तोड़ने पर टूटा-तल (*Fractured surface*) मटमैले रंग का होता है।

छाल (*Bark*) – छाल बाहर से गहरे भूरे रंग की और लम्बाई के रुख विदारयुक्त (*Cracks*) भीतर से पीताभ श्वेत या लाली लिये हुए, स्वाद में कसैली एवं प्रियगंधियुक्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों की बीज मज्जा (सुखा कर) तथा गोंद को अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में रखें।

संगठन – (१) कच्चा फल–जलीयांश २१%, जल विलेय सत्व (*Watery Extract*) ६१.५%, काष्ठोज या सेलूलोज (*Cellulose*) ५%, अविलेय भस्म (*Insoluble ash*) १.५% और विलेय भस्म १.६%। विलेय भस्म में पोटाश, तिन्तिड़ीकाम्ल (टारटेरिक एसिड *Tartaric acid*), निम्बूकाम्ल (सीट्रिक एसिड *Citric acid*) तथा सेवाम्ल (मेलिक एसिड *Malic acid*) होतेहैं। फल में विटामिन सी (*C*) प्रचुर मात्रा में होता है। पका फल – इसमें पीत रंजक द्रव्य पाया जाता है, जो हरित रंजक पदार्थ (*Chlorophyll product*) होता है और ईथर, कार्बन वाइसल्फाइड तथा बेंजोल में शीघ्र घुल जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें अत्यल्प मात्रा में गैलिक एसिड तथा सीट्रिक एसिड भी होता है।

छाल एवं बीज – में टैनिन (*Tannin*) होती है।

वीर्यकालावधि – बीजमज्जा–६ महीने से १ वर्ष। गोंद–कई वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष (पका फल–गुरु, स्निग्ध)। रस–कषाय (पका फल–मधुर; कच्चा फल–अम्ल)। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म। बीजमज्जा–कफ-पित्तशामक, स्तम्भन, मूत्र संग्रहणीय, रक्तरोधक, व्रणरोपण। कच्चा फल–त्रिदोषकारक, (आग में भूना हुआ कच्चा फल) दाहप्रशमन, रोचन, दीपन, रक्तपित्त-कोपक। पक्व फल–वात-पित्तशामक, स्नेहन, अनुलोमन, सारक, हृद्य, शोणितास्थापन, वृष्य, बल्य, वर्ण्य, बृंहण। अहितकर–आम के कच्चे फल को अधिक खाने से मन्दाग्नि, विषमज्वर, रक्तविकार, विबन्ध एवं नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं। निवारण–सोंठ, जीरा, काला नमक। चरकोक्त (सू० अ० ४) हृद्य, छर्दिनिग्रहण, पुरीष-संग्रहणीय एवं मूत्रसंग्रहणीय। महाकषायों तथा कषायस्कन्ध एवं अम्लस्कन्ध के द्रव्यों में आम्र या इसके अंगों का उल्लेख है।

मुख्य योग – पुष्यानुगचूर्ण, आम्रपानक, आम का मुरब्बा।

विशेष – अंशुघात या लू लगने पर आम के पन्ने का वाह्या-भ्यन्तरिक प्रयोग बहुत उपयोगी होता है। एतदर्थ इसका सर्वांग पर लेप तथा रोगी को पिलाया भी जाता है।

आमड़ा (आम्रातक)

नाम। सं०–आम्रातक, कपीतन, मर्कटाम्र। हिं०–अ(आ) मड़ा। बं०–आमड़ा। म०–आँबाड़ा। गु०–जंगली आंबो। अं०–हॉग प्लम ट्री (*Hog-plum tree*), वाइल्ड मैंगो (*Wild Mango*)। ले०–स्पांण्डिआस पीन्नाटा (*Spondias pinnata* (*L.*) *Kurz*) (पर्याय-*S. mangifera Willd.*)।

वानस्पतिक कुल–भल्लातक-कुल (आनाकार्डिआसी *Anacardiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई एवं वाहरी हिमालय (विशेषतः घाटियों में) ६१४.४० मीटर या ३,००० फुट की ऊंचाई तक तथा दक्षिण के पठार में आमड़े के स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। वंगदेश में इसके वृक्ष बहुतायत से देखे जाते हैं। समस्त भारतवर्ष में वगीचों में आमड़े के लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। कच्चे एवं पके फल फसल में तरकारी वाजार में विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – आमड़े के पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं, जिसकी छाल खाकस्तरी रंग की तथा तना

एवं शाखाएँ चिकनी होती हैं। पत्तियाँ विपमपक्षाकार (*Imparipinnate*), १२-१८ इंच लम्बी तथा एकान्तर-क्रम से स्थित होती हैं। आपाततः देखने में यह जिगनी की पत्तियों की तरह, किन्तु उसकी अपेक्षा मोटी एवं कोमल होती हैं। पत्रक संख्या में ९-११, सम्मुख क्रम सेस्थित, ७.५-२२.५ सें० मी०×३.७५-१० सें० मी० (३-९ इंच× १॥-४ इंच) वड़े, रूपरेखा में आयता-कार-अंडाकार, नुकीले एवं लम्बे अग्र वाले, सरलधार युक्त, मुलायम एवं चिकने होते हैं, और पतझड़ के पूर्व पीले पड़ जाते हैं। पत्रक वृन्त छोटे होते हैं। आम के ही साथ इसका भी पतझड़ होता है। मंजरी (वौर) भी आपाततः देखने में उसी की तरह होती है, जिसमें छोटे-छोटे (व्यास में ५ मि० मी० या $\frac{१}{५}$ इंच) सफेद फूल होते हैं। इसमें छोटे-छोटे फल घौंद में लगते हैं। फल अक्टूवर मास में पकता है। वृक्ष में पका फल रहते-रहते पतझड़ हो जाता है और मंजरियाँ निकल आती हैं। कोई-कोई वृक्ष वर्ष में दो वार फलता है। कच्चे वाल फलों का अचार वनाया जाता है और पके फल खटमिट्ठे होते हैं, जो यों ही खाये जाते हैं। इसके वड़े-वड़े एवं प्राचीन वृक्ष में पुराने कटे या चिड़चिड़ाये भाग से प्रचुर परिमाण में एक रालदार गोंद टपकती है, जो वृक्ष के तने के समीप भूमि पर मोटे, चिपड़े, लंवोतरे या विपम खण्ड रूप में एकत्रित अथवा थोड़ी मात्रामें वृक्ष पर ही लगी पायी जाती है। साधारण वृक्ष की भाँति इसके पौधे भी पैदा किये जाते हैं। शाखाओं को काट कर लगा देने से भी वृक्ष तैयार हो जाते हैं। आमड़े के वृक्ष के सभी अंगों में एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि पायी जाती है।

उपयोगी अंग – फल, गोंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – आमड़ा का फल अंडाकार, गुदार, मसृण, कुक्कुटाण्ड या वड़े वेर के वरावर विविध आकार का, २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१$\frac{१}{२}$ इंच) लम्वा, $\frac{१५}{१०}$ सें० मी० से $\frac{३५}{१०}$ सें० मी० ($\frac{३}{४}$–१$\frac{१}{४}$ इंच) मोटा, कच्चे पर हरा तथा कसैलापन लिए खट्टा, और पकने पर पिलाई लिये तथा कुछ खटमिट्ठा होता है। इसकी गुठली लंवोतरी, काष्ठीय, वहुत कड़ी, वाहर से तंतुल, अन्दर पंचकोष्ठीय होती है, जिनमें केवल १-३ कोष्ठ वीजोत्पादक होते हैं। ीज रूपरेखा में भालाकार होते हैं। फल में आम से मिलती-जुलती विशिष्ट सुगंधि होती है। स्थानभेद से किसी फल में तो गूदा वहुत कम तथा कसैला और अधिक खट्टा तथा किसी में गूदा अधिक रसदार तथा अधिक मधुरता युक्त होता है। गोंद–इसका निर्यास पिलाई लिये या हलके भूरे रंग का वृक्ष से लटकता हुआ मिलता है। वाह्यतः यह चिकना एवं चमकीला होता है। यह जल में अर्धविलेय होता है, और वहुत-सी वातों में ववूल के गोंद से मिलता-जुलता है। छाल–चिकनी, सुगंधित, मसालेदार तथा खाकी रंग की होती है।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–अम्ल, कपाय, मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य-उष्ण (कच्चा), शीत (पक्व)। प्रधान कर्म–कच्चा फल कफपित्तवर्धक एवं वातशामक तथा पका फल वातपित्तशामक और कफवर्धक होता है। इसके अतिरिक्त यह रोचन, हृद्य, रक्तस्तम्भक, सारक, दाहप्रशमन, वल्य, वृष्य, वृंहण भी होता है। छाल एवं पत्र स्तम्भक होते हैं।

विशेष – चरकोक्त हृद्य महाकपाय में आम्रातक भी है।

आलूबोखारा

नाम। फा०, हिं०–आलू(वु)वोखारा। फा०–आलू, आल-वोखारा। अ०–इज्जास, इजास। सं०–आरुक? आलुक? पं०, म०, गु०–आलुवुखारा। मा०–आलु-वुखारो। क०–अअर। अं०–दी वोखारा प्लम् (*The Bokhara plum*)। ले०–प्रूनुस कॉम्यूनिस *Prunus communis Huds.* (पर्याय–प्रूनुस डोमेस्टिका *Prunus domestica Linn.*)। वक्तव्य – 'आलूवोखारा' से इसका काला और वड़ा भेद तथा 'आलू' से वोखारा का पीला भेद अभिप्रेत होता है, जो ताजगी की दशा में कहरुवाइ पीला, उज्ज्वल, खटमिट्ठा एवं स्वादिष्ट होता है। आलूवोखारा वागी एवं पहाड़ी भेद से २ प्रकार का होता है। वागी कई प्रकार का होता है। उसमें एक प्रकार वड़ा और काला है। इसी को साधारणतया 'आलूवोखारा' कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – तरुणी-कुल (रोजासी *Rosaceae*)।

प्राप्तिस्थान – यह मध्य एशिया, पश्चिमी समशीतोष्ण हिमालय में गढ़वाल से कश्मीर तक १५२३ मीटर से २१३३.६ मी० (५,००० से ७,००० फुट) की ऊँचाई तक जंगली होता या लगाया जाता है। परन्तु वोखारा

प्रांत का सर्वोत्तम समझा जाता है। हिंदुस्तान में आलूबोखारा, अफगानिस्तान एवं वलख आदि से आता है।

संक्षिप्त परिचय – आलूबोखारा के गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं, जिसके शाखाग्र कभी-कभी तीक्ष्ण (*Spinescent*) होते हैं। कोमल शाखाएँ मृदुरोमावृत होती हैं। पत्तियाँ लट्वाकार या लट्वाकार–भालाकार (*Ovate-lanceolate*), जिनके किनारे सूक्ष्मदंतुर (*Serrate*) होते हैं। पुष्प १-१ या गुच्छों में निकलते हैं। फल गोलाकार तथा वाह्यभित्ति (*Pericarp*) गूदेदार होती है।

उपयोगी अंग – वीज रहित शुष्क फल तथा गोंद (समग़ फारसी)।

मात्रा – ३ से ५ दाना (फल)। विरेचनार्थ–१५-२० दाना।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजार में आलूबोखारा के शुष्क फल सर्वत्र मिलते हैं, जो लगभग ३६.२५ मि० मी० या १। इंच लम्बा, काला और झुर्रीदार होता है। भीतर का गूदा कालाई लिए भूरा वा लाल होता है। यह निर्गन्ध एवं खटमिट्ठा, चाशनीदार होता है। गोंद–इसके गोंद को फ़ारसी गोंद कहते हैं। यह वब्बूल के गोंद (अरवी गोंद–गम अरेविक) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को ग्रीष्म ऋतु में ग्रहण कर गुठली निकाल कर सुखा लें, और अनार्द्र-शीतल स्थान में कार्क युक्त शीशियों में रखें। पक्व फलों को संग्रह कर पहले कृत्रिम ऊष्मा द्वारा कुछ सुखा कर वाकी धूप में सुखा लेते हैं।

संगठन – फल में मैलिक एसिड (*Malic acid*), सिट्रिक अम्ल (*Citric acid*), शर्करा, एल्व्युमिनॉइड्स, पेक्टिन एवं भस्म आदि पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, अम्ल। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में शीत एवं तर है। आलूबोखारा दाह-प्रशमन, तृष्णाहर, पित्तरेचक और पित्तशामक है। यह पैत्तिक शिरःशूल, पित्तज्वर, वमन, तृषा, कामला, दाह, हृल्लास और पित्तप्रधान रक्तविकारों में दिया जाता है। तृषा तथा हृल्लास में इसको मुख में रख कर चूसना चाहिए अथवा इसका शर्वत दिया जाता है।

मुख्य योग – शर्वत आलू।

विशेष – यूनानी वैद्यक में आलूबोखारे का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता है। यह एक उपयोगी द्रव्य है। इसका व्यवहार सभी चिकित्सकों को करना चाहिए।

इङ्गुदी

नाम। सं०–इङ्गुदी, तापसद्रुम। हि०–हिंगोट, इंगुआ। खर०–इंगन। म०–हिंगण। गु०–इंगोरियो। मा०–हिंगोरिया। ले०–वालानीटेस एजिप्टिआका (*Balanites aegyptiaca Linn.*) *Del.* (पर्याय – वालानीटेस रॉक्सवर्गी *B. roxburghii Planch.*)

वानस्पतिक कुल–इङ्गुदी-कुल (सिमारुवासी *Simarubaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के शुष्क प्रदेशों के जंगलों में विशेषतः दक्षिण-पूर्वी पंजाव, राजस्थान, दिल्ली, सिक्कम, गुजरात, विहार, खानदेश एवं दकन आदि में होती है। इसके शुष्क पक्व एवं अधपके फल सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इंगुदी के कांटेदार छोटे वृक्ष ३ मीटर से ६ मीटर (१०-२० फुट के) ऊंचे या गुल्म होते हैं। पत्तियाँ द्विपत्रक और अवृन्त तथा पत्रक अखण्ड, अण्डाकार अभिलट्वाकार या अभिप्रासवत् और $1\frac{1}{2}$ से $2\frac{1}{2}$ सें० मी० (॥।-१। इंच) लम्बे होते हैं। पत्तियों के पार्श्व में दृढ़, स्थूल कण्टक होते हैं। वसन्त में पुष्पागम होता है; तथा पुष्प पीले रंग के और सुगन्वित होते हैं और ४-१० के गुच्छों में निकलते हैं। फल अष्ठिल (*Drupe*), अंडाकार, प्रायः २.५ से ५ सें० मी० (१-२ इंच) लम्बे और गुठली पंचकोणीय, एक-गह्वर तथा एक-वीज होती है। फल-मज्जा स्वाद में मधुर तो होती है, किन्तु इसमें एक उग्र अरुचिकारक हीक होती हैं। फल मज्जा में सेपोनिन होने से कहीं-कहीं इसका उपयोग सिल्क एवं सूई के रेशों को साफ करने के लिए किया जाता है। गुठली में छेद कर अन्दर से साफ करके सुंघनी रखने की नसदानी वनाने के लिए भी उपयोग करते हैं। फल एव वीजों से प्राप्त तैल का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – फल एवं तैल।

मात्रा – फलमज्जा–$\frac{1}{2}$ ग्राम से $\frac{1}{2}$ ग्राम (५ से १० रत्ती)। तैल–५ से २० बूंद। वाह्य प्रयोग के लिए आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इंगुदी का अष्ठिल फल अंडाकार (*Oval drupe*) होता है, जो ५ सें० मी० (२ इंच) तक

लम्बा तथा ३.७५ सें० मी० (१॥ इंच) तक चौड़ा होता है। वाह्य भित्ति (*Epicarp*) प्रायः चिकनी तथा भंगुर होती है, और इस पर लम्वाई के रुख लगभग दस हलखात होते हैं। फलमज्जा (*Mesocarp*) हरिताभ वर्ण की तथा स्पर्श में सावुन की तरह चिकनी होती है जो अंदर की पंचकोणीय गुठली के साथ चिपकी होती है। गुठली के अन्दर एक वीज होता है, जिसमें प्रचुर मात्रा में तैल पाया जाता है। इन वीजों एवं फल-मज्जा को कोल्हू में पेर कर इंगुदी का तैल प्राप्त किया जाता है। बाजारों में जो फल मिलते हैं, उनमें अधपके फल भी मिले होते हैं। इनका वाह्य तल झुर्रीदार होता है तथा देखने में हरिताभ-पीत वर्ण के होते हैं। इंगुदी का तैल सुनहले पीले रंग का तथा स्वादहीन होता है, तथा इसका आपेक्षिक गुरुत्व (१५.५° सें० पर) ०.९१८५ होता है, और यह ०° तापक्रम पर जम जाता है। इसमें सल्फ्यूरिक एसिड मिलाने से तेल का रंग भूरा हो जाता है, जो तैल को काफी हिलाने पर भी ज्यों-का-त्यों वना रहता है। सूर्यप्रकाश के प्रभाव से इंगुदी का तेल शीघ्रतापूर्वक विरंजित हो जाता है। सेपोनिफिकेशन वेल्यू—१९५.२। आयोडीन वेल्यू—८८.३।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में पक्व फलों का संग्रह कर छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। तैल को अम्वरी रंग की शीशियों में वंद कर अँधेरे एवं शीतल स्थान में रखें। इसे सूर्यप्रकाश से वचाना चाहिए।

संगठन – फल-मज्जा में म्युसिलेज, शर्करा एवं सेपोनिन (१.३२%) तथा कुछ सेन्द्रिय अम्ल आदि तत्त्व पाये जाते हैं। वीज की गिरी में ४३% तक तैल (इंगुदी का तेल) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – तैल–दीर्घकाल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, कटु (फल मज्जा–तिक्त, मधुर)। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–कृमिघ्न। प्रधानकर्म–अल्प मात्रा में फल मज्जा शिरोविरेचन एवं कफनिःसारक, विषघ्न तथा अधिक मात्रा में रेचक एवं कृमिघ्न होती है। इसके अतिरिक्त यह मूत्रल, शुक्रघ्न एवं कुष्ठघ्न है। इसका तेल केश्य, व्रणरोपण, जन्तुघ्न एवं त्वचारोगनाशक होता है।

विशेष – इंगुदी की क्रिया वहुत-कुछ सेनेगा की भाँति होती है। इसका उपयोग भी इमलसन वनाने के लिए किया जा सकता है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) शिरोविरेचन द्रव्यों में इङ्गुदी का भी उल्लेख है।

इन्द्रायण (इन्द्रवारुणी)

नाम। सं०–इन्द्रवारुणी, विशाला। हिं०–इन्द्रायन, फरफेंदू, इनारून। पं०–कौड़तुंवा, कौड़तुम्मा। म०–इन्द्रावण। गु०–इन्द्रावण। वं०–राखालशशा। अ०–हं(हि)ज़ल, अल्क़म। फा०–ख़र्पुज़ेतल्ख़। अं०–कोलोसिन्थ (*Colocynth*), विटरगोर्ड (*Bitter Gourd*)। ले०–सीट्रूल्लुसकोलोसीथिस (*Citrullus colocynthis Schrad.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड-कुल (कूकुरविटासी *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारत, विशेषतः उत्तर पश्चिमी रेगिस्तानी प्रदेश, मध्य एवं दक्षिण प्रदेश एवं गुजरात आदि। विदेशों में अरेविया, सीरिया, मिस्र, स्पेन, सिसली और मोरक्को आदि में इसकी वेल जंगली रूप से उपजती है।

संक्षिप्त परिचय – लता–प्रसरी, वहुवार्षिक, छोटी इन्द्रायण की लता की अपेक्षा लम्वी। मूल–वहुवार्षिक। तना–द्विधा, त्रिधा विभक्त सूत्रयुक्त। पत्र–दोनों पृष्ठों पर रोमश, ऊपरी पृष्ठ पीताभ हरित और अधःपृष्ठ भस्म के समान वर्ण का, श्वेत धारियोंयुक्त, ३.७५ से ६.२५ सें०मी० (डेढ़ से ढाई इंच) लम्वा और २.५ से ५ सें० मी० (एक से दो इंच) चौड़ा। फल–आकार में लम्वगोल। अपक्वफल—वर्ण–हरित, श्वेताभ हरितधारियों युक्त। पक्व फल का रंग पीताभ-भूरा होता है। वीज–पीताभ-कृष्ण, गोल और चिपटा। वर्षा में इसकी वेल उत्पन्न होती है, वर्षांत में फल लगते और शरद के अन्त में पकते हैं। इसी समय इसके सूखे हुए फल वाजार में लाये जाते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, फल का गूदा, वीज एवं पत्र।

मात्रा – ६ ग्राम से १२ ग्राम (½ से १ तोला)।
मलचर्ण–१ से ३ ग्राम (१ से ३ माशा)।
फल-मज्जा–१ से २ ग्राम (१ माशा से २ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजार में इन्द्रायण के पक्व फल के काट कर सुखाये टुकड़े मिलते हैं। कभी सुखाये गूदे के

टुकड़े पृथक् रूप से भी होते हैं, जो सफेद या पीताभ-श्वेत एवं हल्के गूदेदार टुकड़ों के रूप में होते हैं। फलत्वक् प्राय: १ मिलिमिटर मोटा तथा बाह्यत: मटमैले पीले रंग का, चिकना तथा कणदार और अन्तस्तल श्वेताभ वर्ण का होता है, जिसपर वीजों की रूप रेखा के खातोदर चिह्न पाये जाते हैं। इन्द्रायण के गूदे में प्राय: कोई गंध तो नहीं होती, किन्तु स्वाद में यह अत्यंत तिक्त (तीता) होता है। वीज—इन्द्रायण के वीज रूपरेखा में कुछ अण्डाकार-से, चपटे तथा २५ मि० मी० या ७/२५ इंच लम्वे एवं ४.१ मि० मी० से ५ मि० मी० या १/६ से १/५ इंच तक चौड़े होते हैं। वीजत्वक् (*Testa*) पीताभ-श्वेत से गाढ़े-भूरे-रंग का, चिकना तथा वहुत कड़ा होता है। वीज-मज्जा में एक स्थिर तैल (*Fixed oil*) पाया जाता है। अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम ४ प्रतिशत; वीज अधिकतम ५ प्रतिशत; फलत्वचा-अधिकतम २ प्रतिशत; पेट्रोलियम् ईथर में घुलनशील सत्व अधिकतम ३ प्रतिशत।

संग्रह एवं संरक्षण — पक्व फल-मज्जा एवं शुष्कमूल को ग्रहण कर निर्वात, शुष्क और शीतल स्थान पर मुखवन्द किये हुए डिव्वों या शीशियों में रखना चाहिए।

संगठन — कोलोसिंथिन, कोलोसिंथेटिन, पेक्टिन, गोंद एवं भस्म ११ प्रतिशत। वीज में—स्थिर तैल १५ प्रतिशत, एल्व्यूमिन ६ प्रतिशत, भस्म ३ प्रतिशत।

वीर्यकालावधि — छिलकायुक्त इन्द्रायन के गूदे में चार वर्ष तक और छिलका उतारे हुए में १ वर्ष तक वीर्य शेष रहता है। इसलिए उचित यह है कि आवश्यकता पड़ने पर ही गूदा निकालें। गूदा को अरवी में शहम हंज़ल कहते हैं। मात्र हंज़ल शब्द से उसका फल विवक्षित होता है।

स्वभाव — गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस—तिक्त, कटु। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—तीव्र रेचक, कफपित्त-नाशक कृमिहर, शोथघ्न, उदररोगनाशक, कामलानाशक, श्वास-कासहर, कुष्ठघ्न, आमनाशक, गुल्मनाशक, गर्भाशयोत्तेजक, प्रमेहघ्न, विषघ्न, केश्य आदि। इन्द्रायण की फल-मज्जा एवं मूल भेदन एवं रेचन होने से इनका प्रयोग उदररोग, गुल्म, कामला, आमवात, तथा कृमि आदि रोगों में किया जाता है। इससे पेट में मरोड़ आकर पतले दस्त होते हैं। वृहदन्त्र एवं यकृत् पर इसकी क्रिया मुसव्वर की भाँति होती है। मरोड के निवारण के लिए इसके साथ सोंठ, सौंफ, खुरासानी अजवायन आदि मिलाकर देना चाहिए। तिक्त, कटु होने से अल्प मात्रा में यह कटु-पौष्टिक भी होता है। वीजों में रेचक गुण नहीं होता। वीच तैल केश्य एवं खालित्य-पालित्यनाशक होता है। चरकोक्त (सू० अ० १) षोडश मूलिनी द्रव्यों में तथा (सू० अ० २ में कहे) विरेचन द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) श्यामादि गण एवं अधोभागहर द्रव्यों में भी (गवाक्षी नाम से) है।

मुख्य योग — नारायण चूर्ण, अभयारिष्ट, मतवूख़ हफ्त रोजा, हव्व शहमहंज़ल, हव्व इन्द्रायन आदि।

विशेष — गर्भिणी स्त्रियों, वच्चों एवं दुर्वल व्यक्तियों में इसका प्रयोग यथासंभव नहीं अथवा सतर्कता से करना चाहिए।

इमली (अम्लिका)

नाम। सं०—अम्लिका, चिञ्चा। हिं०—इमली। वं०—तेतुल। म०—चिंच। गु०—आँवली। क०—तम्वर। ते०—चिन्त। ता०—आंविलम्, शिञ्जम्, पुलि। मल०—कोलपुलि। अ०—तम्रे हिन्दी। फा०—खुर्माए हिन्दी। अं०—टेमरिंड (*Tamarind*)। ले०—टामारींडुस ईन्डिकुस (*Tamarindus indicus Linn.*) इसकी अंगरेजी एवं लेटिन संज्ञा टेमरिण्डस्। इसकी अरवी संज्ञा 'तमरहिन्दी' से, जिसका अर्थ 'हिन्दी (भारतीय) खजूर' है, व्युत्पन्न है।

वानस्पतिक कुल — शिम्वी-कुल : अम्लिका-उपकुल (*Family*: लेगूमिनोसी : सेसालपीनिआसी : (*Leguminosae : Sub-family Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान — समस्त भारतवर्ष। सघन छाया होने के कारण सड़कों के किनारे भी इसके वृक्ष लगाये जाते हैं। मध्य प्रदेश, मध्य भारत एवं दक्षिण भारत में इसके जंगली वृक्ष भी प्रचुरता से पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अफरीका (विशेषत: मिस्र), अमेरिका, व्रह्मा एवं पूर्वीय भारतीय द्वीप में भी इमली होती है।

संक्षिप्त परिचय — इमली के ऊंचे वृक्ष होते हैं, तथा प्रसिद्ध हैं। पत्र, सपत्रक, १० से २० युग्म (*Pairs*); पत्रक अभिमुख क्रम से स्थित तथा ५ से १२.५ सें० मी० (२ से ५ इंच) लम्वे प्राक्ष या रेकिस (*Rachis*) पर धारण किये जाते हैं। पत्रक (*Leaflet*) १.२५ सें० मी० से १.७५ सें० मी० (१/२ से ७/१० इंच) लम्वे, ३/८ से १/२ सें० मी०

($\frac{3}{20}$ से $\frac{1}{5}$ इंच) तक चौड़े, रेखाकार-आयताकार (*Linear oblong*), कुण्ठिताग्र तथा अग्र पर प्रायः कुछ कटे से (*Emarginate*) चिकने तथा रचना में चर्मिलसम (*Subcoriaceous*) होते हैं। पत्रकों के डंठल बहुत छोटे (*minutely petioluled*) होते हैं। पुष्प गुच्छबद्ध होकर नीचे को लटके रहते हैं (*flowers in few-flowered lax subterminal racemes*)। बाह्य दलपुंज नलिका (*Calyx tube*) शंक्वाकार, आभ्यन्तरकोप में तीन दलपत्र, जिनमें २ छोटे तथा बीच का बड़ा एवं टोप के आकार का (*hooded*) होता है। यह पीताभ वर्ण के तथा लाल धारियों से चित्रित होते हैं। प्रगल्भ पुंकेशर संख्या में तीन। गर्भाशय संवृन्त (*Stipitate*) होता है, जिसका वृन्त पुष्प बाह्यकोप नलिका से संसक्त (*Adnate*) होता है। फली (*Pod*) ७.५ से २२ सें० मी० (३ से ८ इंच) लम्बी तथा २ से २.५ सें० मी० ($\frac{4}{5}$ से १ इंच) चौड़ी, लम्बगोल एवं चपटी तथा अस्फोटी होती है, जिसका बाहरी छिलका कड़ा एवं पकने पर चिनक कर टुकड़ों में पृथक् होता (*Crustaceous brittle epicarp*) है। अन्दर १.२५ सें० मी० ($\frac{1}{2}$ इंच) व्यास के गोले, चपटे गाढ़े भूरे रंग के कई बीज (चिआँ) होते हैं। पुष्पागम ग्रीष्म में होता है, और फल जाड़े के अन्त में पकते हैं।

उपयोगी अंग – फल का गूदा, बीज, पत्र, पुष्प एवं क्षार (फलत्वक् एवं काण्डत्वक् का)।

मात्रा – फल–६ ग्राम से २४ ग्राम (६ माशा से २ तो०)।
बीजचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम (१ से ३ माशा)।
क्षार–६२५ मि० ग्रा० से २ ग्राम (५ से १५ रत्ती)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इमली की फलियाँ ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० (३ से ६ इंच) लम्बी, चपटी तथा अंगुली के बराबर मोटी, सीधी या हांसिए की भाँति वक्र होती हैं, जो डंठल के सहारे अधोमुख लटकी (*Pendulous*) रहती हैं। फली की बहिर्भित्ति (*Epicarp*) कच्ची अवस्था में तो गूदे से संसक्त-सी रहती है; किन्तु पकने पर भंगुर एवं कड़ी हो जाती है, जो तोड़ने पर आसानी से पृथक् हो जाती है। इसके अन्दर गूदेदार मध्यभित्ति (*Mesocarp*) होती है। इसके अन्दर पतली किन्तु कुछ चिमड़ी एवं झिल्लीदार अन्तर्भित्ति (*Endocarp*) होती है, जिसके अन्दर बीजों की पंक्ति होती है। कच्ची अवस्था में गूदा हरिताभ एवं अत्यंत खट्टा होता है, किन्तु पकने पर यह लाल या लालिमा लिये भूरे रंग का होता है। मध्यभित्ति के पृष्ठ एवं उदर संधि पर २ मोटी नसें डंठल से निकल कर अग्र तक फैली होती हैं। इनसे छोटी-छोटी शाखाएँ, निकल कर दोनों तलों पर फैली रहती है। साधारणतया दो प्रकार की इमली की फलियाँ मिलती हैं। एक का गूदा लाल रंग का तथा बीज अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। इस प्रकार की इमली औषधीय प्रयोगों के लिए अधिक उत्तम समझी जाती है। यह गुजरात की तरफ अधिक होती है। वहाँ से काफी मात्रा में इसका निर्यात विदेशों को होता है। दूसरी प्रकार की इमली जो पहली की अपेक्षा अधिक होती है, इसका गूदा लालिमा लिये भूरे रंग का होता है। बाजारों में फलियों के छिलका एवं बीज निकाल कर गूदेदार भाग के पिण्ड से मिलते हैं, जिनमें छिलके के छोटे-छोटे टुकड़े, नसें एवं यदा-कदा बीज भी मिले होते हैं। औषधिनिर्माण में इनको पृथक कर व्यवहृत करना चाहिए। पुराना होने पर यह काले रंग का चिपचिपा पिण्ड-सा हो जाता है। संरक्षण की दृष्टि से दूकानदार इसमें कुछ नमक या चीनी मिला देते हैं, किन्तु औषधीय प्रयोग के लिए यह ठीक नहीं समझा जाता। इमली में फलकी भाँति हल्की सुगंधि (*Odour fragrant and fruity*) तथा स्वाद में रुचिकारक खटमिट्ठा होता है। बीज–इमली के बीज (चिआँ) लालिमा या कालिमा लिये भूरे रंग के, चमकदार, रूप रेखा में चतुष्कोणाकार, चपटे अथवा लट्वाकार गोलाकार, १.५ सें० मी० ($\frac{3}{5}$ इंच) लम्बे, १.२५ सें० मी० ($\frac{1}{2}$ इंच) तक चौड़े एवं $\frac{1}{2}$ सें० मी० ($\frac{1}{5}$ इंच) मोटे होते हैं। चपटे तलों पर फीके रंग का एक बड़ा चिह्न-सा (*Scar or areole*) दिखाई पड़ता है, जिस पर चारों ओर सूक्ष्म रेखाएँ फैली-सी (*radially striated*) मालूम पड़ती हैं। बीज द्विदल (*Cotyledons*) कड़े होते हैं, और उनके अन्तर्मध्य प्रांकुर या प्लूम्यूल (*Plumule*) एवं मूलांकुर या रेडिकल (*Radicle*) स्थित होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसको मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र एवं शीतल स्थान में रखना चाहिए। खटाई के कारण

इमली के गूदे को ताम्र पात्रों में नहीं रखना चाहिए। पकी इमली छील कर उसके बीज, रेशा आदि निकाल कर गूदे के पिण्ड बना कर उसे तेल से चिकना कर दें तो नहीं खराब होता।

संगठन – इसमें सिट्रिक अम्ल ४ से ६%, टार्टरिक एसिड ५ से ८%, पोटासियम् बाइटार्ट्रेट ४.७ से ६% तथा अंशतः मेलिक एसिड (*Malic acid*) एवं २५% तक शर्करा तथा अघुलनशील तत्त्व १२ से २०% तक होते हैं।

वीर्यकालावधि– २ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–अम्ल (पकी हुई-मधुर, अम्ल)। विपाक-अम्ल। वीर्य-उष्ण। प्रधान कर्म– पकी इमली का गूदा–रोचन, तृष्णा–छर्दिनिग्रहण, दीपन, यकृदुत्तेजक एवं भेदन तथा हृद्य एवं रक्तवातप्रशमन। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष हैं। अहितकर–कासजनक। निवारण–शर्करा और उन्नाव। प्रतिनिधि–शांत्यर्थ आलूबोखारा एवं जरिश्क। बीज– प्रमेहनाशक, संग्राही, वीर्यस्तम्भन एवं वीर्यशोपण। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष। अहितकर- कब्ज उत्पन्न करता है। निवारण–शर्करा वा यवासशर्करा। क्षार–मत्रल, उदरशूल एवं गुल्मनाशक।

मुख्य योग – जुवारिशे तम्रे हिंदी, शर्वते तम्रे हिंदी (अम्लिका पानक)।

विशेष – इमली का पन्ना या शर्वत बनाते समय उसको जल में भिगोने के उपरान्त हाथ से न मला जाय। केवल निथारा हुआ पानी और शर्करा मिला कर पिलायें, क्योंकि इमली को मलने से उसका स्वाद खराब हो जाता है। इमली के बीज से मग्ज निकालने के लिए इसको कुछ दिन जल में भिगो कर या भाड़ में भुनवा कर छील लेते हैं। किन्तु भुनवाने से रूक्षता बढ़ जाती है।

इलायची छोटी (सूक्ष्मैला)

नाम। सं०–एला, सूक्ष्मैला, द्राविडी। हिं०–छोटी इलाची (इलायची, लाची), गुजराती इलायची, सफेद इलायची। बम्बई–मलबारी इलायजी। गु०–एलची, मलबारी एलची। ता०–एलम्। अ०–काकुलः सिगार, शूशमीर। फा०–हीलबवा, हील, हील उन्सा, इलायची खुर्द। अं०–लेसर कार्डेमम् *Lesser Cardamom*, कार्डेमम् *Cardamom*। ले०–(१) डोंड़ी या फल–कार्डामोमी फ्रुक्टुस *Cardamomi Fructus*। (२) वनस्पति– एलेट्टारिआ कार्डामोमुम *Elettaria cardamomum Maton*। औपधीय प्रयोग के लिए इसका भेद मिनिस्कुला *Elettaria Cardamomum Maton var. miniscula Burkill.* अधिक उत्तम समझा जाता है।

वानस्पतिक कुल–आर्द्रक-कुल (जिंजिवरासी *Zingiberaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिणी और पश्चिमी भारतवर्ष, मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर, मदुरा और कोचीन के पहाड़ी जंगलों में यह आप से आप होती है, और इसकी खेती भी की जाती है। वहाँ के रबर और चाय के क्षेत्रों में अपेक्षाकृत इसकी खेती अधिक होती है। ब्रह्मा एवं लंका में भी छोटी इलायची की जंगली जातियाँ पायी जाती हैं।

संक्षिप्त परिचय – छोटी इलायची के १.२० मीटर से २.४०- २.७० मीटर (४ से ८-९ फुट) ऊंचे सदाहरित, बहु-वर्षायु शाकीय पौधे (*Perennial herb*) होते हैं, जिनका भौमिक काण्ड कन्दवत् (*Fleshy rhizome*) है। इसके ऊपरी भाग से इधर-उधर ८-२० पत्रवेष्टित खड़ी डालियाँ निकलती हैं। पत्तियाँ एकान्तर क्रम से स्थित (*Alternate*), ३० सें० मी० से ६० सें० मी० (१२ इंच से २४ इंच) तक लम्बी ७.५ सें० मी० (३ इंच) तक चौड़ी, रूपरेखा में आयताकार–भालाकार (*Oblong lanceolate*) होती हैं। ज्वार-बाजरे के पत्तों की भाँति फलकमूल काण्ड को आवेष्ठित (*Sheathing*) किये होता है। पुष्पवाहक दण्ड काण्ड के अधः भाग से निकलता तथा भूमि पर लटका होता है। मंजरियाँ गुच्छमय (*Panicle*) ३० से ६० सें० मी० (१ से २ फुट) लम्बी होती हैं तथा सफेद और लाल फूलों को धारण करती हैं। छोटी इलायची के लिए तर एवं छायादार जगह अधिक उपयुक्त होती है। यह कुहरा तथा समुद्र की ठंढी हवा पाकर खूब बढ़ती है। क्वार–कार्तिक में बोयी जाती है, अर्थात् इसकी बेहन डाली जाती है। १७-१८ महीने के बाद जब पौधे लगभग १२० सें० मी० या ४ फुट के हो जाते हैं, तब उन्हें खोद कर सुपारी के पेड़ों के नीचे लगा देते हैं। एक ही वर्ष के भीतर यह चैत-वैसाख में फूलने लगता है, और आपाढ़-सावन तक डोंड़ी लगती है। क्वार-कार्तिक में फल तैयार हो जाता है। इसके गुच्छे

या घौद तोड़ लिये जाते हैं और दो-तीन दिन सुखा कर फलों को मल कर अलग कर लिया जाता है। पेड़ १०-१२ वर्ष तक रहता है। पत्तों एवं पुष्प को मसल कर सूंघने से इलायची की सुगंधि आती है। छोटी इलायची की ढोढ़ी या डोड़ा अथवा फल त्रिकोष्ठीय सामान्य स्फोटी फल (*3-celled loculicidally dehiscent capsule*), अंडाभ लम्बोतरा (*Ovoid*) होता है और कच्चेपन पर हरे रंग का, पकने के वाद पीला तथा सूखने पर सफेद हो जाता है। फलों के अन्दर बीज भरे होते हैं, जो बीजोपांग या एरिल (*Aril*) से आवृत होते हैं। कुर्ग से इलायची गुजरात होकर अन्य प्रान्तों को जाती थी, इसीसे इसे गुजराती इलायची भी कहते हैं। स्थानभेद से इलायची के पौधों एवं फलों के स्वरस में थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है, जिसके आधार पर मलावारी, मैसूरी तथा मैंगलोर की इलायची कहते हैं।

उपयोगी अंग – बीज।

मात्रा – इलायची बीज ½ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इलायची का फल अथवा ढोंढ़ी १ सें० मी० से २ सें० मी० (⅖ से ⅘ इंच) लम्बी, अण्डाकार (*Ovoid*) अथवा लम्वगोल एवं किंचित् चतुष्कोणाकार (*Oblong*) तथा किंचित् त्रिपार्श्व (*Three-sided*) होती है। अग्र (*Apex*) की ओर नोकदार, जहाँ पुष्प के अवशिष्ट (*Remains of the flower*) लगे होते हैं और आधार या मूल (*Base*) गोलाकार होता है अथवा डंठल का अवशेष (*Remains of the stalk*) लगा होता है। छिलका कागज की तरह मोटा हरिताभ वादामी रंग का होता है, जो कभी चिकना होता है और किसी-किसी फलमें लम्वाई के रुख धारियाँ (*Longitudinally striated*) पड़ी होती हैं। फल में ३ कोष्ठ (*Loculi*) होते हैं, जिनमें दो-दो कतारों में बीज ठसाठस भरे होते हैं। मैसूरी इलायची प्रायः अंडाकार (*Oval*), १ सें० मी० (⅖ इंच) से २ सें० मी० (⅘ इंच) लम्बी एवं हल्के क्रीम रंग की (*Pale Cream*) होती है, जिसका छिलका प्रायः चिक्कण (*Smooth surface*) होता है। मलावारी इलायची अपेक्षाकृत छोटी, किन्तु मोटी (*Plumper*) होती है, जिसके छिलके पर प्रायः अनुलम्ब दिशा में रेखाएँ या झुर्रियाँ (*Somewhat wrinkled longitudinally*) होती है। मंगलौरी इलायची मलावारी से मिलती-जुलती है, किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक गोलाकार (*Globular*), लम्बाई में वड़ी तथा छिलका कुछ खुरखुरा होता है। अलेप्पी की इलायची (*Aleppy cardamom fruits*) मालावारी से मिलती-जुलती है, किन्तु छिलका प्रायः हरिताभ या हरित-पीत वर्ण का होता है। वाजार में मिलने वाली उत्तम एवं असली छोटी इलायची में मैसूरी इलायची ही अधिक मात्रा में होती है। ताजी, मोटी एवं तीव्र सुगंधि युक्त इलायची उत्तम एवं ग्राह्य होती है। बीज ४ मि० मि० (⅙ इंच) लम्बे, ३ मि० मि० (⅛ इंच) चौड़े कुछ-कुछ त्रिकोणाकार (नोक तेज नहीं), कड़े तथा ललाई लिये काले अथवा हल्के भूरे रंग के होते हैं। वाह्य तल झुर्रीदार जिसमें अनुप्रस्थ दिशा में ६-८ झुर्रियाँ (*Transversely rugose with 6-8 rugae*) पायी जाती हैं। बीज सूक्ष्म रंगहीन एरिल (*Aril*) द्वारा आवृत होते हैं। बीजों के अन्दर का भाग (*Perisperm*) सफेद होता है। बीजों में एक उग्र मनोरम सुगंधि आती है तथा स्वाद में चरपरा एवं सुगंधित होते हैं। खाने के बाद मुँह में ठंढक-सी प्रतीत होती है। भभके में इसके बीजों से एक सुगंधित तेल, (इलायची का तेल) आसुत किया जाता है, जो हल्के पीले रंग का होता है। स्वाद एवं सुगंधि इलायची के बीजों-जैसी होती है। २० तोले इलायची के बीजों से लगभग १ तो० तेल प्राप्त होता है।

विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम १%।

भस्म—अधिकतम ६%।

अम्ल में अघुलनशील भस्म—अधिकतम ३½% ऐल्कोहॉल (४५%) में विलेय सत्व—लगभग ७%।

बीजों में उड़नशील तेल—कम से कम ४%।

मिलावट एवं स्थानापन्न द्रव्य – लंका की जंगली या देशी इलायची (*Elettaria cardamomum var major Thwaites*) के फल भी वाजारों में छोटी इलायची के नाम से वेचे जाते हैं। किन्तु ये असली इलायची की अपेक्षा अधिक लंबोतरे होते हैं तथा छिलका भी वहुत झुर्रीदार (*Shrivelled appearance*) तथा गाढ़े खाकस्तरी-भूरे (*Dark greyish-brown*) रंग का होता है। इसके बीजों की लम्बाई में सिर्फ ४ झुर्रि

पायी जाती हैं। आमोमुम केपुलागा (*Amomum kepulaga Sprague and Burkill*) Family; *Zingiberaceae*) के फल भी इलायची के नाम पर दे दिये जाते हैं। इनके वीजों पर १४ झुर्रियाँ पायी जाती हैं और इनको मुँह में चावने से वड़ी इलायची के वीजों की भाँति कर्पूर-सी सुगंधि मालूम पड़ती है। छोटी इलायची में भी कभी-कभी अर्क खींचे हुए फल (*Exhausted Cardamom*) मिला दिये जाते हैं। इनका रंग भी फीका होता है और इनमें सुगंधि भी कम पायी जाती है। कभी-कभी कच्चे या अप्रगल्भ फल (*Immature fruits*) अथवा कीड़ों-मकोड़ों से खाये हुए फल भी मिला दिये जाते हैं। कभी-कभी फटे फल (*Partially opened fruits*) भी मिले होते हैं। उपर्युक्त सभी प्रकार के फल औषधीय दृष्टि से हीनकोटि के तथा अग्राह्य हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पके हुए फलों को अनार्द्र-शीतल स्थान में अच्छी तरह डाटवन्द पात्रों अथवा वड़ी शीशियों में रखना चाहिए। इसके वीज वायु में खुला रहने से विगड़ जाते हैं, अतएव विना जरूरत उनको छिलके से वाहर नहीं निकालना चाहिए। वीजों को निकालने के वाद तुरंत प्रयुक्त करना चाहिए। इनका संग्रह नहीं करना चाहिए। इलायची के तेल को अम्वरी रंग की शीशियों में अच्छी तरह डाट वंदकर ठंढी एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें ३ से ८ प्रतिशत एक उड़नशील तेल पाया जाता है, जिसमें प्रधानतः टर्पीनीन (*Terpinene*) एवं टर्पिनिओल (*Terpineol*) होता है। उत्पत् तेल के अतिरिक्त ३-४% श्वेत सार (स्टार्च) एवं पीत रंजक तत्त्व आदि भी होते हैं।

वीर्यकालावधि – ३ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु, मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–दुर्गन्धनाशक, रोचन, अनुलोमन, हृद्य, हृल्लास–वमन एवं तृष्णानाशक, श्वास-कासहर। अहितकर–फुफ्फुस को। निवारण–वंशलोचन एवं वड़ी इलायची। प्रतिनिधि–वड़ी इलायची, कवावचीनी, हव्व वल्साँ। चरकोक्त (सू० अ० २) शिरोविरेचन द्रव्यों में तथा (सू० अ० ४ में कहे गये) श्वासहर एवं अंगमर्दप्रशमन महाकषायों के द्रव्यों में और (वि० अ० ८) कटुस्कन्ध के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में एला या छोटी इलायची का भी पाठ है।

मुख्य योग – एलादि गुटिका, एलादिमोदक, एलाद्यरिष्ट, एलादिचूर्ण, एलादिक्वाथ, अर्क इलायची।

विशेष – औषध्यर्थ छोटी इलायची का ग्रहण ब्रिटिश फॉर्माकोपिआ तथा इंडियन फॉर्माकोपिआ में भी किया गया है। इसके वीज अनेक योगों में पड़ते। टिंक्चर कार्ड० को० भी जो लाल रंग के द्रव के रूप में मिलता है, छोटी इलायची का योग है। इसका उपयोग मिक्सचर्स को रंगीन करने तथा वातानुलोमन कर्म के लिए सहायक औषधि के रूप में वहुशः प्रयुक्त किया जाता है।

इलायची वड़ी (वृहदेला)

नाम। सं०–वृहदेला, स्थूला, वहुला, पृथ्वीका। हिं०–वड़ी इलायची (लाची, इलाची), लाल (सुर्ख) इलायची, वँगला इलायची, नेपाली इलायची, इलाची पूर्वी। वं०–वड़एलाच, वड़एलाची, नेपाली एलाच। गु०–एलचा। अ०–काकुले कुवार, काकुले जकर, काकुले जंजी, हील जकर। फा०–हील कलाँ। अं०–दी ग्रेटर कार्डेमम् (*The Greater Cardamom*)। ले०–आमोमुम सूवूलाटुम (*Amomum subulatum Roxb*)।

वानस्पतिक कुल – आर्द्रक-कुल (ज़िंजिवरासी *Zingiberaceae*)।

प्राप्तिस्थान – यह नेपाल, सिक्कम, आसाम की तराई में दलदली या नम भमि तथा वंगाल एवं लंका में जंगली रूप से होती हैं; तथा उक्त स्थानों में इसकी खेती भी की जाती है। दक्षिण भारत में समुद्र तट के समीपवर्ती स्थानों में भी कहीं-कहीं पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – वड़ी इलायची के ६० से १२० सें० मी० (२-४ फुट) ऊंचे सदाहरित वहुवर्षायु क्षुप होते हैं। काण्डस्तम्भ एक तथा कंदोद्भवी होता है। पत्तियाँ आर्द्रक की पत्तियों की तरह तथा ३० से ६० सें० मी० (१-२ फीट) लम्वी एवं ७.५ से १० सें० मी० (३–४ इंच) चौड़ी होती हैं। पत्तियों को मसलने से वड़ी इलायची की विशिष्ट सुगंधि आती हैं। पुष्प-रक्ताभ श्वेत अथवा पीत तथा ५-७.५ सें० मी० (२-३ इंच) लम्वी गुच्छमय मंजरियों में धारण किये जाते हैं। फल २.५ सें० मी०

(१ इंच) तक लम्बे, रक्ताभ धूसर वर्ण के तथा गुच्छों में लगते हैं। फलों में एक विशिष्ट प्रकार की हल्की सुगन्धि-युक्त भूरे रंग के बीज भरे होते हैं। पुष्पागम वर्षा ऋतु में तथा फलागम शरद् ऋतु में होता है।

उपयोगी अंग – फल (बीज) एवं बीजों से प्राप्त तैल।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १.५ ग्राम (४ रत्ती से १॥ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बड़ी इलायची के फल अंडाकार अथवा त्रिपार्श्विक, साधारणतः २.५ सें० मी० (१ इंच) या उंगली के पोर के इतना लम्बा और १.२५ सें० मी० (½ इंच) परिधि में, ललाई लिए भूरा होता है। इसके अग्र (*Apex*) पर तंतुओं का एक गुच्छा लगा होता है, जो प्रायः कालान्तर से झड़ जाता है। कोई-कोई फल इससे भी छोटे होते हैं। छिलका मोटा एवं रक्ताभ धूसरित होता है और लम्बाई के रुख इस पर धारियाँ होती हैं। पकने पर किसी-किसी फल का छिलका स्वयं फट जाता है। बीज छोटी इलायची की तरह, पर उससे बड़े, करीब-करीब गोल तथा किंचित् कोणाकार, भूरे तथा चाबने से कपूर जैसी हल्की सुगंधि आती है। ताजी अवस्था में ये बीज, बीजकोष में एक प्रकार के मधुर, चिपचिपे गूदे (*ark viscid saccharine pulp*) द्वारा संलग्न होते हैं। सूखने पर उक्त द्रव जाता रहता है।

विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%।

तैल – बीजों से एक पीत वर्ण का उड़नशील तैल प्राप्त होता है, जिसमें काफी मात्रा में सिनीओल (*Cineole*) पाया जाता है। इसकी गंध एवं स्वाद बीजों की भाँति होता है। इसका प्रयोग औषधियों को सुस्वादु बनाने के लिए किया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बंगाल में इससे मिलती-जुलती दूसरी जाति जिसे मोरंग-इलायची कहते हैं प्रचुरता से पायी जाती है। इसका वानस्पतिक नाम आमोमुम् आरोमाटिकुम् (*Amomum aromaticum* Roxb.) है। इसके फलों एवं बीजों का व्यवहार बड़ी इलायची के स्थानापन्न के रूप में किया जा सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को संग्रह कर अनार्द्र एवं शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में संग्रहीत करना चाहिए।

संगठन – बड़ी इलायची के बीजों में एक उड़नशील तेल पाया पाया जाता है, जिसमें काफी मात्रा में सिनिओल (*Cineole*) होता है।

वीर्यकालावधि – जब तक बीज छिलके के अन्दर रहता है, २ वर्ष तक इसकी शक्ति बनी रहती है। छिलके रहित बीजों में १ वर्ष तक वीर्य रहता है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–छोटी इलायची की भाँति।

मुख्य योग – जुवारिश अनारैन।

विशेष – बड़ी इलायची, छोटी इलायची की उत्तम प्रतिनिधि है, और उसकी अपेक्षा काफी सस्ती है।

इसबगोल (ईषद्गोल)

नाम। सं०–ईषद्गोल, अश्वकर्णबीज, स्निग्धजीरक (नवीन)। हिं०–इसबगोल, इसरगोल। गु०–ओ(ऊ)थमी जीरूं। अ०–बज्रकतूना। फा०–अस्पग़ोल। बम्ब०, पं०–इसपगोल। अं०–इस्पगोल (*Ispagul*), स्पॉजेल सीड्स (*Spogel Seeds*), सिलियम् सीड्स (*Psyllium Seeds*)। ले०–इस्पागुला *Ispaghula* (*Ispgh.*)। वनस्पति का नाम—**प्लांटागो ओवाटा** (*Plantago ovata* *Forsk.*)। इसके सभी नाम प्रायः फारसी भाषा के 'अस्पग़ोल' (अस्प—घोड़ा+ग़ोल=कान) से व्युत्पन्न हैं। इसका बीज घोड़े के कान-जैसा होता है, इसलिए इसको इस नाम से अभिहित किया गया।

वानस्पतिक कुल – ईषद्गोलादि-कुल (प्लांटाजिनासी (*Plantaginaceae*)।

प्राप्तिस्थान – इसका मूल उत्पत्तिस्थान फ़ारस है। पंजाब, सिंध के मैदानों तथा सतलज के पश्चिम की ओर की नीची पहाड़ियों पर भी उगा हुआ मिलता है। पश्चिम की ओर यह स्पेन तक होता है। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों, विशेषतः गुजरात में इसकी न्यूनाधिक खेती भी की जाती है। भारतवर्ष में इसका काफी मात्रा में आयात फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – इसबगोल के ९० सें० मी० (३ फुट) तक ऊंचे, प्रायः काण्डहीन, कोमल एक वर्षायु क्षुप होते हैं, जो प्रायः कोमल रोमावृत होते हैं। पत्तियाँ देखने में धान की पत्तियों के समान ७.५ से २२.५ सें० मी० (३ से ९ इंच) तक लम्बी ·६ सें० मी० (¼ इंच) तक चौड़ी, लम्बी-रेखाकार तथा अग्र की ओर नुकीली या कम चौड़ी और फलक पर तीन स्पष्ट नाड़ियाँ होती हैं। पत्तों के किनारे सरल या दूर-दूर दन्दानों (*Distantly*

toothed) वाले होते हैं। पुष्पध्वज अर्थात् पुष्पदंड या स्केप (*Scape*) गेहूँ की वाली की भाँति टहनी के सिरे पर निकलता है, जो पत्तियों के ऊपर दिखाई देता है अथवा कभी पत्तियों से छोटा होता है। पुष्प छोटे-छोटे तथा लम्वगोल अथवा अण्डाभ या वेलनाकार मंजरियों (*Ovoid or cylindric spikes, ½ to 1½ inches long*) में निकलते हैं। फल ५/६ सें० मी० (१/३ इंच) लम्वा, लम्वगोल तथा सामान्य स्फोटी अर्थात् कैप्यूल (*Capsule*) होता है, जिसका ऊपरी आधा भाग टोप की भाँति स्फुटन में खुलता है। अन्दर नौकाकार अनेक छोटे-छोटे वीज भरे होते हैं।

उपयोगी अंग – वीज (इसवगोल) एवं वीजत्वक् (ईसवगोल की भूसी)।

मात्रा – वीज–३ ग्राम से ६ ग्राम (३ से ६ माशा)।

फांट तथा हिम के लिए–६ ग्राम से ११.६ ग्राम (६ माशा से १ तो०)।

भूसी–१ ग्राम से ३ ग्राम (१ से ३ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इसवगोल के वीज नौकाकार, कड़े, पारभासी (*Translucent*), गुलावी लिये खाकस्तरी रंग से (*Pinkish-grey*) भूरे रंग के, ५/१६ सें० मी० (१/८ इंच) तक लम्वे एवं ५/३२ सें० मी० (१/१६ इंच) से भी कम चौड़े होते हैं। इसका एक तल उन्नतोदर (*Convex*) तथा एक नतोदर (*Concave*) होता है। उन्नतोदर तल के मध्य में लालिमा लिये भूरे रंग का एक चमकदार तथा अंडाकार चिह्न होता है। नतोदर तल में मध्य में नाभि या वृंतक अर्थात् हाइलम (*Hilum*) होती है, जो एक महीन सफेद झिल्ली से आवरित होती है। इसवगोल के वीजों में कोई विशेष गंध नहीं होती और स्वाद में यह लुआवी (*Mucilaginous*) होते हैं।

१०० वीजों का भार कम-से-कम ०.१७ ग्राम और अधिकाधिक ०.२२ ग्राम। अन्य सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम २%। भस्म—अधिकतम ३%। अम्ल में अघुलनशील भस्म–अधिकतम ६%। परीक्षण—२५ मि० लि० आयतन की कार्कयुक्त एक शीशे की परख नलिका (*Stoppered cylinder*) में २० मि० लि० के चिह्न तक जल भर दें। इसमें १ ग्राम इसवगोल डाल कर २४ घंटे तक रखा रहने दें। वीच-वीच में कभी-कभी इसको हिलाते रहें। २४ घंटे के वाद नलिका को खूब हिला कर १ घंटे तक रख दें। इस प्रकार १० मि० लि० आयतन की वृद्धि वीजों में होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – इसवगोल की जाति के अन्य अनेक पौधों के वीज भी असली इसवगोल से स्वरूपतः एवं क्रिया में मिलते-जुलते हैं। अतएव इनका उपयोग स्वतंत्र रूप से इसवगोल नाम से अथवा मिलावट करने के लिए उपयोग किया जाता है :–(१) प्लांटागो आम्प्लेक्सि-काउलिस (*Plantago amplexicaulis Cav.*) से श्यामता लिये भूरा इसवगोल प्राप्त होता है, जो प्रायः भारतीय वाजारों में उपलव्ध होता है। ये वीज भी रंग रूप में इसवगोल ही की तरह और नोकदार, परन्तु इससे वड़े (औसतन १/६ इंच दीर्घ) होते हैं। यह पंजाव, मालवा एवं सिंध के मैदानों में स्वयंजात होता है और दक्षिण यूरोप तक फैला हुआ है। फारस से भारतवर्ष में प्रचुर मात्रा में इसका आयात होता है। वारतंग (प्लांटागो माजोर *Plantago major Linn.*) भी इसव-गोल की ही जाति का पौधा होता है। इसके पत्र भेड़ की जीभ की तरह होते हैं। वीज, लंवगोल, वनफ़शई लिये काले और इसवगोल जैसे होते हैं। जल में भिगोने पर इसमें इसवगोल जैसा लवाव निकलता है। स्वाद फीका एवं हीकदार होता है। वारतंग हिमालय के निम्न प्रदेश, आसाम, व्रह्मा, कोंकण, पश्चिमी घाट, नीलगिरी, पुल्नी की पहाड़ियाँ, लंका, वलचिस्तान, अफगानिस्तान मलाया तथा यूरोप एवं फारस आदि में प्रचुरता से होता है। इसका भी भारत में आयात प्रधानतः फारस से होता है। प्लांटागो लांसेओलाटा (*P. lanceolata Linn.*) के वीज भी वारतंग तथा इसवगोल के वीजों में मिलाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पंजावी तुख़्म मलंगा (सैल्विया ईजिप्टिआका (*Salvia aegyptiaca Linn. : Family Labiatae*) के वीज भी काफी लवावी होते हैं और इसवगोल में मिलाये जाते हैं। विदेशी ईसवगोल प्लांटागो प्सील्लिउम (*Plantago psyllium Linn.*) एवं प्लांटागो आरेनारिआ (*P. arenaria Waldst and Kit.*) के सुखाये हुए पक्व वीज भी कभी-कभी होते हैं। देशी एवं विदेशी ईसवगोल एक दूसरे के उत्तम प्रतिनिधि हैं।

इसवगोल की भूसी – यह वीजों के आकार के सफेद झिल्लीदार एवं पारभासी (*Translucent*) टुकड़े होते हैं

जो २ से ३ मि० मि० लम्बे तथा १ से ३ मि० मि० चौड़े होते हैं। यह गंधहीन तथा स्वाद में लवावी (*Mucilaginous*) होते हैं। इसमें अन्य सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%; भस्म—अधिकतम २.६% तथा अम्ल में अघुलनशील भस्म—अधिकतम ०.४५% होते हैं।

परीक्षण–इसवगोल के बीजों की भाँति २५ मि० लि० वाली कार्कयुक्त नलिका में २० मि० लि० के चिह्न तक पानी भर कर उसमें १ ग्राम भूसी डाल कर ४ घंटे तक फूलने दें। बीच-बीच में कभी-कभी हिला दें। इसके बाद खूब हिला कर १ घंटे तक छोड़ दें। इस प्रकार भूसी फूल कर जेली की भाँति हो जाती तथा २० मि० लि० आयतन को ग्रहण करती है।

संग्रह एवं संरक्षण – इसवगोल के बीजों एवं भूसी को अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीजों में काफी मात्रा में म्युसिलेज (*Mucilage*), ऐल्ब्युमिन तत्त्व, ५% हल्के पीले रंग का अर्ध घन तैल, फाइटॉस्टेरोल तथा अक्युबिन (*Acubin* : C_{13} H_{19} O_8, H_2O) नामक ग्लूकोसाइड पाया जाता है। भूसी में प्रधानतः म्युसिलेज तथा सेल्लूलोज पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव—गुण–स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–स्नेहन एवं मार्दवकर, अतिसार-प्रवाहिकानाशक। भूसी–वल्य एवं मृदुसारक। यूनानी मतानुसार ईसवगोल दूसरे दर्जे में तर होता है। अहितकर–नाड़ी दौर्वल्यकारक एवं क्षुधानाशक। निवारण–सिकंजवीन। प्रतिनिधि–शीतजनन एवं मृदुकरण के लिए बिहीदाना।

विशेष – इसवगोल का प्रयोग प्रायः एकौषधि के रूपमें किया जाता है। इसवगोल की भूसी पौष्टिक होने के साथ-साथ मृदुसारक भी है। दौर्वल्य एवं विवन्धयुक्त अवस्थाओं में यह एक उत्तम सहायक औषधि है। एतदर्थ इसका सेवन रात्रि में सोने के पूर्व करना चाहिए।

इसरौल (ईश्वरमूल)

नाम। सं०–ईश्वरमूल, नाकुली, ईश्वरी। हिं०–ईश्वरमूल इसरौल, इसरमूल, इशरोल (इ)। फा०–जरावंदे हिंदी। म०–सापसण, सापसन, सापसंद। संथा०–गद; वनझिगना–(वदिया)। अं०–इन्डियन वर्थवर्ट (*Indian Birthwort*)। ले०–आरीस्टोलोकिआ ईन्डिका (*Aristolochia indica Linn*)।

वानस्पतिक कुल – ईश्वर्यादि-कुल (आरीस्टोलोकिआसी *Aristolochiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष की निचली पहाड़ियों एवं मैदानी जंगलों में न्यूनाधिक मात्रा में पायी जाती है। इसकी लताएँ विशेषकर नेपाल एवं बंगाल तथा दक्षिण भारत में कोंकण आदि में बहुतायत से मिलती हैं। सुखाये हुए काण्ड एवं जड़ के टुकड़े अत्तारों एवं देशी दवा बेचने वाले पंसारियों के यहाँ बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसरौल की प्रायः काण्ठीय, बहुवर्षायु प्रतानिनी लताएँ होती हैं। मूलस्तम्भ काण्ठीय और काण्ड पतले, लम्बे, मूल के पास काण्ठीय, तथा नालीदार (*Grooved*) होते हैं। पत्तियाँ प्रायः ५ से १० सें. मी. (२-४ इंच) लम्बी, १.२५ से ३ सें० मी० (½–१.२ इंच) तक चौड़ी (किसी-किसी में ६.२५ से १२.५-१५ सें० मी० या २॥ से ५-६ इंच तक लम्बी, ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक चौड़ी), लम्बाग्र और एक विशेष आकार की होती हैं, जिनमें फलक मूल पर चौड़ी, उसके बाद कम चौड़ी और ऊपर की ओर सब से अधिक चौड़ी होती हैं। उनके कोण में उपपत्र सदृश कोणपुष्पक होता है। फलक मूल से ३–५ शिराएँ प्रायः पाणिवत् क्रम में निकली रहती हैं। पत्ती को मलने से या यूँही सूंघने से एक विशेष प्रकार की तीव्र गंध आती है। इसमें कुआर-कार्तिक में एक विचित्र आकृति के गुड़चियाये हुए बैंगनी रंग के पुष्प लगते हैं, जो १७.५ मि० मी० से ३.७५ सें० मी० या ०.७ से १॥ इंच तक लम्बे होते तथा पत्रकोणों में निकलते हैं। कोणपुष्पक छोटे, प्रासवत् और लम्बाग्र होते हैं। सवर्ण कोश अर्थात् परिदलपुंज (*Perianth*) के पत्र परस्पर संयुक्त होकर आधार पर गोलाकार, फिर नालाकार और अन्त में तुरही की तरह फैले हुए मुख का होता है जो पीछे की ओर १.२५ सें० मी० से १.७५ सें० मी० (½–७⁄१० इंच) लम्बी एक वाह्यवृद्धि से युक्त होता है। परागाशय कुक्षिवृन्त से जुड़े रहते हैं। फूलों के झड़ जाने पर सेकपुतिया जैसे (किन्तु अपेक्षाकृत छोटे) गोल या चौड़ा आयताकार फल लगते हैं, जो फट जाने पर हवाई छतरी जैसा हो जाता है। बीज चिपटे, त्रिकोण और

सपक्ष (*Winged*) होते हैं। औषध्यर्थ इसकी जड़ एवं काण्ड का व्यवहार इसरौल के नाम से होता है।

उपयोगी अंग – मूल एवं काष्ठीय काण्ड।

मात्रा – $\frac{1}{2}$ ग्राम से $\frac{4}{5}$ ग्राम या ५ से १० रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – उक्त काण्ड छोटे बड़े टुकड़ों के रूप में होता है अथवा कभी-कभी पूरे काण्ड के लपेटे हुए वंडल भी होते हैं। रूप रेखा में यह गोलाकार तथा मुटाई में $\frac{5}{8}$ सें० मी० से $\frac{5}{4}$ सें० मी० ($\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ इंच) या कभी अधिक व्यास का होता है। इस पर पत्र एकान्तर क्रम से स्थित होते हैं। काण्डत्वक् मोटी, मुलायम तथा पीताभ-भूरे रंग की होती है, जिस पर अनुलम्ब दिशा में अनेक उन्नत रेखाएँ होती हैं तथा जगह-जगह बहुत छोटे-छोटे ग्रंथिल उत्सेध (*Warty projection*) होते हैं। स्वाद में यह तिक्त एवं कर्पूर के समान गंध से युक्त होता है। इसकी जड़ बहुत लम्बी, ग्रंथिल तथा ऊपर सबसे मोटी तथा नीचे की ओर उत्तरोत्तर पतली छोटी अंगुलि से लेकर अंगुष्ठ से भी अधिक मोटी होती है। मूलत्वक् मुलायम एवं बादामी रंग की होती है। काष्ठीय भाग सफेद होता है। तोड़ने पर जड़ रेशेदार टूटती (*Fracture filerous*) है। स्वाद में यह कुछ तिक्त होती है। काण्ड को छोड़ कर इसमें शेष विजातीय अपद्रव्य अधिकतम २%, अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम १०%, एवं वायव्य काण्ड अधिकतम १०% होने चाहिए।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – संग्रहकर्ता मूल से ईश्वरमूल की अन्य जातियों के मूल एवं काण्ड का भी संग्रह कर लेते हैं, जिनमें निम्न जातियाँ विशेष महत्त्व की हैं। (१) आरीस्टोलोकिआ ब्राक्टेअटा (*A. bracteata Linn.*) इसको कीटमारी, धूम्रपत्रा–(सं०), कीड़ामारी–(गु०, म०) कहते हैं। इसके पत्ते चौड़े हृदयाकार या वृक्काकार होते हैं, और सूखने पर धूम्र के रंग के हो जाते हैं; (२) आरी० टागाला (*A. tagala L.*) कभी-कभी इसकी जड़ एवं काण्ड का भी 'मिलावट असली ईश्वरमूल में कर दिया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – इसरमूल को अच्छी तरह मुखबन्द शीशियों में अनार्द्र-शीतल एवं अँधेरे स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें एक उड़नशील तेल एवं ऐरिस्टोलोकीन (*Aristolochine*) नामक ऐल्केलॉइड तथा कुछ नाइट्रोजन घटित अम्लयौगिक (*Nitrogenous acids*) पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव—गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–त्रिदोषहर, विशेषतः कफवातशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न, अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक, अधिक मात्रा में ज्वरनाशक (विशेषतः विषमज्वर एवं सूतिकाज्वरनाशक), दीपन, ग्राही, रक्तशोधक, मूत्रल, स्वेदजनन, कफनिःसारक, गर्भाशयोत्तेजक आदि।

ईख (इक्षु)

नाम। सं०–इक्षु। हिं०–ईख, ऊख, गन्ना। बं०–इक्षु, आक। पं०–इख। गु०–शेरडी। म०–ऊंस। नेपाल–उक। अ०–कसबुस्सुक्कर। फ़ा०–नैशकर। अं०–शुगरकेन (*Sugarcane*)। ले०–साक्कारुम् ऑफ्फ़ीसिनारुम (*Saccharum officinarum Linn*)।

वानस्पतिक कुल – तृण-कुल (ग्रामिनी : *Gramineae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के समस्त उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में ईख की लम्बे परिमाण में खेती की जाती है। जाड़े के अन्त में तथा ग्रीष्म में समूचा गन्ना बाजारों में बिकता है। इसके रस से बने गुड़, खांड, चीनी, मिश्री आदि सर्वत्र बाजारों में मिलते हैं। पुराना गुड़ तथा इक्षुमूल पंसारियों के यहाँ प्राप्त होते हैं।

संक्षिप्त परिचय – यह शर जाति का क्षुप है, जिसके काण्ड (डंठल) में मीठा रस भरा होता है। इसका काण्ड १.८ से ३.६ मीटर (६-१२ फुट) ऊंचा होता है, जिसपर ६-६ या ७-७ अंगुल पर गाँठें होती हैं, और सिरे पर लम्बी-लम्बी (९० सें० मी० से १२० सें० मी० या ३-४ फुट लम्बी) ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच चौड़ी) पत्तियाँ होती हैं, जिनको गेंड़ा कहते हैं। यह मवेशियों के लिए चारे का काम देती है। पत्तियों के किनारे या तट तेज होते हैं। काण्ड पर भी सूखी, काण्डसंसक्त पत्तियाँ होती हैं, जिनको पताई कहते हैं। यह जलाने तथा छप्पर एवं चटाई बनाने के काम आती है। पुष्पों की चूड़ा सरपत की तरह पक्षतुल्य होती है। ऊख की फसल तैयार होने में प्रायः १२ महीना लग जाता है। जनवरी-फरवरी में गन्ना बोया जाता है, और अगले वर्ष दिसम्बर-

जनवरी तक यह पक कर काटने योग्य हो जाता है। इसके काण्ड को कोल्हू में दबा कर रस निकाला जाता है, जिसे पका कर गुड़, खाँड एवं देशी शक्कर (*Unrefined sugar*) बनायी जाती है। ईख से चीनी की फैक्टरियों में साफ चीनी (*Refined sugar*) बनायी जाती है। इससे मिश्री बनायी जाती है। ईख की अनेकों जातियाँ तथा भेद पाये जाते हैं। काण्ड के रंगभेद से भी इसके अनेकों भेद होते हैं। ईख की उक्त सभी जातियों तथा भेदोपभेदों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(१) ऊख; (२) गन्ना; और (३) पौढ़ा। ऊख का डंठल पतला, छोटा और कड़ा होता है। इसका कड़ा छिलका कुछ हरापन लिये पीला होता है, और जल्दी छीला नही जा सकता। इसकी पत्तियाँ पतली, छोटी, नरम और गहरे रंग की होती हैं। इसकी गाँठों में उतनी जटाएँ नही होतीं केवल नीचे दो-तीन गाँठों तक होती हैं। इसका गुड़, चीनी आदि खाने में अधिक अच्छी होती है। गन्ना ऊख से मोटा और लम्बा होता है; और पत्तियाँ ऊख की अपेक्षा अधिक लम्बी-चौड़ी एवं किनारों पर तीक्ष्ण होती हैं। इसका गुड़, चीनी आदि जो बनता है, उसका रंग साफ नहीं होता। पौंड़ा—यह ऊख की विदेशी जाति है। उत्तर प्रदेश में अवध के जिलों में इसकी खेती अधिक होती है। इसका डंठल मोटा और गूदा बहुत नरम होता है। छिलका कड़ा किन्तु छीलने पर आसानी से उतर आता है। यह यहाँ अधिकतर चूसने के काम आता है।

उपयोगी अंग – रस, मूल एवं रस से बने गुड़, शर्करा सिरका एवं मिश्री आदि।

मात्रा – स्वरस–२ से ५ तोला।

मूल–३ माशा से २ तोला (क्वाथार्थ)।

गुड़ (मृदुकरणार्थ विरेचन औषधियों के साथ)–२ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – ऊख का छिलका पतला किन्तु काफी कड़ा होता है, क्योंकि इसमें प्रचुरता से सिलिका (*Silica*) होती है। काण्ड का अनुप्रस्थ-विच्छेद (*Transverse section*) करने पर परिधि की ओर तन्तुवाहिनी मूल या बंडल (*Fibre-vascular bundles*) काफी मात्रा में पाये जाते हैं। मध्य का भाग मुख्यतः तनुमित्तिक ऊति अर्थात् मृदूतक या पेरेंकाइमा (*Parenchyma*) का बना होता है, जो मुलायम तथा गूदेदार होता है। इनकी कोशाओं में शर्करा विलयन, स्टार्च के कण एवं ऐल्ब्युमिनीय पदार्थ (*Albuminous matter*) भरे होते हैं। मज्जक-कोषाओं (*Medullary cells*) में कुछ पेक्टिन भी पायी जाती है। गुड़—गाढ़े रंग के छोटे बड़े ढेलों के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें तेजी लिए अत्यंत मिठास होती है। अन्त में कुछ तिक्त अनुरस (*Bitterish aftertaste*) की भी अनुभूति होती है। खांड कालिमा लिये लाल रंग के अर्ध घन के रूप में होती है, जिसके द्रवांश एवं अक्रिस्टली अंश (*uncrystallisable portion*) को पृथक् करने से देशी चीनी या शक्कर प्राप्त होती है। आजकल फैक्टरियों में साफ चीनी व्यावसायिक खपत के लिए प्राप्त की जाती है। इससे मिश्री बनायी जाती है। भैषज्य-कल्पना में अब प्रायः साफ चीनी एवं मिश्री का व्यवहार किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – भैषज्य-कल्पना में पुराने गुड़ की आवश्यकता होती है। अतएव गुड़ को शीशे के जारों में अथवा अन्य उपयुक्त पात्रों में रख कर, संग्रहतिथि लिख देनी चाहिए। मूल एवं अन्य उपयोगी अंगों को भी अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में रखें।

संगठन – ईख के रस में इक्षुशर्करा (सुक्रोज), लवाब, राल, वसा एवं जल तथा ग्वानीन (*Guanine*) नामक एक जलविलेय सफेद स्फटिकीय चूर्ण तथा कैलसियम् ऑक्जलेट पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – मूल–१ वर्ष तक। शर्करादि–दीर्घकाल पर्यन्त।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, कफवर्धक, सारक, हृद्य, रक्तपित्तशामक, श्लेष्मनिस्सारक, मूत्रल, बल्य, बृंहण, वृष्य, स्तन्यजनन आदि। यूनानी मतानुसार ईख पहले दर्जे में गरम और दूसरे में तर है। अहितकर–श्लेष्म प्रकृतिको। निवारण–अनीसूं। गुड़–दूसरे दर्जे में गरम और तर तथा पुराना गुड़ गरम और खुश्क है। चीनी–सफेद चीनी पहले दर्जे में गरम और तर। शकर सुर्ख (शकर खाम–लाल चीनी) सफेद शकर की अपेक्षा अधिक गरम होती है। पुरानी होने पर शकर की तरी कम और खुश्की अधिक हो जाती है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–बादाम और दूध।

मुख्य योग – तृणपंचमूल, लऊक आवनैशकरवाला ।

विशेष – भैषज्य-कल्पना में गुड़ एवं शर्करा का उपयोग शर्वत, पानक, अवलेह, पाक, गुलकन्द एवं गुटिका आदि के निर्माण में आधारद्रव्य के रूप में किया जाता है।

उटंगन

नाम। हिं०–उटंगन, उतंजन । भा०बाजार–उतंजन । बम्व०, पं०–उट्टंगन । म०–उटंगन । गु०–उटींगण । ले०–ब्लेफारिस एडूलिस (*Blepharis edulis Pers.*)

वानस्पतिक कुल – वासक-कुल (आकान्थासी : *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – मिस्र, फारस, बलूचिस्तान एवं सिंध तथा पंजाब। भारतवर्ष (बम्वई) में उट्टंगन का आयात मुख्यतः मिस्र तथा फारस से होता है। उत्तर भारत में भी उटंगन के बीजों का संग्रह किया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – उटंगन के कंटीले क्षुप होते हैं। पत्तियाँ २.५ से ५ सें० मी० (१-२ इंच या अधिक) लम्बी, रूपरेखा में रेखाकार या आयताकार किन्तु कम चौड़ी तथा आरावत् दन्तुरधार वाली होती हैं। पत्तियों तथा काण्ड पर सर्वत्र छोटे-छोटे काँटे से होते हैं। शरीर पर पौधा लगने से लाली, खुजली तथा जलन मालूम होती है। पुष्प विदण्डिकशूकी के आकार की मंजरियों (*Spikes*) में निकलते हैं। फल, स्फोटी (*Capsules*) होते हैं। औषधि में बीजों का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – बीज ।

मात्रा – ३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मिलने वाले उटंगन बीजों में फलों (*Capsules*) के टूटे हुए टुकड़े तथा कभी-कभी समूचे फल भी मिले होते हैं, जो $\frac{3}{4}$ सें० मी० ($\frac{3}{10}$ इंच) लम्बे, $\frac{1}{2}$ सें० मी० ($\frac{1}{5}$ इंच) चौड़े, संकुचिताग्र, पार्श्वों में चिपटे (*Laterally compressed*) तथा रेखांकित होते हैं। बाह्य सतह प्रायः चिकना और बादामी (*Chestnut*) रंग का होता है। उक्त फल द्विकोष्ठीय, एवं द्विबीजयुक्त होते हैं। बीज चपटे चमकीले एवं भूरेरंग के तथा रूपरेखा में हृदयाकार तथा कुछ तीसी के बीजों से मिलते-जुलते और रोमाच्छादित होते हैं। बीजों को जल में भिगोने पर ये बाल जल सोख कर फूल जाते और पुष्कल चिपचिपा लवाब उत्पन्न करते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – उटंगन के बीजों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र–शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीजों में एक तिक्त सफेद स्फटिकीय तत्त्व तथा एक अन्य सफेद स्फटिकीय तत्त्व जो तिक्त नहीं होता, ये दो सत्त्व पाये जाते हैं। इसके जलीय सत्व में पुष्कलमात्रा में लवाब और ऐल्व्यूमेन होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–नाड़ीबल्य, मूत्रल, वृष्य, बल्य, बृंहण। यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष (मतांतर से मोतदिल) तथा बाजीकर, वीर्य स्तम्भन, वीर्यपुष्टि (सांद्र) कर, वृक्क एवं कटि को शक्ति देने वाला, मूत्रल तथा पेशाव की जलन को दूर करनेवाला होता है।

मुख्य योग – नपुंसकता, शीघ्रस्खलन, शुक्रतारल्य एवं शुक्रमेह आदि में प्रयुक्त होने वाले माजूनों एवं चूर्णों में उटंगन के बीज भी डाले जाते हैं।

उन्नाव (राजबदर)

नाम। सं०–राजबदर, सौवीर, सौवीरक, सौवीरबदर। हिं०–उन्नाव, तितमबेर, कंडियारी। पं०–संजीत। बम्व०–उन्नाव, खोरासानी बेर। अ०–उन्नाब। फा०–सीलानः, सिंजद जीलानी, सिंजद खोरासानी। अं०–जुजुब (*Jujube*)। ले०–जीज़िफ़ुस साटीवा *Zizyphus sativa Gaertn.* (पर्याय–*Z. vulgaris Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – बदरादि-कुल (र्‌हाम्नासी *Rhamnaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पंजाब, हिमालय प्रदेश (पंजाब से बंगाल तक) कश्मीर, पश्चिमी पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, फारस एवं चीन। भारतवर्ष में इसका आयात फारस एवं चीन से होता है।

संक्षिप्त परिचय – उन्नाव के काँटेदार खड़े गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं, जो देखने में बदर (ज़ीज़िफ़ुस जुजुबा (*Zizyphus jujuba Lam.*) के वृक्ष की भाँति होते हैं, किन्तु इसकी पत्तियाँ बदर की पत्तियों की अपेक्षा बड़ी एवं मोटी तथा एक पृष्ठ पर रोंईदार होती हैं। इसका काष्ठ, छाल एवं फल सब लाल होते हैं। पुष्प पत्रकोणोद्भूत, सवृन्त मुण्डकाकार गुच्छकों में निकलते हैं। बाह्य कोष ५ खण्डों वाला, दलपत्र (*Petals*) ५,

पुंकेशर ५ तथा गर्भाशय द्विकोपीय; कुक्षिवृन्त द्विधाविभक्त (*Style branched*) । फल लाल रंग के गोल अष्ठिफल (*Drupe*) होते हैं, जो झरबेरी के फल से किंचित् वृहत् (१ से १॥ इंच लम्वा और ¾ इंच चौड़ा) होते हैं।

उपयोगी अंग– शुष्क फल, पत्र, छाल एवं गोंद ।

मात्रा–फल–५ से ७ दाने (१५ दाने तक) ।
पत्रचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा– भारतीय बाजारों में उन्नाव का आयात प्रधानतः चीन एवं फारस की खाड़ी पर स्थित बन्दरगाहों से होता है । चीन से आने वाला उन्नाव २.५ से ३.७५ सें० मी० (१ से १॥ इंच) लम्वा और (१. ८५ सें० मी० (¾ इंच) चौड़ा, वेर की तरह गोल होता है। फल का छिलका लाल तथा अत्यंत झुर्रीदार, गूदा गुठली से चिपका हुआ, स्पंज की तरह हल्का और सुषिर, मीठा तथा पीले रंग का होता है । गुठली (*Stone*) कड़ी, झुर्रीदार (*Rugose*) ७-१०वाँ इंच लम्वी, तथा अग्र की ओर नुकीली होती है। वीज लम्वगोल, चपटे, भूरे रंग के तथा ४-१० वाँ इंच लम्वा २-१० वाँ इंच चौड़ा होता है। फारस की खाड़ी से आने वाला उन्नाव चीनी की अपेक्षा छोटा होता है। उत्तम उन्नाव वह है, जो वड़ा, और खूब पका, लाल, गुदार तथा स्वादिष्ठ हो और कसैला यथासम्भव कम-से-कम हो । देशी उन्नाव नेपाल और रंगपुर की ओर से आने वाला भी मधुर और कम कसैला होता है ।

संग्रह एवं संरक्षण– इसे अच्छी तरह मुखवन्द पात्रों में तथा अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए ।

संगठन – फल में लुआव और शर्करा; और छाल तथा पत्तियों में टैनिन होती है। काष्ठ के जलीय सार में एक प्रकार का स्फटिकीय सत्व (उन्नावाम्ल) एवं टैनिन (*Ziziphotannic acid*) और कुछ शर्करा होती है।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह रखने से इसमें २ वर्ष तक वीर्य रहता है।

स्वभाव–गुण–स्निग्ध । रस–मधुर । विपाक–मधुर । वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–कफनिस्सारक एवं उरोमार्दव-कर, रक्तविकारशामक, तृषाहर । पत्रचूर्ण–इक्षुमेह-नाशक है। अहितकर–आमाशय को तथा आनाहकारक एवं कामावसादक । निवारण–शर्करा, अर्कगुलाव, मधु । प्रतिनिधि–सपिस्ताँ (लिसोढा) ।

मुख्य योग – शर्वत उन्नाव । श्वासपथ के रोगों में प्रयुक्त क्वाथों में भी यह सहायक औषधि के रूप में पड़ता है।

उलटकम्वल

नाम। सं०–पिशाचकार्पास । वं०–ओलोटकंवल । हिं०–उलटकंवल । वम्व०–ओलक्तंवोल । अं०–डेविल्स कॉटन (*Devil's Cotton*)। ले०–आब्रोमा आउगुस्टा (*Abroma augusta Linn. f.*) ।

वानस्पतिक कुल – पिशाचकार्पास-कुल (स्टेर्कुलिआसी *Sterculiaceae*) ।

प्राप्तिस्थान– समस्त भारतवर्ष के उष्ण प्रदेशों में विशेपतः उत्तर प्रदेश से सिक्कम ९१४.४० मीटर (३,००० फुट तक) तथा वंगाल, आसाम, खसिया (४००० फुट तक) आदि में इसके जंगली तथा लगाये हुए क्षुप मिलते हैं। दर्शनीय गंभीर रक्तवर्णीय फूलों के लिए यह वागों में भी आरोपित होता है। इसकी मूलत्वक् औषधि में व्यवहृत होती है, जो पंसारियों के यहाँ मिलती है। इसका आयात मुख्यतः वंगाल से होता है।

संक्षिप्त परिचय – उलटकंवल के वड़े गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ रोमावृत होती हैं। पौधे के अधः भाग की पत्तियाँ गोलाकार-हृदयाकार, खण्डयुक्त अथवा दन्तुर किनारों वाली तथा लम्वे वृन्तयुक्त होती हैं। ऊपर की पत्तियाँ लट्वाकार, भालाकार अथवा हृदयाकार १५ सें० मी० (६ इंच) तक लम्वी तथा छोटे वृन्तयुक्त होती हैं। यह ऊर्ध्व तल पर प्रायः चिकनी तथा अधस्तल पर रोमश होती हैं। पुष्प गाढ़े वैंगनी रंग के होते हैं, जो शाखाओं पर या पत्तियों के अभिमुख छोटी मंजरियों में निकलते हैं । पुटपत्र या वाह्य दलपत्र (*Sepals*) पीताभ हरित, २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्वे और रूपरेखा में भालाकार और नुकीले अग्र वाले होते हैं । दलपत्र (*Petals*) गाढ़े वैंगनी रंगके, खातोदर (वाहर की ओर फूले हुए) तथा २.५ सें० मी० (१ इंच) लम्वे होते हैं। फल (*Capsule*) पांच स्पष्ट खंडों एवं कोणों वाला होता है और शीर्ष पर कमल के फल की तरह कटा हुआ या छिन्नाभ (*Truncate*) तथा ५ सें०मी० या २ इंच

तक लम्बा होता है, जिसमें मूली के वीज के वरावर अनेक काले वीज भरे होते हैं। फल के अन्दर वीजों के चारों ओर कड़े रेशम-जैसे तन्तु या लोम होते हैं, जिनको स्पर्श करने से स्थानिक क्षोभ एवं खुजली-सी मालूम होती है। पुष्पागम वर्षा में तथा फलागम जाड़ों में होता है। इसके काण्डत्वक् से रेशम-जैसे मजवूत रेशे प्राप्त होते हैं, जिनका उपयोग रस्सी वनाने के लिए किया जाता है। मूलत्वक् का उपयोग चिकित्सा में होता है।

उपयोगी अंग– ताजी या सुखाई हुई जड़ (विशेषतः छाल–मूलत्वक्)।

मात्रा–ताजा मूलत्वक् स्वरस–१॥ से ३ माशा। त्वक्चूर्ण–१ से १॥ ग्राम या १ से १॥ माशा। ताजा मूल–४ ग्राम से ८ ग्राम या ४ से ८ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – उलटकंवल के जड़ की छाल वाहर से मटमैले भूरे रंग की होती है, तथा वाह्य तल पर अनुलम्व दिशा में झुर्रियाँ पड़ी होती हैं, और जगह-जगह छोटे-छोटे ग्रंथिल चिह्न (*Warty markings*) से होते हैं। अन्तस्तल श्वेताभ पीत वर्ण का तथा अनुलम्व दिशा में सूक्ष्मरेखांकित (*Longitudinally striate*) होता है। शुष्क छाल प्रायः $\frac{1}{2}$ से १ मिलिमिटर मोटी होती है, किन्तु पुराने वृक्षों एवं मोटी जड़ों की छाल अपेक्षाकृत अधिक मोटी होती है। जड़ या छाल को जल में भिंगोने पर अत्यंत लवावी मालूम होती है और देर तक जल में पड़ा रहने पर लवाव पृथक् प्राप्त किया जा सकता है। उक्त मूलत्वक् प्रायः स्वादरहित, चिपचिपी (*Slimy*), गंवहीन तथा चिमड़ी (*Tough*) होती है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण–उलटकंवल की जड़ एवं मूलत्वक् को हवा में शुष्क कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्रशीतल स्थान में रखें।

संगठन – उलटकंवल की जड़ में काफी मात्रा में लुआवी तत्त्व, कार्वोहाइड्रेट, रेजिन, तथा अल्पमात्रा (०.०१ %) में ऐल्केलॉइड तथा (०.१%) जल-विलेय भस्म होती है। इसमें काफी मात्रा में मैंगनीसियम् भी होता है, जो हाइड्रॉक्सी-एसिड के साथ संयुक्तावस्था में पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – ६ मास।

स्वभाव– गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–गर्भाशययोत्तेजक, आर्त्तवजनन तथा वेदनास्थापन एवं गर्भाशयवल्य। उलट कंवल की विशिष्ट क्रिया गर्भाशय पर होती है। इससे आर्त्तव साफ आता तथा नियमित हो जाता है, और आर्त्तवपीड़ाशामक होने से इसका प्रयोग रजोरोध एवं कष्टार्त्तव आदि विकृतियों में किया जाता है। एतदर्थ मूलत्वक् का ताजा स्वरस अधिक उपयुक्त होता है। क्योंकि ऐल्कोहॉल् आदि संरक्षक द्रव्यों के संपर्क से इसके सक्रिय तत्त्व नष्ट हो जाते हैं।

विशेष – प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। किन्हीं विद्वानों ने इसके लिए 'भारद्वाजी' पर्याय का उल्लेख किया है; किन्तु भारद्वाजी 'अरण्यकार्पास' को कहते हैं। पिशाचकार्पास इसका अभिनव संस्कृत नाम है।

उषक

नाम। हिं०, मा०वाजार–उपक, कँादर। अफ़गानी कंदल। अ०–उपक, ऊपज। फा०–उपः, ऊषः। यू०–अमोनियाकोन (*Ammoniakon*)। ले०–डोरेमा आम्मोनिआकुम (*Dorema ammoniacum Don.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल–छत्रक-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Unmbelliferae*):

प्राप्तिस्थान– फारस, अफ़गानिस्तान, यूरोप। उषक का आयात वम्वई वाजार में फारस से होता है। वम्वई इसके व्यापार की वड़ी मंडी है। यहाँ से अन्य वाजारों में भेजा जाता है।

संक्षिप्त परिचय– उपक एक उड़नशील तैल युक्त रालीय गोंद (*Oleo-gum-resin*) होता है, जो प्रधानतः उक्त वनस्पति तथा इसकी अन्य प्रजातियों से भी संग्रहीत किया जाता है। उक्त निर्यास का संग्रह प्रायः मई-जून के महीनों में किया जाता है। जव पौधे में पुष्पागम एवं फलागम हो जाता है, तो एक प्रकार के कीटों द्वारा इसके काण्ड एवं फलादि पर क्षत किया जाता है, जिससे एक गाढ़ा स्राव निकल कर तने एवं फलादि पर एकत्रित हो जाता है। जो स्राव पौधे पर नहीं जमता वह नीचे गिर जाता है। उसका भी संग्रह कर लेते हैं।

उपयोगी अंग – उड़नशील तैलयुक्त रालीय गोंद या निर्यास (*Oleo-gum-resin*)।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १.५ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – फारस से जो उपक आता है, संग्रहकर्ताओं

की असावधानी के कारण उसमें क्षुप के सभी टूटे-फूटे अंग तथा मिट्टी आदि अपद्रव्य भी मिले होते हैं। इससे अश्रुवत् बड़े दाने पृथक् छाँटे जाते हैं, जो सर्वोत्तम एवं अपेक्षाकृत अधिक मूल्य पर बिकते हैं। उपक के अश्रुवत् गोल दानें (५ मि० मी० से २.५ सें० मी० या ⅕ से १ इंच व्यास तकके) या इन दानों की परस्पर मिली हुई बड़ी-बड़ी डलियाँ होती हैं। इनको तोड़ने पर मोम की तरह टूटते हैं, और टूटा तल पीताभ श्वेत होता है। देर तक पड़ा रहने से कालाई लिये हो जाता है, किन्तु भीतर से यह अस्वच्छ दुग्धवत् या पीताभ वर्ण होता है। हल्की गरमी या आर्द्रता से नरम हो जाता है। गंध हल्की और विशेष प्रकार की होती है। स्वाद तिक्त, संक्षोभक और हृल्लासजनक होता है। यूनानी हकीमों के मत से जो सफेद, नरम, स्वच्छ एवं शुद्ध हो और जल में शीघ्र घुलजाय, जिसमें नीलेपन की झलक हो तथा स्वाद में तिक्त हो और जिसमें कुंदुर या जुंदबेदस्तर-जैसी सुगंध आती हो, वह उपक उत्तम समझा जाता है परीक्षण—जल में घोलने पर दुधिया घोल (इमल्सन) बन जाता है; और इस प्रकार प्राप्त इमल्सन में सॉल्यूशन ऑव क्लोरिनेटेड सोडा डालने से इलमसन नारंगी की तरह लाल वर्ण का हो जाता है। दूसरे उपक में अम्बेलिफेरोन (*Umbelliferone*) नहीं पाया जाता।

संग्रह एवं संरक्षण—इसको अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए और आर्द्रता या नमी पात्र के अन्दर न पहुँचे इसका ध्यान रखना चाहिए।

संगठन—उपक में ०.०८ से ०.३०% उत्पत्तैल (६% तक), ६०-७०% रेजिन तथा लगभग २०% गोंद एवं आर्द्रता और भस्म प्रभृति द्रव्य पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि—दीर्घकाल तक।

स्वभाव—गुण—लघु, रूक्ष। रस—तिक्त, कटु। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफवातशामक, शोथहर, लेखन, वातनाशक, नाड़ीबल्य, दीपन-पाचन, अनुलोमन, सारक, उदरकृमिनाशक, यकृत्प्लीहाशोथहर, कफनिस्सारक, मूत्रार्त्तवजनन, स्वेदजनन। शरीर से इसका निस्सरण श्वासनलिका, त्वचा एवं वृक्कों से होता है।

यूनानी मतानुसार उपक दूसरे दर्जे में गरम और पहले में रूक्ष होता है।

विशेष—उपक के गुण-कर्म बहुत-कुछ जवाशीर (*Galbanum*) तथा हींग की भाँति होते हैं।

उस्तखुद्दूस (उस्तूखद्दूस)

नाम। हिं०—धारू; (मा०बाजार)—उस्तूखूद्दूस। अ०—आनिसुल्अरवाह; (पुष्प)—ज़रम, जह्रुल्ज़रम। बम्ब०—अल्फाजन। बं०—तुनतुना। अं०—अरेबिअन या फ्रेंच लेवेंडर (*Arabian or French lavander*)। ले०—लावेंडूला स्टीकास *Lavendula stoechas Linn.*।

वानस्पतिक कुल—तुलसी-कुल (लाबिआटी *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान—यूरोप के भूमध्य सागर तटवर्ती क्षेत्रों में पुर्तगाल, फ्रांस से लेकर पूरब में एशिया माइनर, अरब तक इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। यूरोपीय देशों में इसका सुगंधित तैल भी पृथक् किया जाता है। इसका शुष्क पुष्पव्यूह पंसारियों एवं यूनानी दवा बेचने वालों के यहाँ मिलता है। भारतवर्ष में इसका आयात यूरोप एवं अरब से होता है।

उपयोगी अंग—फूल एवं पत्र।

मात्रा—३ ग्राम से ५ ग्राम (७ ग्राम) या ३ से ५ माशा (७ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—उस्तखुद्दूस का फूल सफेदी लिये नीले रंग का और उसमें कुछ पिलाई और ललाई की भी झाँई पायी जाती है। उनके ऊपर बारीक कोमल रोम पाये जाते हैं। इसमें कर्पूर-जैसी तीव्र सुगंधि आती है। इसके सूँघने से छींकें आती हैं। स्वाद किंचित् तीक्ष्ण एवं तिक्त होता है। इससे लालिमा लिये पीले रंग का एक उड़नशील तैल प्राप्त होता है, जो रोजमेरी के तेल से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। बीज कँगनी की तरह किंतु उससे छोटा, महीन, किंचित् चपटा और कालाई लिये पीला होता है। इसके मलने से कपूर-जैसी सुगंधि आती है। इसका स्वाद भी तीक्ष्ण एवं तिक्त होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—तुलसी-कुल की अन्य दो वनस्पतियाँ भारतवर्ष में भी पायी जाती हैं, जिनका ग्रहण उस्तूखुद्दूस के नाम से किया जाता है। इन्हें भारतीय उस्तुखुद्दूस कह सकते हैं। भारतीय उस्तुखुद्दूस का व्यवहार विदेशी उस्तुखुद्दूस के प्रतिनिधि के रूप में कर सकते हैं।

किन्तु साधारणतया विदेशी उस्तुखूदूस, भारतीय की अपेक्षा अधिक वीर्यवान् होता है:–(१) कश्मीरी (प्रूनेल्ला वुल्गारिस *Prunella vulgaris Linn.*) (पर्याय ब्रूनेल्ला वुल्गारिस *Brunella vulgaris L.*)–इसके क्षुप समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में कश्मीर से भूटान तक (१२०४ मीटर से ३३३७.७ मीटर या ४,००० से ११,००० फीट) तथा खसिया की पहाड़ियों पर (१२०४ मीटर से १८२८.८ मीटर या ४,०००-६,००० फुट) एवं दक्षिण भारत में पुल्नी एवं ट्रावन्कोर की पहाड़ियों पर पाये जाते हैं। फूल वनफशाई बैंगनी होता है। इसे पंजाब में 'औस्तखदूस' कहते हैं; (२) जंगली लवंडर (लावेन्डला वर्मानी *Lavendula burmani Benth.*) (पर्याय–*L. bipinnata O. Ktze.*)—इसके क्षुप छोटा नागपुर, आबू पहाड़, तथा दक्षिण-पश्चिम भारत में कोंकण, खानदेश एवं दकन आदि में पाये जाते हैं। वम्बई वाजार में यह जंगली लवंडर के नामसे विकता है। गुजराती में इसे सरपनों छरो कहते हैं। फूल नीला, सफेद और अत्यंत सुगंधित होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – उस्तुखुदूस को मुखवंद डिव्वों में अनार्द्र-शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – इसके पुष्पों से रक्ताभ-पीत वर्ण का उड़नशील तेल प्राप्त होता है, जो इसका मुख्य सक्रियघटक है।

वीर्यकालावधि – कुछ महीने।

उपयोग–यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में उष्ण तथा दूसरे में रूक्ष होता है। उस्तुखुदूस श्वयथुविलयन, प्रमाथी, वातनाड़ी एवं मस्तिष्कसंशोधक, वलदायक, दीपन, वातानुलोमन और श्लेष्म-विरेचन है। उस्तु-खूदूस को अधिकतया पक्षवध, अर्दित, अपस्मार, शीतल प्रसेक और प्रतिश्याय, एवं विस्मृति आदि मस्तिष्क एवं वातरोगों में व्यवहृत करते हैं। मस्तिष्क को मलों से शुद्ध करने के लिए यह उत्तम औषधि है। उरो रोगों में पित्तज एवं कफज दोषों के उत्सर्ग के लिए वहुत उपकारक होता है। कफरोग एवं श्वास (दमा) में जूफा, सौंफ, मुलेठी आदि उपयुक्त औषधियों के साथ इसका व्यवहार किया जाता है। अहितकर–यह पिपासाजनक और हृल्लासकारक है। पित्तल प्रकृति वालों को इसका उपयोग उचित नहीं है। निवारण–पित्तशामक द्रव्य, यथा नीवू का शर्वत आदि।

मुख्य योग – शर्वत उस्तूखुदूस, अतरीफल उस्तूखुदूस।

ऊदसलीव

नाम। (१) विदेशी जाति – हिं०, भा० वाजा०–ऊद-सालप। अ०–ऊदुल्सलीव (*Wood of the cross*), ऊदसलीव। ले०–पेओनिआ ऑफ़्फ़ीसिनालिस (*Paeonia officinalis Linn.*) (२) भारतीय जाति। पं०–मामेख। कश्मीर–मिद, महामेद। अं०–हिमालयन पेओनी (*Himalayan Peony*), पेओनी रोज (*Peony Rose*)। ले०–पेओनिआ एमोडी (*Paeonia emodi Wall.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (राननकुलासी (*Ranunculaceae*)

प्राप्तिस्थान – विदेशी ऊदसलीव का मुख्य उत्पत्ति स्थान यूरोप है। भारतवर्ष (वम्बई) में इसका आयात मुख्यतः टर्की से होता है। भारतीय वाजारों में जो ऊदसलीव की जड़ मिलती है, वह मुख्यतः विदेशी ही होती है। भारतीय ऊदसलीव इसका उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है, और इसका प्रयोग उन सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है, जिनमें विदेशी ऊदसलीव के निर्देश हैं। यह पश्चिमी हिमालय प्रदेश में कश्मीर और हज़ारा से कुमायूं तक १५२३ मीटर से ३०४६ मीटर या ५,०००-१०,००० फुट की ऊंचाई तक के प्रदेशों में पाई जाती है।

संक्षिप्त परिचय – पेओनिया इमोडी–इसके कोमल काण्डीय छोटे-छोटे पौधे होते हैं, जिनका भौमिक भाग वहुवर्षायु स्वरूप का (*Perennial*) होता है। काण्ड ३० से ६० सें० मी० या १-२ फुट ऊंचा, खड़ा (*Erect*) तथा पत्रवहुल होता है। पत्तियाँ १.८ से ३.६ मीटर (६-१२ इंच) लम्बी, सपत्रक एवं एकान्तरक्रम से स्थित होती हैं। पत्रक ३, जो प्रायः त्रिपक्षवत् खण्डित (*3-parted*) होते हैं। खण्ड, मालाकार नुकीले अग्र एवं सरल धार वाले होते हैं। पुष्प वड़े (७.५ से १० सें० मी० या ३-४ इंच व्यास के) किन्तु संख्या में कम होते हैं, जो ऊपरी पत्तियों के कोणों से लम्बे पुष्प-वृन्तों पर निकलते हैं, और अत्यंत आकर्षक होते हैं। वाह्य दलपुंज संख्या में ५, गोलाकार, खातोदर, हरित वर्ण के तथा स्थायी (*Persistent*) होते हैं। दलपत्र (*Petals*) संख्या में ५-१०, चौड़े, लट्वाकार, खातोदर तथा लाल

या सफेद रंग के होते हैं। फल (*Follicles*) लम्बगोल तथा २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे होते हैं, जिनमें कई वड़े वीज होते हैं। मूल में अंगुली के समान मोटे लम्बोतरे कंद (*Tubers*) होते हैं, जो तंतुगुच्छ द्वारा भौमिक काण्ड से लगे रहते हैं। औषधि में इन्हीं का व्यवहार होता है। पुष्पागम मई-जून में होता है।

उपयोगी अंग – कंदाकार मूल (*Tubers*)।

मात्रा – चूर्ण–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजारों में मिलने वाले ऊदसलीव के कन्द प्रायः विदेशी ऊदसलीव की जड़ें होती हैं, जो २.५ से ५ सें० मी० (१-२ इंच) लम्वी, १.२५ से १.८ सें० मी० (½ से ¾ इंच) मोटी (व्यास की) तथा मध्य में मोटी और दोनों छोरों की ओर क्रमशः पतली होती हैं, जिससे यह देखने में तर्क्वाकार मालूम होती हैं। इनका वाहरी पृष्ठ भूरा होता है, जिसपर लम्वाई के रुख झुर्रियाँ या रेखाएँ पड़ी होती हैं। अन्दर का भाग पिष्टमय (*Starchy*) तथा सफेद होता है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर वल्कल (*Cortex*) का भाग कड़ा, दानेदार तथा पीताभ वर्ण का मालूम होता है। स्वाद किंचित् चरपरा होता है। जिन कन्दों को चावने पर थोड़ी देर वाद तीक्ष्णता, चरपराहट, थोड़ी-सी कड़ुआहट मालूम हो और जिह्वा पर खिंचावट पैदा हो, वह उत्तम समझा जाता है। भारतीय ऊदसलीव की जड़ सफेदी मायल लगभग उँगली के वरावर मोटी और कुछ मिठास लिये कसैली होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जड़ों का संग्रह फूल-फल आने के वाद करना चाहिए; और मिट्टी आदि को जल से धोकर, छाया-शुष्क कर लें तथा मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। चूर्ण को अच्छी तरह डाटवंद शीशियों में ठंढी तथा अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – ताजी जड़ों में अल्प मात्रा में एक उत्पत् तैल तथा पिष्टमय पदार्थ, शर्करा, वसा, मेलेट्स (*Malates*), ऑक्जलेट्स (*Oxalates*), फॉस्फेट्स एवं अल्पतः टैनिन आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ७ वर्ष।

स्वभाव – ऊदसलीव तीसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष होती है। यह स्रोतोद्घाटक, श्वयथुविलयन, दोषतारल्यजनन, लेखन, मूत्रल, रजःप्रवर्तक, वेदनास्थापन तथा नाड़ीवल्य है। अपस्मार, कम्पवायु, अर्दित, पक्षवध, उन्माद, मस्तिष्कशोथ, अपतन्त्रक और वालापस्मार आदि रोगों में पुष्कल व्यवहृत होती है। यकृदवरोध, कामला, आमाशय-शूल तथा वस्ति एवं वृक्क-शूल में भी इसका उपयोग करते हैं। अहितकर—गर्भवती स्त्रियों को तथा अधिक मात्रा में देने से सिर-दर्द, कान में आवाज, दृष्टि-भ्रम और वमन होता है। निवारण—गुलकंद, मुलेठी और शहद।

विशेष – ऊदसलीव का प्रयोग विशेषतः चूर्ण के रूप में होता है।

एरंड (अरंड)

नाम। सं०–एरण्ड, गन्धर्वहस्त, रुव, पंचांगुल। हिं०–अरन्ड, अरन्डी, रेंडी। वं०–भेरेड (डा)। (द०) यरन्डी। म०–एरन्ड, एन्डीचें वीज। गु०–एरन्डी। अं०–कैस्टरसीड (*Castor Seed*)। (वृक्ष) ले०–रीसीनुस् कोम्मूनिस (*Ricinus communis Linn*)।

वानस्पतिक कुल–एरण्ड-कुल (एउफ़ॉर्विआसी *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समग्र भारतवर्ष-विशेषतः उत्तर प्रदेश, वंगाल, मद्रास और वम्वई। इसकी खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – भेद–रक्त, श्वेत एरण्ड। वृक्ष–वार्षिक, २.४०–४.५ मीटर (८-१५ फुट) ऊँचा और पतला, लम्वा और स्निग्ध। मूल–साधारण, झखड़ेदार, लोमश। काण्ड–स्निग्ध, हरित, श्वेत। शाखा–हरितश्वेत, मध्यमाकारी, दण्डाकृति। पत्र–चौड़े, पाँच से सात फांकयुक्त। पत्रवृन्त – २५ सें० मी० से ३५ सें० मी० (१०-१४ इंच) लम्वा और पोला। पुष्प–एकलिंगी, रक्त–वैंगनी। केशर–पीतवर्णयुक्त। फल–कंटकयुक्त और वड़े गुच्छों में, फलों के ऊपर हरित आवरण। वीज–प्रत्येक फल में वीज संख्या ३, वीजत्वचा कठोर, कृष्ण-रक्त अथवा कृष्ण-श्वेत। वीजमज्जा–श्वेत, स्निग्ध।

उपयोगी अंग – मल, त्वक्, पत्र, काण्ड, वीज, तैल।

मात्रा – वीजमज्जा–६ ग्राम से ११.६ ग्राम (६ माशे से १ तोला)। मलत्वक्, पत्रकल्क–१ से २ तोला। तेल–६ माशे से २½ तोला। मूलत्वक्क्वाथ–५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वीज में चर्वीयुक्त तेल अधिकतम ४५ प्रतिशत; विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य अधिकतम २ प्रतिशत। तैल–२० शतांश पर आपेक्षिक गुरुत्व–०.९५३–०.९६४; ४० शतांश पर अपवर्तनांक–१.४६९५–१.४७३०।

९०प्रतिशत शक्ति के ऐल्कोहल के ३.५ भाग में घुलनशील। एसिड वेल्यू–अधिकतम ४। आयोडीन वेल्यू–अधिकतम ८२-९०; सैपानीफिकेशन वेल्यू–१७७–१८७। इस तैल को समान आयतन के जलविरहित ऐल्कोहल में मिलाने पर मिश्रण स्वच्छ रहता है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंगों को कार्तिक–अगहन मास में ग्रहण कर अनार्द्र और शीतल स्थान पर भली भाँति मुखबन्द की हुई शीशियों में रखें।

संगठन – वीज में–स्थिर तैल, रिसनीन, रिसीन, श्वेत सार, म्युसिलेज, शर्करा और क्षार आदि। तैल में–वसाम्ल, रिसिनोलिक अम्ल, ओलिक अम्ल, लिनोलिक अम्ल, स्टियरिक अम्ल और हाइड्रॉक्सीस्टियरिक अम्ल आदि। पत्ती, काण्ड एवं जड़–इनमें भी वही तत्त्व पाये जाते हैं, जो एरण्ड के वीज में पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – वीज–२ वर्ष; तैल–१ वर्ष; मूल–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सूक्ष्म। रस–मधुर, कटु, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, पित्तवर्धक, (तैल) विशेषतः पित्तशामक; शोथहर, वेदनास्थापन, अंगमर्दप्रशमन, भेदन, स्नेहन, कृमिनिःसारक, कफघ्न, मूत्रविशोधन, स्तन्यजनन एवं शुक्र तथा गर्भाशय शोधन, स्वेदोपग, स्वेदजनन एवं कुष्ठघ्न तथा ज्वरघ्न आदि। एरण्ड तैल एक निरापद रेचन है। इस दृष्टि से कोष्ठशुद्धि के लिए एक परमोपयोगी औषधि है। इसके साथ ही यह उत्तम वातनाशक औषधि है। अतएव वातव्याधियों में कम मात्रा (६ माशा से १ तोला) में इसका उपयोग औषधि के रूप में भी कर सकते हैं। इससे एक तो कोष्ठ-शुद्धि भी होती रहती है, और साथ ही यह वातनाशक कर्म भी करता रहता है। अर्श एवं भगंदर तथा गुदभ्रंश के रोगियों में एरण्ड पाक का सेवन करने से विना जोर लगाये पाखाना साफ हो जाता है, जिससे रोगी को उक्त व्याधियों से होने वाले दैनिक कष्ट से मुक्ति मिल जाती है। औषधीय कर्म के साथ ही यह पोषण का भी काम करता है। वक्तव्य–एरण्डतैल में एक अरुचिकारक हीक आती है। अतएव कोमल प्रकृति के रोगियों में इसके सेवन में कठिनाई का अनुभव होता है। इसके निवारण के लिए या तो तेल को थोड़े से गरम दूध में मिला कर दें; अथवा नाक को वन्द कर तेल-पान करने में सरलता से इसे पी सकते हैं। वाद में ताम्बूल वगैरह का सेवन करलेने से मुँह का वदजायका दूर हो जाता है।

मुख्य योग – एरण्डादि क्वाथ, रास्नादि क्वाथ, वृ० सैन्धवादि तैल, विषगर्भ तैल, एरण्डपाक, ज़िमादे शीरेशुतुर।

विशेष – चरकोक्त (सू०अ०४) भेदनीय, स्वेदोपग एवं अङ्गमर्दप्रशमनगण तथा मधुरस्कन्ध के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू०अ०३८) विदारिगन्धादिगण तथा (सू०अ०३९) अधोभागहर एवं वातसंशमन वर्ग के द्रव्यों में एरण्ड की भी गणना है।

कंघी (अतिबला)

नाम। सं०–अतिवला, कंकतिका, ऋष्यप्रोक्ता। हिं०–कंघी, ककही, ककहिया। वं०–पेटारि। वि०–ककहिया। म०–मुद्रा। गु०–खपाट, डावली, कांसकी। सिं०–पटतिर। अ०–मश्तुल्गौल। फा०–दरख्तेशान। अं०–कन्ट्री मैलो (*Country Mallow*)। ले०–आवूटिलॉन इंडिकुम (*Abutilon indicum G. Don.*)।

वानस्पतिक कुल–कार्पासादि-कुल (माल्वासी *Malvaceae*)।

उत्पत्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण एवं समशीतोष्ण प्रदेश तथा लंका आदि।

संक्षिप्त परिचय – अतिवला के क्षुप वर्षा में उत्पन्न होते हैं, जो लगभग १.५ मीटर से १.८ मीटर या ५-६ फुट ऊँचा गुल्म या कभी-कभी गुल्मक (*Undershrub*) स्वरूप के होते हैं। सम्पूर्ण पौधा सूक्ष्म शुभ्र रोमान्वित (*Minutely hoary tomentose*) होता है। पत्तियाँ ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक लम्बी, पान के आकार की, चौड़ी पर अधिक नुकीली, पत्र-तट दन्दानेदार, रंग में पत्तियाँ भूरापन लिये हरे रंग की तथा दोनों पृष्ठों पर शुभ्र-रोमान्वित होती हैं। पत्रवृन्त लम्बा (फलक की लम्बाई के $\frac{3}{4}$ के वरावर) होता है। पुष्प पीले रंग के व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच, ५-५ पंखड़ियों वाले तथा पत्रकोणोद्भूत एकल पुष्पदंड पर धारण किये जाते हैं। स्त्रीकेशर संख्या में १५-२० तक। पुष्पों के झड़ जाने पर चक्राकृति मुकुट के आकार के फल लगते हैं, जो अपक्वावस्था में मृदु श्वेतरोमावृत एवं पीताभ हरित वर्ण के और पकने पर कृष्णाभ तथा चिकने हो जाते हैं। फलों में १५-२० खड़ी-खड़ी कमरखीया कंगनी (फांकें) मण्डलाकार सन्निविष्ट होती हैं, जिनके पक जाने पर

प्रत्येक कमरखी या फाँक के वीच कई-कई काले-काले दाने निकलते ह, जो छोटे और चपटे होते हैं और इनका सिरा वारीक होता है। अतिवला के वीजों को भी वीजवन्द कहते हैं। इन वीजों से अत्यंत लवाव निकलता है। यह शरद् ऋतु में पुष्पित होता तथा शीतकाल में इसका फल परिपक्व होता है। वर्ष के अधिकांश समय तक इसमें फल-फल लगे रहते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, छाल, पत्र, वीज एवं पंचाङ्ग।

मात्रा–पत्र–५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा। मूल एवं वीज चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा। मूल-क्वाथ–२९.१५ ग्राम से ५८.३० ग्राम या २½ से ५ तो.।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–छाल–रेशामय फीते के आकार के लम्वे टुकड़ों के रूप में होती है, जो वाह्यतः रंग में दालचीनी के छिलके की भाँति होती हैं; तथा इस पर सूक्ष्म रेखाएँ (*Striae*)) होती हैं। इसका अन्तस्तल सफेद रंग का तथा सूक्ष्मरेखांकित (*Striated*) होता है। छाल स्वाद में साधारण कसैली तथा तिक्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – शीतकाल में फलागम के वाद उपयोगी अंगों का ग्रहण कर, छायाशुष्क कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन–पत्र में काफी मात्रा में लुआव (*Mucilage*), किंचित् टैनिन तथा सेन्द्रिय अम्ल एवं अंशतः एस्पेरेगीन (*Asparagin*)आदि तत्त्व पाये जाते हैं। जड़ में भी एस्पेरेगिन पायी जाती है। भस्म में क्षारीय सल्फेट्स, क्लोराइड्स, मैग्नीसियम् फास्फेट एवं कैल्सियम् कार्वोनेट आदि तत्त्व मिलते हैं।

वीर्यकालावधि– १ वर्ष।

स्वभाव—इसके गुण-कर्म एवं प्रयोग वला की ही भाँति हैं। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष समझी जाती है। अहितकर—दुर्वल व्यक्तियों को। निवारण—मधु एवं काली मिर्च। प्रतिनिधि–आलूवोखारे का शर्वत एवं आँवले का मुरव्वा। चरकोक्त (सू० अ० ४) वृंहणीय महाकषाय (भद्रौदनी नाम से) एवं वल्य महाकषाय एवं मधुरस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त वातसंशमन एवं मधुरद्रव्यों में अतिवला भी है।

मुख्य योग–महाविषगर्भ तैल।

विशेष– कंघी की एक छोटी जाति होती है और जमीन पर विछी होती है। इसके सम्पूर्ण अवयव उपर्युक्त कंघी की भाँति किन्तु छोटे होते हैं। कंघी की उपर्युक्त जाति की अपेक्षा एक वड़ी जाति भी होती है जिसके क्षुप, पुष्प, फल आदि अपेक्षाकृत वड़े होते हैं। इसे आवूटिलॉन हिर्टुम (*A. hirtum G. Don.*) कहते हैं।

औषधीय व्यवहार की दृष्टि से भारतवर्ष में अतिवला को वही स्थान प्राप्त है, जो यूरोप में खत्मी एवं खुव्वाजी आदि को है। मूत्रल क्रिया की दृष्टि से यह ऋक्ष-द्राक्षा (*Uva Ursi*) एवं वुकू (*Buchu*) नामक विदेशी औषधियों की प्रतिनिधि है।

कंजा (करंजुवा)

नाम। सं०–पूतिकरञ्ज, प्रकीर्य, कण्टकिकरञ्ज, कुवेराक्ष। हिं०–करंजुवा, कंजा, काँटाकरंज, सागरगोटा। संथा०–वघनी। वं०–नाटाकरंज। म०–सागरगोटा। गु०–कांकच, कांचका। फा०–खाये इब्लीस। अ०–हज्रुल उक़ाव। अं०–वॉडकनट (*Bonduc Nut*); फीवरनट (*Fever Nut*)। ले०–सेसालपीनिआक्रीस्टा *Caesalpinia crista Linn.* (पर्याय–*C. bonducella Fleming.*)।

वानस्पतिक कुल–शिम्वी-कुल : अम्लिका-उपकुल (लेगूमिनोसी : सेसालपीनिआसी (*Leguminosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण प्रदेशों (विशेषतः वंगाल तथा दक्षिण भारत) में २५,०० फुट की ऊंचाई तक (पहाड़ियों पर) इसकी कँटीली, क्षुपस्वभाव की लताएँ पायी जाती हैं। वगीचों के मेड़ पर इसकी झाड़ी भी लगायी जाती है। इसके शुष्क-पक्व वीज वाजारों में पंसारियों के यहाँ विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय– लताकरञ्ज के सघन एवं विस्तृत तथा कँटीले गुल्म होते हैं, जिसकी शाखाएँ लम्वी तथा आरोहणशील होती हैं। शाखा, पत्रदण्ड एवं पुष्पदण्ड पर सूक्ष्म, कठोर प्रायः पीले काँटे होते हैं। पत्रदण्ड के काँटे प्रायः टेढ़े होते हैं। छोटी शाखाएँ घनरोमश होती हैं। उपपक्ष (*Pinnae*) ६-८ जोड़े तथा ७.५ से २० सें० मी० (३-८ इंच) लम्वे होते हैं। पत्रक ६-१० जोड़े, जो १.२५ से २.५ सें०मी०×१ से १.५ सें० मी० (½ से १ इंच×⅓ से ⅔ इंच), रूपरेखा में आयताकार या अंडाकार, कुण्ठिताग्र एवं अग्र पर लोमयुक्त

(*mucronate*) तथा अतिसूक्ष्म वृन्तकयुक्त होते ह, जो उपपक्षों पर अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। पुष्प हल्के पीले रंग के होते हैं, जो १५ से ३० सें०मी० (६-१२ इंच) लम्बी शाखाग्र या पत्रकोणों के ऊपर काण्ड पर स्थित मञ्जरियों (*Recemes*) पर निकलते हैं। मञ्जरियाँ अग्र की ओर उत्तरोत्तर सघन होती हैं। कोणपुष्पक (*Bracts*) ½ इंच लंबे, रेखाकार, भालाकार, तथा अग्र पर मुड़े हुए होते हैं। वाह्य दलपुंज (वाह्य कोश) या कैलिक्स *Calyx* १.२५ से ०.७५ सें० मी० (½ से ३/१० इंच) लम्बा तथा सूक्ष्म मुरचई रोमावृत्त होता है। दलपत्र (*Petals*) १ से १.२५ सें० मी० (३/८ से ½ इंच) लम्बे, अभिप्रासवत् (*Oblanceolate*) तथा पीले रंग के (कोई-कोई लाल विन्दुकित) होते हैं। फली चौड़ी आयताकार, ५ से ७.५ सें० मी०×३.७५ से ५ सें० मी० (२-३ इंच ×१॥-२ इंच), स्फोटी एवं वाह्य तल पर ½ से ⅓ इंच लम्बे, कुछ लचीले काँटों (*Wiry prickles*) से ढँकी होती है। फली का आकार सामान्यतया करञ्जफली-जैसा होता है। प्रत्येक फली में १-२ वीज होते हैं, जो धूम्र वर्ण, गोल अथवा अंडाकार तथा कठोर आवरण वाले होते हैं। पत्र एवं वीज की गिरी स्वाद में अत्यंत तिक्त होती है, किन्तु मूल एवं मूलत्वक् कड़वे नहीं होते। पुष्पागम वर्षा ऋतु (जुलाई से सितम्बर) में तथा फलियाँ जाड़ों में लगती एवं पकती हैं।

उपयोगी अंग—वीजमज्जा, पत्र, मूल। वीजों से गिरी प्राप्त करने के लिए पहले वीजों को मन्द आँच पर कड़ाही आदि में थोड़ा सेंकना चाहिए। इससे वीज कुछ फूल जाते तथा वीजों का कवच (*Shell*) और भी भंगुर हो जाता है। अव यह आसानी से पृथक किया जा सकता है।

मात्रा—वीजमज्जा—१⅞ ग्राम से २½ ग्राम या १० से २० रत्ती। मूलचूर्ण—१ से १॥ ग्राम या १ से १॥ माशा। पत्रस्वरस—१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—कंजा के वीज वेर की तरह गोल अथवा अंडाकार, व्यास में १.२५ से १.८७५ सें०मी० या ½ से ¾ इंच तक, कड़े छिलके (*Shell*) से युक्त होते हैं, जो धूम्र वर्ण या सीस के रंग का तथा भंगुर होता है। पकने पर छिलके में अनुप्रस्थ दिशा में स्थित अनेक सूक्ष्म दरारें (*Horizontal cracks*) होती हैं। नाभि (*umbilicus*) पर एक अर्धचन्द्राकार चिन्ह-सा होता है वीजमज्जा में पिलाई लिये सफेद रंग के द्विदल (*Cotyledons*) तथा जीभी की भाँति आदिमूल या मूलांकुर (*Radicle*) होता है, जो स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं। वीजमज्जा का सूक्ष्मदर्शक से परीक्षण करने पर म्युसिलेज, स्टार्च, तैल एवं ऐल्ब्युमिन की उपस्थिति पायी जाती है। परक्लोराइड ऑव आयर्न के सम्पर्क से वीजत्वक् या वीजचोल (*Testa*) की कोशाएँ काले रंग की हो जाती हैं, जो टैनिन की उपस्थिति का द्योतक है। करंजुवा के पत्र भी स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं, किन्तु मूल एवं मूलत्वक् में तिताई या कड़ुआहट प्राय: नहीं पायी जाती।

संग्रह एवं संरक्षण— जाड़ों के अन्त में फलियों का संग्रह कर धूप में सुखाने से स्वयं फट जाती हैं और वीज पृथक् हो जाते हैं। लताओं पर पड़ी हुई फलियाँ भी वाद में अपने आप फूटती हैं, जिससे वीज नीचे गिर जाते हैं। वीजों को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन—कंजा के वीजों में वांडुसिन (*Bonducin* $C_{20}H_{28}O_8$) नामक एक तिक्त अक्रिस्टलीय ग्लुकोसाइड (*Bitter amorphous glucoside*) पाया जाता है, जो सफेद चूर्ण के रूप में प्राप्त होता है, और जल में तो नहीं घुलता किन्तु ऐल्कोहॉल एवं स्थिर तैलों में सुविलेय होता है। इसके अतिरिक्त अप्रिय गंधयुक्त हल्के पीले रंग का एक गाढ़ा तेल (२० से २४% तक) तथा स्टार्च, सुक्रोज, एवं फाइटॉस्टेरोल आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि—वीज २ वर्ष। चूर्ण—६ मास।

स्वभाव—गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस—कटु, तिक्त। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफवातनाशक, शोथहर, वेदनास्थापन, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, कटुपौष्टिक, रेचन, कृमिघ्न, यकृत्प्लीहोदरनाशक, रक्तशोधक, कफघ्न, श्वासहर, गर्भाशयोत्तेजक, मूत्रल, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न। कंजा के वीज नियत कालिक ज्वरहर होते हैं, और इस रूप में यह कुनैन का उत्तम प्रतिनिधि है। करंजुवा की जड़ एवं पत्र रेचन वात, कफ तथा शोथ का नाश करने वाले हैं। यूनानी मतानुसार करंजुवा तीसरे दर्जे में उष्ण एवं पहले दर्जे में रूक्ष होता है। वृषण-शोथ में इसका चूर्ण एरण्डपत्र पर छिड़क कर बांधते हैं। वातानुलोमन होने से यह वातिक शूल में उपयोगी होता है। एतदर्थ करंजुवा की आधी गिरी सात नग लौंग के

साथ बारीक पीस कर खिलाते हैं। चिरकालीन विषमज्वर, शीतपूर्व अन्य जीर्णज्वरों में इसे चिरायता आदि अन्य औषधियों के साथ चूर्ण रूप में अथवा वटिका रूप में व्यवहृत करते हैं। श्वास के रोगियों में भी इसका उपयोग किया जाता है। इससे सिद्ध तैल खुजली आदि त्वग् रोगों में स्थानिक रूप से तथा रक्तविकारों में मौखिक रूप से गिरी, पत्र एवं मूलचूर्ण का व्यवहार किया जाता है। ज्वरोत्तरकालिक दौर्बल्य एवं अग्निमांद्य आदि निवारण के लिए भी इसे देते हैं। सूतिका ज्वर में तथा सूतिकावस्था में ज्वर न भी हो तो इसका प्रयोग उपयोगी है।

मुख्य योग – करञ्जादिवटी, विषमज्वरान्तक चूर्ण।

ककड़ी (कर्कटी)

नाम। (१) सं०–कर्कटी। हिं०–ककड़ी, जे(जि)ठुई ककड़ी, तरककड़ी। बं०, म०, गु०–काँकड़ी। अ०–क़िस्साऽ; फा०–ख़ियार्ज:, ख़ियार तवील (दराज)। अं०–स्नेक कुकुम्बर (*Snake cucumber*)। ले०–कूकूमिस ऊटीलीस्सिमुस *Cucumis melo var. utilissimus Duthie & Fuller.* (पर्याय–*Cucumis utilissimus Roxb.*)। (२) फूट ककड़ी सं०– उर्वारु, एर्वारु। हिं०–बड़ी ककड़ी, फूट की ककड़ी। अ०–क़िस्साऽ। फा०–खिरयार्ज:; गाजरूनी (नीशापूरी)। अं०–कुकुंबर मोमोर्डिका (*Cucumber momordica*)। ले०–कूकूमिस मोमोर्डिका (*Cucumis melo var. momordica Duthi & Fuller.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माडादि-कुल (कूकूरबिटासी : *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान—भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में विशेषतः उत्तर प्रदेश, बंगाल, पंजाब आदि में इसकी काफी परिमाण में खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – जेठुई ककड़ी की जमीन पर फैलने वाली लता होती है। इसके बीज फागुन-चैत में बोये जाते हैं और वैसाख-जेठ में फलती है। इसी से इसे 'जेठुई ककड़ी' कहते हैं। इसकी बेल खीरे के बेल जैसी होती है, किन्तु इसके पत्ते खीरे के पत्तों से छोटे और चिकने होते हैं। इसका फूल पीला होता है, और फल गोल तथा कुछ इंचों से लेकर २ हाथ (९० सें० मी० या ३ फुट) या अधिक लम्बे, कुछ मुड़े हुए होते हैं, जिन पर लम्बाई के रूख उभरी हुई रेखाएँ होती हैं। ककड़ी जब छोटी होती है तो बहुत नरम और रोयेंदार होती है। रंग में यह हल्के या गाढ़े हरे रंग की होती है। इसके बीज खरबूजे के बीजों से अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। गर्मी के दिनों में ककड़ी काफी परिमाण में बिकती है। नमक के साथ इसे कच्ची खाते हैं तथा सलाद भी बनाते हैं। पके फल के बीजों की गिरी की मिठाई बनायी जाती है तथा ठंढाई में पड़ती है। (२) फूट ककड़ी की २ फसलें होती हैं—(१) बरसाती और (२) जेठुई। बरसाती ककड़ी ज्वार मक्का आदि के खेतों में बोयी जाती है। इसके फल लम्बगोल, ३० से ६० सें० मी० या १-२ फुट तक लम्बे तथा व्यास में ७.५ से १५ सें० मी० या ३ से ६ इंच (या अधिक) और कच्ची अवस्था में गाढ़े हरे रंग के और पकने पर पीले पड़ जाते, तथा आप से आप फूट जाते हैं। इसीसे यह 'फूट' कहलाते हैं। इसका गूदा किंचित् फीका एवं खट्टापन लिये होता है। इसके कच्चे कोमल फल नमक के साथ खाये जाते हैं, तथा कच्चे प्रौढ़ फलों की तरकारी बनायी जाती है। फूट में शर्करा मिला कर खाया जाता है।

उपयोगी अंग – फल एवं बीज।

मात्रा – बीज–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। फल–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इसके बीज खरबूजे के बीज से अधिक चौड़े, अत्यंत सफेद, लघु, मसृण और हीकदार होते हैं। सफेद, भारी और पकी हुई ककड़ी से निकाले हुए ताजे बीज उत्तम होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – बीजों को अच्छी तरह मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। बरसात के दिनों में नमी से बचाना चाहिए।

संगठन – बीजों में स्थिर तैल, स्टार्च एवं शर्करा आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव – ककड़ी के बीज दूसरे दर्जे में शीत एवं तर होते हैं। यह सर, मूत्रल, पित्तरक्तसंशमन, तृष्णाशामक, मनःप्रसादकर एवं बल्य होते हैं। प्रतिनिधि–खीरे के बीज।

विशेष – बाजारों में ककड़ी एवं खीरे–दोनों के मिश्रित बीज 'तुख्म खियारैन' के नाम से मिलते हैं।

(*mucronate*) तथा अतिसूक्ष्म वृन्तकयुक्त होते ह, जो उपपक्षों पर अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। पुष्प हल्के पीले रंग के होते हैं, जो १५ से ३० सें०मी० (६-१२ इंच) लम्बी शाखाग्र या पत्रकोणों के ऊपर काण्ड पर स्थित मञ्जरियों (*Recemes*) पर निकलते हैं। मञ्जरियाँ अग्र की ओर उत्तरोत्तर सघन होती हैं। कोणपुष्पक (*Bracts*) ५/२ इंच लंबे, रेखाकार, भालाकार, तथा अग्र पर मुड़े हुए होते हैं। वाह्य दलपुंज (वाह्य कोश) या कैलिक्स *Calyx* १.२५ से ०.७५ सें० मी० (१/२ से ३/१० इंच) लम्वा तथा सूक्ष्म मुरचई रोमावृत्त होता है। दलपत्र (*Petals*) १ से १.२५ सें०मी० (२/५ से १/२ इंच) लम्बे, अभिप्रासवत् (*Oblanceolate*) तथा पीले रंग के (कोई-कोई लाल विन्दुकित) होते हैं। फली चौड़ी आयताकार, ५ से ७.५ सें० मी० × ३.७५ से ५ सें० मी० (२-३ इंच × १।।-२ इंच), स्फोटी एवं वाह्य तल पर १/२ से १/३ इंच लम्बे, कुछ लचीले काँटों (*Wiry prickles*) से ढँकी होती है। फली का आकार सामान्यतया करञ्जफली-जैसा होता है। प्रत्येक फली में १-२ वीज होते हैं, जो धूम्र वर्ण, गोल अथवा अंडाकार तथा कठोर आवरण वाले होते हैं। पत्र एवं वीज की गिरी स्वाद में अत्यंत तिक्त होती है, किन्तु मूल एवं मूलत्वक् कड़वे नहीं होते। पुष्पागम वर्षा ऋतु (जुलाई से सितम्बर) में तथा फलियाँ जाड़ों में लगती एवं पकती हैं।

उपयोगी अंग—वीजमज्जा, पत्र, मूल। वीजों से गिरी प्राप्त करने के लिए पहले वीजों को मन्द आँच पर कड़ाही आदि में थोड़ा सेंकना चाहिए। इससे वीज कुछ फूल जाते तथा बीजों का कवच (*Shell*) और भी भंगुर हो जाता है। अव यह आसानी से पृथक किया जा सकता है।

मात्रा—वीजमज्जा—१¼ ग्राम से २½ ग्राम या १० से २० रत्ती। मूलचूर्ण—१ से १।। ग्राम या १ से १।। माशा। पत्रस्वरस—१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—कंजा के वीज वेर की तरह गोल अथवा अंडाकार, व्यास में १.२५ से १.८७५ सें०मी० या १/२ से ३/४ इंच तक, कड़े छिलके (*Shell*) से युक्त होते हैं, जो धूम्र वर्ण या सीस के रंग का तथा भंगुर होता है। पकने पर छिलके में अनुप्रस्थ दिशा में स्थित अनेक सूक्ष्म दरारें (*Horizontal cracks*) होती हैं। नाभि (*umbilicus*) पर एक अर्धचन्द्राकार चिन्ह-सा होता है वीजमज्जा में पिलाई लिये सफेद रंग के द्विदल (*Cotyledons*) तथा जीभी की भाँति आदिमूल या मूलांकुर (*Radicle*) होता है, जो स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं। वीजमज्जा का सूक्ष्मदर्शक से परीक्षण करने पर म्युसिलेज, स्टार्च, तैल एवं ऐल्व्युमिन की उपस्थिति पायी जाती है। परक्लोराइड ऑव आयर्न के सम्पर्क से वीजत्वक् या वीजचोल (*Testa*) की कोशाएँ काले रंग की हो जाती हैं, जो टैनिन की उपस्थिति का द्योतक है। करंजुवा के पत्र भी स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं, किन्तु मूल एवं मूलत्वक् में तिताई या कडुआहट प्रायः नहीं पायी जाती।

संग्रह एवं संरक्षण— जाड़ों के अन्त में फलियों का संग्रह कर धूप में सुखाने से स्वयं फट जाती हैं और वीज पृथक् हो जाते हैं। लताओं पर पड़ी हुई फलियाँ भी वाद में अपने आप फूटती हैं, जिससे वीज नीचे गिर जाते हैं। वीजों को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन— कंजा के वीजों में वांडुसिन (*Bonducin* $C_{20} H_{28} O_8$) नामक एक तिक्त अक्रिस्टलीय ग्लुकोसाइड (*Bitter amorphous glucoside*) पाया जाता है, जो सफेद चूर्ण के रूप में प्राप्त होता है, और जल में तो नहीं घुलता किन्तु ऐल्कोहॉल एवं स्थिर तैलों में सुविलेय होता है। इसके अतिरिक्त अप्रिय गंधयुक्त हल्के पीले रंग का एक गाढ़ा तेल (२० से २४% तक) तथा स्टार्च, सुक्रोज, एवं फाइटॉस्टेरोल आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि—वीज २ वर्ष। चूर्ण—६ मास।

स्वभाव—गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस—कटु, तिक्त। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफवातनाशक, शोथहर, वेदनास्थापन, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, कटुपौष्टिक, रेचन, कृमिघ्न, यकृत्प्लीहोदरनाशक, रक्तशोधक, कफघ्न, श्वासहर, गर्भाशयोत्तेजक, मूत्रल, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न। कंजा के वीज नियत कालिक ज्वरहर होते हैं, और इस रूप में यह कुनैन का उत्तम प्रतिनिधि है। करंजुवा की जड़ एवं पत्र रेचन वात, कफ तथा शोथ का नाश करने वाले हैं। यूनानी मतानुसार करंजुवा तीसरे दर्जे में उष्ण एवं पहले दर्जे में रूक्ष होता है। वृषण-शोथ में इसका चूर्ण एरण्डपत्र पर छिड़क कर वाँधते हैं। वातानुलोमन होने से यह वातिक शूल में उपयोगी होता है। एतदर्थ करंजुवा की आधी गिरी सात नग लौंग के

साथ बारीक पीस कर खिलाते हैं। चिरकालीन विषमज्वर, शीतपूर्व अन्य जीर्णज्वरों में इसे चिरायता आदि अन्य औषधियों के साथ चूर्ण रूप में अथवा वटिका रूप में व्यवहृत करते हैं। श्वास के रोगियों में भी इसका उपयोग किया जाता है। इससे सिद्ध तैल खुजली आदि त्वग् रोगों में स्थानिक रूप से तथा रक्तविकारों में मौखिक रूप से गिरी, पत्र एवं मूलचूर्ण का व्यवहार किया जाता है। ज्वरोत्तरकालिक दौर्बल्य एवं अग्निमांद्य आदि निवारण के लिए भी इसे देते हैं। सूतिका ज्वर में तथा सूतिकावस्था में ज्वर न भी हो तो इसका प्रयोग उपयोगी है।

मुख्य योग – करञ्जादिवटी, विषमज्वरान्तक चूर्ण।

ककड़ी (कर्कटी)

नाम। (१) सं०–कर्कटी। हिं०–ककड़ी, जे(जि)ठुई ककड़ी, तरककड़ी। बं०, म०, गु०–काँकड़ी। अ०–क़िस्साऽ; फा०–खियार्जः, खियार तवील (दराज)। अं०–स्नेक कुकुम्बर (*Snake cucumber*)। ले०–कूकूमिस ऊटीलीस्सिमुस *Cucumis melo var. utilissimus Duthie & Fuller.* (पर्याय–*Cucumis utilissimus Roxb.*)। (२) फूट ककड़ी सं०– उर्वारु, एर्वारु। हिं०–बड़ी ककड़ी, फूट की ककड़ी। अ०–क़िस्साऽ। फा०–खियार्जः; गाजरूनी (नीशापूरी)। अं०–कुकुंबर मोमोर्डिका (*Cucumber momordica*)। ले०–कूकूमिस मोमोर्डिका (*Cucumis melo var. momordica Duthi & Fuller.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्डादि-कुल (कूकूरबिटासी : *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान—भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में विशेषतः उत्तर प्रदेश, बंगाल, पंजाब आदि में इसकी काफी परिमाण में खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – जेठुई ककड़ी की जमीन पर फैलने वाली लता होती है। इसके बीज फागुन-चैत में बोये जाते हैं और वैसाख-जेठ में फलती है। इसी से इसे 'जेठुई ककड़ी' कहते हैं। इसकी बेल खीरे के बेल जैसी होती है, किन्तु इसके पत्ते खीरे के पत्तों से छोटे और चिकने होते हैं। इसका फूल पीला होता है, और फल गोल तथा कुछ इंचों से लेकर २ हाथ (६० सें० मी० या ३ फुट) या अधिक लम्बे, कुछ मुड़े हुए होते हैं, जिन पर लम्बाई के रुख उभरी हुई रेखाएँ होती हैं। ककड़ी जब छोटी होती है तो बहुत नरम और रोयेंदार होती है। रंग में यह हल्के या गाढ़े हरे रंग की होती है। इसके बीज खरबूजे के बीजों से अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। गर्मी के दिनों में ककड़ी काफी परिमाण में बिकती है। नमक के साथ इसे कच्ची खाते हैं तथा सलाद भी बनाते हैं। पके फल के बीजों की गिरी की मिठाई बनायी जाती है तथा ठंढाई में पड़ती है। (२) फूट ककड़ी की २ फसलें होती हैं—(१) बरसाती और (२) जेठुई। बरसाती ककड़ी ज्वार मक्का आदि के खेतों में बोयी जाती है। इसके फल लम्बगोल, ३० से ६० सें० मी० या १-२ फुट तक लम्बे तथा व्यास में ७.५ से १५ सें० मी० या ३ से ६ इंच (या अधिक) और कच्ची अवस्था में गाढ़े हरे रंग के और पकने पर पीले पड़ जाते, तथा आप से आप फूट जाते हैं। इसीसे यह 'फूट' कहलाते हैं। इसका गूदा किंचित् फीका एवं खट्टापन लिये होता है। इसके कच्चे कोमल फल नमक के साथ खाये जाते हैं, तथा कच्चे प्रौढ़ फलों की तरकारी बनायी जाती है। फूट में शर्करा मिला कर खाया जाता है।

उपयोगी अंग – फल एवं बीज।

मात्रा – बीज–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। फल–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इसके बीज खरबूजे के बीज से अधिक चौड़े, अत्यंत सफेद, लघु, मसृण और हीकदार होते हैं। सफेद, भारी और पकी हुई ककड़ी से निकाले हुए ताजे बीज उत्तम होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – बीजों को अच्छी तरह मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। बरसात के दिनों में नमी से बचाना चाहिए।

संगठन – बीजों में स्थिर तैल, स्टार्च एवं शर्करा आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव – ककड़ी के बीज दूसरे दर्जे में शीत एवं तर होते हैं। यह सर, मूत्रल, पित्तरक्तसंशमन, तृष्णाशामक, मनः प्रसादकर एवं बल्य होते हैं। प्रतिनिधि–खीरे के बीज।

विशेष – बाजारों में ककड़ी एवं खीरे–दोनों के मिश्रित बीज 'तुख्म खियारैन' के नाम से मिलते हैं।

ककोड़ा (कर्कोटक)

नाम। सं०–कर्कोटकी, कर्कोटक, पीतपुष्पा, महाजाली। हिं०–खेखसा, खेकसा, ककोड़ा। वं०–वनकरेला, कांकरोला। म०–करटोलो। गु०–कंकोड़ा, कंटोला। मा०–काँटोला। ले०–मोमोर्डिका कोचीन चाइनेन्सिस् (*Momordica cochinchinensis Spreng*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड–कुल (कूकूरबिटासी: *Cucurbitacae*)।

प्राप्तिस्थान – वंगाल, दक्षिण भारत, कोचविहार राज्य एवं भारत में अन्यत्र सर्वत्र इसकी स्वयंजात लता पायी जाती है। वरसात में इसके फल सब्जीवाजार में विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – खेकसा की फलपाकांत वर्षानुवर्षी वहुवर्षीय लताएँ होती हैं, जो वृक्षादि का सहारा पाकर आरोहण करती हैं। यह गर्मी में पुरानी जड़ से ही निकल कर बढ़ती है, और वरसात में फूलती-फलती है। पत्तियाँ वंदाल की तरह पंचखण्डीय या पंचकोणीय होती हैं। फूल पीले रंग का होता है और फल परवल की रूपरेखा का किन्तु अपेक्षाकृत छोटा होता है, जिस पर वंदाल के फल की तरह हरे कोमल काँटे होते हैं। खेखसे का कच्चा फल तो हरा होता है, क़िन्तु पकने पर पिलाई लिए लाल रंग का हो जाता है। इसके भीतर वीज भरे होते हैं, जो पकने पर परवल की तरह श्याम वर्ण के होते हैं। इसके फलों की तरकारी वनायी जाती है। कहीं-कहीं लोग इन्ही को परवल के नाम से वरतते हैं। स्वाद भेद से खेखसा (१) कड़वा तथा (२) मीठा करके दो प्रकार का होता है। कड़वा तरकारी के काम नहीं आता। इसमें मूलकन्द (*Tuber*) पाया जाता है। औषधि में इन्हीं कन्दों तथा पत्र का व्यवहार होता है। इसका एक और भेद पाया जाता है, जिसमें फल न लग कर उनके स्थान में एक कोप होता है। इसे वन्ध्या कर्कोटकी या 'वांझ-ककोड़ा' कहते हैं। इसकी जड़ में भी कन्द निकलता है। वांझ ककोड़े में केवल नरपुष्प पाये जाते हैं।

उपयोगी अंग – वीज, फल, मूल एवं पत्रादि।

मात्रा – स्वरस–१ से २ तोला। मूलचूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम (३ से ६ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – खेकसा के वीज रूपरेखा में लट्वाकार चपटे तथा काले रंग के होते हैं, जो १/२ सें० मी० (१/५ इंच) तक मोटे तथा व्यास में ३५/१६ × २५/१६ सें०मी० (१७/८ × १५/८ इंच) होते हैं। किनारा कुछ दन्तुर (*Corrugated*) तथा तल रेखांकित से होते हैं। वीजचोल भंगुर होता है, जिसके अन्दर स्नेहमय मज्जा या गिरी होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों से वीजों को निकाल कर सुखा लें और मुखवंद शीशियों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। कन्द का संग्रह वर्षांत में कर छायाशुष्क कर लें और मुखवंद डिब्बों में रखें।

संगठन – छिलका रहित वीजों में कुछ-कुछ हरे रंग का तेल (४३.७%) तथा एक तिक्त ग्लुकोसाइड होता है। कर्कोटकी की भस्म में मैंगनीज पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – वीज–२ वर्ष। मूल–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वाह्यतः व्रणशोधन एवं केश्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग से रोचन, दीपन–पाचन, कटु पौष्टिक, पित्तसारक, अनुलोमन, (मूल–वामक), रक्तशोधक, अश्मरीभेदन प्रमेहघ्न, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, आदि होता है।

विशेष – चरकोक्त तिक्तस्कन्ध एवं सुश्रुतोक्त तिक्तवर्ग में कर्कोटकी का भी उल्लेख है।

कचनार (काञ्चनार)

नाम। सं०–काञ्चनार, कोविदार, उद्दाल, युग्मपत्र, गण्डारि (गण्डमाला को नष्ट करने वाला)। हिं०–कचनार, कचनाल, लाल कचनार। जौनसार–गोरिआव (*Goriao*)। पं०–कचनार, कुलाड़। म०–कोरल, कांचन। गु०–चंपाकाटी। वं०–काञ्चन। को०–जुरजु, बुज, बुरंग। संथा०–झिंजिर। ते०–देवकाञ्चनमु। ता०–मंदारै। मल०–शु(चु)वन्नमन्दारम्। ले०–वॉहीनिआ वारिएगाटा (*Bauhinia variegata Linn*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्वी-कुल : अम्लिका-उपकुल (*Leguminosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई में इसके पेड़ प्रचुरता से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त भारतवर्ष के जंगलों में निचली पहाड़ियों पर इसके स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। सौन्दर्य के लिए सर्वत्र वगीचों में लगाये हुए भी इसके वृक्ष मिलते हैं। काण्डत्वक् या छाल पंसारियों के यहाँ तथा कालिकाएँ एवं पुष्प मौसम में तरकारी फरोशों के यहाँ मिलते हैं।

परिचय – लाल कचनार के मध्यम कद के वृक्ष ते हैं। पत्तियाँ ६.२५ से १५ से० मी० (२–६ इंच) म्बी, इतनी ही (या कभी अधिक) चौड़ी, द्विखण्डित, ण्ड लगभग चौथाई या तिहाई दूरी तक कटे और गोल ग्र वाले होते हैं। पत्राग्र के मध्य भाग में दबे होने के ारण ऐसा मालूम होता है, मानों दो पत्र आपस में जुड़े ए हों। इसीलिए इसे युग्मपत्र कहते हैं। पत्र-शिराएँ संख्या में ११–१५, पर्णवृन्त २.५ से ३.७५ से० मी० (१–१॥ इंच) लम्बे होते हैं। पुष्पदण्ड छोटे और प्रायः आपद्म या नीलारुण, और गिरी हुई पत्तियों के कोणों से निकलते हैं। पतझड़ हो जाने पर ही प्रायः वृक्ष पुष्पित होता है। पुष्प बड़े सुगन्धित और ४–५ के समशिख गुच्छों (*Corymbs*) में निकलते हैं। वाह्य कोष का संयुक्त भाग शेष भाग के बराबर होता है। दलपत्र (*Patals*) संख्या में ५, प्रायः ५ से० मी० (२ इंच) लम्बे, अभिलट्वाकार या आयताकार होते हैं, जिनमें चार प्रायः सफेद होते हैं और एक लाल होता है, जिसमें मजबूत मध्यशिरा होती है और आधार से लाल बैंगनी रंग की शिराएँ निकली रहती हैं। प्रगल्भ पुंकेशर ५ या कभी-कभी ३–४ होते हैं। गर्भाशय (*Ovary*) सवृन्त, कुक्षिवृन्त (*Style*) लम्बा और कुक्षि छोटी होती है। शिम्बी या फली (*Pod*) १५ से २५ से० मी० या ६–१० इंच लम्बी, $\frac{3}{4}$ से $\frac{5}{4}$ से० मी० ($\frac{9}{10}$ से $\frac{6}{10}$ इंच) चौड़ी, चपटी, कड़ी, चिकनी, किंचित् वक्र (*Slightly falcate*) तथा पकने पर स्फोटी होती है, जिसमें १०–१५ बीज निकलते हैं। वसन्त में पतझड़ होता है, जिसके बाद (मार्च-अप्रैल) में पुष्पागम होता है। फलागम वर्षा ऋतु में होता है। काञ्चनार की अविकसित पुष्पकलिका का शाक-अचार बनाया जाता है। इसके विकसित पुष्पों का गुलकन्द भी बनाते हैं।

उपयोगी अंग – त्वक् (छाल) एवं पुष्प; पत्र, कली, बीज एवं गोंद।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कांचनार की छाल धूसर वर्ण की, अन्तर्वस्तु सघन, दानेदार (*fracture granular*) लालिमा लिये भूरे रंग की होती है। अन्तस्तल सफेद होता है, और वाह्य तल पर छोटे-छोटे अंडाकार उभाड़ से (*Elliptic warts*) होते हैं। कूटने पर छाल का चूर्ण लाल रंग का प्राप्त होता है, तथा स्वाद में यह कुछ कसैली होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कांचनार की अनेक जातियाँ (*Species*) होती हैं, जो प्रायः बगीचों में लगायी हुई इतस्ततः मिलती हैं। इनमें भी ३ मुख्य भेद मालूम पड़ते हैं – (१) लाल पुष्प वाला कचनार (जिसका वर्णन अभी किया गया है); (२) श्वेत पुष्प वाला कचनार (बॉहीनिआ आकूमिनाटा *B. acuminata Linn.*) तथा (३) पीला कांचनार (बा० पर्पूरेआ *B. purpurea Linn.*)। इसे कोविदार (सं०), कोइलार (था०) तथा कोइनार (खर०) कहते हैं। इसके पुष्प नीलारुण वर्ण के होते हैं। इसके वृक्ष भी हिमालय से लेकर लंका तक सर्वत्र पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त साहुल (*B. malabarica Roxb.*) तथा कठमहुली (*B. racemosa Lamk.*) भी इसकी दो अन्य महत्त्व की जातियाँ हैं। इनमें साहुल की पत्तियाँ स्वाद में खट्टी होती हैं। औषधीय प्रयोग में लाल कचनार के ही प्रयोग का प्रचलन है; किन्तु अन्य जातियों की छाल की सूक्ष्म रचना एवं रासायनिक संघटन सम्बन्धी अन्तर का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव अभाव में एक के स्थान में दूसरे का प्रयोग कर सकते हैं, हालाँकि लाल कचनार भी सर्वत्र सुलभ होने से यह प्रश्न विशेष महत्त्व नहीं रखता।

संग्रह एवं संरक्षण – कचनार सर्वत्र सुलभ होने से आवश्यकता पड़ने पर ताजा प्राप्त किया जा सकता है। यदि संग्रह करना हो तो छाल को छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – कचनार की छाल में टैनिन, शर्करा और एक भूरे रंग का गोंदीय पदार्थ पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण – रूक्ष, लघु। रस–कषाय। विपाक – कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–गण्डमालानाशन। प्रधान कर्म –व्रणशोधन एवं रोपण, स्तम्भन, मूत्रसंग्रहणीय, रक्तस्तम्भन, मेदो रोग, कुष्ठ, प्रमेह, रक्तपित्त, गण्डमाला एवं लसीका-ग्रंथिशोथ-नाशक। पुष्प–सारक होते हैं। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। अहितकारक – गुरु, चिरपाकी एवं

आनाहकारक। निवारण – गरम मसाला। प्रतिनिधि वाकला।

मुख्य योग – काञ्चनारगुग्गुल, काञ्चनादि क्वाथ, काञ्चन-गुटिका, गण्डमालाकण्डनरस, गुलकन्दकाञ्चनार, मत्वूख-हफ्तरोजा आदि।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) वमनोपग महाकपाय एवं सुश्रुतोक्त ऊर्ध्वभागहरगण तथा कपायवर्ग में कोविदार (काञ्चनार) भी है।

कचूर (कर्चूर)

नाम। स०–कर्चूर, द्राविड़, शटी। हिं०–कचूर। वम्वई–कचूर। म०–कचोर। गु०–काचूर, कचूरी। वं०–शटी, कोचूर, शोड़ी। अ०–ज़रंवाद, उरूक़ुल काफ़ूर (कर्पूर के समान गंधवाला कन्द), इर्क़ुल काफ़ूर। फा०–जुरंवाद, ज़रंवाद। अं०– ज़ेडोएरी *Zedoary*। ले०–कूर्कुमा ज़ेडोआरिआ (*Curcuma zedoaria Roscoe.*)।

वानस्पतिक कुल – आर्द्रक–कुल (सीटामिनासी *Scitaminaceae*)।

प्राप्तिस्थान – कचूर का पौधा सारे भारतवर्ष में होता है। पूर्वीय हिमालय की तराई, चटगाँव में तथा कनाडा में यह स्वयंजात भी होता है। वम्वई के वजार में कचूर का आयात प्रायः लंका से तथा वंगाल में चटगाँव से होता है।

संक्षिप्त परिचय – कचूर का पौधा ऊपर से देखने में विल्कुल हल्दी-जैसा होता है; परन्तु हल्दी की जड़ में और इसकी जड़ अथवा गाँठ में भेद होता है। इसके पौधे ४५ सें० मी० (१½ फुट) तक ऊँचे होते हैं। पत्तियाँ, संख्या में ४–६, ३० सें० मी० से ६० सें० मी० (१ से २ फुट) तक लम्वी, आयताकार, भालाकार, अग्र पर नुकीली होती हैं, जिनपर भूरापन लिए नीलारुण वर्ण की शिराएँ होती हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं, जो अवृन्तकाण्डज मंजरियों में निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड पत्तियों के पहले निकलता है। फल (*Capsule*) अंडाकार होता है, जिसमें छोटे वीज होते हैं।

उपयोगी अंग – गाँठदार जड़ अथवा कन्द (*Ttuber*) एवं पत्र।

मात्रा – कन्दचूर्ण–१ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा। इसका चूर्ण या फाण्ट वना कर प्रयुक्त किया जाता है। पत्रस्वरस – १ से २ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कचूर की जड़ अथवा गाँठ सफेद होती है, और उसमें कपूर-जैसी तीव्र सुगन्धि, तथा तिक्त एवं तीक्ष्ण स्वादयुक्त होती है। वाजार में इसके गोल-गोल काट कर सुखाये हुए टुकड़े मिलते हैं, जो खाक-स्तरी मटमैले (*Greyish-buff*) रंग के होते हैं।

मिलावट एवं प्रतिनिधि द्रव्य – जो कचूर मधुर स्वादयुक्त एवं अल्पगंधि होता है, वह असली कचूर नहीं है। इसका एक वड़ा भेद भी पाया जाता है, जिसे नर कचूर या काली हल्दी (हिं०, गु०) तथा वंगला में काली हलद कहते हैं। इसका लेटिन नाम **कूर्कुमा सेसिआ** (*Curcuma caesia Roxb.*) है। नर कचूर के पौधे वंगाल में प्रचुरता से जंगली रूप में पाये जाते हैं, और वहाँ इसकी खेती भी की जाती है। भारतीय वाजारों में इसका आमद मुख्यतः वंगाल से ही होता है। लम्वा कन्द नर कचूर, एवं गोल गाँठदार कन्द मादा कचूर के नाम से पुकारा जाता है। किन्तु वाजार में दोनों ही मिश्रित रूप से मिलते हैं। ताजी जड़ प्रायः हल्के पीले रंग की होती है; किन्तु वाजारों में आने वाले कन्द पानी में उवाल कर सुखाये हुए होते हैं, जिससे इनके रंग में काफी अन्तर आ जाता है। वाजार में मिलने वाले नर कचूर वाहर से गाढ़े भूरे रंग का तथा अन्दर भूरापन लिये काले रंग का होता है। कभी-कभी समूचे कन्द के स्थान में गोल-गोल काटे हुए कतरे (*Slices*) मिलते हैं, जो काले रंग के न होकर अन्दर खाकस्तरी नारंगवर्ण (*Greyish-orange*) होते हैं। इसमें कर्पूर की-सी गंध आती है। गुण-कर्म एवं सूक्ष्म रचना में नर कचूर विल्कुल कचूर की भाँति होता है। अतएव उसका उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है।

संग्रह एवं संरक्षण – पौधा सूख जाने पर कचूर की जड़ों को जमीन से खोद कर, जल में पका कर सुखा लिया जाता है। इसको अनार्द्र एवं शीतल स्थान में अच्छी तरह ढक्कन वंद पात्रों में रखना चाहिए।

संगठन – उड़नशील तेल, रेजिन, करकुमिन आदि ३.७६%; रेजिन, शर्करा–०.६०%; गोंद एवं सेन्द्रिय अम्ल–१५.२२%; स्टार्च–१७.२०%; तंतु (*Crude fibre* –१०.६२%; भस्म–६.०६%; एवं ऐल्व्युमिनायड्स। इससे प्राप्त तेल पीताभ श्वेत और चिपचिपा तथा कपूर

की तरह गंधस्वादमय होता है। इसकी जड़ में जेडोएरिआ (*Zedoarin*) नामक सत्व प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव—गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–शोथहर, वेदनास्थापन, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, आर्त्तवजनन, वाजीकरण, उत्तेजक, श्वासकासहर।

मुख्य योग – कर्चूर तैल।

कटाई (कटेरी) छोटी
(कण्टकारी)

नाम। सं०–कंटकारी, कण्टकारी, निदिग्धिका, दुःस्पर्शा, क्षुद्रा। हिं०–कटाई, भटकटाई, भटकटैया, कटेरी, कंडियारी। पं०–कंडियारी। सिन्ध–कांडेरी। म०–भुईरिंगणी। गु०–वेठी रिंगणी, भोटीं गडी, भोरिंगणी, भोंयरिंगणी। बं०–कण्टिकारी। अ०–वादंजानवर्री (दश्ती), शौकतुल् अक़रब। फा०–वादंगान वर्री, कटाईखुर्द। ले०–सोलानुम सूरात्तेंसे *Solanum surattense* Burm. f. (**पर्याय** – *S. xanthocarpum* Schr. & Wendl.)।

वानस्पतिक कुल– कण्टकारी-कुल (सोलानासी *Solanaceae*)।

प्राप्तिस्थान—प्रायः समस्त भारतवर्ष में इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त लंका, पाकिस्तान, दक्षिण पूर्वी एशिया एवं आस्ट्रेलिया में भी यह पायी जाती है। अरब में भी छोटी कटाई होती है। सर्वत्र सुलभ होने से यह आवश्यकता पड़ने पर प्राप्त की जा सकती है। सुखाया पंचाङ्ग बाजारों में पंसारियों के यहाँ विकता है।

संक्षिप्त परिचय – कण्टकारी या भटकटैया के छोटे-छोटे कंटीले क्षुप होते है, जो छत्ते की भाँति भूमि पर आच्छादित कर फैले होते हैं। यह ऊँची एवं शुष्क भूमि में उत्पन्न होती है। नदीतीर में यह बहुत सुख मानती है, और खूब बढ़ती है। शीतकाल में यह संकुचित रहती है और गरमी के दिनों में फूल-फल से सुशोभित होती एवं बरसात का पानी पड़ते ही क्लिन्न होकर नष्ट हो जाती है। इसकी शाखाओं, पत्र, पत्रवृन्त एवं पुष्पवाहक दण्ड सभी पर तीक्ष्णाग्र प्रचुर कण्टक होते हैं। भटकटैया का प्रधान काण्ड बहुत छोटा तथा काष्ठीय (*Woody*) होता है और जड़के पास से ही अनेक टेढ़ी-मेढ़ी शाखाएँ निकल कर चारों ओर (*Diffuse*) भूमि पर छत्ते के समान फैलती हैं। इसकी जड़ प्रायः बहुवर्षायु (*Perennial*) स्वभाव की होती है। पत्तियाँ ५ सें० मी० से १० सें० मी० (२ से ४ इंच) लम्बी, २.५ से ६.२५ सें० मी० (१ से २$\frac{1}{2}$ इंच) चौड़ी, रूपरेखा में देखने म वनगोभी की पत्तियों की तरह तथा दोनों पृष्ठों पर सूक्ष्मरोमावृत होती ह। मध्यशिरा (*Midrib*) एवं अन्य शिराओं पर पीले रंग के सीधे एवं नुकीले कण्टक होते हैं। पत्र-वृन्त (*Petiole*) १.$\frac{1}{3}$ से २$\frac{1}{2}$ सेंटीमीटर ($\frac{1}{2}$ से १ इंच) लम्बे एवं रोमावृत्त (*Stellately hairy*), तथा पत्तों की भाँति इसपर भी काँटे होते हैं। पुष्प-स्तवक पत्तियों के अन्तर्मध्यभागीय काण्ड से (*Extra axillary cymes*) निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड इतना लम्बा होता है, कि उस पर ५–६ चमकीले बैंगनी लिये नील वर्ण के पुष्प धारण किये जाते हैं, जो एकान्तर क्रम से स्थित होते हैं। कभी-कभी केवल १–१ पुष्प ही धारण किये जाते हैं। पुष्पवाह्यकोप या वाह्य दलपुंज (*Calyx*) भी सघन रोमावृत्त तथा काँटेदार होता है। फल या बेरी (*Berry*) गोलाकार, व्यास में १$\frac{1}{3}$ से २ सेंटीमीटर, बड़ी रसभरी की आकृति का, चिकना तथा नीचे की ओर झुका हुआ होता है। फल का कुछ भाग वाह्य कोष से आवृत्त (*Surrounded by the enlarged calyx*) रहता है। अपक्वावस्था में यह हरा या सफेद या चितले रंग का (*Variegated with green and white*) होता है। फल के गात्र पर सफेद धारियाँ पड़ी होती हैं। पकने पर यह पीला पड़ जाता है। बीज भंटे के बीज की भाँति तथा व्यास में २$\frac{1}{2}$ मि० मि० होते हैं।

उपयोगी अंग– पंचाङ्ग।

मात्रा – (१) क्वाथ–५ से १० तो०।
(२) चूर्ण–१ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य (*Foreign organic matter*) अधिकतम २०%; शुष्कपत्तियों से प्राप्त भस्म २०.७४%।

संग्रह एवं संरक्षण – फलागम के बाद पंचाङ्ग का ग्रहण कर सुखा कर मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र स्थान में संरक्षण करना चाहिए।

संगठन – स्थूलतः छोटी कटेरी का रासायनिक संघटन भी बड़ी कटेरी की भाँति होता है।

वीर्यकालावधि – ६ महीने से १ वर्ष तक।

स्वभाव—गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–प्रतिश्याय, कास, श्वास, पार्श्वशूल एवं स्वरभेद में उपयोगी। **चरकोक्त** (सू०अ०४) कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण, कासहर, शोथहर, शीतप्रशमन एवं अंगमर्द प्रशमन, महाकषायों के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वृहत्यादि गण, वरुणादि गण एवं लघुपंचमूल में कण्टकारी की भी गणना है।

मुख्य योग—कण्टकार्यवलेह, निदिग्धिकादिक्वाथ, कण्टकारी घृत, व्याघ्रीतैल, व्याघ्रीहरीतकी, दशमूल।

विशेष—आयुर्वेदीय निघण्टुओं में लक्ष्मणा के नाम से 'श्वेतपुष्पी कण्टकारी' का भी उल्लेख मिलता है, और गर्भ संस्थापक गुणों के लिए इसकी प्रशंसा की गयी है। किन्तु श्वेतफूल की भटकटैया दुर्लभ है, और उपलब्ध नहीं होती।

कटाई वड़ी या बड़ी कटेरी
(बृहती)

नाम। सं०–वृहती, क्षुद्रभण्टाकी। हिं०–वड़ी कटेरी, वनभंटा। को०–अजंड, हुजंड। म०–डोरलें, डोरली। गु०–उभी रिंगणी। वं०–व्याकुड (र)। फा०–कटाइ कलाँ। ले०–सोलानुम ईंडिकुम (*Solanum indicum Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – कण्टकारी-कुल (सोलानासी *Solanaceae*)।

प्राप्तिस्थान—इसके क्षुप सर्वत्र देश में पाये जाते हैं। इसका शुष्क पंचाङ्ग पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय—इसके क्षुपक या गुल्मक (*Undershrub*) ०.३ मीटर से १.८ मीटर या १–६ फीट ऊँचे होते हैं। शाखाएँ श्वेत रोमश एवं टेढ़े मृदु कण्टकों से युक्त होती हैं। पत्तियाँ ५ से १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्बी, २.५ से० ६.५ सें० मी० या १–३ इंच चौड़ी, लट्वाकार या आयताकार, लहरदार या खंडित तट वाली तथा नुकीले अग्र वाली होती हैं, जो अधः पृष्ठ पर रोमश होने के कारण मैले सफेद रंग की और ऊपरीतल पर तारकाकार रोमों (*Stellate-pubescent*) के कारण कुछ-कुछ खुरखुरी होती हैं तथा अवस्तल पर मध्यशिरा पर अथवा अन्य शिराओं पर मृदु कंटकों से युक्त होती है। पर्णवृन्त १.२५ से २.५ सें० मी० या ½–१ इंच लम्बे होते हैं। पुष्प नीले (या कभी-कभी श्वेताभ) और व्यास में १८.७५ मि० मी० या ¾ इंच तथा काँटेदार होते हैं, जो पत्रकोणों के किंचित् ऊपर स्थित ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १॥–२ इंच लम्बी मञ्जरियों (*Extra-axillary racemose cymes*) में निकलते हैं। फल (*Berry*) व्यास में ६.५ मि० मी० से ८.७५ मि० मी० या $\frac{3}{10}$ से $\frac{7}{20}$ इंच तथा आपाततः देखने में भंटा जैसा, कच्ची अवस्था में हरे एवं श्वेतरेखांकित तथा पकने पर पीले पड़ जाते हैं। उनका स्थायी वाह्यकोश पहले जैसा छोटा होता है। उक्त फल स्वाद में तिक्त होते हैं। वनभण्टे में प्रायः साल भर फूल-फल लगते रहते हैं।

उपयोगी अंग— मूल, फल।

मात्रा—क्वाथार्थ (मूल)–५ ग्राम से ६ ग्राम या ५ से ६ माशा। (मूल एवं फल) चूर्ण–१ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा तथा प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—वनभण्टे की कतिपय अन्य जातियाँ भी स्थान-स्थान में पायी जाती हैं, जो एक-दूसरे से वहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। अतएव जिन क्षेत्रों में जो जाति अधिक पायी जाती है, वहाँ वनभण्टा (वृहती) के नाम से उसीका संग्रह किया जाता है और उस क्षेत्र के वाजारों में भी वही उपलब्ध होती है:—(१) वृहती भेद (श्वेत वृहती–कुट्मा)–सोलानुम टार्वुम (*Solanum torvum Swartz.*)—इसके क्षुप भी साधारणतया आपाततः देखने में *S. indicium L.* की ही तरह होते हैं, किन्तु पत्तियों पर काँटे पहले की अपेक्षा कम (पृष्ठतल पर मध्यपर्शुका के आधार के पास केवल १–२ काँटे) तथा पुष्प हमेशा सफेद होते हैं और वाह्य कोश पर काँटे नहीं होते। फल भी अपेक्षाकृत वड़े (व्यास में १ सें० मी० से १.२५ सें० मी० या ⅖ से ½ इच तक) और पकने पर पीले होते हैं; (२) सोलानुम मेलांगेना उप० इन्सानुम (*S. melongana L.vel. insanum Prain.*) (वृहती भेद–जंगली वैंगन, टोको, ढोको, गठेगनी, गुठैगन, वनभैटागो)–यह वैंगन का ही जंगली भेद है। इसके क्षुप अधिक कँटीले, पत्ती और काण्ड छोटे और अधिक श्वेत तूल-रोमश तथा फल पीले, गोल और व्यास में लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच तक होते हैं। मिर्जापुर के जंगलों में प्रायः यही किस्म अधिक मिलता है। अत-

एव वाराणसी के दूकानदारों के यहाँ वनभण्टा नाम से इसी जाति के क्षुप मिलते हैं। देहरादून में भी सड़कों के किनारे तथा उजाड़ जगहों में पायी जाती है। साधारणतया इनका ग्रहण एक दूसरे के स्थान में किया जा सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण – छायाशुष्क पंचाङ्ग को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – इसके मूल एवं फल में सोलेनीन एवं सोलेनिडीन (*Solanidine*) तथा मोमीय पदार्थ एवं वसाम्ल आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, वेदनास्थापन, उत्तेजक, केश्य, दीपन-पाचन, ग्राही, शोथहर, रक्तशोधक, हृदयोत्तेजक, कफघ्न, कासश्वासहर, मूत्रल, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न आदि। वीज गर्भाशय संकोचक तथा वाजीकरण होते हैं।

मुख्य योग – लघुपंचमूल, वृहत्यादि क्वाथ।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ०४) कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण, शोथहर एवं अंगमर्दप्रशमन महाकषाय तथा सुश्रुत के (सू अ० ३८) वृहत्यादि और लघु पञ्चमूल गण के द्रव्यों में वृहती की भी गणना है।

कड्वी तोरई–दे० 'तोरई'।

कतीरा देशी (पीतकार्पास निर्यास)

नाम। सं०–पीतकार्पास (अभिनव)। हिं०–पीली कपास, गलगल (मिर्जापुर)। सहारनपुर–गेजरा (*Gejra*), अरलू (*Arlu*)। कोल–हूपू। संथा०–होपो। उड़िया–काँटोपलास। अं०–यलो काटन ट्री (*Yellow Cotton tree*), गोल्डन सिल्क-काटन ट्री (*Golden Silk-Cotton tree*)। ले०–कॉक्लोस्पेर्मुम रेलिजिओसुम *Cochlospermum religiosum* (*Linn.*) *Alston.* (पर्याय–कॉक्लोस्पेर्मुम गॉस्सीपिउम *Cochlospermum gossypium DC.*)। उपर्युक्त नाम इसके वृक्ष के हैं। गोंद–देशी कतीरा या कतीराएँ हिंदी या अंगरेजी में 'हॉग-गम *Hog gum*' कहते हैं। वक्तव्य–गोंद कतीरा या गमट्रागाकान्थ (*Gum Tragacanth*) वास्तव में विदेशी द्रव्य है। यह श्रास्ट्रागालास की विभिन्न जातिओं से प्राप्त किया जाता है, और फारस से भारतीय वाजारों में आता है। पाश्चात्य वैद्यक में भी इमलशन आदि के निर्माण में इसका काफी मात्रा में प्रयोग किया जाता है। भारतवर्ष में भी दो वृक्ष ऐसे हैं, जिनसे प्राप्त गोंद विल्कुल गोंद कतीरे-जैसा होता है, अतएव यवन आगन्तुकों ने इसे 'कतीरा हिन्दी' नाम से अभिहित किया और यह असली गोंद कतीरा का एक उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। पीली कपास के गोंद से विल्कुल मिलता-जुलता गुलू या कुल्लो का लासा भी होता है, जो रामनामी या स्टेर्कूलिआ ऊरेंस *Sterculia urens Roxb.* (*Family. Sterculiaceae*) से प्राप्त किया जाता है। वम्बई के वाजार में गुजराती दूकानदार इसे 'कराइ गोंद *Karai Gond*' के नाम से वेचते हैं। 'कतीरा', कराया' आदि नाम उक्त दोनों ही वृक्षों के लिए प्रचलित हैं, और स्वरूपतः तथा प्रयोग की दृष्टि से एक-दूसरे से वहुत मिलते-जुलते हैं। फिर भी यह तो ध्यान में रहना ही चाहिए कि दोनों एक ही चीज नहीं है, अपितु दो पथक्-पृथक् वृक्षों से प्राप्त गोंद हैं।

वानस्पतिक कुल—पीतकार्पास-कुल (वीक्सासी *Bixaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पीतकार्पास के वृक्ष प्रायः समस्त भारतवर्ष में (विशेषतः गढ़वाल, वुंदेलखण्ड, विहार, उड़ीसा, मध्य भारत, वंगाल, दक्षिण भारत, मद्रास आदि) में पथरीली पहाड़ियों के जंगलों में स्वयंजात पाये जाते हैं। स्टेर्कूलिआ ऊरेन्स भी इन सभी जगहों में पाया जाता है। इनका गोंद वाजारों में पंसारियों के यहाँ गुलु, कुल्ली या देशी कतीरा के नाम से विकता है।

संक्षिप्त परिचय —(१) पीतकार्पास या गलगल–इसका वृक्ष छोटा, सीधा तथा वहुत मुलायम काष्ठ वाला होता है। काण्डत्वक् पर अनेक गहरी दरारें पड़ी होती हैं। पत्तियाँ ७.५ से २० सें० मी० (३–८ इंच) व्यास की, करतलाकार ३–५ नुकीले खण्डों से युक्त होती हैं। पर्णवृन्त १५ सें० मी० से २२.५ सें० मी० (६–९) इंच लम्बा एवं स्थूल होता है। पुष्प उभयलिंगी, व्यास में ६.५ से १२.५ सें० मी० (३–५ इंच) तथा पीले रंग के होते हैं, जो पतझड़ के वाद नयी पत्तियों के निकलने के पूर्व ही शाखाग्र मञ्जरियों (*Terminal Panicles*) में निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड तथा पुष्पवृन्त खाकस्तरी रोमावृत्त, पुटपत्र ५ तथा दलपत्र भी ५ तथा

अभिलट्वाकार जिन पर अनेक सूक्ष्म समानान्तर शिराएँ होती हैं। फल रूपरेखा में सेव के आकार का (*Pyriform*) सामान्य स्फोटी होता है, जिसका स्फुटन ५ दरारों में (प्रत्येक ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच लम्वा) होता है। फलों में लगभग ५ मि० मी० या $\frac{1}{5}$ इंच लम्वे वृक्काकार वीज होते हैं, जिनके ऊपर पीले रंग की तथा रेशम की तरह मुलायम रूई होती है। पतझड़ दिसम्बर से अप्रैल तक तथा पुष्पागम मार्च से अप्रैल तक तथा फलागम जून-जुलाई में होता है। गर्मियों में पुष्पागम के वाद वृक्ष अत्यंत आकर्षक मालूम होता है। काण्ड पर स्वयं अथवा चीरा लगाने पर गोंद निकलता है; (२) कुल्लु, कुल्ली या रामनामी (*Sterculia urens Roxb.*) के ऊँचे तथा पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं, जिसकी छाल हरिताभ खाकस्तरी (श्वेत) होती है, तथा कागज की भाँति पतले-पतले पर्तों में छूटती है। पत्तियाँ करतलाकार, ५–खण्डित, व्यास में २२.५ से ३० सें० मी० (९–१२ इंच) होती हैं, जो शाखाओं पर समूहवद्ध निकलती हैं। पर्णवृन्त २२.५ से ३० सें० मी० (९–१२ इंच) लम्वे होते हैं। पुष्प एकलिंगी तथा छोटे और लाल भूरे रंग के होते हैं। इससे भी एक गोंद निकलता है, जो वाजारों में कतीरा के नाम से विकता है।

उपयोगी अंग—गोंद (*Gum*)।

मात्रा— १ ग्राम से ३ ग्राम या १ माशा से ३ माशा तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा— (१) पीतकार्पास निर्यास के सफेद, पीताभ या हल्की गुलावी आभा लिये, छोटे-बड़े गोल टुकड़े होते हैं, जो प्रायः स्तरित तथा ऐंठे हुए से (*Striated and twisted*) और अर्ध-पारदर्शक होते हैं। जल में भिगोने पर फूल कर असली कतीरा की भाँति जेलीनुमा हो जाता है; किन्तु जल में विलेय नहीं होता। विदेशी कतीरा की अपेक्षा इसका चूर्ण आसानी से वन जाता है। गुलू तथा पीतकार्पास निर्यास नमी में खुला रहने से, इनका कुछ भाग एसेटिक एसिड में रूपान्तरित हो जाता है।

(२) गुलू या कुल्ली – कुल्ली के गोंद के सफेद या गुलावी आभा लिये हल्के भूरे रंग के अथवा कृष्णाभ या मटमैले रंग के स्फीताकार टुकड़े (*Strips*) या गोल-गोल अश्रुवत् छोटे-वड़े दाने या कृमि-आकार के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े होते हैं। ताजी अवस्था में इनमें एसेटिक एसिड-सी हल्की गंध भी आती है। वाजारों में आने वाले गोंद में सफेद गोंद सर्वोत्तम, गुलावी आभावाला द्वितीय श्रेणी का तथा मटमैला और कृष्णाभ उससे भी हीन कोटि का समझा जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – स्टेर्कूलिआ की अन्य जातियों से भी इसी प्रकार का गोंद निकलता है, जिसका मिलावट संग्रहकर्ता प्रायः कुल्ली के गोंद में करते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण—भारतवर्ष में उक्त दो वृक्षों से गोंद का संग्रह अधिक किया जाता है। उनमें भी कुल्ली का गोंद व्यावसायिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। वृक्षों से गोंद स्वयं भी निकलता रहता है। किन्तु शीघ्रता से अधिक मात्रा में निकालने के लिए वृक्षों पर चीरा लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में कुल्ली का संग्रह विशेषतः अक्टूवर से जनवरी तथा अप्रैल से जून के महीनों में किया जाता है। उनमें भी गर्मी की ऋतु अधिक उपयुक्त होती है। कतीरे को अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में रखना चाहिए और नमी से बचाना चाहिए।

संगठन— पीतकार्पास, कतीरा में ५०% पेन्टोसन्स एवं ग्लैक्टन्स (*Pentosans and glactans*) होते हैं। जल-अपघटन (*Hydrolysis*) होने पर एसेटिक एसिड (१४%), गोंडिक एसिड (*gondic acid* $C_{23}H_{26}O_{21}$) तथा *a-cochlospermic acid* आदि में रूपान्तरित होते हैं। कुल्ली के गोंद में म्युसिक एसिड (*Mucid acid*) आदि तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – देशी कतीरा भी अनुष्ण शीत एवं स्निग्ध होता है। यह रक्तस्तम्भक, पिच्छिल, मृदुसारक, दाह एवं संतापहर, वृंहण तथा उरोमार्दवकर होता है। अहितकर–निम्नभाग के रोगों में अहितकर है। निवारण–अनीसूं। प्रतिनिधि–ववूल का गोंद।

विशेष – पाश्चात्य भैषज्यकल्पना में इमलसन के निर्माण में देशी कतीरा, ट्रागाकान्थ का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। सारक के रूप में यह अगर का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। अगर की आधी मात्रा में भी इसका सेवन करने से वही कार्य होता है।

कत्था (खैर, खदिर)

नाम। सं०–खदिरसार, खादिर (खदिरनिर्यास)। हिं०–कत, कत्था, कथ, खैर। बं०–कत, कात। गु०–काथो। द०–कत्थ। अ०–कात, काद। फा०–कात। अं०–कैटेक्यू (*Catechu*), कच (*Cutch*)। पर्याय–काटेकू नीग्रुम *Catechu Nigrum* (*Catech. Nig*)–ले०; ब्लैक कैटेक्यू *Black Catechu* अं०। वृक्ष का नाम–आकासिआ काटेकू *Acacia catechu Willd.*

वानस्पतिक कुल–शिम्बीकुल: बब्बूल उपकुल (*Leguminosae: Mimosaceāe*)।

प्राप्तिस्थान–भारतवर्ष में, पंजाब, उत्तर पश्चिमी हिमालय प्रदेश, मध्य भारत, बिहार, कोंकण, दकन तथा बर्मा में खैर के वृक्ष जंगली रूप से एवं प्रचुरता से पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय–खैर के मध्यम कद के कण्टकित वृक्ष होते हैं। अनुपत्रों (*Stipules*) का रूपान्तर मृदु कण्टकों (*Spines*) में हो जाता है, जो दो-दो के जोड़ों (*Pairs*) में अग्र पर मुड़े हुए तथा चमकदार भूरे रंग के या प्रायः कालिमा लिये भूरे रंग के होते हैं। काण्डत्वक् गाढ़े खाकस्तरी रंग की होती है। पत्तियाँ १० से १७.५ सें० मी० (४–७ इंच) लम्बी, रेकिस (*Rachis*) कण्टकित होती है। पत्रक–२० से६० तक ३.३ सें० मी० ($१\frac{१}{३}$ इंच) लम्बे; प्रत्येक पत्रक ६०–१०० प्रपत्रकों में विभक्त, जो प्रायः $\frac{३}{८}$ सें० मी० (०·१५ इंच) लम्बे होते हैं। पुष्प–पीताभ या क्रीम रंग के, कोणोद्भूत गोल मञ्जरियों में निकलते हैं। फली (*Pod*)–५ से ८.७५ सें० मी० (२ से $३\frac{१}{२}$ इंच) लम्बी, चपटी, सीधी, चमकदार गाढ़े भूरे रंग की होती है, जिसमें ५–६ बीज होते हैं, जो गोलाकार, व्यास में ५ मि० मी० (०.२ इंच), चपटे तथा गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। फलियों में ५ मि० मी० से ६.५ मि० मी० या ०.२ से ०.३ इंच लम्बा डंठल लगा होता है। फलियाँ पकने पर काफी दिनों तक वृक्ष पर लगी होती हैं। पुष्पागम–ग्रीष्म के अन्त एवं वर्षा का प्रारम्भ। फलागम–जाड़ों में।

उपयोगी अंग–(१) खदिरसार या कत्था (२) काण्डत्वक् (छाल)।

मात्रा–खदिरसार–०.३७५ ग्राम से ०.७५ ग्राम या ३ से ६ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–कत्था, खैर के पेड़ के सारकाष्ठ (हीर *Heart-wood*) से विशेष विधि द्वारा कल्पना की गयी शुष्क रसक्रिया है। कत्था गाढ़े भूरे रंग से लेकर काले रंग तक के अनियमित स्वरूप के टुकड़ों में अथवा घनाकार टुकड़ों (*Cubes*) में प्राप्त होता है, जो अत्यन्त सुषिर (*Porous*) होते हैं और बाह्यतः मटमैले रंग के अथवा चमकीले होते हैं। खैर के टुकड़े अत्यंत भंगुर होते हैं; तथा जरा-सा दबाव से भुरभुरे चूर्ण के रूप में टूटने लगते हैं। इसमें प्रायः कोई गंध नहीं पायी जाती तथा स्वाद में पहले तिक्त किन्तु बाद में किंचित् मधुर तथा कसैला मालूम होता है।

रंग भेद से कत्था बाजार में कई प्रकार का प्राप्त होता है :—(१) यह ललाई लिये भूरा और भीतर से अत्यंत हलका, पीले (या बादामी) रंग का होता है, और सहज में टूट जाता है। स्वाद पहले तिक्त एवं कषाय गोंद-जैसा और पीछे मधुर प्रतीत होता है। इसे प(पा)पड़िया, भगूरी या पखरा कत्था कहते हैं। औषधीय प्रयोग के लिए यही ग्राह्य है; (२) लाल–यह औषधोपयोग के लिए उपयुक्त नहीं होता और केवल पान में खाने के लिए व्यवहृत होता है; (३) काला–यह अत्यंत तिक्त होता है। औषधीय प्रयोग के लिए यह भी अनुपयुक्त है।

खैर के जलीय विलयन का सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा परीक्षण करने पर उसमें बहुलता से सूच्याकार क्रिस्टल्स देखे जाते हैं। जल में खैर अच्छी तरह घुल जाता है। गरम जल में और भी सुविलेय होता है। लौह-लवणों (*Iron-salts*) एवं जिलेटिन के साथ कत्था असंयोज्य (*Incompatible*) होता है। जल में अविलेय (न घुलने वाला) अवशेष—अधिकतम २५%; ऐल्कोहॉल (९०%) में अविलेय अंश—अधिकतम ४०%; भस्म—अधिकतम ८%; १००° तापक्रम पर शुष्कीकरण से भार में कमी—अधिकतम १५%।

अन्य परीक्षण–(१) १०% शक्ति का जलीय विलयन १ मि० लि० (१ सी० सी०=१५ बूंद) में चूर्णोदक (चने का पानी) कतिपय विन्दु मिलाने से ३ मिनट के अन्दर विलयन का रंग भूरे रंग का हो जाता है, जिसमें बाद में लाल अवक्षेप होने लगता है। (२) कत्था का १% शक्ति का जलीय विलयन ५ सी० सी० लें। इसमें

फेरिक अमोनियम सल्फेट का ०.१% शक्ति का विलयन मिलाने से विलयन गाढ़े हरे रंग का हो जाता है। इस हरे विलयन में सोडियम हाइड्रॉक्साइड का विलयन मिलाने से यह पुनः वैंगनी (*Purple*) रंग का हो जाता है। १०% (*w/v*) के स्वच्छ जलीय विलयन में ५% (*w/v*) का फेरिक क्लोराइड विलयन मिलाने से भी यही परिवर्तन लक्षित होता है।

संग्रह एवं संरक्षण—खदिर की छाल, एवं खैर को मुखवंद पात्रों में शीतल स्थान में संग्रहीत करें।

संगठन – (१) कत्थे में ५० प्रतिशत तक कैटेकू-टैनिक एसिड (*Catechu-tannic acid*) होता है, जो इसका सक्रिय घटक होता है और उबालने से या मुँह की लाला से मिल कर यह कैटेकीन में परिणत हो जाता है। इसके अतिरिक्त कैटेकोल, क्वर्सिटिन (*Quercetin*) एवं कैटेक्यूरेड (*Catechu Red*) आदि तत्त्व।

वीर्यकालावधि – छाल—१ वर्ष। खैर—दीर्घ काल तक।

स्वभाव—गुण—लघु, रूक्ष। रस—तिक्त, कपाय। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। प्रभाव—कुष्ठघ्न। प्रधान कर्म—रक्तशोधक, रक्तस्तम्भक, कासशामक, स्तम्भक आदि। अहितकर—कामावसादकर एवं अश्मरीकारक है। निवारण—अंवर एवं कस्तूरी। प्रतिनिधि—गेरु और माजू। चरकोक्त (सू० अ० ४) कुष्ठघ्न महाकषाय एवं (वि० अ० ८) कपायस्कन्ध के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सालसारादिगण में खदिर का भी उल्लेख है।

मुख्य योग – खदिरारिष्ट, खदिरादि वटी, खदिरादि क्वाथ, खदिराष्टक एवं ज़रूरकुला आदि।

विशेष – पाश्चात्य वैद्यक में लताखदिर (*Uncaria gambir Roxb. Family : Rubiaceae*) से प्राप्त कैटेकू, जिसे श्वेत खदिर कहते हैं, व्यवहृत होता है। इसकी कँटीली लताएँ वोर्नियो, सुमात्रा एवं मलाया आदि में प्रचुरता से पायी जाती हैं।

कनेर (कखीर)

नाम। सं०— कखीर, हयमार (अश्वमारक, अश्वघ्न)। हिं०— कनेर कनइल। वं०—करवी। म०—कंण्हेर। गु०—कणेर, करेण। सिन्धी—जंगी गुलु। अ०—सम्मुल्—हिमार, सम्मुल्मार। फा०—खरज़हरा। अं०—(श्वेत तथा लाल कनेर) स्वीट-सेंटेड ओलिएण्डर (*Sweet-scented oleander*)। ले०—(१)श्वेत तथा रक्त कखीर—नेरिउम इंडिकुम *Nerium indicum Mill.* (पर्याय—*N. odorum Sol.*)। (२) पीत कखीर (पीला कनेर) थेवेटिआ नेरिफोलिआ *Thevetia nerifolia Juss.*। अरवी सम्मुल् हिमार और फारसी खरज़हरा का अर्थ गर्दभविष और अरवी सम्मुलमार का अर्थ सर्पविप है। संस्कृत अश्वमारक, हयमार एवं अश्वघ्न के अर्थ 'घोड़ों के लिए घातक' है। कनेर एक जहरीला द्रव्य है, जिसमें पीला कनेर अपेक्षाकृत और भी जहरीला होता है। उक्त प्राणियों पर विपाक्त प्रभाव अधिक होने से यह नाम अन्वर्थक हैं।

वानस्पतिक कुल—कखीर-कुल (आपोसीनासी *Apocynaceae*)।

प्राप्तिस्थान—पश्चिमी हिमालय प्रदेश, उत्तर प्रदेश, सिन्ध एवं मध्य भारत तथा भारतवर्ष के अन्य प्रांत। पीला कनेर पश्चिमी द्वीप समूह का आदिवासी पौधा है। भारतवर्ष में सफेद, लाल एवं पीला तीनों प्रकार के कनेर के वृक्ष जंगली रूप से भी पाये जाते हैं; तथा पुष्प के लिए वगीचों में तथा मन्दिरों के पास इसके लगाये हुए वृक्ष भी मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय—(१) श्वेत तथा रक्त कखीर, कनेर के गुल्मजातीय मँझोले कद के सदाहरित वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ—प्रत्येक स्थान पर प्रायः ३—३ के पुंज में निकलती हैं, जो १० से १५ सें० मी० (४ से ६ इंच) लम्बी तथा १.२५ से २.५ सें० मी० (½ से १ इंच) चौड़ी और रूप रेखा में रेखाकार-भालाकार अथवा आयताकार, लम्बाग्र (*Acuminate*), चिकनी, ऊर्ध्व पृष्ठ पर गाढ़े हरे रंग की और चमकीली, अधः पृष्ठ पर खुरदरी, स्पर्श में चर्मिल (*Coriaceous*) मालूम होती हैं। पत्रवृन्त (डंठल) छोटे-छोटे होते हैं। पुष्प व्यास में ३.७५ सें० मी० (१½ इंच) रंग में सफेद गुलावी तथा लाल होते हैं, जिनमें एक मधुर सुगंधि पायी जाती है, जो शाखाओं तथा पर गुच्छों में निकलते हैं। फल ६-७ इंच लम्वे $\frac{3}{10}$ से $\frac{4}{10}$ इंच चौड़े तथा कड़े होते हैं। वीज रेखाकार तथा रूई के समान लोम (*Coma*) युक्त, जो खाकस्तरी भूरे रंग का होता है। (२) पीत कखीर—के भी छोटे वृक्ष होते हैं, जिसमें पीले रंग के घंटिकाकार पुष्प लगते हैं। फल—गोलाकार-चतुष्कोणाकार, गूदेदार तथा हरे रंग का होता है, जो ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० (१½—२ इंच) व्यास में होता है। प्रत्येक फल में एक कड़ी गुठली होती

है। कखीर कुल की अन्य वनस्पतियों की भाँति कनेर की भी पत्तियों को तोड़ने से तथा अन्य अंगों पर भी क्षत करने से एक कड़वा दूध सा (*Latex*) निकलता है।

उपयोगी अंग – मूल या जड़ (अथवा मूलत्वक्, जड़ की छाल) एवं पत्र।

मात्रा – मूलत्वक् चूर्ण–०.१२५ ग्राम से ०.५ ग्राम (१ ग्राम) या १ से ४ रत्ती (१ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–सफेद अथवा लाल कनेर की जड़ें प्रायः टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, जिसकी छाल (*Bark*) मोटी किन्तु मुलायम होती है। बाहर से छाल खाकस्तरी रंग की (*Grey*) होती है। नयी जड़ों पर कार्क स्तर (*Corky layer*) बहुत पतली होती है, जिसमें अन्दर का भाग (जो पीले रंग का होता है) दिखाई देता है। जड़ पर क्षत के करने से एक हल्के पीले रंग का आक्षीर या लैटेक्स (*Pale yellow latex*) निकलता है, जो राल की भाँति तथा चिपचिपा होता है। छाल स्वाद में तिक्त एवं कटु तथा गंध में भी कटु होती है। पत्र (देखो संक्षिप्त परिचय)।

संग्रह एवं संरक्षण–जड़ों का संग्रह जाड़े के दिनों में करके सुखा कर अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में रख कर अनार्द्र एवं शीतल स्थान में रखना चाहिए। पत्तियों का प्रयोग ताजी अवस्था में ही करना चाहिए।

संगठन–सफेद तथा लाल कनेर की जड़ में (नेरिओडोरिन (*Neriodorin*), जो जल में अविलेय है, तथा कखीरीन (नेरिओडोरीन *Neriodorein*)–ये दो तिक्त अक्रिस्टलीय तत्त्व पाये जाते हैं। यह दोनों हृदय के लिए भयंकर विष हैं। इनके अतिरिक्त इसमें नेरिईन (*Neriene*) नामक पदार्थ होता है। पीले कनेर के बीज और छाल में थेवेटिन (*Thevetin*) और खली में थेवेटीन (*Thevetine*) नामक विषैल सत्व (ग्लूकोसाइड) पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – (जड़)–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण-लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वातकफनाशक, व्रणशोधन एवं रोपण, (अल्प मात्रा में) रक्तशोधक, कुष्ठनाशक, भेदन पर्यायज्वरनाशक एवं वाजीकर। चरकोक्त (सू० अ० ४) कुष्ठघ्न महाकषाय एवं तिक्त-—व (वि० अ० ८) के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) लाक्षादि वर्ग एवं शिरोविरेचन द्रव्यों (सू० अ० ३९) में करवीर भी है।

मुख्य योग – करवीरयोग, करवीरादि तैल।

विशेष – कनेर एक विषैला द्रव्य है। अतएव आभ्यन्तरिक प्रयोग सतर्कतापूर्वक तथा निर्दिष्ट मात्रा से कम ही करना अच्छा है। अधिक मात्रा में प्रयुक्त करने से हृदय पर घातक प्रभाव होता है; और श्वासावरोध होकर मृत्यु तक हो जाती है। अहितकर–उरो-मस्तिष्क को। निवारण–तेल (रोगन) और ताजा पनीर। प्रतिनिधि–मैनफल।

कपास (कर्पास)

नाम। (१) क्षुप-सं०–कर्पास, कार्पासी, तुण्डिकेरी। हिं०–कपास, मनवाँ। बं०–कापास गाछ। म०–कापसी। फा०–दरख्ते पंबः। अ०–नबातुल क़ुत्न, शज्रतुल् कुत्न। अं०–कॉटन प्लान्ट (*Cotton Plant*)। ले०–गॉस्सीपिउम हेर्बासिउम (*Gossypium herbaceum Linn.*)। (२) विनौला–सं–कार्पासबीज। हिं०–बिनौला, कुकटी, बेनउर। बं०–कपासेर बीज। मार०–काँकड़े। अ०–हब्बुल् क़ुत्न। फा०–पंबः दाना। अं–कॉटन सीड्स (*Cotton Seeds*)। ले०–गॉस्सीपिउम सेमिना (*Gossypium Semina*)। (३) रूई या कपास। सं०–कार्पास, पिचु। हिं०–रूई, कपास। म०–कापूस। अ०–क़ुत्न, कुसुर्फ़, क़ुर्फुस। फा०–पंबः, पश्म पंबः। अं०–कॉटन (*Cotton*); कॉटन वूल (*Cottonwool*)। ले०–गॉस्सीपिउम (*Gossypium*)। (४) कपास की ढेंड़। सं०– कार्पासफल। हिं०–कपास के ढेंड़ (ढोंड़), बोंड। द०–कपास के पिंडे। अं०–*Young or tender cotton fruit or capsules*। (५) कपास की जड़ की छाल। सं०–कर्पास मूलत्वक्। हिं०–कपास की जड़ की छाल। फा०–पोस्त बेख पंब। अं०–कॉटनरूट बार्क *Cotton Root Bark*। ले०–गॉस्सीपी रेडिसिस् कॉर्टेक्स *Gossypii Radicis Cortex*, गॉस्सीपी कार्टेक्स *Gossypii Cortex* (*Gossyp. Cort.*)। (६) बिनौले का तेल। ले०–ओलेउम गॉस्सीपीसेमिनिस (*Oleum Gossypii Seminis*)। अं०–काटन सीड आयल (*Cotton Seed Oil*)।

वानस्पतिक कुल –कार्पास-कुल (मालवासी *Malvaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों (बंगाल, गुजरात, बम्बई आदि) में कपास की प्रचुरता से खेती की की जाती है। पाकिस्तान, मिस्र एवं संयुक्त राष्ट्र अमरीका आदि विदेशों में भी कपास की काफी परिमाण में खेती की जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य उष्ण कटिबन्धीय देशों में भी न्यूनाधिक मात्रा में कपास की खेती होती है।

संक्षिप्त परिचय – कपास के कोमल, बहुशाखी एकवर्षायु छोटे क्षुप (*Sub-Shrub*) होते हैं, जिसकी खेती प्रतिवर्ष होती है; किन्तु जब इसे बढ़ने दिया जाता है, तब वह बहुवर्षी हो जाता है। इसका पौधा ०.६ से १.५ मीटर (३–५॥ फुट) ऊँचा होता है, और यह जिस विशिष्ट नस्ल का होता है, उसी के अनुसार ४–८ मास में इसका बीज अंकुरित होता और परिपक्व होता है। प्रकांड सरल होता है, जिससे अनेक कोमल प्रशाखाएँ निकलती हैं। प्रशाखाओं के कोमल भाग, पत्र, पत्रवृंत एवं पुष्प आदि प्रायः रोमावृत (दूर दूर–*Sparsely hairy*) होते हैं। पत्र–देखने में एरण्ड-पत्र की तरह, किन्तु उससे छोटे तथा गाढ़े हरे रंग के और वयन (*Texture*) में चर्मिल (*Coriaceous*) होते हैं। यह ५–७ खण्डों (*Lobes*) में विभक्त (खण्डों की गहराई पत्र फलक की चौड़ाई के आधे से भी अधिक) होते तथा खण्ड चौड़े-लट्वाकार अग्र पर सहसा नुकीले तथा आधिकांश आधार की ओर क्रमशः कम चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त लम्बा होता है। कोणपुष्पक या सहपत्र (*Bracts*) रूपरेखा में चौड़े त्रिकोणाकार, आधार की ओर गोलाकार तथा तट दन्तुर होते हैं। पुष्प–चमकीले पीले रंग के, पंजा के समीप बैंगनी चिह्न-युक्त (*Yellow with purple centre*); फल या ढेंड–(*Capsule*) लगभग १५/८ सें०मी० (३/४ इंच) लम्बा, अंडाकृति, नुकीला (*Beaked*) तीन या चार कोष्ठ युक्त होता है। विनौला या बीज श्वेतरोमावृत्त (*with grey fuzzy*) तथा कपास या रूई से आवेष्ठित होता है। बीजों से एक प्रकार का तेल (विनौले का तेल) भी निकलता है।

वक्तव्य – कपास की बहुल-सी जातियाँ होती हैं। किन्तु यह भेद विशेषतः भूमि एवं जलवायु के अन्तर के कारण हुआ प्रतीत होता है। देशी एवं विदेशी भेद से इनके २ मुख्य विभाग किये जा सकते हैं। देशी कपास के भी कृषिजन्य (खेतों में होने वाली) तथा उद्यान कपास (जो बगीचों, घरों और देवालयों के पास होती है) भेद से २ प्रकार होते हैं। इसे नरमा या देवकपास कहते हैं। जिस कपास की खेती की जाती है, उसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। देवकपास या नरमा के लगभग १२ से १५ फुट ऊँचे वृक्ष से पौधे होते हैं, जो कई वर्षो तक रहते हैं। इसके पुष्प रक्त वर्ण के होते हैं। इसका धागा लम्बा और मजबूत होता है। इसकी रूई बहुत अच्छी समझी जाती है। देवकपास की ही एक जाति "अरण्य-कार्पासी या भारद्वाजी अथवा बनकपास" होती है, जिसका क्षुप फैलने वाला या वृक्षों के सहारे ऊपर चढ़ने वाला होता है। खानदेश और सिन्ध प्रान्त में बनकपास बहुत होता है। बनकपास के फूल लगभग ३.७५ सें०मी० या १॥ इंच लम्बे ताजी अवस्था में पीत वर्ण के, किंतु सूखने पर गुलाबी हो जाते हैं। इसकी कपास कुछ पिलाई लिये हुए होती है। इसका बीज कुछ विशेष लम्बा और काले रंग का होता है। विदेशी कपास की जातियों में विशेषतः २ जातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं–(१) ब्राजीलीय कपास (*Brazil Cotton : Gossypium acuminatum*) तथा बर्बदी या अमेरिकन कपास (*American Cotton : Gossypium barbadense Linn.*)।

उपयोगी अंग – मूलत्वक्, बीज, तैल, पत्र, फूल एवं फल।

मात्रा – मूलत्वक् एवं डोड़ा ६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तोला। बीजचूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ माशा से ६ माशा। पत्रस्वरस–१ तोला से २ तो०। पुष्पचूर्ण–१ ग्राम से १॥ ग्राम या १ माशा से १॥ माशा। तैल–१। से २॥ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा। मूलत्वक्–औषध्यर्थ कपास के जड़ की सुखाई हुई छाल काम में लायी जाती है, जिसकी पतली-पतली पट्टियाँ या वल खाये हुए टुकड़े (*Channelled or quilled strips*) होते हैं, जो तन्तुमय तथा चिमड़े या लचीले (*Tough and fibrous*) होते हैं। जगह-जगह पतली सूत्राकार प्रशाखाएँ (*Rootlets*) लगी होती हैं। बाहर से यह दालचीनी के रंग की तथा अनुलम्ब दिशा में सूक्ष्मरेखांकित (*Striated*) या झुर्रीदार (*Wrinkled*) होती है। अन्तस्तल रेशमी सफेद रंग का तथा अनुलम्ब दिशा में रेखांकित होता है। तोड़ने

पर यह टुकड़े चिमड़े (*Fracture tough and fibrous*) होते हैं। यह निर्गंध एवं स्वाद में किंचित् कटु एवं कषाय होती है। छाल में काष्ठीय भाग तथा अन्य सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम ५% होते हैं। अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम २% प्राप्त होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कपास (*Gossypium*) की अन्य कर्षित प्रजातियों का मूलत्वक् भी प्रयुक्त कर सकते हैं।

विनौले का तेल – यह हल्के पीले या पीले रंग का गंधहीन द्रव होता है, जो स्वाद में अन्य मग़ज़यात के तैल की भाँति (*Bland, nutty taste*) तथा कम तापक्रम (०°–५°) पर जम जाता है। यह ऐल्कोहॉल में अंशत: विलेय ((*Slightly soluble*)) होता है। क्लोरोफॉर्म, ईथर तथा लाइट पेट्रोलियम (*Light petroleum*) में मिल जाता (*Miscible*) है। क्वथनांक (*Boiling point*)–५०° से ६०° तापक्रम। आपेक्षिक गुरुत्व (*Specific gravity*)–०.९१५–०.९२५। ४०° पर अपवर्तनांक (*Refractive index*)–१.४६४५ से १.४६५५। एसिड वैल्यू (*Acid value*)–अधिकतम ०.५। आयोडीन वैल्यू (*Iodine value*)–१०३ से ११५। साबुनीकरण की शक्ति (*Saponification value*)–१९०–१९८।

विनिश्चय (*Identification*) — (१) हाल्फेन टेस्ट (*Helphen test*) द्वारा गुलाबी रंग का परिवर्तन पाया जाता है। (२) थोड़ा सा विनौला का तेल लेकर उसमें बराबर मात्रा में नाइट्रिक एसिड (जिसका विशिष्ट गुरुत्व *Sp. gr.* १.३७५ हो) मिलायें। दोनों के मिश्रण को खूब हिला कर थोड़ी देर तक रख छोड़ें और इसी प्रकार रहने दें। २४ घंटे के अन्दर इस मिश्रण का रंग कॉफ़ी के समान भूरा हो जाता है।

मिलावट – श्वेतशाल्मली (*Ceiba pentandra L. Syn. Eriodendron anfractuosum DC. Family*: *Bombacaceae* (शाल्मली-कुल) के बीजों से भी इसी प्रकार का एक तैल प्राप्त होता है, जिसको कॉपोक ऑयल (*Kapok oil*) कहते हैं। हाल्फन प्रतिक्रिया (*Halphen reaction.*) इसमें अधिक चटकीली (*More pronounced*) होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयुक्त अंगों को ग्रहण कर अच्छी-तरह डाटबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – मलत्वक् में ८% तक रंगहीन या पीत आम्लिक राल या रेजिन (*Acid resin*) तथा डाइहाइड्रॉक्सी बेंजोइक एसिड (*Dihydroxy benzoic acid*), फिनोल, वसाम्ल (*Fatty acids*), बीटेन (*Betaine*), फाइटॉस्टेरोल एवं शर्करा आदि तत्त्व पाये जाते हैं। तैल में लीनोलीक एसिड (३९.३५%), ओलिक एसिड (३३·१५%), पामिटिक एसिड (१९·१%), स्टियरिक एसिड (१·९%), अरेकिडिक एसिड (०.६%), तथा मिरिस्टिक एसिड (०.३%) आदि वसाम्लों (*Fatty acids*) के ग्लिसेराइड्स (*Glycerides*) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त अल्प मात्रा में लेसिथिन आदि फास्फोलिपिन्स, फाइटॉस्टेरोल्स तथा रंजक तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – मूलत्वक्–१ वर्ष। बीज–२ वर्ष। तैल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–ईषद् उष्ण। कर्म–डोड़ा एवं मूलत्वक्–गर्भाशयसंकोचक और आर्त्तवजनन। बीज– स्नेहन, स्रंसन, नाड़ीबल्य, स्तन्यजनन, बल्य, वृष्य, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, विषघ्न। पुष्प–सौमनस्यजनन, उत्तेजक, यकृदुत्तेजक। रूई–उष्णताजनन, उपशोषण। पत्र–पिच्छिल, मूत्रजनन। यूनानी मतानुसार डोंड़ा (*Capsule*) एवं मूलत्वक् उष्ण एवं रूक्ष, पुष्प पहले दर्जे में उष्ण एवं तर, रूई पहले दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष तथा विनौले की गिरी दूसरे दर्जे में उष्ण एवं तर है। अहितकर–वृक्कों के लिए। निवारण–ख़मीरा बनफ़शा या शर्बत बनफ़शा।

विशेष – कपास का डोड़ा और मूलत्वक् आर्तवजनन, अपरानिस्सारक, सुखप्रसवकारक एवं अधिक मात्रा में गर्भशातक होता है। एतदर्थ अकेले या अन्य उपयुक्त द्रव्यों के साथ डोड़ा या मूलत्वक् का क्वाथ प्रयुक्त करते हैं। विनौले की गिरी की खीर पका कर देते हैं; अथवा अन्य औषध द्रव्यों के साथ हरीरा बना कर देते हैं। यह वाजीकर एवं पौष्टिक माजूनों में भी मिलाई जाती है। रूई का व्यवहार व्रण-चिकित्सा एवं शल्यकर्म में किया जाता है।

कपूर (कर्पूर)

नाम। सं०–कर्पूर, घनसार, चन्द्र। हिं०, म०, गु०–कपूर। फा०–कापूर। अ०–काफ़ूर। ले०–काम्फोरा (*Camphora*)। अं०– कैम्फर (*Camphor*)।

प्राप्तिसाधन – कर्पूर एक उड़नशील तेल है, जो ठोस या घन अवस्था में रहता है। इसी प्रकार सत अजवायन या थाइमोल (*Thymol*) तथा सत पिपरमिंट या मेन्थोल (*Menthol*) भी घनावस्था में रहते हैं। व्यवहार में कपूर नैसर्गिक साधनों से (नैसर्गिक साधनों से प्राप्त कैम्फर या नेचुरल कैम्फर (*Natural Camphor*) भी प्राप्त किया जाता है; तथा आजकल रासायनिक संश्लेषण पद्धति द्वारा कृत्रिम रूप से (कृत्रिम कपूर *Synthetic Camphor*) भी बनाया जाता है। नैसर्गिक रूप से निम्न वृक्षों या क्षुद्र वनस्पतियों से कपूर प्राप्त किया जाता है:—

(१) सिन्नामोमुम काम्फोरा *Cinnamomum Camphora Nees.* (कर्पूर-कुल या लाउरासी *Lauraceae*)।

(२) ड्राइओबालानॉप्स आरोमाटिकुस *Dryobalanops aromaticus Gartn.* (गर्जन-कुल या डिप्टेरोकार्पासी *Dipterocarpaceae*)।

(३) ओसिमुम किलिमान ऑस्कारिकुम् *Ocimum Kiliman-oscharicum* या कपूरतुलसी (तुलसी–कुल या लाबिआटी *Labiatae*)। इसके अतिरिक्त कर्पूर-कुल के दालचीनी प्रजाति के अन्य वृक्षों में भी न्यूनाधिक मात्रा में कर्पूर पाया जाता है। कुकरौंधे की विभिन्न जातियों (*Various species of Blumea*) में भी कर्पूर पाया जाता है। किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से केवल ब्लूमेआ बाल्सामिफ़ेरा *Blumea balsamifera* (*Family: Compositae*) ही महत्त्व का है। पहले इससे भी कर्पूर व्यावसायिक रूप से प्राप्त किया जाता था, जो मटियाले रंग का होता था, और 'ब्लूमिया कैम्फर (*Blumea Camphor*) के नाम से मिलता था।

प्राप्तिस्थान–सिन्नामोमुम काम्फ़ोरा के वृक्ष चीन, जापान, तथा फार्मोसा द्वीप में बहुतायत से पाये जाते हैं। भीमसेनी कपूर के वृक्ष (ड्राइओबालोनॉस आरोमाटिकुस) पूर्वी द्वीपसमूह के बोर्नियो, सुमात्रा आदि द्वीपों में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। भारतवर्ष में आजकल कपूर-तुलसी की खेती की जाती है, और अपने देश में यही कपूर का प्रधान साधन है। सिन्नामोमुम काम्फ़ोरा के वृक्षों को भी भारतवर्ष में देहरादून, नीलगिरी, सहारनपुर एवं कलकत्ता आदि स्थानों में लगाने का प्रयास किया गया है। ब्लूमेआ बाल्सामीफ़ेरा के क्षुप भारतवर्ष में आसाम, बंगाल में स्वयंजात और बहुलता से पाये जाते हैं। किन्तु अब व्यावसायिक रूप से कर्पूर की प्राप्ति इससे नहीं की जाती। अब व्यवसाय में कपूर, कृत्रिम रूप से व्यावसायिक संश्लेषणपद्धति द्वारा भी काफी मात्रा में बनाया जाता है। भारतवर्ष में कपूर का आयात चीन और जापान से भी पर्याप्त परिमाण में होता है।

उपयोगी अंग – घनीभूत उड़नशील तैल (सार)।

मात्रा – ०.१२५ ग्राम से ०.३७५ ग्राम या १ से ३ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कपूर एक सफेद रंग का जमा हुआ सुगंधित द्रव्य होता है, जो हवा में खुला रहने से उड़ता है और जलाने पर फौरन जलता है, तथा धुँएदार चमकीली लौ (*Flame*) निकलती है। इसकी बेरंग, श्वेत, अर्द्ध-स्वच्छ, क्रिस्टली डली या आयताकार टिकिया अथवा स्थाली होती है। कभी-कभी यह चूर्ण रूप में भी पाया जाता है, जिसे "कपूर का फूल", गुले काफ़ूर या 'फ्लावर्स ऑफ कैम्फर' कहते हैं। चीन एवं जापान से जो कपूर आता है, उसे 'चीनिया कपूर' तथा सुमात्रा, बोर्नियो के कपूर को 'भीमसेनी' कपूर कहते हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट समझा जाता है और महँगा भी मिलता है। कैसूरी कपूर, फारमूसा द्वीप का कपूर (*Formosa Camphor*) होता है, जो अत्यंत सफेद, स्वच्छ, उज्ज्वल और परतदार होता है। रासायनिक संश्लेषणपद्धति द्वारा बनाया हुआ कपूर भी (*Synthetic Camphor*) मिलता है। रासायनिक दृष्टि से उत्तम कर्पूर में कम से कम ९६% $C_{10}H_{16}O$ होता है। अतएव शक्ति प्रमापन (*Assay*) के लिए कर्पूर-गत $C_{10}H_{16}O$ की मात्रा का प्रमापन किया जाता है। कपूर में एक विशिष्ट प्रकार की उग्र गंध पायी जाती है, तथा स्वाद में यह तीक्ष्ण एवं सुगंधित होता है; और बाद में मुख में शैत्य का अनुभव होता है। विलेयता–जल में तो कपूर बहुत कम घुलता है, किन्तु ऐल्कोहॉल (९५%) में काफी घुल जाता है। सालवेंट ईथर, क्लोरोफॉर्म तथा वानस्पतिक तेलों (*Vegetable oils*) में यह अत्यंत घुलनशील है।

संग्रह एवं संरक्षण – कपूर को अच्छी तरह मुखबन्द शीशियों में रख कर ठंडी एवं अँधेरी जगह में सुरक्षित करना चाहिए। कर्पूर के पात्र में कुछ दाने गोल मिर्च या लौंग के भी रख दिये जाते हैं।

वीर्यकालावधि —यदि ठीक प्रकार से संरक्षण किया जाय, तो दीर्घकाल तक सक्रियता बनी रहती है।

स्वभाव—गुण— लघु, तीक्ष्ण। रस—तिक्त, कटु एवं मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। प्रधान कर्म—वाह्यतः कोथप्रशमन, वेदनास्थापन, चक्षुष्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग से दीपन-पाचन, वातानुलोमन, जन्तुघ्न, हृदयोत्तेजक, रक्तभारवर्धक, कफनिस्सारक, श्वास-कासहर, स्वेदजनन, अल्पमात्रा में वाजीकरण किन्तु अधिक मात्रा में कामावसादक, आक्षेपहर। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होता है। अहितकर—शीत-प्रकृति और कामशक्ति को अहितकर तथा अश्मरीकारक। निवारण—कस्तूरी, अंबर, जुदबेदस्तर, गुलकंद, बनफ़शाका तेल। प्रतिनिधि—सफेद वंशलोचन तथा चन्दन।

विषाक्त प्रभाव —कभी-कभी सहसा मात्रातियोग होने पर हृदयाधारक प्रदेश में पीड़ा, हृल्लास, वमन, शिरोभ्रम, दृष्टिमन्दता, प्रलाप, आक्षेप, मूत्रावरोध एवं शीतप्रस्वेद आदि उपद्रव लक्षित होते हैं। कभी श्यावोत्कर्ष, अंगघात एवं संन्यास आदि उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है। चिरकाल तक निरन्तर सेवन करने से तन्द्रा, दौर्वल्य एवं रक्ताल्पता आदि उपद्रव हो सकते हैं। चिकित्सा--उग्र विषमयता में वामक दव्यों द्वारा अथवा आमाशयनलिका द्वारा आमाशय प्रक्षालन करना चाहिए। हृदयोत्तेजक औषधियों का इन्जेक्शन करें, तथा अन्य कस्तूरी, अंबर, जुदबेदस्तर आदि उष्ण एवं उत्तेजक द्रव्यों का प्रयोग करें। आवश्यकतानुसार अन्य लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिए।

मुख्य योग—कर्पूररस (कर्पूर वटी), कर्पूरासव, अर्ककपूर, अमृतविन्दु, पंचगुण तैल।

विशेष —कर्पूर यों आसानी से चूर्ण नहीं होता। किन्तु इसके साथ थोड़ा-सा ऐल्कोहॉल (९५%), सालवेंट ईथर अथवा क्लोरोफॉर्म मिला कर खरल में कूटने से आसानी से चूर्ण हो जाता है। कपूर के साथ वरावर मात्रा में क्लोरलहाइड्रेट मिला कर घोंटने से यह द्रवीभूत हो जाता है। अथवा जब कपूर को मेंथल, थाइमल, फ़ेनोल, नेफ्थोल अथवा व्युटलक्लोरल या सैलिसिलिक एसिड में से किसी के साथ सम्मिलित किया जाय तब भी दोनों द्रव्य मिल कर तरल हो जाते हैं।

कपूरकचरी

नाम। शटी, पलाशी। हिं०—कपूरकचरी। म०, गु०—कपूरकाचरी। वं०—कपूरकचरी। हेडीकिउम स्पीकाटुम (*Hedychium spicatum Ham. ex. Smith.*)।

वानस्पतिक कुल— आर्द्रक-कुल (*Scitaminaceae*)।

प्राप्तिस्थान—अनुष्ण हिमालय प्रदेश (विशेषतः कुमायूं नेपाल, भूटान आदि ५,०००-७००० फुट की ऊँचाई तक) तथा चीन। भारतवर्ष में इसका आयात चीन से सिंगापूर होकर होता है। देशी कपूरकचरी में (ताजी होने से) सुगंधि अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है। इसकी कन्दाकार जड़ों के गोल-गोल कतरानुमा टुकड़े वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय—कपूरकचरी के सुन्दर क्षुप होते हैं। पत्तियाँ ३० सें० मी० या १ फुट तक लम्बी (या अधिक), रूपरेखा में आयताकार या आयताकार-भालाकार तथा चिकनी होती हैं। चौड़ाई में वहुत भिन्नता पायी जाती है। पुष्पव्यूह विदण्डिक (*Spike*) होता है, जो कभी-कभी ३० सें० मी० या १२ इंच तक लम्बा होता है, जिसपर सघन सफेद पुष्प होते हैं। सहपत्र या कोण पुष्पक वड़े (१-१॥ इंच×।॥ इंच) रूपरेखा में आयताकार, कुण्ठिताग्र तथा हरे रंग के होते हैं, जिनमें प्रत्येक के कोण में १-१ पुष्प होता है। केशर सूत्र हल्के लाल रंग के होते हैं। फल (*Capsule*) गोलाकार एवं चिकना होता है। मूल जमीन में अनुप्रस्थ दिशा में फैलता है और सुगंधित होता है। औषध्यर्थ इन्हीं का संग्रह किया जाता है।

उपयोगी अंग—कन्दाकार मूलस्तम्भ (*Rootstock*)।

मात्रा—चूर्ण—१ से ३ ग्राम या १-३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—वाजारों में मिलने वाली देशी कपूरकचरी के गोल-गोल कतरानुमा तिरछे (*Sloping direction*)) काटे हुए टुकड़े (*Circular slices*) होते हैं, जो व्यास में १.२५ सें०मी० या ½ इंच तक होते हैं। वल्कल (*Cortical portion*) का भाग एवं मध्यवस्तु (*Centralportion*) स्पष्टतया पृथक्-पृथक् मालूम पड़ते हैं। वल्कल रक्तिमा लिये भूरे रंग का होता है, जिसपर अनेक चिह्न (*Scars*) एवं मुद्रिकाकार रेखाएँ (*Circular rings*) मालूम पड़ती हैं। अन्तर्वस्तु सफेद रंग का होता है। वल्कल में कहीं-कहीं सूत्राकार उपमूलों के अवशेष भी लगे होते हैं। कपूरकचरी में कर्पूर-जैसी उग्र सुगंधि होती है, तथा स्वाद में तिक्त, सुगंधित एवं तीक्ष्ण (*Pungent*) होती है। चीनी कर्पूरकचरी के कतरे अपेक्षाकृत वड़े तथा

अधिक सफेद होते हैं। त्वचा भी हल्के रंग की होती है और स्वाद में इनमें तीक्ष्णता भी भारतीय कपूरकचरी की अपेक्षा कम पायी जाती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट— कभी-कभी कपूरकचरी की अन्य अमान्य प्रजातियों के मूल का संग्रह भी कपूरकचरी के ही नाम से किया जाता है:—(१) हेडीकिउम कोरोनारिआ (*Hedychium coronaria Koen.*)—इसके पौधे १.२ से १.८ मीटर या ४-६ फुट ऊँचे होते हैं। जमीन के भीतर दिगन्तसम फैला हुआ मूलस्तम्भ गांठदार अर्थात् अनेक गोल मांसल खण्डों की माला के सदृश होता है। पत्ती विनाल २२.५ सें० मी० से ३७.५ सें० मी० या ६-१४ इंच लम्बी, पत्राग्र लंबा और पतला, पत्राधार संकुचित; पुष्प, श्वेत और सुगंधित, मंजरी शूकी की तरह (*Spikes*) १० से २० सें० मी० या ४-८ इंच लम्बी और विदण्डिका होती है। फल आयताकार और चिकना, फलखण्ड भीतर की ओर पीताभ और वीजोपांग या एरिल (*Aril*) सिन्दूर वर्ण का होता है। इसके मूल का भी संग्रह कपूरकचरी के नाम से किया जाता है, किन्तु यह असली कपूरकचरी नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण – कपूरकचरी को अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। सूर्य-प्रकाश से इसे बचाना चाहिए।

संगठन – कपूरकचरी की जड़ में राल (रेजिन), सुगन्धित द्रव्य, एक स्थिर तैल, तथा स्टार्च, म्युसिलेज, ऐल्व्यूमिन, सेलूलोज एवं शर्करा प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण—लघु, तीक्ष्ण। रस—कटु, तिक्त कषाय। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफवातशामक, दुर्गन्धनाशक, केश्य, वेदनास्थापन, रोचन, दीपन, शूलप्रशमन, ग्राही, उत्तेजक एवं रक्तशोधक, कास-श्वास-हर, हिक्कानिग्रहण, ज्वरघ्न, त्वग्दोषहर। स्थानिक प्रयोग से शोथहर भी है।

मुख्य योग— शट्यादि चूर्ण, शट्यादि क्वाथ, हिमांशु तैल।

विशेष – सिर पर लगाने के लिए प्रयुक्त तैल योगों में सुगन्धि के लिए भी कपूरकचरी डाली जाती है। चरकोक्त (सू० अ० ४) हिक्कानिग्रहण एवं श्वासहर महा-कषायों में (शटी नाम से) कपूरकचरी भी है।

कबर

नाम। हिं०—कबर, कब्र, बेर। पं०—कबार, बेर। बम्ब०—कबर। अ०—कबर, कब्र। फा०—कबर। यू०—कँपरिस (*Kapparis*)। अं०—दि एडिबल केपर या केपर प्लांट (*The edible caper or caper plant*)। ले०—काप्पारिस स्पीनोसा (*Capparis spinosa Linn.*)।

वानस्पतिक कुल—वरुण-कुल (काप्पारिडासी *Copparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – यूरोप, अफ्रीका, एशिया (फ़ारस, बलूचिस्तान वजीरिस्तान), सिंध एवं झेलम के बीच के मैदान, पश्चिमी हिमालय की घाटियाँ, राजस्थान, कुमायूं नेपाल, सिंध, बम्बई प्रदेश, कोंकण, दकन आदि स्थानों में पथरीली भूमि पर कबर की झाड़ियाँ पायी जाती हैं। भारतवर्ष में इसका आयात (बम्बई होकर) मुख्यतः फ़ारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – कबर एक तरह का सफेद फूल का करीर है। इसकी भी करीर की तरह तीक्ष्ण कंटकाकीर्ण झाड़ियाँ होती हैं।

उपयोगी अंग – मूल, फल, बीज एवं पुष्पकलिकाएँ।

मात्रा – ३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कबर की जड़ की छाल के कई इंच लम्बे नालीदार टुकड़े होते हैं, जो काफी मोटे तथा अनुप्रस्थ दिशा में दरारयुक्त होते हैं। वाह्यतः छाल खाकस्तरी रंग की तथा अन्तस्तल पर सफेद होती हैं। स्वाद तीक्ष्ण (कटु) एवं तिक्त होता है।

संगठन – कबर की कलिकाओं में एक ग्लूकोसाइड तथा केप्रिकएसिड (*Capric acid*) एवं रूटिन (*Rutin*) और एक उड़नशील वामक तत्त्व, लहसुन की गंध का एक तत्त्व, तथा अल्पतः, सैपोनिन आदि घटक पाये जाते हैं। वीजों में (३४%-३६%) तक हल्के पीले रंग का तैल तथा मूलत्वक् (जड़ की छाल) में सेनेगीन के समान एक तिक्त सत्व, रूटिक एसिड (*Rutic acid*) मिलता है।

स्वभाव – यूनानी मतानुसार कबर दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष तथा अवरोधोद्घाटक, लेखन, श्वयथुविलयन, कफोत्सारि, कफच्छेदनीय, कृमिहर, वातानुलोमन एवं मूत्रल तथा आर्तवप्रवर्तक होता है। इसके फल दीपन, वातानु-लोमन एवं सर होते हैं। करीर की भांति कबर भी विशेषतः कफवातशामक होता है। पक्षाघात, आमवात, वातरक्त, गृध्रसी आदि रोगों में इसका उपयोग किया

जाता है । यकृत्प्लीहा के अवरोधोद्घाटन, उदरज कृमि को नष्ट करने और प्लीहाशोथ एवं कण्ठमाला आदि में फलों को सिरका में डाल कर तैयार होने पर खिलाते हैं तथा मूल एवं पत्र को पीस कर उस क्षेत्रपर लेप करते हैं। श्लेष्म-निस्सारक होने से श्वास-कास में भी उपयोगी है।

कबाबचीनी (कंकोल ?)

नाम । सं०–कंकोल(ल्ल) (राजनिघण्टु), कङ्कोलक (मदनपाल निघण्टु) । हिं०–कबाबचीनी, शीतलचीनी, शीतलमिर्च । बम्बई–कबाबचीनी । म०–चणकबाब । बं०–काबाबचिनि । अ०–क़बाबेसीनी, हब्बुल्उरूस । फा०–कबाबः, कबाबचीनी । द०–दुमकी मिर्चा, दुमदार. मिर्च । अं०–क्युबेब्स (*Cubebs*), टेल्ड (दुमदार) पेपर (मिर्च) । ले०–कूबेबी फ्रुक्टुस (*Cubebae Fructus*) ।

लता का नाम – पीपेर कूबेबा (*Piper cubeba L. f.*) ।

वानस्पतिक कुल – पिप्पलीकुल (पीपेरासी (*Piperaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – सुमात्रा, जावा, मलाया आदि टापू इसके आदि उत्पत्तिस्थान हैं। भारतवर्ष में भी कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत इसकी खेती की जाती है। बम्बई में सिंगापूर से कबाबचीनी आती है।

संक्षिप्त परिचय – कबाबचीनी की बहुवर्षायु आरोही लता होती है, जिसका काण्ड लचीला (नम्य), चिकना एवं पर्वो पर गांठदार-सा होता है । पत्तियाँ–अखण्डित, सवृन्त, आयताकार अथवा लट्वाकार-आयताकार, लम्बाग्र तथा आधार की ओर गोलाकार अथवा तिर्यक्-हृदयाकार (*Obliquely cordate*) होती हैं। रचना में चर्मिल (*Coriaceous*) किन्तु चिकनी तथा शिरा-विन्यास अत्यंत स्पष्ट होता है। स्त्री एवं नरपुष्प पृथक् पृथक् पौधों पर पाये जाते हैं, और मञ्जरियों में निकलते हैं। फल—मिर्च के समान गोलाकार अष्ठिफल (*Globose drupe*) होता है, जिसके एक ओर डंठल-सी रचना होती है, जो वास्तव में फलभित्ति (*Pericarp*) से ही बनी होती (*Thecaphore*) है। औषध्यर्थ फलों के पूर्ण प्रगल्भ होने पर पकने के पूर्व संग्रह किया जाता है।

उपयुक्त अंग – (१) फल (कबाबचीनी) एवं फलों से प्राप्त (२) उत्पत् तैल (कबाबचीनीका तेल) ।

मात्रा–(१) चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ माशे से ३ माशे तक । (२) तेल–५ बूंद से ३० बूंद तक ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–(१) कबाबचीनी के सुखाये हुए फल काली मिर्च के बराबर तथा गोल और व्यास में लगभग ४ मि०मि० होते हैं। कभी-कभी आधार की ओर किंचित् धँसा हुआ (*Depressed*) होता है। बाहर से यह फल गाढ़े-भूरे रंग के होते हैं, जिस पर एक खाकस्तरी क्षोद (*Greyish bloom*) सा मालूम होता है। फल भित्ति पर झुर्रियों का जाल-सा होता है। शीर्ष (*Apex*) पर त्रिशीर्षीय कुक्षि या वर्तिकाग्र (*Triradiate stigma*) एवं आधार पर लगभग ४ मि० मि० लम्बी डंठल-सी रचना होती है, जो वास्तव में फलभित्ति की ही बनी होती है। फल के अन्दर एक गुठली-सी होती है, जिसमें बीज होता है। औषधीय प्रयोग के लिए फलों का संग्रह पकने के पूर्व ही किया जाता है। अतएव बाजार में प्राप्त होने वाले फलों में प्रायः मुख्य भाग फलभित्ति का ही होता है। यदि उनमें पके फल भी मिले हों तो उनको पृथक् कर देना चाहिए। फलों को कुचलने से इसमें मसाले की तरह विशिष्ट मनोरम एवं तीक्ष्ण गंध आती है। यह मिर्च से मुलायम तथा खाने में कड़वे एवं चरपरे होते हैं। इनके खाने के पीछे जीभ बहुत ठंडी मालूम पड़ती है। कच्चे एवं सिकुड़े फल–अधिकतम १०%। काण्ड एवं पत्रवृन्तक (*Rachis*)–अधिकतम ५%। अन्य विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य–२%। भस्म–अधिकतम ८%। अम्ल में अविलेय भस्म–अधिकतम २%। उत्पत् तैल – कम-से-कम १५% (*V/W*)। कबाबचीनी के चूर्ण को गंधकाम्ल (८० % *V/V*) पर छिड़कने से प्रत्येक कण के चारों ओर एक बैंगनी गाढ़े लाल रंग का आवरण-सा प्रतीत होता है। कबाबचीनी का चूर्ण पीताभ-भूरे रंग से गाढ़े भूरे रंग का होता है। इसमें कम-से-कम १२% (*V/W*) उड़नशील तैल होता है। **कबाबचीनी का तेल**–यह उड़नशील तैल है, जो कबाबचीनी से आसवन (*Steam distillation*) द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह रंगहीन, अथवा हल्का पीला अथवा नीलापन लिये होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की सुगन्धि पायी जाती है। स्वाद में कर्पूर की भाँति होता है। आपेक्षिक गुरुत्व–०.९१०–०.९३५ ।

अधिक सफेद होते हैं। त्वचा भी हल्के रंग की होती है और स्वाद में इनमें तीक्ष्णता भी भारतीय कपूरकचरी की अपेक्षा कम पायी जाती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट– कभी-कभी कपूरकचरी की अन्य अमान्य प्रजातियों के मूल का संग्रह भी कपूरकचरी के ही नाम से किया जाता है :—(१) हेडीकिउम कोरोनारिआ (*Hedychium coronaria Koen.*)–इसके पौधे १.२ से १.८ मीटर या ४-६ फुट ऊँचे होते हैं। जमीन के भीतर दिगन्तसम फैला हुआ मूलस्तम्भ गांठदार अर्थात् अनेक गोल मांसल खण्डों की माला के सदृश होता है। पत्ती विनाल २२.५ सें० मी० से ३७.५ सें० मी० या ९-१४ इंच लम्बी, पत्राग्र लंबा और पतला, पत्राधार संकुचित; पुष्प, श्वेत और सुगंधित, मंजरी शूकी की तरह (*Spikes*) १० से २० सें० मी० या ४-८ इंच लम्बी और विदण्डिका होती है। फल आयताकार और चिकना, फलखण्ड भीतर की ओर पीताभ और बीजोपांग या एरिल (*Aril*) सिन्दूर वर्ण का होता है। इसके मूल का भी संग्रह कपूरकचरी के नाम से किया जाता है, किन्तु यह असली कपूरकचरी नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण – कपूरकचरी को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। सूर्य-प्रकाश से इसे बचाना चाहिए।

संगठन – कपूरकचरी की जड़ में राल (रेजिन), सुगन्धित द्रव्य, एक स्थिर तैल, तथा स्टार्च, म्युसिलेज, ऐल्ब्यूमिन, सेलूलोज एवं शर्करा प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण—लघु, तीक्ष्ण। रस—कटु, तिक्त कषाय। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफवातशामक, दुर्गन्धनाशक, केश्य, वेदनास्थापन, रोचन, दीपन, शूलप्रशमन, ग्राही, उत्तेजक एवं रक्तशोधक, कास-श्वास-हर, हिक्कानिग्रहण, ज्वरघ्न, त्वग्दोषहर। स्थानिक प्रयोग से शोथहर भी है।

मुख्य योग– शट्यादि चूर्ण, शट्यादि क्वाथ, हिमांशु तैल।

विशेष – सिर पर लगाने के लिए प्रयुक्त तैल योगों में सुगन्धि के लिए भी कपूरकचरी डाली जाती है। चरकोक्त (सू० अ० ४) हिक्कानिग्रहण एवं श्वासहर महा-कषायों में (शटी नाम से) कपूरकचरी भी है।

कवर

नाम। हिं०—कवर, कब्र, बेर। पं०—कबार, बेर। बम्ब०—कबर। अ०—कबर, कब्र। फा०—कबर। यू०—कॅपरिस (*Kapparis*)। अं०—दि एडिबल केपर या केपर प्लांट (*The edible caper or caper plant*)। ले०—काप्पारिस स्पीनोसा (*Capparis spinosa Linn.*)।

वानस्पतिक कुल—वरुण-कुल (काप्पारिडासी *Copparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – यूरोप, अफ्रीका, एशिया (फ़ारस, बलूचिस्तान वजीरिस्तान), सिंध एवं झेलम के बीच के मैदान, पश्चिमी हिमालय की घाटियाँ, राजस्थान, कुमायूं नेपाल, सिंध, बम्बई प्रदेश, कोंकण, दकन आदि स्थानों में पथरीली भूमि पर कवर की झाड़ियाँ पायी जाती हैं। भारतवर्ष में इसका आयात (बम्बई होकर) मुख्यतः फ़ारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – कवर एक तरह का सफेद फूल का करीर है। इसकी भी करीर की तरह तीक्ष्ण कंटकाकीर्ण झाड़ियाँ होती हैं।

उपयोगी अंग – मूल, फल, बीज एवं पुष्पकलिकाएँ।

मात्रा – ३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कवर की जड़ की छाल के कई इंच लम्बे नालीदार टुकड़े होते हैं, जो काफी मोटे तथा अनुप्रस्थ दिशा में दरारयुक्त होते हैं। बाह्यतः छाल खाकस्तरी रंग की तथा अन्तस्तल पर सफेद होती हैं। स्वाद तीक्ष्ण (कटु) एवं तिक्त होता है।

संगठन – कवर की कलिकाओं में एक ग्लूकोसाइड तथा केप्रिकएसिड (*Capric acid*) एवं रूटिन (*Rutin*) और एक उड़नशील वामक तत्त्व, लहसुन की गंध का एक तत्त्व, तथा अल्पतः, सैपोनिन आदि घटक पाये जाते हैं। बीजों में (३४%-३६%) तक हल्के पीले रंग का तैल तथा मूलत्वक् (जड़ की छाल) में सेनेगीन के समान एक तिक्त सत्व, रूटिक एसिड (*Rutic acid*) मिलता है।

स्वभाव – यूनानी मतानुसार कवर दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष तथा अवरोधोद्घाटक, लेखन, श्वयथुविलयन, कफो-त्सारि, कफच्छेदनीय, कृमिहर, वातानुलोमन एवं मूत्रल तथा आर्तवप्रवर्तक होता है। इसके फल दीपन, वातानु-लोमन एवं सर होते हैं। करीर की भांति कवर भी विशेषतः कफवातशामक होता है। पक्षाघात, आमवात, वातरक्त, गृध्रसी आदि रोगों में इसका उपयोग किया

जाता है। यकृत्प्लीहा के अवरोधोद्‌घाटन, उदरज कृमि को नष्ट करने और प्लीहाशोथ एवं कण्ठमाला आदि में फलों को सिरका में डाल कर तैयार होने पर खिलाते हैं तथा मूल एवं पत्र को पीस कर उस क्षेत्रपर लेप करते हैं। श्लेष्म-निस्सारक होने से श्वास-कास में भी उपयोगी है।

कबावचीनी (कंकोल ?)

नाम। सं०–कंकोल (ल्ल) (राजनिघण्टु), कक्कोलक (मदनपाल निघण्टु)। हिं०–कबावचीनी, शीतलचीनी, शीतलमिर्च। बम्बई–कबावचीनी। म०–चणकबाब। बं०–काबाबचिनि। अ०–क़बाबेसीनी, हब्बुल्‌उरूस। फा०–कबाबः, कबाबचीनी। द०–दुमकी मिर्चा, दुमदार मिर्च। अं०–क्युबेब्स (*Cubebs*), टेल्ड (दुमदार) पेपर (मिर्च)। ले०–कूबेबी फ्रुक्टुस (*Cubebae Fructus*)।

लता का नाम – पीपेर कूबेबा (*Piper cubeba* L. *f.*)।

वानस्पतिक कुल – पिप्पलीकुल (पीपेरासी (*Piperaceae*)।

प्राप्तिस्थान – सुमात्रा, जावा, मलाया आदि टापू इसके आदि उत्पत्तिस्थान हैं। भारतवर्ष में भी कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत इसकी खेती की जाती है। बम्बई में सिंगापूर से कबावचीनी आती है।

संक्षिप्त परिचय – कबावचीनी की बहुवर्षायु आरोही लता होती है, जिसका काण्ड लचीला (नम्य), चिकना एवं पर्वो पर गांठदार-सा होता है। पत्तियाँ–अखण्डित, सवृन्त, आयताकार अथवा लट्वाकार-आयताकार, लम्बाग्र तथा आधार की ओर गोलाकार अथवा तिर्यक्-हृदयाकार (*Obliquely cordate*) होती हैं। रचना में चर्मिल (*Coriaceous*) किन्तु चिकनी तथा शिरा-विन्यास अत्यंत स्पष्ट होता है। स्त्री एवं नरपुष्प पृथक् पृथक् पौधों पर पाये जाते हैं, और मञ्जरियों में निकलते हैं। फल—मिर्च के समान गोलाकार अष्ठिफल (*Globose drupe*) होता है, जिसके एक ओर डंठल-सी रचना होती है, जो वास्तव में फलभित्ति (*Pericarp*) से ही बनी होती (*Thecaphore*) है। औषध्यर्थ फलों के पूर्ण प्रगल्भ होने पर पकने के पूर्व संग्रह किया जाता है।

उपयुक्त अंग – (१) फल (कबावचीनी) एवं फलों से प्राप्त (२) उत्पत् तैल (कबावचीनीका तेल)।

मात्रा–(१) चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ माशे से ३ माशे तक। (२) तेल–५ बूंद से ३० बूंद तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–(१) कबावचीनी के सुखाये हुए फल काली मिर्च के बराबर तथा गोल और व्यास में लगभग ४ मि०मि० होते हैं। कभी-कभी आधार की ओर किंचित् धँसा हुआ (*Depressed*) होता है। बाहर से यह फल गाढ़े-भूरे रंग के होते हैं, जिस पर एक खाक-स्तरी क्षोद (*Greyish bloom*) सा मालूम होता है। फल भित्ति पर झुर्रियों का जाल-सा होता है। शीर्ष (*Apex*) पर त्रिशीर्षीय कुक्षि या वर्तिकाग्र (*Triradiate stigma*) एवं आधार पर लगभग ४ मि० मि० लम्बी डंठल-सी रचना होती है, जो वास्तव में फलभित्ति की ही बनी होती है। फल के अन्दर एक गुठली-सी होती है, जिसमें बीज होता है। औषधीय प्रयोग के लिए फलों का संग्रह पकने के पूर्व ही किया जाता है। अतएव बाजार में प्राप्त होने वाले फलों में प्रायः मुख्य भाग फ़लभित्ति का ही होता है। यदि उनमें पके फल भी मिले हों तो उनको पृथक् कर देना चाहिए। फलों को कुचलने से इसमें मसाले की तरह विशिष्ट मनोरम एवं तीक्ष्ण गंध आती है। यह मिर्च से मुलायम तथा खाने में कड़वे एवं चरपरे होते हैं। इनके खाने के पीछे जीभ बहुत ठंडी मालूम पड़ती है। कच्चे एवं सिकुड़े फल–अधिकतम १०%। काण्ड एवं पत्रवृन्तक (*Rachis*)–अधिकतम ५%। अन्य विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य–२%। भस्म–अधिकतम ८%। अम्ल में अविलेय भस्म–अधिकतम २%। उत्पत् तैल – कम-से-कम १५% (*V/W*)। कबावचीनी के चूर्ण को गंधकाम्ल (८०% *V/V*) पर छिड़कने से प्रत्येक कण के चारों ओर एक बैंगनी गाढ़े लाल रंग का आवरण-सा प्रतीत होता है। कबावचीनी का चूर्ण पीताभ-भूरे रंग से गाढ़े भूरे रंग का होता है। इसमें कम-से-कम १२% (*V/W*) उड़नशील तैल होता है। **कबावचीनी का तेल**–यह उड़नशील तैल है, जो कबावचीनी से आसवन (*Steam distillation*) द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह रंगहीन, अथवा हल्का पीला अथवा नीलापन लिये होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की सुगन्धि पायी जाती है। स्वाद में कर्पूर की भाँति होता है। आपेक्षिक गुरुत्व–०.९१०–०.९३५।

ध्रुवणवूर्णन (*Optical rotation*)–२० से ३५°।

अपवर्तनांक (*Refractive index*)–२०° पर १.४८०-१.५०२। **बिलेयता**–जलविरहित ऐल्कोहल में सुविलेय तथा ऐल्कोहल (९०%) में १८ भाग में १ भाग विलेय।

संग्रह एवं संरक्षण–कबावचीनी के फलों का संग्रह पूर्णतः प्रगल्भ हो जाने पर किन्तु पकने के पूर्व करना चाहिए। औषधीय दृष्टिकोण से पके एवं ज्यादे कच्चें दोनों प्रकार के फल निकृष्ट होते हैं। इनका संग्रह सुखाने के बाद अनार्द्र शीतल स्थान में तथा अच्छी तरह डाटबंद शीशियों या अन्य उपयुक्त पात्रों में करना चाहिए। कबाबचीनी चूर्ण के संग्रह में उपर्युक्त सावधानी विशेष महत्त्व की है। क्योंकि, इस प्रकार न रखने से इसका सक्रिय अंश (उड़नशील तैल) उड़ जाता है।

संगठन–इसका प्रधान एवं सक्रिय घटक इसमें पाया जानेवाला उड़नशील तेल होता है, जिसको कबावचीनी का तेल (ओलेउम कूबेबी *Oleum Cubebae*–ले०; ऑयल ऑफ क्युबेब्स (*Oil of cubebs*) कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें रालीय पदार्थ (*Resins*), स्थिर तैल, स्टार्च, क्युबेबिक एसिड, कैल्सियम् ऑक्जलेट, फॉस्फेट एवं मेलेट तथा मैगनीसियम् मैलेट भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि–२ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–मूत्रल, मूत्रमार्ग विशोधक, वाजीकर एवं आर्त्तवप्रवर्त्तक तथा ध्वजभंगनाशक। अहितकर–वस्तिरोगों को। निवारक–सफेद चन्दन, अर्क गुलाव और मस्तगी। प्रतिनिधि–दालचीनी और छोटी इलायची।

मुख्य योग–लुबूब कबीर।

कमल

नाम। सं०–कमल, पद्म, (सूर्य विकाशी), अरविन्द। हिं०–कँवल, कमल, पुरइन। बं०–पद्म, कमल। म०, गु०–कमल। पं०–काँवल। ता०–तामरै। क०–पम्पोश। अं०–इजिप्शन या सेक्रेड लोटस (*Egyptian or Sacred Lotus*)। ले०–नेलुम्बो नूसीफ़ेरा *Nelumbo nucifera* Goertn. (पर्याय–*Nelumbium speciosum* Wight.)।

वानस्पतिक कुल–मखान्न-कुल (निम्फेआसी *Nymphoeaceae*)।

प्राप्तिस्थान–कमल भारतीय जलाशयों में उत्पन्न होता है, जिनमें बहुत दिनों से सफाई न करने के कारण कीचड़ अधिक होता है तथा जिनका पानी गर्मियों में भी नहीं सूखता, उनमें अधिक होता है। अमेरिका, कास्पियन सागर के तटस्थ प्रदेश, फारस, चीन तथा मिस्र देश में भी मिलता है।

परिचय–कमल की पेड़ी पानी में जड़ से पाँच या छः अंगुल से ऊपर नहीं आती। इसकी पत्तियाँ गोल-गोल, बड़ी थाली के आकार की तथा ३० से ९० सें० मी० या १-३ फुट व्यास की होती हैं, और बीच के पतले डंठल में जुड़ी रहती हैं। इन पत्तियों को पुरइन कहते हैं। इनका अधः पृष्ठ जो पानी की तरफ होते हैं, बहुत नरम और हल्के रंग का वा ईषत् रक्त वर्ण का तथा सिरा कर्कश होता है, किन्तु ऊर्ध्व पृष्ठ अर्थात् पत्रोदर द्विदलवत् तथा गाढ़े हरे रंग का एवं मखमल की तरह कोमल और बहुत चिकना होता है। इस तरफ पानी की बूंदें नहीं ठहरतीं। कमल चैत-वैसाख से सावन–भादों तक फूलता है। बरसात के अन्त में बीज पकते हैं। कमल का फूल प्रातःकाल सूर्योदय के साथ खिलता है, सायंकाल सूर्यास्त के बाद बन्द हो जाता है। पुष्प सफेद या रक्त वर्ण, व्यास में साधारणतया १० से २५ सें० मी० या ४-१० इंच, १.२१ से १.८२ मीटर या ४-६ फुट लंबे पुष्पनाल पर जल से कुछ ऊपर धारण किये जाते हैं। बाह्य कोष या बाह्य दलपुञ्ज (*Calyx*) में ४-५ गिरजाने वाले (*Deciduous*) पुटपत्र (*Sepals*) होते हैं। दलपुञ्ज (*Corolla*) में दलपत्रों (*Petals*) की संख्या भिन्न-भिन्न (सामान्यतः २०-७० तक) होती है। ये भी पतनशील होते हैं और कई पंक्तियों में विन्यस्त होते हैं। इनमें सबसे बाहर और सबसे भीतर की पंक्ति के दलपत्र मध्यवर्ती पंक्तियों के दलपत्रों की अपेक्षा छोटे होते हैं। दलपत्रों के बीच में केसर से घिरा हुआ छत्ता के आकार का पुष्पासन या कर्णिका (*Receptacle or torus*) होती है, जिसमें ८ से ३० तक बीज निमज्जित रहते हैं। फल या तरकारी बेचने वालों के यहाँ कच्ची कर्णिका मिलती है, जिसमें से बीजों को निकाल कर लोग खाते हैं। कमल की जड़ मोटी और छिद्रयुक्त होती है और भसीड़, भिस्सा वा मुरार कहलाती है। सूखे दिनोंमें पानी कम होने पर जड़ अधिक मोटी और

बहुतायत से होती है। लोग इसकी तरकारी बना कर खाते हैं।

उपयोगी अंग–पंचाङ्ग (पद्मिनी, कमलिनी), पुष्प एवं बीज (कमलगट्टा)। सुखाये हुए पुष्प एवं पक्व बीज (कँवलगट्टा) पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

मात्रा – (१) बीज चूर्ण–३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
(२) केशर–०.६२ से १ ग्राम या ५ से १५ रत्ती।
(३) मूल (कन्द) स्वरस–१ से २ तो०। चूर्ण–६ माशा से १ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–सुखाया हुआ कमल पुष्प भूरे रंग का होता है। बीज–गोल-गोल, लम्बोतरे, होते हैं, और सुखाये हुए पके बीज काले हो जाते हैं। इनका छिलका (*Testa*) कड़ा होता है। इसके भीतर एक सफेद रंग की महीन झिल्ली होती है। इसके अन्दर सफेद रंग की गिरी, स्वाद में किंचिन्मधुर होती है। बादाम की गिरी की भाँति यह भी दो फांकों में विभक्त हो जाती है। कच्ची गिरी अत्यंत सुस्वादु होती है। मींगी के भीतर जीभ की तरह एक हरे रंग की पत्ती होती है। यह स्वाद में कड़वी होती है।

संग्रह एवं संरक्षण–उपयोगी अंगों को वायु-धूलिरहित अनार्द्र-शीतल स्थान में मुख बन्द पात्रों में रखें।

संगठन–कन्द (भौमिक काण्ड *Rhizome*) एवं बीजों में राल (*Resin*), ग्लूकोज, मेटार्बिन (*Metarbin*), टैनिन वसा तथा न्युफरीन (*Nupharine*), नामक क्षारोदसदृश एक क्षारोद।

वीर्यकालावधि – बीज–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–मधुर, कषाय, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–कफपित्तशामक, दाहप्रशमन, वर्ण्य, मेध्य, छर्दि एवं तृष्णानिग्रहण, स्तम्भन, हृद्य, शोणितास्थापन, प्रजास्थापन, मूत्र विरेचनीय एवं मूत्र विरजनीय, त्वग्दोषहर, ज्वरघ्न, वल्य, विषघ्न।

मुख्य योग–अरविन्दासव, सफूफ मग्ज कमलगट्टा। कमलगट्टे का हलवा भी बनाया जाता है।

विशेष–चरकोक्त (सू० अ० ४) मूत्रविरजनीय गण एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) उत्पलादि गण में कमल के विभिन्न भेदों का उल्लेख है।

कमीला या कबीला (कम्पिल्लक)

नाम। सं०–कम्पिल्ल, कम्पिल्लक। हिं०–कबीला, कमीला, रोरी (मिर्जापुर), रैनी (देहरादून)। म०–कपिला। गु०–कपीलो। द०–कमलागुंडि। अ०–क़ंबील, क़िंबील। फा०–कंबीला। अं०–रॉट्टलेरा (*Rottlera*), कमेला (*Kamela*)। ले०–कमाला (*Kamala*), ग्लांडुली रॉट्टलेरी (*Glandulae Rottlerae*)। **वृक्षका नाम**। सं०–कम्पिल्ल, कम्पिल्लक, रेची, रञ्जन, रक्तफल, लोहिताङ्ग। हिं०–कबीला, कमीला। अं०–दि मंकी-फेस ट्री (*The Monkey-face tree*)। ले०–माल्लोटुस फ़िलीप्पेंसिस (*Mallotus philippensis Muell.–Arg.*)।

वानस्पतिक कुल – एरण्ड-कुल (एउफॉर्बिआसी *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – एशिया तथा आस्ट्रेलिया के प्रायः सभी गरम प्रदेश। भारतवर्ष में यह हिमालय के किनारे कश्मीर से लेकर नेपाल तक होता है। उत्तर प्रदेश में गढ़वाल, कुमायूं एवं नेपाल की तराई में इसके जंगल के जंगल पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त बंगाल, पुरी, सिंहभूमि, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पंजाब (कांगड़ा), सिंध, बम्बई आदि में भी यह प्रचुरता से मिलता है। ब्रह्मा, सिंगापुर, अंडमान तथा लंका में भी कम्पिल्लक पाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – कबीले के मध्यम कद (७.३ से ६.१ मीटर या २५-३० फुट ऊँचे) के सदाहरित वृक्ष होते हैं। किन्तु कोई-कोई वृक्ष १४.६ मीटर या ५० फुट तक ऊँचे भी पाये जाते हैं। कोमल शाखाएँ मुरचई रंग की (*Rusty*) होती हैं। पत्तियाँ साधारण तथा एकान्तर क्रम से स्थित ७.५ से २२.५ सें० मी० या ३. से ६ इंच तक लम्बी, रूपरेखा में लट्वाकार (*Ovate*), लट्वाकार-आयताकार अथवा लट्वाकार-भालाकार, आकार-प्रकार में बहुत भिन्न, ऊर्ध्व तल चिकना किन्तु अधः पृष्ठ रक्ताभ तथा आधार पर तीन-शिराओं से युक्त, (*3-nerved*); पर्णवृन्त (*Petiole*) फल की लम्बाई के आधे के बराबर तथा रक्ताभ-रोमश (*Rusty-pubescent*) होता है। पुष्प मंजरियाँ प्रायः भूरे या लाल रंग की, नरपुष्प एवं स्त्रीपुष्प पृथक्-पृथक् होते हैं। फल त्रिदल संपुटीफल (*tri-lobed capsule*), आकार में झरबेर के समान तथा गुच्छों में लगते हैं। कार्तिक से पूस तक

फूल-फल आते हैं और उष्ण काल में पकते हैं। आरम्भ में ये हरे रंग के होते हैं; पर बाद को उन पर ललाई लिये चमकदार घनावृत रोम और सूक्ष्म लाल रंग की ग्रंथियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो देखने में लाल-लाल धूल-सी जमी हुई प्रतीत होती हैं। पक्व फल के गात्र पर जो यह रक्त वर्ण का क्षुद्र दानेदार पदार्थ संचित होता है, इसी लाल रज को कमीला कहते हैं। बीज-गोल, चिकने और काले होते हैं।

उपयोगी अंग – पक्व फलों के ऊपर लगा हुआ लाल रंग का रज।

मात्रा – १.५ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा (बच्चों के लिए ६२५ मि० ग्रा० या ५ रत्ती)।

क्रमिघ्न मात्रा–३ ग्राम से ६ ग्राम (३ से ६ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – शुद्ध कबीला लालिमा लिए भूरे रंग से लाल रंग का सूक्ष्म दानेदार चूर्ण होता है, जो प्रायः निर्गन्ध तथा स्वादरहित होता है। उक्त कबीला चूर्ण में वास्तव में लालिमायुक्त भूरे रंग से पीत वर्ण की असंख्य सूक्ष्म रोमश ग्रंथियाँ (*Glandular hairs*) होती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रंथिरहित सूक्ष्म लोम (*Non-glandular hairs*) भी होते हैं। कमीला शीतल जल में अविलेय, उबलते जल में अंशतः विलेय, किन्तु ऐल्कोहॉल तथा ईथर में पर्याप्त मात्रा में घुलनशील होता है। ऐल्कोहोलिक अथवा ईथेरियल विलयन को जल में डालने से तरबूज-जैसी गंध (*Melon-like odour*) निकलती है। जल से भींगी हुई उँगली से कबीले को उठा कर सफेद कागज पर जोर से लकीर खींचने या रगड़ने से यदि वह मसृण वर्तिरूप में परिणत हो जाय, अथवा उसपर उज्ज्वल पीले रंग का निशान हो जाय, तो शुद्ध एवं उत्कृष्ट अन्यथा मिश्रित या अशुद्ध कबीला समझना चाहिए। भस्म–अधिकतम ८%। अम्ल में अविलेय भस्म–(*Acid-insoluble ash*) अधिकतम ६%। ईथर में विलेय अनुत्पत् (*Non-volatile*)। सत्व–कम-से-कम ६६%। (१००° तापक्रम पर तब तक गरम करें जब तक और अधिक देर तक गरम करने पर भार में कमी न हो)।

मिलावट एवं अपद्रव्य – कमीला में फलों के रज के अतिरिक्त फल के छिलके के सूक्ष्म कण भी मिले होते हैं। इसके अतिरिक्त लाल रंग की बलुई मिट्टी आदि अपद्रव्य भी मिले होते हैं। ऐसे कमीला को जल में घोलने से मिट्टी आदि नीचे बैठ जाता है; और इसमें भस्म की मात्रा भी अधिक होती है। कभी संग्रहकर्ता वृक्ष के अन्य भागों से प्राप्त रज को भी मिला देते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण– पक्व फलों को छलनी में आलोडित कर कबीला पृथक् प्राप्त किया जाता है। इसको अच्छी तरह डाटबन्द पात्रों में रखना चाहिए।

संगठन – कमीला का अधिकांश भाग रालीय स्वरूप का एक रंजक तत्त्व (*Resinous colouring matter*) होता है। इसका प्रधान सत्व रॉटलेरिन (*Rottlerin*) होता है, जो ललाई लिये पीले रंग के पतले पत्राकार क्रिस्टल्स के रूपमें प्राप्त होता है। जल में यह बिल्कुल नहीं घुलता। ऐल्कोहॉल में भी अंशतः घुलता है; किन्तु क्षारीय द्रव्यों (*Alkalies*) के जलीय विलयन (*Aqueous solution*) में अच्छी तरह घुल जाता है, जिससे गाढ़े लाल रंग का विलयन प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–अधिक मात्रा में उदर-कृमिनाशक (*Anthelmintic*)। साधारण मात्राओं में रक्त एवं त्वचाविकार-नाशक।

मुख्य योग – कृमिघातिनी वटिका।

विशेष– कबीले के बीजों को लोग भ्रम से विडंग मान लेते हैं। विडंग पृथक् एवं निश्चित द्रव्य है। यह एक दूसरे वृक्ष का मिर्च के समान गोल-गोल फल होता है। चरकोक्त (सू० अ० २) विरेचन द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त श्यामादि गण तथा विरेचन द्रव्यों में कम्पिल्लक भी है।

कर जीरी (अरण्यजीरक)

नाम। सं०–अरण्यजीरक, वनजीरक। हिं०–काली जीरी, करजीरी, वनजीरी। म०–कडूजिरें। द०, गु०, मा०; बम्ब०, कुमाऊँ–कालीज़ीरी। अ०–कमूनबर्री। फा०–ज़ीरए बर्री (सहराई), सियाहजीरा जंगली। अं०–पर्पल फ्लीबेन (*Purple fleabane*), वर्नोनिया (*Vernonia*)। ले०–सेंट्राथेरम आंथेल्मींटिकुम *Centratherum anthelminticum* (*Willd.*) *Kuntze*. (पर्याय–*Vernonia anthelminticum Willd.*)।

वानस्पतिक कुल– मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़िटी *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में १.६६ किलो मीटर

या ५,५०० फुट की ऊंचाई तक करजीरी के स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। गाँवों के आस-पास नम जगह में यह-अपने आप उगी हुई मिलती है। हिमालय प्रदेश, खसिया एवं लंका में भी इसके पौधे होते हैं। कहीं-कहीं इसकी खेती भी कीजाती है।

संक्षिप्त परिचय – करजीरी के १.२ मीटर से १.८ मीटर या ४-६ फुट ऊंचे एकवर्षायु पौधे होते हैं। काण्ड पर अनुलम्ब दिशा में रेखाएँ तथा कहीं-कहीं बैंगनी दाग भी होते हैं। पत्तियाँ ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० या ३-६ इंच लम्बी, २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच चौड़ी, भालाकार (*Lanceolate*) या भालाकार-लट्वाकार, लम्बे-नोक वाली तथा आधार की ओर क्रमशः पतली होकर पत्रनाल में परिवर्तित, खुरदरी एवं तीक्ष्ण दन्तुर होती हैं। पुष्पस्तबक या मुण्डक (*Heads*) १.२५ सें० मी० से १.८ सें० मी० या ½ से ¾ इंच व्यास के तथा अनेक नील-लोहित पुष्पों को धारण करते हैं। पुष्पाधःपत्रावलि के पत्रक या निचक्रपत्रक (*Involucral bracts*) प्रायः रंगीन होते हैं। पुष्पागम प्रायः जाड़े के दिनों में होता है। फल (ऐकीन *Achenes*) प्रायः ½ सें० मी० लम्बे, होते हैं। बाजारों में यही फल करजीरी के नाम से मिलते हैं। रोमकण्टक (*Pappus*) गुलाबी रंग का होता है।

उपयोगी अंग – ताजे एवं सुखाये हुए रोमयुक्त (*with the glandular hairs intact*) फल (बीज)।

मात्रा – (१) क्रमिघ्न–६ ग्राम या ६ माशा (युवक को) तथा बच्चों को ०.६२ ग्राम से १.२५ ग्राम या ५ से १० रत्ती।
(२) वातानुलोमन–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा (३ माशा तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–करजीरी के बीज (फल) ½ सें० मी० या ⅕ इंच लम्बे रूपरेखा में बेलनाकार किन्तु आधार की ओर क्रमशः कम मोटे और गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। इसपर अनुलम्ब दिशा (लम्बाई के रुख) में १० उन्नत काली रेखाएँ पायी जाती है। वाह्य पृष्ठ पर इतस्ततः श्वेताभ लोम भी पाये जाते हैं। शीर्ष पर सूक्ष्म एवं भूरे रंग के शल्कपत्र (*Scales*) होते हैं। स्वाद में यह अत्यंत तिक्त एवं हृल्लासजनक (*Nauseous*) होते हैं। इसकी गंध तीक्ष्ण होती है। अन्य सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं।

प्रमापीकरण – ऐल्कोहल, क्लोरोफॉर्म एवं पेट्रोलियम् द्वारा प्राप्त तिक्त सत्व का प्रमापन किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व बीजों को सुखा कर अनार्द्र स्थान में बन्द पात्रों में रखना चाहिए। चूर्ण का संरक्षण विशेषतः अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में करना चाहिए, ताकि आर्द्रता पात्र में न पहुँच सके।

संगठन – (१) स्थिर तेल–१८%;
(२) उड़नशील तेल–०.०२%;
(३) पीले रंग का तिक्त सत्व–१%;
(४) टैनिन, रेजिन, फ्लोबाफीन आदि।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कटु पौष्टिक, ज्वरघ्न, वातानुलोमन एवं क्रमिघ्न आदि। वाह्यतः इसका लेप शोथविलयन होता है।

मुख्य योग–वातानुलोमन चूर्ण।

विशेष – करजीरी एक उत्तम वातानुलोमन द्रव्य है। एतदर्थ सोंठ के साथ इसका चूर्ण बना कर व्यवहृत करना चाहिए। करजीरी का अष्टमांश सोंठ डालना चाहिए। उक्त चूर्ण की १.५ से २ ग्राम की या १॥-२ माशा मात्र गर्म जल से देनी चाहिए। शोथविलयन के लिए करजीरी का प्रलेप उपयोगी होता है।

अरणी – दे०, 'अग्निमन्थ'।

करञ्ज (डिठोरी)

नाम। सं०–करञ्ज, नक्तमाल, गुच्छपुष्पक, घृतपूर, स्निग्धपत्र। हिं०–करंज, डि(दि)ठो(ह)री–(उत्तरप्रदेश), करुइनी, किरमाल। बं०–डहरकरञ्ज। संथाल–कुरुंजी। अं०–इण्डियन बीच (*Indian Beech*)। ले०–पोंगामिआ पीन्नाटा *Pongamia pinnata* (L.) *Pierre.* (पर्याय *P.glabra Vent.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : प्रजापति-उपकुल *Leguminosae : Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष, विशेषतः समुद्रतटीय प्रान्त। मध्य एवं पूर्वीय हिमालय से लेकर लंका पर्यंत पाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – करञ्ज के बड़े-बड़े तथा बहुशाखी, छाया-वृक्ष १५.२ मीटर से १८.२ मीटर (५०–६० फुट) ऊँचे होते हैं। इसीलिए कहीं-कहीं सड़कों पर भी इसके

लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। काण्डस्कन्ध अपेक्षाकृत छोटा और मोटाई का व्यास १.५ से २.४ मीटर (५–८ फुट) तक होता है। छाल चिकनी तथा स्थान-स्थान पर विचित्र चिन्हांकित होती है। नदियों के किनारे अथवा जलाशयों के आस-पास इसके वृक्ष अधिक सुखकर मानते हैं। पत्र, सपत्रक; पत्रक रूपरेखा में पाकर के पत्तोंकी भाँति होते हैं, किन्तु तैलाक्तवत् चिकने और गाढ़े हरे रंग के, स्वाद में कड़वे होते हैं। चैत्र में पतझड़ होता है। कुछ दिनों के बाद नवीन पत्रागम होता है। पुष्प बैंगनी रंग के (प्रजापति उपकुल के विशिष्ट लक्षण के अनुसार) तथा गुच्छों में निकलते हैं, जो देखने में बहुत आकर्षक मालूम होते हैं। आगामी चैत्र में फलियाँ लगती हैं, जो ३.७५ से ५ सें० मी० (१॥–२ इंच) लम्बी, २.५ सें० मी० (१ इंच) चौड़ी तथा ५/१६ से १/८ सें० मी० (१/८ से ३/४ इंच) तक मोटी और अग्रपर किंचित् वक्र होती हैं। प्रत्येक शिम्बी में प्रायः एक बीज होता है, जो चिपटा और रूपरेखा में बड़ी मटर की भाँति होता है। इसके ऊपर का छिलका पतला, चिकना, हल्के लाल रंग का तथा रेखांकित होता है। बीज की गिरी स्नेह-पूर्ण और तीती होती है। बीज का तेल चिकित्सा में तथा जलाने के काम आता है।

उपयोगी अंग – पत्र, बीज, पुष्प, त्वक् एवं बीजों से प्राप्त तेल (*Pongamia Oil*)।

मात्रा – त्वक् एवं पत्रस्वरस–१ से २ तो०।
पुष्पस्वरस–६ माशा से १ तो०।
बीजचूर्ण – १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पत्र–पत्तियाँ सपत्रक, १५ सें० मी० से ४५ सें० मी० (६ से १८ इंच) लम्बी; पत्रक अभिमुख क्रम से स्थित २–३ जोड़े तथा एक अग्र पर, आकार में अंडाकार, तीक्ष्णाग्र तथा चिकने एवं चमकदार, कुछ-कुछ चर्मिल (*Subcoriaceous*) ५ से १० सें० मी० (२ से ४ इंच) लम्बे एवं स्वाद में तिक्त होते हैं। बीज–चपटे, सेम के बीज के समान, बीजचोल (*Testa*) पतला, चिकना एवं रेखांकित एवं हल्के लाल रंग का। बीजदल (*Cotyledons*) स्नेह-पूर्ण एवं तिक्त होते हैं। त्वक् (छाल) – बाहर से खाकस्तरी रंग की, जो आसानी से पृथक् हो जाती है। बाहरी छाल उतरने पर अन्दर की छाल हरे रंग की तथा अनुप्रस्थ दिशा में सफेद रेखाओं से अंकित। वैसे छाल चिमड़ी होती है, किन्तु तोड़ने पर खटसे टूटती है। इसमें एक विशिष्ट गंध पायी जाती है और स्वाद में तिक्त एवं कुछ-कुछ सुगन्धित तथा कड़वी होती है। तैल–करंज के बीजों में काफी मात्रा में एक स्थिर तेल (*Fixed oil*) पाया जाता है। ताजे बीजों से प्राप्त तेल गाढ़ा, हल्के भूरे रंग का तथा स्वाद में तिक्त होता है। इसका आपेक्षिक घनत्व १८० सेंटीग्रेड पर ०.९३५८ होता है। ताजे तेल को रखने पर धीरे-धीरे घी के समान घन भाग तलस्थित हो जाता है। करञ्ज तैल में गंधकाम्ल (*Sulphuric acid*) मिलाने से यह पीले रंग का हो जाता है, जिसपर नारंग वर्ण की धारियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस मिश्रण को हिलाने पर यह नारंग वर्ण का हो जाता है, किन्तु इसको रख देने पर यह पुनः पीले रंग का हो जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पत्तियों का प्रयोग ताजी अवस्था में करना चाहिए। शेष उपयोगी अंगों को अच्छी तरह बन्द पात्रों में अनार्द्र एवं शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीजों में २७% तक पीले रंग का गाढ़ा तेल प्राप्त होता है, जिसे करञ्ज तैल (*Pongamia oil*) कहते हैं। ८° सेंटीग्रेड पर यह घन हो जाता है। छाल में एक तिक्त क्षारोद (*Bitter alkaloid*) पाया जाता है, जो ईथर, ऐल्कोहल एवं जल में विलेय होता है।

वीर्यकालावधि – छाल–१ वर्ष तक। तैल – दीर्घकाल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वातकफनाशक, रक्तशोधक, व्रण शोधक एवं रोपण, शोथनाशन, कासहर।

मुख्य योग – करञ्जादि चूर्ण, करञ्जाद्यघृत, करञ्जादि तैल एवं हव्व करञ्जवा आदि।

विशेष – चरकोक्त विरेचन द्रव्य (सू० अ० २), कण्डूघ्न, महाकषाय (सू० अ० ४), कटु एवं तिक्त स्कन्ध के द्रव्यों में (वि० अ० ८) तथा सुश्रुतोक्त, आरग्वधादि गण, वरुणादि गण, अर्कादि गण, श्यामादि गण, एवं शिरोविरेचन तथा श्लेष्मसंशमन वर्ग में करञ्ज भी है।

करफस (बड़ी अजमूद)

नाम। हिं–अजमोद ?। अ०, भारतीय बाजार––करफस, करपस। बम्बई–बड़ी अजमूद। अ०– करफस, बज्जुल्

करफ्स । गु०—ब्रोडिअजमो । अं०—सेलरी (*Celery*), सेलरी फ्रूट (*Celery fruit*), सेलरी सीड (*Celery seed*)। ले०— (१) आपिउम, आपी फ्रुक्टुस (*Apii Fructus*)। पौधे का नाम—आपिउम ग्राविओलेन्स (*Apium graveolens Linn.*) ।

वानस्पतिक कुल – गर्जरादि-कुल (उम्बेल्लिफ़ेरी *Umbelliferae*) ।

प्राप्तिस्थान – उत्तर-पश्चिम हिमालयांचल (*Foot of the N.W. Himalayas*), पंजाब एवं उत्तर प्रदेश की वाह्य हिमालय पर्वत श्रेणियाँ (*Outlying hills of the Punjab and U.P.*) । विदेशों में फारस (ईरान), यूरोप एवं अमेरिका में इसकी प्रचुर मात्रा में खेती भी की जाती है। फारस में यह काफी परिमाण में स्वयंजात भी होती है। भारतीय वाजारों में इसका आयात मुख्यतः फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – करफस अजमोदे की जाति का ही एक विदेशी भेद है, जिसके एकवर्षायु या द्विवर्षायु छोटे-छोटे ३० सें० मी० से १.५२४–१.८० मी० या १ से ५–६ फुट तक ऊँचे एवं सीधे पौधे (*Annual or Biennial herb*) होते हैं। पत्तियाँ अजमोदा की पत्तियों से मिलती-जुलती हैं। पुष्प छोटे, सफेद रंग के तथा ५–१० वृन्तकछत्रक (*Umbel rays* 5-10) लगते हैं, जिनके पकने पर छोटे-छोटे फल प्राप्त होते हैं। औषधि में करफस बीज या वड़ी अजमूद के नाम से इन्हीं का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – (१) सुखाये हुए पक्व फल (तुख्म करफ्स) तथा जड़ (वेख करफस) ।

मात्रा – फल (बीज)–३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा। जड़ – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – करफस के युग्मवेश्म फल (क्रीमोकार्प *Cremocarps*) जो फारस से आते हैं, अजमोदे के फलों (वीजों) की अपेक्षा वहुत छोटे (लगभग आधे), रूपरेखा में गोलाकार तथा चपटे, देखने में अनीसून (*Anise*) कीभाँति लगते हैं। इसमें ११–१२ तैल-नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं, जिनमें दो प्रायः संधितल (*Commissural surface*) में होती हैं। मुख में चावने पर पहले अनीसून की भाँति वाद में कड़ुआ होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की सुगंध पायी जाती है, जो अनीसून से मिलती-जुलती, किन्तु उसकी अपेक्षा मन्द होती है। जड़ काली होती है, और उसमें वारीक तन्तु लगे होते हैं।

विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य—	अधिकतम १% ।
अन्य वीज एवं फलों की मिलावट—	अधिकतम ४%।
भस्म—	अधिकतम १०%।
अम्ल में अघुलनशील भस्म—	अधिकतम २%।
उत्पत् तैल—	कम-से-कम १½%(*V/W*)।

संग्रह एवं संरक्षण– इसको अच्छी तरह मुखवन्द पात्रों में शुष्क एवं शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – फलों में पीताभ वर्ण का एक उड़नशील तैल (१½ से ३%तक) पाया जाता है। करफ्स की विशिष्ट सुगंधि इसी के कारण होती है। इसके अतिरिक्त १७%तक एक स्थिर तैल (*Fatty oil*) तथा अल्प मात्रा में पहाड़ी करफ्स में पाया जाने वाला ऐपिओल (*Apiol*) नामक एक प्रकार का कर्पूर भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – जड़ में ३ वर्ष तक तथा फलों (वीजों) में २ वर्ष तक वीर्य रहता है।

स्वभाव – उष्ण एवं रुक्ष। क्षुधाजनन, वातानुलोमन, अश्मरीनाशन, मूत्रल, आर्तवजन एवं वात–कफ नाशक। करफस को कास, कफज्वर, पार्श्वशूल, गृध्रसी, वातरक्त, पृष्ठशूल और प्रायः कफज रोगों में प्रयुक्त करते हैं। यकृदवरोधोद्घाटन, क्षुधाजनन और वातविलयन के लिए इसका उपयोग करते हैं। जलोदर में तथा मूत्र एवं आर्तव के अवरोधों को दूर करने और वृक्क एवं वस्तिगत अश्मरी के उत्सर्ग के लिए भी इसका उपयोग करते हैं। यह समस्त कफज एवं शीतजन्य व्याधियों में गुणकारी है।

अहितकर–सगर्भा स्त्री, उष्ण प्रकृति एवं मृगी के रोगियों के लिए। निवारण–अनीसून एवं मस्तगी।

करीर (करील)

नाम। सं०–करीर, क्रकर, अपत्र, मरुरुह। हिं०– करील; (व्रज)–टेंट, टेंटी। पं०–करीं। सिंध–किरिड। कच्छ–डवरा। मा०–कैर, झांसडी। म०–नेवती। गु०–केर, केरडां। ले०–काप्पारिस डेसीडुआ (*Capparis decidua*) (*Forsk.*) & *dgew*. (पर्याय– *C. aphylla Roth.*)।

वानस्पतिक कुल–वरुण-कुल (काप्पारिडासी *Capparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के उष्ण एवं शुष्क प्रदेशों में विशेषतः पंजाब, राजस्थान, कच्छ, गुजरात एवं गंगा के उत्तरी मैदान (*Upper Gangetic plain*) एवं दकन; मध्य भारत तथा तिन्नेवली आदि में करीर की झाड़ियाँ प्रचुरता से पायी जाती हैं। बलूचिस्तान सिन्ध एवं उत्तर-पश्चिम पाकिस्तान में भी करीर पाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – करीर के चिकने एवं हरित वर्ण के सघन शाख-प्रशाख युक्त कंटीले गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं। शाखाएँ कभी-कभी कोमल क्षोद-लिप्त (*Waxy bloom*) होती हैं। इसमें प्रायः पत्र नहीं होते अथवा कभी कोमल नवीन शाखाओं पर छोटे-छोटे (½ इंच से भी छोटे तथा नुकीले अग्रयुक्त) पत्र पाये जाते हैं, जो बाद में गिर जाते हैं। फाल्गुन-चैत में गुलाबी (कभी-कभी पीले) रंग के फूल लगते हैं, जो २० मि० मी० या ⅘ इंच चौड़े होते हैं और समशिख सचूड़ क्रम से शाखाओं के पार्श्व में निकलते हैं। गर्मियों में फल (*Berry*) लगते हैं, जो गोलाकार, व्यास में १.२५ से १.८६५ सें० मी० या ½ से ¾ इंच होते तथा पकने पर लाल या गुलाबी रंग के हो जाते हैं। पुष्प कलिकाओं एवं कच्चे फलों का शाक तथा अचार बनाया जाता है। फल एवं मूल का व्यवहार औषध्यर्थ किया जाता है। कच्चे फल कसैले तथा तिक्त किन्तु पक्वफल मधुर एवं मूल तथा मूलत्वक् तीक्ष्ण एवं तिक्त होते हैं।

उपयोगी अंग – मूल (विशेषतः मूलत्वक्) एवं फल।

मात्रा – चूर्ण–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – वसन्त ऋतु में मूल का संग्रह कर मुख बंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – मूलत्वक् में एक तिक्त सत्व (*A neutral bitter principle*)) पाया जाता है, जो सेनेगा में पाये जाने वाले सेनेगिन नामक तत्त्व की भाँति होता है। कलिका (एवं कच्चे फलों) में केप्रिक एसिड (*Capric acid*) एवं ग्लूकोसाइड (मधुमेय सत्व) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण– लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु। (पक्व फल मधुररसयुक्त)। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, रोचन, पाचन, कटु पौष्टिक, भेदन, अर्शोघ्न, कृमिघ्न, हृदयोत्तेजक, शोथहर, श्वासहर, स्वेदजनन विषघ्न। कोमल शाखाओं एवं पत्तियों का स्वरस स्थानिक प्रयोग से व्रणशोधन, शोथपाचन, दंतशूलहर एवं विस्फोटजनक (फफोले पैदा करने वाला) होता है। मूलत्वक् पर्यायज्वरहर होता है तथा आमवात, संधिवात, श्वास, हृद्दौर्बल्य एवं चर्मरोगों में उपयोगी होता है।

करेरुआ (व्याघ्रनखी)

नाम। सं०–व्याघ्रनखी। हिं०–बघनई, करेरुआ, हिंसा, कालहिंस–(देहरादून)। ले०–काप्परिस हॉर्रिडा *Capparis horrida Linn. f.* (पर्याय–*C. zeylanica Linn.*)।

वानस्पतिक कुल–वरुण-कुल काप्परिडासी (*Capparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष में करेरुआ की स्वयंजात आरोहीलता होती हैं। स्थानिक चिकित्सक इसके मूल का व्यवहार शोथघ्न क्रिया के लिए करते हैं। बाजारों में विक्रयार्थ प्रायः इसका संग्रह नहीं किया जाता।

संक्षिप्त परिचय – करेरुआ की दृढ़, स्थूलपाद और तीक्ष्ण काँटों से युक्त लम्बी आरोही लता होती है, जिसके नवीन भाग रक्ताभ मृदुरोमावरण से ढके होते हैं। इसकी शाखाएँ अंकुशभूत काटों के द्वारा आश्रय को पकड़ कर बढ़ती हैं। पत्तियाँ ५ से १० सें० मी० (२–४ इंच) तक लम्बी एवं ६.२५ सें० मी० या २॥ इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में आयताकार या (प्रायः) लट्वाकार एवं अग्र पर लोमयुक्त (*Mucronate*) होती हैं। पत्राधार के पार्श्व में दो-दो मजबूत काँटे होते हैं। पुष्प व्यास में ३७·५ से० मी० से से० मी० या १॥–२ इंच तथा सफेद या गुलाबी रंग के होते हैं। पुंकेशर अनेक और नीलारुण वर्ण के होते हैं। फल लम्बा गोल व्यास में ३.७५ सें० मी० या १॥ इंच और पकने पर लालरंग के हो जाते हैं। पुष्पागम फरवरी-मार्च तथा फलागम अगस्त-सितम्बर में होता है। गाँवों में ऐसी परम्परा है, कि ज्येष्ठ में इसके कच्चे फल को खाने से व्यक्ति वर्षभर सर्पदष्ट से सुरक्षित समझा जाता है। प्रतिक्षोभक (*Counter-irritant*) एवं विस्फोटजनक होने के कारण इसके मूलकल्क का व्यवहार चिकित्सा में शोथघ्न के रूप में किया जाता है।

उपयोगी अंग–मूल (विशेषतः मूलत्वक्)।

मात्रा–(वाह्य प्रयोग के लिए)–आवश्यकतानुसार (½–२ तोला या अधिक)।

स्वभाव–करेरुआ की जड़ बाह्यतः (प्रलेप रूप से) स्थानिक प्रयोग से प्रतिक्षोभक (*Counter-irritant*), दाहक एवं विस्फोटजनक (*Vesicant*) होती है। अतएव इसका प्रयोग व्रणशोथ एवं अन्य आन्तरिक शोथों के विलयन के लिए किया जाता है। इसके अन्य उपयोग हिंस्रामूलवत् समझना चाहिए।

विशेष – कहीं-कहीं चिकित्सक करेरुआ के मूलकल्क का उपयोग प्लीहावृद्धि (प्लीहोदर) में बाह्य रूप से करते हैं। एतदर्थ करेरुआ की जड़ तथा ४–६ दाने काली मिर्च को जल के साथ कल्क बनाया जाता है। एक सकोरे में बिनौले भर कर उस पर उक्त कल्क का प्रलेप कर दिया जाता है। अब इसे प्लीहा क्षेत्र पर औंधा कर कपड़े से बाँध दिया जाता है। इस प्रकार लगभग ३–४ घंटे तक बँधा रखते हैं। थोड़ी देर बाद रोगी को उस क्षेत्र में जलन मालूम होती है, जो उत्तरोत्तर बढ़ती तथा बाद में क्रमशः कम होने लगती है। जब जलन बन्द हो जाय सकोरे को छोड़ कर पृथक् कर दें। उक्त चिकित्सा में जिस दिन दवा बाँधनी हो उसके पूर्व रात्रि को भर पेट घी की पूड़ी खिलायी जाती है और दूसरे दिन प्रातःकाल दवा बाँधी जाती है।

करेला (कारवेल्लक)

नाम। सं०–कारवेल्लक, कारवल्ली। हिं०–करेला, करैला। म०–कारलें। गु०–कारेलां। बं०–उच्छे। ते०–काकर। ता०–पार्कै, पाकल्। मल०–पेरं पावल्। ले०–मोमोर्डिका कारांटिआ (*Momordica charantia Linn.*)। लेटिन नाम करेला की लता का है।

वानस्पतिक कुल–कूष्माण्ड-कुल (कूकुरबिटासी (*Cucurbitaceae*))।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष में करैले की खेती की जाती है। इसकी दो फस्लें होती हैं, एक बरसाती, दूसरी वैशाखी जो फाल्गुन में बोयी जाती है। फसल के समय करेले का फल शाक की दूकानों पर बिकता है। इसके अतिरिक्त करेला जंगली भी होता है, जो उद्यानज की अपेक्षा छोटा और अत्यंत तिक्त होता है। औषधीय प्रयोग के लिए यह प्रायः अधिक उपयुक्त होता है।

संक्षिप्त परिचय–करेला एक प्रसिद्ध फलशाक है। इसकी सुदीर्घ आरोही या भूमि पर फैलने वाली लताएँ होती हैं। करेला २ प्रकार का होता है–(१) बरसाती–जो वर्षा का पानी पड़ते ही बोया जाता है। इसकी सुदीर्घ लताएँ होती हैं, जो झाड़ पर चढ़ती हैं, और सालों फूलती-फलती रहती हैं। (२) वैशाखी–यह फाल्गुन में क्यारियों में बोया जाता है और जमीन पर फैलता है तथा ३–४ महीने तक रहता है। इसका फल कुछ पोला होता है, किन्तु बरसाती करेला अपेक्षाकृत पतला और ठोस होता है। आकृति भेद से भी यह २ प्रकार का होता है—(१) बड़ा करेला या करेला (कारवेल्लक); तथा (२) छोटा करेला या करेली (कारवेल्ली)। बड़े का फल अपेक्षाकृत लम्बा बीच में स्थूल एवं दोनों सिरों की ओर क्रमशः कम चौड़ा तथा करेली का फल छोटा एवं अंडाकार होता है। करेली की बेल भी करेले की भाँति सुदीर्घ नहीं होती। यह स्तम्भकारिणी एवं भूलुण्ठिता होती है। करेला प्रायः हरे रंग का होता है। किन्तु रंग रूप और आकृतिभेद से यह अनेक प्रकार का होता है। कहीं-कहीं सफेद करेला भी होता है। मालवा और राजस्थान में सफेद करेला हाथ भर तक लम्बा मिलता है। इसका छिलका पतला होता है। जंगलों में करेले की स्वयंजात लताएँ पायी जाती हैं। इसे 'करेली' या 'वनकरैला' कहते हैं। इसके फल छोटे और बहुत तीते होते हैं। इसमें बीज अधिक होते हैं तथा छिलका उद्यानज करेली की भाँति मांसल नहीं होता। इसकी लता भी अपेक्षाकृत सुदीर्घतर एवं अधिक तीती तथा तीक्ष्ण होती है।

उपयोगी अंग–पंचाङ्ग (विशेषतः पत्र एवं फल)।

मात्रा–स्वरस १–३ तोला (वमनार्थ १० तोला तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–करेली की एक वर्षायु लता होती है, जिसका तना लम्बा (सुदीर्घ), अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त तथा कोणाकार होता है, जिसके पार्श्व खातोदर (*Angled and grooved*) होते हैं। शाखाओं के कोमल भाग तूलरोमावृत्त (*Villous*) होते तथा शाखाओं का रूपान्तर सूत्रों (*Tendrils*) में होता है। पत्तियाँ करतलाकार, ५ नुकीले खण्डों से युक्त, पत्रतट लहरदार तथा दंताकारकटावयुक्त (*Toothed*) होते हैं। अधःपृष्ठ पर पत्र मृदुरोमावृत (विशेषतः शिराओं पर) होते हैं। पुष्प एकलिंगी अर्थात् पुंपुष्प तथा स्त्री पुष्प पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु एक ही लता पर दोनों प्रकार के

पुष्प (*Monoecious*) पाये जाते हैं। पुष्प नारंग पीत वर्णके होते हैं। पुंपुष्प प्रायः एकल (*Solitary*) होते हैं, जो ५ से १० सें० मी० (२ से ४ इंच) लम्बे वृन्त पर धारण किये जाते हैं, जिसके मध्य पर एक वृक्काकार या गोलाकार सहपत्र (*Bract*) होता है। उक्त कोणपुष्पक स्त्रीपुष्पों के वृन्त के आधार के पास स्थित होता है। फल ५ से १५ सें० मी० (२ से ६ इंच) लम्बा (या इससे भी छोटा-बड़ा) मध्य में अधिक चौड़ा, किन्तु दोनों सिरों की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़ा (*Fusiform*) होकर नुकीला या चोंचदार (*Pointed or beaked*) होता है। फल पर एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर जाती हुई अनेक उन्नत रेखाएँ (*Ribbed*) होती हैं, जिनके अन्तमर्ध्य के तल पर अनेक छोट-बड़े त्रिकोणाकार उभाड़ (*Triangular tubercles*) होते हैं, जिससे आपाततः देखन में मगर के चमड़े के उभाड़ों की भांति मालूम होता है। बीज ⅚ से ⅝ सें० मी० (⅓ से ¼ इंच) लम्बे, एवं चपटे होते हैं, जिनके किनारे कटावदार (*Corrugate*) होते हैं, और पके फलों में लाल गूदे (*Red aril*) से आवृत होते हैं। बीज के दोनों तल विभिन्न प्रकार के चित्रित रेखांकित होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण–साल के अधिकांश महीनों में इसकी हरी लताएँ उपलब्ध होती हैं।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–रोचन, दीपन–पाचन, पित्तसारक, भेदन, कृमिघ्न, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न, आर्तवजनन, चक्षुष्य, व्रणशोधन–रोपण, कुष्ठघ्न, मूत्रल। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में उष्ण एवं रुक्ष है। अहितकर–रूक्षता-कारक। निवारण–काली मिर्च, पीपल। करैले के अतियोग से उत्पन्न उपद्रव में चावल और घी भी खिलाते हैं।

विशेष–चरकोक्त (वि० अ० ८) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ४६) शाकवर्ग में कारवेल्लक भी है।

कलिहारी या कलि(रि)यारी (लाङ्गली)

नाम। सं०–लाङ्गली, विशल्या, अग्निशिखा। हिं०–कलिहारी, कलि(रि)यारी। बं०–विषलाङ्गलिया, ईश-लाङ्गल। म०–खड्यानाग, कललावी। गु०–दूधियो-वछनाग? अं०–सुपर्बलिलि (*Superb Lily*)। ले०–ग्लोरिओसा सूपेर्बा (*Gloriosa Superba Linn.*)।

वानस्पतिक कुल–पलाण्डु-कुल (लिलिआसी *Liliaceae*)।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष, लंका तथा बर्मा के जंगलों में इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। इसके पुष्प अत्यन्त सुन्दर एवं रंग-विरंगे होने के कारण वाटिकाओं में लगाये हुए पौधे भी मिलते हैं। हिमालय में १२०४.१८ मीटर या ४००० फुट की ऊँचाई तक इसके पौधे मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय–कलिहारी आरोहीलता स्वभाव की वनस्पति है, जिसका वायव्य भाग (*Aerial part*) प्रायः एक-वर्षायु (*Annual*) होता है। नये पौधे वर्षा ऋतु में निकलते तथा कुवार-कार्तिक तक स्वयं सूख जाते हैं। किन्तु इसका मूलस्तम्भ (*Root-stock*) बहुवार्षिक (*Perennial*) होता है तथा भूमि के अन्दर फैलता रहता है। उक्त भौमिक भाग गूदेदार होता है तथा औषध्यर्थ प्रयुक्त किया जाता है। पत्तियाँ एकान्तर (*Alternate*), अभिमुख (*Opposite*) क्रम से अथवा किसी-किसी पर्व पर ३–४ एक साथ (*in whorls of 3-4*) निकलती हैं, जो प्रायः विनाल (*Sessile*) अथवा कोई-कोई सवृन्त-सी (*Subsessile*) होती हैं। रूपरेखा में आयताकार-भालाकार, लम्बाग्रयुक्त तथा अग्र का परिवर्तन सूत्र (*Tendril*) में हो जाता है, जो स्प्रिंग की भाँति अन्दर को मुड़े हुए (*Spirally twisted*) होते हैं। उक्त विशिष्ट परिवर्तन आरोहण में वनस्पति की सहायता करता है। दूर से देखने में पत्तियाँ मोटे तौर से बाँस की पत्तियों की भाँति मालूम होती हैं। पुष्प पत्रकोणोद्भूत, एकल (*Solitary*) तथा ५ से ७.५ सें० मी० (२–३ इंच) लम्बे पुष्पवृन्तों पर धारण किये जाते हैं, तथा झुके हुए से (*Nodding*) होते हैं। पुष्प में परिदलपुंज (*Perianth*) ६ पत्रों का होता है, जो प्रारम्भ में पीले रंग के किन्तु बाद में गाढ़े लाल रंग के हो जाते हैं। अथवा नीचे का भाग पीले रंग का और ऊपरी भाग लाल रंग का या कभी-कभी अन्तर्मध्य में अन्य मिश्रित रंग भी पाये हैं। उक्त सवर्ण कोष के दलपत्रों के किनारे लहरदार (*Undulate*) होते हैं। फूल आने पर कलिहारी की लता अत्यंत सुन्दर एवं आकर्षक मालूम होती है। पुंकेशर संख्या में ६, केशर

सूत्र (*Filaments*) सुनहले पीले रंग के। फल (*Capsule*) लम्बगोल ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० (१½ से २ इंच) लम्बा तथा शीर्ष कुण्ठित (*Obtuse*) होता है। फलों में गोलाकार छोटे-छोटे बहुत-से बीज होते हैं।

उपयोगी अंग–कन्दाकार मूलस्तम्भ (*Tuber*) ।

मात्रा–(१) कटु पौष्टिक या तिक्त वल्य मात्रा—१२५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० या १–२ रत्ती।

(२) गर्भनिस्सारक–३७५ मि० ग्रा० से ७५० मि० ग्रा० या ३ से ६ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–कलिहारी का कन्द बेलनाकार (*Cylindrical*) अथवा चपटा (*Flattened*) और ७–८ इंच लम्बा होता है। मोटाई का व्यास ½ इंच तक होता है। पूर्ण प्रगल्भ कन्द में दो टुकड़े होते हैं, जिनमें एक दूसरे की अपेक्षा काफी बड़ा होता है। ये दोनों टुकड़े समकोण पर जुड़े होने से हलाकार मालूम होते हैं। जहाँ पर दोनों टुकड़े जुटते हैं, उस संधिस्थल के ऊर्ध्व पृष्ठ पर एक गोलाकार चिह्न (*Circular scar*) होता है। यहीं पर तना या काण्ड (*Stem*) जुटा होता है, और यह चिह्न काण्ड के टूटने से बनता है। संधि के अधःपृष्ठ पर भी एक चिह्न होता है, जहाँ पर सूत्राकार जड़ें जुटी होती हैं। कन्द के दोनों टुकड़े सिरों की ओर क्रमशः कम चौड़े तथा मटमैले सफेद रंग के और शेष भाग बाहर से हल्की लालिमा लिये भूरे रंग का होता है। अन्तर्वस्तु रसदार और सफेद होती है। कलिहारी की जड़ें एक हल्की कड़वी गंध युक्त और स्वाद में लुवाबी, और हल्की कटु-तिक्त होती है।

मिलावट–कोई-कोई केमुक या केऊ (कॉस्टुस स्पेसिओसुस *Costus speciosus* (*Koen.*)*Sm. Family*: *Scitaminaceae* (आर्द्रक-कुल) के भौमिक काण्ड (कन्द) का ग्रहण लाङ्गली या कलिहारी के नामसे कर लेते हैं। किन्तु यह भ्रमपूर्ण है। कलिहारी एक निश्चित द्रव्य है। विषैला होने से कहीं-कहीं लोग इसे भूल से 'सफेद वचनाग' भी कह देते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण–जाड़ों में जब कलिहारी का पौधा सूख जाता है, तो २–३ वर्ष पुरानी लता के प्रगल्भ कन्दों का संग्रहकर, सुखाकर अच्छी तरह डाटबन्द पात्रों में रखें।

संगठन–(१) दो राल (*Resins*); (२) एक टैनिन (*Tannin*) या कषाय द्रव्य; (३) एक तिक्त सत्व (*Bitter principle*) जिसे सुपर्बीन (*Superbine*) कहते है। यह अत्यंत विषैला होता है। (४) कलिहारीन या ग्लोरिओसीन (*Gloriosine*) नामक ऐल्केलॉइड तथा (५) स्टार्च।

वीर्यकालावधि–२ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–गर्भपातन। प्रधान कर्म–अल्पमात्रा में दीपन एवं कटु पौष्टिक एवं ज्वरघ्न तथा अधिक मात्राओं में गर्भनिस्सारक।

मुख्य योग–कासीसादि तैल, लांगली रसायन।

विशेष–लांगली एक विषैली औषधि है। इसीलिए इसकी गणना उपविषों में की गयी है। अतएव इसके प्रयोग में मात्रादि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। निर्दिष्ट विधान द्वारा शोधन कर इसका प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है।

कसेरू (कशेरु)

नाम। सं०–राजकसेरुक, कशेरु, कशेरुक, कसेरु, गुण्डकन्दः, सूकरेष्ट, कसेरुक। बं०–केशुर। म०–कचरा। बम्बई–कचेरा, कचरा। गु०–कसेलान। ता०–गुंडतुंगगड्डि। ते०–गुंडतिगागड्डि। कना०–सेकिन गड्डे। अं०–वाटर चेस्टनट (*Water chest-nut*)। ले०–स्कीर्पुस कीसूर (*Scirpus kysoor Roxb.*)। (२) छोटा कसेरु या चिचोड़। सं०–चिचोटः, चिचोटकः, चिचोढं। हिं०–छोटा कसेरू, चिचोड़ा। बं०–लघु केशुर। ले०–स्कीर्पुस आर्टीकुलाटुस *Scirpus articulatus* (३) वृत्तगुण्डकन्द (गोल कंद वाला कसेरू)। सं०– कशेरु। हिं०–कशेरू। बं०–केशुर। पं०–कशेरु डिला। ते०–गुण्डतिगागड्डि।

वानस्पतिक कुल–मुस्तादि-कुल (सीपेरासी *Cyperaceae*)।

प्राप्तिस्थान–भारतवर्ष के प्रायः सभी उष्ण प्रदेश एवं चीन। चिचोड़ पूर्वीय भारतवर्ष में अधिक होता है। वृत्तगुण्ड कोंकण में बहुलता से पाया जाता है, विशेषतः सलसत्ती (*Salsette*) में।

संक्षिप्त परिचय–कसेरू के पौधे मोथे के पौधों की भाँति होते हैं। यह तालों और झीलों में अथवा उनके किनारे

जहाँ पानी रुका होता है, अथवा आर्द्र भूमि में उपजता है। इसका कंद अंडाकार गोल गांठ की तरह होता है, और खाया जाता है। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में रूपाकृति भेद से कसेरू ३ प्रकार का बतलाया गया है—(१) स्थूल (२) लघु एवं (३) वृत्त। इनमें बड़े कन्द वाले को स्थूल या राजकशेरू तथा लघु कन्द वाले को चिचोड़ कहते हैं। जिसका कन्द गोल-गोल तथा मोथे की आकृति का होता है, इसे वृत्तकन्द कसेरु कहते हैं। धन्वन्तरीय एवं राजनिघण्टु ने मोथा वा मुस्ता के पर्यायों में कसेरु और राजकसेरु का पाठोल्लेख किया है। कोई-कोई कसेरू को गोंद पटेर का एक भेद बतलाते हैं। कसेरू के पौधे को कहीं-कहीं गोंदला भी कहते हैं। संस्कृत में इसे गुण्ड, कहते हैं और इसका कंद—गुण्डकंद कसेरू कहलाता है। कसेरू फागुन में तैयार हो जाता है और आषाढ़ तक मिलता है।

उपयोगी अंग—गांठदार कन्द (*Tubers*)।

मात्रा—६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—उत्तम कसेरुकन्द जायफल के बराबर तथा गोल गांठ की तरह होता है। इसके ऊपर एक काला छिलका होता है, जिसपर काले रोंये या बाल होते हैं। इसके भीतर का गूदा सफेद, स्वाद में किंचित् मधुर एवं फीका तथा सुगन्धित होता है। इसको चाबने से कुछ-कुछ मोथे की सी गंध आती है। खाने में यह मीठा तथा ठंढा होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – गर्मियों में इसका कन्द सर्वत्र भारतीय बाजारों में बिकता है। ग्रीष्म के लिए एक उत्तम शीतल पेय होता है।

संगठन – कन्द में ६३% स्टार्च, ७% प्रोटीन, ७% गोंदीय तत्त्व, ६% काष्ठ भाग होता है। भस्म २३%।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस-मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–पित्तनाशक, दाह-प्रशमन, वमन एवं अतिसार-नाशक, रक्तस्तम्भन, हृद्य, बल्य आदि। अहितकर–किंचित् गुरु एवं चिरपाकी है। निवारण – शर्करा एवं शुद्ध मधु। प्रतिनिधि – ताजा कँवलगट्टा (कमल बीज)।

मुख्य योग – कसेरुकादि सर्पि, कसेरुकादि लेप, कशेरुकादि पेय।

कसौंदी (कासमर्द)

नाम। सं०–कासमर्द। हिं०–कसौंदी, कसौंजी। बं०–कासन्दा। म०–कासविंदा। गु०–कासोंदरो। ते०–कासिन्द। ता०–पेयाविरै। मल०–पोन्नाविरम्। का०–दोड्डतगचे। अं०–निग्रोकॉफ़ी (*Negro Coffee*)। ले०–कास्सिआ ऑक्सी-डेंटालिस (*Cassia occidentalis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : पूतिकरंज उपकुल (*Leguminosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – कसौंदी का क्षुप संसार के सभी उष्ण-प्रधान देशों में पाया जाता है। भारतवर्ष में हिमालय से लेकर पश्चिमी बंगाल, दक्षिण भारत, तथा लंका एवं ब्रह्मा तक समग्र स्थानों में यत्र-तत्र होता है। खुली जगहों में जहाँ धूप अच्छी लगती हो, इसको अधिक अनुकूल होता है।

संक्षिप्त परिचय – कसौंदी का क्षुप शुरू बरसात में प्रथम पानी पड़ते ही उगता है, और विशेषकर खाली पड़ी जमीन में जहाँ कूड़ा-करकट पड़ा हो उत्पन्न होता है। वर्षा भर क्षुप बढ़ता रहता है, और बहुत बढ़ने पर आदमी के बराबर वा इससे अधिक ऊँचा और सीधा होता है। यह शाखा-बहुल होता है, जो दीर्घ, मसृण एवं चारों ओर फैली हुई तथा प्रायः जड़ के पास से अथवा उससे किंचित् ऊपर से निकली होती हैं। पत्तियाँ पक्षाकार संयुक्त और पत्रक ३–५ जोड़े, ५ से १० सें० मी० (२–४ इंच) लम्बे तथा १.२५ से ३.१ सें० मी (½ से १। इंच) चौड़े, अण्डाकार-भालाकार और नोकदार होते हैं। पुष्प पीले, फलियाँ ७.५ सें० मी० या ३ इंच लम्बी और १.२५ सें० मी० या ½ इंच से कुछ कम चौड़ी, चिकनी और चिपटी होती हैं। यह वर्षात वा जाड़े के दिनों में फूलता-फलता एवं हेमन्त में परिपक्व फलों के सहित शुष्कता को प्राप्त होता है। कसौंदी को मल कर सूंघने से एक खराब गंध आती है।

उपयोगी अंग – पत्र, मूल और बीज।

मात्रा – पत्र स्वरस—½ से १ तोला।
बीजचूर्ण— १ से २ माशा।
मूलक्वाथ—२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कासमर्द के बीज भूरे या खाकस्तरीय रंग के तथा चक्रिकाकृति (*rounded discs*) के होते हैं,

जो व्यास में $\frac{3}{16}$ से $\frac{1}{4}$ इंच तथा $\frac{1}{16}$ इंच मोटाई के होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कासमर्द का एक और भेद होता है जिसे काली कसौंजी (*Cassia sophera Linn.*) कहते हैं। इसके क्षुप हिमालय से लंका तक समस्त भारतवर्ष में स्वयंजात पाये जाते हैं। इसकी शाखाएँ कृष्णाभ बैंगनी आभा (*Purplish tinge*) लिये होती हैं। मूलत्वक् काली होती है, जिससे जड़ जली हुई सी मालूम होती है, और इससे कस्तूरी जैसी गंध आती है। इसके क्षुप बहुवर्षायु तथा बड़े होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसके पौधे सर्वत्र सुलभ हैं। पक्व फलियों से बीजों को पृथक् कर मुखबंद पात्रों में उपयुक्त स्थान में रखें।

संगठन – कासमर्द की पत्तियों में सनाय जैसा विरेचक तत्त्व केथार्टिन (*Cathartin*), कुछ रंजक तत्त्व एवं लवण पाये जाते हैं। बीजों में टैनिक एसिड, वसाम्ल (*Fatty acids*) २.५%, लबाबीतत्त्व (म्युसिलेज ३६%), इमोडिन, क्राइसेरोबिन, अल्पमात्रा में सोडियम् सल्फेट, फास्फेट, मैगनीसियम् सल्फेट तथा एक विषाक्त तत्त्व (*Toxalbumin*) भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वात-कफ-शामक, पित्तसारक, मृदुरेचन, कफघ्न, श्वासहर, मूत्रल, ज्वरघ्न, दद्रुनाशक। प्राणिज एवं खनिज विप-नाशक, अपस्मार, अपतन्त्रक एवं आक्षेप-हर तथा पाण्डु-कामलानाशक आदि। यूनानी मतानुसार यह उष्ण एवं रूक्ष होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–काली मिर्च एवं मधु। प्रतिनिधि–एक भेद दूसरे भेद का।

विशेष – कसौंदी के बीजों को भूनने से इसका रेचक गुण नष्ट होकर यह संग्राही हो जाते हैं। भृष्ट बीजों का अकेले या अन्य औषधियों के साथ व्यवहार 'कॉफ़ी' के रूप में किया जाता है। अफ्रीका के सेनेगल प्रान्त में आदिवासियों में यह प्रचलन अधिक है, इसी से इसे '*Negro CoffeePlant*' भी कहते हैं। रसशास्त्र में शोधनार्थ इसके प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) मुरसादि गण में कासमर्द भी है।

काँदा (कोलकन्द)

नाम। सं०–कोलकन्द (राजनिघण्टु), वनपलाण्डु। हिं०–जंगलीप्याज, काँदा, तलकनरा, कनरी। बं०–जोंगली-पेयाज। म०–रानकांदा, कोलकांदा। गु०–जंगली कांदो, पाणकंदो। का०–पुटालु। अ०–उन्सुले हिंदी, इस्कीले हिंदी। फा०–पियाज सहराई। अं०–इंडियन स्क्विल (*Indian squill*)। ले०–ऊर्जीनेआ ईडिका (*Urginea-indica Kunth.*):

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसी *Liliaceaee*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी हिमालय प्रदेश में (२१३३.६ मीटर या ७,००० फुट की ऊँचाई तक), गढ़वाल, कुमायूँ, सहारनपुर, शिवालिक, बिहार, बंगाल, मध्य भारत, छोटा नागपुर तथा दक्षिण भारत में कोंकण, कारोमंडल एवं पश्चिमी समुद्रतट के बालुकामय प्रदेशों और पश्चिमी घाट की निचली पहाड़ियों पर प्रचुरता से पाया जाता है। जुलाहे लोग भी इसका संग्रह कपड़े पर माड़ी देने के लिए करते हैं। जाड़ों में जंगली लोग ताजा कंद समीपवर्ती बाजारों में बेचने के लिए लाते हैं। सुखाये हुए कन्द अथवा कंदों के सुखाये हुए कतरे कहीं-कहीं पंसारियों के यहाँ भी मिलते हैं। बम्बई में इसकी बिक्री की एक बड़ी मंडी है।

संक्षिप्त परिचय—काँदा के प्याज के सदृश कंदवाले छोटे एवं कोमल पौधे होते हैं, जो आपाततः देखने में सुदर्शन जैसे मालूम होते हैं। पत्तियाँ मूलीय (*Radical*), १५ से ४५ सें० मी० या ६–१८ इंच लम्बी १.२५ से २.५ सें० मी० या ॥–१ इंच चौड़ी, चिपटी, रेखाकार नुकीले अग्र वाली होती हैं। जून के महीने में वर्षा का प्रथम पानी पड़ते ही सदण्डिक पुष्पध्वज (*Scape*) निकलता है, जिस पर हरिताभ श्वेत पुष्प निकलते हैं। पत्तियाँ पुष्पागम के साथ-साथ अथवा बाद में निकलती हैं। पुष्पध्वज ३० से ७५ सें० मी० या १–२॥ फुट तक ऊँचा, पतला और दूर-दूर पुष्पों से युक्त होता है। पुष्प संख्या में प्रायः ४–८ और उनका वृन्त अन्ततः ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १॥–२॥ इंच तक लम्बा होता है। दलपत्र चक्राकार या घंटिकाकार क्रमवद्ध, हरिताभ श्वेत होते हैं। फल (*Capsules*) १.२५ से १.८७५ सें० मी० (॥–॥। इंच) बड़े, अंडाकार किन्तु

जहाँ पानी रुका होता है, अथवा आर्द्र भूमि में उपजता है। इसका कंद अंडाकार गोल गांठ की तरह होता है, और खाया जाता है। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में रूपाकृति भेद से कसेरू ३ प्रकार का बतलाया गया है—(१) स्थूल (२) लघु एवं (३) वृत्त। इनमें बड़े कन्द वाले को स्थूल या राजकशेरू तथा लघु कन्द वाले को चिचोड़ कहते हैं। जिसका कन्द गोल-गोल तथा मोथे की आकृति का होता है, इसे वृत्तकन्द कसेरु कहते हैं। धन्वन्तरीय एवं राजनिघण्टु ने मोथा वा मुस्ता के पर्यायों में कसेरु और राजकसेरु का पाठोल्लेख किया है। कोई-कोई कसेरू को गोंद पटेर का एक भेद बतलाते हैं। कसेरू के पौधे को कहीं-कहीं गोंदला भी कहते हैं। संस्कृत में इसे गुण्ड, कहते हैं और इसका कंद—गुण्डकंद कसेरू कहलाता है। कसेरू फागुन में तैयार हो जाता है और आषाढ़ तक मिलता है।

उपयोगी अंग—गांठदार कन्द (*Tubers*)।

मात्रा—६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—उत्तम कसेरुकन्द जायफल के बराबर तथा गोल गांठ की तरह होता है। इसके ऊपर एक काला छिलका होता है, जिसपर काले रोंये या बाल होते हैं। इसके भीतर का गूदा सफेद, स्वाद में किंचित् मधुर एवं फीका तथा सुगन्धित होता है। इसको चाबने से कुछ-कुछ मोथे की सी गंध आती है। खाने में यह मीठा तथा ठंढा होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – गर्मियों में इसका कन्द सर्वत्र भारतीय बाजारों में बिकता है। ग्रीष्म के लिए एक उत्तम शीतल पेय होता है।

संगठन – कन्द में ६३% स्टार्च, ७% प्रोटीन, ७% गोंदीय तत्त्व, ६% काष्ठ भाग होता है। भस्म २½%।

स्वभाव – गुण—गुरु, रूक्ष। रस-मधुर, कषाय। विपाक—मधुर। वीर्य—शीत। प्रधान कर्म—पित्तनाशक, दाह-प्रशमन, वमन एवं अतिसार-नाशक, रक्तस्तम्भन, हृद्य, वल्य आदि। अहितकर—किंचित् गुरु एवं चिरपाकी है। निवारण – शर्करा एवं शुद्ध मधु। प्रतिनिधि – ताजा कँवलगट्टा (कमल बीज)।

मुख्य योग – कसेरुकादि सर्पि, कसेरुकादि लेप, कशेरु-कादि पेय।

कसौंदी (कासमर्द)

नाम। सं०—कासमर्द। हिं०—कसौंदी, कसौंजी। बं०—कासन्दा। म०—कासविंदा। गु०—कासोंदरो। ते०—कासिन्द। ता०—पेयाविरै। मल०—पोन्नाविरम्। का०—दोड्डतगचे। अं०—निग्रोकॉफ़ी (*Negro Coffee*)। ले०—कास्सिआ ऑक्सी-डेंटालिस (*Cassia occidentalis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : पूतिकरंज उपकुल (*Leguminosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – कसौंदी का क्षुप संसार के सभी उष्ण-प्रधान देशों में पाया जाता है। भारतवर्ष में हिमालय से लेकर पश्चिमी बंगाल, दक्षिण भारत, तथा लंका एवं ब्रह्मा तक समग्र स्थानों में यत्र-तत्र होता है। खुली जगहों में जहाँ धूप अच्छी लगती हो, इसको अधिक अनुकूल होता है।

संक्षिप्त परिचय – कसौंदी का क्षुप शुरू बरसात में प्रथम पानी पड़ते ही उगता है, और विशेषकर खाली पड़ी जमीन में जहाँ कूड़ा-करकट पड़ा हो उत्पन्न होता है। वर्षा भर क्षुप बढ़ता रहता है, और बहुत बढ़ने पर आदमी के बराबर वा इससे अधिक ऊँचा और सीधा होता है। यह शाखा-बहुल होता है, जो दीर्घ, मसृण एवं चारों ओर फैली हुई तथा प्रायः जड़ के पास से अथवा उससे किंचित् ऊपर से निकली होती हैं। पत्तियाँ पक्षाकार संयुक्त और पत्रक ३—५ जोड़े, ५ से १० सें० मी० (२—४ इंच) लम्बे तथा १.२५ से ३.१ सें० मी (½ से १। इंच) चौड़े, अण्डाकार-भालाकार और नोकदार होते हैं। पुष्प पीले, फलियाँ ७.५ सें० मी० या ३ इंच लम्बी और १.२५ सें० मी० या ½ इंच से कुछ कम चौड़ी, चिकनी और चिपटी होती हैं। यह वर्षांत वा जाड़े के दिनों में फूलता-फलता एवं हेमन्त में परिपक्व फलों के सहित शुष्कता को प्राप्त होता है। कसौंदी को मल कर सूंघने से एक खराब गंध आती है।

उपयोगी अंग – पत्र, मूल और बीज।

मात्रा – पत्र स्वरस—½ से १ तोला।
बीजचूर्ण— १ से २ माशा।
मूलक्वाथ—२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कासमर्द के बीज भूरे या खाकस्तरीय रंग के तथा चक्रिकाकृति (*rounded discs*) के होते हैं,

जो व्यास में $\frac{3}{16}$ से $\frac{1}{4}$ इंच तथा $\frac{1}{16}$ इंच मोटाई के होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कासमर्द का एक और भेद होता है जिसे काली कसौंजी (*Cassia sophera Linn.*) कहते हैं। इसके क्षुप हिमालय से लंका तक समस्त भारतवर्ष में स्वयंजात पाये जाते हैं। इसकी शाखाएँ कृष्णाभ वैंगनी आभा (*Purplish tinge*) लिये होती हैं। मूलत्वक् काली होती है, जिससे जड़ जली हुई सी मालूम होती है, और इससे कस्तूरी जैसी गंध आती है। इसके क्षुप वहुवर्षायु तथा वड़े होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसके पौधे सर्वत्र सुलभ हैं। पक्व फलियों से वीजों को पृथक् कर मुखवंद पात्रों में उपयुक्त स्थान में रखें।

संगठन – कासमर्द की पत्तियों में सनाय जैसा विरेचक तत्त्व केथार्टिन (*Cathartin*), कुछ रंजक तत्त्व एवं लवण पाये जाते हैं। वीजों में टैनिक एसिड, वसाम्ल (*Fatty acids*) २.५%, लवावीतत्त्व (म्युसिलेज ३६%), इमोडिन, क्राइसेरोविन, अल्पमात्रा में सोडियम् सल्फेट, फास्फेट, मैगनीसियम् सल्फेट तथा एक विपाक्त तत्त्व (*Toxalbumin*) भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वात-कफ-शामक, पित्तसारक, मृदुरेचन, कफघ्न, श्वासहर, मूत्रल, ज्वरघ्न, दद्रुनाशक। प्राणिज एवं खनिज विष-नाशक, अपस्मार, अपतन्त्रक एवं आक्षेप-हर तथा पाण्डु-कामलानाशक आदि। यूनानी मतानुसार यह उष्ण एवं रूक्ष होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–काली मिर्च एवं मधु। प्रतिनिधि–एक भेद दूसरे भेद का।

विशेष – कसौंदी के वीजों को भूनने से इसका रेचक गुण नष्ट होकर यह संग्राही हो जाते हैं। भृष्ट वीजों का अकेले या अन्य औषधियों के साथ व्यवहार 'कॉफ़ी' के रूप में किया जाता है। अफ्रीका के सेनेगल प्रान्त में आदिवासियों में यह प्रचलन अधिक है, इसी से इसे '*Negro CoffeePlant*' भी कहते हैं। रसशास्त्र में शोधनार्थ इसके प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सुरसादि गण में कासमर्द भी है।

कांदा (कोलकन्द)

नाम। सं०–कोलकन्द (राजनिघण्टु), वनपलाण्डु। हिं०–जंगलीप्याज, कांदा, तलकनरा, कनरी। वं०–जोंगली-पेयाज। म०–रानकांदा, कोलकांदा। गु०–जंगली कांदो, पाणकंदो। का०–पुटालु। अ०–उन्सुले हिंदी, इस्कीले हिंदी। फा०–पियाज सहराई। अं०–इंडियन स्विवल (*Indian squill*)। ले०–ऊर्जीनेआ ईंडिका (*Urginea-indica Kunth.*):

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसी *Liliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी हिमालय प्रदेश में (२१३३.६ मीटर या ७,००० फुट की ऊँचाई तक), गढ़वाल, कुमायूँ, सहारनपुर, शिवालिक, विहार, वंगाल, मध्य भारत, छोटा नागपुर तथा दक्षिण भारत में कोंकण, कारोमंडल एवं पश्चिमी समुद्रतट के वालुकामय प्रदेशों और पश्चिमी घाट की निचली पहाड़ियों पर प्रचुरता से पाया जाता है। जुलाहे लोग भी इसका संग्रह कपड़े पर माड़ी देने के लिए करते हैं। जाड़ों में जंगली लोग ताजा कंद समीपवर्ती वाजारों में वेचने के लिए लाते हैं। सुखाये हुए कन्द अथवा कंदों के सुखाये हुए कतरे कहीं-कहीं पंसारियों के यहाँ भी मिलते हैं। वम्बई में इसकी विक्री की एक वड़ी मंडी है।

संक्षिप्त परिचय—कांदा के प्याज के सदृश कंदवाले छोटे एवं कोमल पौधे होते हैं, जो आपाततः देखने में सुदर्शन जैसे मालूम होते हैं। पत्तियाँ मूलीय (*Radical*), १५ से ४५ सें० मी० या ६–१८ इंच लम्वी १.२५ से २.५ सें० मी० या ॥–१ इंच चौड़ी, चिपटी, रेखाकार नुकीले अग्र वाली होती हैं। जून के महीने में वर्षा का प्रथम पानी पड़ते ही सदण्डिक पुष्पध्वज (*Scape*) निकलता है, जिस पर हरिताभ श्वेत पुष्प निकलते हैं। पत्तियाँ पुष्पागम के साथ-साथ अथवा वाद में निकलती हैं। पुष्पध्वज ३० से ७५ सें० मी० या १–२॥ फुट तक ऊँचा, पतला और दूर-दूर पुष्पों से युक्त होता है। पुष्प संख्या में प्रायः ४–८ और उनका वृन्त अन्ततः ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १॥–२॥ इंच तक लम्वा होता है। दलपत्र चक्राकार या घंटिकाकार क्रमवद्ध, हरिताभ श्वेत होते हैं। फल (*Capsules*) १.२५ से १.८७५ सें० मी० (॥–॥। इंच) वड़े, अंडाकार किन्तु

दोनों सिरों की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़े अथवा त्रिभुजाकार होते हैं, जिनमें लम्बगोल, चपटे, तथा काले रंग के बीज होते हैं। फल अन्दर तीन कोष्ठीय-सा होता है, जिनमें प्रत्येक में ५–१० तक बीज होते हैं। कोलकंद में प्याज जैसे किन्तु निर्गन्ध कन्द (*Bulbs*) लगते हैं, जिनका व्यवहार औषधि में होता है। रंग भेद से लाल और सफेद यह दो प्रकार का आता है।

उपयोगी अंग – कन्द (*Bulbs*)।

मात्रा – १२५ मि० ग्राम से १८७.५ मि० ग्राम या १–१॥ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – काँदा का कंद आपाततः देखने में प्याज की तरह, ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच तक लम्बा, रूपरेखा में गोल, अण्डाकार अथवा लट्वाकार, व्यास में ३.७५-५ (१५) सें० मी० या १॥-२ (६ इंच तक) विभिन्न आकार-प्रकार की सफेदी लिये होता है, जिसकी गर्दन २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बी होती है; किन्तु यह निर्गन्ध होता है। ताजा कन्द खाने से जीभ पर कण्डू मालूम होती है। स्वाद में यह तिक्त एवं कटु तथा उत्क्लेशजनक होता है। औषध्यर्थ एक वर्षायु नीबू जितना बड़ा कंद अधिक उत्तम समझा जाता है। जंगली प्याज के काट कर सुखाये हुए कतरे धनुष की तरह टेढे अथवा अनियमित स्वरूप के टेढ़े-मेढ़े, $\frac{1}{4}$ से २ इंच × $\frac{1}{8}$ से $\frac{3}{5}$ इंच × $\frac{1}{24}$ से $\frac{1}{8}$ इंच तथा, दोनों सिरों की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़े एवं अधिक पतले, अनुलम्ब दिशा में उन्नत रेखा युक्त, सफेदी लिए पीताभ भूरे रंग के होते हैं। कभी-कभी ४-४, ६-६ टुकड़े एक साथ जुटे हुए-से होते हैं। शुष्क टुकड़े आसानी से चूर्ण हो जाते हैं, किन्तु नम होने पर यह चिमड़े तथा लचीले हो जाते हैं। भस्म–अधिकतम ६% तक। अम्ल में अविलेय भस्म–अधिकतम १$\frac{1}{2}$%। ऐल्कोहल् (६०%) में घुलनशील सत्व–कम-से-कम ३०%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कारोमंडल तट पर कोलकन्द की एक दूसरी जाति (*Species*) भी पायी जाती है, जिसे ऊर्जीनिआ कारोमंडेलिआना (*U. Coromandeliana Hook. f.*) कहते हैं। इसके कंद भी गुण-कर्म में उपर्युक्त कोलकन्द से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। सिल्ला हिआसींथिना *Scilla hyacinthina* (*Roth*) *Macb.* (पर्याय – सील्ला ईंडिका *Scilla indica Baker*) नामक वनस्पति के कन्द भी स्वरूपतः एवं गुणकर्म में उपर्युक्त कोलकंदवत् ही होते हैं। इसकी पत्तियाँ अपेक्षाकृत छोटी (७.५ से १५ सें० मी० या ३-६ इंच) होती हैं, तथा इनपर काले धब्बे पाये जाते हैं। बीज गोल या अण्डाकार होते हैं। यह बुंदेलखंड ग्वालियर, बिहार, छोटा नागपुर, मध्य भारत, कोंकण, महाबलेश्वर, दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेश एवं पश्चिमी भाग को छोड़ कर शेष सर्वत्र मद्रास प्रान्त में पाया जाता है। उपर्युक्त देशी वनपलाण्डु, विदेशीय वनपलाण्डु (ऊर्जीनिआ मारीटिमा *Urginea maritima Linn.*) *Baker.* (पर्याय–सिल्ला मारीटिमा *Scilla maritima Linn.*) की उत्तम प्रतिनिधि औषधि है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों के प्रारम्भ में (अथवा वर्षान्त में) एकवर्षायु छोटे कन्दों का संग्रह करें। इसके ऊपर के शुष्क छिलकेदार पर्त को हटा कर गूदेदार पर्तो को पृथक् कर लम्बाई के रुख कतरेनुमा टुकड़े काट छायाशुष्क करें और फिर इन्हें अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें। चूर्ण को विशेष रूप से नमी या आर्द्रता से बचाना चाहिए। एतदर्थ इसको चूने के साथ रखना चाहिए।

संगठन – ताजे कोलकन्द में २ सक्रिय ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं—(१) सिलारेन–ए (*Scillaren-A* $C_{36}H_{52}O_{13}$) जो क्रिस्टलाइन स्वरूप का होता है; तथा (२) सिलारेन-बी (*Scillaren-B*) जो प्रायः अक्रिस्टलीय (*Amorphous*) ही प्राप्त होता है। इनमें सिलारेन–ए तो जल में नहीं घुलता, किन्तु सिलारेन–बी जल एवं क्लोरोफॉर्म में घुलनशील होता है। सिलारेन (जो सिलारेन -ए एवं सिलारेन–बी का मिश्रण होता है) जल में भी प्रायः सुविलेय होता है और काफी समय तक स्थायी होता है। इसके अतिरिक्त कोलकंद में लबाब, कार्बोहाइड्रेट तथा कैल्सियम् ऑक्जलेट क्रिस्टल्स (५% तक) भी पाये जाते हैं।

स्वभाव – गुण–तीक्ष्ण, लघु। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–वातकफशामक, एवं पित्तवर्धक; हृदयोत्तेजक एवं शोथहर (विशेषतः हृद्विकार जन्य), कफनिःसारक, मूत्रल, आर्त्तवजनन, स्वेदजनन एवं कृमिघ्न आदि। स्थानिक प्रयोग से यह क्षोभक, रक्तिमाजनक एवं व्रणकारक भी होता है। जंगली

प्याज, साधारण प्याज की अपेक्षा अधिक वीर्यवान् होता है। यह उसकी भाँति खाने के काम में नहीं लिया जाता; किंतु उन समस्त रोगों में गुणदायक है, जिनमें साधारण प्याज उपादेय होता है। जंगली प्याज विशेषतः मूत्रजनन एवं कफ-निष्ठीवन कर्म में अधिक बलवान् है। जीर्णप्रतिश्याय, कास एवं जीर्ण फुफ्फुस रोगों तथा श्वास रोग में तथा मूत्रल होने से जलोदर एवं अन्य शोथों में इसका व्यवहार उपयोगी है। हृदय पर इसकी क्रिया डिजिटेलिस की भाँति होती है। निस्सरण–शरीर से इसका निस्सरण त्वचा, फुफ्फुस, वृक्क एवं आन्त्र से होता है। अहितकर–इनमें केल्सियम् ऑक्जलेट अधिक मात्रा में पाया जाने के कारण यह स्थानिक क्षोभक होता है। मुख द्वारा सेवन किये जाने पर भी मात्रातियोग से अथवा कभी-कभी औषधीय मात्राओं में भी इससे आमाशयान्त्र-प्रदाह की स्थिति उत्पन्न होकर वमन, विरेचन आदि उपद्रव लक्षित होते हैं। तीव्र कास एवं वृक्क रोग में इसका सेवन निषिद्ध है। उष्ण प्रकृति वालों को तथा वातनाड़ियों को भी यह अहितकर होता है। निवारण–मिश्री एवं सिकंजवीन।

विशेष – कोलकंद विलायती ओषधि सिल्ला का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। जिन-जिन रूपों में सिल्ला का व्यवहार होता है, इसका भी व्यवहार हो सकता है।

काकड़ासींगी (कर्कटशृङ्गी)

नाम। सं०–शृङ्गी, कर्कटशृङ्गी। हिं०–काकड़ासींगी। पं०–ककड़सिंगी, काकड़ासिंगी। म०–काकड़शिंगी। गु०–काकड़ासिंगी। बं०–काकड़ाशृङ्गी। अं०–क्रैब्स क्लॉ (*Crab's Claw*)। ले०–पीस्टासिआ खींजुक *Pistacia khinjuk* *Stocks*. (पर्याय–पीस्टासिआ इन्टेगेरिमा *Pistacia integerrima Stew. ex Brandis.*)। लेटिन नाम वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – आम्रादि-कुल (आनाकार्डिआसी (*Anacardiaceae*))।

प्राप्तिस्थान – पेशावर की घाटी, सुलेमान पहाड़, उत्तर पश्चिमी हिमालय, तथा सिंध नदी से कुमायूं तक के प्रदेश में 'काकड़' नामक वृक्ष होते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके मध्यम कद के तथा पतझड़ करने वाले वृक्ष होते हैं। पत्तियां एकान्तर क्रमसे स्थित होती हैं, जो अयुग्मपक्षाकार १५ सें० मी० से २२.५ सें० मी० (६ से ९ इंच) लम्बी, पत्रक ४-६ जोड़े, लगभग अभिमुख क्रम से (*Sub-opposite*) स्थित तथा किंचित् सनाल, रूपरेखा में भालाकार, लम्बे नोक वाले एवं सरल धार और चिकने होते हैं। पुष्प छोटे-छोटे तथा दलपत्र रहित (*Apetalous*) एवं एकलिंगी, मंजरियों में लगते हैं। नरपुष्प एवं स्त्रीपुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर पाये जाते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) व्यास में $\frac{५}{८}$ सें० मी०, ($\frac{१}{४}$ इंच) टेढ़ा-सा तथा चमकदार एवं वाह्य तल पर झुर्रीदार होता है। पुष्प नयी पत्तियों के साथ आते हैं। इसकी टहनियों पर लम्बे-लम्बे शृंगसदृश कृमिगृह (*Galls*) लगते हैं, जो हेमिप्टेरस (*Hemipterus*) नामक कीड़ों के बनाये हुए होते हैं, और कर्कटशृंगी के नाम से चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।

उपयोगी अंग – वृक्षव्रणजन्य कृमिगृह या गॉल (*Galls*): कर्कटशृंगी।

मात्रा – $\frac{१}{२}$ से १ ग्राम (४ से ८ रत्ती या $\frac{१}{२}$ से १ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में जो काकड़ासींगी मिलती है, वह कठिन, भीतर से पोली, हलकी, अनियताकार वाली, ३.७५ सें० मी० (१॥ इंच) लम्बी, २.५ सें० मी० (१ इंच) चौड़ी तथा चौथाई इंच मोटी, बकरी के सींग के समान, नोकदार, कालापन लिये लाल रंग की तथा स्वाद में कसैलापन लिए कुछ कड़वी होती हैं। काकड़ासींगी को तोड़ने पर अन्दर के तल पर स्थान-स्थान पर धूल के कणपुंज से लगे दीखते हैं, जो वास्तव में इसके कीड़ों के अपद्रव्य होते हैं। काकड़ासींगी के चूर्ण में उपर्युक्त स्वाद के अतिरिक्त तारपीन-सी हल्की गंध भी आती है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – इसको अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – (१) उड़नशील तेल (*Essential oil*) १.३% तक। (२) टैनिन (*Tannin*) ६०% तक। (३) मस्तगी के समान का गोंद (*Gum mastic*) ५%। (४) एक रालीय द्रव्य तथा २ क्रिस्टलाइन एसिड्स। इनके अतिरिक्त ३-४ प्रतिशत तक एक क्रिस्टलाइन स्वरूप का हाइड्रोकार्बन भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–लघु, रुक्ष। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–ग्राही, अतिसार–प्रवाहिकानाशक, कटुपौष्टिक, ज्वरघ्न आदि। चरकोक्त (सू० अ० ४) हिक्कानिग्रहण एवं कासहर महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त काकोल्यादि गण में कर्कटशृंगी की भी गणना है।

मुख्य योग – बालचतुर्भद्रा, कर्कटादि चूर्ण, शृंग्यादि चूर्ण।

विशेष – तिन्तिड़ीक जाति (*Rhus*) के वृक्षों में भी कृमि-गृह बनते हैं, परन्तु वे कर्कटशृंगी से भिन्न होते हैं। कुछ लोगों ने भ्रम से कर्कट वृक्ष का नाम र्‌हस सुक्केडानेआ (*Rhus succedanea Linn.*) लिख दिया है।

काजू (काजूत)

नाम–सं०–काजूत, काजूतक, वृत्तारुष्कर (अभिनव)। हिं०, म०, गु०–काजू। मेवाड़–काजूकुली। मारवाड़–काजूगुली। बं०–हिजली बादाम। फा०–बादामे फिरंगी। अं० (गिरी)–केश्यू नट (*Cashew-nut*); (वृक्ष)–केश्यू नट ट्री *Cashew-nut Tree*। ले०–(वृक्ष) आनाकार्डिउम ऑक्सीडेंटाले (*Anacardium occidentale Linn*)।

वानस्पतिक कुल – आम्रादि-कुल (आनाकार्डिआसी : *Anacardiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – काजू अमेरिका (के उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों-मेक्सिको, पेरू, ब्रेजिल आदि) का आदिवासी वृक्ष है। भारतवर्ष में यह लगभग ४०० वर्ष पूर्व पुर्तगालियों द्वारा ब्रेजिल से लाया गया था। सम्प्रति दक्षिण भारत में पश्चिमी समुद्रतटवर्तीय प्रदेशों में उत्तरी एवं दक्षिणी कनाड़ा, बम्बई, गोवा, कोचिन, ट्रावन्कोर, मैसूर तथा मद्रास प्रान्त में विस्तृत परिमाण में लगाया जाता है। उक्त प्रदेशों के अतिरिक्त अब बंगाल (मिदनापूर) एवं उड़ीसा प्रान्त (पुरी, गंजम, बालसोर आदि) में भी लगाया जाने लगा है। काजू की गिरी सर्वत्र पंसारियों के यहाँ तथा मेवा फरोशों के यहाँ बिकती है।

संक्षिप्त परिचय – काजू के १२.१८ मीटर (४० फुट) तक ऊंचे सदाहरित वृक्ष होते हैं; शाखाएँ आम की तरह चारों ओर फैली रहती हैं। पत्तियाँ १० से २० सें० मी० (४-८ इंच) लम्बी, ७.५ से १२.५ सें० मी० (३-५ इंच) चौड़ी होती हैं। पुष्प पीत वर्ण का तथा लाल दागों से युक्त तथा सुगंधित होता है। पुंकेशर ६ होते हैं, जिनमें एक सब से बड़ा होता है। प्रायः ३ वर्ष के बाद ही इसका वृक्ष फल देने लगता है। किन्तु अच्छी तरह फल–प्रायः १० वर्ष से प्रारम्भ होकर अगले २० वर्षों तक जोर पर रहता है। पुष्पागम नवम्बर-दिसम्बर में, और मार्च-अप्रैल तक फल पक कर मई के महीनों में नीचे गिरने लगते हैं। इसी समय इनका संग्रह किया जाता है। भल्लातक की भाँति इसमें भी पुष्पदण्ड (*Peduncle*) एवं दल्यक्ष या पुष्पधर (*Thalamus*) फूल कर मांसल हो जाता है जो पकने पर खाया जाता है। इससे एक प्रकार की शराब भी बनाते हैं। फल वास्तव में वृक्काकार (*Kidney-shaped nut*) होता है, जो उक्त मांसल दल्यक्ष के साथ जुटा रहता है। उक्त मांसल भाग को "*Cashew apple*" कहते हैं, जो पकने पर पीला या लाल रंग का हो जाता है। गिरीदार अष्ठिफल (*Drupaceous nut*) हरिताभ खाकस्तरी रंग का होता है, जिसकी फलत्वचा (*Pericarp*), कड़ी, चिकनी एवं चमकीली होती है, जिसमें भल्लातक की भाँति एक तीक्ष्ण विस्फोटजनक रस होता है। हवा में खुला रहने से काले रंग का हो जाता है। इसे काजू का अलकतरा (*Tar*) कहते हैं। इसको तोड़ने पर अन्दर सफेद रंग का वृक्काकार द्विदल गूदा निकलता है, जो लालिमा लिये भूरे रंग के छिलके (*Testa*) से आवृत होता है। फलों को भून कर गुठली तोड़ कर गिरी निकाल ली जाती है। उस पर का लाल छिलका भी उतार दिया जाता है। यही काजू बाजारों में मिलता है। काजू भी बादाम की भाँति चिकना मधुर एवं स्वादिष्ठ होता है। इसीलिए इसके लिए काजूफल, काजूगुली आदि शब्दों का व्यवहार होता है। काजू के वृक्षों से एक गोंद भी निकलता है।

उपयोगी अंग – गिरी (काजू) एवं इसका तैल।

मात्रा–गिरी–६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १२ माशा। तैल–३ माशा से ६ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – काजू की गिरी को मुखबंद पात्रों में उचित स्थान में रखें। तैल को अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – काजू की गिरी का संगठन बहुत-कुछ मीठे बादाम की तरह होता है। इसमें प्रोभुजिन् या प्रोटीन तत्त्व (२१.२%), चर्बी या वसा का अंश (४६.९%) तथा कार्बोज जातीय पदार्थ या कार्बोहाइड्रेट्स (२२.३%) तथा खनिज तत्त्व २.४% (केल्सियम्, पोटासियम् एवं

लौह आदि) मिलते हैं। गिरी से ४०-५०% तक स्थिर तैल पाया जाता है, जिसमें ओलिईक एसिड (७३%), लिनोलीक, स्टियरिक एवं पामिटिक एसिड के ग्लिसराइड्स होते हैं। फल के छिलके (*Pericarp*) में भल्लातक की भाँति काले रंग का विस्फोटजनक तैल (वास्तव में रस) पाया जाता है। उक्त रस में मुख्यतः एनाकार्डिक एसिड (*Anacardic acid*) एवं कार्डोल (*Cardol*) नामक तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – गिरी–२ वर्ष। तैल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–वातशामक, मस्तिष्क एवं नाड़ीबल्य, स्नेहन, अनुलोमन, वृष्य, वाजीकरण, वृंहण, मूत्रल, कुष्ठघ्न, केश्य, वेदनास्थापन, रक्तशोधक, हृद्य। छिलके का रस–विस्फोटजनक (*Vesicant*) एवं प्रतिक्षोमक (*Counter-irritant*)। यूनानी मतानुसार काजू गरम और तर है। अहितकर–गरम प्रकृति वालों के रक्त में उष्णता करता तथा पित्तकारक है। निवारण–खट्टा अनार और सिकंजबीन।

विशेष – काजू एक उत्तम पौष्टिक मेवा है। भल्लातक आदि तीक्ष्ण औषधियों के दोष निवारण के लिए इसे मिलाया जाता है।

कायफल (कट्फल)

नाम। सं०–कट्फल। हिं०, म०, गु०–कायफल, कैफर। कुमाँयू, गढ़वाल, नेपाल–काफल। बं०–कट्फल, कायछाल। अ०–अजूरी, ऊदुल्वर्क। फा०–दारशीशआन। अं०–दि बॉक्स मर्टिल (*The Box Myrtle*)। ले०–मीरिका नागी (*Myrica nagi Thunb.*)।

वानस्पतिक कुल – कट्फलादि-कुल (मीरिकासी *Myricaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर पंजाब, गढ़वाल, कुमाऊँ, नेपाल, खासिया-पर्वत, सिलहट में तथा मलाया, चीन एवं जापान में भी इसके वृक्ष पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – कायफल के मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष होते हैं, जिसकी पत्तियाँ शाखाग्रों पर समूह-बद्ध होतीं तथा सुगन्धित होती हैं। पत्तियाँ लम्बाई में ७.५ से २० से.मी० (३ से ८ इंच) लम्बी, ३.७५ से ५ सें० मी० (१॥-२ इंच) चौड़ी तथा रूपरेखा में भालाकार या कुछ-कुछ आयताकार या लट्वाकार, अधःपृष्ठ मुरचई रंग के (*Rust-coloured*) होते हैं। पत्रतट पुरानी पत्तियों में सरल तथा नवीन पत्तियों में सूक्ष्मदन्तुर। पुष्प एकलिंगी (*1-Sexual*) तथा छोटे-छोटे होते हैं। नर एवं स्त्री पुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर पाये जाते हैं। मंजरियाँ (*Spikes*) प्रायः पत्रकोणोद्भूत (*Axillary*) होती हैं, जिनमें नरपुष्प मंजरी अधोलम्बी (*Drooping*) तथा स्त्रीपुष्प मंजरी ऊपर को खड़ी (*Erect*) होती हैं। पत्रनाल, मंजरी और नवीन शाखाओं पर बादामी रोमावरण होता है। अष्ठिफल (*Drupe*) १.२५ से १.७५ सें० मी० (½ से ¾ इंच) लम्बा, अण्डाकार, कुछ चिपटा, पृष्ठ पर दानेदार तथा पकने पर रक्ताभ या पीताभ बादामी होता है। पुष्पागम काल–जाड़ों में। फलागम–ग्रीष्म ऋतु। फल ग्रीष्म ऋतु में पकते हैं। इसमें लाल रंग का गूदा होता है। गुठली झुर्रीदार (*Nut rugose*) होती है। गर्मियों में स्थानिक लोग पके फलों का शर्बत बना कर सेवन करते हैं। इसका शर्बत खटमिट्ठा और बहुत रुचिकारक होता है।

उपयोगी अंग – काण्डत्वक् या छाल (*Stem bark*)।

मात्रा – छाल का चूर्ण १ ग्राम से० २ ग्राम या १-२ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कायफल की छाल काफी मोटी (½ इंच) होती है। यह बाहर से बादामी धूसर अथवा कृष्णाभ तथा खुरदरी (*Warty*) होती है। अन्दर से उक्त छाल मटमैले गाढ़े लाल रंग की होती है। जल में भिगोने से गाढ़े लाल रंग का विलयन बनता है। स्वाद में कायफल छाल अत्यंत कपैली होती है। हवा में सुखायी हुई छाल से प्राप्त भस्म–७.१७% जल में भिगोने से प्राप्त सत्व को बाष्पीभवन द्वारा सुखाने से लालिमा लिये भूरे रंग का भंगुर, चमकीला सत्व प्राप्त होता है, जिसमें ६०% टैनिन, एक मधुर तत्त्व (*Saccharine matter*) एवं साल्ट्स होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – छाल को छाया शुष्क करके अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबन्द डिब्बों में रखना चाहिए।

संगठन – टैनिन, मधुर तत्त्व, लवण, रंजक तत्त्व।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–शिरोविरेचन, श्वास-कास नाशक, रक्तस्तम्भक। अहितकर–यकृत्प्लीहा को। निवारण–मस्तगी। प्रतिनिधि–असारून।

मुख्य योग –कट्फलादि चूर्ण, कट्फलादि क्वाथ, कट्फल नस्य।

विशेष – कट्फल नाम से प्रयोज्य अंग के फल होने का भ्रम नहीं होना चाहिए। इसकी छाल का ही व्यवहार औषधि में होता है। चरकोक्त (सू० अ० ४) सन्धानीय, शुक्र-शोधन एवं वेदनास्थापन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) लोध्रादि एवं सुरसादि गण में कट्फल का भी उल्लेख है।

कालमेघ (यवतिक्ता)

नाम। सं०–यवतिक्ता, कल्पनाथ (अभिनव)। हिं०–कल्पनाथ, कालमेघ। बं०–कालमेघ। म०–पालेकिराईत। गु०–लीलुं करियातुं। अं०–एन्ड्रोग्रेफिस (*Andrographis*), किरयात (*Kiryat*), क्रियेत (*Creat*)। ले०–आंड्रोग्राफ़िस पानीकुलाटा (*Andrographis paniculata Nees*)।

वानस्पतिक कुल–वासक-कुल (अकान्थासी *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष एवं लंका में इसके लगाये हुए अथवा जंगली रूपसे उत्पन्न पौधे मिलते हैं। विशेषतः बंगाल में इसके पौधे गाँव-गाँव में पाये जाते हैं। बंगाल-निवासियों में घरेलू चिकित्सा में इसके प्रयोग का आम रिवाज है। इसका वंगीय नाम 'कालमेघ' अन्य भाषाओं में भी ग्रहण कर लिया गया है।

परिचय – कालमेघ के ३० सें० मी० से ६० सें० मी (१ से ३ फुट) ऊँचे बहुशाखीय एकवर्षायु छोटे-छोटे पौधे होते हैं। काण्ड, चौपहल (*Quadrangular*) होता है। ऊर्ध्व भाग में तथा कोमल शाखाओं पर धाराएँ अधिक स्पष्ट होती हैं, जिससे काण्ड प्रायः सपक्ष (*Winged*) मालूम पड़ता है। काण्ड प्रायः गाढ़े हरे रंग का तथा व्यास में २ से ६ मिलिमिटर होता है। पर्वों पर काण्ड शेष भाग की अपेक्षा अधिक स्थूल तथा पर्वान्तरिक भाग में अनुलम्ब खातयुक्त (*With longitudinal fissures*) होता है। पत्तियाँ–आकार में भालाकार, ७.५ से ८.७५ सें० मी० (३-३॥ इंच) तक लम्बी तथा २.५ सें० मी० या १ इंच चौड़ी एवं मसृण होती हैं तट, अखण्ड (*Entire*) होते हैं। ये पत्तियाँ काण्ड पर चतुर्पंक्तिक अभिमुख क्रम से स्थित (*Decussate*) तथा पर्णवृन्त बहुत छोटे (०.६ मिलिमिटर) होते हैं। पुष्पव्यूह सवृन्तकाण्डज (*Raceme*) होता है, जो पत्तियों के कोणों से निकलता है, अथवा शाखाओं पर स्थित होता है। सम्पूर्ण पुष्पव्यूह की रूपरेखा पिरामिडाकार मंजरीसम (*Pyramidal paniculate*) होता है। पुष्प आकार में छोटे तथा दलचक्र (*Corolla*)) रंग में पाटल-सम (*Rose-coloured*) तथा वासककुल के विशिष्ट लक्षणानुसार द्वि-ओष्ठी (*Bilabiate*) होता है। ऊर्ध्वोष्ठ (*Upper-lip*) दो खण्डों वाला तथा अधः ओष्ठ (*Lower lip*) तीन खण्डों वाला होता है। उक्त आभ्यन्तर कोष (*Corolla*) सूक्ष्मग्रंथिरोमश (*Glandular pubescent*) होता है। फल सामान्य स्फोटी प्रकार (*Capsule*) का तथा द्वि-कोष्ठीय (*2-celled*) होता है जो रूपरेखा में लम्बोतरा (*Linear-oblong*) एवं दोनों सिरों की ओर क्रमशः कम चौड़ा होता है। कालमेघ के फल बाह्यतः देखने में जौ की तरह लगते हैं। प्रत्येक फल में किंचित् चौपहल (*Subquadrate*) एवं पीताभ भूरे रंग के अनेक बीज होते हैं। सम्पूर्ण पौधा स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – (१) चूर्ण–½ से १½ ग्राम (५ से १० रत्ती)।
(२) स्वरस–२ से ४ माशा।
(३) क्वाथ–२ से ४ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%; एन्ड्रोग्रेफोलिड (*Andrographolid*) न्यूनतम– १%।

संग्रह एवं संरक्षण – फलागम के बाद पंचाङ्ग ग्रहण कर सुखा लें और अनार्द्र एवं शीतल स्थान में मुखबन्द डब्बों में संरक्षण करें।

संगठन – (१) दो क्रिस्टलाइन स्वरूप के तिक्तसत्व, जिनमें एक को कालमेघिन (*Kalmeghin* $C_{19}H_{31}O_5$) कहते हैं, और दूसरे का रासायनिक संकेत $C_{19}H_{28}O_5$. है। (२) एक तिक्त लेक्टोन (*Lactone*)। (३) एन्ड्रोग्रेफोलिड (*Andrographolid* : $C_{20}H_{30}O_5$) तथा एन्ड्रोग्रेफाइड (*Andrographide* $C_{15}H_{27}O_4$)। (४) टैनिन (५) अत्यल्प मात्रा में उत्पत् तैल।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन, यकृदुत्तेजक, ज्वरघ्न, रक्तशोधक आदि।

मुख्य योग – कालमेघ नवायस चूर्ण।

विशेष – यकृत रोगों में कालमेघ एक परमोत्तम ओषधि है। इसका प्रयोग अनुपान रूप से भी किया जा सकता है। बाजारों में इसका टिंक्चर (*Tincture Kalmegh*) तथा प्रवाही घन सत्व या लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट (*Liquid Extract of Kalmegh*) भी मिलता है।

कालादाना (कृष्णबीज)

नाम। हिं०, बं०–कालादाना। म०–कालादाणा। गु०–कालोकूंपो, कालादाणा। फा०–तुख्मे नील, तुख्मे कबकू। अ०–हब्बुन्नील, कुर्तुम हिंदी। अं०–फार-बिटिस सीड्स (*Pharbitis Seeds*)। ले०–ईपोमेआ हेडेरासेआ (*Ipomoea hederacea Jack.*)।

वानस्पतिक कुल – त्रिवृत्–कुल (कॉन्वॉल्वुलासी *Convolvulaceae*)।

प्राप्तिस्थान– समस्त भारतवर्ष में इसकी लता स्वयंजात पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – काला दाना की एकवर्षायु (*Annual*) आरोहिणी लता होती है, जो आश्रय को लपेट कर ऊपर चढ़ती है। इसका तना या काण्ड प्रायः रोमश होता है। पत्तियाँ व्यास में ५ से १२.५ सें०मी० (२ से ५ इंच तक) तक, लट्वाकार, रूपरेखा में किंचित् हृदयाकार प्रायः ३ खण्डों से युक्त होती हैं। पुष्पवृन्त (*Peduncles*) प्रायः पत्रवृन्त (*Petioles*) से छोटा होता है, जो १-५ की संख्या में गुलाबी लिये नीले रंग के अथवा नारंग वर्ण के पुष्पों को धारण करते हैं, जिनका अधःभाग नलिकाकार (*Tubular*) तथा ऊर्ध्व भाग फनेल के आकार का (*Funnel-shaped*) होता है। गर्भाशय (*Ovary*) तीन–कोष्ठीय (*3-celled*) तथा फल (सामान्य स्फोटी प्रकार का *Capsule*) भी तीन-कोष्ठीय होता है। प्रत्येक फल में ४-६ चिकने भूरापन लिये काले रंग के बीज निकलते हैं। पुष्पागम-काल–सितम्बर से नवम्बर (वर्षान्त से जाड़े के प्रारम्भिक महीनों में)।

उपयोगी अंग – बीज (कृष्णबीज या कालादाना)।

मात्रा – बीजचूर्ण–२॥ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा (६ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कालेदाने के बीज प्रायः तिकोनिया होते हैं, जो ५.५ मिलिमिटर लम्बे, ३.७ मि० मि० चौड़े होते हैं। एक तल किंचित् नतोदर होता है, जिसके बीचोबीच एक अनुलम्ब परिखा (*Longitudinal groove*) होती है। बीजचोल (*Testa*) मटमैले काले रंग का, कड़ा तथा चिकना होता है। बीजों के भीतर सफेद मग्ज (गूदा या मज्जा) निकलता है। अनुलम्ब विच्छेद करने पर बीज २ चपटे दलों (*Two plainted Cotyledons*) का बना प्रतीत होता होता है, जिनमें अनेक रेजिन-कोषाएँ पायी जाती हैं। स्वाद में ये बीज पहले किंचित् मधुर किन्तु बाद में कड़वे एवं तीक्ष्ण होते हैं। १०० बीजों का तौल प्रायः ३ से ४ ग्राम होता है। अन्य विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य–अधिकतम २%। ईथर-विलेप सत्व (*Ether-solulde extracture*) अधिकतम ०.५%। ऐल्कोहल् विलेय सत्व–कम से कम १४%।

परीक्षण– ऐल्कोहल् (६०%) में कालादाना के चूर्ण को विलीन करके प्राप्त इसके रेजिन की ०.५ ग्राम (७½ ग्रेन या ३ रत्ती) मात्रा लेकर उसमें ५ सी० सी० (५ मिलिलिटर=७५ बूंद) अमोनिया का मन्दबल विलयन (डायल्यूट सॉल्यूशन ऑव अमोनिया) मिलावें और इस मिश्रण को खूब अच्छी तरह हिला कर १५ मिनट तक रख दें। १५ मिनट में मिश्रण लाल रंग में परिणित नहीं होता किन्तु नीललोहितातीत किरणों में देखने से मिश्रण में एक हल्की नीली आभा (*Light blue fluorescence*) दिखाई पड़ती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–कालादाना के बीजों के साथ अन्य अनेक बीज मिलावट के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इनमें विशेष महत्त्व का इसकी दूसरी प्रजाति है, जिसकी लताका नाम 'ईपोमेआ मूरीकाटा' है। यह फारस का आदिवासी पौधा है, और भारतवर्ष में भी कालादाना की लताओं के साथ-साथ पाया जाता है। हिन्दी में इसे कौड़ेना कहते हैं। इसके पुष्पवृन्तक (*Pedicels*) मोटे, गूदेदार, तथा पुष्प की ओर का सिरा अधिक स्थूल होता है, जिससे यह मुद्गराकार (*Club-shaped*) प्रतीत होता है। इसका शाक भी बनाया जाता है। बम्बई बाजार में 'हब्बुल् नील' (काला दाना) नाम से इसी के बीज आते हैं। ईपोमेआ मूरीकाटा के बीज, कृष्णबीज की अपेक्षा बड़े (८½ मि० मि० लम्बे एवं ६ मि० मि० चौड़े) चिकने एवं भूरे रंग

मुख्य योग –कट्फलादि चूर्ण, कट्फलादि क्वाथ, कट्फल नस्य।

विशेष – कट्फल नाम से प्रयोज्य अंग के फल होने का भ्रम नहीं होना चाहिए। इसकी छाल का ही व्यवहार औषधि में होता है। चरकोक्त (सू० अ० ४) सन्धानीय, शुक्र-शोधन एवं वेदनास्थापन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) लोध्रादि एवं सुरसादि गण में कट्फल का भी उल्लेख है।

कालमेघ (यवतिक्ता)

नाम। सं०–यवतिक्ता, कल्पनाथ (अभिनव)। हिं०–कल्पनाथ, कालमेघ। बं०–कालमेघ। म०–पालेकिराईत। गु०–लीलुं करियातुं। अं०–एन्ड्रोग्रेफिस (*Andrographis*), किरयात (*Kiryat*), क्रियेत (*Creat*)। ले०–आंड्रोग्राफ़िस पानीकुलाटा (*Andrographis paniculata* Nees)।

वानस्पतिक कुल–वासक-कुल (अकान्थासी *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष एवं लंका में इसके लगाये हुए अथवा जंगली रूपसे उत्पन्न पौधे मिलते हैं। विशेषत: बंगाल में इसके पौधे गाँव-गाँव में पाये जाते हैं। बंगाल-निवासियों में घरेलू चिकित्सा में इसके प्रयोग का आम रिवाज है। इसका बंगीय नाम 'कालमेघ' अन्य भाषाओं में भी ग्रहण कर लिया गया है।

परिचय – कालमेघ के ३० सें० मी० से ९० सें० मी (१ से ३ फुट) ऊँचे बहुशाखीय एकवर्षायु छोटे-छोटे पौधे होते हैं। काण्ड, चौपहल (*Quadrangular*) होता है। ऊर्ध्व भाग में तथा कोमल शाखाओं पर धाराएँ अधिक स्पष्ट होती हैं, जिससे काण्ड प्राय: सपक्ष (*Winged*) मालूम पड़ता है। काण्ड प्राय: गाढ़े हरे रंग का तथा व्यास में २ से ६ मिलिमिटर होता है। पर्वों पर काण्ड शेष भाग की अपेक्षा अधिक स्थूल तथा पर्वान्तरिक भाग में अनुलम्ब खातयुक्त (*With longitudinal fissures*) होता है। पत्तियाँ–आकार में भालाकार, ७.५ से ८.७५ सें० मी० (३-३।। इंच) तक लम्बी तथा २.५ सें० मी० या १ इंच चौड़ी एवं मसृण होती हैं तट, अखण्ड (*Entire*) होते हैं। ये पत्तियाँ काण्ड पर चतुर्पंक्तिक अभिमुख क्रम से स्थित (*Decussate*) तथा पर्णवृन्त बहुत छोटे (०.६ मिलिमिटर) होते हैं। पुष्पव्यूह सवृन्तकाण्डज (*Raceme*) होता है, जो पत्तियों के कोणों से निकलता है, अथवा शाखाओं पर स्थित होता है। सम्पूर्ण पुष्पव्यूह की रूपरेखा पिरामिडाकार मंजरीसम (*Pyramidal paniculate*) होता है। पुष्प आकार में छोटे तथा दलचक्र (*Corolla*)) रंग में पाटल-सम (*Rose-coloured*) तथा वासककुल के विशिष्ट लक्षणानुसार द्वि-ओष्ठी (*Bilabiate*) होता है। ऊर्ध्वोष्ठ (*Upper-lip*) दो खण्डों वाला तथा अध: ओष्ठ (*Lower lip*) तीन खण्डों वाला होता है। उक्त आभ्यन्तर कोप (*Corolla*) सूक्ष्मग्रंथिरोमश (*Glandular pubescent*) होता है। फल सामान्य स्फोटी प्रकार (*Capsule*) का तथा द्वि-कोष्ठीय (*2-celled*) होता है जो रूपरेखा में लम्बोतरा (*Linear-oblong*) एवं दोनों सिरों की ओर क्रमश: कम चौड़ा होता है। कालमेघ के फल वाह्यत: देखने में जौ की तरह लगते हैं। प्रत्येक फल में किंचित् चौपहल (*Subquadrate*) एवं पीताभ भूरे रंग के अनेक बीज होते हैं। सम्पूर्ण पौधा स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – (१) चूर्ण–५/८ से १ १/४ ग्राम (५ से १० रत्ती)।
(२) स्वरस–२ से ४ माशा।
(३) क्वाथ–२ से ४ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%; एन्ड्रोग्रेफोलिड (*Andrographolid*) न्यूनतम– १%।

संग्रह एवं संरक्षण – फलागम के बाद पंचाङ्ग ग्रहण कर सुखा लें और अनार्द्र एवं शीतल स्थान में मुखबन्द डब्बों में संरक्षण करें।

संगठन – (१) दो क्रिस्टलाइन स्वरूप के तिक्तसत्व, जिनमें एक को कालमेघिन (*Kalmeghin* C_{19} H_{31} O_5) कहते हैं, और दूसरे का रासायनिक संकेत $C_{19}H_{28}O_5$. है। (२) एक तिक्त लेक्टोन (*Lactone*)। (३) एन्ड्रोग्रेफोलिड (*Andrographolid* : C_{20} H_{30} O_5) तथा एन्ड्रोग्रेफाइड (*Andrographide* C_{15} H_{27} O_4)। (४) टैनिन (५) अत्यल्प मात्रा में उत्पत् तैल।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन, यकृदुत्तेजक, ज्वरघ्न, रक्तशोधक आदि।

मुख्य योग – कालमेघ नवायस चूर्ण।

विशेष – यकृत रोगों में कालमेघ एक परमोत्तम ओपधि है। इसका प्रयोग अनुपान रूप से भी किया जा सकता है। वाजारों में इसका टिंक्चर (*Tincture Kalmegh*) तथा प्रवाही घन सत्व या लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट (*Liquid Extract of Kalmegh*) भी मिलता है।

कालादाना (कृष्णबीज)

नाम । हिं०, वं०–कालादाना। म०–कालादाणा। गु०–कालोकूंपो, कालादाणा। फा०–तुख्मे नील, तुख्मे कवकू। अ०–हव्वुन्नील, कुर्तुम हिंदी। अं०–फार-विटिस सीड्स (*Pharbitis Seeds*)। ले०–ईपोमेआ हेडेरासेआ (*Ipomoea hederacea Jack.*)।

वानस्पतिक कुल – त्रिवृत्–कुल (कॉन्वॉल्वुलासी *Convolvulaceae*)।

प्राप्तिस्थान– समस्त भारतवर्ष में इसकी लता स्वयंजात पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – काला दाना की एकवर्षायु (*Annual*) आरोहिणी लता होती है, जो आश्रय को लपेट कर ऊपर चढ़ती है। इसका तना या काण्ड प्राय: रोमश होता है। पत्तियाँ व्यास में ५ से १२.५ सें०मी० (२ से ५ इंच तक) तक, लट्वाकार, रूपरेखा में किंचित् हृदयाकार प्राय: ३ खण्डों से युक्त होती हैं। पुष्पवृन्त (*Peduncles*) प्राय: पत्रवृन्त (*Petioles*) से छोटा होता है, जो १-५ की संख्या में गुलावी लिये नीले रंग के अथवा नारंग वर्ण के पुष्पों को धारण करते हैं, जिनका अधःभाग नलिकाकार (*Tubular*) तथा ऊर्ध्व भाग फनेल के आकार का (*Funnel-shaped*) होता है। गर्भाशय (*Ovary*) तीन–कोष्ठीय (*3-celled*) तथा फल (सामान्य स्फोटी प्रकार का *Capsule*) भी तीन-कोष्ठीय होता है। प्रत्येक फल में ४-६ चिकने भूरापन लिये काले रंग के वीज निकलते हैं। पुष्पागम-काल–सितम्वर से नवम्वर (वर्षान्त से जाड़े के प्रारम्भिक महीनों में)।

उपयोगी अंग – वीज (कृष्णवीज या कालादाना)।

मात्रा – वीजचूर्ण–१॥ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा (६ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कालेदाने के वीज प्राय: तिकोनिया होते हैं, जो ५.५ मिलिमिटर लम्वे, ३.७ मि० मि० चौड़े होते हैं। एक तल किंचित् नतोदर होता है, जिसके वीचोवीच एक अनुलम्व परिखा (*Longitudinal groove*) होती है। वीजचोल (*Testa*) मटमैले काले रंग का, कड़ा तथा चिकना होता है। वीजों के भीतर सफेद मग्ज (गूदा या मज्जा) निकलता है। अनुलम्व विच्छेद करने पर वीज २ चपटे दलों (*Two plainted Cotyledons*) का वना प्रतीत होता होता है, जिनमें अनेक रेजिन-कोपाएँ पायी जाती हैं। स्वाद में ये वीज पहले किंचित् मधुर किन्तु वाद में कड़वे एवं तीक्ष्ण होते हैं। १०० वीजों का तौल प्राय: ३ से ४ ग्राम होता है। अन्य विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य–अधिकतम २%। ईथर-विलेप सत्व (*Ether-solulde extracture*) अधिकतम ०.५%।

ऐल्कोहल् विलेय सत्व–कम से कम १४%।

परीक्षण– ऐल्कोहल् (९०%) में कालादाना के चूर्ण को विलीन करके प्राप्त इसके रेजिन की ०.५ ग्राम (७½ ग्रेन या ३ रत्ती) मात्रा लेकर उसमें ५ सी० सी० (५ मिलिलिटर=७५ वूंद) अमोनिया का मन्दवल विलयन (डायल्यूट सॉल्यूशन ऑव अमोनिया) मिलावें और इस मिश्रण को खूब अच्छी तरह हिला कर १५ मिनट तक रख दें। १५ मिनट में मिश्रण लाल रंग में परिणित नहीं होता किन्तु नीललोहितातीत किरणों में देखने से मिश्रण में एक हल्की नीली आभा (*Light blue fluorescence*) दिखाई पड़ती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–कालादाना के वीजों के साथ अन्य अनेक वीज मिलावट के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इनमें विशेप महत्त्व का इसकी दूसरी प्रजाति है, जिसकी लताका नाम 'ईपोमेआ मूरीकाटा' है। यह फारस का आदिवासी पौधा है, और भारतवर्ष में भी कालादाना की लताओं के साथ-साथ पाया जाता है। हिन्दी में इसे कौड़ेना कहते हैं। इसके पुष्पवृन्तक (*Pedicels*) मोटे, गूदेदार, तथा पुष्प की ओर का सिरा अधिक स्थूल होता है, जिससे यह मुद्गराकार (*Club-shaped*) प्रतीत होता है। इसका शाक भी वनाया जाता है। वम्वई वाजार में 'हव्वुल् नील' (काला दाना) नाम से इसी के बीज आते हैं। ईपोमेआ मूरीकाटा के वीज, कृष्णवीज की अपेक्षा वड़े (८½ मि० मि० लम्वे एवं ६ मि० मि० चौड़े) चिकने एवं भूरे रंग

के होते हैं। इसके अतिरिक्त कृष्णवीज की भाँति इन वीजों के नतोदर तल पर अनुलम्ब परिखा नहीं पायी जाती। इसके अतिरिक्त कभी कभी शणवीज ((*Seeds of Crotolaria juncea L.*) एवं हरमलवीज (*Peganum harmala L.*) एवं तुलसीजाति के वीज भी मिला दिए जाते हैं ।

संग्रह एवं संरक्षण – प्रायः जाड़े के अन्त में कालादाने के फल पकते हैं। उस समय पके फलों से वीजों का संग्रह कर, उनको अच्छी तरह सुखा कर कार्कवन्द शीशियों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – कालादाना में ८% तक एक रेजिन पाया जाता है, जिसे कृष्णवीजीन या फार्विटिसिन (*Pharbiticin*) कहते हैं। यही कालादाना का सक्रिय तत्त्व होता है और गुणकर्म में जलापारेजिन की भाँति होता है। इसके अतिरिक्त एक स्थिर तैल (*Fixed oil*) १६% तथा सेपोनिन, म्यूसिलेज आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ३ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–तीव्ररेचन तथा वातकफनाशक। अहितकर–शिरः शूलकारक तथा व्याकुलता कारक। निवारण–फलों का सत तथा अम्ल पदार्थ।

मुख्य योग – कृष्णवीजादि चूर्ण।

विशेष – कृष्णबीज से कभी-कभी पेट में मरोड़ का उपद्रव हो जाता है। अतएव इसमें सोंठ मिलाना चाहिए। कालादाने के चूर्ण में शर्करा मिला कर भी प्रयुक्त किया जाता है।

काली मकोय–, दे० 'मकोय'।

काली मरिच–, दे० 'मरिच'।

काली मुसली–, दे० 'मुसली'।

काश (कास)

नाम। सं०–काश, कास, इक्ष्वालिका। हिं०–कास, कासा, काँसा, काँस। पं०–काही। अवध–खागड़। म०, वं०–कागड़। अं०–थैंच-ग्रास (*Thatch-grass*), वाइल्ड सुगर-केन (*Wild sugar-cane*)। ले०–साक्कारुम स्पॉन्टानेउम् (*Saccharum spontaneum Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – तृण-कुल (ग्रामीनी *Gramineae*)।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष के गरम प्रदेशों में तथा हिमालय प्रदेश में १५२३ मीटर से १८२८.८ मीटर (५,०००–६,००० फुट) की ऊंचाई तक कास के स्वयंजात तथा समूहवद्ध पौधे पाये जाते हैं। प्रायः नदी-नालों के किनारे तथा आर्द्र भूमि के आस-पास कास घास की तरह उगता है।

संक्षिप्त परिचय–कास वहुवर्षायु स्वरूप का तृणजातीय पौधा होता है, जो घास की भाँति उगता है। यह प्रायः नदी-नालों के कछारों में तथा आर्द्र एवं नीची जगहों पर पाया जाता है। जिस जगह कास उगता है, प्रायः जल्दी नष्ट नहीं होता। कास के पौधे साधारणतया १.५२ मीटर से २.१३ मीटर (५-७ फुट–कभी-कभी १४-१५ फुट तक) ऊंचे होते हैं। इनके काण्ड ठोस, पत्तियाँ वहुत कम चौड़ी और उनका तट मुड़ा हुआ और, पुष्प-व्यूह (घुआ) ३० से ६० सें० मी० (१-२ फुट) लम्वा होता है। इसकी एक वड़ी जाति भी होती है, जिसे काण्डेक्षु (सं०), किलिच (हिं०) तथा अवध में खागड़ कहते हैं। इसका काण्ड मोटा होता है, और इसका कलम वनाया जाता है। कास का काण्ड आपाततः देखने में ईख की भाँति (किन्तु तृणवत् पतला) और मुख में चूसने पर कुछ-कुछ मीठा होता है। इसकी जड़ तृणपंचमूल में ग्रहण की जाती है। कासा में वर्षान्त अथवा जाड़े के प्रारम्भ में पुष्पागम होता है।

उपयोगी अंग–मूल।

मात्रा – क्वाथ–१ से २ छटाँक।

संग्रह एवं संरक्षण–मूल को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, मूत्रविरेचनीय तथा अश्मरीभेदन, दाहप्रशमन, रक्तपित्तशामक, स्तन्यजनन, वल्य आदि।

मुख्य योग–तृणपंचमूल क्वाथ।

कासनी

नाम। (१) वन्य (स्वयंजात) हिं०, पं०–कासनी। अ०–हिंद (दि-दु) वाऽऽ। फा०–कासनी, कसनाज। अं०–एण्डिह्व (*Endive*), चिकोरी (*Chicory*)। ले०–सीकोरिउम ईंटिवुस (*Cichorium intybus Linn.*)। (२)

उद्यानज (बागी) या लगाया हुआ। हिं०–कासनी। कश्मीर–सच्चेहंद। अं०–दिगार्डन एण्डिव्ह (*The Garden Endive*)। ले०–सीकोरिउम एन्डीविआ (*Cichorium endivia Linn.*। बीज–हिं०, पं०, गु०–कासनी, कासनी के बीज। अ०–बज्रुल् हिंदबाऽ। फा०–तुख्मे कासनी। वक्तव्य–अरबी हिंदुबाऽ इसके रूमी 'इन्टुबम्' संज्ञा के बहुवचन 'इन्टुबा' से व्युत्पन्न है।

वानस्पतिक कुल–मुण्डी-कुल (कॉम्पोजीटी *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान–कासनी उत्तर पश्चिम भारतवर्ष में १८२८.८ मीटर (६,००० फुट) की ऊँचाई पर तथा कुमायूं, उत्तर प्रदेश, वजीरिस्तान, बलूचिस्तान, इरान, पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में स्वयंजात होती है। पंजाब और कश्मीर में इसकी काफी परिमाण में खेती की जाती है। हैदराबाद, बम्बई, भडौंच आदि में भी इतस्ततः न्यूनाधिक मात्रा में बोयी जाती है। हिन्दुस्तान में अच्छी कासनी उत्तरी पंजाब एवं काश्मीर में होती है। इसकी जड़ एवं बीज तथा पुष्प यूनानी दवा बेचने वालों तथा पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय–सीकोरिउम इंटिबुस के ३० सें० मी० से १२० सें० मी० के या १-४ फुट तक ऊंचे बहुवर्षायु स्वभाव के कोमल क्षुप होते हैं, जिनका काण्ड कोणाकार (*Angled*) या खातोदर (*Grooved*) होता है। इससे चिमड़ी, कड़ी शाखाएँ निकल कर चारों ओर को फैलती हैं। जड़ के पास एवं काण्ड के अधः भाग की पत्तियाँ अर्धानुत्तर-पक्षवत् (*Pinnatifid*) खण्डित होती हैं, जिनके किंनारे दंदानेदार (*Toothed*) होते हैं। दाँतों की नोक नीचे को होती है। ऊपर की पत्तियाँ अपेक्षाकृत छोटी, सरल धार वाली तथा एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं। मुण्डक (*Heads*) पट्टाकार (*Ligulate*) होते हैं जो अग्र पर अकेले (*Terminal and solitary*) या पत्रकोणोद्भूत गुच्छीभूत (*Axillary and clustered*) होते हैं, जो विनाल होते या छोटे वृन्तों पर धारण किये जाते हैं। पुष्प चमकीले नीले रंग के होते हैं। इसके सुखाये हुए पुष्प एवं बीज ठंढई में मिलाये जाते हैं।

उपयोगी अंग–पंचाङ्ग, बीज, जड़, पुष्प।

मात्रा–पत्रस्वरस–१ से २ तोला (हरी कासनी का फाड़ा हुआ रस ४-५ तो० तक)। मूलचूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। बीजचूर्ण ३ से ६ ग्राम या ३-६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–कासनी के बीज (जो वास्तव में चर्मफल *achenes*) होते हैं छोटे, खाकस्तरी सफेद रंग के, वजन में हलके और स्वाद में तिक्त या फीके कुस्वाद होते हैं। कालाई लिये मोटे और भारी बीज उत्तम समझे जाते हैं। मूल या जड़, गोपुच्छाकार, गुदार, बाहर से हलकी भूरी, भीतर से सफेद, लम्बाई के रुख झुर्रीदार और स्वाद में कुछ फीकी तथा कुछ तिक्त एवं लुवाबी होती है। इसमें कभी उपमूल (*Rootlets*) भी लगे होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण–उपयोगी अंगों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन–कासनी के फूलों में एक स्फटिकीय ग्लुकोसाइड सिकोरिन (*Cichorin*) एवं लैक्टयुसिन तथा इण्टिबिन (*Intybin*) नामक तिक्त सत्व पाये जाते हैं। बीजों में एक मृदु तैल होता है। जड़ में इन्युलिन (*Inulin* ३६% तक) एवं म्युसिलेज, तिक्त सत्व, पोटासियम् सल्फेट एवं नाइट्रेट आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। (जड़–उष्ण वीर्य)। कर्म–कफपित्तशामक, दाहप्रशमन, शोथहर, शामक, निद्राजनन, दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, तृष्णानिग्रहण, हृद्य, रक्तशोधक, मूत्रल, आर्त्तवजनन, ज्वरघ्न, (अल्प मात्रा में) कटु-पौष्टिक, दाहप्रशमन। यूनानी मतानुसार हरीकासनी के पत्र प्रथम कक्षा में शीत एवं तर तथा सूखे पत्ते शीत एवं रूक्ष हैं। जंगली की अपेक्षा बोये हुए पौधों की पत्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक शीत एवं तर हैं। कासनी बीज दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष तथा कासनी की जड़ प्रथम कक्षा में उष्ण और द्वितीय में रूक्ष होती है।

मुख्य योग – अर्क कासनी।

विशेष – कासनी पत्रस्वरस को मौखिक सेवन के लिए प्रायः इसे फाड़ कर (मुरक्कव करके) पिलाया जाता है।

काहू

नाम। हिं०–जंगली काहू। अ०–खस्सबर्री। फा०–काहू सहराई, काहूबर्री। सिंध–बनकाहू। अं०–दि वाइल्ड लेटिस (*The Wild Lettuce*)। ले०–लाक्टूका स्कारिओला *Lactuca scariola Linn.* (पर्याय–लाक्टूका सेरिओला *L. serriola Linn.*)। बीज। अ०–बज्रुल् खस्स। फा०–तुख्मकाहू। हिं०–काहू के बीज।

वक्तव्य – अरबी में खस (या खस्स) शब्द का व्यवहार 'काहू' के अर्थ में होता है। परन्तु हिन्दी में इसका व्यवहार 'उशीर' या 'वीरण मूल' के अर्थमें किया जाता है। प्राचीन यूनानी काहू को 'थ्रीडास' कहते थे।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़ीटी *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – जंगली काहू पश्चिम हिमालय में मुर्री से लेकर कुनावर तक जंगली होता है। काहू के बीज एवं तेल बाजारों में पंसारियों एवं हकीमों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – जंगली काहू के ३० से ६० सें० मी० या (१-३ फुट) ऊंचे, चिकने, पत्रबहुल, सीधे एवं एकवर्षायु या द्विवर्षायु पौधे होते हैं। पत्तियाँ २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१॥ इंच) लम्बी, अवृन्त, काण्डसंसक्त-सी, किनारे कुछ दन्तुर तथा रूपरेखा में अभिलट्वाकार–आयताकार होती हैं। पुष्प पीले रंग के तथा मुण्डकों में निकलते हैं। जंगली काहू के अतिरिक्त इसकी उद्यानज जाति (लाक्टूका साटीवा *Lactuca sativa Linn.*) सर्वत्र भारतवर्ष में बोयी जाती है। इसका शाकार्थ प्रचुरता से व्यवहार किया जाता है। बम्बई में इसे 'सालीटची भाजी' कहते हैं। कर्षित या उद्यानज काहू के भी अनेक भेदोपभेद होते हैं। इनके पत्ते एक दूसरे से लिपटे और बंधे हुए कलिका की भाँति एवं गोल होते हैं। बोयी प्रजातियों में किसी के पत्ते केवल हरे तथा किसी में पत्तियों के सिरे पर कुछ बैंगनी रंगत होती है। जंगली काहू के पत्र बाग़ी से अधिक पतले और अधिक लम्बे होते हैं, चिकने अपेक्षाकृत कम या नहीं होते तथा उसकी अपेक्षा अधिक हरे, कुछ अधिक कड़े और तिक्त होते हैं। चिकना काहू अर्थात् जंगली अंगरेजी काहू (*Lactuca virosa Linn.*), लाक्टूका स्कारिओला का ही एक निकटतम भेद है। बीजोद्भव काल में काहू के तने में एक आक्षीर या दूध (*Latex*) पैदा हो जाता है, और पत्ते अत्यंत कड़वे होते हैं। इससे कहीं-कहीं अफीम भी बनायी जाती है, जिसे काहू की अफीम (या लाक्टूकारिउम *Lactucarium*) कहते हैं। यह बोये हुए तथा जंगली दोनों प्रकार के पौधों से बनायी जाती है। पंजाब, सिंध में खेती किये हुए काहू के दुधिया रस से काफी अफीम बनायी जाती है। इसे वहाँ 'खीखाओ' कहते हैं। औषधि में प्रायः जंगली काहू का ही प्रयोग श्रेष्ठ समझा जाता है।

उपयोगी अंग – बीज (तुख्म काहू), बीजोत्थ तैल (रोग़न काहू) तथा काहू की अफीम।

मात्रा–बीज–३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
तेल–(बाह्य प्रयोग के लिए) आवश्यकतानुसार।
पत्रस्वरस–१ से २ तोला।
दुधिया रस–$\frac{1}{4}$ से १ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–बीज–काहू के बीज सफ़ेद, चमकीले छोटे-छोटे एवं लम्बे होते हैं। इनका स्वाद फीका होता है। काहू का तेल–पीताभ श्वेत, स्वाद में किंचित् तिक्त होता है। काहू का आक्षीर–ताजी अवस्था में यह दूध सरीखा सफेद, रालदार रस होता है, जो हवा लगने पर गाढ़ा और कड़ा हो जाता है तथा इसकी रंगत भी बदल जाती है। इसकी रंगत बाहर से भूरी अथवा किंचित् ललाई लिये भूरी, किन्तु भीतर से सफेद या पिलाई लिये और टूटे हुए मोम के समान कुछ चमकीली होती है। गंध कुछ-कुछ अफीम की भाँति तथा स्वाद तिक्त होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – बीजों को अच्छी तरह मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। तैल एवं अफीम को अच्छी तरह मुखबंद शीशियों में तथा शीतल एवं अँधेरे स्थान में रखें।

संगठन – लाक्टूकारिउम का मुख्य सक्रिय घटक लैक्टूसिन (*Lactucin*) नामक तिक्त सत्व होता है। इसके अतिरिक्त लैक्टूकोन (*Lactucone*) नामक राल-जातीय तत्त्व, लैक्टूसिक एसिड तथा अल्प मात्रा में ऑक्ज़ैलिक एसिड एवं ३% से ६% भस्म प्राप्त होती है, जिसमें सोडियम्, पोटास एवं लौह के आक्साइड एवं कैल्सियम आदि पाये जाते हैं। पत्र में ऐल्बुमिनी पदार्थ (*Albuminous matter*), कार्बोहाइड्रेट, शर्करा एवं निर्यास आदि तत्त्व तथा भस्म में प्रचुरता से नाइट्रेट्स पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–बीज–२ वर्ष। तैल एवं अफीम–दीर्घकाल तक।

स्वभाव–काहू शीत एवं तर है। पत्र (शाकार्थ व्यवहृत)–रक्तप्रसादन, तृष्णाशामक, स्वप्नजनन, स्वापजनन, मूत्रल, स्तन्यजनन, क्षुधाजनक तथा जलवायु परिवर्तन से शरीर में जो विकार होते हैं, उनका निवारण करता है। बीज–शीतजनन, शिरःशूलनाशक, अवसादक (मुसक्किन),स्वापज़नन, स्वप्न जनन, बालों को शक्तिप्रद, (केश्य)। काहू का तेल–निद्राजनक होता है। एतदर्थ

इसको अकेले या कद्दू तथा पोस्ते के तेल में मिला कर शिर पर लगाया जाता है। वालों को दृढ़ करने के लिए भी इसका उपयोग करते हैं। अहितकारक—पत्र एवं वीज–अवाजीकर एवं विस्मृतिकारक। निवारण–पुदीना एवं करफस; तैल–शीत प्रकृति को तथा विस्मृति कारक एवं दृष्टिमांद्यकर। निवारण–वादाम का तेल। प्रतिनिधि–कद्दू का तेल या सफेद पोस्ते का तेल।

मुख्य योग – रोग्नन काहू।

किरमाला (चौहार)

नाम। सं०–चौहार, किरमाणीयवानी। हिं०–किरमानी अजवायन, किरमाला, छुहारी जवाइन। म०–किरमणि-ओंवा। गु०–छुवारो, किरमाणी अजमो। पश्तु–तर्खे। अ०–शीह, अफ़सन्तीनुल् वहर। फा०–दिर्मनः। अं० वर्मसीड् (*Wormseed*), सेंटोनिका (*Santonica*)। ले०–(१) विदेशी पौधा–आर्टेमीसिआ सीना *Artemisia cina Berg.*; (२) देशीपौधा–आर्टेमीसिआ मारिटिमा प्र० रुब्रीकाउले (*Artemisia maritima Linn. forma rubricaule*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोजीटी : *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – आर्टेमीसिआ सीना के क्षुप तुर्किस्तान एवं फारस आदि में प्रचुरता से होते हैं। आर्टे० मारीटिमा फारस, अफगानिस्तान विलोचिस्तान उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश में कश्मीर से कुमायूं तक २१२५ से ३३२६ मीटर (७,०००–११,००० फुट) की ऊंचाई तक तथा पश्चिमी तिब्वत में–विशेषतः कश्मीर, वशहर, कुर्रम आदि में पाया जाता है। ध्यान रखने की बात है, कि आर्टे० मारीटिमा के सभी पौधों में सेन्टोनिन नहीं पाया जाता। छोटी अवस्था में सेन्टोनिन वाले पौधों का काण्ड कुछ रक्ताभ तथा जिनमें सेन्टोनिन नहीं पाया जाता ऐसे पौधों का काण्ड हरिताभ होता है। अतएव औषधीय दृष्टि से *A. maritima forma rubricaule* ही विशेष महत्त्व का है। फारस के 'किरमान' प्रदेश में यह ओषधि प्रचुरता से होती है। किरमाला इसी का अपभ्रंश है। भारतवर्ष में फारस और अफगानिस्तान से विपुल प्रमाण में इसका आयात होता है। अधुना कश्मीर सरकार द्वारा इसके संग्रह और इससे सेन्टोनिन निकालने का प्रबंध किया गया है। सेन्टोनिन बाजारों में अंग्रेजी दवाखानों में मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – आर्टेमीसिआ मारीटिमा का क्षुप ०.६ से १.२ मीटर या ३-४ फुट तक ऊंचा होता है, जिसमें अनेक पतली-पतली शाखा-प्रशाखाएँ निकली होती हैं। पत्तियाँ १.२५ सें० मी० से ५ सें० मी० या ½-२ इंच तक लम्बी, प्रायः श्वेताभ, द्विपक्षवत्-खण्डित (*2-pinnatisect*) होती हैं। खण्ड, पतले, रेखाकार होते हैं। ऊपर की पत्तियाँ अखण्डित और रेखाकार होती हैं। पुष्पमुण्डक छोटे (¼ सें० मी० तक लम्बे) अंडाकार, आयताकार या लम्बगोल तथा पत्रकोणों में गुच्छों में निकलते हैं। प्रत्येक मुण्डक में ३-८ नलिकाकार पुष्प होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग विशेषतः अविकसित पुष्प मुण्डक (*Santonica*) एवं सत्व (सेन्टोनिन)।

मात्रा – पंचाङ्ग चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। अविकसित पुष्पमुण्डक–१ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३माशा। सत्व–६२.५ मि० ग्रा० से १८७.५ मि० ग्राम या ½ से १½ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पत्तियाँ १.२ सें० मी० से ५ सें० मी० या ॥-२ इंच तक लम्बी द्वि–त्रिपादोत्तर पक्षवत् खण्डित (*2-pinnatisect*) होती हैं। खण्ड (*Segments*) अनेक, छोटे-छोटे, रेखाकार खाकस्तरी या सफेद (*Hoary*) या सूक्ष्म रोमावृत तथा नीलाभ हरे रंग के होते हैं। पुष्पमुण्डक छोटे-छोटे (¼ से ५/१६ सें० मी० लम्बे), अंडाकार या आयताकार तथा अवृन्त या बहुत छोटे वृन्त युक्त होते हैं, जिनमें ३-८ नलिकाकार पीताभ वर्ण के पुष्प होते हैं। सभी मुण्डकों के पुष्प प्रायः समरूपिक (*Homogamous*) होते हैं। आभ्यन्तर कोष का अधः भाग नलिकाकार किन्तु ऊपर का भाग कुछ घंटिकाकार (*Narrowly campanulate limb*) होता है। अधःपत्रावली के पत्र (*Involucral bracts*) रेखाकार-आयताकार होते हैं। इसमें कर्पूर या कायपुटी के तेल से मिलती-जुलती उग्र, मीठी, सुगंधि पायी जाती है, तथा स्वाद में सुगंधित (कर्पूर सम) तथा तिक्त होता है। भस्म–अधिकतम १०%। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम २%। सेन्टोनिन की प्रतिशत मात्रा – कम-से-कम ०.७५%।

परीक्षण – ७½ रत्ती या १५ ग्रेन (१ ग्राम) औषधि लेकर उसका सूक्ष्म चूर्ण वनावें। इसे १० सी०सी० (१० मि० लि०) ऐल्कोहल (९०%) में उबाल कर छान लें। इसमें थोड़ा पोटाशियम

हाइड्रॉक्साइड मिला कर गरम करें तो **द्रव गाढ़े लाल रंग का हो जाता है।**

सेन्टोनिन – यह रंगहीन अथवा सफेद क्रिस्टलाइन चूर्ण के रूप में होता है, जो प्रायः गंधहीन तथा स्वाद में तिक्त अनुरसयुक्त होता है। पुराना होने पर या धूप में खुला रहने पर पीताभ वर्ण का हो जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – किरमाला को अच्छी तरह मुखवंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए। सेन्टोनिन को अम्बरी रंग की शीशियों में अच्छी तरह मुखवंद करके ठंढी एवं अँधेरी जगह में रखें। किरमाला का संग्रह पुष्पमुण्डकों की अविकसितावस्था में रहने पर ही करना चाहिए। इसी समय सेन्टोनिन की अधिकतम मात्रा पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – पंचाङ्ग एवं अविकसित पुष्पमुण्डक–१ वर्ष। सत्व (सेन्टोनिन) – कई वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–कृमिघ्न (विशेषतः आंत्रगत गंडूपदकृमि (केंचुआ) नाशक) कर्म–कफवात-शामक, वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणरोपण, रोमसंजनन, आक्षेपशामक, दीपन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न (विशेषतः गंडूपद एवं सूत्रकृमि-नाशक)। अधिकमात्रा में रेचन, श्वासहर, कफनिःसारक, मूत्रल, शीतप्रशमन, ज्वरघ्न, लेखन, वाजीकर, आर्त्तवजनन आदि। शरीर से इसका निस्सरण मुख्यतः मूत्र से और अंशतः मल के साथ होता है। यूनानी मतानुसार किरमाला दूसरे या तीसरे दर्जे में गरम और रूक्ष होता है। अहितकर–शिर, आमाशय, और वातनाड़ियों को तथा शिरः शूलजनक। किरमाला के विस्तृत क्षेत्रों में देर तक घूमने से या इसके गोदामों में अधिक समय तक खड़े रहने से कभी-कभी शिरः शूल होने लगता है। सेन्टोनिन एक विपैले स्वभाव की औषधि है। अतएव मात्रा में जरा भी गड़वड़ी (बच्चों में ½ रत्ती तथा युवकों में २-३ रत्ती) होने से भी दुष्परिणाम प्रगट होते और कभी-भी कम्प, आक्षेप तथा सन्यास (*Coma*) होकर मृत्यु तक हो जाती है। रोगी को वमन, अतिसार, शिरःशूल, शीत प्रस्वेद, हृदय एवं श्वसन का अवसाद आदि उपद्रव होते तथा हर चीज पीले रंग की और वैंगनी रंग की वस्तुएँ काली दिखाई देने लगती हैं।

निवारण – विपाक्तता होने पर आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए। आक्षेप की स्थिति में केन्द्रिक वामक द्रव्य यथा एपोमार्फीन आदि का प्रयोग कर सकते हैं। आक्षेप निवारण के लिए संशामक एवं निपात (*Collapse*) निवारण के लिए उत्तेजक अगद दें।

कुनरू, जंगली (विम्बी)

नाम। सं०–विम्वी, तुण्डी, तुण्डिकेरी। हिं०–कुनरू, कुंदरु, कुंदुरु। पं०–तेलाकुचा। म०–तोंडलें। गु०–टिंडोरा, घोलां, घोली। पं०–कंदुरी। ले०–कॉक्सीनिआ ईंडिका *Coccinia indica W. & A.= C. Cordifolia Cogn.* (*Syn.* सेफालान्ड्रा इन्डिका *Cephalandra indica Naud.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड–कुल (कूकुरविटासी *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारत में कुनरू की जंगली (कड़वी या तिक्त) तथा लगायी हुई (मीठी) दोनों प्रकार की लताएँ पायी जाती हैं। कुनरू की वेल प्रायः पान के वाड़ों में लगायी जाती है और ताम्बूल वेचने वाले इसके फल तरकारी वाजारों में वेचने के लिए लाते हैं। जंगली लता का पंचाङ्ग तिक्त होता है। औषध्यर्थ प्रायः इसी का व्यवहार किया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – कुनरू की वहुवर्षायु स्वरूप की अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त प्रसरणशील अथवा आरोहणशील लताएँ होती हैं। काण्ड कोमल, चिक्कण तथा नालीदार होता है। तंतु या प्रतान (*Tendrils*) कोमल, सूक्ष्मवारीदार तथा निःशाख होते हैं। पत्तियाँ ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच तक लम्बी, चौड़ी, रूपरेखा में आधार की ओर हृदयाकार तथा ५–खण्डों वाली होती हैं। सिराजाल में आधार से अग्र की ओर ५ प्रमुख शिराएँ करतलाकार स्थित होती हैं। पर्णवृन्त १८.७५ मि० मी० से ३.१२५ सें० मी० (॥।-१। इंच) लम्बा होता है। नर एवं स्त्री पुष्प पृथक्-पृथक् पुष्पवाहक दण्ड पर निकलते हैं। फल अण्डाकार-वेलनाकार २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच तक लम्बे, कच्ची अवस्था में हरे तथा अनुलम्ब दिशा में श्वेत धारियों से युक्त तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। कभी-कभी फलों का अग्र कुछ चोंचदार होता है। जंगली पौधों का पंचाङ्ग अत्यंत तिक्त होता है। लगाये हुए पौधों के कच्चे फलों की

तरकारी वनायी जाती है। बीज गोलाकार, पीताभ भूरे रंग के तथा कुछ चपटे होते हैं। जंगली लताओं का व्यवहार औपध्यर्थ किया जाता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – स्वरस–१ से २ तोला।

चूर्ण – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कुनरू का फल गूदेदार तथा रूपरेखा में प्रायः वेलनाकार होता है। प्रगल्भ फल ५ सें० मी० या २ इंच तक लम्बा तथा व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच तक होता है। कच्चा फल हरा होता है और उस पर अनुलम्ब दिशा में लगभग दस सफेद धारियाँ होती हैं। जंगली फल तो अत्यंत तीते होते हैं, परन्तु लगायी हुई लताओं का कच्चाफल तरकारी वनाने के लिए प्रयुक्त होता है, और यह तीता नहीं होता। पकने पर यह लाल रंग का हो जाता है; किन्तु फल अस्फोटी होते हैं। इनके अन्दर अनेक बीज भरे होते हैं। मूल– अच्छी मिट्टी में उगी लताओं का मूल कन्दाकार सीधा तथा काफी लम्बा होता है, जिसकी मोटाई अग्र की ओर उत्तरोत्तर कम होती जाती है। किन्तु पथ-रीली जमीन में यह टेढ़ा-मेढ़ा और ग्रंथिल होता है। उक्त जड़ों की अधिकतम मुटाई व्यास में २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच तक होती है। वाह्यतः यह हल्के पीताभ भूरे रंग की होती है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटा तल पीले रंग का मालूम होता है, जिसमें मज्जक-किरणें (*Medullary rays*) अत्यंत स्पष्ट होती है। जड़ों पर क्षत करने से गाढ़ा रस निकलता है, जिसमें कुछ-कुछ खीरे की-सी गंध पायी जाती है। स्वाद में यह कुछ-कुछ खट्टापन लिये कसैला और तीता होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – वर्षा के अन्त में पंचाङ्ग का संग्रह कर छायाशुष्क कर लें और मुखवंद डिब्बों में संरक्षण करें। स्वरस के लिए ताजे पौंधे का व्यवहार करें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन, कटु पौष्टिक, यकृदुत्तेजक (अल्पमात्रा में) तथा वमन, विरेचन (अधिक मात्रा में), रक्तशोधक, शोथहर, कफनिःसारक, मूत्रसंग्रहणीय, मधुमेहनाशक, स्वेदजनन ज्वरघ्न, आदि।

मुख्य योग – जुवारिश कुंदुर, माजून कुंदुर।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ०) षोडशमूलिनी द्रव्योंमें तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) ऊर्ध्व भागहर द्रव्यों में विम्बी का भी उल्लेख है।

केंवाच या कौंच (कपिकच्छु)

नाम । सं०–कपिकच्छु, आत्मगुप्ता, ऋष्यप्रोक्ता, मर्कटी, कण्डुरा, प्रावृषायणी। हिं०–कवाँच, कौंच। वं०– आलकुशी। मा०–किवाँच। म०–खाजकुहिली गु०– कौंचा, कवच। अं०–काउ–इच (*Cowitch*), काउ– हेज (*Cowhage*)। ले०–मूकूना प्रूरिटा *Mucuna prurita Hook.* (पर्याय–*M. pruriens Baker.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (*Leguminosae* : *Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में हिमालय से लंका तक तथा वर्मा में मैदानी भागों में इसकी जंगली लताएँ होती हैं, और यह वोयी भी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – केंवाच की एकवर्षायु चक्रारोही लताएँ होती हैं, जो वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती हैं, और शरद्-हेमन्त में पुष्प एवं फल लगते हैं। पत्ती संयुक्त त्रिपत्रक, पत्रक ७.५ से २० सें० मी० (३–८) इंच लम्बे, लट्वा-कार या विषमकोण समचतुर्भुजाकार (*Rhomboid*), ऊपर चिकने तथा नीचे रोमश होते हैं। मंजरी सदण्डिक (Receme) नीचे को लटकी हुई या झुकी हुई (*Drooping*) १० से २० सें० मी० (४– से ८ इंच) लम्बी तथा प्रत्येक में १०–३० वैंगनी रंग के पुष्प होते हैं। शिम्बी या फली (*Pod*), ५ से ७.५ सें० मी० (२–३) इंच लम्बी तथा १.५ से २ सें० मी० (⅔ से ⅚ इंच) तक चौड़ी अग्र पर मुड़ी हुई जिससे रूपरेखा में अंगरेजी *S* की भाँति होती है। पृष्ठ पर लम्बी धारियों से युक्त तथा हल्के भूरे रंग के सघन विषैले रोमों से ढकी (*Longitudinally ribbed and covered with dense pale brown bristles*) होती है। प्रत्येक फली में ४ से ६ वीज होते हैं। फलियों का शाक और अचार वनाते हैं। शरीर पर लगाने से उक्त रोम खुजली, दाह एवं शोथ उत्पन्न करते हैं।

उपयोगी अंग – वीज, मूल एवं रोम।

मात्रा – (१) वीजचूर्ण–३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

(२) रोम (कृमिघ्न कर्म के लिए)–०.५ से ६ ग्राम या ४ रत्ती से ६ माशा। (३) मूल-क्वाथ–२॥ से ५ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – केंवाच के बीज लोबिया के समान, किन्तु उससे बड़े, चिकने और कालाई लिये होते हैं। इनके भीतर से सफ़ेद गिरी (मग्ज) निकलती है। यही बीज, कौंचबीज अथवा तुख्मकौंच के नाम से व्यवहृत होते हैं। फलियों पर पाये जाने वाले रोम (*Cowhage*) पीताभ भूरे रंग के ऊर्णवत् बाल (*felted mass of hairs*) होते हैं, जिनमें जगह-जगह फलत्वक् (*Pericarp*) के सूक्ष्म टुकड़े भी मिले होते हैं। उक्त बाल १ से २½ मि० मी० लम्बे एवं तीक्ष्णाग्र होते हैं। आधार पर परिधि की मोटाई 60 माइक्रान किन्तु इसके बाद ग्रीवावत् कम चौड़े और आगे पुनः मोटे (100 η) होते हैं। इसके बाद अग्र की ओर क्रमशः नुकीले हो जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – केंवाच के पके बीजों को मुखबन्द पात्रों में रखें। रोमों का संग्रह शीशियों में करना चाहिए तथा उस पर 'स्पर्श निषिद्ध *Carefully to be handled*' का निर्देश-पत्रक लगाना चाहिए।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरुस्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–(बीज) बल्य, बृंहण, शुक्रल एवं वाजीकर होते हैं। रोम कृमिघ्न हैं। मूल योनि-संकोचक होता है।

मुख्य योग – वानरी गुटिका, माषबलादि पाचन।

विशेष – रोपित कपिकच्छु या केंवाच की फलियों का शाक भी खाया जाता है। चरकोक्त (सू० अ० ४) बल्य महाकषाय में (ऋषभी नाम से), मधुर स्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में (ऋष्यप्रोक्ता नाम से) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) विदारिगन्धादि गण एवं वातसंशमन वर्ग (सू० अ० ३९) के द्रव्यों में (कच्छुरा नाम से) कपिकच्छु की भी गणना है।

केवड़ा (केतक)

नाम । सं०–केतक, सूचीपुष्प, क्रकचच्छद। हि०–केवड़ा। बं०–केया। म०–केवड़ा। गु०–केवड़ो। अ०–काज़ी, कादी, कदिर। फा०–कादी, गुलकेरी। अं०–अम्ब्रेला ट्री *Umbrella Tree*। ले०–पांडानुस टेक्टोरिउस *Pandanus tectorius Soland ex Parkinson* (पर्याय–पांडानुस ओडोराटिस्सिमुस *P. odoratissimus Roxb.*)।

वानस्पतिक कुल – केतक्यादि-कुल (पांडानासी *Pandanaceae*)।

प्राप्ति स्थान – दक्षिण भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों में तथा अंडमान द्वीपसमूह में यह प्रचुरता से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सुगंधित पुष्पों के लिए बगीचों में लगाया जाता है। इसकी झाड़ियाँ समस्त भारतवर्ष में पायी जाती हैं।

संक्षिप्त परिचय – केवड़े का गुल्म दूर से देखने में खजूर के वृक्ष की तरह मालूम होता है, जो ३ से ३.६ मीटर या १०–१२ फुट ऊँचा होता है, और वायव्य मूल (*Aerial roots*) निकल कर वृक्ष को सहारा देते हैं। पत्तियाँ काफ़ी लम्बी (६० सें० मी० से १२०–१५० सें० मी० या २ से ४–५ फुट) रूपरेखा में तलवार की तरह (*Ensiform*) तथा चमकीले हरे रंग की होती हैं, जिनके किनारे एवं मध्य नाड़ी पर आरे की भाँति सूक्ष्म कण्टक होते हैं। वृक्ष के मध्य से गोफा निकलता है, जो मकाई के भुट्टा की तरह, सफेद या मटमैला तथा परम सुगंधित होता है। पुष्पव्यूह स्थूल मञ्जरी या स्पैडिक्स (*Spadix*) तह-बतह लिपटे हुए पत्तों (*Spathes*) से आवृत्त रहता है। यह इसका पुंपुष्प भेद (*Male inflorescence*) है। इसको प्रायः केवड़ा कहते हैं। स्वर्णकेतकी (सोन केतकी) का पेड़ सफेद या लाल मोटे गन्ने की तरह मालूम होता है। फूल केवड़े के फूल से छोटा, पिलाई लिये सफेद और अत्यंत सुगन्धित होता है। यह इसका स्त्रीपुष्प भेद है। इसे प्रायः केतकी कहते हैं। फल संग्रथित (*Compound*) रूपरेखा में अंडाकार, १५ से २५ सें० मी० या ६ से १० इंच लम्बा, व्यास में ६ से ८ इंच तक, नारंग वर्ण का किन्तु कठोर होता है। औषधीय प्रयोग के लिए केवड़े के फूल का अर्क एवं शर्बत बनाया जाता है, तथा तिलों को फूलों में वास कर तेल निकालते हैं जिसे रोग़न केवड़ा कहते हैं। इसका उपयोग दैनिक व्यवहार के लिए तथा औषधीय प्रयोग के लिए भी करते हैं। केवड़े का इत्र भी निकाला जाता है। पुष्पागम–वर्षा ऋतु में। फलागम–शरद् ऋतु में।

उपयोगी अंग – पुष्प, मूल एवं बीज।

मात्रा – अर्क केवड़ा (केतकार्क)–४ से ६ तोला।
शर्वत केवड़ा (केतक पानक)–२ से ४ तोला।
मूलस्वरस–२ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – मूल एवं बीज आदि को मुख बंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करें। पुष्पों से अर्क आदि बनाने का कार्य मौसम में ताजी अवस्था में किया जाता है।

संगठन – केवड़े के पुष्पों में सुगंधित उड़नशील तेल पाया जाता है। यह इसका सक्रिय तत्त्व होता है।

वीर्यकालावधि – जड़ एवं बीज–१ वर्ष तक। अर्क आदि–दीर्घकाल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, मधुर कटु। विपाक–कटु। वीर्य – अनुष्णशीत (शीत ?)। प्रधान कर्म–सौमनस्यजनन, आक्षेपहर, दीपन–पाचन, अनुलोमन, मस्तिष्क एवं ज्ञानेन्द्रियों को बलप्रद, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, कटु पौष्टिक, हृद्य एवं हृत्स्पन्दन-नाशक, स्फोट-युक्त ज्वरों में विशेष उपयोगी। इसका मूल-मूत्र संग्रहणीय एवं प्रमेहनाशक एवं प्रजास्थापन। बीजों की क्रिया केशर की भाँति। अहितकर–प्रसेकोत्कारक। निवारण–अर्कवेदमुश्क। प्रतिनिधि–लाल चन्दन।

मुख्य योग – अर्क केवड़ा एवं शर्वत केवड़ा (केतक पानक)।

केस(श)र (कुंकुम)

नाम। सं–कुङ्कुम, रुधिर, संकोच। हिं०, म० गु०–केसर। बं०–कम्कुम। अ०–जाफ़रान। फा०–करकीमास। अं०–सैफ्रन (*Saffron*)। ले०–क्रोकुस साटीवुस (*Crocus sativus Linn.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – केसरादि-कुल (ईरीडासी *Iridaceae*)।

प्राप्तिस्थान – केसर, दक्षिण यूरोप का आदिवासी पौधा है। स्पेन, फ्रांस, इटली, यूनान, टर्की एवं फारस तथा चीन और हिन्दुस्तान में इसकी खेती की जाती है। भारतवर्ष में कश्मीर एवं जम्मू (किश्तवाड प्रान्त) में काफी परिमाण में इसकी खेती की जाती है।

संक्षिप्त परिचय – सूरंजान की भाँति केशर के काण्ड-रहित छोटे पौधे होते हैं, जिनका भौमिक काण्ड घनकन्द (*Corms*)) तथा बहुवर्षायु होता है, और इसी से प्रतिवर्ष नये पौधे निकलते हैं। पत्तियाँ जड़ से निकलती (*Radical*) हैं और रूपरेखा में पतली, लम्बी तथा खातोदर एवं किनारे पीछे को मुड़े होते है। पुष्प बैंगनी रंग के होते हैं, जो शरद् ऋतु में (*Autumnal*) में प्रगट होते तथा एक-एक (*Solitary*) या गुच्छों में (*Clustered*) तथा छोटे वृन्तों पर धारण किये जाते (*Sub-sessile*) हैं। ये पत्रकोप (*Spathes*) द्वि-ओष्ठीसे तथा पुष्पध्वज (*Scape*) को आवृत किये रहते हैं। पुंकेसर ३ तथा पीत वर्ण होते हैं; स्त्री केशर या योनिसूत्र ३ भागों में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक के ऊपर रक्ताभ सूत्राकार योनिछत्र होता है। यही व्यावसायिक केसर हैं। फल लम्ब गोल (*Oblong Capsule*) होता है, जो ३–कोष्ठों वाला होता है। प्रत्येक कोष में अनेक छोटे-छोटे गोल बीज भरे होते हैं।

उपयुक्त अंग – स्त्री केशर के सुखाये हुए सूत्राकार योनिछत्र या कुक्षि भाग (*Dried Stigmas*)।

मात्रा – ६२.५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्राम (६२५ मि० ग्राम से २ ग्राम तक) या ½ से २ रत्ती (½ से २ माशा तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कुक्षि (*Stigma*) में तीन छत्राकार सूत्र होते हैं, जो २॥ सें० मी० या १ इंच लम्बे तथा गाढ़े लाल रंग से लेकर लालिमा लिये भूरे रंग के होते हैं। इनके किनारे दंतुर (*Dentate*) या झालरदार (*Fimbriate*) होते हैं। कुक्षिवृन्त (*Styles*) लगभग १० मि० मी० या ⅜ इंच लम्बे, बेलनाकार तथा ठोस (*Solid cylindrical*) तथा पीताभ भूरे रंग से नारंग पीत वर्ण के होते हैं। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की उग्र सुगंधि पायी जाती है, जो केसर को नम कर देने से या गरम करने से और भी उग्र हो जाती है। स्वाद में यह किंचित् तिक्त एवं सुगन्धित होती है। केसर में कुक्षिवृन्त (*Styles*) अधिकतम १०% तक तथा अन्य विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक मिले होते हैं। १००° तापक्रम पर इसको शुष्क करने से अधिकतम १४% तक भार में कमी होती है। जल में घुलनशील सत्व–कम से कम ५८%। ऐल्कोहल (९०%) में घुलनशील सत्व-कम से कम ६०%। पेट्रोलियम ईथर (*b. p.* 40°–60°) में घुलनशील सत्व अधिकतम १%। भस्म–अधिकतम ७½%।

विनिश्चय – केशर की कुक्षियों (*Stigmas*) को सल्फ्यूरिक एसिड में डालने से फौरन नीले रंग की हो जाती हैं,

जो वाद में नीलारुण (*Purple*) तथा अन्ततः बैंगनी आभा लिये लाल रंग की हो जाती हैं। असली केसर के रंग का परीक्षण (*Colour Intensity*)–०.०२ ग्राम ($\frac{3}{१०}$ ग्रेन) केसर को १०० मिलिलिटर (सी० सी०) जल में घोलने पर ०.१ प्रतिशत वल के पोटासियम डाइक्रोमेट (*Potassium dichromate*) के जलीय विलयन की भाँति पीले रंग का विलयन प्राप्त होता है। केशर की शुद्धता एवं शक्ति प्रमापन (*Assay*) उपर्युक्त रंग परीक्षा द्वारा किया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – केशर एक मँहगा द्रव्य होने के कारण इसमें मिलावट की सम्भावना वहुत अधिक रहती है। कभी-कभी संग्रह के समय ही असली केसर पुष्प के ही अन्य अंग यथा कुक्षिवृन्त (*Styles*), पुंकेशर (*Stamens*) एवं दलपत्र के सूत्राकार टुकड़े (*Strips of corolla*) संग्रहीत कर मिला दिये जाते हैं। कभी निर्वीर्य या पुराने केसर (*Exhausted saffron*) को ही पुनःरंग कर असली ताजे केशर की भाँति वेचने का प्रयास व्यापारी करते हैं। इसके अतिरिक्त केशर से मिलते-जुलते अन्य पुष्पों की मिलावट भी की जाती है, यथा कुसुम्भ या वर्र (*Carthamus tinctorius Linn.* (*Family : Compositae*) एवं जरेगुल (*Calendula officinalis L. Family* (*Compositae*) के पुष्प ज्यों के त्यों अथवा कभी-कभी रंग लाने के लिए रंग कर मिलाये जाते हैं। कभी-कभी असली केशर के भार को वढ़ाने के लिए अनेंक चीजों के मिलावट अथवा उपायों का अवलम्वन किया जाता है। इसके लिए केशर को जल से अथवा स्थिर तैल, ग्लिसरीन, सुक्रोज, ग्लुकोज आदि सेन्द्रिय द्रव्य अथवा पोटासियम् या अमोनियम् नाइट्रेट आदि अकार्वनिक लवणों (*Inorganic salts*) के विलयन से तर कर देते हैं।

नकली रंग का परीक्षण – (१) १० सी० सी० जल में ०.१ ग्राम केसर डाल कर १५ मिनट तक धीरे-धीरे हिलाते रहें, ताकि अच्छी तरह घुल जाय। जव घुल जाय तो इसे छान लें। अव इसमें १ ग्राम कोयले का विरंजक चूर्ण (*Decolourising charcoal*) मिला कर खूब हिला कर १० मिनट तक रख दें। अव इसे छान लें। इस प्रकार प्राप्त निस्यंद (*Filtrate*) रंगहीन द्रव्य के रूप में प्राप्त होता है।

(२) १० मिलिग्राम (*mg.*) नकली केसर को ५ सी० सी० ऐल्कोहल् (९५%) या मेथिलऐल्कोहल् में घोलें। विलयन का रंग हरिताभ पीत वर्ण का हो जाता है। उतनी ही मात्रा असली केसर की ईथर या क्लोरोफार्म में घोलने से विलयन प्रायः रंगहीन ही रहता है। इसी प्रकार जाइलीन (*Xylene*), वेंजीन या कार्वन टेट्राक्लोराइड में घोलने पर भी विलयन रंगहीन ही रहता है। **स्थिर तैल एवं ग्लिसरिन से भिगोये हुए केसर की परीक्षा**–फिल्टर पेपर के २ टुकड़ों के वीच थोड़ा केसर रखकर दवावें। उक्त वस्तुओं का मिलावट होने पर सोख्ते पर तैलीय पारभासी दाग़ (*Translucent spots*)) पड़ते हैं, अन्यथा नहीं।

संग्रह एवं संरक्षण – केसर को अच्छी तरह डाटवंद शीशियों में रखना चाहिए तथा प्रकाश से वचाना चाहिए।

संगठन – इसमें केसरिन या क्रोकिन (*Crocin*) नामक एक रंगीन ग्लाइकोसाइड तथा पिक्रोक्रोकिन (*Picrocrocin*) नामक रंगहीन तिक्त ग्लाइकोसाइड, तथा १% उड़नशील तैल एवं ८ से १३% एक स्थिर तैल पाया जाता है। क्रोकिन लाल रंग का अक्रिस्टली चूर्ण (*Amorphous red powder*) होता है, जो पानी तथा ऐल्कोहल में आसानी से घुल जाता है। कन्सन्ट्रेटेड सल्फ्यूरिक एसिड में घोलने से प्रथम गाढ़े नीले रंग का विलयन प्राप्त होता है, जो रखने पर वैंगनी तथा इसके वाद लाल और अन्ततः भूरे रंग का हो जाता है। नाइट्रिक एसिड में घोलने से हरे रंग का विलयन वनता है।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, लघु। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–त्रिदोषहर, सौमनस्यजनन, मूत्रल, आर्तव-प्रवर्तक, श्वयथु विलयन, लेखन, वाजीकरण, स्वेदजनन, नाड़ीवल्य। अन्य औषधियों के साथ योजित करने से उनके वीर्य को हृदय एवं मस्तिष्क तक शीघ्र पहुँचाता है। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और पहले दर्जे में खुश्क है। अहितकर–वृक्क-दौर्वल्यकारक और क्षुधानाशक है। निवारण–अनीसूं, शुक्त-मधु और जरिश्क। प्रतिनिधि – कुष्ठ और तज।

मुख्य योग – केशरादि वटी, कुङ्कमादि तैल।

विशेष – (१) केशर एवं नागकेशर पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। इनके विषय में भ्रम नहीं होना चाहिए। (२) चरकोक्त (सू० अ० ४) शोणितस्थापन महाकषाय (में 'रुधिर' नाम से) तथा सुश्रुतोक्त एलादि गण में ('कुङ्कुम' नाम से) केशर भी है।

कैथ (कपित्थ)

नाम। सं०—कपित्थ, दधित्थ। हिं०—कैथ, कैत, कवीत। बं०—कठबेल। म०—कंवठ। गु०—कोठुं। अं०—वुड-एपल् (*Wood Apple*)। ले०—फ़ेरोनिआ लीमोनिआ *Feronia limonia*, (L.) *Sw.* (पर्याय—*F. elephantum. Correa.*), *Limonia acidissima* (L.) *Sw.*)।

वानस्पतिक-कुल — जम्बीर-कुल (रूटासी *Rutaceae*)।

प्राप्ति स्थान — दक्षिण भारत में इसके जंगली वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। समस्त भारतवर्ष में इसके लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। पकने पर इसके फल का गूदा खटमिट्ठा होता है, जो खाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय — कैथ के औसत कद के ९.१४ से १२.१८ मीटर (३०—४० फुट ऊँचे) पतझड़ करने वाले वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाओं पर दृढ़ सरल काँटे होते हैं। पत्तियाँ एकान्तर, संयुक्त (*Pinnate*), पत्रक संख्या में ३—७ तक, लट्वाकार या अभिलट्वाकार तथा चिकने होते हैं, जिनको मसलने पर एक सुगन्धि (सौंफ से मिलती-जुलती) आती है। पुष्प छोटे तथा हल्के रक्त वर्ण के होते हैं, जो नम्य मञ्जरियों (*Lax panicles*) में निकलते हैं। फल गोले या नारंगी की भाँति शीर्षों (*Poles*) पर चपटे, व्यास में २.५ से ६.२५ सें० मी० (१—२॥ इंच) तथा बेल की भाँति कठोर वल्कलयुक्त होते हैं, जो अपक्वावस्था में खट्टे तथा कसैले और पकने पर मधुराम्ल होते हैं। वसन्त में पतझड़ होकर नयी पत्तियाँ निकलती हैं, तथा ग्रीष्म में पुष्पागम होता और वर्षान्त में फल पकते हैं। कैथ के प्रायः २ भेद मिलते हैं। एक का फल अपेक्षाकृत छोटा तथा अधिक खट्टा और दूसरा बड़ा तथा मधुर गूदेदार होता है। औषध्यर्थ छोटा अधिक उपयुक्त है। कैथ के काण्ड एवं शाखाओं पर चीरा लगाने से एक गोंद निकलता है, जो बबूल के गोंद का उत्तम प्रतिनिधि होता है। प्रायः वर्षा के अन्त में गोंद अधिक निकलता है।

उपयोगी अंग — फल, त्वक् (छाल), पत्र एवं गोंद।

मात्रा — फलमज्जा (गूदा)—२३.२ ग्राम से ४६.४ ग्राम या २ से ४ तोला।

फल स्वरस—११.६ से २३.२ ग्राम या १ से २ तोला।
पत्र कल्क—३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा — कैथ का फल लम्बगोल या गोलाकार (*Globose*) तथा बेल या छोटे गोल खरबूजे की भाँति होता है, जिसका बाहरी छिलका हल्के खाकस्तरी या मटमैले सफेद रंग का होता है, जो नाखून से खुरचने पर पतले भूसी की भाँति (*Scurfy epidermis*) छूटता है। इसके अन्दर बेल की भाँति कड़ा खपड़ोहा (*Rind*) होता है, जो मटमैले हरे रंग का तथा कणदार (*Granular*) और भंगुर (*Fragile*) होता है। कच्चे फल का गूदा कसैलापन लिये खट्टा और सफेद रंग का होता है, जो पकने पर खटमिट्ठा, स्वादिष्ठ, सुगन्धित (तरबूज-जैसी हल्की सुगंधियुक्त) तथा कुछ लाल हो जाता है। प्रत्येक फल में ५०० तक, रूपरेखा में बेल की भाँति किन्तु उसकी अपेक्षा काफी छोटे बीज होते हैं। गोंद—कैथ का निर्यास या गोंद पीले या भूरे रंग के अश्रुवत् दानों या छोटे-बड़े टुकड़ों में प्राप्त होता है। पानी में भिगोने पर बबूल की गोंद की भाँति फूलता है, किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक चिपचिपा होता है।

संग्रह एवं संरक्षण — उपयुक्त अंगों को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन — फल के गूदा में काफी मात्रा में सिट्रिक एसिड तथा लवाब या पिच्छिल द्रव्य (म्युसिलेज *Mucilage*) पाया जाता है। सूखे गूदे में १५% तक सिट्रिक एसिड पाया जाता है। इसकी भस्म में पोटासियम्, केल्सियम् एवं लौह के लवण पाये जाते हैं। भस्म नमी में खुला रहने से पसीजता (*Deliquescent*) है। पत्तियों में (०.७३%) तक बेल की पत्तियों की भाँति उत्पत् तैल पाया जाता है।

वीर्यकालावधि — १ वर्ष।

स्वभाव — गुण—लघु, रूक्ष। रस—कषाय, अम्ल, मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। प्रधान कर्म। फल—स्तम्भन, रोचन, तृष्णाशामक, रक्तशोधक, लेखन तथा कच्चा फल अकण्ठ्य किन्तु पका फल कण्ठ्य होता है। पत्र—वेदनास्थापन, शोथहर, वातानुलोमन। यूनानी मतानुसार कच्चा कैथ तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष किन्तु पका कैथ दूसरे दर्जे में शीत और रूक्ष होता है। अहितकर—उरःकंठ को। निवारण—लवण, शर्करा, काली मिर्च।

मुख्य योग — कपित्थाष्टक चूर्ण।

कुकरौंधा (कुकुन्दर)

नाम । सं०–कुकुन्दर, ताम्रचूड़ । हिं०–कुकरौंधा, ककरोंदा, कुकरछदी। बं०–कुकुरशोंका । म०–कुकुर वँदा । द०–दीवारीमूली । गु०–कोकरोंदा । ले०–

(१) ब्लूमेआ लासेरा (*Blumea lacera DC.*) ।

(२) ब्लूमेआ बाल्सामिफ़ेरा (*Blumea balsamifera DC.*)।

(३) ब्लूमेआ डेंसिफ़्लोरा (*B. densiflora DC.*)

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोजिटी *Compositae*)

प्राप्तिस्थान – ब्लूमेआ लासेरा के क्षुप समस्त भारतवर्ष के मैदानी भागों में तथा ६०२.६ मीटर (२,००० फुट) की ऊँचाई तक पाये जाते हैं। ब्लू० बाल्सामिफ़ेरा एवं डेंसिफ्लोरा हिमालय की तराई में ६०२.६ मीटर से १२०४.१८ मीटर (२,०००–४,००० फीट) की ऊँचाई तक नेपाल, सिक्कम, आसाम, खसिया, चटगाँव आदि में प्रचुरता से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ब्लूमेआ की अन्य अनेक जातियाँ भी भारतवर्ष में पायी जाती हैं।

संक्षिप्त परिचय – कुकरौंधे के कुछ-कुछ क्षुपस्वभाव के कोमल काण्डीय पौधे होते हैं, जो नम एवं छायादार जगहों में, खण्डहरों, मैदानों एवं बगीचों में भी उगे मिलते हैं। पत्ते आपाततः देखन में कासनी जैसे, किन्तु उसकी अपेक्षा बड़े एवं मोटे और रोंयेदार होते हैं। यह प्रायः जड़ के पास से निकल कर भूमि पर फैले होते हैं। पत्तियों को मसल कर सूंघने से हल्की अरुचिकारक गंध लिये कर्पूर जैसी तीव्र सुगंधि आती है। पहले कुकरौंधा की कतिपय जातिओं की पत्तियों से कपूर प्राप्त भी किया जाता था, जिसे पत्री कपूर या नागी कपूर कहते हैं। मुण्डक छोटे, पीताभ या कभी-कभी जामुनी रंग के अथवा सफेद होते हैं। फूल खिलने के बाद रूई-से बारीक रेशे निकलते हैं। बीज छोटे एवं काले रंग के; तथा जड़ पतली, सफेद एवं स्वादरहित होती है। कुकरौंधे के पौधे चौमासे में उगते, जाड़ों में फूलते-फलते तथा गर्मियों तक सूख जाते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (विशेषतः मूल एवं पत्र)।

मात्रा – स्वरस–६ माशा से १ तोला। कल्क–१॥ से ६ माशा।

संगठन – कुकरौंधे की पत्तियों में काफी मात्रा में कर्पूर पाया जाता है। बाल्सामिफ़ेरा जाति में एक ग्लूकोसाइड भी पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कषाय। विपाक – कटु। वीर्य – उष्ण। कर्म – कफपित्तशामक, शिरोविरेचन, शोथहर, चक्षुष्य, रक्तस्तम्भन, कृमिघ्न, व्रणरोपण, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, कफघ्न, ज्वरघ्न, विषघ्न, शोणितस्थापन, आदि। यूनानी मतानुसार कुकरौंधा दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क होता है। वह वातार्श एवं रक्तार्श (वादी एवं खूनी बवासीर) दोनों प्रकार के अर्श को नष्ट करता है। एतर्थ पत्तों का रस अर्शांकुरों पर लगाते हैं, अथवा पत्रकल्क की टिकिया बना कर गरमागरम बाँधते हैं। मौखिक सेवन के लिए इसके पत्र स्वरस को पका कर गाढ़ा होने पर काली मिर्च का बारीक चूर्ण मिला कर गोलियाँ बनाते और वातार्श तथा रक्तार्श में खिलाते हैं। कुकरौंधा के पत्र और गेरू की गोलियाँ बना कर भी अर्श में खिलायी जाती हैं। कुकरौंधे के स्वरस में सिद्ध गोघृत (कुकुन्दर घृत) भी अर्श के रोगियों के लिए एक उपयोगी कल्प है। इसे ३ से ६ माशा की मात्रा में मुख द्वारा दिया जाता है।

कुचिला (कुपीलु)

नाम । सं० – कारस्कर, काकपीलु, विषतिन्दुक, काकतिन्दुक। हिं० – कुचला, कुचिला। बं० – कुंचिला। म० – काजरा। गु० – झेरकोचला। बं० – कागफल। अ० – अज़ (ज़ा) राकी, फ़ल्समाही (मछली का सेहरा), खानिकुल् कल्ब (कुत्ते का गला घोंटने वाला), हब्बुल्गुराब (कागफल)। फा० – कुचूला, फ़ूलूसेमाही। अं०–नक्स वॉमिका (*Nux vomica*), वॉमिट नट (*Vomit Nut*), डॉग प्वाइजन (*Dog Poison*)। ले० – स्ट्रिक्नोस नक्स-वॉमिका (*Strychnos nux-vomica Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – कारस्करादि-कुल (लोगानिआसी *Loganiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण प्रदेशों में १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊँचाई तक इसके जंगली वृक्ष मिलते हैं, विशेषतया मद्रास, कोचिन, ट्रावनकोर, कोंकण, मलाबार, बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में इसके वृक्ष विपुल पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – कुचिले के साधारणतया मध्यम कद के किन्तु कभी-कभी बहुत ऊंचे तथा प्रायः सदाहरित वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ–अभिमुख (*Opposite*), लट्वाकार (*Ovate*) अथवा चौड़ी अण्डाकार, तीक्ष्णाग्र अथवा कुण्ठिताग्र तथा चमकदार होती हैं। लम्बाई में ७.५ से १५ सें० मी० या ३ से ६ इंच तक लम्बी होती हैं। पत्तियों पर आवार की ओर वैसे ५ शिराएँ दिखाई पड़ती हैं, किन्तु सर्वत्र तीन शिराएँ अधिक स्पष्ट होती हैं। पर्णवृन्त (*Peticle*) या डंठल ६ से १५ मि० मि०, पुष्प हरिताभ श्वेत वर्ण के होते हैं, जो अग्य अधोलम्बी मञ्जरियों में निकलते हैं। फल गोलाकार तथा गूदेदार होता है, जो पकने पर बाहर से नारंगी की भाँति मालूम पड़ता है। फलों में सफेद रंग का गूदा होता है, जिसमें ३–५ तक चपटे बीज इतस्ततः बिखरे रहते हैं। फलों के पकने पर वृक्ष अत्यंत आकर्षक मालूम होता है।

उपयोगी अंग– बीज एवं काण्डत्वक् (छाल)।

मात्रा—बीज–६२.५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० या ½ से २ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) बीज–गोल, चपटा, टिकियों की तरह, व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच (अधेला के बराबर) और चौथाई इंच मोटा, नाभियुक्त एवं अत्यंत कड़ा होता है। पृष्ठ तल पर यह किंचित् उन्नतोदर (*Convex*) तथा ऊर्ध्व तल पर नतोदर (*Concave*) होता है। परिधि पर किनारा गोला अथवा पतला तथा नुकीला-सा होता है। किनारे पर एक छोटा-सा उभार होता है, जहाँ से एक रेखा केन्द्रस्थ नाभि की ओर जाती दिखाई देती है बाहर से बीज की रंगत खाकस्तरी अथवा हरिताभ होती है, और छिलके पर रेशम की भाँति छोटे-छोटे और चमकदार घने रोंगटे होते हैं। भीतर की गिरी अर्ध स्वच्छ, लचीली, गंधरहित और स्वाद में अत्यन्त तिक्त होती है। इसके दो दलों के भीतर एक छोटा-सा पर्दा निकलता है, जिसे जीभी कहते हैं। छाल – बाजार में इसके छोटे-बड़े टुकड़े मिलते हैं, जो प्रायः १.८७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० या ¾ से १ इंच अथवा कभी-कभी इससे भी अधिक व्यास के होते हैं। बाहर से हल्के भूरे रंग की होती है, और इस पर इतस्ततः छोटे-छोटे गोलाकार उभाड़ होते हैं। अनुप्रस्थ विच्छेद (*Transverse section*) करने से कटे हुए तल पर प्रचुरता से अति सूक्ष्म मज्ज-किरणें (*Medullary rays*) दिखाई पड़ती है। नाइट्रिक एसिड के सम्पर्क से यह मटमैले नारंगी रंग का हो जाता है। बीजों में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम १%। भस्म अधिकतम ३०%। स्ट्रिक्नीन—कम से कम १.२%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट (*Substitutes and Adulterants*)– कुचले के बीजों में इसी कुल एवं प्रजाति के दो अन्य वृक्षों (१–स्ट्रिक्नोस नक्स ब्लैंडा *Strychnosnux blonda Hill* २–स्ट्रिक्नोस पोटाटोरम *Strychnos potatorum*, निर्मली *Clearing nut*) के बीजों का प्रयोग कभी-कभी मिलावट के लिए किया जाता है। इनमें प्रथम के बीज आकृति में बहुत कुछ कुचिले के बीजों से मिलते-जुलते हैं। निर्मली के बीज प्रायः अधिक मोटे और छोटे होते हैं। दोनों ही में तिताई नहीं पायी जाती। जंगलों में कुचिला काफी परिमाण में पाया जाता है। अतएव जान बूझ कर मिलावट प्रायः कम ही होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पके हुए प्रगल्भ फलों से बीजों को निकाल कर जल से धोकर, धूप में सुखा लें, और इनको अनार्द्र, शीतल एवं धूल रहित स्थान में अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में रखें।

संगठन – (१) बीज–कुचले के बीजों में स्ट्रिक्नीन (*Strychnine*) एवं ब्रूसीन (*Brucine*) नामक दो महत्त्व के ऐल्केलॉइड (क्षारोद) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त वामिसीन (*Vomicine*), कोलुब्रिन (∝ *Colubrine* &-β *Colubrine*), लोगानिन (*Loganin*) नामक ग्लाइकोसाइड (मधुमेय सत्व), ३% तक वसामय तत्त्व भी पाये जाते हैं। ऐल्कलायड्स की सकल मात्रा (*Total alkaloids*) २.६ से ५.३% तक होती है, जिसमें लगभग आधा स्ट्रिक्नीन होती है। छाल–में केवल ब्रूसीन ही पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण – रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन, पाचन, नाड़ी बल्य, आमवात नाशक, वाजीकरण एवं शूल प्रशमन तथा स्वेदापनयन आदि। कुचिला तीसरे

दर्जे में गरम और खुश्क है। यह कफज एवं वातज व्याधिनाशक, दीपन, नाड़ीवल्य, सारक, उत्तेजक, हृदयवलदायक, श्लेष्मनिस्सारक, वाजीकर, वस्तिवलदायक, रक्तप्रसादन, एवं त्वग्रोगनाशक होता है। अहितकर–अशोधित कुचला अधिक मात्रा में सेवन करने से आक्षेप एवं बुद्धिविपर्यय उत्पन्न कर देता है। इसके वाहरी प्रयोग से छाले (विस्फोट) पड़ जाते हैं। निवारण–शर्करा, लवाव और समस्त प्रकार के स्नेह।

मुख्य योग – अग्नितुण्डी, शूलहरण योग, लक्ष्मीविलास, हब्जे अजाराकी एवं माजूनकुचला आदि।

विशेष – आभ्यन्तर प्रयोग के लिए शुद्ध कुचिले का प्रयोग करना चाहिए। बीज के दोनों दलों के बीच की जीभी निकाल देनी चाहिए। चर्ण वनाने के लिए इसको आर्द्रावस्था में ही कूटने से आसानी से चूर्ण वन जाता है।

विषाक्त प्रभाव–अशोधित रूप में अथवा मात्रातियोग में कुचिले का सेवन करने से पेशियों में आक्षेप आने लगते हैं, और धनुस्तम्भ-जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं। विषाक्तता होने पर औषधि सेवन के आधे घंटे के अन्दर ही यह लक्षण प्रगट होते तथा अन्ततः श्वासावरोध होकर मृत्यु तक हो जाती है। चिकित्सा—प्रारम्भ में स्टमक पम्प द्वारा अथवा अन्य उपायों द्वारा आमाशय का प्रक्षालन करें और दूध में घी मिलाकर या अंडे की सफेदी आदि द्रव्यों का सेवन करायें। अफीम आदि प्रतिविषों का भी उपयोग कर सकते हैं।

कुटकी (कटुका)

नाम। सं०–कटुका, कटुकी, तिक्ता, मत्स्यरोहिणी। हिं०–कुटकी। पं०–कौड़। वं०–कट्की। म०–कालीकुटकी, वालकडू। गु०–कडू। अ०, फा०–खरवके हिन्दी।ले०–प्रीक्रोर्हीज़ा कुर्रोआ (*Picrorrhiza kurrooa Royle.*)।

वानस्पतिक कुल – कटुका–कुल (स्क्रोफुलारिआसी *Scrophulariaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष में हिमालय में कश्मीर से सिक्किम तक २६२७ मीटर से ४५६६ मीटर या ६,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई तक। इसका सुखाया हुआ भौमिक काण्ड कुटकी के नाम से सर्वत्र पंसारियों के यहाँ विकता है। भारतीय वाजारों में कुटकी का आयात मुख्यतः पंजाव आदि उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश तथा सिक्किम-हिमालय से होता है। अमृतसर कुटकी की एक प्रधान मंडी है।

संक्षिप्त परिचय – कुटकी के छोटे-छोटे तथा मृदुरोमावृत्त शाकजातीय पौधे होते हैं, जिनका भौमिक काण्ड कड़ा, वहुवर्षायु स्वभाव का तथा स्वाद में तिक्त होता है। पत्तियाँ ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २ से ४ इंच तक लम्वी, आधार की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़ी होती हुई डंठल से मिल जाती ह, जिससे पत्ते रूपरेखा में चमचे के आकार के अर्थात् पृथुपर्णवत् या स्पैथुलेट (*Spathulate*) मालूम होते हैं। वनावट में यह चर्मिल (*Coriaceous*), अग्रपर गोलाकार तथा किनारे सूक्ष्म दंतुर (*Serrate*) होते हैं। पुष्पध्वज या पुष्पदण्ड या दंड (*Scape*) पत्तियों के वीच से मूलसे निकल कर ऊपर को वढ़ता है, जिसके अग्र पर ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्वी शूकीवत् मञ्जरी (*Spike*) निकलती है। फल सामान्य स्फोटी प्रकार का (*Capsule*) तथा १.२५ सें० मी० या ½ इंच लम्वा होता है। औषधि में भौमिक काण्ड का व्यवहार होता है, जो कुटकी के नाम से वाजार में मिलता है।

उपयोगी अंग–सुखाया हुआ भौमिक काण्ड(*Dried Rhizome*)।

मात्रा–कटु पौष्टिक गुण के लिए–६२५ मि० ग्राम० से १.२५ ग्राम या ५ से १० रत्ती। पर्यायज्वर-हर गुण के लिए–२ ग्राम से ३ ग्राम या २ से ३ माशा। विरेचनार्थ—४ ग्राम से ६ ग्राम या ४–६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजार में कुटकी सुखाये हुए भौमिक काण्डों के छोटे-बड़े टुकड़ों के रूप में प्राप्त होती है। उक्त भौमिक काण्ड से लगी हुई सूत्राकार जड़ें पृथक् कर दी जाती हैं। वाह्य छिलका पतला, खाकस्तरी–भूरे (*Greyish-brown*) रंग का होता है, जिस पर अनेक टूटी हुई जड़ों के चिह्न पाये जाते हैं। कभी-कभी इसमें वायव्य काण्ड (*Aerial stem*) का भी कुछ भाग लगा होता है, जो गाढ़े भूरे रंग का तथा अनुलम्व दिशा में झुर्रीदार होता है। वायव्य काण्ड की ओर का सिरा जड़ के ओर के सिरे की अपेक्षा मोटा होता है, तथा भूरे रंग के शल्कपत्रों (*Scales*) से आवृत होता है। तोड़ने पर ये टुकड़े खट से टूट जाते (*fracture short*) हैं। जड़ अत्यंत भंगुर तथा हल्की और अन्दर से काली होती है। कुटकी में कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में अत्यंत तिक्त होती है। वायव्य काण्ड एवं विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य की अधिकतम मात्रा २% होनी चाहिए।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – त्रायमाण (*Gentiana kurroo* Royle) की जड़ भी आपाततः देखने में बहुत कुछ कुटकी की ही भाँति होती है, अतएव दोनों के एक दूसरे में मिलावट की सम्भावना हो सकती है। चकराता तथा देववन में वोलफेनिया (*Wolfenia*) की कतिपय जातियों को लोग नकली कुटकी कहते हैं। किन्तु इसका ग्रहण कुटकी नाम से कदापि नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – पुष्प–फल आने के बाद भौमिक काण्ड को खोद कर उसमें लगे उपमूलों को काट कर पृथक् कर दें। शेष को मिट्टी आदि से साफ कर छायाशुष्क करें और मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – इसमें २६.६ प्रतिशत तक पिक्रोरहाइजिन (*Picrorhizin*) नामक तिक्त, क्रिस्टलाइन (मणिभीय स्वरूप का) ग्लाइकोसाइड पाया जाता है, जो इसका वीर्य होता है। यह जल, ऐल्कोहल (६०%), एसिटोन, एथिलएसिटट आदि में घुलनशील होता है। इसके अतिरिक्त केथार्टिक एसिड (*Cathartic acid*) भी होता है।

वीर्यकालावधि। १–२ वर्ष।

स्वभाव—गुण–रूक्ष, लघु। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–ज्वरघ्न, तिक्त वल्य (अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने पर), भेदन, रक्तशोधक, कफनिस्सारक, यकृतविकार नाशक।

मुख्य योग – तिक्तादि क्वाथ, तिक्ताद्यघृत, आरोग्य वर्धिनी।

विशेष – कुटकी विदेशी औषधि 'जन्शन रूट *Gentian Root*' का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। चरकोक्त (सू० अ० ४) लेखनीय महाकषाय में (कटुरोहिणी नाम से), भेदनीय महाकषाय में (शकुलादनी नाम से) तथा स्तन्यशोधन, महाकषाय में और तिक्त स्कन्ध (वि० अ० ८) में कहे गये द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि, पटोलादि एवं मुस्तादि गणों में कटुरोहिणी या कुटकी की भी गणना है।

कुटज (कुड़ा, कुरैया)

नाम। (१) सित (सफेद) या कड़वा कुटज–सं०–शक्र, कुटज। हिं०–कुड़ा, कोरैया, कुरया, सफेद कुड़ा। बं०–कुड़चिगाछ। गु०–कड़ो। पं०–कुरो। ले०–होलारहेना आंटीडीसेन्टेरिका *Holarrhena antidysenterica* (L.) *Wall. ex G. Don.*; (२) असित या (काला) कुटज या मीठा कुड़ा। हिं–मीठा कुड़ा, खिरना (मिर्जापुर)। म०–पांढराकुड़ा। काठियावाड़–दुधलो। ले०–(१) राइटिआटिंकटोरिआ (*Wrightia tinctoria* R. Br.) (२) राइटिआटोमेंटोसा (*W. tomentosa* Roem. Schult.)। इन्द्रयव–(१) हिं०–कडुआ इन्द्रजौ। गु०–कड़वा इन्द्रजव। म०–कडू इंदरजौ। अ०–लिसानुल् असाफी- रूल् मुर्र। फा०–इन्द्रजवे तल्ख़। (२) हिं०–मीठा इन्द्रजौ। म०–गोड़ा इन्द्रजव। अ०–लिसानुल् असाफीरहुलुव्व। फा०–इन्द्रजवे शीरीं।

वानस्पतिककुल–करवीर-कुल (आपोसीनासी *Apocynaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष।

संक्षिप्त परिचय – (१) कड़ुआ कुटज–इसके बड़े गुल्म या छोटे क्षीरी वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ, न्यूनाधिक अवृन्त, लट्वाकार या अंडाकार-आयताकार, लम्बाई में १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ६ से १२ इंच तथा चौड़ाई में ३.७५ से १२.५ सें० मी० या डेढ़ से ५ इंच, दो कतारों में और आमने-सामने निकली होती हैं। फूल, सफेद तथा सुगन्धयुक्त और समस्थ काण्डज गुच्छों में निकले हुए होते हैं। इसकी फलियाँ पतली, लम्बी और दो-दो एक साथ परन्तु एक दूसरे से पृथक् रहती हैं। (२) मीठा कुटज–**राइटिआ टोमेंटोसा** के छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ पतली और रोमश होती हैं। पत्तियाँ, अण्डाकार, अचानक नोकदार, रोमश, दो से चार इंच लम्बी (कभी-कभी अधिक) और दो कतारों में निकली होती हैं। पुष्प–हरित नारंग वर्ण या मलाई के रंग के और फलियाँ २–२ एक साथ १५ से ३० सें०मी०या ६ से १२ इंच लम्बी परस्पर जुड़ी हुई और पृष्ठ पर श्वेत विन्दुओं से युक्त होती हैं। टोमेंटोसा की अपेक्षा **राइटिआ टिक्टोरिआ** कम होता है। पत्तियाँ १० से २५ सें० मी० या ४ से १० इंच बड़ी और कभी-कभी चिकनी होती हैं। फलियाँ २५ सें० मी० से ३० सें० मी० या १० से १२ इंच लम्बी, टेढ़ी और अग्र पर परस्पर जुड़ी रहती हैं।

बीज (इन्द्र जौ) – कड़ुए कुटज के बीज रेखाकार–आयताकार, १.२५ सें० मी० या ०.५ इंच लम्बे और भूरे रोमगुच्छ से युक्त होते हैं। स्वाद में अत्यंत तिक्त होते

की अपेक्षा अधिक मोटे होते हैं तथा इनके रंग में भी अन्तर होता है। बाहर से यह नारंग वर्ण लिये भूरे रंग का होता है, और अन्तर्वस्तु पीताभ श्वेत वर्ण का होता है। इसके अतिरिक्त गंध एवं स्वाद में भी यह मन्द होता है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य—अधिकतम २%। अम्ल में अनघुलन शील भस्म—३%। ऐल्कोहल (९०%) विलेयांश— कम से कम ८%।

वक्तव्य – शेष बातें विदेशी कुलंजनवत् ही समझनी चाहिए।

कुलथी (कुलत्थ)

नाम। सं०–कुलत्थ, कुलत्थिका । हिं०–कुलथी, कुरथी, खुरथी । बं०–कुलत्थ। म०–कुलीथ। गु०–कलथी। अं०–हार्सग्राम (*Horsegram*)। ले०–डालीकॉस बीफ़्लोरुस (*Dolichos biflorus Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि उपकुल (*Leguminosāe : Papilionaceāe*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक ९१४.४ मीटर या ३,००० फुट की ऊँचाई तक कुलथी जंगली रूप से होती है, तथा सभी प्रान्तों में न्यूनाधिक मात्रा में इसकी खेती भी की जाती है। बाजारों में कुलथी के बीज बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – कुलथी के एक वर्षायु पौधे होते हैं, जो पूर्णतः प्रसरी स्वरूप के होते हैं, अथवा नीचे का भाग तो खड़ा किन्तु शाखाग्र फैलने वाले होते हैं। विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न समयों पर यह बोयी जाती है। बोने के ५–६ माह बाद प्रायः फसल तैयार हो जाती है। इसमें १.२५ से १.८६५ सें० मी० या $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इंच लम्बे, पीले रंग के पुष्प आते हैं, जो पत्र कोणों में १–३ की संख्या में लगते हैं। फली लगभग ५ सें० मी० या २ इंच लम्बी, चपटी एवं रूपरेखा में टेढ़ी तथा बाह्य तल पर रोमावृत होती है। अग्र पर स्थायी कुक्षिवृन्त (*Persistent style*) का अवशेष लगा होता है। प्रत्येक फली में ५–६, कुछ चपटे रूपरेखा में वृक्काकार, खाकस्तरी या रक्ताभ भूरे रंग के बीज निकलते हैं।

उपयोगी अंग – बीज।

मात्रा – २ ग्राम से ४ ग्राम या २ से ४ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – कुलथी के बीजों को बन्द डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – बीजों में प्रोटीन (२२$\frac{1}{3}$% ऐल्ब्युमिनॉइड्स), स्टार्च (५२%), तैल (२% तक), भस्म (३.२%), फास्फोरिक एसिड (१%), सौत्रिक धातु तथा प्रचुर मात्रा में युरिएज (*Urease*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण – लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कषाय, अम्ल। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–भेदन। कर्म–कफवातशामक, । रक्तपित्त शोधक; स्वेदापनयन, शोथहर, विदाही, अनुलोमन, भेदन, कफघ्न, श्वासहर, गर्भाशयोत्तेजक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, ज्वरघ्न, लेखन, शुक्रनाशन। यूनानी मतानुसार स्निग्धता लिये दूसरे दर्जे में गरम और रूक्ष है।

मुख्ययोग – कुलत्थादि प्रलेप, कुलत्थयूप, कुलत्थाद्य घृत।

विशेष – कुलथी का क्वाथ रसशास्त्र में धातुओं के शोधन में बहुशः प्रयुक्त होता है।

कुष्ठ (कूट कड़ुआ)

नाम। सं०–कुष्ठ, गद, वाप्य, पाकल, कश्मीरज। हिं०–कुट, कड़वा कुट, कूट (कूठ)। अ०–क़ुस्ते हिंदी, क़ुस्तुल्मुर्र। फा०–कुस्ते तल्ख (स्याह), कोश्त। बं०–कुड़। पं०–कुठ। गु०–कठ, उपलेट। ते०–कोस्तम्। अं०–कॉस्टस (*Costus*)। ले०–साउस्सूरेआ लाप्पा (*Saussurea lappa C. B. Clarke*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़ीटी *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – कश्मीर तथा पंजाब में २४०८.३६ मीटर से ३६५६.६ मीटर या ८,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर। कुष्ठ कश्मीर का आदिवासी पौधा है, जो गुलमर्ग, सोनमर्ग, झेलम-घाटी एवं किश्तवार (कष्टवार) आदि स्थानों में पहाड़ी ढालुओं पर स्वयं जात पाया जाता है। औषधि की माँग अधिक होने के कारण कश्मीर सरकार इसकी खेती भी करती है। हिमालय प्रदेश के अन्य ऊँचे क्षेत्रों में भी कुष्ठ लगाने से आसानी से लग जाता है।

संक्षिप्त परिचय – कुष्ठ का क्षुप बहुवर्षायु, ऊँचा, अत्यन्त सघन एवं दृढ़ होता है, और प्रतिवर्ष पुरानी जड़ से उगता है। काण्ड सीधा, जड़ से निकला हुआ तथा ०.९ से २.१५ मीटर या ३–७ फुट तक ऊँचा होता है। जड़ के पास की पत्तियाँ बहुत बड़ी ०.६ से १.२ मीटर (२–४ फीट तक लम्बी), रूपरेखा में त्रिकोणाकार या हृदयाकार होती हैं। काण्ड की पत्तियाँ अपेक्षाकृत काफी छोटी, सनाल अथवा विनाल (पत्र दंडरहित) होती

हैं। निचले भाग की प्रायः दो समान खण्डों वाली होती हैं, जो तने के आमने-सामने के पार्श्वों से संसक्त होती हैं। पुष्प-मुण्डक (*Flower heads*) विनाल (पुष्पवृन्त रहित), कड़े एवं गोलाकार तथा व्यास में २.५ से ३.७५ से० मी० या १–१॥ इंच तक होते हैं, जो २ से ५–५ पुष्पों के गुच्छकों के रूप में तने के अग्र पर अथवा पत्रकोणों में स्थित होते हैं। पुष्पाभ्यन्तर कोष ¾ इंच लम्बा नलिकाकार तथा गाढ़े नीलारुण अथवा काले वर्ण का होता है। फल–अस्फोटी स्वरूप का (*Achene*) तथा ८.३ मि० मी० या ⅓ इंच लम्बा होता है जो सिरे की ओर उत्तरोत्तर पतला होता जाता है और मुड़ा हुआ होता है।

उपयुक्त अंग – शुष्क मूल (सुखाई हुई जड़)।

मात्रा – मूल चूर्ण २५० मि० ग्राम से १.२५ ग्राम (२ से ३ ग्राम तक) या २–१० रत्ती (२ से ३ माशा तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – इसके टेढ़े-मेढ़े वलखाये हुए २.५ से १५ सें० मी० या १ से ६ इंच लम्बे टुकड़े होते हैं, जो व्यास में १.२५ से ३.७५ सें० मी० या ½ से १½ इंच तक मोटे होते हैं। वाह्यतः इनका रंग मटमैला मुरचई लिये लाल अथवा कृष्णाभ भूरा होता है। अधिक मोटे टुकड़े अन्दर से खोखले होते हैं। वाह्य तल प्रायः खुरदरा होता है, जिस पर लम्बाई के रूख में उभरी रेखाएँ होती हैं, तथा इतस्ततः छोटे-छोटे उभार (*Tubercles*) होते हैं। इसको तोड़ने पर खट से टूट जाता है, और टूटे हुए भाग पर गोंद-सी लगी होती है, और वह खाकी सफेद रंग का होता है। कुष्ठ की जड़ स्वाद में तिक्त एवं चरपरी होती है, और इसमें ईरसा (*Orris root*) जैसी एक विशेष प्रकार की उग्र मीठी सुगन्धि होती है। इसका चूर्ण गाढ़े भूरे रंग का अथवा मुरचई रंग का होता है। कुष्ठ में विजातीय अपद्रव्य अधिकतम २% तथा उत्पत् तैल कम से कम १.६% होता है।

मिलावट (*Adulteration*) – कश्मीर एवं पंजाब जहाँ से औषधि वाजारों को रवाना की जाती है, वहाँ तथा वाजार में आने पर कूट में अनेक अन्य वनस्पतियों की जड़ों का (जो रंग-रूप में कूट से मिलती-जुलती है तथा सुगंधियुक्त होती हैं) उपयोग मिलावट के लिए किया जाता है। इनमें प्रधानतः निम्न वनस्पतियाँ उल्लेखनीय हैं–(१) साल्विआ लानाटा *Salvia lanata Royle.* (तुलसी-कुल *Family : Labiatae*); (२) दक्षिण भारत में केमुक (केउआँ) *Costus speciosus* (हरिद्रा-कुल) एवं इन्यूला रायलेआना *Inula royleana D.C.* (*Compositae*) की जड़ों का उपयोग कूट की जड़ों में मिलाने के लिए किया जाता है; (३) सेनेसियो जेक्वेमान्टिआनुस *Senecio jacquemontianus Benth.* (मुण्डी-कुल); (४) मीठा कूट।

संग्रह एवं संरक्षण – कुट की जड़ों को प्रायः अक्टूवर-नवम्बर के महीनों में संग्रह करते है। इसका संरक्षण अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में तथा उपयुक्त स्थान में करना चाहिए। संग्रह के लिए प्रायः ३–४ वर्ष पुराने पौधों का मूल अधिक उत्तम होता है। जव पौधों में वीज लग जायँ तव मूलों का संग्रह करना चाहिए। फल एवं वीज लगने के पूर्व ही पौधों को उखाड़ने से उस समय एक तो यह कच्चे रस से युक्त होने के कारण कम गुणकारी होता है, दूसरे सूखने पर इसके वजन में भी काफी कमी हो जाती है, जिससें व्यावसायिक दृष्टि से भी यह अवांच्छनीय है। जव इसके पत्ते, वीज आदि झड़ जायें (मार्गशीर्ष में) तो पौधों को उखाड़ने से पूर्ण गन्ध एवं गुणयुक्त मूल प्राप्त होते हैं; तथा सूखने पर इसमें कमी भी अपेक्षाकृत वहुत कम होती है। इसके मूल को उखाड़ कर उसी समय कोई-कोई इसे मन्द आँच पर भूनते हैं या भुभुल में दवा देते हैं। जव आधा रस सूख जाय तो इसे निकाल कर ७.५–१० सें० मी० या ३–३, ४–४ इंच के टुकड़े काट कर या तो टोकरों में डाल कर झकोरते हैं या इन्हें लम्वी-लम्वी शिलाओंपर डाल कर मलते हैं। ऐसा करने से इनके रोयें, मिट्टी के कण और ऊपर वाली श्याम वर्ण की पतली वाह्य त्वचा दूर हो जाती है। तव इसे धूप में सूखने के लिए डाल देते हैं।

संगठन – उत्पत् तैल (*Volatile oil*) १.५ से २.५ प्रतिशत; कुष्ठीन (सास्युरीन *Saussurine*) नामक क्षारोद–०.०५%; राल (*Resin*) ६%; इन्यूलिन (*Inulin*) १८%; तथा टैनिन, स्थिरतेल, पोटासियम् नाइट्रेट एवं शर्करा आदि।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु, मधुर।

विपाक–कटु। वीर्य-उष्ण । प्रधान कर्म–कफ निस्सारक, श्वासहर, शुक्रशोधन, रसायन, जन्तुघ्न ।

मुख्य योग – कुष्ठादि चूर्ण, कुष्ठादि क्वाथ, कुष्ठादि तैल, जवारिशजालीनूस ।

विशेष – आयुर्वेद में कुष्ठ एक ही है, जो कड़वा होता है। इसके किसी अन्य भेद का उल्लेख आयुर्वेद में नहीं है। वाजारू मीठा कूट भ्रामक है। यूनानी में इसके (१) मीठा वा सफेद तथा (२) कड़ुवा (स्याह वा हिंदी) भेद अवश्य मिलते हैं। किन्तु औषधि व्यवहार में कड़वा कूट ही महत्त्व का है। औषधि के अतिरिक्त इसका प्रयोग मन्दिरों में धूपन के लिए भी किया जाता है। कुष्ठ का ज्ञान भारतीयों को अति प्राचीन काल से है। अथर्ववेद में भी इसका उल्लेख मिलता है। चरकोक्त (सू० अ० ४) लेखनीय, शुक्रशोधन, एवं आस्थापनोपग महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में कुष्ठ भी है।

कूष्माण्ड (पेठा)

नाम। सं०–कूष्माण्ड । हिं०–पेठा, रकसवा कोंहड़ा । पं०–पेठा । वं०–कुमड़ा । गु०–भुरुं कोहलुं । म०–कोहला । सिंध–पेठो साओ । मा०–कोहला, कोला, पेठा । अ०–मह्दवः । फा०–वज्दुवः, कद्दूए रूमी । अं०–दि ऐश गोर्ड (*The Ash Gourd*), वैक्स गोर्ड (*Wax Gourd*)। ले०–वेनीनकासा हीस्पिडा *Benincasa hispida (Thunb.) Cogn.* (पर्याय–वेनीनकासा सेरीफेरा *B. cerifera Savi.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड-कुल (कूकुरविटासी : *Cucurbitaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – पेठा मलेशिया (*Malaysia*) का आदिवासी पौधा है। सम्प्रति समस्त भारतवर्ष के मैदानी भागों में तथा पहाड़ों पर १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती की जाती है, और यह जंगली रूप से भी मिलता है। प्रायः घरों के आस-पास लताएँ घरों तथा छप्परों पर फैली हुई मिलती हैं। फल तरकारी वाजारों तथा हलवाइयों के यहाँ जाड़ों तथा गर्मियों में विकते हैं। इसका पाक वनाते हैं, जो गर्मियों में उत्तम जलपान होता है।

संक्षिप्त परिचय – पेठा की लम्वी-लम्वी प्रसरी या आरोही लताएँ होती हैं। काण्ड मोटा, कोणाकार तथा कर्कशलोमावृत या रोईदार (*Hispid*) होता है। मैदानों में यह फरवरी-मार्च तथा पहाड़ियों पर मार्च-मई तक वोई जाती हैं। पत्तियाँ व्यास में १० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच तथा कर्कश सफेद रोईदार होती हैं। पर्णवृन्त लम्वा ६.५ से १० सें० मी० या (३–४ इंच) होता है। स्त्री एवं नर पुष्प पृथक्-पृथक् निकलते हैं। फल तरवूज की भाँति किन्तु रूपरेखा में लम्व गोल, ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० या १–१॥ फुट लम्वा तथा वाह्य तल पर नीलाभ श्वेत क्षोदलिप्त (*Bluishwhite waxy bloom*) होता है, जो स्पर्श करने पर अंगुलियों में लग जाता है। फल का गूदा सफेद रंग का होता है। फलों में उन्नत किनारों वाले अनेक चपटे वीज होते हैं। वीजों की गिरी स्नेहमय होती है और खायी जाती है।

उपयोगी अंग – फल का गूदा, स्वरस एवं वीज ।

मात्रा – फल–१ से २ तोला। फलस्वरस–१ से २ तो०। वीज–३ से ६ माशा। तैल –½ से १ तो०।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को छायादार तथा शीतल स्थानों में संग्रहीत करना चाहिए। इस प्रकार कई महीनों तक यह ज्यों का त्यों वना रहता है।

संगठन – फलों में श्वेतसार (स्टार्च), अल्प मात्रा में प्रोटीन एवं वसा, खनिज द्रव्य, कूकुरविटीन (*Cucurbitene*) नामक ऐल्केलॉइड, विटामिन B_1 तथा शर्करा आदि तत्त्व पाये जाते हैं। वीजों में एक स्थिर तैल पाया जाता है, जो कृमिघ्न होता है।

वीर्यकालावधि – ६ मास से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध । रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत । प्रभाव–मेध्य । कर्म–वातपित्तशामक, मस्तिष्कसंशामक एवं वल्य, मेध्य, तृष्णानिग्रहण, अनुलोमन, हृद्य, रक्तपित्तशामक, फुफ्फुसवल्य, मूत्रजनन, शुक्रल, वल्य, वृंहण, संतापहर। वीज–विशेषतः वीजों से प्राप्त तैल उदरकृमिनाशक (विशेषतः स्फीतकृमि *Tapeworm* नाशक) होता है। यूनानी मतानुसार कूष्माण्ड या पेठा दूसरे दर्जे में शीत एवं तर है। अहितकर–शीतप्रकृतिवालों के लिए। इसके अतियोग से वायु एवं कफ का प्रकोप होता है। निवारण–नमक, सौंफ, काली मिर्च आदि। प्रतिनिधि–अलावू (लौकी)।

मुख्य योग – कूष्माण्ड खण्ड । कूष्माण्ड गुड़ाकल्याणक, कूष्माण्ड घृत, कूष्माण्ड चूर्ण । पेठे की बनी मिठाई सौमनस्यजनन और बल्य है। इसका मुरब्बा मस्तिष्क और हृदय को बल देने और सौमनस्यजनन के लिए खिलाया जाता है । इसका हलवा अधिक बनाते हैं और कभी-कभी अचार और बड़ियाँ भी बनाते हैं। हलवा के लिए पुराना पेठा अधिक उत्तम होता है। पित्त और रक्त का प्रकोप शमन करने, प्यास बुझाने और मूत्र का दाह मिटाने के लिए स्वरस का उपयोग करते हैं अथवा बीजों का मग्ज (गिरी) अकेले अथवा उपयुक्त द्रव्यों के साथ शीत पेय की भाँति पीस-छान कर पिलाते हैं। शुष्क कास, उरःक्षत एवं राजयक्ष्मा में भी इसके कल्प बहुत उपयोगी होते हैं।

कोकम (वृक्षाम्ल)

नाम। सं०–वृक्षाम्ल, रक्तपूरक । हिं०, म० गु०–कोकम । कों०–रतांबी । अं०–मंगोस्टीन आयल ट्री (*Mangosteen Oil Tree*), कोकम-बटर ट्री (*Kokam Butter Tree*) । ले०–गार्सीनिआ ईन्डिका (*Garcinia indica Choisy*)

वानस्पतिक कुल – नागकेशर-कुल (*Guttiferae*) ।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत में कोंकण तथा उत्तरी एवं दक्षिणी कनाडा, कुर्ग एवं पश्चिमी घाट के जंगलों में कोकम के वृक्ष प्रचुरता से मिलते हैं। बीज निकाल कर सुखाये हुए फल 'कोकम' के नाम से तथा बीजोत्थ घी-जैसा तेल 'कोकमका घी या तेल' के नाम से बम्बई आदि बाजारों में बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – कोकम के सदाहरित वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ नीचे को झुकी होती हैं। पत्तियाँ २॥–३॥ इंच लम्बी × १–१॥ इंच चौड़ी चिकनी तथा रूपरेखा में लट्वाकार या आयताकार-भालाकार, ऊर्ध्व पृष्ठ पर गाढ़े हरे रंग की और अधःपृष्ठ पर फीके रंग की होती हैं। जाड़ों (दिसम्बर-जनवरी) में यह पुष्पित होता है और एक ही वृक्ष पर स्त्री एवं पुंपुष्प पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं। फल नारंगी के समान गोल किन्तु छोटे (व्यास में १–१॥ इंच) और गर्मियों में (अप्रैल-मई) पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। प्रत्येक फल में ५–८ तक बड़े चपटे बीज होते हैं। बीजों को निकाल कर फल सुखा लिये जाते हैं; और ऐसे फल बाजारों में बहुत बिकते हैं। लोग इनका व्यवहार खटाई के लिए करते हैं। यह स्वाद में खट-मिट्ठा तथा बहुत रुचिकारक होता है। बीजों को कूट कर रेड़ी के तेल की भाँति जल में उबाल कर गाढ़ा तेल प्राप्त किया जाता है, जो ठंढा होने पर मोम की भाँति जम जाता है। इसे कोकम का घी या तेल (*Kokam Butter*) कहते हैं। इसके जमे हुए पिण्डाकार अथवा मोम की तरह बर्फीनुमा टुकड़े बाजारों में बिकते हैं। इसको लोग खाते हैं। फल, तैल एवं छाल का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – फल, घी एवं मूलत्वक् ।

मात्रा – फल का गूदा–३ माशा से १ तोला ।
तैल— ३ माशा से ६ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कोकम का फल नारंगी के समान गोलाकार तथा छोटे सेव के बराबर होता है। पकने पर यह लाल रंग का हो जाता है। गूदा गाढ़े रंग का तथा स्वाद में कुछ मिठास लिये खट्टा होता है। प्रत्येक फल में ५–८ तक बड़े चपटे बीज होते हैं, जो लगभग १.८७५ सें० मी० या ¾ इंच लम्बे, १० मि० मी० या ⅖ इंच तक चौड़े, रूपरेखा में कुछ वृक्काकार तथा बाह्य तल पर झुर्रीदार होते हैं। बीज-द्विदल, काफी मोटा होता है और स्वाद में मीठा तेल की भाँति होता है। कोकम का घी या तेल–बाजार में कोकम के जमे हुए तेल के अंडाकार स्वरूप के पिण्ड (*Lumps*) या मोम की भाँति बर्फीनुमा टुकड़े (*Cakes*) मिलते हैं, जो हल्के खाकस्तरीय या पीताभ वर्ण के होते हैं। उक्त टुकड़े कुछ दानेदार तथा स्पर्श पर स्निग्ध (*Greasy*) होते हैं। बाजारू तेल में फल एवं बीज के कण या छोटे-छोटे टुकड़े भी मिले होते हैं। अतः इसको पुनः पिघला कर छान लेना चाहिए। इस प्रकार शुद्ध तैल प्राप्त होता है। इसका सेपोनिफिकेशन वेल्यू—१८७–१९१.७ तथा आयोडीन वेल्यू–२५–२९ होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – शुष्क फलों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। तेल को चौड़े मुँह के बर्तनों में ठंढी तथा अँधेरी जगह में रखनी चाहिए।

संगठन – कोकम में मेलिक अम्ल (*Malic acid*), टार्टरिक एसिड तथा सिट्रिक एसिड आदि अम्ल पाये जाते हैं। बीजों में (बीजों की तौल का २३–२६% तथा गिरी का ४४%) हल्के पीले रंग का तैल प्राप्त होता है, जो

जम कर घी की भाँति हो जाता है। यह एक महत्त्व का व्यावसायिक द्रव्य है। छाल में कषाय तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – फल—१ वर्ष। तैल—दीर्घ काल तक।

स्वभाव –गुण–लघु, रूक्ष। रस–अम्ल (कच्चा फल), मधुराम्ल (पक्व फल)। विपाक–अम्ल। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म– व्रणरोपण, रोचन, दीपन, तृष्णानिग्रहण, ग्राही, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन, हृद्य, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, रक्तपित्त शामक आदि। कोकम का तेल मलहर बनाने के लिए उत्तम आधार द्रव्य होता है। स्कर्वी रोग में फल उपयोगी होते हैं।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) हृद्य महाकषाय में वृक्षाम्ल का भी उल्लेख है।

खतमी

नाम। हिं०–खतमी। फा०–खत्मी, खित्मी। तु०–हत्मी। अ०–कसीरुल् मुन्फ़ेअत। अं०–माश मैलो (*Marsh Mallow*)। ले०–आल्थेआ आफ्फ़ीसिनालिस (*Althaea officinalis Linn.*)। फल (बीज) हिं०–खतमी का बीज। फा०–तुख्मेखित्मी। अ०–हव्बुल खत्मी। पुष्प। हिं०–खतमी का फूल। वम्ब०, द०–गुलखैरु। मूल। हिं०, बाजार–रेशाखत्मी। फा०–रेखए खित्मी, बेखेखित्मी। अ०–अस्लुल् खित्मी।

वानस्पतिक कुल – कार्पास-कुल (माल्वासी *Malvaceāe*)।

प्राप्तिस्थान – संसार का लगभग प्रत्येक भाग। भारतवर्ष के पश्चिम हिमालय, विशेषतः कश्मीर, पंजाब आदि में भी खत्मी बोयी जाती है। फारस में इसकी लम्बे परिमाण में उपज की जाती है। बाजारों में खत्मी फल (बीज) तुख्म खत्मी तथा फूल गुलखैरू के नाम से और जड़ रेशा खत्मी के नाम से मिलती हैं। भारत-वर्ष में इनका आयात मुख्यतः फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – खत्मी के क्षुप बड़े, बहुवर्षायु, काण्ड ६० से ९० सें० मी० (२–३ फुट) ऊंचा तथा रोमावृत; पत्तियाँ सावारण, अंडाकार या गोल सोपपत्र तथा दंतुर धार वाली, अनुपत्र रेखाकार, पुष्प गुलाबी रंग के तथा बड़े (व्यास में २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच) और गंधरहित, पत्रकोणोद्भूत पुष्पवाहक दण्ड पर गुच्छीभूत, पुटपत्र एवं दलपत्र संख्या में ५–५ तथा पुंकेशर अनेक और परस्पर संसक्त होते हैं। कुक्षिवृन्त सूत्राकार होती है। स्त्री केशर अनेक, जिनमें प्रत्येक से एक बीज युक्त फल बनता है। गुल खैरु (*A.rosea*) खतमी का ही एक भेद है, जो सौन्दर्य के लिए बगीचों एवं गृह-वाटिकाओं में लगाया जाता है।

उपयोगी अंग – फल (बीज) जड़ एवं पुष्प, काण्ड एवं इसके क्षुपों से प्राप्त गोंद का भी व्यवहार होता है।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – खतमी के बीज (वास्तव में फल (*Carpels*) काले और चपटे होते हैं। जड़ (रेशा खतमी) बेलनाकार या किंचित् शंक्वाकार, तंतुमय उपमूलों से युक्त ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० (३ से ६ इंच) लम्बी, भीतर से सफेद और भरी हुई तथा बाह्यतः भी सफेद होती है, और उस पर लंबाई के रुख गहरी लम्बी झुर्रियाँ पड़ी रहती हैं। इसकी गंध मनोरम, हल्की तथा स्वाद किंचिन्मधुर होता है। इसको थोड़ा छील कर उपयोग करना चाहिए। जड़ में खूब लवाब होता है। औषधीय प्रयोग के लिए कम से कम २ वर्ष पुराने क्षुपों से इसका संग्रह करना चाहिए। पुष्प या फूल बड़ा, गोल और चौड़ा तथा गंधरहित होता है। मूल को जलाने से ४.५% भस्म प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण–उपयोगी अंगों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

वस्तुसंगठन– जड़ में लवाब, पिष्टमय पदार्थ, पेक्टिन, शर्करा, स्थिर तैल और (१% से २%) खत्मीन या एल्थीईन (*Althein*) नामक क्रिस्टली स्वरूप का तत्त्व होता है, यह शतावरी में पाये जाने वाले एस्पेरेगिन (*Asparagin*) नामक तत्त्व की भाँति होता है।

वीर्यकालावधि– १ वर्ष।

स्वभाव — गुण–स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–ईषदुष्ण। कर्म–वातपित्तशामक, अनुलोमन, मार्दवकर एवं स्नेहन, श्लेष्महर एवं श्लेष्मनिः-सारक, मूत्रल। बाह्यतः स्थानिक प्रयोग से शोथहर एवं वेदनास्थापन। यूनानी मतानुसार खत्मी अनुष्णाशीत प्रकृति की होती है। खतमी के बीज एवं पत्र शोथ, फुंसी और दर्द की जगह लगाने से दोषविलोमकरण, श्वयथुविलयन, दोषपाचन एवं संशमन कर्म करते हैं। इसके बीजों एवं फूलों का क्वाथ कफ का पाचन एवं श्वसनमार्ग में मृदुता करता है। जड़ आंतो पर संशमन कर्म करती और उससे दोषों को फिसला कर उत्सर्गित करती है। इसका प्रधान कर्म श्वयथुविलयन और

कासघ्न है। प्रत्येक, प्रतिश्याय एवं रूक्ष कास में प्रयुक्त काढ़ों में खत्मी बीज, पुष्प एवं जड़ आदि भी मिलाते हैं। मूत्रदाह, अन्त्रशोथ, प्रवाहिका एवं पित्तज अतिसार में खत्मी का बीज दोषों को फिसला कर निकालने वाला तथा संशमन के रूप में इसका काढ़ा करके या लवाब निकाल कर पिलाते हैं। अहितकर–आमाशय को। निवारण–मधु एवं सौंफ। प्रतिनिधि–खुब्बाजी।

खस (उशीर)

नाम। सं०–उशीर, सेव्य, वीरण। हिं०–खस, गाँडर (सींक) की जड़। बं०–वेणारमूल, खश। थारु-कतरा। को०, संथाल–सिरोम। मिर्जापुर–वीरन। म०–वाला। गु०–वालो। ता०–वीरणं। फा०–बीखेवाला, रेशएवाला। अं०–कुस-कुस (*Cus-Cus*), खुसखुस (*Khus-Khus*)। ले०–वेटीवेरिआ ज़ीज़ानीऑइडेस *Vetiveria zizanioides* (पर्याय–आन्ड्रोपोगन मूरीकाटुस *Andropogon muricatus* Retz.)।

वानस्पतिक कुल–तृण-कुल (ग्रामिनी *Gramineae*)।

उत्पत्तिस्थान–भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में विशेषत: कोरोमण्डल, मैसूर, बंगाल एवं उत्तरी भारत में तालावों, वहते हुए पानी के किनारे और नीची गीली जमीन में खस अधिक होता है।

संक्षिप्त परिचय–खस गाँडर या सींक नामक घास की प्रसिद्ध जड़ है, जिससे गरमी में पंखे, खसगृह, टट्टियाँ और हुक्कों के नैचे इत्यादि बनाते हैं। यह तृण भी कुश के समान बहु वर्षायु होता है; तथा गुच्छबद्ध एवं समूहबद्ध होकर उगता है। मूलस्तम्भ से अनेक सूत्राकार लम्बी-लम्बी जड़ें निकलती हैं। इन्हीं का व्यवहार 'खस' के नाम से किया जाता है। कलम (*Culms*) १.५ से १.८ मीटर (५-६ फुट) तक ऊंचा एवं ठोस होता है। पत्तियाँ दो कतारों में, आधार पर परस्पराच्छादित ३० से ६० सें० मी० (१-२ फुट) लम्बी (मूलीय पत्र अधिक लम्बे), मध्य शिरा दवी हुई और किनारे-किनारे दूर-दूर पर तीक्ष्ण रोमश होती हैं। पुष्पागम वर्षा ऋतु में, फलागम उसके बाद।

उपयोगी अंग–मूल (खस)।

मात्रा–(१) चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
(२) अर्क–२ से ४ तोला।
(३) हिम–२॥-५ तो०।
(४) फाण्ट–४ से ८ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–खस की जड़ें पतली, मोटे सूत की भाँति, पूरी जड़ प्रायः ६० सें० मी० या २ फुट तक लम्बी, बाहर से देखने में पीताभ भूरे रंग की होती हैं। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की स्थायी एवं मनमोहक सुगंधि होती है। मुँह में रख कर चावने से तिक्त एवं सुगन्धित होता है। खस की सुगंधि कुछ-कुछ बोल की सुगंधि से मिलती-जुलती है।

संग्रह एवं संरक्षण–खस की जड़ों को जमीन से खोद कर, निकाल कर पानी से धोकर सुखा लें और अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों से संरक्षण करें।

वस्तुसंगठन–इसमें एक उड़नशील तेल तथा एक बोल-गंधी, चरपरा, एवं गहरा रक्त-धूसर रालदार पदार्थ पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रंजक द्रव्य, स्वतंत्र अम्ल, चूने के लवण, लोहा, भस्म एवं काष्ठीय पदार्थ पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–२ वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–रूक्ष, लघु। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–मूत्रल, हृद्य, दाहतृष्णा-शामक, स्वेदापनयन, वमन-अतिसार नाशक। चरकोक्त (सू० अ० ४) वर्ण्य, स्तन्यजनन, छर्दिनिग्रहण एवं दाहप्रशमन महाकषायों में तथा (वि० अ०) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त सारिवादि गण तथा पित्तसंशमन वर्ग के द्रव्यों में उशीर या वीरण की भी गणना है।

मुख्य योग–उशीरासव, उशीरादि क्वाथ, उशीरादि चूर्ण, उशीराद्यतैल, षडंगपानीय।

विशेष–शर्वत कल्पना के अनुसार 'शर्वत खस' वना कर गर्मियों में तृष्णा-दाह शामक पेय के रूप में भी व्यवहृत कर सकते हैं। सन्निपात ज्वर में वेहोशी की हालत में खस एवं धनिये की पोटली वना कर जल में भिगो कर मरीज को सुंघाने से उपकार होता है।

खाकसी (खूबकलाँ)

नाम। हिं०–खाकसी (–र), खूबकलाँ। अ०–खुब्ब:। फा०–खूबकलाँ (ला), खाकची, शिव:, तुख्मे शह्रह। सिन्ध–जंगली सरसों। अं०–हेज–मस्टर्ड (*Hedge-Mustard*)। ले०–सिसिम्ब्रिउम ईरिओ (*Sisymibrium irio Linn*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल–सर्षप-कुल (क्रूसीफ़ेरी *Cruciferae*)।

जम कर घी की भाँति हो जाता है। यह एक महत्त्व का व्यावसायिक द्रव्य है। छाल में कषाय तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – फल—१ वर्ष। तैल—दीर्घ काल तक।

स्वभाव –गुण–लघु, रूक्ष। रस–अम्ल (कच्चा फल), मधुराम्ल (पक्व फल)। विपाक–अम्ल। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–व्रणरोपण, रोचन, दीपन, तृष्णानिग्रहण, ग्राही, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन, हृद्य, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, रक्तपित्त शामक आदि। कोकम का तेल मलहर बनाने के लिए उत्तम आधार द्रव्य होता है। स्कर्वी रोग में फल उपयोगी होते हैं।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) हृद्य महाकषाय में वृक्षाम्ल का भी उल्लेख है।

खतमी

नाम। हिं०–खतमी। फा०–खत्मी, खित्मी। तु०–हत्मी। अ०–कसीरुल् मुन्फ़ेअत। अं०–माश मैलो (*Marsh Mallow*)। ले०–आल्थेआ आफ़ीसिनालिस (*Althaea officinalis Linn.*)। फल (वीज) हिं०–खतमी का बीज। फा०–तुख़्मेखित्मी। अ०–हब्बुल खत्मी। पुष्प। हिं०–खतमी का फूल। बम्ब०, द०–गुलखैरु। मूल। हिं०, बाजार–रेशाखतमी। फा०–रेखए खित्मी, बेख़ेखित्मी। अ०–अस्लुल् खित्मी।

वानस्पतिक कुल – कार्पास-कुल (माल्वासी *Malvaceae*)।

प्राप्तिस्थान – संसार का लगभग प्रत्येक भाग। भारतवर्ष के पश्चिम हिमालय, विशेषतः कश्मीर, पंजाब आदि में भी खत्मी बोयी जाती है। फारस में इसकी लम्बे परिमाण में उपज की जाती है। बाजारों में खत्मी फल (बीज) तुख्म खत्मी तथा फूल गुलखैरू के नाम से और जड़ रेशा खत्मी के नाम से मिलती हैं। भारतवर्ष में इनका आयात मुख्यतः फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – खत्मी के क्षुप बड़े, बहुवर्षायु, काण्ड ६० से ९० सें० मी० (२–३ फुट) ऊंचा तथा रोमावृत; पत्तियाँ साधारण, अंडाकार या गोल सोपपत्र तथा दंतुर धार वाली, अनुपत्र रेखाकार, पुष्प गुलाबी रंग के तथा बड़े (व्यास में २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच) और गंधरहित, पत्रकोणोद्भूत पुष्पवाहक दण्ड पर गुच्छीभूत, पुटपत्र एवं दलपत्र संख्या में ५–५ तथा पुंकेशर अनेक और परस्पर संसक्त होते हैं। कुक्षिवृन्त सूत्राकार होती है। स्त्री केशर अनेक, जिनमें प्रत्येक से एक बीज युक्त फल बनता है। गुल खैरु (*A.rosea*) खत्मी का ही एक भेद है, जो सौन्दर्य के लिए बगीचों एवं गृह-वाटिकाओं में लगाया जाता है।

उपयोगी अंग – फल (बीज) जड़ एवं पुष्प, काण्ड एवं इसके क्षुपों से प्राप्त गोंद का भी व्यवहार होता है।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – खत्मी के बीज (वास्तव में फल (*Carpels*) काले और चपटे होते हैं। जड़ (रेशा खत्मी) बेलनाकार या किंचित् शंक्वाकार, तंतुमय उपमूलों से युक्त ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० (३ से ६ इंच) लम्बी, भीतर से सफेद और भरी हुई तथा बाह्यतः भी सफेद होती है, और उस पर लंबाई के रुख गहरी लम्बी झुर्रियाँ पड़ी रहती हैं। इसकी गंध मनोरम, हल्की तथा स्वाद किंचिन्मधुर होता है। इसको थोड़ा छील कर उपयोग करना चाहिए। जड़ में खूब लबाब होता है। औषधीय प्रयोग के लिए कम से कम २ वर्ष पुराने क्षुपों से इसका संग्रह करना चाहिए। पुष्प या फूल बड़ा, गोल और चौड़ा तथा गंधरहित होता है। मूल को जलाने से ४.५% भस्म प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण–उपयोगी अंगों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

वस्तुसंगठन– जड़ में लबाब, पिष्टमय पदार्थ, पेक्टिन, शर्करा, स्थिर तैल और (१% से २%) खत्मीन या एल्थीईन (*Althein*) नामक क्रिस्टली स्वरूप का तत्त्व होता है, यह शतावरी में पाये जाने वाले एस्पेरेगिन (*Asparagin*) नामक तत्त्व की भाँति होता है।

वीर्यकालावधि– १ वर्ष।

स्वभाव — गुण–स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–ईषदुष्ण। कर्म–वातपित्तशामक, अनुलोमन, मार्दवकर एवं स्नेहन, श्लेष्महर एवं श्लेष्मनिःसारक, मूत्रल। बाह्यतः स्थानिक प्रयोग से शोथहर एवं वेदनास्थापन। यूनानी मतानुसार खत्मी अनुष्णाशीत प्रकृति की होती है। खतमी के बीज एवं पत्र शोथ, फुंसी और दर्द की जगह लगाने से दोषविलोमकरण, श्वयथुविलयन, दोषपाचन एवं संशमन कर्म करते हैं। इसके बीजों एवं फूलों का क्वाथ कफ का पाचन एवं श्वसनमार्ग में मृदुता करता है। जड़ आंतो पर संशमन कर्म करती और उससे दोषों को फिसला कर उत्सर्गित करती है। इसका प्रधान कर्म श्वयथुविलयन और

कासघ्न है। प्रत्येक, प्रतिश्याय एवं रूक्ष कास में प्रयुक्त काढ़ों में खत्मी बीज, पुष्प एवं जड़ आदि भी मिलाते हैं। मूत्रदाह, अन्त्रशोथ, प्रवाहिका एवं पित्तज अतिसार में खत्मी का बीज दोषों को फिसला कर निकालने वाला तथा संशमन के रूप में इसका काढ़ा करके या लवाब निकाल कर पिलाते हैं। अहितकर–आमाशय को। निवारण–मधु एवं सौंफ। प्रतिनिधि–खुब्बाजी।

खस (उशीर)

नाम। सं०–उशीर, सेव्य, वीरण। हिं०–खस, गाँडर (सींक) की जड़। बं०–वेणारमूल, खश। थारु-कतरा। को०, संथाल–सिरोम। मिर्जापुर–वीरन। म०–वाला। गु०–वालो। ता०–वीरणं। फा०–वीखेवाला, रेशएवाला। अं०–कुस-कुस (*Cus-Cus*), खुसखुस (*Khus-Khus*)। ले०–वेटीवेरिआ जीजानीऑइडेस *Vetiveria zizanioides* (पर्याय–आन्ड्रोपोगन मूरीकाटुस *Andropogon muricatus* Retz.)।

वानस्पतिक कुल–तृण-कुल (ग्रामिनी *Gramineae*)।

उत्पत्तिस्थान–भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में विशेषत: कोरोमण्डल, मैसूर, बंगाल एवं उत्तरी भारत में तालावों, वहते हुए पानी के किनारे और नीची गीली जमीन में खस अधिक होता है।

संक्षिप्त परिचय–खस गाँडर या सींक नामक घास की प्रसिद्ध जड़ है, जिससे गरमी में पंखे, खसगृह, टट्टियाँ और हुक्कों के नैचे इत्यादि बनाते हैं। यह तृण भी कुश के समान वहु वर्षायु होता है; तथा गुच्छवद्ध एवं समूहवद्ध होकर उगता है। मूलस्तम्भ से अनेक सूत्राकार लम्बी-लम्बी जड़ें निकलती हैं। इन्हीं का व्यवहार 'खस' के नाम से किया जाता है। कल्म (*Culms*) १.५ से १.८ मीटर (५-६ फुट) तक ऊंचा एवं ठोस होता है। पत्तियाँ दो कतारों में, आधार पर परस्पराच्छादित ३० से ६० सें० मी० (१-२ फुट) लम्बी (मूलीय पत्र अधिक लम्बे), मध्य शिरा दवी हुई और किनारे-किनारे दूर-दूर पर तीक्ष्ण रोमश होती हैं। पुष्पागम वर्षा ऋतु में, फलागम उसके वाद।

उपयोगी अंग–मूल (खस)।

मात्रा–(१) चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
(२) अर्क–२ से ४ तोला।
(३) हिम–२॥-५ तो०।
(४) फाण्ट–४ से ८ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–खस की जड़ें पतली, मोटे सूत की भाँति, पूरी जड़ प्राय: ६० सें० मी० या २ फुट तक लम्बी, वाहर से देखने में पीताभ भूरे रंग की होती हैं। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की स्थायी एवं मनमोहक सुगंधि होती है। मुँह में रख कर चावने से तिक्त एवं सुगन्धित होता है। खस की सुगंधि कुछ-कुछ वोल की सुगंधि से मिलती-जुलती है।

संग्रह एवं संरक्षण–खस की जड़ों को जमीन से खोद कर, निकाल कर पानी से धोकर सुखा लें और अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों से संरक्षण करें।

वस्तुसंगठन–इसमें एक उड़नशील तेल तथा एक वोल-गंधी, चरपरा, एवं गहरा रक्त-धूसर रालदार पदार्थ पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रंजक द्रव्य, स्वतंत्र अम्ल, चूने के लवण, लोहा, भस्म एवं काष्ठीय पदार्थ पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–२ वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–रूक्ष, लघु। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–मूत्रल, हृद्य, दाहतृष्णा-शामक, स्वेदापनयन, वमन-अतिसार नाशक। चरकोक्त (सू० अ० ४) वर्ण्य, स्तन्यजनन, छर्दिनिग्रहण एवं दाहप्रशमन महाकषायों में तथा (वि० अ०) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त सारिवादि गण तथा पित्तसंशमन वर्ग के द्रव्यों में उशीर या वीरण की भी गणना है।

मुख्य योग–उशीरासव, उशीरादि क्वाथ, उशीरादि चूर्ण, उशीराद्यतैल, षडंगपानीय।

विशेष–शर्वत कल्पना के अनुसार 'शर्वत खस' वना कर गर्मियों में तृष्णा-दाह शामक पेय के रूप में भी व्यवहृत कर सकते हैं। सन्निपात ज्वर में वेहोशी की हालत में खस एवं धनिये की पोटली वना कर जल में भिगो कर मरीज को सुंघाने से उपकार होता है।

खाकसी (खूवकलाँ)

नाम। हिं०–खाकसी (–र), खूवकलाँ। अ०–खुब्ब:। फा०–खूवकलाँ (ला), खाकची, शिव:, तुख्मे शहूह। सिन्ध–जंगली सरसों। अं०–हेज-मस्टर्ड (*Hedge-Mustard*)। ले०–सिसिम्ब्रिउम ईरिऑ (*Sisymibrium irio* Linn)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल–सर्षप-कुल (क्रूसीफ़ेरी *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर भारत, राजस्थान, पंजाब पेशावर बलूचिस्तान, फारस तथा यूरोप आदि देश। इसके पौधे वनों, वगीचों एवं पर्वतांचल में आप से आप उगे घास के रूपमें भी मिलते हैं, और इसकी खेती भी की जाती है। भारतवर्ष में यह रवी की फसल में गेहूँ, मेथी आदि के साथ वोयी जाती है। औषधि में इसके बीजों का व्यवहार होता है, जो वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं। भारतवर्ष में खाकसी का आयात प्रधानतः फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – खाकसी क्षुप के काण्ड चिकने, शाखा-प्रशाखायुक्त एक या द्विवर्षायु ३० से ९० सें० मी० (१ से ३ फुट तक ऊंचे) होते हैं। पत्तियाँ खण्डित, तथा खण्डों (*Segments*) के किनारे आरावत् दन्तुर होते हैं। पुष्प पीले रंग के, फलियाँ ३.७५ से ५ सें० मी० (१॥-२ इंच) लम्बी, पतली तथा आपाततः देखने में सर्षप की भाँति, और बीच-बीच में दवी हुई होती हैं। फलियों में पोस्त के दानों की तरह छोटे-छोटे अनेक वीज निकलते हैं। इन्हीं वीजों का व्यवहार चिकित्सा में खूबकलाँ या खाकसी के नाम से होता है।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा (५ से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – खाकसी के वीच ललाई लिये पीले रंग के छोटे-छोटे $\frac{1}{2}$ सें० मी० या लगभग $\frac{1}{20}$ इंच लम्बे लम्बगोल दाने होते हैं, जो आकार में पोस्ते के दानों से भी छोटे होते हैं। इनका एक पृष्ठ उन्नत (*Convex*) होता है, और दूसरे पृष्ठ पर एक परिखा (*Groove*) होती है, उसका अंत एक सूक्ष्म चोंच में (*Ending in a notch*) होता है। जल में भिगोने पर वीजों पर लवाव (म्युसिलेज) का एक पारदर्शक आवरण-सा चढ़ जाता हैं। वीज-द्विदल (*Cotyledons*) पीताभ वर्ण के तथा स्नेहमय (*Oily*) होते हैं। मुख में रख कर वीजों को चावने से स्वाद में सरसों की भाँति उष्णता (मुँह में) का अनुभव होता है। कुछ देर रखे रहने से वीज कुवासित हो जाते (*become rancid*) हैं।

संग्रह एवं संरक्षण–जव फल पक जाते हैं, पौधों को काट कर उन्हें पीट कर सरसों की भाँति वीज पृथक् कर लिये जाते हैं। इसे मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि – १-२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–ईषदुष्ण। प्रधान कर्म–कफनिस्सारक, ज्वरघ्न, पुष्टिकर, वृंहण, दाहशामक तथा मसूरिका एवं विसूचिका में उपयोगी। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में उष्ण एवं तर है।

मुख्य योग – यह पुष्टिकर-पाकों या माजूनों में मिलायी जाती है। इसे वनफ्शादि क्वाथ (गोजिह्वादि क्वाथ) में ज्वरघ्न कर्म के लिए मिलाते हैं।

खुब्बाजी

नाम। हिं०–कुंझि, खुवाजी। सिंध–खवाजी। फा०–नाने कुलाग़ (कागरोटिका), पीज़क। अ०–खुब्वाजी, खुवाजी। अं०–दिकॉमन मैलो ((*The Common Mallow*) ले०–माल्वा सिल्वेस्ट्रिस (*Malva sylvestris Linn*)। लेटिन नाम इसके क्षुप का है, जिसे हिंदी में पापरा, चगेर या चंगेल भी कहते हैं।

वनस्पतिक कुल – कार्पास-कुल (माल्वासी : *Malvaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी हिमालय प्रदेश में ६०२.९ मीटर से २४०८·३६ मीटर (२,०००-८,००० फुट) की ऊंचाई तक पंजाव, कश्मीर से कुमायूं तक। इसके अतिरिक्त वम्बई, मैसूर एवं मद्रास आदि में इसकी खेती की जाती है। इसके फल वाजारों में पंसारियों के यहाँ खुब्बाजी के नाम से मिलते हैं। औषध्यर्थ फलों का आयात भारतवर्ष में प्रधानतः फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – खुब्वाजी के ०.९१ से १.५२ मीटर (३-५ फुट) तक ऊंचे, एकवर्षायु क्षुप होते हैं, जिनका काण्ड चिकना होता है। पत्र सवृन्त (वृन्त पत्ती की लम्बाई के वरावर) रूपरेखा में हृदयाकार या कुछ गोलाकार, खण्डित तथा खण्ड कुण्ठिताग्र होते हैं। पुष्प वड़े २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१॥ इंच) व्यास के, हल्के गुलावी रंग के होते हैं, जिन परवैंगनी धारियाँ होती हैं और पत्र कोणों में स्थित पुष्पवाहक दण्डों पर निकलते हैं। दलपत्र अग्रपर कटे हुए होते हैं। स्त्री। केशर झुर्रीदार होते हैं।

उपयोगी अंग – फल (जिन्हें व्यवहार में वीज कहा जाता है)।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम (५ से ७ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा– खुब्बाजी का फल १०–१२ स्त्री-केशरों (*Carples*) का बना होता है, जिनमें प्रत्येक में एक छोटा वृक्काकार बीज होता है। उक्त स्त्री-केशर में प्रायः आधे तो प्रगल्भ होते हैं, शेष विभिन्न अप्रगल्भावस्थाओं में पाये जाते हैं। बाजारू नमूने में फलों के अतिरिक्त प्रायः पुष्पवाहक दण्ड एवं पत्र के टुकड़े तथा शुष्क पुष्प भी मिले होते हैं, जो गाढ़े नीले रंग के होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण– पक्व फलों को छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन– खुब्बाजी में पुष्कल स्नेह या लबाब और अल्प प्रमाण में एक तिक्त सत्व होता है। ये दोनों ही जल में विलेय होते हैं। इतर भाग की अपेक्षया फूल में लुआब अधिक होता है।

वीर्यकालावधि– १ वर्ष।

स्वभाव– खुब्बाजी पहले दर्जे में शीत एवं स्निग्ध है। यह कास एवं अन्य फुफ्फुस रोगों में विशेष लाभकारी, दोषपाचन, सारक, दोष विलोमकर्ता, स्नेहन, पिच्छिल तथा मूत्रजनन है। सामान्यतया इसके गुण भी बहुत-कुछ खत्मी के समान होते हैं। तुख्म खुब्बाजी को पित्त-पाचन की भाँति उपयोग करते हैं। स्नेहन होने के कारण गले एवं फुफ्फुस की खराश, उष्णकास और स्वरभंग आदि को दूर करने के लिए भी इसका उपयोग करते हैं। यूनानी चिकित्सा में खुब्बाजी का व्यवहार बहुत होता है।

खुरासानी अजवायन—दे०, 'अजवायन'।

खूनखराबा (रक्तनिर्यास)

नाम। सं०–रक्तनिर्यास। हिं०–खूनखरावा, हीरादोखी। बम्ब०–हीरादखण। म०, गु०–हिरादखण। अ०–दम्मुल् अख्वैन, क़ातिरुद्दम, एदअ। फा०–खूनसियावशाँ। अं०–ड्रैगन्सब्लड (*Dragon's blood*)। ले० (१) ड्राकेना सिन्नावारी *Dracaena cinnabari Balf. f.*; (२) कालामुस ड्राको *Calamus draco Willd.* (पर्याय–डेमोनोरॉप्स ड्राको *Daemonorops draco Blume.*)।

वानस्पतिक कुल– ड्राकेना सिन्नावारी पलाण्डु-कुल (लिलिआसी *Liliaceae*) की तथा कालामुस ड्राको ताड़-कुल (पामी: *Palmae*) की वनस्पति है।

प्राप्तिस्थान– उत्तम एवं वास्तविक खूनखरावा ड्राकेना सिन्नावारी नामक पलाण्डु-कुल की वनस्पति से प्राप्त किया जाता है। इसका मुख्य उद्भव-स्थल सकोतरा द्वीप (*Socotra*) है। इसके अतिरिक्त जंजीबार, पूर्वी अफ्रीका एवं दक्षिणी अरब में भी थोड़ा-बहुत संग्रह किया जाता है। भारतीय बाजारों में यह सकोतरा से बम्बई होकर आता है। भारतवर्ष में इसका आयात बहुत दिनों से होता आ रहा है। पूर्वी द्वीपसमूह (जावा, बोर्नियो, सुमात्रा आदि) में कालामुस ड्राको नामक ताड़-जातीय पौधे से भी रक्तनिर्यास प्राप्त किया जाने लगा है, जो देखने में बिल्कुल असली खूनखरावा जैसा ही होता है। इसका आयात पूर्वी द्वीपसमूह से होता है, और भारतीय बाजारों में खूनखरावा के ही नाम से बिकता है।

संक्षिप्त परिचय– खूनखरावा उक्त ड्राकेनासिन्नावारी नामक वनस्पति का रालीय निर्यास या रेजिन (*Resin*) होता है, जो काण्ड पर चीरा लगाने से या स्वयं भीः स्रवित होता है। निर्यास का अधिकतम स्राव प्रायः वर्षा ऋतु के अन्तमें होता है। उस समय संग्रहकर्ता तने पर चीरा लगा देते हैं, और निर्यास का संग्रह चमड़े की थैलियों में करते हैं। संग्रह करने के उपरान्त शुद्ध निर्यास के बड़े-बड़े अश्रुवत् दाने पृथक् कर लिये जाते हैं और यह उत्तम श्रेणी का नमूना होता है। छोटे-छोटे टुकड़े पृथक् बेचे जाते हैं, जो मध्यम कोटि के (*Powdery Dragon's blood*) होते हैं। दोनों प्रकार से जो बचा अवशेष प्राप्त होता है उसको पका कर ढेलेनुमा टुकड़े बना लिये जाते हैं, यह निकृष्ट कोटि का होता है। जंजीबार में ड्राकेना की एक दूसरी जाति (*D. schizantha Baker*) से भी रक्तनिर्यास का संग्रह होता है, और यह जंजीबारी खूनखराबा के नाम से आता है। यह भी हीन कोटि का होता है। कालामुस ड्राको के आरोही स्वरूप के क्षुप होते हैं, जो सुमात्रा, बोर्नियों एवं जावा आदि में प्रचुरता तथा जंगली रूप में पाये जाते हैं। निर्यास का स्राव फलों पर होता है। उत्तम निर्यास वही होता है, जो फलों से खुरच कर प्राप्त किया जाता है। उत्तम निर्यास पृथक् कर लेने के बाद भी फलों को पका कर ढेलेनुमा टुकड़ों में निकृष्ट कोटि की औषधि प्राप्त की जाती है। कालामुस ड्राको के अतिरिक्त अन्य ८-१० जातियों से भी निर्यास प्राप्त किया जाता है।

उपयोगी अंग– रालीय निर्यास (रेजिन *Resin*)।

मात्रा– १ से १.५ ग्राम या १ से १॥ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – उत्तम रक्तनिर्यास या खूनखराबा छोटे-बड़े अश्रुवत् दानों के रूप में होता है, जिनका बाह्य तल मटमैले लालरंग के चूर्ण से धूसरित होता है। इन टुकड़ों को तोड़ने पर टूटा हुआ तल चमकीले लाल रंग का तथा पारभासी होता है। व्यवसायी लोग चूरे को भी अश्रुवत् दानों की तरह बना कर उत्तम नमूने में मिला देते हैं। किन्तु इन नकली दानों को तोड़ने पर टूटा तल नैसर्गिक दानों की भाँति चमकीला नहीं होता। खूनखराबा के ढेलेनुमा या पिण्डाकार टुकड़े निकृष्टतम एवं अग्राह्य होते हैं। यह मटमैले लाल रंग के होते हैं, तथा इनमें छाल, काष्ठ, एवं पत्ती आदि के टुकड़े भी मिले होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – पूर्वी द्वीपसमूह से आने वाला खूनखराबा प्रायः ढेलेनुमा या पिण्डाकार टुकड़ों के रूप में (*Lump Dragon's Blood*) में होता है। इसमें फलों के छोटे टुकड़े तथा शल्कपत्र भी मिले होते हैं, जो स्कोतरी या असली खूनखराबा में नहीं होते। उत्तम गोंद के टुकड़े तोड़ने पर कुछ भुरभुरे किन्तु टूटा तल कभी-कभी सकोतरी की ही भाँति चमकीला होता है। यथा सम्भव सकोतरी गोंद ही औषधीय व्यवहार के लिए उत्कृष्ट होता है। अभाव में इसका भी प्रयोग कर सकते हैं। कुछ लोग भ्रम से युकेलिप्टस आदि से प्राप्त होने वाले (रंग में कुछ साम्यता होने से) निर्यास को भी खूनखराबा के नाम से ग्रहण कर लेते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – खूनखराबा को अच्छी तरह डाटबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संग्रहीत करना चाहिए।

संगठन – सकोतरी खूनखराबा में लोबानाम्ल बेंजोइक एसिड (*Benzoic acid*) एवं सिन्नामिक एसिड (*Cinnamic acid*) पाया जाता है। किन्तु पूर्वीय गोंद में प्रायः इनका अभाव पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–स्तम्भन, व्रणरोपण, रक्तस्तम्भक। यूनानी मतानुसार दम्मुल्अख्वैन तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। बाहरी तौर पर सद्यः व्रणों पर छिड़कने से यह रक्तस्राव को रोकता तथा जख्मों को शीघ्र सुखाता है। आंतरिक उपयोग से अंत्रों पर प्रबल संग्राहक (स्तम्भन) कर्म करता है। अतिसार-प्रवाहिका एवं रक्तपित्त या रक्तस्रावी रोगों में अन्य औषधियों के साथ अथवा एकौषधि के रूप में इसक प्रयोग बहुत उपयोगी है। अहितकर–वृक्क के लिए हानिनिवारक–कतीरा, बबूल का गोंद।

विशेष – इसका प्रयोग प्रायः एकौषधि के रूप में ही किय जाता है।

गंधाविरोजा (श्रीवेष्टक)

नाम। सं०–श्रीवेष्टक, श्रीवास, सरलनिर्यास। हिं०–गंधाविरोजा, बिहरोजा, बिरोजा। पं०–गंधबिरोज। नेपाल–धूप। पहाड़ी–लीसा। अ०–क़िन्नः। फा०–बारज़द, बरेज़द। अं०–दि ओलिओ-रेज़िन ऑफ पाइन (*The Oleo-resin of pine*)। वृक्ष का नाम–सं०–सरल, सुरभिदारुक। हिं०–चीड़, चील, सरल देवदार। बं०–सरल गाछ। पं०–चीड़। नेपाल–धुपसलसी। अल्मोड़ा, गढ़वाल–सला। म०, गु०–तेलिया देवदार। अं०–दि चिड़-पाइन *The Chirpine*,, लौंगलीव्हडपाइन (*Long-leaved pine*)। लै०–पीनुस लांगीफ़ोलिआ (*Pinus longifolia Roxb*)।

वानस्पतिक कुल– सरल-कुल (कोनिफेरी *Coniferae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय के ढलानों पर ४५७.२० मीटर से २१३३.६ मीटर (१,५०० फुट से लेकर ७,००० फुट) की ऊंचाई तक, अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेशों में, कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश (गढ़वाल, कुमाऊँ आदि) भूटान, आसाम और ब्रह्मा पर्यन्त इसके वृक्ष समूहबद्ध रूप में पाये जाते हैं। इनका स्राव बाजारों में गंधाविरोजा नाम से बिकता है।

संक्षिप्त परिचय– चीड़ के वृक्ष प्रायः समूहबद्ध उगते हैं और सीधे काफी ऊंचाई (३०.४ मीटर से ३८.०७ मीटर या १००-१२५ फुट) तक बढ़ते चले जाते हैं, जिससे देखने में बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। पत्तियाँ २२.५ से ३७.५ सें० मी० (९-१५ इंच) लम्बी, सूच्याकार तथा तीन-तीन एक साथ निकली होती हैं, जो आधार पर एक झिल्लीदार कोष से घिरी होती हैं। काण्डत्वक् बाहर से रक्ताभ धूसर तथा अन्दर गहरे लाल रंग की होती है। काष्ठ-भाग (हीर या अन्तःसार) बाहर की ओर पीताभ श्वेत तथा अन्दर रक्ताभ धूसर होता है। वर्षा के प्रारम्भ में पत्तियाँ झड़ जाती हैं तथा वसन्त ऋतु में पुष्पागम और फलागम दूसरे वर्ष में। इसके काण्ड पर चीरा

लगाने से (कभी स्वयं भी) एक गाढ़ा स्राव निकलता है, जिसमें तारपीन के तेल-जैसी खुशबू आती है। परिस्रवण द्वारा तारपीन का तेल निकाल लिया जाता है। शेष भाग गंधाविरोजा होता है, जो पीपों में भर कर बाजारों में भेजा जाता है। इसका उपयोग मलहम, प्लास्टर आदि बनाने के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त औषधि में चीड़ की लकड़ी (सरल काष्ठ या बुरादा) तथा गंधा-विरोजे के तेल (तारपीन का तेल—सरल तैल का) भी व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग — निर्यास (ओलिओ–रेजिन), काष्ठ एवं तेल।

मात्रा — गंधाविरोजा या निर्यास— ½ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा — गंधाविरोजा मटमैले सफेद या पीलापन लिये सफेद रंग का चिपचिपा मुलायम घन होता है, जिसमें तारपीन से भी उग्र एवं मनोरम सुगंधि होती है। बाजारू नमूने में संग्रह के समय प्रयुक्त पत्तियों के टुकड़े भी मिले होते हैं। बाजार में विरोजा गीला और सूखा दो प्रकार का मिलता है। यह दोनों ही प्रकार औषध में काम आते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण— सरल निर्यास का संग्रह प्रायः फरवरी से जून तक किया जाता है। व्यावसायिक रूपसे संग्रह करने के लिए प्रायः पेड़ों में जमीन से ०.९१ मीटर (३ फुट) की ऊंचाई पर क्षत कर दिया जाता है। इसी से निर्यास स्रवित होकर कटोरे नुमा पात्र में जमा होता रहता है। कुछ समय के बाद क्षत को पुनः-पुनः नवीन करते रहते हैं। स्राव अपने आप भी निकलता (*Natural exudation*) है। चीरा लगा कर स्राव इकट्ठा करने में कुछ वर्षो के बाद पेड़ नष्ट हो जाता है। आजकल निर्यास एकत्रित करने का कार्य वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा किया जाता है, जिसमें क्षत भी अधिक नहीं करना पड़ता और वृक्ष भी अल्पायु नहीं होने पाते। विरोजे को अच्छी तरह मुखबंद डब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन — सरल निर्यास से परिस्रवण द्वारा २०% तक तारपीन का तेल तथा ८०% विरोजा प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि—अच्छी तरह संरक्षण करने पर दीर्घ काल तक।

स्वभाव — गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। रस—कटु, तिक्त, मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। प्रधान कर्म—श्वयथुविलयन, जन्तुघ्न, पूतिहर, व्रणशोधन रक्तरोधक, मत्रजनन, मस्तिष्क तथा नाड़ी-उत्तेजक, कफनिस्सारक, श्लेष्मपूतिहर, त्वग्दोषहर, गर्भाशयशोथहर है। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है। अहितकर-उष्ण प्रकृति को। निवारण—रोग़न बनफशा और कपूर। विषाक्त प्रभाव—मात्रातियाग से वमन, अतिसार, अवसाद, नाड़ीमन्दता, मूत्रदाह, मूत्ररक्तता आदि कुप्रभाव तथा मस्तिष्कगत प्रभाव के कारण तन्द्रा, संज्ञानाश आदि लक्षण भी हो सकते हैं। विशेष — चरकोक्त (सू० अ० ४) पुरीषविरजनीय गण एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में श्रीवेष्टक (गंधाविरोजा) भी है।

मुख्य योग — गंधाविरोजा व्रण-शोधन, रोपण प्रलेपों एवं मलहमों में पड़ता है।

विशेष — व्रणशोधन एवं श्वयथुविलयन के लिए प्रयुक्त मलहम, प्रलेप (प्लास्टर) आदि के निर्माण के लिए विरोजा अत्यन्त उपयोगी आधार द्रव्य है। इसका उपयोग पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त 'कोलोफनी *Colophony* या रेजिन *Resin*' की भाँति किया जा सकता है।

आभ्यन्तर प्रयोग के लिए इसको शुद्ध कर के व्यवहृत करना चाहिए। इसी को सतविरोजा कहते हैं। इसकी विधि यह है :—एक हांडी या देगची में पानी (अथवा दूध-पानी बराबर-बराबर) भर कर, उसके मुँह पर कपड़ा बाँध दें। उसपर विरोजा रखें। पात्र के नीचे अग्नि जलायें। बाष्प की उष्णता से विहरोजा पिघल कर नीचे द्रव में चला जायगा और तृणादि मल कपड़े पर रह जायेंगे। चाहें तो इसी प्रक्रिया को १-२ बार और दुहरावें। इस प्रकार प्राप्त शुद्ध विरोजा को सुखा कर काम में लावें।

गंभार (गम्भारी)

नाम। सं०—काश्मरी, गम्भारी, श्रीपर्णी। हिं०—गँभार, खम्हारि, गम्हार, गम्हारी। को०, संथा०—कासमर। उड़ि०—कुमार। पं०—गंभारी। बं०—गाभार। म०—शिवण। गु०—शीवण, सवन। मल०—कुम्बिल (*Kumbil*), कुम्पिल (*Kumpil*)। ता०—कुम्पिल (*Kumpil*), पेरुङ्गुम्पिल (*Perungumpil*)। केरल—कुमिल (*Kumil*), कुमिर (*Kumir*)। ले०—मेलीना आर्बोरिआ (*Gmelina arborea Linn.*)।

वानस्पतिक-कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बेनासी *Verbenaceae*)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – उत्तम रक्तनिर्यास या खूनखरावा छोटे-बड़े अश्रुवत् दानों के रूप में होता है, जिनका वाह्य तल मटमैले लालरंग के चूर्ण से धूसरित होता है। इन टुकड़ों को तोड़ने पर टूटा हुआ तल चमकीले लाल रंग का तथा पारभासी होता है। व्यवसायी लोग चूरे को भी अश्रुवत् दानों की तरह बना कर उत्तम नमूने में मिला देते हैं। किन्तु इन नकली दानों को तोड़ने पर टूटा तल नैसर्गिक दानों की भाँति चमकीला नहीं होता। खूनखरावा के ढेलेनुमा या पिण्डाकार टुकड़े निकृष्टतम एवं अग्राह्य होते हैं। यह मटमैले लाल रंग के होते हैं, तथा इनमें छाल, काष्ठ, एवं पत्ती आदि के टुकड़े भी मिले होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – पूर्वी द्वीपसमूह से आने वाला खूनखरावा प्रायः ढेलेनुमा या पिण्डाकार टुकड़ों के रूप में (*Lump Dragon's Blood*) में होता है। इसमें फलों के छोटे टुकड़े तथा शल्कपत्र भी मिले होते हैं, जो स्कोतरी या असली खूनखरावा में नहीं होते। उत्तम गोंद के टुकड़े तोड़ने पर कुछ भुरभुरे किन्तु टूटा तल कभी-कभी सकोतरी की ही भाँति चमकीला होता है। यथा सम्भव सकोतरी गोंद ही औषधीय व्यवहार के लिए उत्कृष्ट होता है। अभाव में इसका भी प्रयोग कर सकते हैं। कुछ लोग भ्रम से युकेलिप्टस आदि से प्राप्त होने वाले (रंग में कुछ साम्यता होने से) निर्यास को भी खूनखरावा के नाम से ग्रहण कर लेते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – खूनखरावा को अच्छी तरह डाटवन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संग्रहीत करना चाहिए।

संगठन – सकोतरी खूनखरावा में लोवानाम्ल वेंजोइक एसिड (*Benzoic acid*) एवं सिन्नामिक एसिड (*Cinnamic acid*) पाया जाता है। किन्तु पूर्वीय गोंद में प्रायः इनका अभाव पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कपाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–स्तम्भन, व्रणरोपण, रक्त-स्तम्भक। यूनानी मतानुसार दम्मुल्अख्वैन तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। वाहरी तौर पर सद्यः व्रणों पर छिड़कने से यह रक्तस्राव को रोकता तथा जख्मों को शीघ्र सुखाता है। आंतरिक उपयोग से अंत्रों पर प्रवल संग्राहक (स्तम्भन) कर्म करता है। अतिसार-प्रवाहिका एवं रक्तपित्त या रक्तस्रावी रोगों में अन्य औषधियों के साथ अथवा एकौषधि के रूप में इसका प्रयोग वहुत उपयोगी है। अहितकर–वृक्क के लिए। हानिनिवारक–कतीरा, बवूल का गोंद।

विशेष – इसका प्रयोग प्रायः एकौषधि के रूप में ही किया जाता है।

गंधाविरोजा (श्रीवेष्टक)

नाम। सं०–श्रीवेष्टक, श्रीवास, सरलनिर्यास। हिं०–गंधाविरोजा, विहरोजा, विरोजा। पं०–गंधविरोज। नेपाल–धूप। पहाड़ी–लीसा। अ०–क़िन्नः। फा०–वारज़द, वरेज़द। अं०–दि ओलिओ-रेज़िन ऑफ पाइन (*The Oleo-resin of pine*)। वृक्ष का नाम–सं०–सरल, सुरभिदारुक। हिं०–चीड़, चील, सरल देवदार। वं०–सरल गाछ। पं०–चीड़। नेपाल–धुपसलसी। अल्मोड़ा, गढ़वाल–सला। म०, गु०–तेलिया देवदार। अं०–दि चिड़-पाइन *The Chirpine*,, लौंगली व्हुडपाइन (*Long-leaved pine*)। ले०–पीनुस लांगीफ़ोलिआ (*Pinus longifolia Roxb*)।

वानस्पतिक कुल– सरल-कुल (कोनिफेरी *Coniferae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय के ढलानों पर ४५७.२० मीटर से २१३३.६ मीटर (१,५०० फुट से लेकर ७,००० फुट) की ऊंचाई तक, अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेशों में, कश्मीर, पंजाव, उत्तर प्रदेश (गढ़वाल, कुमाऊँ आदि) भूटान, आसाम और व्रह्मा पर्यन्त इसके वृक्ष समूहवद्ध रूप में पाये जाते हैं। इनका स्राव वाजारों में गंधाविरोजा नाम से विकता है।

संक्षिप्त परिचय– चीड़ के वृक्ष प्रायः समूहवद्ध उगते हैं और सीधे काफी ऊंचाई (३०.४ मीटर से ३८.०७ मीटर या १००-१२५ फुट) तक बढ़ते चले जाते हैं, जिससे देखने में वहुत सुन्दर मालूम होते हैं। पत्तियाँ २२.५ से ३७.५ सें० मी० (६-१५ इंच) लम्बी, सूच्याकार तथा तीन-तीन एक साथ निकली होती हैं, जो आधार पर एक झिल्लीदार कोप से घिरी होती हैं। काण्डत्वक् वाहर से रक्ताभ धूसर तथा अन्दर गहरे लाल रंग की होती है। काष्ठ-भाग (हीर या अन्तःसार) वाहर की ओर पीताभ श्वेत तथा अन्दर रक्ताभ धूसर होता है। वर्षा के प्रारम्भ में पत्तियाँ झड़ जाती हैं तथा वसन्त ऋतु में पुष्पागम और फलागम दूसरे वर्ष में। इसके काण्ड पर चीरा

लगाने से (कभी स्वयं भी) एक गाढ़ा स्राव निकलता है, जिसमें तारपीन के तेल-जैसी खुशबू आती है। परिस्रवण द्वारा तारपीन का तेल निकाल लिया जाता है। शेष भाग गंधाविरोजा होता है, जो पीपों में भर कर बाजारों में भेजा जाता है। इसका उपयोग मलहम, प्लास्टर आदि बनाने के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त औषधि में चीड़ की लकड़ी (सरल काष्ठ या बुरादा) तथा गंधाविरोजे के तेल (तारपीन का तेल–सरल तैल का) भी व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – निर्यास (ओलिओ-रेजिन), काष्ठ एवं तेल।

मात्रा – गंधाविरोजा या निर्यास– ½ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गंधाविरोजा मटमैले सफेद या पीलापन लिये सफेद रंग का चिपचिपा मुलायम घन होता है, जिसमें तारपीन से भी उग्र एवं मनोरम सुगंधि होती है। बाजारू नमूने में संग्रह के समय प्रयुक्त पत्तियों के टुकड़े भी मिले होते हैं। बाजार में विरोजा गीला और सूखा दो प्रकार का मिलता है। यह दोनों ही प्रकार औषध में काम आते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण– सरल निर्यास का संग्रह प्रायः फरवरी से जून तक किया जाता है। व्यांवसायिक रूपसे संग्रह करने के लिए प्रायः पेड़ों में जमीन से ०.६१ मीटर (२ फुट) की ऊंचाई पर क्षत कर दिया जाता है। इसी से निर्यास स्रवित होकर कटोरे नुमा पात्र में जमा होता रहता है। कुछ समय के बाद क्षत को पुनः-पुनः नवीन करते रहते हैं। स्राव अपने आप भी निकलता (*Natural exudation*) है। चीरा लगा कर स्राव इकट्ठा करने में कुछ वर्षो के बाद पेड़ नष्ट हो जाता है। आजकल निर्यास एकत्रित करने का कार्य वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा किया जाता है, जिसमें क्षत भी अधिक नहीं करना पड़ता और वृक्ष भी अल्पायु नहीं होने पाते। विरोजे को अच्छी तरह मुखबंद डब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – सरल निर्यास से परिस्रवण द्वारा २०% तक तारपीन का तेल तथा ८०% विरोजा प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि–अच्छी तरह संरक्षण करने पर दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। रस–कटु, तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–श्वयथुविलयन, जन्तुघ्न, पूतिहर, व्रणशोधन रक्तरोधक, मत्रजनन, मस्तिष्क तथा नाड़ी-उत्तेजक, कफनिस्सारक, श्लेष्मपूतिहर, त्वग्दोषहर, गर्भाशयशोथहर है। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है। अहितकर-उष्ण प्रकृति को। निवारण–रोग़न बनफशा और कपूर। विषाक्त प्रभाव–मात्रातियोग से वमन, अतिसार, अवसाद, नाड़ीमन्दता, मूत्रदाह, मूत्ररक्तता आदि कुप्रभाव तथा मस्तिष्कगत प्रभाव के कारण तन्द्रा, संज्ञानाश आदि लक्षण भी हो सकते हैं। विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) पुरीषविरजनीय गण एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में श्रीवेष्टक (गंधाविरोजा) भी है।

मुख्य योग – गंधाविरोजा व्रण-शोधन, रोपण प्रलेपों एवं मलहमों में पड़ता है।

विशेष – व्रणशोधन एवं श्वयथुविलयन के लिए प्रयुक्त मलहम, प्रलेप (प्लास्टर) आदि के निर्माण के लिए विरोजा अत्यन्त उपयोगी आधार द्रव्य है। इसका उपयोग पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त 'कोलोफनी *Colophony* या रेजिन *Resin*' की भाँति किया जा सकता है।

आभ्यन्तर प्रयोग के लिए इसको शुद्ध कर के व्यवहृत करना चाहिए। इसी को सतविरोजा कहते हैं। इसकी विधि यह है :—एक हांडी या देगची में पानी (अथवा दूध-पानी बराबर-बराबर) भर कर, उसके मुँह पर कपड़ा बाँध दें। उसपर विरोजा रखें। पात्र के नीचे अग्नि जलायें। वाष्प की उष्णता से विहरोजा पिघल कर नीचे द्रव में चला जायगा और तृणादि मल कपड़े पर रह जायेंगे। चाहें तो इसी प्रक्रिया को १-२ बार और दुहरावें। इस प्रकार प्राप्त शुद्ध विरोजा को सुखा कर काम में लावें।

गंभार (गम्भारी)

नाम। सं०–काश्मरी, गम्भारी, श्रीपर्णी। हिं०–गँभार, खम्हारि, गम्हार, गम्हारी। को०, संथा०–कासमर। उड़ि०–कुमार। पं०–गंभारी। बं०–गाभार। म०–शिवण। गु०–शीवण, सवन। मल०–कुम्बिल (*Kumbil*), कुम्पिल (*Kumpil*)। ता०–कुम्पिल (*Kumpil*), पेरुङ्गुम्पिल (*Perungumpil*)। केरल–कुमिल (*Kumil*), कुमिर (*Kumir*)। ले०–मेलीना आर्बोरेआ (*Gmelina arborea Linn.*)।

वानस्पतिक-कुल–निर्गुण्डी-कुल (वर्बेनासी *Verbenaceae*)।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष, विशेषतः दक्षिण भारत, उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि। इसका मूलत्वक् दशमूल का उपादान होने के कारण बाजारों में बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – गम्भार के वृक्ष बड़े १२.१८ मी० से १८.२८ मी० (४०-६० फुट तक) या मध्यम ऊंचाई के होते हैं, जिसकी टहनियाँ श्वेताभ एवं रोमश और पत्तियाँ १० सें० मी० से २२.५ सें० मी० या ४-९ इंच लम्बी, ६.२५ से २० सें० मी० या २॥-८ इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में चौड़ी लट्वाकार, प्रायः हृद्वत् (*Cordate*), लम्वाग्र, अधस्तल पर प्रायः क्षोदलिप्त, सवृन्त (वृन्त ५ से १५ सें० मी० या २-६ इंच लम्बे), प्रायः अभिमुख किन्तु एक संधि की दोनों पत्तियाँ कुछ छोटी-बड़ी होती हैं। पुष्प प्रायः नयी पत्तियों के साथ या कुछ पहिले ही निकलते हैं, जो व्यास में २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१॥ इंच तथा ७.५ से २० सें० मी० या ३-८ इंच लम्बी सगुच्छ अग्र्यमञ्जरियों (*A terminal panicle with opposite decussate cymose branches*) में स्थित होते हैं। वाह्य कोश १/२ सें० मी० या १/५ इंच लम्वा होता है। आभ्यन्तर कोश (*Corolla*) २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१॥ इंच लम्वा, भूरापन लिये पीले रंग का, तिर्यक् – द्वि-ओष्ठीय तथा वाह्य तल पर सघन मृदुरोमावृत (*densely scft-tomentose*) होता है। ऊर्ध्वोष्ठ प्रायः दो खण्डों से युक्त तथा अधरोष्ठ तीन खण्डों वाला; पुंकेशर संख्या में ४, जिनमें २ छोटे तथा २ बड़े (*Didynanamous*); अण्डाशय (*Ovary*) ४ कोष्ठोंवाला, प्रत्येक में १-१ वीजाण्ड या ओव्यूल (*Ovule*), कुक्षिवृन्त (*Style*) कोमल, द्विधा विभक्त (*Unequally bifid*); फल अष्ठिल (*Drupe*) १५/८ से ५/२ सें० मी० या ३/४ से १ इंच लम्वा, रूपरेखा में अंडाकार या आयताकार, पकने पर पीला तथा स्वाद में मधुर-कषाय, फलभित्ति (*Pericarp*) चर्मिल (*Leathery*), चिकना, चमकदार एवं पके फलों में पीले रंग की, अन्तर्भित्ति अश्मसदृश कठोर (*Bony*), जिसके चारों ओर हल्का तीतापन तथा कसैलापन लिये मधुर गूदा लिप्त होता है। वीज १ से ३ तक, १/२ से ३/४ सें० मी० या १/५ से ३/१० इंच लम्बे तथा रूपरेखा में अर्धचन्द्राकार (*Lenticular*) होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प एवं ग्रीष्म में फ़ल आते हैं।

उपयोगी अंग – मूलत्वक् (कहीं-कहीं पूरी जड़), फूल।

मात्रा – फलस्वरस–१ से २ तोला।

मूल, फलक्वाथ–२ से ४ तोला।

पुष्पचूर्ण–३ ग्राम से १२ ग्राम ३ माशा से १२ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गम्भारी की जड़ बाहर से हल्के भूरे रंग की होती है, किन्तु अन्दर का काष्ठीय भाग पीताभ वर्ण का होता है। यह अपेक्षाकृत हल्की एवं चिमड़ी, स्वाद में तिक्त एवं लवावी होती है। इसको जलाने पर भस्म १४.११% तक प्राप्त होती है। जल में विलेय सत्व १९.५%। ऐल्कोहल् में विलेय सत्व ४.२५%। ईथर में विलेय सत्व ०.२१%। पेट्रोलियम् एवं ईथर में विलेय सत्व १.८% होता है।

गम्भारी के ताजे जड़ की छाल अपेक्षाकृत मोटी (५/८ से ५/४ सें० मी० या १/४ से १/२ इंच तक–किन्तु जड़ की मोटाई के अनुसार छाल की मोटाई में भी न्यूनाधिक्य पाया जाता है) तथा केन्द्रस्थ काष्ठीय भाग से आसानी से पृथक् हो जाती है। वाह्य त्वक् (*Rind or outerbark*) मटमैले खाकस्तरी-सफेद (*Dull greyish white*) रंग की अथवा खाकस्तरी भूरे रंग की होती है। यह किंचित् कड़ी, भंगुर एवं कागजी पर्तवत् (*Crustaceous*) होती है तथा इसमें कोई विशेष गंध या स्वाद नहीं पाया जाता। छाल का मध्यस्थ एवं अन्तर्भाग ही औषधीय प्रयोग के उपयुक्त होता है। ताजी छाल में यह अपेक्षाकृत मोटी, मुलायम, रसदार एवं रेशारहित होती है। स्वाद में यह प्रारम्भ में मिठास लिये लुआवी किन्तु अन्ततः तिक्त होती है। सूखने पर छाल में तिक्तता अपेक्षाकृत और भी कम हो जाती है तथा एक अत्यंत धीमी हल्की सुगंधि-सी भी कभी-कभी पायी जाती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – मेलीना आर्वोरिआ के कई भेद भी जगह-जगह पाये जाते हैं। इनका संग्रह गम्भारी के स्थान में किया जाता है। गम्भारी की एक दूसरी जाति (मेलीना आशिआटिका *Gmelina asiatic Linn.*) भी दक्षिण भारत, मद्रास, आन्ध्र, केरल आदि में इसके वृक्ष विशेष रूप से पाये जाते हैं। केरल प्रान्त में इसके मूल का भी व्यवहार मेलीना आर्वोरिआ की भाँति ही किया जाता है। मलयालम् में इसे कुमिज़ (*Kumiz*) या नील कुमिज़ तथा तामिल में नील मुकिज कहते हैं। कहीं-कहीं प्रेम्ना फ्लावेसेन्स (*Premna flavescens*) नामक अन्य वृक्ष के लिए

अरिया कासमर या बूढ़ी कासमर नामों का व्यवहार होता है। इसके पत्ते गम्भारी के पत्तों से कुछ मिलते-जुलते हैं, तथा इनमें एक मन्द प्रिय गंध होती है। किन्तु इन दोनों में भ्रम नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फल एवं मूलत्वक् को शुष्ककर मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – जड़ में एक पीत वर्ण का गाढ़ा तेल (*Yellow viscid oil*), राल, अल्प मात्रा में एक ऐल्केलॉइड तथा बेंजोइक एसिड एवं फल में ब्युटिरिक एसिड (*Butyric acid*), अल्पत: टारटेरिक एसिड, एक क्षार तत्त्व, रालीय तत्त्व, कषाय द्रव्य एवं शर्करा (*Saccharine matter*) आदि पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – कुछ महीनों से १ वर्ष तक।

स्वभाव। गुण–गुरु। रस–तिक्त, कषाय, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण (फल–शीतवीर्य होता है)। प्रधान कर्म–त्रिदोषशामक; फल–तृष्णाशामक, दीपन, अनुलोमक, हृद्य, रक्तपित्तशामक, सन्धानीय, बल्य, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, दाहप्रशमन। छाल–शोथहर, कटुपौष्टिक, ज्वरघ्न, रसायन, विषघ्न। पत्तियाँ—शीतल, स्नेहन, मूत्रल।

मुख्य योग – बृहत् पंचमूल, दशमूल, श्रीपर्णी तैल, श्रीपर्ण्यादि क्वाथ।

विशेष – चरकोक्त (च० सू० अ० ४) विरेचनोपग (काश्मरी-फलं), दाहप्रशमन (काश्मर्यफलं) तथा शोथहर महा-कषायों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) महत्-पञ्चमूल एवं सारिवादि गण के द्रव्यों में काश्मरी (गम्भारी) भी है।

गनियारी—दे०, 'अग्निमन्थ'।

गन्धप्रसारिणी—दे०, 'प्रसारिणी'।

गजपीपल (गजपिप्पली)

नाम। सं०–गजपिप्पली। हिं०–गजपीपल, गजपीपर, हाथी-पीपर, चवका फल। ले०–पीपेर चाबा *Piper chaba Hunter*। लेटिन नाम इसकी लताका है।

वानस्पतिक कुल–पिप्पली-कुल (पीपेरासे : *Piperaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पीपेर चाबा मलाया द्वीप पुञ्ज की लता है। भारतवर्ष में जंगली रूप से तो नहीं पायी जाती; किन्तु बंगाल, कूच विहार में कहीं-कहीं लगायी जाती है। इसकी फलियाँ पिप्पली की भाँति किन्तु उसकी अपेक्षा बड़ी और मोटी होती हैं। वास्तव में, गजपिप्पली के नाम से इन्हीं का व्यवहार होना चाहिए। भारतवर्ष में इनका आयात मलाया एवं सिंगापुर से होता है। भारतीय बाजारों में अन्य ओषधियाँ भी गजपिप्पली के नाम से बेची जाती हैं।

संक्षिप्त परिचय – पीपेर चाबा की मूलारोहिणी लताएँ होती हैं, जिनका काण्ड मोटा, अनेक नालियों एवं २० पर्शुकाओं वाला, गुल्मकीय और चिकना होता है, और उससे मूल निकल कर आश्रय से चिपके रहते हैं। पत्तियाँ आयताकार या प्रासवत्–आयताकार (नीचे की लट्वाकार प्रासवत् भी), अग्र नोकदार और फलक-मूल प्राय: तिरछा होता है। फलियाँ (*Aments*), २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बी और व्यास में १.२५ सें० मी० या ½ इंच तक होती हैं। यह मूल में सबसे अधिक मोटी और शीर्ष पर कुण्ठिताग्र होती हैं। उक्त फलियाँ ही औषधीय गजपिप्पली हैं।

मात्रा – ½ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गजपिप्पली की फलियाँ २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच तक लम्बी, रूपरेखा में बेलनाकार, व्यास में १.२५ सें० मी० या ½ इंच तक, मूल में सबसे अधिक मोटी तथा शीर्ष पर कुण्ठिताग्र होती हैं। मूल में एक पतला वृन्त या डंठल (*Stalk*) लगा होता है, जो १.२५ सें० मी० या आधा इंच तक लम्बा होता है। फलियों की रचना वास्तव में असंख्य सूक्ष्म मांसल फलों (*Minute baccate fruits or berries*) से होती है, जो बाजरे की बाली की भाँति सघन स्थित होते हैं। उक्त दाने (कण) लम्बगोल, ⅛ सें० मी० या $\frac{1}{20}$ इंच तक लम्बे होते हैं, जिनके शीर्ष पर बिन्दुवत् कुक्षि अवशेष होता है। बाजार में जो फलियाँ मिलती हैं, वह खाकस्तरी-सफेद (*Greyish-white*) होती हैं। इनको जल से धोने पर दाने लालिमा लिये भूरे रंग के मालूम पड़ते हैं। इनमें एक हल्की विशिष्ट प्रकार की सुगंधि होती है तथा मुख में चाबने पर सुगन्धित एवं चरपरी मालूम होती हैं, और जिह्वा पर कुछ जलन-सी मालूम होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – गजपिप्पली के नाम से वास्तव में उक्त बड़ी पिप्पली का ही व्यवहार होना चाहिए। किन्तु बाजारों में अन्य वनस्पतियों की फलियाँ या पुष्पव्यूह गजपिप्पली के नाम से बेचे जाते हैं :–

(१) सींडाप्सुस ऑफ़ीसिनालिस *Scindapsus officinalis*

Schott. (*Family* : *Araceāe*)) । नाम । देहरादून–पोरियावेल । संथाल–घरेझपक । हो०–जनपा । राँची–हाथीपीपर । इसकी वृक्षोपरिरोही या एपीफाइट (*Epiphytic*) मोटी, मांसल आरोही लताएँ वृक्षों तथा कभी-कभी चट्टानों पर फैली रहती हैं और असंख्य काण्डोद्भव मूलों द्वारा आश्रय से चिपकी रहती हैं । पत्तियाँ बहुत बड़ी १२.५ से २५ सें० मी० (५-१० इंच) लम्बी, ७.५ से १५ सें० मी० या ३–६ इंच चौड़ी, लट्वाकार या कुछ-कुछ अण्डाकार भी, सरल धार तथा पुच्छाकार लम्बे नोक वाली होती हैं । वृन्त (*Petiole*) सपक्ष एवं कोषाकार होता है । मध्य शिरा के दोनों ओर के भाग आधार के पास छोटे बड़े होते हैं । पुष्प-व्यूह बाली के समान तथा स्थूल मंजरी या स्पैडिक्स (*Spadix*) और हरे कोपाकार पत्र या पृथुपर्ण अर्थात् स्पेथ (*Spathe*) द्वारा ढंका रहता है । सम्पूर्ण व्यूह पत्रावरण के गिरजाने पर १५ सें० मी० से २२.५ सें० मी० (६-९ इंच) लम्बे फल में बदल जाता है, जो आकार में पिप्पली की तरह किन्तु उसकी अपेक्षा बहुत बड़े और व्यास में भी बहुत मोटे होते हैं । इसके स्वतंत्र दाने एक दूसरे से सटे हुए किन्तु अलग-अलग रहते हैं । उक्त फलियाँ ही भ्रमवश बाजारों में गजपिप्पली के नाम से वेची जाती हैं । (२) कहीं-कहीं बाजारों में ताड़ का शुष्क पुष्पव्यूह भी गजपिप्पली के नाम से वेचा जाता है ।

संग्रह एवं संरक्षण – गजपिप्पली को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए ।

संगठन – गजपिप्पली में प्रायः वही सब तत्त्व पाये जाते हैं, जो काली मिर्च में होते हैं ।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । रस–कटु । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । कर्म–कफवातशामक, पित्तकारक, लालास्रावजनक, दीपन–पाचन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन (तथा गुल्म, आनाहहर), कफघ्न, श्वास-कासहर, कण्ठ्य, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, नाड़ीवल्य आदि ।

गावज़वाँ (गोजिह्वा)

नाम । हिं०, भारतीय बाजार, फा०–गावज़वान । अ०–लिसानुस्सौर । सं०–गोजिह्वा ? (वृषजिह्वा) । ले०–काक्सीनिआ ग्लाउका (*Caccinia glauca Savi*) । लेटिन नाम इसकी वनस्पतिका है ।

वानस्पतिक कुल – श्लेष्मांतक-कुल (वोराजिनासे : *Boraginaceāe*) ।

प्राप्तिस्थान – फारस तथा विलोचिस्तान । भारतवर्ष में गाज़वान का आयात मुख्यतः फारस से होता है । इसके पत्र 'वर्ग गावजवान' तथा फूल पृथक् 'गुले गावज़-वान' के नाम से विकते हैं ।

उपयोगी अंग – पत्र (वर्गगाजवाँ) तथा फूल (गुले गाव-जवाँ) एवं पंचाङ्ग तथा वीज ।

मात्रा – पत्र–५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा । पुष्प–३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गाजवाँ के क्षुप कोमलकाण्डीय बहु-वर्षायु होते हैं, जिसके प्रकन्द (भौमिक काण्ड) या राइज़ोम श्यामाभ कड़े (*black woody rhizomes*) तथा व्यास में २.५ से ५ सें. मी० (१-२ इंच) तक होते हैं, जिसका ऊपरी सिरा मुण्डवत् कुण्ठित होता है, जिससे अनेक कोणाकार काण्ड निकले होते हैं । काण्ड पर सर्वत्र कड़े, सफेद विन्दु (*Calcareous tubercles armed with stiff white, calcareous bristles*) छिटके रहते हैं । पत्तियाँ काफी मोटी और मांसल तथा सवृन्त होती हैं । रूपरेखा में यह लट्वाकार–लम्बाग्र तथा पत्र-तट सरल एवं लहरदार होता है । बड़ी से बड़ी पत्ती २० सें० मी० या ८ इंच तक लम्बी तथा ११.२५ सें० मी० या ४½ इंच तक चौड़ी होती है । परन्तु काण्डीय पत्र सामान्यतः अधः भाग में ११.२५ × ५ सें० मी० (४½ इंच × २ इंच) किन्तु उत्तरोत्तर छोटी होकर २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बी होती हैं । पत्तियों के दोनों तलों पर काण्ड की ही भाँति सफ़ेद कड़े विन्दुवत् उत्सेध छिटके रहते हैं, जिससे स्पर्श में यह कर्कश होती हैं । जल में भिगोने पर इनमें लुआब निकलता है । रूपरेखा एवं स्पर्श की अनुरूपता के ही कारण इन्हें गावज़वान कहते हैं । गुले गाजवाँ या गाजवाँ के ताजे फूल गाढ़े नीले रंग के होते हैं; सूखने पर कुछ समय के वाद यह फीके या गुलावी रंग के हो जाते हैं । पुष्प गुच्छों में लगते हैं और पुष्प मुण्डकों पर भी तीक्ष्णाग्र श्वेत लोम होते हैं । सहपत्र (*Bracts*) मालाकार या रेखाकार मालाकार तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं । पुष्पवाहक दण्ड पर भी काण्ड एवं पत्रवत् छोटे-छोटे सफ़ेद विन्दु पाये जाते

हैं। पुष्प-वाह्यकोष (*Calyx*) लगभग १.२.५ सें० मी० या ½ इंच लम्बा तथा ५-खण्डों वाला होता है। खण्ड (*Segments*) रेखाकार-मालाकार तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। आभ्यन्तर कोष (*Corolla*) फनेल के आकार का, ३.७५ सें० मी० या १½ इंच लम्बा तथा १.२५ सें० मी० या ½ इंच चौड़ा (कण्ठ के पास), द्वि-ओष्ठीय (*Bilabiate*) जिनमें ऊपर के ओठ में दो खण्ड तथा अपेक्षाकृत वड़े और अवरोष्ठ में तीन खण्ड होते हैं। पुंकेशर संख्या में ५। फल (*Nuts*) ५/८ सें० मी० से ३५/३२ सें० मी० या १/४ से ५/१६ इंच लम्बे होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – यहाँ पर भी इस कुल की अन्य वनस्पतियाँ पायी जाती हैं, जिनका प्रयोग कहीं-कहीं गावजवान के नाम से होता है:—(१) ओनोस्मा ब्राक्टेआटुम *Onosma bracteatum Wall.* (*Family : Boraginaceae*) के पौधे हिमालय प्रदेश में कश्मीर से कुमायूं तक ३०४६ मीटर से ३३५१ मीटर (१०–११ हजार फुट) की ऊंचाई पर पाये जाते हैं। इसके गुण कर्म भी कुछ-कुछ गाजवाँ-जैसे होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – गाजवाँपत्र एवं पुष्पों को मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल, एवं अँधेरे स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – पत्तियों में काफी मात्रा में पिच्छिल द्रव्य पाया जाता है। भस्म में सिलिका, कैलसियम, पोटास, सोडा, मैगनीसियम् के लवण होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण—लघु, स्निग्ध। रस—मधुर, तिक्त। विपाक—मधुर। वीर्य—शीत। कर्म—वातपित्तशामक, ज्वरघ्न, कफनि:सारक, श्लेष्महर, वल्य, रक्तशोधक, अनुलोमन आदि। यूनानी मतानुसार—ताजा गावजवाँ पहले दर्जे में गरम और तर और शुष्क गाजवाँ खुश्की लिये गरम होता है। गावजवान सौमनस्यजनन, सारक, हृद्य, उत्तमांगों को वलप्रद और श्लेष्मनि:सारक होता है। गावजवान और गावजवान का फूल मालिन्खोलिया, उन्माद, सौदावी हृत्स्पंदन-जैसी व्याधियों में सौमनस्य जनन और हृदय को वल देने के लिए उपयोग किये जाते हैं। अकेला या उपयुक्त अन्य औषधियों के साथ साथ गावजवान क्वाथ शीतलप्रसेक, प्रतिश्याम, कास, श्वास, गलेकी खराश निवारणार्थ पिलाया जाता है।

मुख्य योग – खमीरा गावजवान, अर्कगावजवान, गोजिह्वादि क्वाथ (वनफशादि क्वाथ)।

गिरिपर्पट—दे०, 'पर्पट'।

गुंजा (घुंघची)

नाम। सं०–गुञ्जा, रक्तिका, काकणन्ती, काम्बोजी। हि०–घुंगची, घूची, घुमची, गूंच, करजनी, रत्ती, चिरमिटी, गुंची, चुं(चां)टली। बं०–कुंचा। म०–गुंज। गु०–चणोठी। मा०–चिरमी, चिर्मिटी। सिंध–रत्युं। पं०–रत्ती, लालड़ी। ते०–गुरिगिज। का०–गुलगंजि। मल०–कुंची। फा०–सुर्ख, चश्मखरोश। अं०–इंडियन या वाइल्ड लिकरिस (*Indian or Wild Liquorice*), जेक्विरिटी (*Jequirity*)। ले०–आब्रुस प्रेकाटोरिउस (*Abrus precatorius Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (*Leguminosae : Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष, लंका तथा श्याम आदि में इसकी स्वयंजात लतायें पायी जाती हैं।

संक्षिप्त परिचय – आरोही लता जिसके काण्ड काष्ठमय (*Climber with woody stem*); पत्तियाँ युग्मपक्षाकार (*Paripinnate*) प्राय: ५ से ७.५ सें० मी० या २ से ३ इंच तक लम्बी, २० से ४० जोड़े पत्रकों से युक्त होती हैं। आपततः यह इमली के पत्तों-जैसी मालम पड़ती हैं। पुष्प सफेद या हल्के लाल रंग के सघन सवृन्तकाण्डज गुच्छों में (*dense pedunculate racemes*) निकले होते हैं। पुष्पवाहक दण्डपर भी कभी-कभी पत्र पाये जाते हैं। वर्षा का प्रथम पानी पड़ते ही पुरानी जड़ से अभिनव लता उत्पन्न होती है। शरत् काल में फूलती और शरत् के अन्त में शिम्वी पकती है। फलियाँ ((*Pods*), २.५ से ४.२५ सें० मी० या १ से १.७ इंच लम्बी, १० मि० मी० से १२.५ मि० मी० ०.४ से ½ इंच चौड़ी, रूपरेखा में आयताकार (*Oblong*) तथा चपटी एवं फूली हुई (*Turgid*) होती हैं। प्रत्येक फली के भीतर २ से ६ तक अंडाकार और गोल-गोल (*Ovoid or Subglobose*) चिकने और चमकीले बीज रंग में कभी-कभी दो-तिहाई हिस्से में लाल या सफेद और शेष भाग में काले होते हैं और काले भाग में सफेद रंग का बड़ा एवं स्पष्ट नाभिचिह्न (*White hilum*) होता है। और कभी-कभी वे पूर्णत: काले या सफेद होते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, बीज (घुंघची), एवं पत्र।

मात्रा – (१) वीज चूर्ण–६२.५ मि० ग्रा० से १८७.५ मि० ग्रा० या $\frac{१}{२}$ से १$\frac{१}{२}$ रत्ती।
(२) मूलचूर्ण–$\frac{१}{२}$ ग्राम से १ ग्राम या ४ से ८ रत्ती।
(३) पत्रक्वाथ–२$\frac{१}{२}$ से ५ तो० (१० तो० तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) पत्तियाँ–युग्मपक्षाकार, ५ सें० मी० से ७.५ सें. मी० या २ से ३ इंच लम्वी और ८ से ४० युग्म (*Pair*) पत्रकों से युक्त होती हैं। पत्रक (*Leaflets*), रेखाकार, अंडाकार (*Linear oval*), दोनों सिरों पर कुण्ठित (*Obtuse*), चिकने एवं किंचित् रोमश, तथा मुलायम एवं नीरस (*Membranous*), $\frac{१५}{१६}$ सें० मी० से $\frac{२५}{१६}$ सें०मी० ($\frac{३}{८}$ से $\frac{५}{८}$ इंच) लम्वे, $\frac{५}{१६}$ से $\frac{१}{२}$ सें० मी० ($\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{५}$ इंच) चौड़े होते हैं, जो सूखने पर अपने-आप गिर जाते (*Deciduous*) हैं। मुँह में चवाने पर मुलेठी के स्वाद एवं मधुरतायुक्त होते हैं। मूल—गुञ्जा की जड़ लम्वी, काष्ठमय, कड़ी, कई शाखाओंयुक्त तथा पतली होती है। किसी-किसी जड़ की मोटाई व्यास में ६.२५ मि० मी० या $\frac{१}{४}$ इंच तक होती है। मूलत्वक् (*Cortical layer*) पतली, लालिमा लिए भूरे रंग की तथा काष्ठभाग (*Wood*) पीताभ श्वेत होता है। मुँह में रख कर चावने से इसमें भी कुछ-कुछ मूलेठी का स्वाद आता है। जड़ गंध एवं स्वाद में कड़वी (*Acrid*) एवं किंचित् मधुर होती है। संग्रह करने से कालान्तर में इसमें एक हल्की अरुचिकारक गंध पैदा हो जाती है। औषधीय प्रयोग के लिए अपेक्षाकृत पतली जड़ें जिनमें काष्ठीय भाग (*Woody portion*) कम हो अधिक अच्छी समझी जाती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – जड़ एवं वीज को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – घुँघची की पत्तियों तथा जड़ में मुलेठी में पाया जाने वाला या ग्लिसर्हाइजिन (*Glycyrrhizin*) पत्तियों में १० % तथा जड़ में १.२५ %) नामक तत्त्व तथा वीजों में एव्रिन (*Abrin*) नामक विपाक्त-प्रोटीन (*Toxalbumin*) पाया जाता है। यह वियोजित होने पर ग्लोव्युलिन एवं ऐल्व्युमिनोस में विच्छिन्न होता है। उक्त दोनों ही विपाक्त होते हैं; अतएव गुञ्जावीज विषैले होते हैं। आयुर्वेद में इनकी गणना उपविषों में की भी गयी है। एव्रिन की क्रिया वहुत-कुछ एरण्डवीज में पाये जाने वाले विपाक्त तत्त्व रिसिन (*Ricin*) की भाँति होती है। किन्तु उवालने पर एव्रिन की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। एव्रिन के अतिरिक्त वीजों में मेदोविश्लेषक किण्व तत्त्व, हिमेग्लुटिनिन (*Haemagluttinin*), यूरिएज (*Urease*), एव्रेलिन नामक ग्लूकोसाइड, स्थिर तैल (६%), तथा वीजों के आवरण में अवेरनिन (*Abarnin*) नामक रंजक तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – जड़ में १ वर्षतक; किन्तु वीजों की सक्रियता कई वर्षों तक वनी रहती है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। (इसकी जड़ मधुर और स्निग्ध होती है)। कर्म–(पत्र एवं मूल) त्रिदोषहर (विशेषतः वातपित्तशामक), स्नेहन, कफनिस्सारक, मूत्रल, होते हैं। वीज–कफवातशामक, लेखन, कुष्ठघ्न, नाड़ीवल्य, हृदयोत्तेजक, वाजीकरण, केश्य तथा अल्प मात्रा में कटु पौष्टिक। यूनानी मतानुसार घुँघचीवीज तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क होते हैं। अहितकर–उष्ण प्रकृति वालों के लिए। निवारण–यवासशर्करा (तुरंजवीन) एवं हरी धनिया। विपाक्तप्रभाव – कभी-कभी वीजचूर्ण का मुखद्वारा सेवन करने में अतियोग हो जाने से आमाशयान्त्रप्रदाह होकर वमन-विरेचन, मूत्राघात एवं हृदयावसाद का भयंकर उपद्रव उठ खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में चौलाई स्वरस में चीनी मिला कर पीने से उपद्रवों का शमन होता है। घुँघची वीजों का मुख्य विपाक्त घटक इसमें पाया जाने वाला ऐव्रिन नामक तत्त्व है। किन्तु इसकी विपाक्तता विशेषतः गुञ्जाचूर्ण या कल्क को त्वचाधः मार्ग से प्रविष्ट करने पर होती है। उक्त क्रिया इसके स्थानिक प्रभाव के कारण तथा शोषणोपरान्त सार्वदैहिक, प्रभाव से होती है। मुख द्वारा उचित मात्रा में सेवन किये जाने पर इसका पाचन हो जाता है, और कोई विपाक्तता नहीं लक्षित होती। इस क्रिया का दुरुपयोग कहीं-कहीं चमड़े के व्यवसायी लोग पशुओं को मारने के लिए करते हैं; एतदर्थ गुञ्जाचूर्ण की जल के साथ वत्ती वना कर सुखा लेते हैं और इसे पशु की त्वचा के नीचे स्थापित कर देते हैं। इस प्रकार ३-४ रोज में पशु का प्राणान्त हो जाता है। कभी-कभी इसकी वर्तिका का उपयोग नाजायज रूप से गर्भपात कराने के लिए भी किया जाता है।

मुख्य योग – गुञ्जा भद्ररस।

विशेष – शोधनार्थ गुंजा के वीजों का गोदुग्ध या काञ्जी में एक प्रहर तक दोलायंत्र में स्वेदन करना चाहिए।

गुड़मार (मेषशृंगी ?)

नाम । सं०–मेषशृंगी ? हिं०–गुड़मार । बं०–मेड़ासिंगी । ले०–जीम्नेमा सील्वेस्ट्रे (*Gymnema sylvestre Br.*) ।

वानस्पतिक कुल – अर्क-कुल (आस्क्लेपिआडासे *Asclepiadaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – कोंकण, त्रावन(ण)कोर, गोवा, मध्य भारत तथा विन्ध्य प्रदेश के जंगल ।

संक्षिप्त परिचय–गुड़मार की काष्ठीय परन्तु पतले-पतले काण्ड की तथा बहुशाखी चक्रारोही लताएँ होती हैं, जो ऊंचे वृक्षों का सहारा पाने पर काफी ऊँचाई तक चढ़ जाती हैं। शाखाएँ या टहनियाँ रोमश होने के कारण प्रायः पीताभ; पत्तियाँ २.६७ सें० मी० से ५ सें० मी० (१।-२ इंच–कभी-कभी ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक) लम्बी तथा १.२५ से २.६७ सें० मीं० (।।–१। इंच) तक चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार, अंडाकार या लट्वाकार भालाकार, अग्र पर नुकीली, आधार की ओर गोलाकार या हृद्वत् अथवा कभी-कभी मुण्डित (*Cuneate*) होती हैं। पत्तियाँ दोनों पृष्ठों पर (विशेषतः अधः पृष्ठ पर) रोमश होती हैं। शिराओं पर रोम अधिक स्पष्ट होते हैं। पर्णवृन्त ६.२५ से १२.५ मि० मी० या ¼ से ½ इंच तक लम्बे तथा रोमश होते हैं। पुष्प सूक्ष्म, पीले, समस्थमूर्धज क्रम में निकले हुए होते हैं। फलियाँ (*Follicles*) प्रायः एकाकी (दो में से एक का प्रायः विकास नहीं होता) ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच लम्बी, व्यास में ८ मि० मी० या ⅓ इंच और अग्र की ओर क्रमशः संकुचित होकर चोंच-जैसी हो जाती हैं। शरद् ऋतु में पुष्प और शीतकाल के अन्त में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, मूल (एवं बीज) ।

मात्रा–पत्रचूर्ण–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा। मूलक्वाथ –२।। से ५ तो० । बीज चूर्ण–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–(१) पत्र–गुड़मार की पत्तियाँ १० सें० मी० से १२.५ सें० मी० या ४ से ५ इंच लम्बी, रूपरेखा में लट्वाकार-भालाकार (*Ovatelanceolate*) से अभिलट्वाकार (*Obovate*); ऊर्ध्व पृष्ठ गहरे हरे रंगका तथा चमकदार; अधःपृष्ठ फीके हरे रंगका, सूक्ष्म मृदु रोमावृत्त, शिराविन्यास (*Venation*) जालमय (*Reticulate*) जिनमें पत्र-तटों की ओर भी एक स्पष्ट नाडी होती है; स्वाद में किंचित् नमकीन एवं कड़वी (*Acrid*) । पत्तियों को चावने से भी जीभ की स्वाद-ग्रहण शक्ति (मधुर, तिक्त) नष्ट हो जाती है, इसी से इसे गुड़मार या मधुनाशिनी कहते हैं। जड़–गुड़मार की जड़ छोटी अंगुली के बराबर मोटी, कुछ-कुछ श्वेत सारिवा की जड़ से मिलती-जुलती है। इसका काष्ठीय भाग कड़ा (*Tough wood*) होता है। ताजी जड़ों का छिलका (*Bark*) लालिमा लिये भूरे रंग का तथा मुलायम होता है, जिस पर लम्बाई के रुख दरारें (*fissured longitudinally*) होती हैं; किन्तु सूखने पर इसके भार में अपेक्षाकृत काफी कमी हो जाती है, तथा छाल भी काष्ठीय भाग से आसानी से पृथक् होने योग्य हो जाती है। शुष्कावस्था में इस पर अनुप्रस्थ दिशा में दरारें हो जाती (*Transversely fissured*) हैं। स्वाद में यह पत्तियों की भाँति किंचित् नमकीन एवं कड़वी (*Acrid*) होती है। बीज–१.२५ सें० मी० या ½ इंच तक लम्बे, लम्बगोल-आयताकार किन्तु चौड़ाई में अपेक्षाकृत कम (*narrowly ovoid-oblong*) चपटे, रंग में भूरे तथा चिकने और पक्ष युक्त (*with thin broad marginal wing*) होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – फूल–फल आ जाने पर पत्तियों का संग्रह कर छायाशुष्क करके अच्छी तरह डाटबंद शीशियों में रखें। जड़ों का संग्रह फल पकने के बाद करें और छायाशुष्क करके डाटवन्द पात्रों में शीतल स्थान में रखें।

संगठन – गुड़मार की पत्तियों में २ रेजिन (जिनमें एक) ऐल्कोहल् में घुलनशील तथा दूसरा अविलेय होता है। अल्प मात्रा में एक तिक्त क्लीव तत्त्व (*Bitter neutral principle*), ऐल्ब्युमिन तत्त्व एवं रंजक द्रव्य, कैल्सियम् ऑक्जेलेट, जिम्नेमिक एसिड (६%), क्वर्सिटॉल (*Quercitol*), शर्करापाचक किण्व तथा भस्म में फेरिक ऑक्साइड एवं मैंगनीज आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ६ महीने से १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष । रस–कषाय, कटु । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । प्रधान कर्म–दीपन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, हृदयोत्तेजक, मूत्रल, कटु पौष्टिक । इसके बीज, प्रतिश्याय, कास-श्वास नाशक; मूल विषघ्न होता है। पत्र में आर्त्तवप्रवर्त्तक एवं विषमज्वर नाशक गुण भी पाये जाते हैं।

मुख्य योग – मधुमेहान्तकचूर्ण (गुड़मार की पत्तियों का चूर्ण)।

विशेष – मधुमेह (*Diabetes Mellitus*) में गुड़मार की पत्तियों के प्रयोग की बहुत प्रसिद्धि है। पत्तियों का चूर्ण (१–२ माशा) प्रातः-सायं शहद या गोदुग्ध से देते हैं। इससे यकृत की क्रिया में सुधार होकर मधुजन संचय की शक्ति बढ़ जाती है, जिससे रक्तगत शर्करा की मात्रा भी कम हो जाती है। अग्न्याशय, अविवृक्क एवं अवटुग्रंथियों के स्राव में भी यह सहायता करता है, जिससे अप्रत्यक्षतया यकृत में मधु या ग्लूकोज को मधुजन या ग्लाइकोजन के रूप में संचित करने की शक्ति बढ़ती है।

गुडूची (गिलोय)

नाम। सं०–वल्लीगुडूची, अमृता। हिं०–गुर्च, गिलोय। फा०–गिलो। ले०–टीनोस्पोरा कॉर्डीफ़ोलिआ (*Tinospora cordifolia Miers*)।

वानस्पतिक कुल–गुडूची-कुल (मेनिस्पेर्मासे *Menispermaceãe*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष।

संक्षिप्त परिचय – लता–बहुवर्षायु, आरोहिणी। तना–हरिताभ, मांसल, काटने पर (अनुप्रस्थ व्यच्छेद) अन्तर्भाग चक्राकार। पत्र–एकान्तर, मसृण, हृदयाकार। पत्रनाड़ियाँ–संख्या में ७ से ९। पत्रव्यास–५ से १० सें० मी० या २ से ४ इंच। पर्णवृन्त–२.५ से ३.७५ सें० मी० १–३ इंच लम्बा। पुष्प–गुच्छकों में, छोटे, पीत वर्ण, पत्रकोणोद्भूत, नरपुष्प बाह्यकोपदल पीत वर्ण तथा स्त्रीपुष्प बाह्य कोपदल हरित वर्ण। फल–छोटे मटर के समान, अपक्वावस्था में हरित और पक्वावस्था में रक्त। बीज–श्वेत और मिर्च के दाने के समान छोटे।

उपयोगी अंग – काण्ड तथा पत्र।

मात्रा – चूर्ण–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
क्वाथ–३ से ८ तोला।
स्वरस–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गुर्च के ताजे काण्ड की छाल (*Bark*) हरे रंग की तथा गुदार होती है। इसका बाह्य स्तर (*Epidermis*) हल्के भूरे रंग का होता है, तथा कागज की भाँति पतले पर्तों में छूटता है। इस पर स्थान-स्थान में इतस्ततः छोटे-छोटे गठीले-उत्सेध (*Warty prominences*) भी पाये जाते हैं। लम्बे काण्ड पर कहीं-कहीं सूत्राकार आगन्तुक जड़ें भी पायी जाती हैं तथा छोटी-छोटी कोमल शाखाएँ होती हैं, जिन पर हृदयाकार छोटे पत्र लगे होते हैं। सूखने पर काण्ड बहुत सिकुड़ जाता है। त्वचा हल्के भूरे रंग की होती है, जिस पर अनुप्रस्थ दिशा में चिन्ह (*transverse markings*) एवं श्वसनरन्ध्र के चिह्न (*Lenticels*) भी पाये जाते हैं। सूखे हुए काण्ड के छोटे-बड़े कटे हुए टुकड़े बाजारों में मिलते हैं, जो रूपरेखा में बेलनाकार तथा मोटाई का व्यास ॥।–१ इंच तक होता है, जिस पर से छाल काष्ठीय भाग से आसानी से पृथक् हुई रहती है। गुर्च स्वाद में अत्यन्त तिक्त होता है, तथा इसमें कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती। इसके निस्रुत क्वाथ में आयोडीन का घोल डालने पर गहरा नील वर्ण उत्पन्न होता है, जो कि स्टार्च की उपस्थिति का परिचायक है। इसके अतिरिक्त गुडूची में अन्य विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य अधिकतम २ प्रतिशत तक होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – वर्षा से पूर्व ग्रीष्म ऋतु में संग्रह कर, बाह्य त्वचा निकाल दें। फिर छोटे-छोटे टुकड़े कर छाया में सुखा लें और वायु एवं धूलरहित अनार्द्र और शीतल स्थान में बंद डिब्बों में रखें। गुड्ची का प्रयोग ताजा ही अच्छा रहता है।

संगठन – गिलोइन, गिलोइनिन, गिलोस्टेराल एवं अल्प मात्रा में दारुहरिद्रासत्वसम पदार्थ (बबरीन *Berberine*), मोमयुक्त पदार्थ।

वीर्यकालावधि – ३ मास।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–त्रिदोषशामक, तिक्तबल्य (कटु पौष्टिक), ज्वरघ्न, रक्तशोधक तथा कुष्ट एवं वातरक्तशामक आदि।

मुख्य योग – गुडुच्यादि क्वाथ, अमृतारिष्ट, संशमनी वटी, अर्कहराभरा।

विशेष – (१) चरकोक्त (सू० अ० ४) तृप्तिघ्न, स्तन्यशोधन, तृष्णानिग्रहण, दाहप्रशमन, वयःस्थापन गण एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) आरग्वधादि, पटोलादि, काकोल्यादि, गुडच्यादि एवं वल्लीपंचमूल में गुडूची भी है।

(२) वल्लीगुडूची (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है) के अतिरिक्त निघंटुओं में गुडूची की एक दूसरी

जाति का उल्लेख मिलता है, जिसे पद्मगुडची या कन्दोद्भवा गुडुची या टीनोस्पोरा मालाबारिका *T. malabarica (Lam.) Miers.* कहते हैं। इसकी जड़ कन्दाकार होती है।

(३) गुडुची सत्व–के निर्माण में प्रायः गुर्च के काण्डों से श्वेत सारीय भाग ही पृथक किया जाता है। औषधीय गुणकर्म की दृष्टि से इसमें गुर्च के सक्रिय अंश नहीं के बराबर पाये जाते हैं। अतएव गुर्च का क्वाथ कर रसक्रिया की पद्धति से इसका घन सत्व प्राप्त करना चाहिए।

गुलशकरी (गुड़शर्करा)

नाम। सं०–गुड़शर्करा, चतुष्फला। हिं०–गुलशकरी, गंगेरन। बिहार–सेतारेपड़ी, सेतापेटू, सेताजरका, सेतकट, सेताण्डीर, कुकुरविचा, कुकुरांड (कुकुरों के अंडकोश के सदृश)। ले०–ग्रूइआ हिरसुटा *Grewia hirsuta Vahl.*।

वानस्पतिक कुल – परूपक-कुल (टिलिआसे: (*Tiliaceāe*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई, बिहार, उड़ीसा एवं विन्ध्य के जंगलों में तथा राजस्थान, गुजरात एवं दक्षिण भारत में इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके गुल्म ४५ सें० मी० से ९० सें० मी० या १॥–३ फुट तक ऊँचे होते हैं। शाखाएँ प्रायः मूल के पास से निकली होती हैं तथा रोमश होती हैं। पत्तियों की रूपरेखा में नानारूपिता पायी जाती है, जो रेखाकार, लट्वाकार प्रासवत् अथवा आयताकार, प्रायः लम्बाग्र तथा अल्पवृन्त वाली एवं तीक्ष्ण दन्तुर होती हैं। फूल पीले और फल प्रायः चार खण्ड वाले होते हैं और मृदु रोमों से ढँके होते हैं। औषधि में गुलशकरी के मूल का व्यवहार होता है। पके फल मधुर स्वादिष्ट होते हैं। इनमें ५–६ बीज होते हैं। जाड़ों में पुष्प-फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – मूल (विशेषतः मूलत्वक्)।

मात्रा – क्वाथार्थ–६ माशा से १ तोला।

चूर्ण – १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों के अन्त में मूल का संग्रह कर, जल से मिट्टी आदि साफ कर छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – १–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्त-शामक, नाड़ीबल्य, मेध्य, स्नेहन, अम्लतानाशन तथा अनुलोमन, हृद्य, रक्तपित्तशामक, कफनिःसारक, दाह-प्रशमन, ज्वरघ्न, मूत्रल, गर्भस्थापन, वृष्य, रसायन। स्थानिक प्रयोग से गुलशकरी की जड़ एवं पत्र रक्तस्तम्भन, वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण होते हैं।

विशेष – इसकी बड़ी जाति ग्रूइआ पॉपूलीफ़ोलिआ (*Grewia populifolia Vahl.*) को 'गाङ्गेरुकी' कहते हैं। इसके गुण-कर्म बहुत-कुछ धामिन या धन्वन (ग्रूइआ टीलीफ़ोलिआ (*Grewia tiliaefolia Vahl.*) से मिलते-जुलते हैं।

गुलाब (तरुणी)

नाम। सं०–तरुणी, शतपत्री। हिं०, म०, गु०–गुलाब। बं०–गोलाप। अ०–वर्द, वर्दे अहमर। फा०–गुले सुर्ख। अं०–रोज (*Rose*)। ले०–रोज़ा आल्बा *Rosa alba Linn.*; (२) रोज़ा डामास्केना *Rosa damascena Mill.* (३) रोज़ा सेंटिफोलिआ *R. centifolia Linn.*।

वानस्पतिक कुल – तरुणी-कुल (रोज़ासे) *Rosaceāe*)।

प्राप्तिस्थान – गुलाब का मूलउत्पत्तिस्थान सीरिया है, किन्तु सम्प्रति यह समस्त भारतवर्ष के बग़ीचों में लगाया जाता है। अनेक क्षेत्रों में व्यावसायिक रूप से इसकी खेती की जाती है। उत्तर प्रदेश में गाज़ीपुर एवं जौनपुर गुलाबोत्पादक क्षेत्र हैं। सुखाये पुष्प एवं इसका अर्क तथा इत्र सर्वत्र बाजारों में पंसारियों एवं सौगन्धिकों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – गुलाब के कँटीले, झाड़ीदार गुल्म होते हैं। आजकल गुलाब की अनेकों जातियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें बहुतों के पुष्प निर्गन्ध भी होते हैं। इनका उपयोग सौन्दर्य के लिए किया जाता है। भारतवर्ष में कर्षित जातियों में मुख्यतः उपर्युक्त जातियाँ होती हैं। इनके पुष्प सुगन्धित भी होते हैं और सौन्दर्य के लिए भी यह उपयुक्त हैं। अफगानिस्तान एवं उत्तरी पश्चिमी हिमालय के कश्मीर, गढ़वाल एवं कुमायूँ आदि प्रान्तों में जंगली गुलाब भी पाया जता है, जिसके काँटेदार आरोही क्षुप होते हैं। काँटे मजबूत और टेढ़े होते हैं। पुष्पों में केवल ५ दलपत्र होते हैं, जो श्वेत हल्के गुलाबी या पीताभ-श्वेत एवं सुगंधित होते हैं।

स्थानिक क्षेत्रों में इनसे भी इत्र आदि निकाला जाता है। लगायी हुई जातियों के पुष्प काफी बड़े तथा दलपत्रों (*Petals*) की संख्या वहुत अधिक होती है। रंगभेद से लगाया हुआ गुलाव अनेक प्रकार का होता है। गुलाव में वसन्त में फूल आते हैं और उस समय इसके सुखाये हुए पुष्प थोक के थोक बिकते हैं। विकसित गुलाव पुष्पों के दलपत्रों की भैषज्यकल्पना में काफी खपत गुलकन्द बनाने में होती है। यूनानी वैद्यक में इसके केसर (गुलाब जीरा *Rose seeds*) एवं फल (समरुल्वर्द-समरेगुल) भी व्यवहृत होते हैं।

उपयोगी अंग–कलिका, विकसित दलपत्र। कलियों में कषैलापन एवं ग्राही क्रिया अपेक्षाकृत अधिक होने से क्वाथादि में डालने के लिए इनका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होता है। गुलकन्द ताजे विकसित पुष्पों से बनाया जाता है। अर्क एवं इत्र भी ताजे विकसित पुष्पों से बनता है। अर्क एवं गुलकन्द का उपयोग अनुपान के रूप में किया जाता है। अर्क का उपयोग भैषज्यकल्पना में पिष्टियों के निर्माण में किया जाता है।

मात्रा – पुष्प–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
गुलकंद–१ से २ तोला।
अर्क–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – रोजा डामास्केना के कँटीले क्षुप होते हैं, जिनमें प्रचुरता से छोटे-बड़े कड़े एवं तीक्ष्ण कण्टक पाये जाते हैं। पत्तियाँ ५–७, लट्वाकार पत्रकयुक्त होती हैं। इसके पुष्प सुगंधित एवं हल्के लाल (या गुलाबी; रंग के होते हैं। फल अंडाकार, रूपरेखा में जैतून की तरह और गुदार होता है, जो पकने पर लाल हो जाता है। इसे काटने पर अन्दर रोंआ और लम्बे-लम्बे सफेद दाने होते हैं। ताजे पुष्पों में एक मनोरम विशिष्ट सुगंधि होती है तथा स्वाद में यह तिक्त, चरपरा, कषाय एवं किंचिन्मधुर होते हैं। शुष्क पुष्पों में कटुत्व अपेक्षाकृत कम होता है। कलियाँ कुछ अधिक कसैली होती हैं। फलों का स्वाद मधुर एवं कसैला होता है।

संगठन – पुष्पों में उत्पत्तैल (रोग़न गुल, इत्रगुल) तथा टैनिक एसिड एवं गैलिक एसिड आदि कषाय तत्त्व पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – कलिका एवं पुष्पों का संग्रह प्रायः प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व किया जाता है। इन्हें छाया-शुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

स्वभाव – गुलाव रस में तिक्त, कटु, कषाय एवं मधुर तथा मधुर विपाक एवं शीतवीर्य है। यह दुर्गन्धनाशक, वर्ण्य एवं व्रणरोपण, शोथहर, मनःप्रसादकर, उत्तमागों को बलप्रद, अवरुद्धदोषोत्सर्गकर, दाहप्रशमन, ज्वरघ्न, हृद्य, शोणितास्थापन तथा पित्त की तीक्ष्णता को शान्त करने वाला होता है। इसके दलपत्र सारक होते हैं। अतएव कोमल स्वभाव वाले आदती कब्ज के रोगियों में गुलकन्द का व्यवहार वहुत उपयोगी होता है। एतदर्थ इसे रात्रि में सोते समय गर्म दूध से दिया जाता है। कषाय रस एवं ग्राही होने से कलिका एवं पुंकेशर का उपयोग अतिसार-प्रवाहिका एवं रक्तपित्त की अवस्थाओं में किया जाता है। गुलरोगन, अर्क गुलाव एवं सिरका में कपड़ा भिगो कर सन्निपातज्वर में सिरपर रखा जाता है। अर्क का उपयोग पिष्टियों के निर्माण के लिए, अनेक कल्पों को सुगन्धित करने के लिए तथा अनुपान रूपमें किया जाता है।

मुख्य योग – गुलकन्द, गुलरोग़न, अर्क गुलाव।

गूगल (गुग्गुलु)

नाम। सं०–गुग्गुलु, कौशिक, पुर, पलङ्कष, महिषाक्ष। हिं०–गुग्गुल, गूगल। वं०–गुग्गुल। सिंध–गुगरु। म०, गु०–गुगल। द०–गूगल। अ०–मुक़्ल, अफ्लात, (तू) न। फा०–बूए जहूदान। अं०–डेलियम् (*Bdellium*)। ले०–ब्डेल्लिओन (*Bdellion*)। वृक्ष का नाम–कोम्मीफ़ोरा वाइटिई *Commiphora wightii* (*Arn.*) *Bhandari.* (पर्याय–*C. roxburghii* (*Stocks*) *Engl.*; *C. mukul* (*Hook ex Stocks*) *Engl*; *Balsamodendron mukul Hook ex Stocks.*)।

वानस्पतिक कुल–गुग्गुल्वादि-कुल (बर्सेरासे *Burseraceae*)।

प्राप्तिस्थान–भारतवर्ष में सिंध, राजस्थान, गुजरात, वरार, खानदेश, आसाम, सिलहट, पूर्व बंगाल और मैसूर प्रान्त में गुग्गुल के स्वयंजात गुल्म पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह वलूचिस्तान एवं अरव, अफ्रीका आदि में होता है। गुग्गुल का गोंद (निर्यास) बाजारों में विकता है।

संक्षिप्त परिचय–गुग्गुल के शाखाबहुल गुल्म (*Stunted bush*) या छोटे वृक्ष होते हैं; शाखाग्र नुकीले, पत्र, सपत्रक, जिनमें ३–३ पत्रक होते हैं, जो चिकने, चमकदार,

अभिलट्वाकार, अग्र की ओर का तट नीमकी पत्तियों की भाँति दंतुर होते हैं। पत्रक प्राय: विनाल (*Sessile*) या बहुत छोटे वृन्त पर लगे होते हैं। पुष्प: प्राय: वृन्त-रहित तथा एकलिंगी, कई-कई पुष्पों के गुच्छकों (*Fascicles*) में निकलते हैं। नरपुष्प में अप्रगल्भ डिम्बाशय (*Abortive ovary*) तथा स्त्रीपुष्प में वन्ध्य या क्लीव केशर (*Staminodes*) होते हैं। दलपत्र (*Petals*) संख्या में ४–५, भूरापन लिये लाल रंग के, पुंकेशर (*stamens*) संख्या में ८–१०, कुक्षि (*stigma*) प्राय: द्विखण्डीय होती है। फल (*Drupe*) मांसल लट्वाकार तथा अग्र पर नुकीले, पकने पर यह लाल वर्ण के हो जाते हैं। गुठली द्वि-कोष्ठीय होती है। पुष्पागम प्राय: मार्च-अप्रैल के महीने में होता है। जाड़ों में गुग्गुल के काण्ड से अपने आप तथा चीरा लगाने से काफी मात्रा में एक सुगन्धित निर्यास (*Gum-resin*) निकलता है। यही औषधि में काम आता है, जो बाजारों में गूगल के नाम से बिकता है।

उपयोगी अंग – निर्यास।

मात्रा – ०.५ से १.५ ग्राम या ½ माशा से १॥ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में गूगल की दो जातियाँ मिलती हैं–(१) कणगूगल और (२) भैंसा (महिषाक्ष) गूगल। कणगूगल मारवाड़ में होता है, और उसके ललाई लिये हुए पीले रंग के गोल दाने होते हैं। यह भैंसा गूगल से नरम होता है। भैंसा गूगल का रंग हरापन लिये पीला होता है। यह सिंध, कच्छ आदि में होता है। उत्तम गुग्गुल वह है जो चमकीला, चिपकनेवाला (चिमचोड), नरम, मधुरगंधी, कुछ पीला और तिक्त हो, पानी में शीघ्र घुल जाय तथा लकड़ी, रेत और मिट्टी से शुद्ध हो। अग्नि में डालने से गूगल जलता है, धूप में पिघलता है, तथा गरम जल में डालने पर दूध के समान घोल बनता है। इसमें अधिकतम ४.५% विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – पूर्वी बंगाल, आसाम तथा मध्य प्रदेश में गुगल की एक और जाति पायी जाती है, जिसे कोम्मीफोरा रॉक्सर्गी *Commiphora roxburghii* (*Arn.*) *Engl.* (पर्याय–बाल्समोडेंड्रोन रॉक्सबर्गी *Balsamodendron roxburghii Arn.*) कहते हैं। यह निर्यास भी बहुत-कुछ गूगल के ही भाँति होता है, और इसका संग्रह गूगल के नाम से किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – गूगल का संग्रह जाड़े के दिनों में किया जाता है। एक वृक्ष से लगभग ½ सेर से १ सेर तक गोंद प्राप्त होता है। इसको अच्छी तरह मुख-बंद पात्रों में रखना चाहिए और नमी से बचाना चाहिए।

संगठन – गूगल में एक उत्पत् तैल (१.४५%), रालदार गोंद (*Gum-resin*) तथा एक तिक्त सत्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २० वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, पिच्छिल, सूक्ष्म, सर। रस–तिक्त, कटु, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–त्रिदोषहर। कर्म-शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपन, जन्तुघ्न, नाडीबल्य, दीपन, सर, यकृदुत्तेजक, अर्शोघ्न, रक्तशोधक, रक्तकण एवं श्वेत-कणवर्धक, गण्डमालानाशक, कफनिस्सारक, मूत्रल, रसायन, बल्य (नया गूगल), लेखन (पुराना गूगल) कुष्ठघ्न, वर्ण्य, शीतप्रशमन आदि। यूनानी मतानुसार, गुग्गुल तीसरे दर्जे में गरम और दूसरे दर्जे में खुश्क है। अहितकर–यकृत और फुफ्फुस को। निवारण–कतीरा और केसर।

मुख्य योग – योगराज एवं महायोगराज गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, चन्द्रप्रभा वटी, अतरीफल मुल्क़, मुमूसिका, माजून मुक़ल, माजून जोगराज गूगूल, हब्ब मुक़ल आदि। इसके अतिरिक्त गुग्गुल के और भी अनेक योग प्रचलित हैं।

विशेष – आभ्यन्तर प्रयोग करने के लिए शुद्ध गुग्गुल लेना चाहिए। एतदर्थ गोदुग्ध में गुग्गुल का स्वेदन किया जाता है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में गुग्गुल भी है।

गूमा (द्रोणपुष्पी)

नाम। सं०–द्रोणपुष्पी, फलेपुष्पा, कुंभी। हिं०–गूमा (माँ), गोम। बं०–घलघसे, दंडकलस। म०–तुंबा, कुंभा। गु०–कूबो। मा०–दड़घल। ले०–लेउकास सेफ़ालोटेस (*Leucas cephalotes Spreng*)।

वानस्पतिक कुल – तुलस्यादि-कुल (लाबिआटे *Labiatae*)

प्राप्तिस्थान – गूमा के पौधे भारत में हिमालय प्रदेश में १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊँचाई तक; तथा मैदानी भागों में एवं हलकृष्ट क्षेत्रों में भी बरसात में भदई फसल के साथ प्रचुर मात्रा में स्वयं ही उत्पन्न होते हैं।

स्थानिक क्षेत्रों में इनसे भी इत्र आदि निकाला जाता है। लगायी हुई जातियों के पुष्प काफी बड़े तथा दलपत्रों (*Petals*) की संख्या बहुत अधिक होती है। रंगभेद से लगाया हुआ गुलाब अनेक प्रकार का होता है। गुलाब में वसन्त में फूल आते हैं और उस समय इसके सुखाये हुए पुष्प थोक के थोक बिकते हैं। विकसित गुलाब पुष्पों के दलपत्रों की भैषज्यकल्पना में काफी खपत गुलकन्द बनाने में होती है। यूनानी वैद्यक में इसके केसर (गुलाब जीरा *Rose seeds*) एवं फल (समरुल्वर्द–समरेगुल) भी व्यवहृत होते हैं।

उपयोगी अंग–कलिका, विकसित दलपत्र। कलियों में कषैलापन एवं ग्राही क्रिया अपेक्षाकृत अधिक होने से क्वाथादि में डालने के लिए इनका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक अच्छा होता है। गुलकन्द ताजे विकसित पुष्पों से बनाया जाता है। अर्क एवं इत्र भी ताजे विकसित पुष्पों से बनता है। अर्क एवं गुलकन्द का उपयोग अनुपान के रूप में किया जाता है। अर्क का उपयोग भैषज्यकल्पना में पिष्टियों के निर्माण में किया जाता है।

मात्रा – पुष्प–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
गुलकंद–१ से २ तोला।
अर्क–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – रोजा डामास्केना के कँटीले क्षुप होते हैं, जिनमें प्रचुरता से छोटे-बड़े कड़े एवं तीक्ष्ण कण्टक पाये जाते हैं। पत्तियाँ ५–७, लट्वाकार पत्रकयुक्त होती हैं। इसके पुष्प सुगंधित एवं हल्के लाल (या गुलाबी; रंग के होते हैं। फल अंडाकार, रूपरेखा में जैतून की तरह और गुदार होता है, जो पकने पर लाल हो जाता है। इसे काटने पर अन्दर रोंआ और लम्बे-लम्बे सफेद दाने होते हैं। ताजे पुष्पों में एक मनोरम विशिष्ट सुगंधि होती है तथा स्वाद में यह तिक्त, चरपरा, कषाय एवं किंचिन्मधुर होते हैं। शुष्क पुष्पों में कटुत्व अपेक्षाकृत कम होता है। कलियाँ कुछ अधिक कसैली होती हैं। फलों का स्वाद मधुर एवं कसैला होता है।

संगठन – पुष्पों में उत्पत्तैल (रोग़न गुल, इत्रगुल) तथा टैनिक एसिड एवं गैलिक एसिड आदि कषाय तत्त्व पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – कलिका एवं पुष्पों का संग्रह प्रायः प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व किया जाता है। इन्हें छाया-शुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

स्वभाव – गुलाब रस में तिक्त, कटु, कषाय एवं मधुर तथा मधुर विपाक एवं शीतवीर्य है। यह दुर्गन्धनाशक, वर्ण्य एवं व्रणरोपण, शोथहर, मनःप्रसादकर, उत्तमांगों को बलप्रद, अवरुद्धदोषोत्सर्गकर, दाहप्रशमन, ज्वरघ्न, हृद्य, शोणितास्थापन तथा पित्त की तीक्ष्णता को शान्त करने वाला होता है। इसके दलपत्र सारक होते हैं। अतएव कोमल स्वभाव वाले आदती कब्ज के रोगियों में गुलकन्द का व्यवहार बहुत उपयोगी होता है। एतदर्थ इसे रात्रि में सोते समय गर्म दूध से दिया जाता है। कषाय रस एवं ग्राही होने से कलिका एवं पुंकेशर का उपयोग अतिसार-प्रवाहिका एवं रक्तपित्त की अवस्थाओं में किया जाता है। गुलरोगन, अर्क गुलाब एवं सिरका में कपड़ा भिगो कर सन्निपातज्वर में सिरपर रखा जाता है। अर्क का उपयोग पिष्टियों के निर्माण के लिए, अनेक कल्पों को सुगन्धित करने के लिए तथा अनुपान रूपमें किया जाता है।

मुख्य योग – गुलकन्द, गुलरोग़न, अर्क गुलाब।

गूगल (गुग्गुलु)

नाम। सं०–गुग्गुलु, कौशिक, पुर, पलङ्कष, महिषाक्ष। हिं०–गुग्गुल, गूगल। बं०–गुग्गुल। सिंध–गुगर। म०, गु०–गुगल। द०–गूगल। अ०–मुक़ल, अफलात, (तू) न। फा०–बूए जहूदान। अं०–डेलियम् (*Bdellium*)। ले०–ब्डेल्लिओन (*Bdellion*)। वृक्ष का नाम–कोम्मीफ़ोरा वाइटिई *Commiphora wightii* (*Arn.*) *Bhandari.* (पर्याय–*C. roxburghii* (*Stocks*) *Engl.*; *C. mukul* (*Hook ex Stocks*) *Engl*; *Balsamodendron mukul Hook ex Stocks.*)।

वानस्पतिक कुल–गुग्गुल्वादि-कुल (बर्सेरासे *Burseraceae*)।

प्राप्तिस्थान–भारतवर्ष में सिंध, राजस्थान, गुजरात, बरार, खानदेश, आसाम, सिलहट, पूर्व बंगाल और मैसूर प्रान्त में गुग्गुल के स्वयंजात गुल्म पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह बलूचिस्तान एवं अरब, अफ्रीका आदि में होता है। गुग्गुल का गोंद (निर्यास) बाजारों में बिकता है।

संक्षिप्त परिचय–गुग्गुल के शाखाबहुल गुल्म (*Stunted bush*) या छोटे वृक्ष होते हैं; शाखाग्र नुकीले, पत्र, सपत्रक, जिनमें ३–३ पत्रक होते हैं, जो चिकने, चमकदार,

अभिलट्वाकार, अग्र की ओर का तट नीमकी पत्तियों की भाँति दंतुर होते हैं। पत्रक प्रायः विनाल (*Sessile*) या बहुत छोटे वृन्त पर लगे होते हैं। पुष्पः प्रायः वृन्त-रहित तथा एकलिंगी, कई-कई पुष्पों के गुच्छकों (*Fascicles*) में निकलते हैं। नरपुष्प में अप्रगल्भ डिम्बाशय (*Abortive ovary*) तथा स्त्रीपुष्प में वन्ध्य या क्लीव केशर (*Staminodes*) होते हैं। दलपत्र (*Petals*) संख्या में ४–५, भूरापन लिये लाल रंग के, पुंकेशर (*stamens*) संख्या में ८–१०, कुक्षि (*stigma*) प्रायः द्विखण्डीय होती है। फल (*Drupe*) मांसल लट्वाकार तथा अग्र पर नुकीले, पकने पर यह लाल वर्ण के हो जाते हैं। गुठली द्वि-कोष्ठीय होती है। पुष्पागम प्रायः मार्च-अप्रैल के महीने में होता है। जाड़ों में गुग्गुल के काण्ड से अपने आप तथा चीरा लगाने से काफी मात्रा में एक सुगन्धित निर्यास (*Gum-resin*) निकलता है। यही औषधि में काम आता है, जो बाजारों में गूगल के नाम से बिकता है।

उपयोगी अंग – निर्यास।

मात्रा – ०.५ से १.५ ग्राम या ½ माशा से १॥ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में गूगल की दो जातियाँ मिलती हैं–(१) कणगूगल और (२) भैंसा (महिषाक्ष) गूगल। कणगूगल मारवाड़ में होता है, और उसके ललाई लिये हुए पीले रंग के गोल दाने होते हैं। यह भैंसा गूगल से नरम होता है। भैंसा गूगल का रंग हरापन लिये पीला होता है। यह सिंध, कच्छ आदि में होता है। उत्तम गुग्गुल वह है जो चमकीला, चिपकनेवाला (चिमचोड), नरम, मधुरगंधी, कुछ पीला और तिक्त हो, पानी में शीघ्र घुल जाय तथा लकड़ी, रेत और मिट्टी से शुद्ध हो। अग्नि में डालने से गूगल जलता है, धूप में पिघलता है, तथा गरम जल में डालने पर दूध के समान घोल बनता है। इसमें अधिकतम ४.५% विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – पूर्वी बंगाल, आसाम तथा मध्य प्रदेश में गुगल की एक और जाति पायी जाती है, जिसे कोम्मीफोरा राँक्सर्गी *Commiphora roxburghii* (*Arn.*) *Engl.* (पर्याय–बाल्समोडेंड्रोन राँक्सबर्गी *Balsamodendron roxburghii Arn.*) कहते हैं। यह निर्यास भी बहुत-कुछ गूगल के ही भाँति होता है, और इसका संग्रह गूगल के नाम से किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – गूगल का संग्रह जाड़े के दिनों में किया जाता है। एक वृक्ष से लगभग ½ सेर से १ सेर तक गोंद प्राप्त होता है। इसको अच्छी तरह मुख-बंद पात्रों में रखना चाहिए और नमी से बचाना चाहिए।

संगठन – गूगल में एक उत्पत् तैल (१.४५%), रालदार गोंद (*Gum-resin*) तथा एक तिक्त सत्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २० वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, पिच्छिल, सूक्ष्म, सर। रस–तिक्त, कटु, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–त्रिदोषहर। कर्म-शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपन, जन्तुघ्न, नाड़ीबल्य, दीपन, सर, यकृदुत्तेजक, अर्शोघ्न, रक्तशोधक, रक्तकण एवं श्वेत-कणवर्धक, गण्डमालानाशक, कफनिस्सारक, मूत्रल, रसायन, बल्य (नया गूगल), लेखन (पुराना गूगल) कुष्ठघ्न, वर्ण्य, शीतप्रशमन आदि। यूनानी मतानुसार, गुग्गुल तीसरे दर्जे में गरम और दूसरे दर्जे में खुश्क है। अहितकर–यकृत और फुफ्फुस को। निवारण–कतीरा और केसर।

मुख्य योग – योगराज एवं महायोगराज गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, चन्द्रप्रभा वटी, अतरीफल मुल्क़, मुमूसिका, माजून मुक़्ल, माजून जोगराज गूगुल, हब्ब मुक़्ल आदि। इसके अतिरिक्त गुग्गुल के और भी अनेक योग प्रचलित हैं।

विशेष – आभ्यन्तर प्रयोग करने के लिए शुद्ध गुग्गुल लेना चाहिए। एतदर्थ गोदुग्ध में गुग्गुल का स्वेदन किया जाता है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में गुग्गुल भी है।

गूमा (द्रोणपुष्पी)

नाम। सं०–द्रोणपुष्पी, फलेपुष्पा, कुंभी। हिं०–गूमा (माँ), गोम। बं०–घलघसे, दंडकलस। म०–तुंबा, कुंभा। गु०–कूवो। मा०–दड़घल। ले०–लेउकास सेफ़ालोटेस (*Leucas cephalotes Spreng*)।

वानस्पतिक कुल – तुलस्यादि-कुल (लाबिआटे *Labiatae*)

प्राप्तिस्थान – गूमा के पौधे भारत में हिमालय प्रदेश में १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊँचाई तक; तथा मैदानी भागों में एवं हलकृष्ट क्षेत्रों में भी बरसात में मदई फसल के साथ प्रचुर मात्रा में स्वयं ही उत्पन्न होते हैं।

संक्षिप्त परिचय – द्रोणपुष्पी का क्षुप एकवर्षायु अधिक-से-अधिक ½ गजतक ऊंचा, सीधा, या छत्तदार, काण्ड चौकोर, दृढ़, खुरखुरा या रोंगटेदार, पत्तियाँ २.५ से ७.५ सें० मी० या १ से ३ इंच लम्बी, रेखाकार, लम्बकुण्ठिताग्र पत्रतट या किनारे सरल या गोलदन्तुर; पुष्प बहुत बड़ा, शाखांत, गोल चक्राकार, तथा वृन्तपत्र लम्बे, रेखाकार, पुष्पगुच्छ के ऊपर प्राय: दो पत्तियाँ लगी होती हैं। पुष्पागम शरदऋतु में होता है, क्षुप गर्मियों में सूख जाता है। इसके पत्तों को मसलने से एक तीक्ष्ण गंध आती है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (*The Herb*), पत्र एवं पुष्प।

मात्रा – स्वरस–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – फल आ जाने पर पंचाङ्ग का संग्रह कर, सुखा कर, मुखबंद पात्रों में अनार्द्र एवं शीतल स्थान में रखें।

संगठन – इसमें अल्प प्रमाण में एक उड़नशील तेल तथा एक ऐल्केलॉइड पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – ३–६ महीना।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, लवण, मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–पित्तशोधन, कामला एवं ज्वरनाशक, दीपन, रक्तशोधक, आर्त्तवजनन, स्वेदजनन, वातशमन, संस्रन, वातशमन, कफघ्न, आदि। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–काली मिर्च, मधु एवं अदरक। प्रतिनिधि–भंगरा।

मुख्य योग – द्रोणपुष्पी का प्रयोग प्राय: एकौषधि अथवा अनुपान के रूप में होता है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २७) एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ४६) शाकवर्ग में द्रोणपुष्पी (कुतुम्वक नाम से) भी है।

गूलर (उदुम्बर)

नाम। सं०–उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञाङ्ग, हेमदुग्ध। हिं०–गुल्लर, गूलर, ऊमर। बं०–यज्ञडुमुर। म०–उंमर। गु०–उंबरो, उमरडो। मल०, ता०–अत्ति (*Atti*)। फा०–अंजीरे आदम, अंजीरे अहमक़। अ०–जम्मैज़, तीनुल् अह्मक़। अं०–दि गूलर फिग या कंट्री फिग (*The Gular Fig or Country Fig.*)। ले०–फ़ीकुस ग्लोमेराटा *Ficus glomerata Roxb* (पर्याय–*F. racemosa Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वट-कुल (उर्टीकासे *Urticaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्राय: समस्त भारतवर्ष में १८२८.८ मीटर (६,००० फुट) की ऊँचाई तक गूलर के लगाये हुए तथा जंगली दोनों प्रकार के वृक्ष मिलते हैं। सदावहार जंगलों एवं नदी-नालों के किनारे इसके वृक्ष अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। सर्वत्र सुलभ होने से इसके अन्य औषधप्रयुक्त अंगों का विक्रयार्थ संग्रह प्राय: नहीं किया जाता।

संक्षिप्त परिचय – गूलर के मध्यमाकारी (कभी-कभी ऊंचे) तथा पतझड़ करने वाले क्षीरी वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ पार्श्वों में न फैल कर प्राय: सीधी ऊपर की ओर बढ़ती हैं। काण्डस्कन्ध (*Trunk*) अपेक्षाकृत लम्बा एवं मोटा, कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता है। छाल खाकस्तरी या लालिमा लिये भूरे रंग की या मुरचई रंग लिये हरिताभ अथवा हरिताभ भूरे रंग की होती है। इसके वृक्ष पर क्षत करने से काफी दूध-जैसा स्राव निकलता है, जो थोड़ी देर रखने पर पीला हो जाता है। पत्तियाँ ६ से १६ सें० मी० (२।–७ इंच) तक लम्बी ३.७५ से ६.१२५ सें० मी० (१।। २।। इंच) तक चौड़ी रूपरेखा में लट्वाकार, आयताकार, लट्वाकार-भालाकार या अण्डाकार-भालाकार तथा सरल धार वाली, सोपपत्र एवं एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं। अग्र नुकीला या कभी सहसा कुण्ठिताग्र नोकयुक्त तथा आधार की ओर चौड़ाई उत्तरोत्तर कम होती है। पर्णवृन्त २½ से ५ सें० मी० (१–२ इंच) लम्बा तथा ऊर्ध्व तल पर हलखातयुक्त और उपपत्र ⅘ से २.५ सें० मी० (½–१ इंच) लम्बे, लट्वाकार, भालाकार होते हैं। फल गोलाकार-से (*Subglobose*), व्यास में २·५ से ३·७५ सें० मी० (१–१।। इंच) तक तथा सूक्ष्म रोमावृत (*Downy*) होते हैं, जो काण्डस्कन्ध तथा अन्य पत्रहीन शाखाओं पर गुच्छों (*Short thick paniculate clusters*) में निकलते हैं। कच्चे पर यह हरे तथा पकने पर नारंगी के रंग के हो जाते हैं। फल सदा लगे रहते हैं। इसीलिए इसे 'सदाफल' भी कहते हैं।

उपयोगी अंग – काण्डत्वक् (छाल), फल एवं मूल (मूलत्वक्) तथा क्षीर और पत्र।

मात्रा – कच्चे गूलर का चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। छालक्वाथ—२।। से ५ तोला। पत्रका

शीरा—६ माशा से १ तोला। क्षीर (दूध)—१० से २० बूंद। जड़ का पानी—आवश्यकतानुसार।

शद्धाशुद्ध परीक्षा – फल (*Figs*)–इस कुल के अन्य वृक्षों की भाँति गूलर के फल भी कुम्भव्यूहोद्‌भव (*Syconus*) होता है, जिसमें कुम्भाभ व्यूह का दल्यक्ष (*Receptacle*) मोटा और मांसल हो जाता है। वास्तविक फल इसके अन्तःपृष्ठ पर छोटे-छोटे दानों की भाँति पाये जाते हैं, जिनको व्यवहार में बीज कहा जाता है। गूलर का उक्त फल रूपरेखा में अंजीर की भाँति या शंक्वाकार तथा व्यास में १५/८ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० (३/४ से १३/४ इंच) तक बड़ा होता है। नाभि या शीर्ष पर एक छिद्र होता है, जहाँ फल अन्दर की ओर कुछ धँसा होता है। एक ही कुम्भाभ व्यूह में पुंपुष्प, स्त्रीपुष्प (*Staminate and pistillate flowers*) तथा अप्रगल्भ स्त्रीपुष्प (*Gall flowers*) तीनों ही प्रकार के पुष्प मिले-जुले पाये जाते हैं, अथवा कुछ फलों में केवल पुंपुष्प एवं अप्रगल्भ स्त्रीपुष्प मिले-जुले होते हैं तथा अन्य फलों में केवल स्त्रीपुष्प होते हैं। कभी-कभी फल बाह्य तल पर सूक्ष्म मृदुरोमावृत होते हैं। कच्चे पर यह हरे रंग के तथा पकने पर मटमैले या नारंगी रंग के अथवा गाढ़े लाल रंग के हो जाते हैं। पुंपुष्प प्रायः अवृन्त होते हैं तथा छिद्र के पास स्थित होते हैं। प्रत्येक पुंपुष्प में ३–४ खण्डों का सवर्ण कोश तथा १–२ पुंकेशर होते हैं। अप्रगल्भ स्त्रीपुष्प सवृन्त होते हैं और पुंपुष्पों के साथ पाये जाते हैं। स्त्रीपुष्पों से छोटे-छोटे बीज की भाँति युतोत्फल (*Achenes*) बनते हैं। शाक के रूप में अथवा औषध्यर्थ व्यवहृत करने के लिए कोमल अप्रगल्भ कच्चे फलों का व्यवहार करना चाहिए।

काण्डत्वक् (छाल)—पुराने वृक्षों के काण्डस्कंध तथा मोटी शाखाओं से प्राप्त गूलर की छाल हरिताभ मुरचई (*Rusty-greenish*) रंग की होती है। किन्तु इसका बाहरी स्तर कागज की तरह पतले पर्तों में पृथक् हो जाता है, और तब छाल मुरचई-भूरे रंग की मालूम होती है, और यही इसका वास्तविक रंग है। छाल का बाह्य तल काफी चिकना और मुलायम होता है, और पीपल तथा बरगद की छाल की भाँति न तो यह फटा ही होता है, और न तो इसपर कड़े चप्पड़ ही पृथक् हुए होते हैं। वातरंध्रों के कोई स्पष्ट चिह्न भी नहीं पाये जाते। गूलर की छाल प्रायः ६.१५ मि० मी० से १८.६५ मि० मी० या १/४ इंच से ३/४ तक मोटी होती है। कभी-कभी छाल पर अनुलम्ब दिशा में सूक्ष्म दरारें पायी जाती हैं तथा बाह्य स्तर के छोटे-छोटे कागजी पर्त छूटे हुए लगे होते हैं। उक्त पर्त अंगुलियों से रगड़ने से आसानी से पृथक् हो जाते हैं। कभी-कभी बहुत पुराने वृक्षों की छाल पर कड़े चप्पड़ भी छूटते हैं। ऐसी छाल का बाह्य तल चिकना न होकर कुछ ऊबड़-खाबड़-सा होता है। पूरी छाल की रचना एक तरह की तथा कुछ चर्मिल-सी (*Homogeneous leathery texture*) होती है। ताजी छाल का अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर बाह्य त्वक् एक भूरी रेखा के रूप में दिखाई देती है और छाल का शेष भाग मांस के रंग का होता है; किन्तु छाल के सूख जाने पर यह रंग हल्का पड़ जाता है। छाल में कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में यह कसैली होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – सर्वत्र सुलभ होने एवं अत्यंत सस्ती होने से इसमें जान बूझ कर मिलावट की कोई सम्भावना नहीं होती।

संगठन–इसमें टैनिन (*Tannin*), मोम और काउच्चूक (*Caoutchouc*) अर्थात् रबड़ और भस्म में सिलिका तथा फास्फोरिक एसिड आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – शुष्क कच्चे फल–६ मास। छाल–२–३ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कषाय, मधुर। विपाक–कटु–। वीर्य–शीत। कर्म–कफपित्तशामक। छाल एवं कच्चे फल–अग्निसादक, स्तम्भन, रक्तपित्तशामक, गर्भाशयशोथहर, शुक्रस्तम्भन, मूत्रसंग्रहणीय, प्रमेह-नाशक, दाहप्रशमन। पक्व फल–श्लेस्मनिःसारक, मनः प्रसादकार, शीतल, रक्तसांग्राहिक किन्तु कृमिकारक होता है। स्थानिक प्रयोग से छाल एवं पत्रक्वाथ शोथहर, वेदना-स्थापन, वर्ण्य एवं व्रणरोपण। दूध—शीतल, स्तम्भक, रक्तसांग्रहिक, पौष्टिक एवं शोथहर होता है। यूनानी मतानुसार कच्चा गूलर दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष तथा पका गूलर दूसरे दर्जे में गरम और पहले दर्जे में तर होता है। कच्चे गूलर को पका कर तरकारी की भाँति खाया जाता है। संग्राही एवं स्तम्भन होने के कारण यह रक्तातिसार, प्रवाहिका एवं ग्रहणी के दस्तों

को तथा ववासीर के खून को भी वन्द करता है। कच्चे फल औषधिरूप में तथा पथ्यरूप में दिये जा सकते हैं। रक्तप्रदर एवं श्वेतप्रदर में छाल तथा पत्रक्वाथ की उत्तरवस्ति दी जाती है अथवा उदुम्वरसार का पिचु धारण किया जाता है। अन्य रक्तपित्तावस्थाओं में छाल तथा फल का व्यवहार कर सकते हैं। दाहप्रशमन एवं संशमन होने से जड़ का पानी राजयक्ष्मा एवं मधुमेह में पिलाते हैं। मधुमेहियों में पके फल पथ्यरूप से भी दिये जा सकते हैं। दाहरोग में पके फलों का शर्वत दे सकते हैं। मूत्रसंग्रहणीय होन से वहुमूत्र रोग में भी उपयोगी है। शोथ, वेदना, व्रण एवं वर्णविकारों में गूलर के शुंग का लेप किया जाता अथवा दूध लगाया जाता है और क्वाथ का उपयोग व्रण धोने के लिए किया जाता है। चरकोक्त मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय (च० सू० अ० ४), कषाय स्कन्ध (च० वि० अ० ८) तथा सुश्रुतोक्त न्यग्रोधादि गण की औषधियों में उदुम्वर (गूलर) का भी उल्लेख है।

योग – उदुम्वर-सार।

विशेष – गूलर की जड़ से पानी निकालने की विधि :— गूलर के युवा वृक्ष की जड़ में गड्ढा खोद कर, उसकी किसी एक जड़ को काट कर घड़े के अन्दर रख दें। जड़ से वूंद-वूंद पानी टपक कर घड़े में एकत्रित होता जायगा। इसी पानी को लेकर आध पाव से पाव भर तक प्रातः-सायं अथवा आवश्यकतानुसार पिलावें।

गोखरू छोटा (गोक्षुर)

नाम। सं०—गोक्षुर, त्रिकण्टक, चणद्रुम, वनशृंगाट, श्वदंष्ट्रा। हिं०—गोखरू, छोटा गोखरू, गुलखुर। वं०—गोखरी। म०—सराटे, कांटे गोखरू। गु०—मीठा गोखरू, न्हाना गोखरू, वेठां गोखरू। पं०—मखड़ा। अ०—हसक। फा०—खारखसक। अं०—स्माल कैल्ट्रोप्स (*smll Caltrops*), कैल्ट्रोप्स (*Caltrops*), कैल्ट्रेप्स (*Caltrap*)। ले०—ट्रीवुलुस फ्रुक्टुस (*Tribulus Fructus*)। **वानस्पति का नाम** – ट्रीवुलुस टेरेस्ट्रिस (*Tribulus terrestris Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – धन्वयास-कुल (ज़ीगोफ़िल्लासे *Zygophyllaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष, विशेषतः उत्तर एवं दक्षिण भारत में ऊसर या परती जमीन में इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। अन्य उष्ण कटिवन्धीय देशों में भी होता है।

संक्षिप्त परिचय – छोटे गोखरू के कण्टकारी (भटकटैया) की भाँति जमीन पर फैलने वाले एकवर्षायु या वहुवर्षायु अथवा वर्षानुवर्षी क्षुद्र पौधे होते है। प्रधान काण्ड एवं शाखाएँ मृदुरोमावृत (*Pilose*) होती हैं। पत्तियाँ ५ से ६.५ सें० मी० (२ इंच से ३ इंच तक) लम्वी, सपत्रक तथा अभिमुख क्रम से (एक स्थान पर आमने-सामने दो-दो) स्थित होती हैं। प्रत्येक पत्ती ४ से ७ जोड़े पत्रकों (*Leaflets*) वाली होती है। पुष्प-पत्र कोणोद्भूत (*Axillary*) अथवा पत्तियों के अभिमुख (*Leaf-opposed*) हल्के पीले रंग के होते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncle*) १ से १.२ सेंटीमीटर लंवा; शरद् ऋतु में पुष्प तथा वाद में फल लगते हैं। दूर से इसका पौधा चने के पौधों-जैसा लगता है।

उपयोगी अंग – (१) पंचाङ्ग (२) फल (३) मूल।

मात्रा – (१) फलचूर्ण—३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। (२) क्वाथ—५ से १० तो०। चूर्ण के लिए फल तथा क्वाथ से लिए पंचाङ्ग एवं मूल का प्रयोग किया जाता है।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गोखरू का फल गोलाकार, काँटेदार, ईषत् पंचकोणीय होता है। वास्तव में उक्त फल ५ काष्ठीय (कड़े) कोष्ठों (*Woody Cocci*) के परस्पर मिलने से वनता है। अप्रगल्भ तथा हरे फल सूक्ष्म रोमावृत होते हैं। प्रत्येक कोण के ऊपरी एवं निचले सिरे पर दो-दो मृदु कण्टक होते हैं। इस प्रकार १० कण्टक ऊपर और १० नीचे (प्रत्येक कोष्ठ या कोकस ४-४ कण्टकों से युक्त) होते हैं। प्रत्येक कोष्ठ में छोटे-छोटे वीज भरे होते हैं। फलों में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य (*Foreign Organic matter*) अधिकतम ८ प्रतिशत हो सकते हैं। गोखरूमूल—गोखरू की जड़ मुलायम, रेशेदार, वेलनाकार तथा ४-५ इंच लम्वी, वाहर से हल्के भूरे (*Light brown*) रंग की होती है। इसमें एक हल्की सुगंधि पायी जाती है, तथा स्वाद में किंचित् मधुर एवं कसैली होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – छोटे गोखरू का एक और भेद होता है, जो पश्चिम भारत, विशेषतः पंजाव, सिंध, वलूचिस्तान, फारस, अरव एवं मिस्र में होता है। नामः—

हिं०-गोखुरे कलाँ, वाखरा। सिंध-निढोनिकुंड, लटक। पं०-हसक। अं०-विंग्डकैल्ट्रोप्स (*Winged Caltrops*)। ले०-ट्रीबुलस आलाटुस (*Tribulus alatus Delile.*)। इसके फल पिरामिडाकार, सपक्ष (*Winged*) होते हैं तथा प्रत्येक कोष्ठ में २-२ बीज होते हैं तथा कण्टक परस्पर मिले हुए (*Confluent*) होते हैं। इसका ग्रहण छोटे गोखरू के प्रतिनिधि के रूप में कर सकते हैं। कहीं-कहीं लोग छोटे गोखरू के स्थान में बड़े गोखरू का भी ग्रहण कर लेते है, किन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। *Acanthospermum hispidum DC.* नामक पौधे के फल छोटे गोखरू के पृथक् कोष्ठों (*Individual cocci*) से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। अतएव जिन प्रान्तों में यह अधिक होता है, वहाँ इसके मिलावट का भी ध्यान रखना चाहिए।

संगठन – फल में एक ऐल्कलायड या क्षारोद (०.००१%), स्थिर तेल (३ से ५%), अत्यल्प मात्रा में एक उत्पत् तेल, राल और पर्याप्त मात्रा में नाइट्रेट्स पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – क्वाथार्थ पंचांग एवं मूलका यथा-सम्भव ताजी अवस्था में संग्रह करना चाहिए। सूखी अवस्था में प्रयुक्त करने के लिए फल पक जाने पर पूरी वनस्पति खोद कर, सुखा कर अनार्द्र शीतल स्थान में डिब्बों में संग्रहीत करें। फलों के लिए पके फल सुखा कर वन्द पात्रों में रखें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–मूत्रल, वृष्य, वाजीकर, श्वासकासहर। चरकोक्त (सू० अ० ४) कृमिघ्न, अनुवासनोपग, मूत्रविरेचनीय, शोथहर महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त विदारिगन्धादि, वीरतर्वादि, लघुपंचमूल, कण्टकपंचमूल तथा वाताश्मरीभेदन गणों में गोक्षुरक (गोखरू) भी है।

मुख्य योग – गोक्षुरादि चूर्ण, गोक्षुरादि क्वाथ, गोक्षुराद्यवलेह, गोक्षुरादि गुग्गुलु, दशमूलक्वाथ एवं दशमूलारिष्ट तथा अर्क मुरक्कव मुसफ्फीखून।

विशेष – गोखरू का प्रवाही घनसत्व (लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट ऑफ गोखरू (*Liquid Extract of Gokhru*) भी वाजारों में मिलता है। मात्रा–३० से ६० बूंद (½ से १ ड्राम)। गोखरु पंचाङ्ग को जल में भिगो कर अर्क गोखरू भी बनाया जा सकता है। इसको लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट की भांति व्यवहृत कर सकते हैं। फलचूर्ण को एकौषधि की भांति भी व्यवहृत कर सकते हैं।

गोखरू बड़ा (बृहद् गोक्षुर)

नाम। सं०-तिक्तगोक्षुर, बृहद्गोक्षुर। हिं०-बड़ा गोखरू (गोखुर), विलायती गोखरू, हस्तिचिंघाड़। बं०-बड़-गोखरि। म०-मोठें गोखरू। गु०-ऊभा गोखरू, म्होटा-गोखरू, कड़वा गोखरू। द०-बड़ा गोकरू, हत्ती गोकरू। पं०-गोखरू कलाँ। अ०-हसके कवीर। फा०-खारेखसके कलाँ। ले०-पेडालिउम मूरेक्स (*Pedalium murex L.*)।

वानस्पतिक कुल – तिल-कुल (पेडालिआसे *Pedaliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारतवर्ष, विशेषतः समुद्रतट, गुजरात, कोंकण तथा लंका। इसके अतिरिक्त उष्ण कटिबंधीय अफ्रीका के रेतीले प्रदेश।

संक्षिप्त परिचय – बड़े गोखरू के छोटे-छोटे पौधे होते हैं, जिसकी शाखाएँ कुछ जमीन पर फैलती है, और कुछ शाखाएँ ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति की भी होती हैं। शाखाएँ एवं पत्तियाँ काफी रसदार (*Succulent*); नवीन शाखाएँ, पत्रवृन्त एवं पत्तियों के अधः पृष्ठ एवं कोमल फल ओस-जैसी सफेद रचना से आवृत (*Froasted appearance*) होते हैं, जो वास्तव में सूक्ष्म ग्रंथियाँ (*Glands*) होती हैं। पत्तियाँ अंडाकार होती हैं, जिनके अग्र कुण्ठित एवं किनारे दंतुर (*Dentate*) होते हैं। इसमें पीले रंग के फल आते हैं जो पत्र कोणोद्भूत पुष्पवृन्तों (*Pedicels*) पर धारण किये जाते हैं। इसके ताजे पौधे में एक प्रकार की कस्तूरीवत् किन्तु अप्रिय गन्ध होती है। इसकी ताजीहरी डालियों को विना कुचले जल में हिलाने मात्र से जल अंडे की सफेदी की भाँति गाढ़ा एवं पिच्छिल हो जाता है। लवाव का स्वाद अस्पष्ट और विशेष प्रकार का, परंतु अप्रिय नहीं होता है। इसमें न कोई रंग होता है और न कोई गंध।

उपयोगी अंग – (१) फल (२) पंचाङ्ग (पत्र)।

मात्रा – (१) फलचूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
(२) पत्रचूर्ण–१ तो०।
(३) क्वाथार्थ फल–२-३ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजार में बड़ा गोखरू के नाम से इसके सूखे फल मिलते हैं। ताजा फल हरे रंग का, मांसल, अधोलम्बी (*Pendulous*) तथा लगभग ½ इंच

लम्बा और आधार की ओर के चौड़े भाग का व्यास ½ इंच होता है। फल प्रायः चतुष्कोणाकार-से होते हैं, जिनके प्रत्येक कोण पर एक कण्टक होता है। सूखे फल हल्के होते हैं। प्रत्येक फल दो कोष्ठों में विभाजित होता है, तथा इसमें ४ बीज पाये जाते हैं। छोटे गोखरू की अपेक्षा बड़े गोखरू का फल काफी बड़ा होता है। भस्म–५.४३ प्रतिशत।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को सुखा कर बंद पात्रों में रखें।

संगठन – फल में एक हल्के हरे रंग की चर्वी, अल्प प्रमाण में राल, एक क्षारोद एवं निर्यास आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – स्निग्ध, रूक्ष एवं शीतवीर्य। प्रधान कर्म–बलकारक, वस्ति शोधन, प्रमेहनाशक, शुक्रल।

गोरखमुण्डी – दे०, 'मुण्डी'

घीकुआर (घृतकुमारी)

नाम । सं०–कुमारी, गृहकन्या, घृतकुमारिका । हिं०–घीकुआर, ग्वारपाठा, गोंड़पट्ठा, ढेकवार । कु०–पतकुंवार । पं०–कुवारगंदल । म०–कोरफड, कोरकांड । गु०–कुंवार । कच्छ–लेपरी । अ०–सब्वारत, अलसी, नवातुस्सिब्र । फा० – दरख्तेसिब्र । अं० – *Barbados Aloe, Common Indian Aloe, Curacao Aloe,* । ले०–आलोए बार्वाडेंसिस *Aloe barbadensis Mill.* (पर्याय–*A. vera Tourn. ex. L.*) ।

घृतकुमारी रससार । हिं०, द०–एलुआ, एलुवा, मुसब्बर । म०–एलिया, कालाबोल । गु०–एलियो । बं०–मोशब्बर । गु०–एलीओ । अ०–सिब्र । फा०–सिब्र, शबयार । अं०–एलोज़ (*Aloes*) ।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लिलियासे *Liliaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – अफ्रीका, अरब एवं भारतवर्ष। भारतवर्ष में जो घृतकुमारी पायी जाती है, वह मुख्यतः एलो वेरा या इसी के विभिन्न भेदोपभेद (*Varieties*) हैं। यह वास्तव में उत्तरी अफरीका एवं स्पेन का आदिवासी पौधा है, जो अब पश्चिम की ओर पश्चिमी द्वीपसमूह (*West Indies*) एवं पूरब में भारतवर्ष एवं चीन तक फैल गया है। मैसूर तथा काठियावाड़ के जफराबाद (*Jaferabad*) नामक स्थान में व्यावसायिक रूपसे 'मुसब्बर' बनाया जाता है। किन्तु विदेशों से भी काफी परिमाण में मुसब्बर आता है, जो उत्पत्तिस्थान के आधार पर विभिन्न व्यावसायिक नामों (यथा केप एलोज़, स्कोत्रीन एलोज़, जंजीबार एलोज़ एवं अदन-एलोज़ आदि) से अभिहित किया जाता है। इनका आयात विशेषतः बम्बई में होता है। यहाँ पुनः उनकी पैकिंग की जाती है और यूरोपीय बाजारों तथा विभिन्न भारतीय बाजारों को भेजा जाता है। भारतीय बाजारों में जो मुसब्बर मिलता है, वह सम्भवतः अरबी मुसब्बर या अदनएलोज होता है।

संक्षिप्त परिचय – घृतकुमारी का गुल्म बहुवर्षायु स्वभाव का होता है, जो प्रायः ३० सें० मी० से ६० सें० मी० या १-२ फुट ऊंचा होता है। पत्तियाँ विनाल होती हैं तथा काण्ड पर सघन रूप से स्थित होती हैं। यह प्रायः हाथ–डेढ़ हाथ लम्बी, ३-४ अंगुल चौड़ी, रूपरेखा में कुछ गोपुच्छाकार या भालाकार, तीक्ष्णाग्र, बहुत मोटी और गूदेदार तथा बाहर से चमकीले हरे रंग की होती हैं। पत्रप्रांत कुछ मुड़े हुए तथा शुद्र काँटे युक्त होते हैं। जब पत्ते पूरे बढ़ चुकते हैं, और क्षुप पुराना हो जाता है, तब पत्तों के बीच से एक डंडा या मूसला (पुष्पध्वज या पुष्पवाहक दण्ड *Scape*) निकलता है, जिसपर पीले तथा लाल रंग के पुष्प निकलते हैं। प्रायः जाड़े के अन्त में इसमें पुष्प एवं फल लगते हैं। औषधीय दृष्टि से घीकुआर के पत्ते विशेष महत्त्व के हैं, जिनको काटने पर पिलाइ लिये लसीला कड़ुआ द्रव और सफेद गूदा निकलता है, जिसको लुआब घीकुआर कहते हैं। इसीको विशेष प्रक्रियाओं द्वारा सुखा कर जमाने से व्यावसायिक एलुआ, मुसब्बर या सिब्र प्राप्त होता है।

भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में पाये जाने वाले घृतकुमारी के पौधों में थोड़ा-बहुत अन्तर लक्षित होता है; किन्तु वास्तव में यह एलोवेरा के ही विभिन्न भेद (*Varieties*) हैं। दकन एवं मध्य प्रदेश में पायी जाने वाली घृतकुमारी के पत्तों की जड़ प्रायः कुछ नीलारुण वर्ण की होती है, तथा काँटे भी अधिक तीक्ष्ण नहीं होते। इसे *Aloe vera var. chinensis Baker* कहते हैं। मद्रास प्रान्त में प्रायः *A. vera var. littovralis Koenig ex Baker* भेद पाया जाता है, जिसकी पत्तियाँ अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। काठियावाड़ में जो भेद पाया जाता है, उसे एलो एबिसीनिका *A.*

abyssinica कहते हैं। जाफरावादी मुसव्वर प्रायः इसी से बनाया जाता है।

घृतकुमारी की विदेशीय व्यावसायिक प्रजातियाँ – (१) स्कोत्रा एवं जन्जीवार से जो मुसव्वर (स्कोत्रीन एलोज *Scotrine Aloes*) आता है, वह प्रायः एलोज परेई *A. perryi Baker* नामक जाति की पत्तियों से बनाया जाता है। (२) केप एलोज (अफ्रीका के केप ऑफ गुडहोप प्रान्त से आने वाला मुसव्वर) – एलोज फेरोक्स *A. ferox Mill.* तथा इसकी मिश्रित जातियों (*Hybrids*) से प्राप्त होता है। (३) वारवेडोज एलोज (*Curacao or Barbados aloes*)–भारतीय घृतकुमारी के ही एक निकटतम भेद से बनाया जाता है, जिसे *Aloe vera Tourn. ex Linn. var officinalis* (*Forst*) कहते हैं।

उपयोगी अंग – कुमारीसार (मुसव्वर) एवं पत्र।

मात्रा – पत्रगूदा–६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तोला। मुसव्वर–१२५ मि० ग्रा० से ५०० मि० ग्रा० या १ से ४ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मुसव्वर के गाढ़े भूरे से लेकर काले रंग के अनियमित स्वरूप के टुकड़े होते हैं, जिनका वाह्य तल मटमैला, अपारदर्शक तथा कुछ चमकीला होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है, तथा स्वाद में तिक्त एवं अरुचिकारक एवं किंचित् उत्क्लेशकारी होता है। घृतकुमारी की जातिभेद एवं रसक्रिया में वाष्पीभवन की प्रक्रिया के भेद से मुसव्वर के रंग-रूप में भी किंचित् अन्तर हो जाता है। जो रस धूप में अथवा मन्द आँच पर धीरे-धीरे सुखाया जाता है, वह मुसव्वर अनाकार, अपारदर्शक एवं चिकना होता है। किन्तु जब तेज आँच पर शीघ्रतापूर्वक सुखा कर ठंढा किया जाता है, तो अर्ध पारदर्शक एवं अधिक चिक्कण तथा चमकदार (*Glassy or Vitreous*) होता है। स्कोत्रा का मुसव्वर पीताभ या कालिमा लिये भूरे रंग का होता है। जंजीवार का मुसव्वर कलेजी के रंग का (भूरे रंग का) होता है। केप मुसव्वर गाढ़े भूरे रंग का अथवा हरी आभा लिये भूरे रंग का होता है। वारवेडोज का मुसव्वर चाकलेटी भूरे रंग का होता है। अदनीसिब्र या मुसव्वर बड़े टुकड़े में काले रंग का होता है, किन्तु इसके कण प्रायः पारभासी तथा पीताभ-भूरे रंग के होते हैं। नाइट्रिक एसिड में डालने पर विलयन गाढ़े लाल रंग का हो जाता है। जफरावादी (काठियावाड़ी) मुसव्वर भी रंग-रूप में अदनीसिब्र की भाँति होता है, किन्तु नाइट्रिक एसिड के सम्पर्क से रंग में परिवर्तन नहीं होता। मुसव्वर में आर्द्रता का अंश अधिकतम १२% तक होता है। ऐल्कोहल् में अविलेय सत्व–अधिकतम १२%। जलविलेय सत्व–कम-से-कम ५०%। भस्म–अधिकतम ४%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बाजारू मुसव्वर में कभी-कभी काले कत्थे, बालू-रेत एवं लोहे के बुरादे आदि का मिलावट करते हैं। ऐल्कोहल् में घोल कर इनका विनिश्चय किया जा सकता है। नील लोहितातीत किरणों (*Ultra-violet rays*) से परीक्षा करने पर मुसव्वर का रंग तो गाढ़े भूरे रंग का किन्तु कत्था काले रंग का निदर्शन करता है। कुमारी की कतिपय अन्य जातियों (यथा *A. candelabrum Berger, A. succortrina Lam.*) से भी मुसव्वर प्राप्त किया जाता है, किन्तु यह हीन कोटि का होता है। भारतवर्ष में मैसूर में जो मुसव्वर बनाया जाता है, वह भी हीन कोटि का होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – मुसव्वर बनाने के लिए घीकुआर के पत्र को जड़ के समीप आड़े बल में काटने पर जो गाढ़ा रस निकलता है, उसे किसी उपयुक्त पात्र में संग्रह करके वाष्पीकरण की विधि से उबाल कर घन रसक्रिया प्रस्तुत करके सुखा लेते हैं। प्रारंभ में तो रस रंगरहित होता है, किन्तु वाष्पीकरण एवं क्वथन की क्रिया के उपरान्त काला हो जाता है। मुसव्वर को अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में सुरक्षित करना चाहिए।

संगठन – मुसव्वर का सक्रिय घटक 'एलोइन' होता है, जो ग्लुकोसाइड्स का मिश्रण होता है, तथा विभिन्न व्यावसायिक नमूनों में १०% से ३०% तक पाया जाता है। एलोइन में वार्वेलोइन (*Barbaloin*), आइसो वारवेलोइन (*Isobarbaloin*) एवं एलो-इमोडिन (*Aloe-emodin*) आदि घटक पाये जाते हैं। एलोइन के अतिरिक्त इसमें रेजिन तथा उत्पत् तैल (जिस पर इसका गंध निर्भर करता है) आदि सत्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह संरक्षित करने से कई वर्षों तक इसकी सक्रियता बनी रहती है।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–भेदन। एलुआ–

लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण है। प्रधान कर्म—अल्प मात्रा में दीपन, पाचन, कटु पौष्टिक, भेदन, यकृदुत्तेजक तथा बड़ी मात्रा में विरेचन एवं कृमिघ्न, रक्तशोधक, मूत्रल, आर्त्तवजनन एवं गर्भस्रावकर, ज्वरघ्न। कुमारी स्वरस तथा गूदा वल्य एवं वृंहण हैं। वाह्य प्रयोग से यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण भी है। यूनानी मतानुसार घीकुआर तथा मुसब्बर दोनों दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क हैं। अहितकर—यकृत्, आमाशय एवं आन्त्र को। एलुआ आंत्र में संक्षोभ करता है, अतएव अर्श में यह अहितकर है। निवारण—कतीरा और गुलाव पुष्प। प्रतिनिधि—कब्ज निवारण के लिए घीकुआर का एलुआ तथा एलुआ का निशोथ।

मुख्य योग – कुमार्यासव, रजःप्रवर्त्तनी वटी, कुमारी वटी, कुमारी पाक; हब्व शवयार, हब्व अयारिज, हब्व सिब्र, हब्वतंकार।

विशेष – इसके द्वारा रेचन में पेट में ऐंठन वहुत होती है, अतएव उद्वेष्ठहर (ऐंठन निवारक) द्रव्य भी मिलाना चाहिए। मुसब्बर की विशिष्ट क्रिया वृहदन्त्र पर होने के कारण, कटि प्रदेश में रक्ताधिक्य का उपद्रव होता है। अतएव आंत्रगत संक्षोभ की अवस्था में तथा गर्भवती एवं स्तन्यपान कराने वाली स्त्रियों में तथा अर्श के रोगियों में इसका व्यवहार यथासम्भव कम अथवा सतर्कता से करना चाहए। आर्तव जनन के लिए मासिक धर्म के समय से एक सप्ताह पूर्व इसका सेवन प्रारम्भ करा देना चाहिए। इसका उत्सर्ग स्तन्य एवं मूत्र के साथ होता है।

चन्दन लाल

नाम। सं०—रक्तचन्दन। हिं०—लालचन्दन। गु०—रतांजली, लाल चन्दन। वं०—रक्तचंदन। क०—रक्तचन्दुन। ता०—शेंञ्, शंदनम्। अ०—संदले अहमर। फा०—संदले सुर्ख। अं०—रेड सैन्डर्स (*Red Sanders*), रेड सैन्डल वुड (*Red Sandal-wood*)। ले०—प्टेरोकार्पुस सांटालिनुस (*Pterocarpus santalinus Linn. f.*)। लेटिन नाम इसके वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – शिम्वी-कुल (लेगूमिनोसी : *Leguminosae*)।

प्राप्तिस्थान – दकन के पश्चिमवर्ती जांगल प्रदेशों (विशेषतः दक्षिण कर्नाल एवं उत्तरी अर्काट आदि) तथा कड़प्पा एवं चिंगलीपुट की पहाड़ियों में ४५७.२० मीटर (१,५०० फुट) की ऊंचाई तक इसके जंगली वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। लाल चन्दन की लकड़ी का आयात मलावार से प्रथम वम्बई, कलकत्ता आदि बड़े वाजारों में होता है। वहाँ से सभी भारतीय वाजारों में भेजा जाता है। लाल चन्दन की लकड़ी के लम्बगोल टुकड़े तथा बुरादा सर्वत्र वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – लाल चन्दन के मध्यम कद के वृक्ष (३० फीट तक ऊंचे) होते हैं। कोमल शाखाएँ, सूक्ष्म खाकस्तरी मृदुरोमावृत; पत्तियाँ प्रायः ३–पत्रक (कभी-कभी ५ पत्रकों से युक्त) पत्रक ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बे तथा अग्र एवं आधार दोनों ओर तट गोलाकार तथा कुछ कटा-सा (*Slighty emarginate*) तथा अधः पृष्ठ तल से चिपके सूक्ष्म खाकस्तरी रोमावृत होता है। पुष्प छोटे-छोटे होते हैं, जो छोटे पुष्पवृन्तों पर धारण किये जाते हैं और मञ्जरियों में निकलते हैं। वाह्यकोश ५ मि० मी० से ६.२५ मि० मी० या १/५ से १/४ इंच तक लम्बा तथा दन्तुर धार वाला होता है। शिम्बी या फली ५ से ७.५ सें०मी० या २-३ इंच लम्बी कोमलावस्था में रेशमी रोमावृत्त होती है। किन्तु प्रगल्भ फलियाँ कड़ी हो जाती हैं और आधार की ओर के एक कोने पर चोंच-सी निकली होती है। फलियों में गुञ्जासदृश लाल वीज होते हैं। लाल चन्दन में गर्मियों में पुष्प एवं पुष्पों के गिरने के वाद फलियाँ लगती हैं। इसका सारकाष्ठ औषध्यर्थ एवं पूजन आदि में व्यवहृत होता है।

उपयोगी अंग – हृत्काष्ठ या काण्डसार (*Heart-wood*) तथा उसका बुरादा (*Saw-wood*)।

मात्रा – वुरादा ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – सफेद चन्दन की भाँति वाजार में लाल-चन्दन के भी छोटे-वड़े, लम्वगोल-वेलनाकार टुकड़े मिलते हैं, जो कुछ कालापन लिये लाल होते हैं। लकड़ी कड़ी एवं वजनदार होती है और पानी में डूव जाती हैं। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटे तल पर कुछ भाग कालिमा लिये लाल तथा वीच-वीच में तनु भित्तिक-ऊति का भाग फीके रंग का होता है, जिसमें केल्सियम ऑक्जलेट क्रिस्टल्स पाये जाते हैं। लाल चन्दन के टुकड़ों को जल से घिसने पर लाल रंग निकलता है। यह प्रायः निर्गन्ध तथा स्वाद में कषाय एवं तिक्त होते हैं। उत्ताप देने से इसमें से हलकी सुगंध आती है। लाल चंदन की लकड़ी में

सर्वत्र एक लाल रंजक तत्त्व पाया जाता है। ऐल्कोहल (६५%) में विलेय सत्व—कम-से-कम २०% तक प्राप्त होता है। भस्म—अधिकतम २%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट — साधारण मूल्यों पर मिलने के कारण प्रायः इसमें मिलावट की सम्भावना कम होती है। किन्तु चूंकि लाल चन्दन में कोई विशेष गंध नहीं होती, इसलिए तत्सम अन्य काष्ठ भी मिलाये जा सकते हैं। बंगाल में आडेनान्थेरा पावोनिआ *Adenanthera pavonia Willd.* (*Family : Leguminosae*) को भी रंजन, रक्त कम्बल, रक्त चन्दन आदि कहते हैं। किन्तु यह पृथक् द्रव्य है, और इसके काष्ठ का व्यवहार रक्त चन्दन के नाम से नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण — लकड़ी एवं बुरादे को मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन — लाल चन्दन की लकड़ी में सैन्टेलिन (*Santalin* या सैन्टलिक एसिड *Santalic acid*) नामक रंजक तत्त्व पाया जाता है, जो ऐल्कोहल् में लाल रंग का विलयन, ईथर में पीला तथा अमोनिया एवं दाहक क्षारों (*Caustic alkalies*) में बैंगनी रंग का हो जाता है। किन्तु जल में अविलेय होता है। हृत्काष्ठ में उक्त रंजक तत्त्व के अतिरिक्त टेरोकार्पिन (*Pterocarpin*), होमोटेरोकार्पिन एवं सैन्टोल (*Santal*) नामक तीन अन्य रंगहीन क्रिस्टली तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि — ४ वर्ष।

स्वभाव — गुण—गुरु, रूक्ष। रस—तिक्त, कषाय। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। कर्म—कफपित्तशामक; दाहशामक, स्तम्भन, शोथहर, त्वग्दोषहर, छर्दि एवं तृष्णानिग्रहण, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक, कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन, ज्वरनाशक, विषघ्न आदि।

मुख्य योग — चन्दनादि लौह। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पटोलादि, सारिवादि एवं प्रियङ्ग्वादि गण की औषधियों में 'कुचन्दन' नाम से रक्त चन्दन का भी उल्लेख है। कुचन्दन एवं रक्त चन्दनको डल्हण ने पर्याय माना है 'कुचन्दनं रक्तचन्दनम्' इति डल्हणः।

चन्दन सफेद

नाम। सं०—श्वेतचन्दन, भद्रश्री, श्रीखण्ड, चन्दन, मलयज। हिं०—चंदन, सफेदचंदन। द०—संदल। बं०—श्वेत-चन्दन, सादाचंदन। गु०—सुखड। म०—चंदन। अ०—संदले अब्यज। फा०—संदले सफेद। अं०—सैन्डल वुड (*Sandal wood*)। ले०—सांटालुम आल्बुम (*Santalum album Linn*)। लेटिन नाम इसके वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल—चन्दन-कुल (सांटालासे : *Santalaceae*)।

प्राप्तिस्थान — दक्षिण भारत में मैसूर, कुर्ग, मलाबार आदि में सफेद चन्दन के जंगली वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। अन्यत्र भी बगीचों में सौन्दर्य के लिए इसके लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। किन्तु बाजारों में आने वाली सुगन्धित लकड़ी दक्षिण भारत से ही प्राप्त की जाती है। चन्दन का तेल भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य है। औषधि में सफेद चंदन का हृत्काष्ठ, बुरादा (*Sawwood*) एवं तेल का व्यवहार होता है, जो बाजारों में मिलते हैं। मैसूर में इसके कारखाने भी हैं।

संक्षिप्त परिचय — सफेद चन्दन के छोटे कद के सदाहरित वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ पतली तथा नम्य पत्तियाँ ३.७५ सें० मी०—६.२५ सें० मी० हैं १.२५ सें० मी०—३.१२५ सें० मी० (१॥-२॥ इंच × ½—१। इंच) तक चौड़ी, संवृन्त, रूपरेखा में अंडाकार-भालाकार, अग्र की ओर कुछ नुकीली-सी, चिकनी तथा सरल धार वाली होती हैं। आधार की ओर भी चौड़ाई उत्तरोत्तर कम चौड़ी होती है। पर्णवृन्त पतले तथा १.८७ सें० मी०—३.१२५ सें० मी० या ॥।—१। इंच तक लम्बे होते हैं। पुष्प भूरापन लिये नीलारुण (*Brownish purple*) तथा, गंधहीन होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत एवं शाखाग्र्य छोटी मञ्जरियों में निकलते हैं। फल गोलाकार व्यास में आध इंच तक तथा कालिमा लिये जामुनी रंग के होते हैं, जिनमें गुठली होती है। काण्ड का वाह्य काष्ठ (*Sapwood*) तो सफेद गंधहीन होता है, किन्तु हृत्काष्ठ (*Heartwood*—विशेषतः पुराने वृक्षों में) पीताभ भूरे रंग का तथा सुगन्धित होता है। औषधि में उक्त काष्ठ एवं इसके बुरादे तथा इससे प्राप्त तैल (चन्दन का तेल) का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग — काष्ठसार का बुरादा एवं इससे प्राप्त सुगंधित तेल।

मात्रा — चूर्ण—३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। तेल—५ से २० बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा — सफेद चन्दन के सारकाष्ठ के छोटे-बड़े बेलनाकार टुकड़े बाजारों में मिलते हैं। यह हलके

पीले रंग के और परम हृद्य एवं चंदन की विशिष्ट स्थायी सुगंधियुक्त होते हैं। कटे हुए तल पर पीताभ एवं लालिमा लिये हुए भूरे रंग के अनेक एककेन्द्रिक वृत्त (*Concentric zones*) दिखाई पड़ते हैं, जो वास्तव में वृद्धिजन्य वार्षिक चक्र (*Annual rings*) होते हैं। अन्दर के भाग में वृत्त रेखाएँ अपेक्षाकृत अधिक चौड़ी होती हैं, जो वार्षिक चक्र न होकर कई-कई वर्षों के वाद वनती हैं। त्वचा एवं रसदारु (सैपवुड *Sapwood*) में गंध नहीं पायी जाती है। चन्दन का वुरादा भी सारकाष्ठ के रंग का होता है। चन्दन का तेल (रोग़न संदल)—सफेद चन्दन के सारकाष्ठ से आसवन द्वारा एक सुगंधित उत्पत् तैल प्राप्त किया जाता है, जिसको चंदन का तेल कहते हैं। यह रंगहीन अथवा हल्के पीले रंग का गाढ़ा द्रव होता है, जिसमें चंदन की विशिष्ट स्थायी सुगंधि पायी जाती है। किन्तु स्वाद में तेज और चरपरा अतएव अरुचिकारक होता है। चन्दन का तेल ५ भाग सुरासार या ऐल्कोहल् (७०%) में विलेय होता है।

संग्रह एवं संरक्षण — चंदन के तेल को अच्छी तरह मुखवंद शीशियों में अनार्द्र शीतल तथा अँधेरी जगह में रखना चाहिए। चन्दन की लकड़ी एवं वुरादे को मुखवंद डिब्बों में रखें।

संगठन — काष्ठ में १½% से ६% तक एक सुगंधित उत्पत् तैल (चन्दनका तेल) तथा राल एवं टैनिक एसिड प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं। मूलकाष्ठ में अपेक्षाकृत तेल अधिक पाया जाता है। तेल में ९०% (*W/W*) सैन्टेलोल (*Santalol*) या चन्दनसार तथा २% (*W/W*) सैन्टेलिल एसिटेट (*Santalyl acetate*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि—दीर्घ काल तक।

स्वभाव — गुण—लघु, रूक्ष। रस—तिक्त, मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। कर्म—कफपित्तशामक, सौमनस्यजनन, मेध्य, तृष्णानिग्रहण, आमाशय, अन्त्र एवं यकृत् के लिए वल्य, ग्राही, हृद्य, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक, कफनिःसारक, श्लेष्मपूतिहर, मूत्रजनन एवं मूत्र मार्गविशोधन, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, अंगमर्द प्रशमन एवं विषघ्न। स्थानिक (लेप के रूप में) प्रयोग से दाहप्रशमन, दुर्गन्धहर, वर्ण्य, त्वग्दोषहर होता है। यूनानी मतानुसार सफेद चंदन तीसरे दर्जे में शीत और दूसरे में रूक्ष, तथा चन्दन का तेल दूसरे दर्जे में शीत और तर होता है। अहितकर—कामावसादकर। निवारण—मधु और मिश्री।

मुख्य योग — चन्दनादि चूर्ण, चन्दनासव, चन्दनाद्यर्क, चन्दनादि वटी। (यूनानी योग)—ख़मीरा संदल सादा, ख़मीरा संदल तुर्श तिलावाला, जुवारिश संदलैन, माजून संदल, शर्वत संदल आदि।

विशेष — चरकोक्त (सू० अ० ४) वर्ण्य, कण्डूघ्न, विषघ्न, तृष्णानिग्रहण, दाहप्रशमन, एवं अङ्गमर्द प्रशमन महाकषायों में तथा (वि० अ० ८ में कहे) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सालसारादि, पटोलादि, सारिवादि, प्रियङ्ग्वादि एवं गुडूच्यादि गण तथा पित्तसंशमन वर्ग में चन्दन का उल्लेख है।

चकवड़ (चक्रमर्द)

नाम । सं०—चक्रमर्द, दद्रुघ्न, प्रपुन्नाड, एडगज। हिं०—चकवँड़, चकवड़, पँवाड़, पमाड़। द०—तरोटा। वं०—चाकुंदा। म०—टाकला। गु०—कुवाडियो। अ०—कुल्व। फा०—संगेसबूया। अं०—रिंगवर्मप्लांट (*Ringworm Plant*)। ले०—कास्सिआ टोरा (*Cassiea tora Linn*)।

वानस्पतिक कुल — शिम्वी-कुल : अम्लिका-उपकुल (*Leguminosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान—इसके पौधे भारतवर्ष के समस्त उष्ण कटिवन्धीय प्रदेशों में वरसात में परित्यक्त भूमि पर समूहवद्ध होकर उगे हुए मिलते हैं। पँवाड़ के वीज वाजारों में पंसारियों के यहाँ विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय — चकवड़ के ०.३ से १.५ मीटर या १-५ फुट ऊंचे, एक वर्षायु तथा स्वावलम्वी क्षुप होते हैं। पत्तियाँ समपक्षवत् होती हैं, जिनमें ३ जोड़े पत्रक होते हैं। पत्रक २.५ से ६.२५ सें० मी० या १-२॥ इंच लंबे, अभिलट्वाकार, गोल तथा कुण्ठिताग्र या नताग्र, रात में एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं। पुष्प मटमैले पीले रंग के तथा व्यास में ½ इंच तक पत्रकोणों में एकाकी या दो-दो साथ निकलते हैं। शिम्वी १५ से ३० सें० मी० या ६-१२ इंच लम्वी, पतली, घेरे में गोलाई लिये हुई व्यास में ₃₂⁵ सें० मी० के लगभग तथा चतुष्कोणीय होती है। फलियों में खाकस्तरी रंग के अनेक लम्व गोल वीज होते हैं, जो रूप रेखा में ईख की गंडेरी की भाँति लगते हैं। दोनों सिरे तिरछे कटे-से होते हैं। चकवड़ का संपूर्ण क्षुप विशेप गंध युक्त होता

है। बड़े पत्र लवावदार तथा स्वाद में उत्क्लेशकारक होते हैं; किन्तु कोमल पत्तियों का शाक बनाते हैं। वर्षा में पुष्प एवं शरद में फलियाँ लगती हैं।

उपयोगी अंग – बीज, पत्र एवं पंचाङ्ग।

मात्रा – बीजचूर्ण–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
पत्रस्वरस–½ से १ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – बीजों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – बीज तथा पत्र दोनों में क्राइसोफैनिक एसिड (*Crysophanic acid*) की तरह का एक ग्लुकोसाइड, पत्र में कैथार्डीन के समान एक सत्व, एक रंजक द्रव्य और खनिज द्रव्य होते हैं।

वीर्यकालावधि – बीज–१-२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। पत्र मधुर एवं शीतवीर्य होते हैं। कर्म–कफवातशामक, अनुलोमन, कृमिघ्न, यकृदुत्तेजक, कफनिःसारक, कुष्ठघ्न, विषघ्न, ओजोवर्धक और मेदोहर। लेप के रूप में स्थानिक प्रयोग से लेखन, तथा दद्रुघ्न होता है। पत्र–हृद्य, रक्तप्रसादन एवं सनाय की भाँति रेचक होते हैं। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) ऊर्ध्वभागहर द्रव्यों में चकवड़ (प्रपुन्नाड नाम से) भी है।

मुख्य योग – दद्रुघ्नी वटी।

चनसुर (चन्द्रशूर)

नाम। सं०–चन्द्रशूर। हिं०–चंसुर, चमसुर, हालिम, हालों। पं०–हालिया, हालों। मा०–असालियो। गु०–अशेलियो। सिंध–आहियों। म०–अहालींव। बं०–हालिम। अ०–हब्बुर्रशाद, वज्रुल् जिरजिर। फा०–तुख्म इस्पन्दान। अं०–कॉमन क्रेस (*Common Cress*), वॉटर या गार्डेन क्रेस (*Water or Garden Cress*)। ले०–लेपीडिउम साटीवुम (*Lepidium sativum Linn*)।

वानस्पतिक कुल – सर्षप-कुल (क्रूसीफ़ेरे : *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में (विशेषतः बम्बई प्रान्त में) चन्द्रशूर की खेती की जाती है। बीजों का आयात फारस से भी होता है। चन्द्रशूर के बीज समस्त भारतवर्ष में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – चन्द्रशूर के छोटे-छोटे, कोमल काण्डीय किन्तु स्वावलम्बी (*Erect*), एकवर्षायु क्षुप होते हैं। जड़ के पास की पत्तियाँ (*Radical leaves*) लम्बे वृन्तयुक्त तथा द्विपक्षवत्-खण्डित-सी होती हैं। काण्डीय पत्र प्रायः विनाल (*Sessile*) तथा पक्षवत् खण्डित या भालाकार होते हैं। पुष्प छोटे तथा सफेद रंग के लम्बी मञ्जरियों में निकलते हैं। पुटपत्र (*Sepals*) एवं दलपत्र (*Petals*) संख्या में ४-४, पुंकेशर ६ होते हैं, जिनमें २ अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। फल (*Capsules*) ⅙ इंच लम्बे, रूपरेखा में लट्वाकार एवं चपटे तथा अग्र पर भीतर की ओर दबे हुए होते हैं। इनके किनारे या धार सपक्ष होते हैं। फलों में प्रत्येक कोष्ठ में १–१ बीज होता है। हरी पत्तियों का शाक खाया जाता है, तथा बीजों का व्यवहार औषधि में होता है। उक्त बीज छोटे-छोटे और लाल रंग के होते हैं। इनको पानी में भिगोने से लुआब पैदा होता है।

उपयोगी अंग – बीज।

मात्रा – १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – चनसुर के बीजों को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीजों में एक उत्पत् सुगंधित तथा स्थिर तैल पाया जाता है। पंचाङ्ग में आयोडीन, लोह, फॉस्फेट्स, पोटास एवं अन्य लवण, एक तिक्त सत्व एवं पर्याप्त गंधक आदि होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–वातकफशामक, दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, ग्राही, उदरकृमिनाशन, कफनिःसारक, मूत्रार्तवप्रजनन, बल्य एवं वृष्य। इसका लेप वेदनास्थापन एवं त्वग्दोषहर होता है। यूनानी मतानुसार हालों तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क होता है। अहितकर–मूत्रपिंडों को। निवारण–शर्करा, खीरा–ककड़ी के बीज।

मुख्य योग – चतुर्बीज चूर्ण।

विशेष – चन्द्रशूर चातुर्बीज का उपादान है।

चव्य

नाम। सं०–चव्य, चविका। हिं०–चाव, चव। बं०–चई। गु०–चवक। ले०–पीपेर चावा (*Piper chaba Hunter*)। लेटिन नाम इसकी लता का है।

वानस्पतिक कुल–पिप्पली-कुल (पीपेरासे *Piperaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पीपेर चावा वास्तव में मलाया द्वीपसमूह की

आदवासी लता है। चव्य इसी के काण्ड के सुखाये हुए छोटे-बड़े टुकड़े होते हैं। फलियों (*Aments : the long pepper*) का व्यवहार गजपिप्पली के नाम से होता है। भारतवर्ष में चव्य की लता जंगली रूप से कहीं भी नहीं पायी जाती। बंगाल एवं कूचविहार में कहीं-कहीं अब इसकी खेती की जाती है।

उपयोगी अंग – काण्ड।

मात्रा – ½ ग्राम से १॥ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – चव्य के टुकड़ों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, पित्तवर्धक, तृप्तिघ्न, दीपन-पाचन, शूलप्रशमन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न, कफघ्न आदि।

मुख्य योग – पंचकोल फाण्ट, प्राणदा गुटिका, कांकायन मोदक, चव्यादि घृत।

चाकसू (चक्षुष्या)

नाम। सं०–चक्षुष्या, अरण्यकुलत्थिका। हिं०–चकसू, चाकसू, चाक्षुस्। म०–चिनोल। गु०–चिमेड, चमेड। सिं०–चवर। पं०–चक्सू। अ०–जश्मीज़ज। फा०–चश्मीज़ज, चश्मक। ले०–कास्सिआ आब्सुस् (*Cassia absus Linn*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अम्लिका-उपकुल (*Legumisnosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक सर्वत्र इसके जंगली पौधे पाये जाते हैं। चाकसू बीज पंसारियों के यहाँ विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – चाकसू के एक वर्षायु, ३० से ६० सें० मी० या १-२ फुट ऊंचे छोटे क्षुप होते हैं। पत्तियाँ सपत्रक, पत्रक संख्या में चार, २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बे, रूपरेखा में आयताकार तथा अग्र पर प्रायः कुण्ठिताग्र होते हैं। आधार के पास मध्यशिरा के दोनों पार्श्व के भाग प्रायः असमान होते हैं। पत्रनाल वड़ा और पत्रदण्ड पर प्रत्येक पत्रक के वीच एक रेखाकार ग्रंथि होती है। पुष्प रक्ताभ पीत तथा फली २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१॥ इंच लम्बी और टेढ़ी होती है, जिनमें संख्या में ५ वीज निकलते हैं।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – चाकसू वीज चपटे एवं अनियमित स्वरूप से अंडाकार या आयताकार तथा चमकीले काले रंग के होते हैं। जिस सिरे पर नाभि (*Hilum*) होती है, वह सिरा अपेक्षाकृत अधिक नुकीला होता है। बीजों की लम्बाई तथा चौड़ाई प्रायः समान (५ मि० मी० से ४.१६ मि०मी० या ⅕ तथा ⅙ इंच) होती है। बीजत्वक् या बीजचोल (*Testa*) कुछ कड़ा एवं मोटा होता है। बीजत्वक् हटाने पर अन्दर पीताभ वर्ण की मज्जा या मग्ज़ निकलता है। स्वाद में यह तिक्त होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – प्रगल्भ एवं पुष्ट वीजों को लेकर मुख वंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – *वीज में ३.७% भस्म एवं अंशतः मैंगनीज होता है।*

वीर्यकालावधि। १-२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–रूक्ष। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–चक्षुष्य। प्रधान कर्म–बाह्य प्रयोग से यह लेखन, चक्षुष्य एवं शोथविलयन; आभ्यन्तर प्रयोग से ग्राही, रक्तस्तम्भक, मूत्रल एवं मेदोनाशक है।

चाङ्गेरी (तिनपतिया)

नाम। सं०–चाङ्गेरी, अम्लपत्रिका। हिं०–तिनपतिया, अम्लोनी, तिपत्ती, चूकातिपाती। वं०–आमरुल शाक। म०–आंबटी (अंबुटी), भुईसर्पटी। पं०–खटकल, सुर्चि। ते०–पुलिचित, पुल्लचेंचलि। ता०–पुलियारै, अडाशनि। मल०–पुलिवारल्। अं०–इंड़ियन सारेल (*Indian Sorrel*)। ले०–ऑक्सालिस कॉर्नीकुलाटा (*Oxalis corniculata Linn*)।

वानस्पतिक-कुल–चाङ्गेर्यादि-कुल (जेरानिआसे *Geraniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – एशिया, यूरोप (का आदिवासी पौधा है) लंका। भारतवर्ष में चांगेरी सर्वत्र पायी जाती है। यह वहुधा नीची और आर्द्र भूमि में विशेषकर छोटे एवं छिछले नालों या स्रोतों आदि के किनारे जहाँ सदा नमी वनी रहती है, अपने आप उगी मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – चांगेरी की प्रसरी लता स्वभाव का छोटा पौधा होता है, जिसका काण्ड भूमि पर फैलता है, पत्र वाहक शाखाग्र भाग ऊपर को उठा होता (*Decumbent*) है। पत्र सपत्रक, तीन-तीन पत्रकों वाला (*Trifoliolate*); पत्रक, अभिहृदयाकार (*Obcordate*) और लोमयुक्त होते

हैं। पुष्प छोटे एवं पीले रंग के, प्रत्येक पुष्पवाहक दंड पर २–५ की संख्या में लगे होते हैं। फल (*Capsule*) रेखाकार, आयताकार, या लंबोतरा (*Linear oblong*) तथा घन रोमावृत (*densely pubescent*) होता है। प्रत्येक फल में कई-कई बीज होते है। बीजों पर अनुप्रस्थ दिशा में उन्नत रेखाएँ होती (*Transversely ribbed*) हैं। पौधे का प्रत्येक भाग खट्टा होता है। शरद्ऋतु में पुष्प और फल आते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – स्वरस–६ माशा से १ तो०।

संगठन – इसमें एसिड पोटासियम् ऑक्जलेट होता है।

वीर्यकालावधि – २–३ महीना।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–अम्ल, मधुर। विपाक–अम्ल। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन-पाचन, रोचक, यकृदुत्तेजक, वेदनास्थापन, विषघ्न, गुदभ्रंशनाशक।

मुख्य योग – चाङ्गेरी-घृत।

विशेष – (१) भावप्रकाशकार ने चाङ्गेरी एवं चुक्र दोनों को पर्याय माना है। किन्तु वस्तुतः यह दोनों शाक-वर्गीय भिन्न-भिन्न खट्टे द्रव्य हैं। (२) चाङ्गेरी की एक बड़ी जाति भी होती है, जिसे 'बड़ी चाङ्गेरी' कह सकते हैं। इसका वानस्पतिक नाम ऑक्सालिस आसेटोसेल्ला (*Oxalis acetosella Linn.*) है।

चित्रक (चीता)

नाम। सं०–चित्रक, दहन, अग्नि। हिं०–चीता, चित्ता, चित्रक, चित्रा। बं०–चिता। गु०–चित्रो। म०–चित्रक। पं०–चित्रा। अ०–शीतरज, मिस्वाकुर्राई। फा०–शीतरः। अं०–सीलोन या ह्वाइट-लेडवर्ट। लै०–(१) **सफेद चित्रक**–प्लुम्बागो जेइलानिका *Plumbago zeylanica Linn.*; (२) **लाल चित्रक**–प्लुम्बागो ईंडिका *Plumbago indica Linn.* (पर्याय–*P. rosea Linn.*); (३) **नीला चित्रक**–प्लुम्बागो कापेन्सिस (*Plumbago Capensis Thunb.*)।

वानस्पतिक कुल–चित्रक-कुल (प्लुम्बाजिनासे *Plumbaginaceae*)।

प्राप्तिस्थान – श्वेत चित्रक के गुल्मक समस्त भारतवर्ष में विशेषतः बंगाल, उत्तर प्रदेश एवं दक्षिण भारत में स्वयंजात रूप से पाये जाते हैं। लाल चित्रक इसी की निकटतम दूसरी जाति है, जिसको इसका उद्यानज भेद माना जा सकता है। सिक्कम एवं खासिया में इसके जंगली पौधे पाये जाते हैं। औषधीय दृष्टि से यह शास्त्रों में उत्तम माना गया है, किन्तु अपेक्षाकृत बहुत कम उपलब्ध होता है। नीला चित्रक वास्तव में विदेशी जाति है, जो केप ऑफ गुडहोप (*Cape of Good Hope*) का आदिवासी पौधा है। बागों में कहीं-कहीं लगाया हुआ मिल जाता है। अतएव व्यावहारिक दृष्टि से सफेद चित्रक ही महत्त्व का है। अतएव यहाँ विवेच्य विषय सफेद ही समझना चाहिए।

संक्षिप्त परिचय – सफेद चित्रक के छोटे, बहुवर्षायु गुल्म (*Undershrub*) होते हैं। शाखाएँ रेखायुक्त (*Striate*); पत्तियाँ एकान्तर ३.६५ सें० मी० से १० सें० मी० या १$\frac{१}{२}$ से ४ इंच तक लम्बी, $\frac{१५}{८}$ से ५ सें० मी० या $\frac{३}{४}$ से २ इंच चौड़ी, पतली, लट्वाकार, नोकीली, आधार की ओर यकायक कम चौड़ी (*Abruptly narrowed*) होती हैं। पर्णवृन्त (*Petiole*) ६.२५ मि० मी० से १२.५ सें० मी० या $\frac{१}{४}$ से ५ इंच लम्बा, आधार की ओर चौड़ा एवं काण्डासक्त (*Amplexicaul*) होता है। पुष्प सफेद रंग के तथा शाखाग्रों पर ४–१२ इंच लम्बी सशाख विदण्डिक मञ्जरियों (*Spikes*) में निकलते हैं। मञ्जरियाँ स्पर्श में लसदार होती हैं। वाह्य कोष (*Calyx*) १ से $\frac{५}{४}$ सें० मी० लम्बा, नालिकाकार ५ खण्डों वाला (*5-toothed*) तथा स्थायी होता है। आभ्यन्तर कोष (*Corolla*) ५–खण्डों वाला, प्रत्येक खण्ड अग्र पर नुकीला होता है। पुंकेशर (*Stamens*) ५। फल सामान्य स्फोटी (*Capsule*) होता है, जो लम्ब गोल आयताकार तथा अग्र पर चोंच-जैसा नुकीला होता है। जाड़े के प्रारम्भ में फूल आते हैं। चीते की जड़ अंगुलिवत् मोटी और शतावर की तरह गुच्छों में अनेक होती हैं।

उपयोगी अंग – मूल अथवा मूलत्वक् (जड़ की छाल)। छाल नयी लेनी चाहिए, क्योंकि पुरानी हीनवीर्य हो जाती है। यूनानी वैद्यक में मात्र शीतरज से इसके मूल की छाल अभिप्रेत होती है।

मात्रा – (१) मूल–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा। (२) मूलत्वक्–२५० मि० ग्राम से १ ग्राम या २ से ८ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – चित्रक की जड़ $\frac{५}{८}$ से $\frac{५}{२}$ सें० मी० या चौथाई से एक इंच तक व्यास में मोटी होती है। मूलत्वक्

प्राप्तिस्थान – हिमालय की पर्वतश्रेणियों में कश्मीर से भूटान तक १२०८ से ३०४६ मीटर (४,००० से १०,००० फुट की ऊंचाई तक) तथा खसिया की पहाड़ियों पर १२०४ से १५२५ मीटर (४,०००–५,००० फुट की ऊंचाई) तक चिरायते के स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। नेपाल के मोरंग प्रदेश में यह प्रचुरता से पाया जाता है। उक्त जाति की अपेक्षा चिरायते की अन्य जातियाँ (जिनका औषध्यर्थ व्यवहार नहीं होता) अधिक होती हैं।

संक्षिप्त परिचय – चिरायते के ६० से ९० सें० मी० या २–३ फुट खड़े (*Erect*) एकवर्षायु, छोटे क्षुप होते हैं। काण्ड स्थूल (*Robust*), सशाख, अधिकांश भाग में गोलाकार (*Terete*) तथा अग्रकी ओर कुछ-कुछ चतुष्कोणाकार होता है। पत्तियाँ चौड़ी-भालाकार १० सें०मी० या ४ इंच तक लम्बी तथा ३.७५ सें०मी० या १॥ इंच तक चौड़ी, अग्र पर नुकीली तथा अभिमुख क्रम से स्थित होती हैं। पुष्प हरिताभ-पीत वर्ण के तथा बैंगनीरंग से चित्रित या आभायुक्त (*Tinged with purple*), पुष्प बाह्य एवं आभ्यन्तर कोष ४–४ खण्डों वाला (*4-lobed*) तथा आभ्यन्तर कोष के प्रत्येक खण्ड पर २–२ ग्रंथियाँ होती हैं। फल (*Capsule*) लम्बगोल तथा छोटे-छोटे (½ सें० मी०) होते हैं, जिसमें अनेक छोटे बहुकोणीय एवं चिकने बीज भरे होते हैं। इसमें पुष्प एवं फलागम शरद्ऋतु में होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग एवं पुष्प।

मात्रा – चूर्ण—२ ग्राम से ६ ग्राम या २ से ६ माशा।
क्वाथ–२ से ५ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–चिरायते में प्रधान अंश काण्ड (*Stem*) का ही होता है, जो ९० सें० मी० या तीन फुट तक लम्बा होता है। यही भूरे रंग का तथा प्रकाश में देखने से नीली आभा लिये भूरे रंग का होता है। इसमें अनेक शाखाएँ होती हैं। काण्ड का अधिकांश भाग गोलाकार तथा केवल अग्रों पर चतुष्कोणाकार-सा होता है। अनुप्रस्थ विच्छेद से मज्जक (*Pith*) का भाग स्पष्ट कोमल तथा आसानी से पृथक् हो जाता है। शाखाएँ अभिमुख किन्तु ऊपर नीचे की विपरीत दिशा में स्थित (*Opposte and decussate*) होती हैं। पत्तियाँ अभिमुख (*Opposite*), लट्वाकार या चौड़ी भालाकार, चिकनी, पत्रतट सरल तथा शिराएँ ३-७ (*3-7 lateral veins*)। तने के अधोभाग की पत्तियाँ अपेक्षाकृत बड़ी तथा ऊपर की उत्तरोत्तर छोटी होती हैं। पुष्प छोटे-छोटे तथा अनेक एवं मञ्जरियों में निकालते हैं। फल छोटे लम्बगोल (*Fruit: Superior bicarpellary, unilocular*), जिसमें अनेक छोटे-छोटे, रेखांकित (*Reticulated*) बीज होते होते हैं। जड़ छोटी पतली एवं टेढ़ी-मेढ़ी होती है। चिरायते में कोई विशिष्ट गंध नहीं होती किन्तु स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है। तिक्त सत्व (*Bitter principle*)–कम से कम १·३%; ऐल्कोहल (६०%) में घुलनशील सत्व–कम से कम १०%; अम्लमें अघुलनशील भस्म–अधिकतम १%; विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य—अधिकतम ५%; टैनिन के अभाव का परीक्षण–इसके जलीय या अल्कोहोलिक सत्व में फेरिक क्लोराइड साल्यूशन मिलाने से इसका रंग नीली स्याही की भाँति नहीं होता।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–चिरायते की अनेक जातियाँ (*Species*) पायी जाती हैं, जो उपयुक्त प्रजाति की अपेक्षा अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। आपाततः देखने में यह बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। और जहाँ तीता चिरायता होता है, वहाँ अन्य जातियाँ भी पायी जाती हैं। अतएव दोनों के मिलावट की सम्भावना स्वाभाविक है। इनमें निम्न जातियाँ विशेष उल्लेख की हैं:— (१) स्वेर्टिआ आंगुस्टिफ़ोलिआ (*Swertia angustifolia Buch.–Ham.*)–इसको मीठा चिरायता भी कहते हैं, क्योंकि यह तीता नहीं होता दूसरे इसका काण्ड चौपहल (*rectangular winged*) होता है तथा मज्जक का भाग असली चिरायते की अपेक्षा बहुत कम होता है। (२) स्वेर्टिआ अलाटा (*S. alata Royle*)–में मज्जक तो असली चिरायते की भाँति होता है, किन्तु यह तीता बिल्कुल नहीं होता। इनके अतिरिक्त कभी-कभी इसमें मंजिष्ठा की जड़ें तथा कालमेघ का काण्ड एवं पत्तियाँ भी मिली होती हैं, इनको विशिष्ट लक्षणों द्वारा पहचाना जा सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण – शरद् ऋतु में पुष्प एवं फलागम होने पर पंचांग लेकर छायाशुष्क कर अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में सुरक्षित करें।

संगठन – इसमें चिरेटिन (*Chiratin* : C_{52} H_{96} O_{30}) एवं ओफ़ेलिक एसिड (*Ophelic acid* C_{26} H_{30} O_{20}) नामक दो तिक्त सत्व पाये जाते हैं। इनमें चिरेटिन

इसका प्रधान सक्रिय घटक है। चिरेटिन अक्रिस्टली (*Amorphous*), एवं अत्यंत तिक्त ग्लूकोसाइड होता है। ओफ़ेलिक एसिड पीताभ-भूरे रंग के सिरप की भाँति तथा पसीजने वाला होता है, जो जल एवं ऐल्कोहल में घुलनशील है। इनके अतिरिक्त एक क्लीब तत्त्व (*Neutral principle* : $C_6 H_8 O_3$) एवं ओलीक, पामिटिक एवं स्टियरिक एसिड्स तथा फाइटास्टेरोल नामक तत्त्व भी न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–कटु पौष्टिक, विषमज्वरनाशक, रक्तशोधक एवं कृमिनाशक। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–कटिके लिए। निवारण–अनीसूं।

मुख्य योग–सुदर्शनचूर्ण, किरातादि क्वाथ, जुवारिश जालीनूस।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) स्तन्यशोधन एवं तृष्णानिग्रहण महाकषाय एवं (वि० अ० ८ में कहे गये) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) आरग्वधादि गण में किराततिक्त भी है।

चिरौंजी (प्रियाल)

नाम। सं०–प्रियालबीज, चारबीज। हि०–चिरौंजी, चिरोंजी देहरादून–कठमिलावा। बं०–चिरोंगी। म०, गु०–चारोली। पं०–चिरोंजी, चिरोली। (वृक्ष) सं०–प्रियाल, चार। हि०–पियाल, पियार। अं०–दि कुड्डपा आमंड (*The Cuddapah Almond*)। ले०–बूकानानिआ लांजान *Buchanania lanzan Spr.* (पर्याय–*B. latifolia* Roxb.)।

वानस्पतिक कुल–आम्र-कुल (आनाकार्डिआसे *Anacardiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पियाल के वृक्ष समस्त भारतवर्ष के उष्ण एवं शुष्क प्रदेशों में ३,००० फुट की ऊंचाई पर पाये जाते हैं। हिमालय, मध्य तथा दक्षिण भारत, उड़ीसा, छोटा नागपुर और बर्मा के निचले पहाड़ों पर अधिक मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – पियाल के मध्य कद के प्रायः सदाहरित वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ एकान्तर (*Alternate*), साधारण (*Simple*), १५ से० २५ से० मी० या ६ से १० इंच लम्बी तथा ५ से मी० से ८.७५ से०मी० या २ से ३½ इंच चौड़ी, आयताकार या अंडाकार, पत्रतट अखण्डित (*Entire*), अग्र एवं आधार दोनों ओर कुण्ठित (*Obtuse*), बनावट में चर्मिल (*Coriaceous*), कड़ी तथा अधोपृष्ठ पर मृदुरोमश; पुष्प उभयलिंगी, अवृन्त, हरिताभ-श्वेत वर्ण तथा छोटे-छोटे (⅜ से ⅝ से० मी०) अग्रों पर तथा पत्रकोणोद्भूत शिखराकार मञ्जरियों (*Terminal and axillary pyramidal panicles*) में निकलते हैं।

उपयोगी अंग–(१) गिरी (चिरौंजी); (२) फल एवं (३) त्वक्।

मात्रा – (१) चिरौंजी (फल-मज्जा) ६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तो०। (२) त्वक् क्वाथ–५ से १० तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पियार का फल गोलाकार तथा चपटा अष्ठिफल (*Drupe*) होता है, जो व्यास में लगभग ½ इंच तक होता है, तथा पकने पर काले जामुन के वर्ण का (*Deep purple colour*) होता है। ऊपर गूदे का एक पतला स्तर होता है, जो स्वाद में खटमिट्ठा होता है। संग्रहकर्ता इसे खाते हैं। इसके अन्दर की गुठली तोड़ने पर दो ढक्कनदार टुकड़ों में पृथक् हो जाती है, जिसके अन्दर की गिरी (*Kernel*) लालिमा लिये भूरे रंग की होती है। यह लम्बाई में चौथाई इंच से कुछ अधिक, किन्तु चौड़ाई में कुछ कम होती है। जरा दबाव देने पर द्विदल (*Cotyledons*) पृथक् हो जाते हैं। इनमें काफी तैलांश पाया जाता है, तथा गिरीकी-सी मनोरम गंध आती है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों से गिरी को पृथक कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – चिरौंजी में ५१.८% स्थिरतैल (चिरौंजी का तेल), २१.६% प्रोभुजिन् (प्रोटीन), १२.१% स्टार्च तथा ५% शर्करा पायी जाती है। इसकी छाल में लगभग १३.४% टैनिन पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – छाल–१ वर्ष। गिरी–२ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, गुरु, सर। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–वातपित्तशामक, वर्ण्य, केशरंजन, कुष्ठघ्न, वल्य एवं बृंहण, विष्टम्भी, रक्तप्रसादन, हृद्य, वृष्य, वाजीकर, मूत्रल एवं मूत्रमार्ग स्नेहन, कफनिस्सारक आदि। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम तथा पहले में तर है। अहितकर–गुरु एवं चिरपाकी;

है। निवारण–सिकंजवीन एवं मधु। प्रतिनिधि–पिस्ता एवं तिल।

विशेष – चिरौंजी मेवे की तरह खायी जाती है। इसकी मिठाई भी बनती है। यह उत्तम पौष्टिक एवं बृंहण तथा मार्दवकर द्रव्य है। वर्ण्य कर्म के लिए इसका उबटन भी करते हैं। चरकोक्त (सू०अ०४) श्रमहर एवं उदर्दप्रशमन महाकषाय तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) न्यग्रोधादि गण में प्रियाल भी है।

चूका (चुक्र)

नाम। (१) (वनस्पति) सं०–चुक्र, चुक्रिका। हिं०–चूका, चूका का साग। बं०–चुका पालङ्। म०–चुका, चाकवत। गु०–चुको, खाटीभाजी। पं०–चूक। अ०–हम्माज़, हुम्माज, वसक्लए हामिज़ा। फा०–साक़ तुर्शक। अं०–कन्ट्री सारेल (*Country sorrel*), ब्लैडर डॉक (*Bladder dock*)। ले०–रूमेक्स वेसीकारिउम *Rumex vesicarium Linn.*। (२) (बीज) सं०–चुक्रबीज। हिं०–चूके के बीज। अं०–बक्ल् हम्मज़। फा०–तुख्म तुर्शः।

वानस्पतिक कुल – चुक्र-कुल (पॉलीगोनासे *Polygonaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में प्रायः चूका के लगाये हुए अथवा कहीं-कहीं स्वयंजात भी पौधे मिलते हैं। यह एक प्रसिद्ध खट्टा साग है।

संक्षिप्त परिचय – चूक्र के १५ से० ३० से० मी० या ६–१२ इंच ऊँचे वर्षायु क्षुप होते हैं, जो पाण्डुहरित, किंचित् मांसल और मूल के पास से ही द्विविभक्त होते हैं। पत्तियाँ लम्बे वृन्त वाली, रूपरेखा में अण्डाकार–लट्वाकार, लट्वाकार या आयताकार, २.५ से ७.५ से० मी० या १–३ इंच लम्बी और उनका फलकमूल कुन्तवत्, स्फानवत् या हृद्वत् होता है। पुष्पमंजरी २.५ से ३.२५ से० मी० या १–१॥ इंच लम्बी, अग्र्य या अग्र्याभिमुख होती है। पुष्पों में भीतर के पौष्पिक पत्र बड़े, झिल्ली की तरह पतले, सफेद या गुलाबी, दोनों सिरों पर द्वि-खण्ड, वृत्ताकार और मध्यपर्शुक पर बिना गाँठ के होते हैं। इसके फल 'गुलहम्माज़' के नाम से बिकते हैं, जो रक्ताभ-भूरे रंग के, लगभग २.५ मि० मी० या $\frac{1}{10}$ इंच लम्बे होते हैं। चुक्र-बीज (तुख्महुम्माज या तुख्मतुर्श) गाढ़े भूरे रंग के तथा रूपरेखा में त्रिकोणाकार और चिकने-चमकीले होते हैं।

उपयोगी अंग—पंचाङ्ग, बीज (एवं मूल)।

मात्रा – स्वरस–६ माशा से २ तोला। बीज–२ ग्राम से ५ ग्राम या २ माशा से ५ माशा।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—रूमेक्स की अन्य कई जातियाँ भी भारतवर्ष में पायी जाती हैं, जिनकी पत्तियाँ स्वाद में खट्टी होती हैं। चकरौता, देववन एवं देहरादून आदि में इसकी रुमेक्स हास्टाटुस (*R. hastatus D-Don*) जाति पायी जाती है, जिसकी पत्तियाँ त्रिकोणाकार तथा स्वाद में खट्टी होती है।

संगठन—जड़ में रुमिसिन (*Rumicin*) एवं लैपाथिन (*Lapathin*) नामक दो सत्व, जो क्राइसोफैनिक एसिड के समान होते हैं, पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐल्व्युमिनायड, कार्बोहाइड्रेट तथा क्षार तत्त्व भी होते हैं।

स्वभाव – चूका, लघु, उष्णवीर्य, रूचिकर, दीपन, किंचित् पित्तकर और वातगुल्म को दूर करने वाला है। यूनानी मतानुसार चूका एवं इसके बीज पहले दर्जे में शीत एवं दूसरे में खुश्क होते हैं। यह रूक्ष, ग्राही, दाहप्रशमन वेदनास्थापन एवं उष्णयकृद्बलदायक है। पित्तातिसार, पैत्तिकवमन, पित्तप्रकोप, तृष्णा एवं कामला में चूका हितकर है। चूका के बीज (तुख्म हुम्माज) ग्राही, पिच्छिल, एवं दाहप्रशमन हैं। पित्तोद्वेग, उष्ण हृत्स्पंद, कामला, आमाशयशोथ, मूत्रमार्गदाह, आन्त्रव्रण एवं पित्तातिसार में चूका के बीज उपयोगी होते हैं।

विशेष—चुक्र एवं चांगेरी दोनों के ही पौधे स्वाद में खट्टे होते हैं, जिससे ग्रंथकारों ने कहीं-कहीं भ्रम से इन्हें पर्याय-रूप से लिख दिया है। किन्तु दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं।

चोवचीनी (चोपचीनी)

नाम। सं०–द्वीपान्तरवचा। हिं०–चोवचीनी, चोपचीनी। म०, गु०–चोपचीनी। बं०–तोपचिनी। अ०–खशबुस्सीनी, अस्लुस्सीनी। फा०–बेखचीनी, चोबचीनी। अं०–चाइना रूट (*China Root*)। ले०–स्मीलाक्स चीना (*Smilax China L.*)।

वानस्पतिक कुल–चोवचीनी-कुल (स्मीलासे *Smilaceae*)।

प्राप्तिस्थान—चीन, जापान। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः चीन से होता है।

उपयोगी अंग—कंदाकार भौमिक काण्ड या राइजोम (*The tuberous Rhizome*)।

मात्रा – कंद चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – औषधीय चोवचीनी इसकी लता की तन्तुमय जड़ों में लगा हुआ कन्द है, जो स्वरूप और

आकार में लंबोतरे आलू (*Elongated Kidney potato Irregular cylindrical tubers*) जैसा, कुछ-कुछ चपटा, ग्रंथियुक्त भूरे रंग की छाल से आवृत, कभी मसृण एवं चमकीला और कभी खुरदरा होता है। इसके भीतर का गूदा गुलावी लिये सफेद, कड़ा, स्टार्चवहुल (पिष्टमय), फीका, पिच्छिल या लुआवी और प्रायः गंधरहित होता है। इसके साधारणतः छाल उतारे और कटे हुए भारी, गुलावी लिये सफेद काष्ठ के टुकड़े की तरह वेडौल टुकड़े वाजार में मिलते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – यूनानी निघण्टुकारों के मत से चोवचीनी का एक उत्कृष्ट भेद 'चोवचीनी खताई' है जो नेपाल के पहाड़ों से आती है। भारतवर्ष में उक्त चोवचीनी की कतिपय निकटतम जातियाँ पायी जाती हैं :—(१) वड़ी चोवचीनी *Smilax glabra* Roxb.; (२) हिंदी चोवचीनी *S. lanceaefolia* Roxb.; (३) जंगली (देशी उशवा या रामदतुइनिया *S. macrophylla* Roxb.)। इनके मूल चोवचीनी एवं उशवा के प्रतिनिधि रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण– चोवचीनी को अच्छी तरह मुखवन्द पात्रों में शीतल एवं अनार्द्र स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – जड़ में वसा, शर्करा, एक ग्लूकोसाइड, रंजक द्रव्य निर्यास (गोंदीय तत्त्व) एवं श्वेत सार (स्टार्च) आदि घटक पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि– २ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–शोथहर, वेदनास्थापन, नाड़ी-वल्य, वातनाशक, रक्तशोधक, वृष्य, मूत्रल एवं स्वेदजनन, ज्वरघ्न, दीपन, अनुलोमन। अहितकर–उष्ण प्रकृति वालों के लिए। निवारण – ऋतु, काल और रोग के विचार से जो उपादेय हो। प्रतिनिधि – देशी चोवचीनी (*Smilax glabra*)

मुख्य योग – माजून चोवचीनी।

छड़ीला (शैलेय)

नाम। सं०–शैलेय, शिलापुष्प। हिं०–छरीला, छड़ीला, छारछरीला, छैलछवीला, मूरिछरीला, पत्थरका फूल, वुढ़ना। म०–दगडफूल। गु०–छड़ीलो। कु०–झोलो। अ०–उश्नः, हज़ाजुस्सजर, शैवतुल्अजूज़। फा०–उश्नः, दुववालक (–ला), गुलेसंग। अं०–स्टोन फ्लावर (*Stone Flower*), लाइचेन (*Lichen*)। ले०–
(१) पार्मेलिआ पेर्फोराटा (*Parmelia perforata*);
(२) पार्मेलिआ पेर्लाटा (*P. perlata* Esch.);
(३) पार्मेलिआ कम्टस्काडालिस (*P. kamtschadalis* Esch.)।

वानस्पतिक कुल– शैलेयादि-कुल (लीचेनेज *Lichenes*)

प्राप्तिस्थान – हिमालय, पंजाव, फारस, यूरोप एवं अफ्रीका आदि में वलूत एवं सनोवर आदि के वृक्षों पर अथवा लकड़ी के पुराने कुन्दों, दीवालों एवं चट्टान आदि पर पैदा होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १.५ ग्राम (५ ग्राम तक) या ½–१॥ माशा (५ माशा) तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यह काई की तरह महीन झिल्ली के समान एक पौधा है, जिसमें केसर या फूल नही लगते। यह हरी पेड़ीसी संचित होकर जव सूख कर उतरती है, तव इसके ऊपर का पृष्ठ काला और नीचे का सफेद होता है। स्वाद किसी कदर फीका और तिक्तकपाय होता है। सफेद, नया और तीव्र सुगंधयुक्त छड़ीला उत्तम होता है। छड़ीला वास्तव में खुमी के समान परांगभक्षी पौधा है, जो भिन्न प्रकार की काईयों पर जमकर उन्हीं से मिल कर अपनी वृद्धि करता है

संग्रह एवं संरक्षण– छड़ीले को अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में रख कर अनार्द्र-शीतल स्थान में सुरक्षित करना चाहिए।

संगठन– इसमें एक पीला क्रिस्टलीय पदार्थ, निर्यास, सुगर एक्सट्रैक्टिव्ह, लाइचेनीन और क्राइसोफ़ैनिक एसिड प्रभृति द्रव्य होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, कपाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–हृद्य। कर्म–कफ-पित्तशामक, शोथहर, व्रणरोपण, वेदनास्थापन, कण्डूघ्न, दीपन, ग्राही, हृद्य, कफनिस्सारक, मूत्रल, अश्मरीघ्न, दाहप्रशमन, ज्वरघ्न, त्वग्रोगनाशक। यूनानी मतानुसार छड़ीला पहले दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–आँतों के लिए। निवारण–अनीसूं।

छतिवन—दे०, 'सप्तपर्ण'।

छोटा गोखरू—दे०, 'गोखरू'।

छोटी इलायची—दे०, 'इलायची'।

छोटी दुद्धी—दे०, 'दुद्धी'।

जटामांसी (बालछड़)

नाम। सं०–जटामांसी, भूतजटा, तपस्विनी, सुलोमशा। हिं०–बालछड़, जटामसी, छड़। द०, बं०, म० गु०, ते०–जटामांसी। (पहाड़िया) – भूतकेस। अ०–सुंबुले हिन्दी, सुंबुलुत्तीबे हिन्दी। फा०–नारदे हिन्दी, नारदीने हिन्दी। अं०–जटामांसी (*Jatamansi*), नार्ड (*Nard*), इन्डियन स्पाइकनार्ड (*Indian Spikenard*), नार्डसूरूट (*Nardus Root*)। ले०–नार्डोस्टाकिस *Nardostachys* (*Nardostach.*)। (वनस्पति)–नार्डोस्टाकिस जटामांसी *Nardostachys jatamansi DC.*।

वानस्पतिक कुल – तगर-कुल (वलेरिआनासे *Valeri anaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय के एल्पाइन प्रदेशों (*Alpine Himalayas*) में ३३३७.७ से ५१६६.५ मीटर या ११,०००–१७,००० फुट की ऊंचाई तक तथा कुमायूं से सिक्कम (५१६६.५ मीटर या १७,००० फुट की ऊंचाई) एवं भूटान तक जटामांसी के स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। इसकी सुखाई हुई लोमावृत जड़ एवं भौमिक काण्ड बाजारों में जटामांसी या बालछड़ के नामसे बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – जटामांसी के छोटे-छोटे बहुवर्षायु या वर्षानुवर्ती शाकीय पौधे (*Perennial herb*) होते हैं, जिनका काण्ड १० सें० मी० से ६० सें० मी० या ४ से २४ इंच तक ऊँचा होता है, जो अधःभाग में प्रायः चिकना किन्तु ऊपर कुछ रोमश होता है। जड़ के पास की पत्तियाँ (*Radical leaves*) १५ से १७॥ सें० मी० या ६–७ इंच तक लम्बी, प्रायः २॥ सें० मी० या १ इंच तक चौड़ी होती हैं, जिनपर नसें या शिराएँ लम्बाई की रुख में (*Longitudinally nerved*) होती हैं, और आधार की ओर चौड़ाई में उत्तरोत्तर कम होती हुई वृन्तसे मिल जाती हैं। काण्ड पर १–२ जोड़े पत्तियाँ होती हैं, जो २.५ से ७.५ सें० मी० या १–३ इंच तक लम्बी, रूपरेखा में आयताकार या कुछ-लट्वाकार (*Subovate*) एवं विनाल (*Sessile*) होती हैं। पुष्प-मुण्डक संख्या में १, ३, या ५ होते हैं। आभ्यन्तरकोश-नलिका $\frac{1}{5}$ सें० मी० या $\frac{1}{2}$ इंच तक लम्बी और अन्दर रोमश होती है। फल $\frac{1}{6}$ सें० मी० या $\frac{1}{2}$ इंच तक लम्बा होता है, जिसपर खड़े सफेद रोयें होते हैं और स्थायी बाह्य कोषचोटिका होती है। औषधि में मूलस्तम्भ (*Root-stock*) का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ (जड़युक्त पाताली धड़ या भौमिक काण्ड)।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम (५ ग्राम तक) या १ से ३ माशा (५ माशा तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – जटामांसी का भौमिक काण्ड गाढ़े खाकस्तरी (*Dark grey*) रंग का होता है, जो छोटी अंगुली के बराबर मोटा होता है। यह जटा की भाँति लालिमा लिये भूरे रंग के सघन रेशों से ढका होता है। यह वास्तव में शल्कपत्रों की नसें (*skeletons of the leaves*) होती हैं। काण्ड पर कहीं-कहीं पुष्पवाहक दण्ड के अवशेष (*Remains of flower stalks*) भी पाये जाते हैं। आड़े काटने पर अन्दर का काष्ठीय भाग लालिमा लिए भूरे रंग का तथा रूपरेखा में कुछ कोणाकार (*Angular*) होता है, जिससे पशुओं के पुच्छगत कशेरुक के अनुप्रस्थ विच्छेद की भाँति मालूम पड़ता है। उक्त केन्द्रस्थ काष्ठीय भाग ४ मज्जक किरणों (*Medullary bands*) द्वारा त्वचीय भाग (*Cortical portion*) से जुटा प्रतीत होता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं। जटामांसी स्वाद में तिक्त तथा इसमें एक उग्र सुगंधि होती है। जटामांसी का चूर्ण पीताभ भूरे रंग का होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – जटामांसी में वलेरिअन की विभिन्न जातियों के मूलस्तम्भ तथा सिम्बोपोगोन स्कैनान्थुस *Cymbopogon schoenanthus (Linn.) Spreng. (Syn. Andropogon schoenanthus Linn. (Family : Gramineae)* की जड़ों का मिलावट किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जटामांसी को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – जटामांसी में (०.३–०.४%) एक उड़नशील तैल, जो इसका प्रधान सक्रिय घटक होता है, तथा क्रिस्टलाइन स्वरूप का एक जलविलेय अम्ल एवं कुछ रालीय सत्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – ६ मास से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। रस–तिक्त, कषाय, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–भूतघ्न, (मानसदोषहर)। कर्म–कफपित्तशामक, संज्ञा-स्थापन, मेध्य, बल्य, वेदनास्थापन, दीपन-पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, हृद्य, हृदयोत्तेजक, रक्तस्तम्भन, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, मूत्रल, शोथहर आदि। यूनानी

मतानुसार यह पहले दर्जे में उष्ण तथा दूसरे दर्जे में रूक्ष है। अहितकर–वृक्क के लिए। निवारण–गुल-रोग़न। प्रतिनिधि – इजख़िर मक्की।

मुख्य योग – मांस्यादि क्वाथ, रक्षोघ्नघृत, सर्वौषधि-स्नान। यूनानी योग – जिमादसुंबुलुत्तीब, रोग़न नारदीन।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) संज्ञास्थापन महाकषाय में जटामांसी का भी उल्लेख (जटिला नाम से) है।

जदवार (निर्विषा)

नाम। सं०–निर्विषा, निर्विषी, विषहा, अपविषा, अविषा, विषवैरिणी। हिं०–निर्विषी। नेपाल–निलोविख। अ०–जद्वार। फा०–जद्वार, माहफ़र्फ़ी। ले०–डेल्फीनिउम डेनुडाटुम (*Delphinium denudatum Wall.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनामकुल (रानुन्कुलासे : *Ranunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में खोतान (खता), लद्दाख, नेपाल, भूटान, तिब्बत आदि प्रदेशों में २४०८.३६ मी० से ३६५७.६ मी० या ८,०००–१२,००० फुट की ऊंचाई पर इसके स्वयंजात पौधे होते हैं। अमृतसर एवं दिल्ली में इसकी मंडियाँ हैं, यहाँपर इसे पहाड़ी लोग लाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – जद्वार के ६० सें० मी० से ९० सें० मी० या २–३ फुट ऊंचे बहुशाखीय किन्तु कोमल-काण्डीय पौधे होते हैं; शाखाएँ चिकनी अथवा हल्की रोमश होती हैं। मूल के पास की पत्तियाँ (*Radical leaves*) लम्बे वृन्तों से युक्त, रूपरेखा में वास्तव में गोलाकार (५ से १५ सें० मी० या २–६ इंच चौड़ी) किन्तु बहुशः खण्डित होने के कारण आपाततः देखने में धनिए की पत्तियों की भाँति मालूम होती हैं। यह पत्राधार तक खण्डित होती हैं। पत्रखण्ड (*Segments*) संख्या में ५–६ होते हैं, जो पुनः पक्षाकार खण्डित (*Pinnately lobed*) होते हैं। खण्डों के तट दन्तुर (*Toothed*); काण्डीय पत्र अपेक्षाकृत छोटे वृन्तयुक्त तथा कम खण्डित, उनमें भी ऊपर के पत्र प्रायः विनाल, खण्ड भी संख्या में कम (प्रायः ३) तथा कम गहरे होते हैं। तट भी दन्तुर नहीं होता। पुष्प संख्या में कम, नीले रंग के तथा २.५ से ३.७५ सें मी० या १–१॥ इंच लम्बे होते हैं। पुच्छ (*Spur*) रूपरेखा में बेलनाकार (*Cylindric*) तथा सीधा होता है। पुटपत्र (*Sepals*) गहरे नीले से खाकस्तरी रंगके तथा फैले (*Spreading*) होते हैं। दलपत्र (*Petals*) नीले रंग के होते हैं, जिनमें पार्श्वस्थ (*Laterly*) प्रायः द्वि-ओष्ठीय एवं रोमश होते हैं। इसमें अतीस की तरह फल लगते हैं, जिनमें १–७ बीज होते हैं। पुष्पागम अप्रैल से जून तक होता है।

उपयोगी अंग – कंदाकार मूल।

मात्रा – ½ से १ ग्राम या ४ से ८ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में जद्वार के कालाई लिये भूरे रंग के मूल (कंद) मिलते हैं, जो २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच लम्बे, तथा रूपरेखा में अंडाकार या शंक्वाकार तथा व्यास में लगभग ½ इंच होते हैं। बाह्य तल कभी-कभी कुछ झुर्रीदार भी होता है, जिस पर कभी उपमूलों के अवशेष भी पाये जाते है। उत्तम कंदों को तोड़ने पर यह सतमुलेठी की तरह टूट जाते हैं। इसमें एक बहुत हल्की सुगंधि भी पायी जाती है, तथा स्वाद में पहले मधुर और बाद में तिक्त मालूम होता है; किन्तु इसको छील कर चबाने से वछनाग-जैसी जीभ पर सुन्नता और सनसनाहट नहीं मालूम होती। जद्वार की जड़ों का अनुप्रस्थ-विच्छेद (*T.S.*) कर परीक्षण करने पर सबसे बाहर की ओर गाढ़े भरे रंग का बाह्य वल्कल या बाह्य त्वक् (*Epidermis*) का भाग होता है। उसके अन्दर तनुभित्तिक ऊति (*Parenchyma*) होती है, जिसकी कोशाओं में स्टार्च के कण होते हैं। इसके अन्दर वाहिनी पूल या बंडल (*Vascular bundles*–५ से १० तक) होते हैं, जो सीधे वृत्ताकार रेखा पर न स्थित होकर ऊपर-नीचे होते हैं, जिससे एधा-रेखा (*Cambial zone*) टेढ़ी-मेढ़ी तथा लहरदार-सी मालूम होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – उत्पत्ति-क्षेत्र एवं रंग-रूप तथा उत्तमता की दृष्टि से अनेक प्रकार के जद्वार का उल्लेख है। इनमें जद्वार ख़ताई सर्वोत्तम मानी जाती है। यह ख़ता (खोतान) की पर्वतमाला में प्रचुरता से होती है, और बाहर से श्याम वर्ण, भीतर से वनफशई रंग की तथा रूपरेखा में गोपुच्छाकार होती है। इसके बाद जद्वार अकरबी मानी जाती है, जो नेपाल तथा तिब्बत आदि में होती है। इसके कन्द भीतर और बाहर से पिलाई लिये श्यामवर्ण तथा रूपरेखा में वृश्चिक (अक़रब) के पुच्छाकार होते हैं। जद्वार तथा वछनाग का अन्तर— जद्वार की जड़ भी आपाततः देखने में वछनाग के समान होती है, किन्तु जद्वार के कन्द वछनाग की अपेक्षा छोटे

तथा कम मोटे होते हैं। वछनाग को छील कर जिह्वा पर रखने से दाह, सुन्नता और सनसनाहट प्रतीत होती है। इसके बाद जद्वार को घिस कर चटाने से वछनाग के उक्त दोष दूर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जद्वार कड़ुई या मधुर और रंग में भीतर-वाहर से न्यूनाधिक भूरी गुण में निर्विष एवं विषघ्न होती है। वछनाग अन्दर से सफेद होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जद्वार को मुखवंद पात्रोंमें अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। जद्वार में कीड़े जल्दी लगते हैं, अतएव इसको तैल में अथवा पारद के साथ रखना चाहिए।

संगठन – जद्वार के कंदों में डेल्फिनीन (*Delphinine*), तथा स्टेफिसेग्रीन (*Staphisagrine*) नामक दो ऐल्कलायड्स (क्षारोद) पाये जाते हैं, जो ऐल्कोहल् में घुलनशील होते हैं। इसके अतिरिक्त डेल्फोक्यूरानीन (*Delpho-curarine*) नामक ऐल्केलॉइड भी पृथक् किया गया है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रुक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक; शोथहर, लेखन, विषघ्न, वेदनास्थापन, नाड़ीबल्य एवं वातहर, दीपन, आमपाचन, पित्तसारक एवं अनुलोमन, कफघ्न, रक्तशोधक, आर्त्तवजनन, मूत्रल, एवं अश्मरीनाशन, ज्वरघ्न, वाजीकरण, कटु पौष्टिक। यूनानी मतानुसार जद्वार तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क तथा विषनाशक, सौमनस्यजनन, उत्तमांगों को वल देने वाली, नाड़ीवल्य, प्रमाथि, विलयन, तारल्यजनन, दोषपाचन, वाजीकर, प्रवर्त्तक, अश्मरी नाशन, वेदनास्थापन, लेखन तथा कफज एवं सौदावी ज्वरों को नष्ट करने वाली होती है। अहितकर – उष्ण प्रकृति को। निवारण– धारोष्ण दूध और यवमण्ड।

मुख्य योग – जद्वार की गोलियाँ वनाकर प्रतिश्याय आदि कफ रोगों में तथा अन्य मस्तिष्क रोगों में और वाजीकरण के लिए प्रयुक्त होती हैं। कतिपय माजूनों में भी इसे डालते हैं। खमीरा जदवारी, खमीरा गावजवाँ जदवारी तथा हव्वजदवार इसके मुख्य योग हैं।

विशेष – अतिविपा (अतीस) की भाँति निर्विपा या जद्वार भी विपैला नहीं होता। यह एक उपयोगी ओषधि है। चिकित्सकों को इसका व्यवहार करना चाहिए।

जमालगोटा (जयपाल)

नाम। सं०–जयपाल, जेपाल। हिं०–जमालगोटा। म०–जमालगोटा। वं०–जयपाल। गु०–नेपालो। आसाम कोनीवीह (कोनी अर्थात् बीज के भीतर का गर्भ या अंकुर, वीह अर्थात् विषैला होता है)। पं०–जपो (व्वो) लोटा। अ०–तुख्म हव्वुस्सलातीन, दंदुस्सीनी। फा०–दंदचीनी, तुख्म वेदअंजीर खताई, दंद। ले०–क्रोटोनिस सेमेन (*Crotonis Semen*)। अं०–क्रोटन सीड्स (*Croton Seeds*)। वृक्षका नाम–क्रोटॉन टीग्लिउम् (*Croton tiglium Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – एरण्डादि-कुल (एउफॉर्विआसे *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – जयपाल चीन का आदिवासी पौधा है। चीन एवं भारतीय द्वीपसमूह में यह प्रचुरता से पाया जाता है। अधुना समस्त भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है। आसाम के जंगलों में इसके स्वयंजात वृक्ष भी काफी परिमाण में पाये जाते हैं। जमालगोटे के वीज वाजारों में मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय– जमालगोटे के छोटे ४.५७ से ६.६ मीटर (१५ से २० फुट) ऊँचे सदाहरित वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ चिकनी, पतली ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्वी, लट्वाकार, लम्वाग्र, दन्तुर और ३–५ शिराओं से युक्त होती हैं। पुष्प एकलिंगी तथा छोटे होते हैं, जो शाखाग्रय मञ्जरियों में निकलते हैं। नरपुष्प श्वेताभ वर्ण के तथा १५–२० केशरसूत्रों (*Filaments*) वाले होते हैं। फल प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्वा, अण्डाकार और त्रिकोणयुक्त तथा त्रिकोष्ठीय (*3-Coccous*) होता है। वीज वादामी रंग के होते हैं।

उपयोगी अंग – (१) वीज एवं (२) वीजों से प्राप्त तेल।

मात्रा – (१) वीजचर्ण–३० मि० ग्रा० से १२५ मि० ग्रा० या ¼ से १ रत्ती। (२) तेल—½ से १ वूंद (मक्खन के साथ)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) जमालगोटा, एरण्डवीज की भाँति लगभग ⅘ सें० मी० या ½ इंच लम्वा और १ सें० मी० या ⅖ इंच चौड़ा, अंडाकार, किसी कदर गोल शकल का तथा कृष्णाभ भूरे रंग का होता है। इसका वाहरी छिलका भंगुर होता है, और आसानी से तोड़ कर पृथक् किया जा सकता है। इसके अन्दर पिलाई लिये सफेद

रंग का तैलीय गूदा (*Oily albumen*) भरा होता है, जो एक सफेद रंग की पतली झिल्ली (*Endopleura*) से आवृत रहता है। मग्ज या गूदे के दो दल होते हैं, जिनके बीच में एक वृन्त (*Radicle*) से लगे दो पत्राकार जीभी (*Foliaceous cotyledons*) होती है। (२) गूदे से लगभग ५०% —६०% तक जमालगोटे का तेल प्राप्त होता है, जो भूरापन लिये पीले रंग से रक्ताभ भूरे रंग का गाढ़ा तेल होता है, जिसमें अरुचिकारक गंध होती है। स्वाद में कटु एवं जलन (*Burning*) का अनुभव होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–इसी जाति का एक दूसरा पौधा जिसे व्याघ्रैरण्ड (बघरेंड़) या जाट्रोफा कुर्कास (*Jatropha curcas Linn.*) कहते हैं, इसके बीज भी कहीं-कहीं जमालगोटे के नाम से व्यवहृत होते हैं। यह दक्षिण भारत में कोरोमण्डल तट, ट्रावन्कोर एवं कनाडा में प्रचुरता से होता है। देहरादून के जंगलों में इसके बीजों का संग्रह जयपाल या जमालगोटे के नाम से किया जाता है। इसमें भी रेचक गुण पाया जाता है। इसका फल लम्बगोल होता है, जिसपर ६ फाँकदार धारियाँ होती (*6-striated*) हैं। पकने पर यह पीताभ किन्तु सूखने पर धीरे-धीरे काला पड़ जाता है। फल में ३ कोष्ठ होते हैं, जिनमें प्रत्येक में १-१ बीज होता है, जो १·५ सें० मी० (¾ इंच) तक लम्बा, १.२५ सें० मी० या ½ इंच से कुछ कम चौड़ा तथा पृष्ठतल पर कुछ उन्नतोदर-सा और अधः पृष्ठ (*Ventral surface*) के बीचों-बीच एक रेखा होती है। बीज के एक सिरे पर एक सफेद चिह्न (*White scar*) होता है। आपाततः जमालगोटे के बीज रेंड़ी के बीज से मिलते-जुलते हैं। किन्तु रेंड़ी का छिलका बहुत चमकीला, चिकना एवं छोटे-छोटे दागदार (*Mottled*) होता है; तथा बीजों के एक सिरे पर हुंडीनुमा छोटी-सी गांठ (*Caruncle*) होती है।

संग्रह एवं संरक्षण–जमालगोटे के बीजों तथा तैल को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल तथा बंद स्थान में सावधानी से रखना चाहिए।

संगठन–जमालगोटेके तेल में (१) क्रोटन रेज़िन होता है जो स्थानिक प्रभाव से विस्फोट जनक (*Vesicant*) होता है। यह इसका मुख्य सक्रिय उपादान मालूम होता है। इसके अतिरिक्त स्टियरिक, पामिटिक, ओलिईक, लॉरिक, लिनोलिक, एवं टिग्लिक एसिड के ग्लिसराइड्स पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–दीर्घ काल तक।

स्वभाव–गुण–गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–तीव्र रेचन। कर्म–स्फोटजनन, तीव्ररेचन, शोथहर, ज्वरघ्न, लेखन, विषघ्न। यूनानी मतानुसार जमालगोटा चौथे दर्जे में उष्ण और रूक्ष है। सौदा और बलगमी रोगों में इसका प्रयोग विरेचन के रूप में किया जाता है। स्फोटजनक होने के कारण यह तिलाऽऽओं में डाला जाता है।

विषाक्त लक्षण–जयपाल एक तीव्र एवं उग्र स्वरूप की रेचक औषधि है। अतएव मात्रा पर विशेष ध्यान देना चाहिए; अन्यथा मात्रातियोग से आमाशयान्त्र प्रदाह होकर पेट में मरोड़, दर्द एवं रक्तमिश्रित पतले दस्त आने लगते हैं। निवारण–ऐसी स्थिति में गोदुग्ध, घृत, नीबू का शर्बत एवं दही की लस्सी आदि देना चाहिए।

मुख्य योग–इच्छाभेदी, जलोदरारि, नाराच रस, ज्वरमुरारि आदि।

विशेष–योगों में डालने के लिए शोधित जमालगोटे का व्यवहार किया जाता है। एतदर्थ जमालगोटे के बीजों के छिलके तथा गर्भाङ्कुर निकाल कर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करें। अब इसे निकाल कर गर्म जल से धोलें और नीबू के रस की भावना देकर धूप में सुखा लें। **सावधानी**–जमालगोटे की जीभी निकालते समय हाथों पर काफी स्नेह लगा लें अथवा अधिक अच्छा तो यह है, कि हाथों पर कपड़ा लपेट लें, अन्यथा लगने से यह तीव्र क्षोभक एवं विस्फोटक जनक उपद्रव करता है।

जयन्ती (जैंत)

नाम। सं०–जयन्ती, जया। हिं०–जैंत। बं०–जयन्ती। ले०–सेस्बानिआ ईजीप्टिआका *Sesbania aegyptiaca Poir* (पर्याय–*S. sesban* (*Linn.*) *Merr.*)।

वानस्पतिक कुल–शिम्बी-कुल (लेगूमिनोसे: (*Leguminosae*)।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष में हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक। कहीं-कहीं बगीचों एवं गृह-उद्यानों में झाड़ के रूपमें भी यह लगायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय–इसके बड़े गुल्म या ४.५ मीटर अथवा १५ फुट तक ऊंचे, अल्पायु, छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं जो बागों में लगाये जाते हैं तथा स्वयंजात भी पाये जाते हैं।

तथा कम मोटे होते हैं। वछनाग को छील कर जिह्वा पर रखने से दाह, सुन्नता और सनसनाहट प्रतीत होती है। इसके वाद जद्वार को घिस कर चटाने से वछनाग के उक्त दोष दूर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जद्वार कड़ुई या मधुर और रंग में भीतर-वाहर से न्यूनाधिक भूरी गुण में निर्विष एवं विषघ्न होती है। वछनाग अन्दर से सफेद होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जद्वार को मुखवंद पात्रोंमें अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। जद्वार में कीड़े जल्दी लगते हैं, अतएव इसको तैल में अथवा पारद के साथ रखना चाहिए।

संगठन – जद्वार के कंदों में डेल्फिनीन (*Delphinine*), तथा स्टेफिसेग्रीन (*Staphisagrine*) नामक दो ऐल्कलायड्स (क्षारोद) पाये जाते हैं, जो ऐल्कोहल् में घुलनशील होते हैं। इसके अतिरिक्त डेल्फोक्यूरानीन (*Delphocurarine*) नामक ऐल्केलॉइड भी पृथक् किया गया है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रुक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक; शोथहर, लेखन, विषघ्न, वेदनास्थापन, नाड़ीबल्य एवं वातहर, दीपन, आमपाचन, पित्तसारक एवं अनुलोमन, कफघ्न, रक्तशोधक, आर्त्तवजनन, मूत्रल, एवं अश्मरीनाशन, ज्वरघ्न, वाजीकरण, कटु पौष्टिक। यूनानी मतानुसार जद्वार तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क तथा विषनाशक, सौमनस्यजनन, उत्तमांगों को वल देने वाली, नाड़ीवल्य, प्रमाथि, विलयन, तारल्यजनन, दोषपाचन, वाजीकर, प्रवर्त्तक, अश्मरी नाशन, वेदनास्थापन, लेखन तथा कफज एवं सौदावी ज्वरों को नष्ट करने वाली होती है। अहितकर – उष्ण प्रकृति को। निवारण – धारोष्ण दूध और यवमण्ड।

मुख्य योग – जद्वार की गोलियाँ वना कर प्रतिश्याय आदि कफ रोगों में तथा अन्य मस्तिष्क रोगों में और वाजीकरण के लिए प्रयुक्त होती हैं। कतिपय माजूनों में भी इसे डालते हैं। खमीरा जदवारी, खमीरा गावजवाँ जदवारी तथा हब्वजदवार इसके मुख्य योग हैं।

विशेष – अतिविषा (अतीस) की भाँति निर्विषा या जद्वार भी विषैला नहीं होता। यह एक उपयोगी औषधि है। चिकित्सकों को इसका व्यवहार करना चाहिए।

जमालगोटा (जयपाल)

नाम। सं०–जयपाल, जेपाल। हिं०–जमालगोटा। म०–जमालगोटा। वं०–जयपाल। गु०–नेपालो। आसाम कोनीवीह (कोनी अर्थात् वीज के भीतर का गर्भ या अंकुर, वीह अर्थात् विषैला होता है)। पं०–जपो (व्वो) लोटा। अ०–तुख्म हब्बुस्सलातीन, दंदुस्सीनी। फा०–दंदचीनी, तुख्म वेदअंजीर खताई, दंद। ले०–क्रोटोनिस सेमेन (*Crotonis Semen*)। अं०–क्रोटन सीड्स (*Croton Seeds*)। वृक्षका नाम–क्रोटॉन टीग्लिउम् (*Croton tiglium Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – एरण्डादि-कुल (एउफॉर्विआसे *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – जयपाल चीन का आदिवासी पौधा है। चीन एवं भारतीय द्वीपसमूह में यह प्रचुरता से पाया जाता है। अधुना समस्त भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है। आसाम के जंगलों में इसके स्वयंजात वृक्ष भी काफी परिमाण में पाये जाते हैं। जमालगोटे के वीज वाजारों में मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – जमालगोटे के छोटे ४.५७ से ६.६ मीटर (१५ से २० फुट) ऊँचे सदाहरित वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ चिकनी, पतली ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्वी, लट्वाकार, लम्वाग्र, दन्तुर और ३–५ शिराओं से युक्त होती हैं। पुष्प एकलिंगी तथा छोटे होते हैं, जो शाखाग्रय मञ्जरियों में निकलते हैं। नरपुष्प श्वेताभ वर्ण के तथा १५–२० केशरसूत्रों (*Filaments*) वाले होते हैं। फल प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्वा, अण्डाकार और त्रिकोणयुक्त तथा त्रिकोष्ठीय (*3-Coccous*) होता है। वीज वादामी रंग के होते हैं।

उपयोगी अंग – (१) वीज एवं (२) वीजों से प्राप्त तेल।

मात्रा – (१) वीजचूर्ण–३० मि० ग्रा० से १२५ मि० ग्रा० या ¼ से १ रत्ती। (२) तेल–½ से १ वूंद (मक्खन के साथ)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) जमालगोटा, एरण्डवीज की भाँति लगभग ¾ सें० मी० या ½ इंच लम्वा और १ सें० मी० या ⅓ इंच चौड़ा, अंडाकार, किसी कदर गोल शकल का तथा कृष्णाभ भूरे रंग का होता है। इसका वाहरी छिलका भंगुर होता है, और आसानी से तोड़ कर पृथक् किया जा सकता है। इसके अन्दर पिलाई लिये सफेद

रंग का तैलीय गूदा (*Oily albumen*) भरा होता है, जो एक सफेद रंग की पतली झिल्ली (*Endopleura*) से आवृत रहता है। मग्ज या गूदे के दो दल होते हैं, जिनके बीच में एक वृन्त (*Radicle*) से लगे दो पत्राकार जीभी (*Foliaceous cotyledons*) होती है। (२) गूदे से लगभग ५०% —६०% तक जमालगोटे का तेल प्राप्त होता है, जो भूरापन लिये पीले रंग से रक्ताभ भूरे रंग का गाढ़ा तेल होता है, जिसमें अरुचिकारक गंध होती है। स्वाद में कटु एवं जलन (*Burning*) का अनुभव होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–इसी जाति का एक दूसरा पौधा जिसे व्याघ्रैरण्ड (वघरेंड़) या जाट्रोफा कुर्कास (*Jatropha curcas Linn.*) कहते हैं, इसके बीज भी कहीं-कहीं जमालगोटे के नाम से व्यवहृत होते हैं। यह दक्षिण भारत में कोरोमण्डल तट, ट्रावन्कोर एवं कनाडा में प्रचुरता से होता है। देहरादून के जंगलों में इसके बीजों का संग्रह जयपाल या जमालगोटे के नाम से किया जाता है। इसमें भी रेचक गुण पाया जाता है। इसका फल लम्बगोल होता है, जिसपर ६ फाँकदार धारियाँ होती (*6-striated*) हैं। पकने पर यह पीताभ किन्तु सूखने पर धीरे-धीरे काला पड़ जाता है। फल में ३ कोष्ठ होते हैं, जिनमें प्रत्येक में १-१ बीज होता है, जो $\frac{१५}{८}$ सें० मी० ($\frac{३}{४}$ इंच) तक लम्बा, १.२५ सें० मी० या $\frac{१}{२}$ इंच से कुछ कम चौड़ा तथा पृष्ठतल पर कुछ उन्नतोदर-सा और अधः पृष्ठ (*Ventral surface*) के बीचों-बीच एक रेखा होती है। बीज के एक सिरे पर एक सफेद चिह्न (*White scar*) होता है। आपाततः जमालगोटे के बीज रेंड़ी के बीज से मिलते-जुलते हैं। किन्तु रेंड़ी का छिलका बहुत चमकीला, चिकना एवं छोटे-छोटे दागदार (*Mottled*) होता है; तथा बीजों के एक सिरे पर हुंडीनुमा छोटी-सी गांठ (*Caruncle*) होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जमालगोटे के बीजों तथा तैल को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र-शीतल तथा बंद स्थान में सावधानी से रखना चाहिए।

संगठन – जमालगोटेके तेल में (१) क्रोटन रेजिन होता है जो स्थानिक प्रभाव से विस्फोट जनक (*Vesicant*) होता है। यह इसका मुख्य सक्रिय उपादान मालूम होता है। इसके अतिरिक्त स्टियरिक, पामिटिक, ओलिईक, लॉरिक, लिनोलिक, एवं टिग्लिक एसिड के ग्लिसराइड्स पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि– दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–तीव्र रेचन। कर्म–स्फोटजनन, तीव्ररेचन, शोथहर, ज्वरघ्न, लेखन, विषघ्न। यूनानी मतानुसार जमालगोटा चौथे दर्जे में उष्ण और रूक्ष है। सौदा और बलगमी रोगों में इसका प्रयोग विरेचन के रूप में किया जाता है। स्फोटजनक होने के कारण यह तिलाऽऽओं में डाला जाता है।

विषावत लक्षण – जयपाल एक तीव्र एवं उग्र स्वरूप की रेचक औषधि है। अतएव मात्रा पर विशेष ध्यान देना चाहिए; अन्यथा मात्रातियोग से आमाशयान्त्र प्रदाह होकर पेट में मरोड़, दर्द एवं रक्तमिश्रित पतले दस्त आने लगते हैं। **निवारण**–ऐसी स्थिति में गोदुग्ध, घृत, नीबू का शर्बत एवं दही की लस्सी आदि देना चाहिए।

मुख्य योग – इच्छाभेदी, जलोदरारि, नाराच रस, ज्वर-मुरारि आदि।

विशेष – योगों में डालने के लिए शोधित जमालगोटे का व्यवहार किया जाता है। एतदर्थ जमालगोटे के बीजों के छिलके तथा गर्भाङ्कुर निकाल कर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करें। अब इसे निकाल कर गर्म जल से धोलें और नीबू के रस की भावना देकर धूप में सुखा लें। **सावधानी**–जमालगोटे की जीभी निकालते समय हाथों पर काफी स्नेह लगा लें अथवा अधिक अच्छा तो यह है, कि हाथों पर कपड़ा लपेट लें, अन्यथा लगने से यह तीव्र क्षोभक एवं विस्फोटक जनक उपद्रव करता है।

जयन्ती (जैंत)

नाम। सं०–जयन्ती, जया। हिं०–जैंत। बं०–जयन्ती। ले०–सेस्वानिआ ईजीप्टिआका *Sesbania aegyptiaca Poir* (पर्याय–*S. sesban* (*Linn.*) *Merr.*)।

वानस्पतिक कुल–शिम्बी-कुल (लेगूमिनोसेः (*Leguminosae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक। कहीं-कहीं वगीचों एवं गृह-उद्यानों में झाड़ के रूपमें भी यह लगायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – इसके बड़े गुल्म या ४.५ मीटर अथवा १५ फुट तक ऊंचे, अल्पायु, छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं जो बागों में लगाये जाते हैं तथा स्वयंजात भी पाये जाते हैं।

पुष्प के रंग-भेद से इसकी कई जातियाँ या भेद होते हैं। उक्त जाति के पुष्प पीत वर्ण के होते हैं। पत्तियाँ आपाततः देखने में इमली की पत्तियों की भाँति, समपक्षवत् होती हैं, जिनमें १२-२० जोड़े पत्रक होते हैं। फलियाँ लम्वी, पतली, रम्भाकार परन्तु वीच-वीच में पतली होती हैं। वर्षा में फूल तथा जाड़ों में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, मूल, त्वक्, पुष्प एवं वीज।

मात्रा – चूर्ण–२ ग्राम से ६ ग्राम या २ से ६ माशा।
स्वरस–१ से २ तोला।
क्वाथार्थ मूल–१ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पत्तियाँ समपक्षवत्, १०.५ सें० मी० से १५ सें० मी० या ३-६ इंच लम्वी होती हैं, जिनमें ६–२० जोड़े पत्रक होते हैं। पत्रक रेखाकार-आयताकार (*Linear-oblong*) होते हैं। पत्तियों को मसलने पर एक विशिष्ट प्रकार की गंध मालूम पड़ती है तथा स्वाद में यह कुछ तिक्त होती हैं। शिम्वी १५ सें० मी से २२.५ सें० मी० या ६-९ इंच लम्वी,पतली, रम्भाकार परन्तु वीच-वीच में पतली होती है। वीज आयताकार-लम्वगोल (*Oblong*), कुछ-कुछ वृक्कानुकारि और चिकने होते हैं, जिनमें विशिष्ट प्रकार की गंध तथा स्वाद फीका होता है। यह आसानी से चूर्ण नहीं होते।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में मूल एवं वीजों का संग्रह कर अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखवंद पात्रों में रखें।

संगठन – वीजों में ३.६७ प्रतिशत स्थिर तैल एवं गंध तत्त्व, ५.०९% भस्म तथा ऐल्व्युमिनाइड एवं कार्वोहाइड्रेट आदि तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–विपघ्न, ज्वरघ्न। कर्म–कफपित्त-शामक, दीपन, ग्राही, कृमिघ्न, रक्तशोधक, गलगण्डनाशक, कफघ्न, मत्रसंग्रहणीय, आर्त्तवजनन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, प्लीहाकाठिन्यहर। इसके पत्तों का कल्क वना कर स्थानिक प्रयोग करने से शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणपाचन एवं कुष्ठघ्न कर्म करता है।

मुख्य योग – जया वटी।

विशेष – जयन्ती पत्रस्वरस रसशास्त्र में द्रव्यों के शोधन में वहुशः प्रयुक्त होता है।

जलकुम्भी (कुम्भिका)

नाम। सं०–कुम्भिका, वारिपर्णी, वारिमूली। हिं०–जल कुम्भी। वं०–टोकापाना। अं०–वाटर-सोल्जर (*Water-soldier*)। ले०–पिस्टिआ स्ट्राटिओटेज *Pistia stratiotes Linn.*।

वानस्पतिक-कुल – सूरण-कुल (आरासे : *Araceae*)।

प्राप्तिस्थान – यह एक जलीय पौधा है, जो समस्त भारतवर्प में वँधे जलाशयों तथा गढों में मिलता है। क्रमशः यह सारे जलाशय में छा जाता है।

संक्षिप्त परिचय – जलकुम्भी के क्षुप जलाशयों के ऊपर तैरते हुए पाये जाते हैं। पत्तियाँ २.५ से ७.५ सें० मी० या १-३ इंच लम्वी, कुछ वृत्ताकार अथवा अभिलट्वाकार या अभि-हृद्वत् होती हैं, जो चक्राकार गुच्छ में होती हैं। पत्रतट लहरदार होते हैं और शिराएँ पंखवत् फैली होती हैं। पुष्पव्यूह पत्रावृत स्थूल मंजरी या स्पैडिक्स (*Spadix*) तथा कोणोद्भूत और एकाकी होता है। पृथु पत्रावरण या स्पेथ (*Spathe*) पीला या सफेद होता है।

उपयोगी अंग– पंचाङ्ग (तथा पंचाङ्ग-भस्म)।

मात्रा – स्वरस–१ से २ तोला।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–त्रिदोषशामक, अनुलोमन, मृदु-रेचन, रक्तस्तभक, कफनिःसारक, मूत्रल, ज्वरघ्न, दाह-प्रशमन, वल्य, शोथहर। स्थानिक प्रयोग से यह कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, रक्तस्तम्भक, दाहप्रशमन एवं इसकी भस्म दद्रु, कण्डू, एवं गण्डमाला नाशक होती है।

मुख्य योग – कुम्भी तैल।

विशेष – कुम्भी तैल चिरकालज कर्णस्राव (*Chronic otorrhoea*) में वहुत उपयोगी है।

जवासा (यवास)

नाम। सं०–यास, यवास, दुःस्पर्श। हिं०–जवास, जवासा, हिंगुआ। वं०–जवाशा। म०—जवासा। गु०–जवासो। अ०–हाज। फा०–खारेशुतुर, खारेवुज। अं०–अरेवियन या पर्सियन मेन्ना प्लांट (*Arabian or Persian Manna Plant*)। ले०–आल्हागी सेउडाल्हागी *Alhagi pseudalhagi (Bieb) Desv.* (पर्याय–*A. camelorum Fich.*; *A. maurorum Baker non Desv.*)। उक्त नाम जवास के क्षुप के हैं।

यवासशर्करा। सं०—यासशर्करा, यवासशर्करा। हिं०—तरंजवीन। अ०—तरंजवीन, अस्लुल्हाज। अं०—मेन्ना ऑव दि डेजर्ट (*Manna of the Desert*), पर्सिअन मेन्ना (*Persian Manna*)।

वानस्पतिक कुल — शिम्बी-कुल (लेगूमिनोसे *Leguminosae*)।

प्राप्तिस्थान — भारतवर्ष में दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेश, गुजरात, सिंध, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान आदि में जवासा के स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश, बिलोचिस्तान, फारस, खुरासान, सीरिया, मेसोपोटामिया, अरब एवं मिस्र में भी यह प्रचुरता से होता है। क्षुप का संग्रह भारतवर्ष में होता है, तथा तुरञ्जवीन का आयात यहाँ फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय — जवासा के छोटे-छोटे (३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १ से ३ फीट ऊंचे), पीताभ-हरित वर्ण के शाखाबहुल एवं कँटीले क्षुप होते हैं। कांटे कड़े, नुकीले एवं (कभी-कभी) ३.७५ सें० मी० या १॥ इंच तक लम्बे होते हैं। शाखा-प्रशाखाएँ पतली, रूपरेखा मे रम्भाकार (*Terete*) तथा बाह्य तल पर रेखांकित एवं प्रायः चिकनी होती हैं। पत्तियाँ साधारण (*Simple*), चर्मिल (*Coriaceous*), ६.२५ मि० मी०—९.३७५ मि० मी० ×३.१२५ मि० मी०—४.६ मि० मी० ($\frac{1}{4}$ से $\frac{3}{8}$ इंच×$\frac{1}{8}$ से $\frac{3}{16}$ इंच), रूपरेखा में अभिलट्वाकार—आयताकार, कुण्ठिताग्र किन्तु अन्ततः नुकीले अग्र में संकुचित, जिससे तीक्ष्णाग्र (*Apiculate*) होती हैं। पृष्ठ या तल प्रायः चिकने तथा फलक-आधार पर कुछ त्रिकोणाकार-सा जिससे स्फानाकार (*Cuneate*) होता है। पर्णवृन्त बहुत छोटे होते हैं। ग्रीष्म के प्रखर ताप में जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती हैं, तो जवास भी मदार की भाँति हराभरा रहता है। माघ-फाल्गुन, में पुष्प आते हैं, जो लाल रंग के होते हैं। फलियाँ १.८७५ सें० मी० से ३.१२५ सें० मी० ($\frac{3}{4}$ से १$\frac{1}{4}$ इंच) लम्बी रूपरेखा में कुछ-कुछ हँसिए के आकार की होती हैं और गर्मियों में पकती हैं। बीज कृष्णाभ-भूरे रंग के तथा चिकने होते हैं। जवास के पौधे प्रायः नदियों के कछारों में तथा रेतीली एवं बलुई भूमि में पाये जाते हैं। हरे पौधों को काट कर टट्टियाँ बनायी जाती हैं तथा यह ऊंटों के लिए उत्तम चारा का काम देता है।

उपयोगी अंग — पंचाङ्ग, यवासशर्करा (तुरञ्जवीन)।

मात्रा — स्वरस—१ से २ तोला।
क्वाथ—२॥ से ५ तोला।
यासशर्करा—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा — तुरञ्जबीन, जवासा के पौधे का प्रगाढ़ीभूत द्रव होता है, जो निर्यास की भांति स्रवित होकर पत्र और शाखाओं पर जम जाता है। इसके छोटे-छोटे सफेद दाने होते हैं, अथवा कई-कई दाने परस्पर चिपके हुए होते हैं। संग्रह की लापरवाही से इसमें प्रायः पौधे की पत्तियाँ, कांटे एवं टूटी फलियों के टुकड़े भी मिले होते हैं। इसमें प्रायः कोई गंध नहीं पायी जाती किन्तु स्वाद में पहले मधुर किन्तु बाद मे कुछ कड़वी मालूम होती है। ताजी, सफेद, शुद्ध और मिश्रण रहित तथा जिसमें पत्ते न हों और कांटे कम हों, यह तरंजबीन श्रेष्ठ और ग्राह्य होती है। इसे पत्र-शाखा और कूड़ा-कर्कटादि से शुद्ध करके काम में लाना चाहिए।

स्थानापन्न द्रव्य एवं मिलावट — तरंजबीन में चीनी तथा मिश्री के दानों का मिलावट किया जाता है। असली तरंजवीन में मधुरता के साथ कुछ कुस्वाद और वसागंध भी होती है और गरम पानी में भिगोने से उसमें कुछ चिकनाई भी मालूम पड़ती है।

संग्रह एवं संरक्षण — शुष्क पंचाङ्ग को मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। यासशर्करा या तुरंजवीन को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में रखें तथा नमी से बचाना चाहिए।

संगठन — तुरंजवीन (*Alhagi Manna*) में एक क्रिस्टली सत्व होता है, जो किसी अम्ल में उबालने पर द्राक्षशर्करा (ग्लूकोज) में परिवर्तित हो जाता है। इसमें इक्षु शर्करा (*Cane Sugar*) भी होती है।

वीर्यकालावधि — पंचाङ्ग—१ वर्ष। तुरंजवीन—कई वर्ष तक।

स्वभाव — गुण—लघु, स्निग्ध। रस—मधुर, तिक्त, कषाय। विपाक—मधुर। वीर्य—शीत। प्रधान कर्म—वातपित्तशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, रक्तरोधक, छर्दितृष्णा निग्रहण, पित्तसारक, कफनिस्सारक, मूत्रजनन, दाहज्वरशामक, बल्य, बृंहण, त्वग्दोषहर आदि। यूनानी मतानुसार यवास शीत एवं रूक्ष तथा तुरंजवीन उष्णता लिए अनुष्णशीत। तुरंजवीन सारक, पित्तविरेचक, कफशामक, वृष्य एवं बृंहण है। यह बच्चों एवं मृदुप्रकृति वालों के लिए उत्तम सारक औषधि है। यह पित्त को सरलता से निकालती है।

इसे विरेचक औषधियों की शक्ति बढ़ाने के लिए उनमें मिलाते हैं।

मुख्य योग – दवाउत्तरंजवीन।

विशेष – चरकोक्त तृष्णानिग्रहण गण की औषधियों में यवासक (जवासा) का भी उल्लेख है।

जामुन (जम्बू)

नाम। सं०–जंबु(–बू), राजजम्बू। बं०–कालजाम। पं०–जामलु। म०–जांभूल। गु०–जांवु, जांवू। ता०–शंवु, नावल। मल०–भावल्। ते०–नेरेडु। अं०–जैम्बोल (*Jambol*)। ले०–सीज़ीजिउम कूमिनी *Syzygium cumini* (L.) *Skeels*. (पर्याय–*Eugenia jambolana Lam.*)।

वानस्पतिक कुल – लवंग-कुल (मीर्टासि *Myrtaceae*)।

प्राप्तिस्थान – जामुन के वृक्ष भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

संक्षिप्त परिचय – जामुन के ऊंचे-ऊंचे सदाहरित वृक्ष होते हैं, जो लगाये हुए तथा जंगली रूप से पाये जाते हैं। पत्तियाँ ७.५ से १५ सें० मी० या ३-६ इंच लम्बी, ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १॥ से २॥ इंच तक चौड़ी लट्वाकार-आयताकार (*Ovate-oblong*), आयताकार-भालाकार, लम्वाग्र (*Acuminiate*), वनावट में चर्मिल (*coriaceous*), चिमड़ी, चिकनी तथा ऊर्ध्व तल पर चमकदार; पर्णवृन्त $\frac{1}{2}$ सें० मी० से २.५ सें० मी० या $\frac{1}{3}$ से १ इंच तक लम्बे तथा खातोदर (*Channelled*) होते हैं। कोमल पत्तियों को मसलकर सूंघने से एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि आती है। वसन्त ऋतु में छोटे-छोटे हरिताभ वर्ण के पुष्प आते हैं जो छोटे-छोटे पुष्पवृन्तों पर धारण किये जाते हैं तथा तीन शाखाओं में विभक्त मंजरियों (*Trichotomous panicles*) में निकलते हैं। फल प्राय: ग्रीष्मान्त अथवा वर्षा के प्रारम्भ में लगते हैं, जो १.२५ से २.५ सें० मी० या $\frac{1}{2}$ से १ इंच लम्बे तथा लम्बगोल और कच्ची अवस्था में हरे, अर्धपक्वावस्था में गुलावी रंग के और पूर्णत: पकने पर काले रंग के हो जाते हैं, जिनमें मीठा रसदार गूदा होता है। इनको खाया जाता है।

उपयोगी अंग – (१) पत्र, (२) वृक्ष की छाल, (३) काष्ठ, (४) फल का गूदा, (५) गुठली का मग्ज (गिरी)। जामुन के पके फलों के रस से एक सिरका (*Vinegar*) भी वनाया जाता है, तथा रस से आसवन (*Distillation*) द्वारा एक आसव (*Spirituous liquor*) भी वनाया जाता है जिसे 'जाम्बव' कहते हैं।

मात्रा – (१) स्वरस–१ से २ तो०।
(२) गुठली का मग्ज–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
(३) जामुन का रुब्ब–२ तो० से ३ तो०।
(४) त्वक्क्वाथ– १ से २ तो०।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – जंगली वृक्षों का फल या वेरी (*Berry*) प्राय: जैतून के छोटे फल के वरावर तथा नील लोहित रंग (*Purple*) का और स्वाद में कसैला होता है। फल में अधिक भाग गुठली ही होती है, जो हरे रंग की तथा स्वाद में कसैली होती है। गुठली पर कागज की तरह पतली झिल्ली चढ़ी होती है। प्रत्येक फल में एक गुठली पायी जाती है। जामुन की छाल वाहर से खाकस्तरी (*Grey*) रंग की होती है, तथा इसपर अनेक दरारें (*Fissures*) पड़ी होती हैं। अन्दर का भाग लाल रेशेदार होता है। छाल के वाहरी तल पर जगह-जगह छाल का अंश पृथक् हो जाने से खात से (*Depressions*) पाये जाते हैं। छाल में शाहवलूत की छाल-जैसी गंध होती है तथा स्वाद में यह अत्यंत कसैली होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जामुन की गुठली एवं त्वक् (छाल) को मुखवंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – वीज में जम्बूलिन (*Jambulin*) नामक ग्लूकोसाइड (*Glucoside*), अल्प मात्रा में एक पांडुपीत उड़नशील तेल, गैलिक एसिड (*Gallic acid*), क्लोरोफिल, वसा, राल एवं ऐल्व्युमिन आदि तत्त्व पाये जाते हैं। जामुन की गुठली की मधुमेह निवारक (*Antidiabetic*) क्रिया उक्त ग्लूकोसाइड के ही कारण होती है। छाल में लगभग १२% तक टैनिन (*Tannin*) पाया जाता है तथा विजयसार के गोंद की भाँति एक गोंद (*Kino-like gum*) भी निकलता है।

वीर्यकालावधि – वीज एवं त्वक् ६ मास से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, मधुर, अम्ल। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–कफ-पित्त शामक किन्तु वायुवर्धक। मौखिक सेवन से फल (साधारण मात्रा में) दीपन-पाचन, यकृदुत्तेजक, स्तम्भन और (अधिक मात्रा में) विष्टम्भजनक। कोमल पत्र छर्दि निग्रहण, रक्तपित्तशामक। गुठली का चूर्ण मधुमेह एवं उदकमेह नाशक, रक्तप्रदर एवं रक्तातिसार शामक। छाल–स्तम्भन होती है। यूनानी मतानुसार जामुन दूसरे दर्जे में शीत

एवं रूक्ष है। अहितकर–आनाहकारक और दीर्घपाकी है। निवारण–काली मिर्च और नमक।

मुख्य योग – जम्ब्वाद्य तेल, पंच पल्लव योग, न्यग्रोधादि चूर्ण, जम्बुफलासव।

विशेष – प्रमेह के रोगियों के लिए जामुन एक उत्तम खाद्य है। इसके पत्रस्वरस का उपयोग अनुपान रूप से किया जा सकता है।

चरकोक्त (सू० अ० ४) छर्दिनिग्रहण (जामुन के कोमल पत्र), पुरीष विरजनीय एवं मूत्र संग्रहणीय महाकषाय तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) न्यग्रोधादि गण और पंच पल्लव में जामुन भी है।

जायफल (जातीफल)

नाम। (१) **जायफल**–सं०–जातीफल। हिं०, बं०, म०, गु०–जायफल। पं०–जयफल। अ०–जौज़बव्वा, जौज़बुवा, जौजुत्तीब। फा०–जौज़बूया। अं०–नटमेग (*Nutmeg*)। ले०–मिरीस्टिका *Myristica* (*Myrsit*), नक्स मॉस्केटा *Nux Moschata*, सेमेन मिरीस्टिका *Semen Myristicae*। (२) **जावित्री**। सं०–जातिपत्री। हिं०–जावित्री। बं०–जैत्री। म०–जायपत्री। गु०–जावंत्री। अ०–बस्वास–(सः)। फा०–बज़्बाज़। अं०–मेस (*Mace*)। (३) **जायफल का तेल**। सं०–जातीतैल। हिं०–जायफल का तेल। अं०–नटमेग ऑयल (*Nutmeg oil*), मायरिस्टिका ऑयल (*Myristica oil*)। ले०–ओलेउम मिरीस्टिका *Oleum Myristica* (*Ol. Myrist.*)। वृक्षका नाम–मिरीस्टिका फ्राग्रांस (*Myristica fragrans Houtt.*)।

वानस्पतिक कुल–जातीफल-कुल (मिरीस्टिकासे *Myristicaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उक्त असली जायफल मलक्का द्वीपपुंज का आदिवासी पौधा है। पिनाङ्ग, सुमात्रा, मलाया, सिंगापुर, लंका, पूर्वी भारतीय द्वीप पुंज तथा जंजीबार में प्रचुरता से इसकी खेती की जाती है। बीजों की सुखाई हुई गिरी (*Kernel*) जायफल के नाम से तथा बीजों पर की बाह्य वृद्धि या एरिल (*Arillus*) जावित्री के नाम से बाजारों में बिकते हैं। भारतवर्ष में इनका आयात उपर्युक्त देशों से होता है। भारतवर्ष में नीलगिरी की पहाड़ियों पर भी जायफल के वृक्षों को लगाने का प्रयास किया गया है और कुछ सफलता भी मिली है।

संक्षिप्त परिचय – जायफल के ऊंचे वृक्ष होते हैं, जिनका काण्ड चिकना और शाखाएँ नीचे को झुकी होती हैं। पत्तियाँ ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बी, सवृन्त रूप रेखा में जामुन की पत्तियों की भांति तथा सुगंधित और ऊर्ध्व पृष्ठ पर गहरे रंग की और अधःपृष्ठ पर पीताभ-धूसर वर्ण की होती है। पुष्प छोटे (⅝ सें० मी० या ¼ इंच लम्बे) तथा पीत वर्ण के होते हैं, जो रूपरेखा में लम्बगोल या अमरूद की रूपरेखा के होते हैं, और पत्रकोणों के ऊपर से नम्य मंजरियों (*Lax slender supraaxillary racemes*) में निकलते हैं। फल ३.१२५ सें० मी० से ५ सें० मी० (१।-२ इंच), लम्बे, छोटे अमरूद या नासपाती की भांति, पकने पर रक्ताभ या पीताभ वर्ण के होते हैं और नीचे को लटके रहते हैं। इनका स्फुटन २ खण्डों में होता (*Splitting into 2-valves*) है। फल फटने पर बीज बाहर निकल आता है, जिसपर लाल रंग का जालीदार बीज-बाह्य वृद्धि अर्थात् बीजोपांग या एरिल (*Arillus*) चढ़ी होती है। यही व्यावसायिक जावित्री होती है। जावित्री को पृथक् करने के बाद गुठलीनुमा बीज प्राप्त होता है, जिसके कड़े आवरण (*Hard shell or bony testa*) को तोड़ कर अन्दर की गुठली प्राप्त की जाती है। इसे सुखाकर संग्रहीत कर लिया जाता है यही जायफल होता है।

उपयोगी अंग – बीज-मज्जा या गिरी (जायफल), बीज बाह्यवृद्धि या *Arillus* (जावित्री) तथा जायफल का तेल।

मात्रा – जायफल एवं जावित्री–½ ग्राम से १॥ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा। तेल–१ से ३ बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) **जायफल**–जायफल रूपरेखा में प्रायः लम्बगोल (आधार की ओर शीर्ष की अपेक्षा अधिक चौड़ा), २-३ सेंटीमीटर लम्बा, १॥-२ सेंटीमीटर चौड़ा तथा हल्के भूरे रंग का होता है, जिसके बाह्य तल पर सूक्ष्म परिखाओं का जालसा (*Network of shallow reticulate groove*) फैला होता है। जगह-जगह गाढ़े भूरे रंग के बिन्दु तथा रेखाएँ भी दिखाई देती हैं। आधार या चौड़े सिरे पर आदिमूल का अग्र (*tip of the radicle*) स्थित होता है, जो एक छोटे गोलाकार (व्यास में लगभग ½ सें० मी०) उत्सेध के रूप में होता है। यहाँ से एक परिखा दूसरे सिरे पर स्थित

शुद्धाशुद्ध-परीक्षा – पक्व जीरे का फल अर्थात् युग्मवेश्म या क्रीमोकार्प (*Cremocarp*) भूरे रंग का, लम्वगोल स्वरूप का प्रायः ५/८ सें० मी० या १/४ इंच तक लम्वा तथा मध्य में १/४ सें० मी० या १/१० इंच तक चौड़ा होता है। यह भी दो-एक स्फोटी वीज-खण्डों (*Mericarps*) के मिलने से वनता है ,जो पक्व फल में प्रायः परस्पर जुटे से रहते हैं। प्रत्येक फलखण्ड में ५-५ मुख्य उन्नत रेखाएँ (*Primary ridges*) तथा ४-४ गौण रेखाएँ (*Secondary ridges*) तथा ६-६ तैल-नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। कुक्षिवृन्त (*Style*) का कुछ अवशेष भी फलों में लगे होते हैं। जीरे में एक विशिष्ट प्रकार की सुगन्धि पायी जाती है। मुँह में रख कर चावने पर एक विशिष्ट प्रकार का स्वाद मालूम होता है, जो कुछ-कुछ सोआ से मिलता-जुलता है। उत्तम जीरे में उत्पत्तैल की मात्रा कम-से-कम २½% होनी चाहिए। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २ %होते हैं तथा जलाने पर भस्म अधिकतम ८% तक प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जव फल पक जायँ और वनस्पति सूखने लगे तो फलों का संग्रह कर अच्छी तरह सुखा कर ढक्कनवन्द पात्रों में अनार्द्र एवं शीतल स्थान में रखें।

संगठन – (१) उड़नशील तेल २½ से ४ % तक। जीरे की सुगंधु एवं स्वाद इसी पर निर्भर करती है। इसमें ५६ % तक क्युमैल्डिहाइड (*Cumaldehyde or cuminic aldephyde*) होता है। इसके अतिरिक्त (२) १० % तक एक जमने वाला तेल (*Fatty oil*) तथा (३) ६.७ प्रतिशत पेन्टोसन (*Pentosan*) भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य-उष्ण। प्रधान कर्म–लेखन, दीपन-पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, मूत्रल, रक्तशोधक, गर्भाशयोत्तेजक एवं वल्य आदि। अहितकर – फुफ्फुसों के लिए अहितकर एवं कर्पण है। निवारण – कतीरा और शीत एवं तरद्रव्य।

मुख्य योग–जीरकारिष्ट, जीरकादि मोदक, जीरकाद्य चूर्ण, जीरकाद्य तैल, हिंग्वष्टक चूर्ण। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक योगों में भी जीरा पड़ता है। यूनानी योग–जुवारिशकमूनी, जुवारिश कमूनी कवीर, जुवारिश कमूनी मुसहिल, माजन कमूनी।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २) शिरोविरेचन द्रव्यों में तथा (सू० अ० ४ में कहे) शूलप्रशमन महाकषाय में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पिप्पल्यादि गण में जीरक भी है।

जीरास्याह, स्याहजीरा (कृष्णजीरक)

नाम। सं०–कृष्णजीरक, जरणा, कारवी, काश्मीरजीरक। हिं०–स्याहजीरा, विलायतीजीरा। वं०–शाजीरा, विलायतीजीरा। म०–शहाजिरें। गु०–शाहजीरूं। अ०–कुरूया, करोया, कमूनेरूमी, कमूनेअरमनी। फा०–करोया, कुरूया, ज़ीरए रूमी, जीरए अरमनी, शाहजीरा। ले०–कारुई फ्रुक्टुस *Carui Fructus*। अं०–कैरावे फ्रूट (*Caraway fruit*), कैरावे सीड (*Caraway Seed*)। वनस्पतिकानाम–(कारुम कार्वी *Carum carvi Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शतपुष्पादि-कुल (उम्वेल्लीफेरे *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर एवं मध्य यूरोपीय देशों में यह जंगली भी होता है,तथा इसकी खेती भी की जाती है। विशेषतः हालैंड, लेवांट एवं इंगलैंड में केरावे काफी मात्रा में वोया जाता है। ईरान के किरमान प्रान्त में भी कुरूया कर्षित (वागी) एवं जंगली दोनों रूपों में काफी परिमाण में होता है। भारतवर्ष में उत्तरी हिमालय प्रदेश में यह स्वयंजात पाया जाता है। वालतिस्तान (*Baltistan*), कश्मीर, चम्वा, कुमायूं एवं गढ़वाल में १२०८ से ३६५७ मीटर या ४,००० से १२०००, फूट की ऊंचाई पर इसकी खेती भी की जाती है। सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में भी यह पाया जाता है। भारतीय वाजारों में कृष्णजीरक इंगलैंड, लेवांट ईरान एवं कश्मीर तथा गढ़वाल आदि से आता है।

संक्षिप्त परिचय – कृष्णजीरक के कोमल, ३० से ९० सें० मी० या १-३ फुट ऊंचे खड़े द्विवर्षायु पौधे (*Erect biennial herb*) होते हैं। पत्तियाँ सोये की तरह सूत्रवत् खण्डित होती हैं। पुष्प सफेद रंग के तथा ८-१० पुष्पों के छत्रकों (*Umbels of about* 8 *or* 10 *rays*) में निकलते हैं। फल (कृष्णजीरक *Caraway seeds*) कृष्णाभ, श्वेत जीरक से छोटे, पतले, किंचित् वक्र (*Curved*), रेखाकार-आयताकार और सुगंधित होते हैं। रेखाएँ अत्यंत स्पष्ट (*Ribs prominent*) होती हैं।

उपयोगी अंग–बीज (वास्तव में फल) तथा बीजों से प्राप्त तैल (कालाजीरे का तेल *Caraway oil*)) ।

मात्रा–बीज १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा; तेल १ से ३ बूंद ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–कृष्णजीरक का युग्मवेश्म या क्रीमोकार्प (*Cremocarp*) २–एकस्फोटी बीज-खण्डों (*Mericarps*) के मिलने से बनता है। उक्त मेरिकार्प ३ से ७ मि० मी० ($\frac{1}{8}$ से $\frac{7}{25}$ इंच) लम्बे तथा २ मि० मि० ($\frac{2}{25}$ इंच) चौड़े, धनुप के समान किंचित् वक्र तथा दोनों सिरों की ओर क्रमशः कम चौड़े (*tapering to each end*) बाहर से चिकने तथा भूरे रंग के होते हैं, जिसपर लम्बाई के रुख फीके रंग की ५उन्नत रेखाएँ (*Primary ridges*) होती हैं। इन रेखाओं के अन्तरमध्य का भाग खातोदर होता है, जिसमें ६ तैल नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। इनमें ४ पृष्ठ तल में तथा २ सैन्धिक तल (*Commissural surface*) में होती हैं । स्याह जीरे में एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि पायी जाती है तथा स्वाद में भी सुगंधित होता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २ %होते हैं। भस्म अधिकतम ९% तथा अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम १.५% प्राप्त होती है। कृष्णजीरक का चूर्ण हल्के भूरे रंग का होता है। उत्तम स्याह जीरे के बीज में कम-से-कम ३$\frac{1}{2}$% (*V/W*) तथा चूर्ण में २.५% (*V/W*) उड़नशील तैल (*Caraway oil*) पाया जाता है। उत्तम बीजों से जल में अघुलनशील तत्त्व २० से २६% तक प्राप्त होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–महँगा होने के कारण कृष्ण जीरक में मिलावट की सम्भावना अधिक रहती है। एतदर्थ स्वरूपतः इससे मिलते-जुलते अन्य बीज यथा गाजर तथा सोआ आदि के बीज रंग कर मिला दिये जाते हैं, अथवा सस्ते दाम वाले कालाजीरे के नाम से स्वतंत्र रूप से बेचे जाते हैं। कभी-कभी तेल खींचे हुए बीज (जिनसे तेल निकाल लिया गया है) भी मिलाये जाते हैं। ऐसे बीज रंग में कुछ गाढ़े होते तथा बाहर से सिकुड़े हुए (*Shrivelled appearance*) होते हैं। इनमें सुगन्धि भी कम पायी जाती है। इनसे जल में घुलनशील सत्व (*Aqueous extractive*) भी अपेक्षाकृत कम (१५% से कम) प्राप्त होता है। कभी ऐसे बीज भी मिलाये जाते हैं, जिनमें उड़नशील तेल पहले से ही कम होता है।

स्याहजीरे का तेल–यह कुचलाये हुए पक्व बीजों को कुचल कर जल के साथ आसवन (*Distillation*) करने से प्राप्त होता है, जो रंगहीन या हल्के पीले रंग का द्रव होता है, जिसमें कृष्णजीरक का विशिष्ट स्वाद एवं गंध पाया जाता है। यह ९०% जल के ऐल्कोहल् में समान आयतन में तथा ८०% जल के ऐल्कोहल् में ७ गुने आयतन में घुलनशील होता है। शुद्ध तेल में ५३ से ६३% (*W/V*) तक कार्वोन (*Carvone*: $C_{10} H_{14} O$) पाया जाता है। अतएव इसकी शुद्धता के लिए कार्वोन की प्रतिशतक मात्रा का प्रमापन (*Assay*) किया जाता है। २०° तापक्रम पर विशिष्ट गुरुत्व ०.९०५। हवा में खुला रहने से तेल धीरे-धीरे गाढ़ा हो जाता है, जिससे इसका विशिष्ट गुरुत्व बढ़ जाता है। *Optical rotation* : $+70°$ *to* $+80°$ । अप वर्तनांक (*Refractive index at* २०°) : १.४८५-१.४९२।

संग्रह एवं संरक्षण–जब फल पक जाते हैं इसकी छत्रक-युक्त शाखाएँ काट ली जाती हैं और इन्हें पीट कर फल (बीज) पृथक् प्राप्त कर लिये जाते हैं। काला जीरा को अच्छी तरह मुखबन्द डिब्बों या शीशियों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। जिन पात्रों में चूर्ण रखा जाय उनको विशेष रूप से मुखबन्द होना चाहिए अन्यथा उड़नशील तेल उड़जाने के कारण औषधि धीरे-धीरे निर्वीर्य हो जाती है। तेल को अच्छी तरह मुखबन्द शीशियों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें तथा प्रकाश से बचाना चाहिए।

वीर्यकालावधि–३ वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वातकफशामक, रोचन, दीपनपाचन, ग्राही, उत्तम वातानुलोमन, हृद्य, मूत्रल, गर्भाशयोत्तेजक, स्तन्य-जनन; ज्वरघ्न आदि। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–फुफ्फुस के लिए। निवारण–मधु। प्रतिनिधि–अनीसूं, जीरा।

मुख्य योग–हिंग्वष्टक चूर्ण।

जीवन्ती

नाम। सं०–जीवन्ती, शाकश्रेष्ठा। हिं०–जीवन्ती, डोडी-शाक। म०–खानदोडकी, शिरदोडी। गु०–दोडी, डोडी, खरखेर, मीठी खरखोडी, राडारूडी। ले०–लेप्टाडेनिआ रेटिकुलाटा (*Leptadenia reticulata W. & A.*)।

वानस्पतिक कुल–अर्क-कुल (आस्क्लेपिआडासे : *Asclepiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान – जीवन्ती की लताएँ पंजाब, दकन के पश्चिमी प्रान्त में विशेष, एवं सहारनपुर, देहरादून तथा शिवालिक पर्वतश्रेणी की तराई में तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं मिलती हैं।

संक्षिप्त परिचय – जीवन्ती की चक्रारोही लताएँ होती हैं, जिनके पुराने काण्ड कार्कयुक्त (*Corky*) एवं कोमल भाग श्वेताभ मृदुरोमश (*Hoary*) होते हैं। पत्तियाँ पतली किन्तु चर्मिल (*Thinly coriaceous*), ३.७५ से ७.५ सें० मी० या १॥-३ इंच लम्बी, १५/८ सें० मी० से १५/४ सें० मी० (॥-१॥ इंच चौड़ी), लट्वाकार-आयताकार या अण्डाकार-नुकीली, सरलधार और अधःपृष्ठ पर नीलाभ-श्वेत रज से ढकी हुई होती हैं। आधार गोल अथवा कुछ हृदयाकार या कभी नुकीला होता है। पर्णवृन्त ५/८ से १०/३ सें० मी० या १/४ से १½ इंच तक लम्बा होता है। पुष्प पिलाई लिये हरे रंग के अथवा मटमैले सफेद रंग के होते हैं, जो पत्रकोणोद्भत छत्रकाकार गुच्छकों (*Axillary umbelliform cymes*) में निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncles*) ५/६ से ३/२ सें० मी० या १/३ से ३/५ इंच लम्बे तथा पुष्पवृन्त छोटे-बड़े होते हैं, जो कभी-कभी पुष्पवाहक दण्ड के बराबर लम्बे भी होते हैं। फलियाँ (*Follicles*) प्रायः एकाकी (क्योंकि साथ की दूसरी अप्रगल्भ या वृद्धि को प्राप्त नहीं करती) ५ सें० मी० से ८.७५ सें० मी० या २–३॥ इंच तक लम्बी, १.१२५ से १.८७५ सें० मी० या ½–¾ इंच तक मोटी, सीधी, चिकनी, प्रायः कठोर (*Subwoody*), होती हैं, जिनका अग्रभाग मोटा, किन्तु चोंचदार होता है। कच्ची फलियों का मधुर स्वादिष्ठ शाक होता है। फलियों को तोड़ने पर सफेद दूध निकलता है। बीज लगभग ५/४ सें० मी० या १/२ इंच लम्बे, चपटे तथा पक्षयुक्त (*Winged*) होते हैं, जिनके वृंतक या हाइलम (*Hilum*) पर अर्क की भाँति रूई (*Coma*) लगी होती है। ग्रीष्मान्त में पुष्प आते तथा जाड़ों में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
क्वाथार्थ–१२ ग्राम या १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – जीवन्ती के नाम से वास्तव में उपर्युक्त औषधि का ही ग्रहण होना चाहिए। किन्तु बंगाल, विहार एवं उत्तर प्रदेशीय बाजारों में जीवन्ती नाम से एक भिन्न ओषधि बिकती है जिसे डेन्ड्रोबिउम मैक्रेई *Dendrobium macraei Lindl.* (*Family : Orchidaceae*) कहते हैं। यह एक आर्किड जातीय क्षुद्र वनस्पति है, जो सिक्किम, खसिया एवं पूर्वी बंगाल तथा दक्षिण भारत में कोंकण तथा नीलगिरी आदि में प्रचुरता से पायी जाती है। इसका सुखाया हुआ पंचाङ्ग बाजारों में जीवन्ती के नाम से बिकता है, जो पीत वर्ण का तथा देखने में पुआल-जैसा मालूम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जीवन्ती मूल को निकाल कर जल से धोकर मिट्टी आदि साफ करलें और छाया में सुखा कर मुखबन्द पात्रों में रख कर अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – त्रिदोषहर, रसायन, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, बल्य, मूत्रल, हृद्य, रक्तपित्तशामक, कफनिःसारक, स्नेहन, अनुलोमन, ग्राही आदि।

मुख्य योग – जीवन्त्याद्य घृत।

विशेष – जीवन्ती, जीवनीय गण की ओषधि है।

जूफा

नाम। भारतीय बाजार–जूफा। अ०–जूफाए याबिस। फा०–जूफाए खुश्का अं०–हिस्सोप (*Hissop*)। ले०–हिस्सॉपुस आफिसिनालिस (*Hyssopus officinalis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस, श्याम देश, पश्चिम हिमालय प्रदेश में (विशेषतः कश्मीर, पंजाब) २४०८ से ३३३८ मीटर या ८,००० से ११,००० फुट की ऊंचाई तक कहीं-कहीं इसके क्षुप मिलते हैं। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः फारस से होता है। जूफा का शुष्क पंचाङ्ग पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – जूफा के चिकने काण्डयुक्त छोटे-छोटे क्षुप होते हैं। काण्ड का अधःभाग प्रायः कड़ा होता है, जहाँ से शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं, जो खड़ी या स्वावलम्बी (*Erect*) होती हैं। पत्तियाँ साधारण (*Simple*), अनुपपत्र (*Exstipulate*), १/२ इंच या ५/६ सें० मी० लम्बी, विनाल, रूपरेखा में मालाकार तथा प्रायः सरलधारवाली अभिमुखक्रम से स्थित होती हैं। पुष्प नीलापन लिये बैंगनी रंग के (*Bluish-purple*) होते हैं, जो पत्रकोणों में स्थित अथवा शाखाग्र्य अवृन्त काण्डज मंजरियों (*Spikes*) में निकलते हैं। बाह्यकोश ५

दाँतदार कटावों से युक्त (5-*toothed*) एवं द्वि-ओष्ठीय होता है। आभ्यन्तर कोश भी द्वि-ओष्ठीय होता है, तथा बीच का खण्ड (*Middle lobe*) अपेक्षाकृत चौड़ा होता है। पुंकेशर संख्या में ४ किन्तु छोटे-बड़े होते हैं। चतुर्बीजम फल (*Nutlets*), सकरे (*Narrow*), चिकने एवं त्रिकोणीय होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

संगठन – जूफा में राल, वसा, शर्करा और लबाब आदि पदार्थ होते हैं। ताजे पौधों में १/४ से १/२% तक एक सुगन्धित तैल (*Oil of hyssop*) पाया जाता है, जो हरिताभ या पांडु, पीत वर्ण का तथा गंध एवं स्वाद में क्षुप के समान होता है।

वीर्यकालावधि – ६ मास से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, पित्तसारक, लेखन, शोथहर, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, श्लेष्महर। यूनानी मतानुसार जूफा दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष है, तथा प्रमाथी, कफोत्सारि, श्वयथुविलयन, लेखन, वातानुलोमन, उदरकृमिनाशन तथा प्रधानतया श्वास-कासघ्न होता है। प्रतिश्याय, कास-श्वास एवं फुफ्फुस रोगों में विशेष रूप से लाभकारी है। न्युमोनिया, प्रतिश्याय, कृच्छ्रश्वास, कफकास आदि में इसका काढ़ा तथा शर्बत प्रयुक्त किया जाता है। प्रमाथी होने से यह जलोदर एवं यकृदवरोध आदि में प्रयुक्त कराया जाता है। सूजन उतारने के लिए इसको लेपों में भी डालते हैं।

मुख्य योग – शर्बत जूफा।

जौ (यव)

नाम। सं०–यव। हिं०–जौ। गु०, म०, बं०, पं०,–जव। अ०–शईर। फा०–जौ। अं०–बार्ली (*Barley*)। ले०–हॉर्डेउम वुल्गारे *Hordeum vulgare L.* (पर्याय–*H. sativum; Jessen. H. distichum L.*)।

वानस्पतिक कुल – गोधूम-कुल (ग्रामीने *Gramineae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में विशेषतः उत्तर भारत में चैती फसल के साथ इसकी प्रचुरता से खेती की जाती है। मध्य श्रेणी एवं गरीबों का प्रसिद्ध खाद्यान्न है।

संक्षिप्त परिचय – जौ एक प्रसिद्ध अन्न है। इसके दानों को जल में भिगोकर कूट कर भूसी (*Paleae*) पृथक् कर दी जाती है। इस प्रकार प्राप्त दानों का आटा बना कर रोटी बनायी जाती है। यव के बालों को जला कर भस्म-क्षारविधि द्वारा यवक्षार (जवाखार) का निर्माण किया जाता है, जो औषध्यर्थ व्यवहृत होता है।

उपयोगी अंग – यव के निस्तुषीकृत दाने तथा यवक्षार एवं गेहूँ की भांति निकाला गया तेल (रोग़न जौ)।

मात्रा – यवक्षार–२५० मि०ग्रा० से १ ग्राम या २ रत्ती से ८ रत्ती।

संग्रह एवं संरक्षण – जौ के पुष्ट दानों को लेकर निस्तुष करके मुखबंद डिब्बों में रखें। यवक्षार को अच्छी तरह डाटबंद शीशियों में रखें और आर्द्रता से बचाना चाहिए। पथ्य एवं औषधीय व्यवहार के लिए १ वर्ष पुराण जौ का व्यवहार करना अधिक श्रेयस्कर है।

संगठन – इसमें स्थिर तैल, श्वेत सार, प्रोटीड कम्पाउण्ड (ग्लूटेन), काष्ठोज या सैलूलोज (*Cellulose*), सिलिसिक अम्ल, फास्फोरिक अम्ल, लौह और चूना युक्त भस्म मिलता है। स्थिर तैल में पामिटिक एसिड, लौरिक एसिड आदि तत्त्व पाये जाते हैं। यवक्षार में मुख्यतः पोटासियम क्लोराइड (५०.८%) तथा इसके अतिरिक्त पोटासियम सल्फेट (२०.२%) एवं पोटासियम् बाईकार्बोनेट पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – यवक्षार–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–मधुर, किंचित् कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–बल्य, पथ्य, रक्तशोधक, प्रमेहघ्न, लेखन, संग्राही, चिरपाकी तथा आनाहकारक, वर्ण्य आदि। यवक्षार–लघु, स्निग्ध, कटु, कफवातशामक, कफनिस्सारक, दीपन-पाचन, विरेचन, मूत्रल, अश्मरीनाशक, पाण्डु-कामलाहर। यूनानी-मतानुसार यव शीत एवं रूक्ष तथा यवक्षार (जवाखार) तीसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष है। सत्तू–शीत, रूक्ष, उदरसंग्राहक, अतिसारघ्न, संतापहर एवं तृषानाशक होता है। यवमण्ड–शीतजनन, मूत्रल, रक्तपित्त संशमन एवं रोगियों के लिए उत्तम लघु पथ्याहार है। वाट्यमण्ड (भृष्ट यवकृत मंड) संग्राही होता है। यह अतिसार, उरःक्षत, राजयक्ष्मा, आदि के रोगियों के लिए उत्तम पथ्य है।

मुख्य योग एवं कल्प – सत्तू, यवमण्ड (आशे जौ), वाट्य-

मंड (भृष्ट यवकृत मण्ड), कशकुश्शईर, कीरूती आदि।

विशेष—पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त पोटासियम कार्बोनेट नामक द्रव्य कभी-कभी विलायती जवाखार के नाम से अथवा सस्ते दाम वाला जवाखार करके वेचा जाता है। उक्त पद्धति में यह जौ के पौधों को जला कर प्राप्त नहीं किया जाता, अपितु पोटासियम सल्फेट एवं केल्सियम् कार्वोनेट की परस्पर क्रिया द्वारा प्राप्त किया जाता है। यवक्षार के स्थान में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

झाऊ (झावुक)

नाम। हिं०—झाऊ, झाव, फरास। दक्षिण—झाऊ, झाव। सं०—झावुक। पं०—फरवाँ, ओकां। सिं०—लई। मा०—लवो। गु०—प्रांस। बं०—झाऊ। विहार—झउवा। अ०—तर्फ़ा। फा०—गज़। अं०—टैमेरिस्क (*Tamarisk*)। **ले०—टामारिक्स ट्रूपिई** *Tamarix troupii Hole.* (पर्याय—*T. gallica auct. non L.*) उपर्युक्त नाम इसके वृक्ष के हैं। फल। हिं०—वड़ी माई। अ०—समरतुत्तर्फ़ा। फा०—माईं कलाँ। शर्करा। अ०—कज़न्जवीन। फा०—गज़ङ्ग्वीन। अं०—टैमेरिक्स मेन्ना (*Tamarix manna*)।

वानस्पतिक कुल—झावुक-कुल (टामारिकासे *Tamaricaceae*)।

प्राप्तिस्थान—यूरोप, अफरीका, एशिया, विशेषतः अरव, फारस, अफगानिस्तान, विलोचिस्तान तथा पंजाव, सिंध, उत्तर भारत में गंगा-जमुना नदियों के किनारों पर, समुद्रतटवर्ती प्रदेश, उत्तर गुजरात एवं आवू की पहाड़ियों पर वड़ी माई के वृक्ष पाये जाते हैं। भारतवर्ष में झावुक-शर्करा प्रायः नहीं उत्पन्न होती। माईं (*Galls*) का भी संग्रह अपेक्षाकृत कम ही होता है। भारतवर्ष में (वम्बई में) वड़ी माईं एवं गजङ्ग्वीन का आयात मुख्यतः अरव एवं फारस से होता है। यहाँ वड़ी माईं के स्थानापन्न रूप से भारतीय माईं या छोटी माईं का भी व्यवहार किया जाता है। यह सव पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय—यह गुल्माकार, वेढंगा, आदमी के कद का या उससे भी कम ऊंचा जंगली वृक्ष है। पत्तियाँ देखने में सरों के पत्र के समान तथा प्रायः हरे रंग की होती हैं। फूल व्यास में $\frac{6}{16}$ सें०मी० या $\frac{1}{8}$ इंच छोटे वृन्तयुक्त तथा गुलावी रंग लिये सफेद रंग के होते हैं और लम्वी, पतली एवं सशाख मंजरियों पर सघन अवृन्तंकाण्डज क्रम से निकलते हैं। पुटपत्र स्थायी, रूप-रेखा में त्रिकोणाकार, तथा कुण्ठिताग्र होते हैं। पुंकेशर संख्या में ५, कुक्षिवृन्त ३, फल $\frac{5}{8}$ सें०मी० या $\frac{1}{4}$ इंच लम्बे, आधार की ओर गोलाकार तथा शीर्ष की ओर नुकीले होते हैं। इसकी शाखाओं में एक प्रकार के कीड़े के छिद्र करने और इन छिद्रों में अपने अंडे रखने से उन स्थानोंमें एक प्रकार की गांठें उत्पन्न हो जाती हैं, जिनको इसका फल समझा जाता है। इनको वड़ी माईं कहते हैं। इसके वृक्ष से यवास शर्करा (तुरंजवीन) की भाँति एक प्रकार की शर्करा भी प्राप्त होती है, जिसे गज़ङ्ग्वीन (झावुक-शर्करा) कहते हैं। गज़ङ्ग्वीन का संग्रह प्रायः फारस में किया जाता है।

उपयोगी अंग—माईं एवं शर्करा (तथा मूल, पत्र, पंचाङ्ग)।

मात्रा—माईंचूर्ण—२ ग्राम से ५ ग्राम या २ माशा से ५ माशा। शर्करा (गजंगवीन)—६ ग्राम से २४—३६ ग्राम (१ से २—३ तोला) तक।

स्वरस—१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—वड़ी माईं (*Tamarix galls*), कुछ-कुछ गोल और वहुत ग्रंथिल, विभिन्न आकार की मटर से लेकर रीठे के वरावर तक तथा त्रिकोणाकार-सी होती है। यह मजूफल से छोटी तथा छोटी माईं से वड़ी होती है। इसके भीतर का भाग प्रायः खोखला होता है, और रंग वाहर से कुछ-कुछ हरा या पिलाई लिये भूरा होता है। इसको तोड़ने पर अन्दर कभी-कभी इसका निर्मापक कीट भी पाया जाता है। स्वाद में यह कसैली होती है। झावुक शर्करा (गजङ्ग्वीन)—यह छोटे-छोटे दानों के रूप में प्राप्त होती है तथा ताजी अवस्था में सफेद रंग की होती है। गर्मी से उक्त दाने प्रायः पिघल कर गाढ़े अर्ध घन के रूप में हो जाते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—छोटी माईं वड़ी माईं का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यह झावुक की निम्न भारतीय प्रजातियों से प्राप्त की जाती है—(१) टामारिक्स डाइओइका (*Tamarix dioica Roxb.*) तथा (२) टामारिक्स आर्टिकुलाटा *T. articulata Vahl.* (पर्याय—*T. aphylla Karst.*)। इसके छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं, जो समुद्रीतटवर्ती प्रदेशों, पंजाव, सिंध, राजपूताना, वंगाल, आसाम, वम्वई, गुजरात, कच्छ, गंगा-जमुना एवं सिंधु नदी के तटवर्तीय प्रदेशों में तथा वगीचों में

लगाये हुए भी मिलते हैं। छोटी माई प्रायः मटर के बराबर (बड़ी माई की अपेक्षा छोटी), ग्रंथिल, गोलाकार तथा पीताभ-भूरे रंग की होती है। किन्तु यह बड़ी माई की तरह त्रिकोणाकार नहीं होती। फारस में झावुक के अतिरिक्त अनेक वृक्षों से मधुर स्रावों का भी संग्रह गजङ्गवीन के नाम से किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – गजंगवीन को चौड़े मुँह की शीशियों में अनार्द्र-शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए। माई को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – बड़ी एवं छोटी माई में ४०–४२% तक टैनिन पाया जाता है। गजङ्गवीन में इक्षुशर्करा, इन्वर्ट सूगर (लिवूलोज, ग्लुकोज) आदि द्राक्षाशर्करा एवं जल आदि उपादान होते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–कफपित्तशामक, स्तम्भन, रक्त-शोधक एवं रक्तस्तम्भक, शोथहर, स्रावशोषण। यूनानी मतानुसार बड़ी एवं छोटी माई पहले दर्जे में शीत एवं रूक्ष, तथा झावुकशर्करा (गजङ्गवीन) पहले दर्जे में उष्ण एवं समस्निग्ध रूक्ष होती है। माई संग्राही, दोष-विलोमकर्ता, रक्तस्तम्भन, उपशोषण, लेखन, प्रमाथी, छेदन, दीपन और यकृत्प्लीह बलदायक होती है। शीत-संग्राही होने के कारण गलशुण्डिका और दंतशूल में यह मंजन एवं कवलग्र की भाँति प्रयुक्त होती है। संग्राही और दोषविलोमकर्ता होने के कारण कंठशूल एवं कंठशोथ में इसके गण्डूष कराये जाते हैं। पित्तज अतिसार और चिरज अतिसार में भी इसे खिलाते हैं। रक्तस्तम्भन होने के कारण नकसीर, रक्तष्ठीवन और रक्तप्रदर आदि में इसको क्रमशः प्रधमन, भक्षण, पान एवं वर्त्ति की भाँति उपयोग करते हैं। क्षतज रक्तस्राव में इसका अवचूर्णन करते हैं। श्वेत प्रदर में यह वर्त्ति और चूर्णोषधि की भाँति प्रयुक्त की जाती है और इसी कारण शीघ्रपतन और शुक्रतारल्य में भी इसका उपयोग करते हैं। लेखन, प्रमाथी एवं छेदन होने के कारण प्लीहाशोथ में भी इसका उपयोग करते हैं। अहितकर–आमाशय को। निवारण–शहद। गजंगवीन लेखन, रेचन मस्तिष्कसंशोधन, प्रतिश्यायहर, उरोमार्दवकर, स्वरशोधक, श्वास-कासहर एवं स्निग्ध प्रकृति के लिए उपकारी है।

ताड़ (ताल)

नाम। सं०–ताल, ताड। हिं०–ताड़, ताल। म०, गु०–ताड। फा०–दरख्ते ताड़ी। बं०–तालगाछ। अं०–पामीरा पाम (*Palmyra Palm*)। ले०–बोरास्सुस फ्लाबेल्लिफर *Borassus flabellifer Linn.* (पर्याय–*B. flabelliformis Roxb.*)। तालरस। हिं०–नीरा, ताड़ी। फा०–ताड़ी। अं०–पामिरा टाडी (*Palmyra Toddy*)।

वानस्पतिक कुल – ताड़-कुल (पामासे *Palmaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में (प्रायः सूखी जगहों में) तथा समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों में ताड़ के लगाये हुए तथा स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। ताजे रस से बनाया हुआ गुड़, चीनी एवं मिश्री बाजारों में बिकती है।

संक्षिप्त परिचय – ताड़ के शाखा रहित ऊँचे-ऊँचे १२½ से १८½–२६ मीटर या (४०–६० फुट–१०० फुट तक) वृक्ष होते हैं, जिसका काण्डस्कंध काला, वेलनाकार तथा मोटाई का घेरा १०५ सें० मी० से २१० सें० मी० या ३॥–७ फीट तक होता है। सिरे पर छत्राकार फैली हुई, ६० से १५० सें० मी० या ३–५ फुट चौड़ी पत्तियाँ समूहबद्ध होकर (संख्या में ४०–४०) निकली रहती हैं। पत्तियों के डंठल गोलाकार तथा चपटे (*Subterete*) काफी मोटे, मजबूत एवं ६० से १२०सें०मी० या २–४ फीट तक लम्बे और रेशाबहुल होते हैं। पत्रदंडों के दोनों ओर किनारों पर छोटे-छोटे तीक्ष्ण दंत (*Spinescent serratures*) होते हैं। पत्र पंखे के समान करतलाकार खण्डित, कड़े-चर्मिल (*rigidly coriaceous*) तथा खंड भालाकार या रेखाकार होते हैं। पुष्पागम जाड़ों में होता है। नर एवं नारी पुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर पाये जाते हैं, जो पत्रावृत अवृन्त-काण्डज स्थूल मंजरियों (*Spadix*) में निकलते हैं। नारी पुष्प नर पुष्पों की अपेक्षा बड़े होते हैं। वसन्त से वर्षा तक फल लगते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) छोटा एवं अप्रगल्भ होने पर तो त्रिकोणाकार-सा (*Trigonous*) किन्तु बढ़ कर गोलाकार तथा व्यास में १५ सें० मी० से २० सें० मी० (६–८ इंच) तक; कड़ा एवं कृष्णाभ तथा पकने पर पीला हो जाता है। इसके शीर्ष पर स्थायी परिदलपुञ्ज या सवर्णकोश (*Perianth*) की चोटी-सी होती है। पके फल का गूदा रेशाबहुल, ललाई लिये पीला

और मधुर होता है तथा खाया जाता है। प्रत्येक फल में १–३ अभिहृदयाकार (*Obcordate*) बीज होते हैं। कच्चे फलों में बीजों के चारों ओर मुलायम गूदा-सा होता है, जो मीठा, स्वादिष्ठ रसीला एवं फालूदा के समान जमा (*Gelationous*) होता है। गर्मियों में यह बाजारों में बिकता है। स्त्री एवं नर दोनों प्रकार के वृक्षों से क्षत करने पर एक मीठा रस (*Saccharine juice*) निकलता है, जिसे नीरा कहते हैं। उक्त रस जाड़े के दिनों में अपेक्षाकृत अधिक निकलता है। तथा दिन की अपेक्षा रात्रि में इसका स्राव अधिक होता है। यदि संरक्षण में सावधानी न की जाय तो ६–८ घंटे के बाद नीरा में किण्वीकरण होकर स्वाद में खट्टापन आ जाता है और यह मादक हो जाता है। इसे ताड़ी कहते हैं। नीरा से ईख के रस की भाँति पका कर गुड़, चीनी तथा मिश्री बनायी जाती है, जो व्यवहारोपयोग की दृष्टि से ईख के गुड़ एवं चीनी आदि की ही भाँति होते हैं, किन्तु गुण में उसकी अपेक्षा उत्कृष्टतर होते हैं।

उपयोगी अंग – फल (कच्चे फलखण्ड *Pyrenes*), रस (नीरा तथा इसकी बनी चीनी एवं मिश्री आदि), पुष्प, क्षार (पुष्पदण्ड-क्षार) एवं मूल आदि।

मात्रा – कच्चे फलखण्ड —३–७ दानें।

रस —१ से २ छटाँक।

गुड़, चीनी और मिश्री—आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–ताड़ का ताजा रस (*Sweet toddy or nira*) स्वच्छ, पारदर्शक एवं मीठा होता है, जिसमें एक मन्द मनोरम गंध होती है। किन्तु संरक्षण की सावधानी न करने पर इसमें खमीर उठने लगता है तथा स्वाद में अम्लता या खट्टापन आने लगता है। ६–८ घंटे में अपने आप खमीर उठने से ३% ऐल्कोहल्, एवं ०.१% अम्ल (*Acids*) की उत्पत्ति होती है। आगे रखा रहने से ऐल्कोहल् की मात्रा ५% तक आकर रुक जाती है या घटने लगती है, किन्तु अम्लता फिर भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार विकृत नीरा को ताड़ी कहते हैं। ताड़ी हल्के पीले रंग का झागदार द्रव होती है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है तथा स्वाद में खट्टी एवं तीक्ष्ण (*Pungent*) होती है। इसका प्रयोग लोग नशे या मादकता के लिए करते हैं। गुड़—ताड़-गुड़ गाढ़े रंग के ढेलों के रूप में होता है, जिसमें अपना विशिष्ट मीठा स्वाद होता है। चीनी–इसकी साफ की हुई चीनी देशी चीनी की भाँति तथा स्वाद में कुछ खारापन लिये मीठी होती है। मिश्री (*Sugar Candy*)–तालमिश्री के नाम से बिकती है। इसके स्वच्छ रवेदार टुकड़े मिलते हैं। स्वाद में गुड़ के चीनी की मिश्री की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ठ होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – ताड़-कुल के अन्य वृक्षों से भी नीरा, ताड़ी एवं गुड़ चीनी तथा मिश्री आदि बनायी जाती हैं, जो गुण-कर्म में बहुत-कुछ ताड़ की भाँति होते हैं। इनमें खजूर (*Phoenix sylvestris*) विशेष महत्त्व का है। उक्त दोनों ही वृक्ष नीरा-व्यवसाय की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। खजूर का रस इसके काण्डस्कन्ध पर क्षत करके प्राप्त किया जाता है। नारियल के पेड़ों से भी नीरा प्राप्त किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – नीरा का प्रयोग वृक्ष से पात्र उतारने के बाद तुरन्त करना चाहिए। १ गैलन रस में $\frac{1}{2}$ औंस के अनुपात से चूना मिला देने से इसमें खमीर नहीं उठने पाता और इसका स्वाद एवं स्वरूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अन्य उपयोगी अंगों को मुखबंद पात्रों में उचित स्थान में रखें।

संगठन – ताड़ के नीरा में मुख्यतः शर्करा (१२.६%तक) एवं कार्बोहाइड्रेट (१३$\frac{1}{2}$%) तथा अंशतः प्रोटीन, वसा (*Fat*) खनिज तत्त्व तथा विटामिन 'C' पाया जाता है। पक्वफलमज्जा में अपेक्षाकृत 'विटामिन 'C' भी अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन वसा, खनिज तत्त्व एवं केरोटीन भी पाया जाता है। कोमल कच्चे फलों में अपेक्षाकृत कार्बोहाइड्रेट कम पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य-शीत। कर्म–वातपित्तशामक। (रस)–दाहप्रशमन, शोथहर, रक्तस्तम्भन, व्रणरोपण, कफनिस्सारक, ज्वरघ्न, बल्य, बृंहण, मूत्रल, रक्तशोधक, त्वग्दोषहर, मस्तिष्कबल्य आदि। (फलमज्जा) हृद्य, स्नेहन, मृदुरेचन, (अधिक मात्रा में विष्टम्भी), हृद्य, वृष्य। कच्ची बीजमज्जा—तृष्णाशामक, बलवर्धक, सौमनस्यजनन, संतापहर। क्षार—भेदन, लेखन, गुल्म एवं प्लीहोदरनाशक। यूनानी मतानुसार ताड़ पहले दर्जे में उष्ण और तीसरे में रुक्ष तथा पाचन है।

विशेष – मधुमेहियों के लिए ताड़ एवं खजूर के रस से बनी

चीनी, मिश्री आदि पथ्य मधुर द्रव्य हैं। श्वास-कास में प्रयुक्त अवलेह कल्पों में ताड़ तथा खजूर की चीनी या मिश्री डालना अधिक गुणकर है। चरकोक्त मधुरस्कन्ध एवं कषायस्कन्ध तथा सुश्रुतोक्त सालसारादि गण तथा मधुरस्कन्ध के द्रव्यों में ताल (ताड़) भी है।

ताम्बूल—दे०, 'पान'।

तालमखाना (कोकिलाक्ष)

नाम। सं०–कोकिलाक्ष, इक्षुरक । हिं०–तालमखारा (–ना)। बं०–कुलेखाड़ा । म०–कोलमुंदा, तालिमखाना । गु०–एखरो, तालमखानू । संथा०–गोखुला-जनम । ले०–आस्टरकान्था *Astercantha* (*Astercan.*), हीग्रोफिला *Hygrophylla* । वनस्पति का नाम—आस्टरकांथा लाँगीफोलिआ *Astercantha longifolia Nees.* (पर्याय–हीग्रोफिला स्पीनोसा *Hygrophila spinosa T. Anders.*)।

वानस्पतिक कुल–वासक-कुल (आकान्थासे *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष एवं लंका में नम जगहों में इसके क्षुप स्वयंजात मिलते हैं। जलाशयों के पास तथा विशेषतः धान के क्षेत्रों में यह अधिक मिलता है। वीज (तालमखाना) पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – तालमखाना या कोकिलाक्ष के कँटीले, द्विवर्षायु तथा ६० से १२० सें० मी० या २–४ फुट ऊँचे छोटे-छोटे क्षुप होते हैं, जिनका काण्ड ईख के सदृश पर्वयुक्त और शाखारहित, प्रायः चतुष्कोणाकार-सा (*Sub-quadrangular*), पतला तथा ऊर्ध्वगामी या खड़ा (*Erect*) होता है। पर्वों पर यह अपेक्षाकृत अधिक मोटा होता है, और सर्वत्र रोयें (विशेषतः पर्वों के नीचे भाग में) पाये जाते हैं। पत्तियाँ विनाल (*Sessile*), आयताकार-भालाकार (*Oblong lanceolate*) या अभिभ्रासवत् (*Oblanceolate*) तथा आधार की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़ी होती हैं। प्रत्येक काण्ड-पर्व पर पहिये के आरा की भाँति ६–६ पत्तियाँ होती हैं, जिनमें वहिस्थ २ पत्तियाँ अपेक्षाकृत वड़ी १७.५ सें० मी० या (७ इंच तक लम्बी तथा १.२५ से २$\frac{5}{2}$ सें० मी० या $\frac{1}{2}$ से १। इंच तक चौड़ी) और अन्दर की ओर स्थित शेष ४ पत्तियाँ छोटी ३.७५ सें मी० या १॥ इंच लम्बी होती हैं। प्रत्येक पत्ती के कोण में २.५ से ४.५ सें० मी० (१ से १$\frac{3}{4}$ इंच) तक लम्बा पीले रंग का तीक्ष्ण कंटक (*Sharp yellow spine*) होता है। प्रत्येक पर्व के चतुर्दिक बैंगनी लिये नीले रंग के ८ पुष्प निकलते हैं, जो ४ युग्मों में स्थित होते हैं। कोणपुष्पक या निपत्र (*Bracts*) एवं वृन्तपत्रक या निपत्रिकाएँ (*Bracteoles*) पत्तियों की तरह तथा २.५ सें० मी० या १ इंच या कुछ छोटे लम्बे होते हैं। आभ्यन्तर कोष वासक-कुल की अन्य वनस्पतियों की भाँति द्वि-ओष्ठी होता है। ऊर्ध्वोष्ठ २–खंडों वाला तथा अधरोष्ठ त्रि-खण्डीय होता है। फल (*Capsule*) $\frac{5}{6}$ सें० मी० ($\frac{1}{3}$ इंच) तक लम्बा रेखाकार-लम्बगोल (*Linear-oblong*) तथा अग्र की ओर नुकीला होता है। इसमें ४–८ छोटे-छोटे वीज होते हैं। उक्त वीज वाजारों में तालमखाने के नाम से मिलते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग, वीज (तालमखाना), मूल, एवं क्षार (पंचाङ्ग का)।

मात्रा –

पंचाङ्ग स्वरस	—	१ से २ तोला।
क्वाथ	—	२॥ से ५ तोला।
वीजचूर्ण	—	१॥ से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा।
क्षार	—	२५० मि० ग्राम से ५०० मि० या २ से ४ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा– पंचाङ्ग में सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं। वीज–तालमखाना के वीज छोटे-छोटे, चपटे विषमाकृति, किसी प्रकार तिल के समान किन्तु उससे छोटे और खाकी रंग के होते हैं। स्वाद फीका और लवावी होता है।

संग्रह एवं संरक्षण– उपयुक्त अंगों को शुष्ककर अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखवन्द पात्रों में रखें।

संगठन – वीजों में २३% तक एक पीताभ वर्ण स्थिर तैल एवं डायस्टेज (*Diastase*), लाइपेज (*Lipase*) एवं प्रोटिएस (*Protease*) आदि किण्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – वीज–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, पिच्छिल । रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर । वीर्य–शीत । प्रधान कर्म – पंचाङ्ग, मूल एवं पत्र मूत्रल हैं। वीज–वल्य एवं वृंहण, नाड़ीवल्य, यकृदुत्तेजक है।

मुख्य योग – पौष्टिक चूर्ण।

विशेष – तालमखाना एवं मखाना भिन्न द्रव्य हैं। मखाना

कमल की भाँति ज़लीय पौधे के बीज होते हैं। पंचमेवे में इसका लावा पड़ता है। चरकोक्त (सू० अ० ४) शुक्रशोधन महाकषाय के द्रव्यों में तालमखाना (इक्षुरक नाम से) भी है।

तालीसपत्र

नाम। सं०–तालीस, तालीसपत्र, पत्राढ्य, धात्रीपत्र । हिं०, भारतीय बाजार–तालीसपतर, तालीसपत्ता। वं०, हिं०, पहाड़ी–बिर्मी । हिं०–बर्मि । जौनसार–थुनेर। अं०–यू (*Yew*)। ले०–टॉक्सुस बाक्काटा (*Taxus baccata Linn*)।

वानस्पतिक कुल – सरल-कुल (कोनीफ़ेरे *Coniferae*)।

प्राप्तिस्थान – समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में अफगानिस्तान से भूटान तक १८२८ मी० से ३३३८ मीटर (६,००० से ११,००० फुट) की ऊंचाई तक तथा खासिया की पहाड़ियों पर १५२३ मीटर (५,००० फुट तक) इसके जंगली वृक्ष होते हैं। सुखाई हुई पत्तियाँ (तालीसपत्र) पंसारियों के यहाँ मिलती हैं।

संक्षिप्त परिचय – थुनेर के मध्यम ऊंचाई के सदाहरित वृक्ष (कभी-कभी ऊंचे वृक्ष भी) होते हैं। पत्तियाँ दो कतारों में निकली हुई (*Distichous*) होती हैं, जो २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच लम्बी, $\frac{1}{8}$ सें० मी० या $\frac{1}{10}$ इंच के लगभग चौड़ी रेखाकार (*Linear*), चिपटी-नोकीली (*Cuspidate-acuminate*) तथा ऊर्ध्व पृष्ठ पर गहरे हरे रंग की और अधःपृष्ठ पर हलके पीले या मुरचई रङ्ग की होती हैं। शिरा एक और पत्रनाल (*Petiole*) छोटा होता है। पत्तियों से विशेषतः सूखने पर एक प्रकार की गंध आती है। पुष्प एकलिंगी होते हैं, तथा नरपुष्प एवं नारीपुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर पाये जाते हैं। फल लम्वगोल बेरी (*Ovoid berry*) $\frac{3}{8}$ से १ सें० मी० या $\frac{3}{10}$ से $\frac{2}{5}$ इंच लम्वा होता है। बीज हरिताभ वर्ण का तथा पक्षरहित (*Wingless*) होता है, जो लाल रंग के मांसल कोष से (शीर्ष पर छोड़ कर शेष भाग पर) घिरा हुआ होता है। पहाड़ी लोग इसकी छाल से प्रायः एक प्रकार का चाय सदृश पानक बना कर पीते हैं और फल खाते हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाव, राजस्थान, महाराष्ट्र एवं वम्वई–गुजरात आदि में चिकित्सक इसकी पत्तियों का व्यवहार तालीसपत्र के नाम से करते हैं।

वक्तव्य–यह वास्तविक ब्राह्मी (*Hydrocotyle asiatica Linn.*) एवं यूनानी विनघण्टूक्त 'जर्नब' से भिन्न द्रव्य है।

उपयोगी अंग – पत्र।

मात्रा – $\frac{1}{2}$ ग्राम से ३ ग्राम या ४ रत्ती से ३ माशा तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजार में मिलने वाले तालीसपत्र में बारीक शाखाएँ भी मिली होती हैं, तथा पत्र वेदपत्र के समान १–२ इंच लम्वे, शल्याकृति, शिरारहित और पिलाई लिये हरे रंग के होते हैं। इसकी किसी-किसी टहनी पर पुंपुष्प भी लगे पाये जाते हैं। पत्रों में एक सुगंधि पायी जाती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बंगाल में तालीसपत्र के नाम से आबीएस वेब्बिआना *Abies webbiana Lindl.* नामक सरल-कुल की अन्यतम वनस्पति के पत्ते बिकते हैं। हिमालय प्रदेश में (विशेषतः सिक्कम, भूटान में ६,०००–१३,००० फुट की ऊँचाई पर) इसके वृक्ष वहुतायत से पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पत्तियों को सुखा कर अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद डिब्बों में रखें। पत्तियों का संग्रह जाड़े के दिनों में करना चाहिए; क्योंकि इस समय इनमें क्षारोदों की मात्रा अधिकतम पायी जाती है।

संगठन – पत्तियों (छोटी टहनियों एवं वीजों में भी) में टैक्सीन (*Taxine*) नामक विषाक्त प्रभावयुक्त एक ऐल्कलायड तथा टैक्सिनीन एवं अत्यल्प मात्रा में एफेड्रीन और एक उड़नशील तैल, आदि तत्त्व पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कपायाम्ल एवं मायिकाम्ल भी उपस्थित होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण । रस–तिक्त। विपाक–मधुर । वीर्य–उष्ण । प्रधान कर्म–कफवातशामक, वेदनास्थापन, रोचन, दीपन, वातानुलोमन, ज्वरघ्न, श्वास-कासहर, मूत्रल एवं वलवर्धक आदि। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में रुक्ष एवं उष्ण है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–सूखी धनियाँ। प्रतिनिधि–दालचीनी, कवावचीनी और इलायची। विषाक्त प्रभाव – तालीसपत्र का सहसा मात्रातियोग होने पर कभी-कभी विषावत लक्षण भी प्रगट होते जाते हैं। ऐसी स्थिति में वमन एवं मूर्च्छा होती है। कभी आक्षेप होते तथा तारिका विस्फारित हो जाती है।

श्वसन मन्द हो जाता है। मृत्यु श्वासावरोध से होती है।

मुख्य योग – तालीसादि चूर्ण, तालीसादि वटी।

विशेष – सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) शिरोविरेचन द्रव्यों में तालीसपत्र भी है।

तितलौकी (इक्ष्वाकु)

नाम। सं०–इक्ष्वाकु, कटुतुम्बी, तिक्तालाबू। हिं०–तितलौकी, तुंबी, तुंवड़ी, कड़वी लौकी। बं०–तितलाऊ। गु०–कड़वी तुंवड़ी। अ०–क़रउलमुर्र। फा०–कदूए तल्ख। अं०–दि बिटर या बाट्ल गोर्ड (*The bitter or bottle gourd*)। ले०–लाजेनारिआ वुलगारिस (*Lagenaria vulgaris Sering.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड-कुल (कूकुरबिटासे : *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में इसकी जंगली लताएँ पायी जाती हैं। इसका एक मीठा भेद (*Variety*) भी होता है, जिसकी सर्वत्र काफी परिमाण में खेती की जाती है। इसका फल मीठा (अर्थात् तीता नहीं होता) होता है, जिसकी तरकारी खायी जाती है। इसके फल कद्दू या लौकी नाम से तरकारी बाजारों में बिकते हैं। यहाँ कड़वी तुम्बी का ही विचार किया जायगा, जो एक उत्तम वामक एवं भेदन द्रव्य समझा जाता है।

संक्षिप्त परिचय – इसकी सुदीर्घ आरोही या प्रसरी लता होती है, जिसका काण्ड मोटा एवं पंचकोणीय होता है। इसकी पत्तियाँ व्यास में १५ सें० मी० (६ इंच), लट्वाकार, गोलाकार या हृदयाकार पंचखंडीय तथा लम्बे वृन्त से युक्त तथा दोनों पृष्ठों पर सूक्ष्म रोमश होती हैं। पुष्प एकलिंगी तथा सफेद होते हैं। नरपुष्प बड़े ढंठलों पर किन्तु नारीपुष्प छोटे डंठलों पर धारण किये जाते हैं। फल ४५ सें० मी० या १½ फुट तक लम्बे तथा रूपरेखा में नाना रूप के–यथा बोतल के आकार के, कमण्डलु के आकार के अथवा तम्बूरा के आकार के होते हैं। कड़वी तुम्बी के पत्र फलादि सभी अंग अत्यन्त तिक्त होते हैं।

उपयोगी अंग – फलमज्जा, बीज एवं पत्र।

मात्रा – फल एवं पत्र स्वरस–६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ½ से १ तोला। बीजचूर्ण—१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – फल का छिलका तो बहुत कड़ा होता है, किन्तु अन्दर सफेद रंग का मुलायम गूदा होता है, जो स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है। इसके सेवन से तीव्र वामक एवं भेदन कर्म होता है। बीज, अंडाकार, चपटे तथा खाकस्तरी रंग के होते हैं। पार्श्वों में किनारा कुछ फूला-सा किन्तु शीर्ष पर दन्तुर होता है। बीजों के अन्दर सफेद, स्नेहपूर्ण मज्जा या गिरी होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – पकी कटुतुम्बी के गूदे को निकाल कर टुकड़े-टुकड़े कर लें और छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें और उस पर 'विष' का प्रपत्रक लगावें। बीजों को भी इसी प्रकार संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – फलों में ऐल्ब्युमिनायड्, कार्बोहाइड्रेट भस्म, सेपोनिन तथा बीजों में एक स्थिर तैल भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – गूदा–३–४ वर्ष। बीज–२–३ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य-शीत। कर्म–कफपित्तसंशोधक एवं शामक, रक्तशोधक, शोथहर, कफनिःसारक, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, विषघ्न, शिरोविरेचन, वामक, एवं भेदन आदि। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में उष्ण एवं रुक्ष है और आभ्यन्तरिक प्रयोग से तथा रस का नस्य लेने से शिरोविचेरन, छर्दिजनक कामला-नाशक एवं द्रवनिस्सारक है। वामक होने से हरी तितलौकी का रस निचोड़ कर या सूखी तितलौकी को जल से पीस-छान कर जीर्ण कफज कास और दमा के रोगी को पिलाते हैं। उक्त रस को अथवा फूलों के रस को कामला और कफज मस्तिष्क रोगों में नासिका में टपकाते हैं। इससे नासिका से द्रवोत्सर्ग होकर नेत्र और चेहरे की पीलिया तथा मस्तिष्क के कफज रोग–जैसे प्रसेक-जन्य शिरः शूल और अर्धावभेदक आदि दूर होते हैं। अहितकर–प्रायः आतों के लिए। निवारण–स्नेह द्रव्य।

विशेष – चरकोक्त एकोनविंशतिफलिनी द्रव्यों (सू० अ० १) तथा वमन द्रव्यों (सू० अ० २) और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) ऊर्ध्वभागहर गण के द्रव्यों में इक्ष्वाकु भी है।

तिन्तिडीक (सुमाक)

नाम। सं०– तिन्तिड़ीक। हिं०–समाकदाना; निनास, निनावा–(जौनसार); तुंगला, तत्रक़। पं०–खट्टेमसर, डाँसरा, तुंग, तुंगला। मा०–डांसरिया। का०–समाक।

अं०—समाक़, सुमाक़। फा०—समाक। ले०—रहुस पार्वीफ्लोरा (*Rhus parviflora Rob.*)।

वानस्पतिक कुल – भल्लातक-कुल (आनाकार्डिआसे : *Anacardiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तरी-पश्चिमी हिमालय प्रदेश में सतलज से नेपाल तक ६०२ से २१५ मीटर या २,०००–५,००० फुट की ऊँचाई पर तथा मध्य प्रदेश में पंचमढ़ी की पहाड़ियों पर और गोदावरी जिले में रम्पा की पहाड़ियों पर इसके जंगली वृक्ष प्रचुरता से मिलते हैं। उत्तरी हिमालय में जौनसार तथा नेपाल से कुमायूं तक इसके वृक्ष खूब मिलते हैं। इसका सुखाया हुआ मसूर के दाना-जैसा फल पंसारियों के यहाँ 'समाक दाना' नाम से बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – तिन्तिड़ीक के गुल्म होते हैं। कोमल शाखाएँ मुरचई रंग के सघन रोम से आवृत होती हैं। छाल खाकस्तरी रंग की तथा चिकनी होती है। पत्तियाँ सपत्रक, तीन-पत्रकों वाली तथा पर्णवृन्त २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बे होते हैं। पत्रक २.५ से ७.५ सें० मी०×$\frac{3}{4}$ से ५ सें० मी० या १–३ इंच×$\frac{3}{4}$ से २ इंच लम्बे, रूपरेखा में अभिलट्वाकार तथा गोलदन्तुरधार वाले होते हैं। अग्रपर स्थित तीसरा पत्रक शेष दो की अपेक्षा बड़ा होता है। पुष्प छोटे-छोटे होते हैं तथा शाखाग्र मंजरियों में निकलते हैं। अष्ठिल फल (*Drupe*) अंडाकार व्यास में ०.२ इंच, चिकना तथा भूरे रंग का होता है। उक्त फल खाये जाते हैं तथा समाकदाना नाम से इनका औषधियों में भी व्यवहार होता है। पुष्पागम–मई–जून में तथा फलागम जुलाई–अगस्त में होता है।

उपयोगी अंग– फल।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम (३ से ६ माशा)।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – फारस से आने वाला समाक वास्तव में तिन्तिड़ीक की एक अन्यतम विदेशी जाति र्हुस कोरिआरिआ (*Rhus coriaria Linn.*) का फल होता है। यह स्पेन, इटली, सिसली, काकेशिया, फारस एवं अफगानिस्तान में प्रचुरता से पैदा होता तथा लगाया जाता है। भारतवर्ष में इसका आयात फारस से होता है। यूनानी चिकित्सा में इसका व्यवहार प्रचुरता से किया जाता है। यूनानी वैद्यक में फलत्वचा का व्यवहार 'गिर्दसुमाक' या 'पोस्तसुमाक' के नाम से होता है। उक्त फल भी मसूर दाने जैसे लाल एवं चिपटे अष्ठिल फल, स्वाद में खट्टे एवं कसैले होते हैं। उक्त दोनों जातियाँ एक दूसरे की उत्तम प्रतिनिधि हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – तिन्तिड़ीक (समाकदाना) को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए; और पात्र में नमी न पहुँचे इसका ध्यान रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – पका सुमाकदाना वातहर तथा कच्चा फल पित्त एवं कफकारक होता है। सुमाकदाना शीत, रुक्ष, ग्राही, दीपन, दाह-तृष्णा शामक, रक्तस्तम्भक, एवं बहुमूत्ररोधक होता है। पोस्तसुमाक का उपयोग पैत्तिक अतिसार, हृल्लास, वमन एवं दाह तथा तृष्णायुक्त ज्वर में किया जाता है।

तिल (तिल्ली)

नाम। सं०—तिल। हि०—तिल, तिल्ली। बं०, म०—तिल। गु०—तल। फा०—कुंजद। अ०—सिम्सिम्, सम्सम्। अं०—जिंजेली (*Gingelly*), सिसेम (*Sesame*)। ले०—सेसामुम ईंडिकुम *Sesamum indicum Linn.* (*Syn. Sesamum orientale Linn.*)। (तेल) सं०—तिलतैल। हिं०—तिल (तिल्ली) का तेल, मीठा तेल। म०—गोड़ा तेल। गु०—मीठु तेल। फा०—रोग़नकुंजद। अ०—शीरज, दुह्नुल्‌हल, दुह्नुस्सिम्सिम्। ले०—ओलेउम सेसामी *Oleum sesami* (*Ol. Sesam.*)। अं०—जिंजेली आयल (*Gingelly Oil*), सिसेम ऑयल (*Sesame Oil*), तिल आयल (*Teel oil*)।

वानस्पतिक कुल–तिल-कुल (पेडालिआसे *Pedaliaceae*)।

उत्पत्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में तिल की प्रचुर मात्रा में खेती की जाती है। तिल (बीज) एवं तेल भारतवर्ष के प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके ३० से ९० सें० मी० या १–३ फुट ऊँचे तथा एकवर्षायु कोमल क्षुप होते हैं। इसका पौधा रोमावृत होता है, तथा इसमें हल्की दुर्गंध-सी पायी जाती है। इसके पौधे पर जगह-जगह स्रावी ग्रंथियाँ पायी जाती हैं। पत्तियाँ निचले भाग में अभिमुख क्रम से स्थित, खण्डित (*Lobed or pedatisect*) होती हैं; काण्ड के मध्य भाग में लट्वाकार तथा किनारे दन्तुर (*Toothed*) होते हैं और ऊपरी भाग की पत्तियाँ प्रायः सरल (*Simple*), रूपरेखा में भालाकार, आयताकार, अथवा अग्रों पर प्रायः रेखाकार

होतीं तथा एकान्तरक्रम से स्थित होती हैं। पुष्प २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच तक लम्बे, बैंगनी श्वेताभ वर्ण के, रोमश एवं बैंगनी या पीले बिन्दुओं से युक्त होते हैं, तथा तिरछे-ऊर्ध्वमुख या अधोमुख (*Sub-erect or drooping*) होते हैं। पुटपत्र (*Sepals*) ½ से ⅞ सें० मी० या ⅕ से ⅓ इंच लम्बे, रोमश एवं पतले भालाकार होते हैं। पत्रकोणों में एक-एक पुष्प निकलते हैं और सम्पूर्ण व्यूह आपाततः डिजिटेलिस के पुष्पव्यूह की भाँति मालूम होता है। फली या कैप्स्यूल (*Capsule*) लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बी, लम्बगोल चतुष्कोणाकार तथा अग्रपर कुण्ठित-सा (*Bluntly 4-gonous*) होता है। स्फुटन (*Dehiscence*) इन्हीं कोणों पर ऊपर से नीचे को (आधार को छोड़ कर) होता है, जिसमें से तीसी के समान रूपरेखा में चपटे किन्तु उसकी अपेक्षा अत्यंत क्षुद्र अनेक बीज निकलते हैं, जो रंगभेद से ३ प्रकार के होते हैं—(१) कृष्ण (काला), (२) लाल (*Brown*) (३) एवं श्वेत (सफेद तिल्ली)। औषध्यर्थ प्रायः काले तिलों से प्राप्त तैल अधिक उत्तम समझा जाता है।

उपयोगी अंग – बीज (तिल) एवं बीजों से प्राप्त तैल (तिल तेल) या रोग़न कुंजद।

मात्रा – बीजचूर्ण–३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
तैल–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–तिलतेल एक मीठा तेल, पीताभ वर्ण के धुंधले द्रव के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें एक बहुत हल्की रुचिकर गंध होती है। ०° तापक्रम पर भी यह जमता नहीं। **विलेयता**–ऐल्कोहल (९०%) में केवल अंशतः विलेय होता है। ईथर, क्लोरोफॉर्म तथा पेट्रोलियम् (*Light petroleum*) में भी कुछ मिल जाता है। आपेक्षिक गुरुत्व (*Specific gravity at* 20°)—०.९१६ से ०.९१९। अपवर्तनांक (*Refractive index at* 40°)—१.४६५० से १.४६६५। ऐसिड वैल्यू (*Acid value*)—अधिकतम ४। आयोडीन वैल्यू (*Iodine value*)—१०३ से ११२। सैपोनिफिकेशन वैल्यू (*Saponification value*)—१८८ से १९३। **परीक्षण**–१० मिलिलिटर (१० सी० सी०) हाइड्रोक्लोरिक एसिड में ०.१ ग्राम (१½ ग्रेन) सुक्रोज घोलें। एक परखनलिका में १ मि० लि० (सी० सी०) तिलतैल लें और उसमें उक्त हाइड्रोक्लोरिक एसिड-वाला विलयन मिला कर आधा मिनट तक खूब हिलायें। अब परखनलिका को रख दें। एसिड वाला स्तर पृथक् हो जाता है, जो चमकीले लाल रंग (*Bright red*) का होता है और बाद में गाढ़े लाल (*Dark red*) रंग का हो जाता है। अन्य स्थिर तैलों में उक्त परिवर्तन नहीं पाया जाता।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–बाजारू तिलतैल में प्रायः मूंगफली, बिनौला एवं सरसों के तेल का मिलावट किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – तिल बीजों एवं तैल को अच्छी तरह बन्द पात्रों में शीतल स्थान में रखना चाहिए और प्रकाश से बचाना चाहिए।

संगठन–बीज–बीजों में ४७–५०% तक स्थिर तैल (*Fatty oil* : तिलतेल), लगभग २०% प्रोटीन, तथा अल्प मात्रा में कोलीन (*Choline*), सेक्रोज (*Saccharose*) एवं लेसिथीन आदि तत्त्व पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त बीजों में सिसेमिआ (*Sesamia*), सिसेमोलिन (*Sesamolin*) एवं लाइपेज (*Lipase*) तथा निकोटिनिक एसिड आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं। तेल–तिल तेल में प्रधानतः ओलिक एवं लिनोलीक एसिड के तथा अल्पतः स्टियरिक, पामिटिक एवं अरेकिडिक एसिड (*Arachidic acid*) के ग्लिसराइड्स पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त १% तक सिसेमिन (*Sesamin* : $C_{20}H_{18}O_6$) एवं सिसेमोलिन (*Sesamolin* : $C_{20}H_{18}O_7$) आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं, जिनका जल-अपघटन (*Hydrolysis*) होने से फिनोल एवं सिसेमोल (*Sesamol*) आदि तत्त्व प्राप्त होते हैं।

वीर्यकालावधि–बीज—२ वर्ष। तेल—दीर्घकाल तक।

स्वभाव–**गुण**–गुरु, स्निग्ध। **रस**–मधुर, अनुरस कषाय, तिक्त। **विपाक**–मधुर। **वीर्य**–उष्ण। **प्रभाव**–केश्य। **कर्म**–वातशामक (योगवाही होने से अन्य द्रव्यों के संयोग से त्रिदोषशामक); स्नेहन, सन्धानीय, व्रण-शोधन एवं रोपण, केश्य, मेध्य, शूलप्रशमन, स्वलस्तम्भक, श्वासनलिकामार्दवकर, वाजीकरण, आर्त्तवजनन, बल्य, वृष्य, मूत्रसंग्रहणीय आदि। यूनानी मतानुसार तिल दूसरे दर्जे में उष्ण एवं तर है। **अहितकर**–चिरपाकी है। **निवारण**–भृष्ट करना, शुद्ध मधु और चीनी। तिल तैल भी दूसरे दर्जे में उष्ण एवं तर होता है। **अहितकर**–दीर्घपाकी तथा आमाशय को शिथिल करता है। **निवारण**–प्याज एवं नीबू का रस।

मुख्य योग – तिलादि गुड़िका, तिलाष्टक।

विशेष – आयुर्वेदीय तैलकल्पों में प्रधानतः तिलतैल ही पड़ता है। अर्श के रोगियों में तिलघटित खाद्य (तिल-कुट आदि) बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। इससे दस्त साफ हो जाता है, जिससे विबन्धजन्य दैनिक कष्ट का निवारण हो जाता है।

तुलसी

नाम। सं०–तुलसी, सुरसा। हिं०–तुलसी। पं०, गु०, बं०–तुलसी। म०–तुलस। अं०–होली बेसिल (*Holy Basil*)। ले०–ऑसीमुम सांक्टुम् (*Ocimum sanctum Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – तुलसी के पौधे समस्त भारतवर्ष में बगीचों में, मन्दिरों के पास एवं घरों में लगाये जाते हैं। यह सर्वत्र सुलभ एवं प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं यह जंगली रूप से भी पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – तुलसी के कोमलकाण्डीय छोटे पौधे होते हैं। जड़ के पास का काण्ड कुछ काष्ठीय होता है। पत्तियाँ अत्यंत सुगन्धित होती हैं। इसके मुख्य २ भेद होते हैं—(१) श्वेत एवं (२) कृष्ण। काली तुलसी की डालियाँ कृष्णाभ होती हैं। पुष्पमञ्जरी (*Raceme*) शाखाग्रों पर निकलती है, जो १२.५ से १५ सें० मी० या ५–६ इंच लम्बी तथा ऊपर को खड़ी रहती (*Erect*) है। घरेलू चिकित्सा-व्यवहार की दृष्टि से तुलसी एक महत्त्व की वनस्पति है। तुलसी के बारे में ऐसा भी विश्वास है, कि जहाँ तुलसी के क्षुप होते हैं, मच्छर भाग जाते हैं। जाड़े के दिनों में फूल-फल आते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, बीज एवं पंचाङ्ग।

मात्रा–स्वरस—१ से २ तोला।
बीजचूर्ण—१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।
क्वाथ—२ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – तुलसी के बीज लगभग $\frac{1}{16}$ इंच लम्बे, रूपरेखा में आयताकार (*Oblong*), एक पार्श्व में किंचित् उन्नतोदर तथा दूसरे में चपटे, तथा काले रंग के होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंग को सुखा कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। सर्वत्र एवं सर्वदा सुलभ होने से पत्तों का व्यवहार ताजी अवस्था में किया जा सकता है।

संगठन – पत्तियों में पीताभ हरित वर्ण का उत्पत् तैल पाया जाता है, जो शुष्क होने पर क्रिस्टलीय हो जाता है। इसे तुलसी-कपूर (*Basil Camphor*) कहते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रुक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। बीज–स्निग्ध, पिच्छिल एवं शीत है। कर्म–कफवातशामक, जन्तुघ्न, दुर्गन्धनाशक, दीपन-पाचन, अनुलोमन. कृमिघ्न, कफघ्न, हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, शोथहर। बीज–मूत्रल एवं बल्य हैं। प्रतिश्याय, वातश्लैष्मिक ज्वर एवं विषम ज्वर में तुलसीपत्र स्वरस अथवा क्वाथ एक उत्तम औषधि है। चिकित्सा में तुलसीपत्र स्वरस का व्यवहार अनुपान रूप से बहुशः किया जाता है।

विशेष – तुलसी की कतिपय अन्य जातियाँ (*Species*) भी विशेष महत्त्व की हैं—(१) ऑसीमुम बासीलिकुम (*Ocimum basilicum Linn.*)–यह प्रायः जोते-बोये जमीन में सर्वत्र स्वयंजात होती है। इसके बीज लबाबी होते हैं, जो पानी में भिगोने पर फूल कर चिपचिपे हो जाते हैं। (२) ऑसीमुम ग्राटीस्सिमुम (*O. gratissimum Linn.*) इसको रामतुलसी कहते हैं। इसके गुल्म भी प्रायः गाँवों के आस-पास परती जमीन में पाये जाते हैं। यह पूतिहर, व्रणरोपण वेदनास्थापन और कुछ-कुछ मूत्रजनन धर्म वाला होता है। (३) ऑसीमुम कानुम (*O. canum Sims.*)–इसके पतले क्षुप होते हैं, जो खेतों के आस-पास पाये जाते हैं। इसके बीज भी लुबाबी होते हैं और पानी में भिगोने पर चिपचिपे हो जाते हैं।

तुवरक

नाम। सं०–तुवरक, कटुकपित्थ, कुष्ठवैरी। हिं०–चाल-मुगरा? म०–कडुकवीठ, कडुकवठी। का०–गरुड फल। ता०–मखत्तायि, निरडिमुट्टु। ते०–अडविबादामु। मल०–कोडि, मखेट्टि, नीखेट्टि। ले०–हीड्नोकार्पुस लाउरिफोलिआ *Hydnocarpus laurifolia* (*Dennst.*) *Slenmer* (पर्याय–*H. wightiana Blume*)।

वानस्पतिक कुल – प्राचीनामलक-कुल (फ्लाकूर्टिआसे *Flacourtiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के पर्वतों पर तथा दक्षिण कोंकण और ट्रावनकोर में तथा लंका में इसके वृक्ष प्रचुरता से जंगली रूप से पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – तुवरक के सुन्दर वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ,

सीताफल (शरीफा) जैसी, मसृण एवं चमकदार तथा १२.५ से २५ सें०मी. या ५-१० इंच तक लम्बी, ३.७५ से ७.५ सें०मी० या १॥ से ३ इंच तक चौड़ी, लट्वाकार, आयताकार या भालाकार तथा लम्बे नोक वाली होती हैं। पुष्प सफेद गुच्छों में आते हैं तथा फल प्रायः गोल तथा छोटे सेव या कैथ के बराबर होते हैं, जिस पर सूक्ष्म कोमल रोम होते हैं। फल में छोटे बादाम जैसे पुष्कल (प्रत्येक फल में १०-२०) बीज होते हैं। बीजों का तथा इनसे प्राप्त होने वाले तेल (तुवरक तैल--चालमुगरा तेल ?) का व्यवहार औषधि में किया जाता है।

उपयोगी अंग – बीज एवं बीजों से प्राप्त तेल।

मात्रा – (१) बीजचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
(२) तैल–(१) वमन-विरेचन के लिए १ तो०।
(२) कुष्ठ एवं अनेक अन्य रोगों में कल्प चिकित्सा के लिए ५-१० बूंद से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर मात्रा बढ़ाते हुए ३०-६० बूंद तक। तेल को मक्खन, घी, या मलाई के साथ मिला कर देते हैं।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) बीज–तुवरक के फलों में १०-२० तक बीज निकलते हैं, जो प्रायः $\frac{१५}{२}$ सें०मी० या $\frac{३}{४}$ इंच लम्बे तथा कोणाकार होते हैं। कोण प्रायः कुण्ठित (*Obtusely angular*) होते हैं। ताजी अवस्था में बीजों पर कुछ फल का गूदा भी चिपका होता है। इस लगे गूदे को साफ कर देने पर बीज चोल या छिलका (*Testa*) खाकी रंग का होता है, जिसपर अनेक सूक्ष्म खातोदर रेखाएँ (*Longitudinal grooves*) दिखाई पड़ती हैं। बीजों के अन्दर प्रचुर मात्रा में स्नेहपूर्ण गूदेदार बीजगर्भ (*Oily albumen*) भरा होता है, जो दो हृदयाकार तथा चपटे गूदेदार द्विदलों (*Heart-shaped cotyledons*) के रूप में होता है। उक्त गूदेदार बीजगर्भ ताजे बीजों में तो सफेद रंग का होता है; किन्तु शुष्क बीजों में यह गाढ़े भूरे रंग का हो जाता है। बीजों में एक विशिष्ट प्रकार की गंध भी पायी जाती है। स्थूलतः बीज एवं गंध दोनों ही चालमुगरे के बीजों से मिलते-जुलते हैं।

(२) तेल। सं०–तुवरक तेल। हिं०–चालमुगरा का तेल ? कवा का तेल (*Kava–ka–tel*)। ले०–ओलेउम हिड्नोकार्पी *Oleum Hydnocarpi* (*Ol. Hydnocarp.*)। अं०–हिड्नोकार्पस ऑयल। तुवरक तेल (हिड्नोकार्पस ऑयल) एक जमने वाला स्थिर तेल (*Fatty oil*) है, जो तुवरक के पके बीजों से प्राप्त किया जाता है। बाजार में मिलने वाला हिड्नोकार्पस ऑयल बीजों से कोल्हू में शीत प्रपीड़न (*Cold expression*) द्वारा प्राप्त किया जाता है। साधारण तापक्रम पर यह हल्के पीले रंग का अथवा भूरापन लिये पीले रंग का गाढ़ा तेल होता है। किन्तु २५° या इससे कम तापक्रम पर जम कर घी के समान सफेद तथा घनरूप में हो जाता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है, तथा स्वाद में किञ्चित् कड़वा होता है। विलेयता–ठंडे ऐल्कोहॉल् में तो यह अंशतः घुलता (*Partly soluble*) है; किन्तु गरम ऐल्कोहॉल् में पूर्णतः घुल जाता है। ईथर, क्लोरोफॉर्म तथा कार्बन-डाइसल्फाइड में भी मिल जाता (*Miscible*) है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – सिक्किम, खसिया पर्वतमाला एवं पूर्व बंगाल में चटगाँव तक जंगलों में इस कुल के अन्य दो वृक्ष पाये जाते हैं, जो स्वरूपतः तथा गुणतः तुवरक तैल से कुछ मिलते-जुलते हैं। व्यवसाय में इनका व्यवहार चालमुगरा के तेल के नाम से किया जाता है। (१) हीड्नोकार्पुस कुर्जिई *Hydnocarpus kurzii* (*King*) *Warb.* (पर्याय–टारावटोजेनोस कुर्जिई *Taraktogenos kurzii King*); । (२) जीनोकार्डिआ ओडोराटा (*Gynocardia odorata R. Br.*)। इनमें टारावटोजेनोस कुर्जिई के तैल का संगठन तो बहुत-कुछ तुवरक तैल की ही भाँति होता है, अतएव यह तुवरक तैल का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है, किन्तु जीनोकार्डिआ के तेल में चालमूग्रिक एसिड एवं हिड्नोकार्पिक एसिड नहीं पाये जाते। अतएव गुणकर्म की दृष्टि से यह तुवरक या चालमुगरा तेल का स्थानापन्न नहीं हो सकता। यह भी बीजों से कोल्हू में पेर कर प्राप्त किया जाता है। जाड़े के दिनों में तो यह जम जाता है और घी की भाँति मालूम होता है, किन्तु गर्मी में पिघल कर भूरापन लिये पीले रंग के द्रव के रूप में होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में कड़वा (*Acrid*) होता है। १ मि०लि० (सी०सी०) चालमूगरे का तेल एक परखनली में लें और उसमें $\frac{१}{२}$ मि०लि० या

विशेष – आयुर्वेदीय तैलकल्पों में प्रधानतः तिलतैल ही पड़ता है। अर्श के रोगियों में तिलघटित खाद्य (तिलकुट आदि) बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। इससे दस्त साफ हो जाता है, जिससे विबन्धजन्य दैनिक कष्ट का निवारण हो जाता है।

तुलसी

नाम। सं०–तुलसी, सुरसा। हिं०–तुलसी। पं०, गु०, बं०–तुलसी। म०–तुलस। अं०–होली बेसिल (*Holy Basil*)। ले०–ऑसीमुम सांक्टुम् (*Ocimum sanctum Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – तुलसी के पौधे समस्त भारतवर्ष में बगीचों में, मन्दिरों के पास एवं घरों में लगाये जाते हैं। यह सर्वत्र सुलभ एवं प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं यह जंगली रूप से भी पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – तुलसी के कोमलकाण्डीय छोटे पौधे होते हैं। जड़ के पास का काण्ड कुछ काष्ठीय होता है। पत्तियाँ अत्यंत सुगन्धित होती हैं। इसके मुख्य २ भेद होते हैं—(१) श्वेत एवं (२) कृष्ण। काली तुलसी की डालियाँ कृष्णाभ होती हैं। पुष्पमञ्जरी (*Raceme*) शाखाग्रों पर निकलती है, जो १२.५ से १५ सें० मी० या ५–६ इंच लम्बी तथा ऊपर को खड़ी रहती (*Erect*) है। घरेलू चिकित्सा-व्यवहार की दृष्टि से तुलसी एक महत्त्व की वनस्पति है। तुलसी के बारे में ऐसा भी विश्वास है, कि जहाँ तुलसी के क्षुप होते हैं, मच्छर भाग जाते हैं। जाड़े के दिनों में फूल-फल आते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, बीज एवं पंचाङ्ग।

मात्रा–स्वरस—१ से २ तोला।

बीजचूर्ण—१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

क्वाथ—२ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – तुलसी के बीज लगभग $\frac{1}{16}$ इंच लम्बे, रूपरेखा में आयताकार (*Oblong*), एक पार्श्व में किंचित् उन्नतोदर तथा दूसरे में चपटे, तथा काले रंग के होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंग को सुखा कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। सर्वत्र एवं सर्वदा सुलभ होने से पत्तों का व्यवहार ताजी अवस्था में किया जा सकता है।

संगठन – पत्तियों में पीताभ हरित वर्ण का उत्पत् तैल पाया जाता है, जो शुष्क होने पर क्रिस्टलीय हो जाता है। इसे तुलसी-कपूर (*Basil Camphor*) कहते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रुक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। बीज–स्निग्ध, पिच्छिल एवं शीत है। **कर्म**–कफवातशामक, जन्तुघ्न, दुर्गन्धनाशक, दीपन-पाचन, अनुलोमन. कृमिघ्न, कफघ्न, हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, शोथहर। बीज–मूत्रल एवं बल्य हैं। प्रतिश्याय, वातश्लैष्मिक ज्वर एवं विषम ज्वर में तुलसीपत्र स्वरस अथवा क्वाथ एक उत्तम औषधि है। चिकित्सा में तुलसीपत्र स्वरस का व्यवहार अनुपान रूप से बहुशः किया जाता है।

विशेष – तुलसी की कतिपय अन्य जातियाँ (*Species*) भी विशेष महत्त्व की हैं—(१) ऑसीमुम बासीलिकुम (*Ocimum basilicum Linn.*)–यह प्रायः जोते-बोये जमीन में सर्वत्र स्वयंजात होती है। इसके बीज लबाबी होते हैं, जो पानी में भिगोने पर फूल कर चिपचिपे हो जाते हैं। (२) ऑसीमुम ग्राटीस्सिमुम (*O. gratissimum Linn.*) इसको रामतुलसी कहते हैं। इसके गुल्म भी प्रायः गाँवों के आस-पास परती जमीन में पाये जाते हैं। यह पूतिहर, व्रणरोपण वेदनास्थापन और कुछ-कुछ मूत्रजनन धर्म वाला होता है। (३) ऑसीमुम कानुम (*O. canum Sims.*)–इसके पतले क्षुप होते हैं, जो खेतों के आस-पास पाये जाते हैं। इसके बीज भी लुबाबी होते हैं और पानी में भिगोने पर चिपचिपे हो जाते हैं।

तुवरक

नाम। सं०–तुवरक, कटुकपित्थ, कुष्ठवैरी। हिं०–चालमुगरा? म०–कडुकवीठ, कडुकवठी। का०–गरुड फल। ता०–मखत्तायि, निरडिमुट्टु। ते०–अडविवादामु। मल०–कोडि, मरोट्टि, नीरोट्टि। ले०–हीड्नोकार्पुस लाउरिफोलिआ *Hydnocarpus laurifolia* (*Dennst.*) *Sleumer* (पर्याय–*H. wightiana Blume*)।

वानस्पतिक कुल – प्राचीनामलक-कुल (फ्लाकूर्टिआसे *Flacourtiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के पर्वतों पर तथा दक्षिण कोंकण और ट्रावनकोर में तथा लंका में इसके वृक्ष प्रचुरता से जंगली रूप से पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – तुवरक के सुन्दर वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ,

सीताफल (शरीफा) जैसी, मसृण एवं चमकदार तथा १२.५ से २५ सें०मी. या ५–१० इंच तक लम्बी, ३.७५ से ७.५ सें०मी० या १॥ से ३ इंच तक चौड़ी, लट्वाकार, आयताकार या भालाकार तथा लम्बे नोक वाली होती हैं। पुष्प सफेद गुच्छों में आते हैं तथा फल प्रायः गोल तथा छोटे सेव या कैथ के बराबर होते हैं, जिस पर सूक्ष्म कोमल रोम होते हैं। फल में छोटे बादाम जैसे पुष्कल (प्रत्येक फल में १०–२०) बीज होते हैं। बीजों का तथा इनसे प्राप्त होने वाले तेल (तुवरक तैल—चालमुगरा तेल ?) का व्यवहार औषधि में किया जाता है।

उपयोगी अंग – बीज एवं बीजों से प्राप्त तेल।

मात्रा – (१) बीजचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
(२) तैल–(१) वमन-विरेचन के लिए १ तो०।
(२) कुष्ठ एवं अनेक अन्य रोगों में कल्प चिकित्सा के लिए ५-१० बूंद से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर मात्रा बढ़ाते हुए ३०-६० बूंद तक। तेल को मक्खन, घी, या मलाई के साथ मिला कर देते हैं।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) बीज–तुवरक के फलों में १०-२० तक बीज निकलते हैं, जो प्रायः २.५ सें०मी० या १ इंच लम्बे तथा कोणाकार होते हैं। कोण प्रायः कुण्ठित (*Obtusely angular*) होते हैं। ताजी अवस्था में बीजों पर कुछ फल का गूदा भी चिपका होता है। इस लगे गूदे को साफ कर देने पर बीज चोल या छिलका (*Testa*) खाकी रंग का होता है, जिसपर अनेक सूक्ष्म खातोदर रेखाएँ (*Longitudinal grooves*) दिखाई पड़ती हैं। बीजों के अन्दर प्रचुर मात्रा में स्नेहपूर्ण गूदेदार बीजगर्भ (*Oily albumen*) भरा होता है, जो दो हृदयाकार तथा चपटे गूदेदार द्विदलों (*Heart-shaped cotyledons*) के रूप में होता है। उक्त गूदेदार बीजगर्भ ताजे बीजों में तो सफेद रंग का होता है; किन्तु शुष्क बीजों में यह गाढ़े भूरे रंग का हो जाता है। बीजों में एक विशिष्ट प्रकार की गंध भी पायी जाती है। स्थूलतः बीज एवं गंध दोनों ही चालमुगरे के बीजों से मिलते-जुलते हैं।

(२) तेल। सं०–तुवरक तेल। हिं०–चालमुगरा का तेल ? कवा का तेल (*Kava–kā–tel*)। ले०–ओलेउम हिड्नोकार्पी *Oleum Hydnocarpi* (*Ol. Hydnocarp.*)। अं०–हिड्नोकार्पस ऑयल। तुवरक तेल (हिडनोकार्पस ऑयल) एक जमने वाला स्थिर तेल (*Fatty oil*) है, जो तुवरक के पके बीजों से प्राप्त किया जाता है। बाजार में मिलने वाला हिडनोकार्पस ऑयल बीजों से कोल्हू में शीत प्रपीड़न (*Cold expression*) द्वारा प्राप्त किया जाता है। साधारण तापक्रम पर यह हल्के पीले रंग का अथवा भूरापन लिये पीले रंग का गाढ़ा तेल होता है। किन्तु २५° या इससे कम तापक्रम पर जम कर घी के समान सफेद तथा घनरूप में हो जाता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है, तथा स्वाद में किञ्चित् कड़वा होता है। विलेयता–ठंडे ऐल्कोहॉल् में तो यह अंशतः घुलता (*Partly soluble*) है; किन्तु गरम ऐल्कोहॉल् में पूर्णतः घुल जाता है। ईथर, क्लोरोफॉर्म तथा कार्बन-डाइसल्फाइड में भी मिल जाता (*Miscible*) है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – सिक्किम, खसिया पर्वतमाला एवं पूर्व बंगाल में चटगाँव तक जंगलों में इस कुल के अन्य दो वृक्ष पाये जाते हैं, जो स्वरूपतः तथा गुणतः तुवरक तैल से कुछ मिलते-जुलते हैं। व्यवसाय में इनका व्यवहार चालमुगरा के तेल के नाम से किया जाता है। (१) हीड्नोकार्पुस कुर्जिई *Hydnocarpus kurzii* (*King*) *Warb.* (पर्याय–टारावटोजेनोस कुर्जिई *Taraktogenos kurzii King*); । (२) जीनोकार्डिआ ओडोराटा (*Gynocardia odorata R. Br.*)। इनमें टारावटोजेनोस कुर्जिई के तैल का संगठन तो बहुत-कुछ तुवरक तैल की ही भाँति होता है, अतएव यह तुवरक तैल का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है, किन्तु जीनोकार्डिआ के तेल में चालमूग्रिक एसिड एवं हिड्नोकार्पिक एसिड नहीं पाये जाते। अतएव गुणकर्म की दृष्टि से यह तुवरक या चालमुगरा तेल का स्थानापन्न नहीं हो सकता। यह भी बीजों से कोल्हू में पेर कर प्राप्त किया जाता है। जाड़े के दिनों में तो यह जम जाता है और घी की भाँति मालूम होता है, किन्तु गर्मी में पिघल कर भूरापन लिये पीले रंग के द्रव के रूप में होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में कड़वा (*Acrid*) होता है। १ मि०लि० (सी०सी०) चालमूगरे का तेल एक परखनली में लें और उसमें १ मि०लि० या

सी०सी० सल्फ्यूरिक एसिड मिलावें तो विलयन का रंग लालिमा लिये भूरे रंग का हो जाता है, जो वाद में जैतूनी हरे रंग (*Olive-green*) में परिणत हो जाता है। जीनोकार्डिआ के फल एवं बीज भी आपाततः देखने में तुवरक के फल एवं बीजों की भाँति होते हैं; किन्तु तुवरक के वीजों में मूलांकुर (*Radicle*) अग्र पर होता है तथा सफेद होता है, जब कि जीनोकार्डिआ के बीजों में यह पार्श्वस्थ (*Lateral*) होता है। जीनोकार्डिआ के तेल की गंध कुछ-कुछ तीसी के तेल से मिलती-जुलती है। कभी-कभी तुवरक तेल में, हीड्नोकार्पुस की अन्य जातिओं से प्राप्त वीजों का तेल भी मिला दिया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में तुवरक के पके फलों को एकत्रित कर भीतर के वीज निकाल कर सुखा लें। इससे बीज दुर्वासित नहीं होते। स्थानिक संग्रह-कर्ता प्रायः उत्तम वीजों के साथ दुर्वासित बीज भी संग्रह कर लेते हैं। अतएव इस बात को ध्यान में रखें। इस चूर्ण को कोल्हू में पेर कर अथवा जल के साथ पका कर तैल निकाल लें। इस तैल को घड़े में वन्द कर १५ दिन तक कंडों के चूर्ण के ढेर में ढंक दें। फिर उसे निकाल, कपड़े से छान स्वच्छ शीशियों में भर कर उनका ढक्कन ठीक तरह से वन्दकर ठंढी जगह में रखें और प्रकाश से वचावें। आजकल वाजार में काफी स्वच्छ एवं विशोधित तैल प्राप्त होता है। कुष्ठ के रोगियों में आभ्यन्तरिक सेवन के लिए यदि तैल को तिगुने खदिर क्वाथ के साथ सिद्ध कर लिया जाय तो यह और भी गुणकारी हो जाता है।

संगठन – तुवरक के वीजों से ४४% तक स्थिर तैल (तुवरक का तेल) प्राप्त होता है, जिसमें प्रधानतः हिड्नोकार्पिक एसिड (४८.७%) तथा चालमूगरिक एसिड (२७%) तथा अल्प मात्रा में ओलिईक एसिड एवं पामिटिक एसिड भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव–गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। रस–तिक्त, कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–स्थानिक प्रयोग से कण्डूघ्न, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न। मौखिक सेवन से रक्तप्रसादन, कुष्ठघ्न, वामक, रेचक, कृमिघ्न, प्रमेहघ्न, वातरक्तशामक आदि। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति वालों के लिए। निवारण–दूध, घी और शर्करा।

विशेष – तुवरक तैल एक उत्तम कुष्ठनाशक औषधि है। अधुना विशिष्ट प्रकार से इसका संस्कारित तैल इंजेक्शन द्वारा भी प्रयुक्त होता है और बहुत उपयोगी सिद्ध होता है।

तूतमलंगा

नाम। हिं०–वालंगा, वालंगू, तूतमलंगा, तोकमलंगा। बम्ब०–बालंगू। द०–वालंका। पं०–घरेइकशमालू, तुख्म मलंगा। वाजार–तुक्मेबालुंग। अ०–वालंकू, वज्रुल् वालंकू। फा०–वालंगू, तुख्मे बालंगू। ले०–लाल्लेमांटिआ रॉइलेआना (*Lallemantia royleana Benth.*)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस, बलूचिस्तान तथा भारतवर्ष में पंजाब के मैदानों में (३,००० फुट की ऊंचाई तक)। पंजाब में कहीं-कहीं यह वोया भी जाता है। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः (वम्बई होकर) फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – तूतमलंगा के छोटे-छोटे तथा शाकजातीय एकवर्षायु पौधे (*Annual herbs*) होते हैं, जिनका काण्ड किंचित् कोणाकार (*Angled*) होता है। पत्तियाँ १.२५ से २.५ सें० मी० या ½ से १ इंच तक लम्बी, रूपरेखा में लट्वाकार या आयताकार तथा कुण्ठिताग्र होती हैं, जिनका तट गोलदन्तुर होता है। यह आमने-सामने दो-दो (अर्थात् अभिमुख क्रम से स्थित) होती हैं। पुष्प ⅚ सें० मी० या ⅓ इंच लम्बे तथा हल्की गुलाबी आभा लिये हुए तथा मंजरी पर जगह-जगह चक्राकार गुच्छकों (*Circular clusters*) में निकलते हैं। कोण पुष्पक आयताकार अथवा भालाकार तथा नुकीले अग्रवाले और शीघ्रपतनशील होते हैं। वाह्य कोश ¼ इंच लम्बा, खड़ा, द्वि-ओष्ठीय होता है। ऊर्ध्वोष्ठ में तीन कुण्ठिताग्र खण्ड होते हैं, जिनमें पार्श्वस्थ दोनों खण्ड मध्यस्थ खण्ड के नीचे होते हैं। आभ्यन्तर कोश भी प्रायः द्वि-ओष्ठीय होता है। पुंकेशर संख्या में ४ होते हैं, जिनमें दो अपेक्षाकृत छोटे तथा शेष दो लम्बे होते हैं।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—बाजार में मिलने वाले बीज काले, $\frac{५}{१६}$ सें० मी० या $\frac{१}{८}$ इंच लम्बे, रूपरेखा में लंबोतरे, मसृण और तिकोने होते हैं। जल में भिगोने पर ये फूल कर शीघ्र एक प्रकार के चिपचिपा, पारदर्शक, स्वादरहित भूरे लवाब से ढंक जाते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—उत्तर भारत में तुलसी जातीय साल्विआ सांटोलीनेफ़ोलिआ *Salvia santolinaefolia* Boiss. (*S. aegyptiaca* L. *var pumila* Hook. f.) नामक पौधे के बीजों को तुख्म बालंगा के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत किया जाता है। कहीं-कहीं ड्रेकोसेफ़ालुम् राइलेआनुम् *Dracocephalum royleanum* Benth. (Family: *Labiatae*) के बीजों को भी तुख्म-मालंगा कहते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण—बालंगा बीजों को अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि—१ वर्ष।

स्वभाव—पहले दर्जे में गरम और तर। यह सौमनस्यजनन, हृदयबलदायक तथा शीतसंग्राही एवं पुष्टिकर होता है। सौमनस्यजनन एवं हृद्य होने से हृदय की धड़कन एवं हृदयदौर्बल्य में तथा संग्राही एवं पिच्छिल होने से रक्तातिसार, मरोड़ और प्रवाहिका में देते हैं। मूत्र रोगों में मूत्रजनन एवं शामक पेय की भाँति इसका उपयोग होता है। पके फोड़ों पर स्थानिक प्रयोग से फोड़ा अपने आप फूट जाता है। एतदर्थ बीजों को जल में भिगो कर लगाया जाता है।

तेजपत्र (तमालपत्र)

नाम। सं०—पत्र, तमालपत्र। हिं०—तेजपत्ता, तेजपात; (जौनसार)—गुरन्द्रा। अ०—साज़जे हिन्दी। अं०—इंडियन सिन्नेमन (*Indian Cinnamon*)। ले०—सिन्नामोमुम तमाला (*Cinnamomum tamala* Nees)। लेटिन एवं अंग्रेजी नाम इसके वृक्ष के हैं।

वानस्पतिक-कुल—कर्पूर-कुल (लाउरासे *Lauraceae*)।

प्राप्तिस्थान—सिन्धु नदी से लेकर भूटान तक उष्ण एवं समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में ९१४$\frac{१}{२}$ से २१३३$\frac{१}{२}$ मीटर या ३,००० से ७,००० फुट की ऊंचाई तक (चकरौता, गढ़वाल; कुमायूं आदि) तथा सिलहट एवं खसिया की पहाड़ियों पर (३,०००–४,००० फुट की ऊंचाई तक) तमालपत्र के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। इसके सुखाये हुए पत्ते बाजारों में तेजपात के नाम से बिकते हैं। सर्वत्र गरम मसाले में इनकी काफी मात्रा में खपत होती है। भारतीय बाजारों में इसका आयात उत्तरी पूर्वी हिमालय, आसाम तथा बम्बई से होता है।

संक्षिप्त परिचय—इसके वृक्ष छोटे या मध्यम ऊंचाई के होते हैं। छाल—पतली, शिकनदार (*Wrinkled*) तथा गाढ़े भूरे रंग की या कृष्णाभ होती है। काट १.२५ सें० मी० या $\frac{१}{२}$ इंच मोटा, गुलाबी या ललाई लिये भूरे और बाहर की ओर श्वेत-रेखांकित होते हैं। पत्तियाँ एकान्तर एवं अभिमुख दोनों ही क्रम से स्थित होती हैं, और १० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच तक लम्बी, ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १॥-२॥ इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार-आयताकार, अग्र पर नुकीली या लम्बे अग्र वाली (*Acute or acuminate*) तथा आधार से अग्र तक ३ शिराओं युक्त होती हैं। नवीन पत्तियाँ कुछ-कुछ गुलाबी (*Pink*) रंग की होती हैं। पुष्प सफेद रंग के और प्रायः एक लिंगी होते हैं जो ७.५ से १५ सें० मी० या ३-६ इंच लम्बी मंजरियों में निकलते हैं। मंजरियाँ प्रायः मृदुरोमावृत (*Pubescent*) होती हैं। परिदलपुंज या सवर्णकोश (*Perianth*) ६—खण्डयुक्त होता है, जो मृदु रोमश तथा लम्बाई की दिशा में उन्नत रेखाओं से युक्त (*Longitudinally ribbed*) होते हैं। पुंकेसर १२ जिनमें प्रगल्भ केशर केवल ९ तथा शेष ३ क्लीव केशर (*Staminode*) होते हैं। यह ६-६ के २ चक्रों में स्थित होते हैं। अष्ठिल फल (*Drupe*) १.२५ सें० मी० या $\frac{१}{२}$ इंच लम्बा रूपरेखा में लम्ब गोल या अंडाकार, मांसल (*Succulent*), पकने पर काला होता है। सवर्ण कोषखण्डों के आधार भाग स्थायी होते हैं, तथा फल के साथ लगे होते हैं। नयी पत्तियाँ अप्रैल-मई में आती हैं। पुष्पागम—फरवरी से मार्च। फलागम-जून-अक्टूबर। फल काफी दिनों तक वृक्ष पर लगे रहते हैं।

उपयोगी अंग—पत्र (तेजपात) तथा टहनियों की छाल (तज या देशी दालचीनी)।

मात्रा—क्वाथ में ३-४ ग्राम या ३-४ माशे तक।

चूर्ण एवं माजून के रूप में १ से ३ ग्राम या १-३ माशा तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—तेजपात की लम्बाई-चौड़ाई में काफी अन्तर पाया जाता है। सामान्यतः १५ सें० मी० या ६ इंच तक लम्बी तथा ३.७५ से ६.२५ सें० मी० (१॥-२॥ इंच) तक चौड़ी, आयताकार (*Oblong*), कुण्ठिताग्र

सी०सी० सल्फ्यूरिक एसिड मिलावें तो विलयन का रंग लालिमा लिये भूरे रंग का हो जाता है, जो वाद में जैतूनी हरे रंग (*Olive-green*) में परिणत हो जाता है। जीनोकार्डिआ के फल एवं वीज भी आपाततः देखने में तुवरक के फल एवं वीजों की भाँति होते हैं; किन्तु तुवरक के वीजों में मूलांकुर (*Radicle*) अग्र पर होता है तथा सफेद होता है, जव कि जीनोकार्डिआ के वीजों में यह पार्श्वस्थ (*Lateral*) होता है। जीनोकार्डिआ के तेल की गंध कुछ-कुछ तीसी के तेल से मिलती-जुलती है। कभी-कभी तुवरक तेल में, हीड्नोकार्पुस की अन्य जातिओं से प्राप्त वीजों का तेल भी मिला दिया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में तुवरक के पके फलों को एकत्रित कर भीतर के वीज निकाल कर सुखा लें। इससे वीज दुर्वासित नहीं होते। स्थानिक संग्रह-कर्ता प्रायः उत्तम वीजों के साथ दुर्वासित वीज भी संग्रह कर लेते हैं। अतएव इस वात को ध्यान में रखें। इस चूर्ण को कोल्हू में पेर कर अथवा जल के साथ पका कर तैल निकाल लें। इस तैल को घड़े में वन्द कर १५ दिन तक कंडों के चूर्ण के ढेर में ढंक दें। फिर उसे निकाल, कपड़े से छान स्वच्छ शीशियों में भर कर उनका ढक्कन ठीक तरह से वन्दकर ठंढी जगह में रखें और प्रकाश से वचावें। आजकल वाजार में काफी स्वच्छ एवं विशोधित तैल प्राप्त होता है। कुष्ठ के रोगियों में आभ्यन्तरिक सेवन के लिए यदि तैल को तिगुने खदिर क्वाथ के साथ सिद्ध कर लिया जाय तो यह और भी गुणकारी हो जाता है।

संगठन – तुवरक के वीजों से ४४% तक स्थिर तैल (तुवरक का तेल) प्राप्त होता है, जिसमें प्रधानतः हिड्नोकार्पिक एसिड (४८.७%) तथा चालमूगरिक एसिड (२७%) तथा अल्प मात्रा में ओलिईक एसिड एवं पामिटिक एसिड भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव–गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। रस–तिक्त, कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–स्थानिक प्रयोग से कण्डूघ्न, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न। मौखिक सेवन से रक्तप्रसादन, कुष्ठघ्न, वामक, रेचक, कृमिघ्न, प्रमेहघ्न, वातरक्तशामक आदि। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति वालों के लिए। निवारण–दूध, घी और शर्करा।

विशेष – तुवरक तैल एक उत्तम कुष्ठनाशक औषधि है। अधुना विशिष्ट प्रकार से इसका संस्कारित तैल इंजेक्शन द्वारा भी प्रयुक्त होता है और वहुत उपयोगी सिद्ध होता है।

तूतमलंगा

नाम। हिं०–वालंगा, वालंगू, तूतमलंगा, तोकमलंगा। वम्व०–वालंगू। द०–वालंका। पं०–घरेइकश्माल्, तुख्म मलंगा। वाजार–तुक्मेवालुंग। अ०–वालंकू, वज्रुल् वालंकू। फा०–वालंगू, तुख्मे वालंगू। ले०–लाल्लेमांटिआ रॉइलेआना (*Lallemantia royleana Benth.*)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाविआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस, वलूचिस्तान तथा भारतवर्ष में पंजाव के मैदानों में (३,००० फुट की ऊंचाई तक)। पंजाव में कहीं-कहीं यह वोया भी जाता है। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः (वम्वई होकर) फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – तूतमलंगा के छोटे-छोटे तथा शाकजातीय एकवर्षायु पौधे (*Annual herbs*) होते हैं, जिनका काण्ड किंचित् कोणाकार (*Angled*) होता है। पत्तियाँ १.२५ से २.५ सें० मी० या ½ से १ इंच तक लम्वी, रूपरेखा में लट्वाकार या आयताकार तथा कुण्ठिताग्र होती हैं, जिनका तट गोलदन्तुर होता है। यह आमने-सामने दो-दो (अर्थात् अभिमुख क्रम से स्थित) होती हैं। पुष्प ⅚ सें० मी० या ⅓ इंच लम्वे तथा हल्की गुलावी आभा लिये हुए तथा मंजरी पर जगह-जगह चक्राकार गुच्छकों (*Circular clusters*) में निकलते हैं। कोण पुष्पक आयताकार अथवा भालाकार तथा नुकीले अग्रवाले और शीघ्रपतनशील होते हैं। वाह्य कोश ⅓ इंच लम्वा, खड़ा, द्वि-ओष्ठीय होता है। ऊर्ध्वोष्ठ में तीन कुण्ठिताग्र खण्ड होते हैं, जिनमें पार्श्वस्थ दोनों खण्ड मध्यस्थ खण्ड के नीचे होते हैं। आभ्यन्तर कोश भी प्रायः द्वि-ओष्ठीय होता है। पुंकेशर संख्या में ४ होते हैं, जिनमें दो अपेक्षाकृत छोटे तथा शेष दो लम्वे होते हैं।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—बाजार में मिलने वाले बीज काले, २½ सें० मी० या ½ इंच लम्बे, रूपरेखा में लंबोतरे, मसृण और तिकोने होते हैं। जल में भिगोने पर ये फूल कर शीघ्र एक प्रकार के चिपचिपा, पारदर्शक, स्वादरहित भूरे लवाव से ढंक जाते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—उत्तर भारत में तुलसी जातीय साल्विआ सांटोलीनेफोलिआ *Salvia santolinaefolia Boiss.* (*S. aegyptiaca L. var pumila Hook. f.*) नामक पौधे के बीजों को तुख्म बालंगा के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत किया जाता है। कहीं-कहीं ड्रेकोसेफ़ालुम् राइले-आनुम् *Dracocephalum royleanum Benth.* (*Family*: *Labiatae*) के बीजों को भी तुख्म-मालंगा कहते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण—बालंगा बीजों को अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि—१ वर्ष।

स्वभाव—पहले दर्जे में गरम और तर। यह सौमनस्यजनन, हृदयबलदायक तथा शीतसंग्राही एवं पुष्टिकर होता है। सौमनस्यजनन एवं हृद्य होने से हृदय की धड़कन एवं हृदयदौर्बल्य में तथा संग्राही एवं पिच्छिल होने से रक्तातिसार, मरोड़ और प्रवाहिका में देते हैं। मूत्र रोगों में मूत्रजनन एवं शामक पेय की भाँति इसका उपयोग होता है। पके फोड़ों पर स्थानिक प्रयोग से फोड़ा अपने आप फूट जाता है। एतदर्थ बीजों को जल में भिगो कर लगाया जाता है।

तेजपत्र (तमालपत्र)

नाम। सं०–पत्र, तमालपत्र। हिं०–तेजपत्ता, तेजपात; (जौनसार)–गुरन्द्रा। अ०–साज़जे हिन्दी। अं०–इंडियन सिन्नेमन (*Indian Cinnamon*)। ले०–सिन्नामोमुम तमाला (*Cinnamomum tamala Nees*)। लेटिन एवं अंग्रेजी नाम इसके वृक्ष के हैं।

वानस्पतिक-कुल—कर्पूर-कुल (लाउरासे *Lauraceae*)।

प्राप्तिस्थान—सिन्धु नदी से लेकर भूटान तक उष्ण एवं समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में ९१४½ से २१३३½ मीटर या ३,००० से ७,००० फुट की ऊंचाई तक (चकरौता, गढ़वाल, कुमायूं आदि) तथा सिलहट एवं खसिया की पहाड़ियों पर (३,०००–४,००० फुट की ऊंचाई तक) तमालपत्र के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। इसके सुखाये हुए पत्ते बाजारों में तेजपात के नाम से बिकते हैं। सर्वत्र गरम मसाले में इनकी काफी मात्रा में खपत होती है। भारतीय बाजारों में इसका आयात उत्तरी पूर्वी हिमालय, आसाम तथा बम्बई से होता है।

संक्षिप्त परिचय—इसके वृक्ष छोटे या मध्यम ऊंचाई के होते हैं। छाल–पतली, शिकनदार (*Wrinkled*) तथा गाढ़े भूरे रंग की या कृष्णाभ होती है। काट १.२५ सें० मी० या ½ इंच मोटा, गुलाबी या ललाई लिये भूरे और बाहर की ओर श्वेत-रेखांकित होते हैं। पत्तियाँ एकान्तर एवं अभिमुख दोनों ही क्रम से स्थित होती हैं, और १० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच तक लम्बी, ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १॥-२॥ इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार-आयताकार, अग्र पर नुकीली या लम्बे अग्र वाली (*Acute or acuminate*) तथा आधार से अग्र तक ३ शिराओं युक्त होती हैं। नवीन पत्तियाँ कुछ-कुछ गुलाबी (*Pink*) रंग की होती हैं। पुष्प सफेद रंग के और प्रायः एक लिंगी होते हैं जो ७.५ से १५ सें० मी० या ३-६ इंच लम्बी मंजरियों में निकलते हैं। मंजरियाँ प्रायः मृदुरोमावृत (*Pubescent*) होती हैं। परिदलपुंज या सवर्णकोश (*Perianth*) ६–खण्डयुक्त होता है, जो मृदु रोमश तथा लम्बाई की दिशा में उन्नत रेखाओं से युक्त (*Longitudinally ribbed*) होते हैं। पुंकेसर १२ जिनमें प्रगल्भ केशर केवल ६ तथा शेष ३ क्लीव केशर (*Staminode*) होते हैं। यह ६-६ के २ चक्रों में स्थित होते हैं। अष्ठिल फल (*Drupe*) १.२५ सें० मी० या ½ इंच लम्बा रूपरेखा में लम्ब गोल या अंडाकार, मांसल (*Succulent*), पकने पर काला होता है। सवर्ण कोषखण्डों के आधार भाग स्थायी होते हैं, तथा फल के साथ लगे होते हैं। नयी पत्तियाँ अप्रैल-मई में आती हैं। पुष्पागम–फरवरी से मार्च। फलागम-जून-अक्टूबर। फल काफी दिनों तक वृक्ष पर लगे रहते हैं।

उपयोगी अंग—पत्र (तेजपात) तथा टहनियों की छाल (तज या देशी दालचीनी)।

मात्रा—क्वाथ में ३-४ ग्राम या ३-४ माशे तक।

चूर्ण एवं माजून के रूप में १ से ३ ग्राम या १-३ माशा तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—तेजपात की लम्बाई-चौड़ाई में काफी अन्तर पाया जाता है। सामान्यतः १५ सें० मी० या ६ इंच तक लम्बी तथा ३.७५ से ६.२५ सें० मी० (१॥-२॥ इंच) तक चौड़ी, आयताकार (*Oblong*), कुण्ठिताग्र

(*Obtuse-pointed*) या कुछ नोकदार, सरल धार वाली तथा आधार से अग्र तक ३ स्पष्ट शिराओं युक्त (कभी-कभी २ शिराएँ और होती हैं, जो किनारों के पास होती हैं। इनके वीच सूक्ष्म जालमय शिरा विन्यास (*Reticulate venation*) होता है। पत्तियों का रंग जैतूनी हरा (*Olive green*) होता है, तथा ऊर्ध्व पृष्ठ चिकना (*Polished*) होता है। तेजपात में लौंग एवं दालचीनी की सम्मिलित सुगंधि की भाँति मनोरम गंध पायी जाती है।

संग्रह एवं संरक्षण – तमाल वृक्ष जब १० वर्ष का हो जाता है, तो पत्र-संग्रह के योग्य हो जाता है। यह दीर्घायु वृक्ष होता है, और ९०-१०० वर्ष तक जीवित रहता है। प्रगल्भ एवं परिपुष्ट वृक्षों से प्रतिवर्ष तथा पुराने एवं दुर्वल वृक्षों से एक वर्ष का अन्तर देकर पत्रों का संग्रह किया जाता है। पत्रों का संग्रह प्रायः अक्टूवर-दिसम्वर से मार्च तक किया जाता है। पत्र-वहुल छोटी-छोटी शाखाएँ काट ली जाती हैं और उनको छायाशुष्क करके पत्र चुन लिये जाते हैं। तेजपत्र को अच्छी तरह मुखवन्द डिव्वों में रखना चाहिए।

संगठन – पत्तियों में एक उत्पत् तैल पाया जाता है, जिसमें प्रधानतः युजिनोल (*Eugenol* ७८%) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त तैल में टर्पीन (*Terpene*) तथा सिन्नेमिक ऐल्डिहाइड (*Cinnamic aldehyde*) भी पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–कटु, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–लेखन, दीपन–पाचन, वातानुलोमन, मस्तिष्कवलदायक, मूत्रार्तवजनन, आमाशयवलप्रद, सौमनस्यजनन, सौगन्धिक। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष है। अहितकर–वस्ति एवं फुफ्फुस को। निवारण–मस्तगी और विही का शर्वत। प्रतिनिधि–वालछड़ एवं तज।

मुख्य योग – दवाउल् मिस्कहार। तेजपत्र, त्रिजात एवं चातुर्जात का उपादान द्रव्य है। त्रिजात एवं चातुर्जात अनेक आयुर्वेदीय योगों में पड़ते हैं।

तोदरी

नाम। हिं०, भारतीय वाजार–तोदरी। अ०–वज्रुल् खुमखुम्। फा०–तोदरी। अं०–पेपर ग्रास (*Pepper grass*), पेपरवर्ट (*Pepper wort*)। ले०–लेपीडिउम् ईवेरिस (*Lepidium iberis Linn*)।

वानस्पतिक कुल – सर्पप-कुल (क्रूसीफ़ेरे: *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण यूरोप से साइवेरिया तक तथा फारस में प्रचुरता से इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। भारतवर्ष (वम्वई) में वीजों का आयात मुख्यतः फारस से होता है। तोदरी वीज पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – ६ ग्राम से १२ ग्राम ६ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यह एक कँटीले क्षुद्र वनस्पति की छोटी-छोटी फलियों के प्रसिद्ध वीज हैं, जो रंग के विचार से तीन प्रकार के होते हैं—(१) लाल (सुर्ख), (२) पीला (जर्द) एवं (३) सफेद। सफेद तोदरी लाल भेद की अपेक्षया रंग में केवल कुछ हल्की लाल होती है। इसका भूरा भेद कभी-कभी काली तोदरी (तोदरी स्याह के नाम से वाजारों में मिलती है।) रूपरेखा में सभी प्रकार के तोदरी वीज मिलते-जुलते हैं, जो मसूराकार किन्तु उसकी अपेक्षा वहुत छोटे और चपटे होते हैं। सफेद तोदरी अपेक्षाकृत वड़ी और अधिक चपटी होती है। जल में भिगोने पर वीज लवाव के आवरण से आवृत हो जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – तोदरी वीजों को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन–वीजों में लवाव तथा तोदरिन या लेपिडिन (*Lepidin*) नामक अक्रिस्टलीय (*Amorphous*) तिक्त सत्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १-२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–वातपित्तशामक, कफघ्न, कफनिःसारक, वृष्य, वाजीकर, स्तन्यजनन, मूत्रल, वृंहण, वल्य आदि। इसका लेप रक्तिमाजनक (*Rubefacient*) होता है। यूनानी मतानुसार तोदरी दूसरे दर्जे में उष्ण और पहले में तर है। अहितकर–दाह और घवराहट उत्पन्न करती है। निवारण–क्वाथ करना और पानी से तर करना।

मुख्य योग – वाजीकर, वृष्य, वृंहण और स्तन्यजनन एवं श्लेष्मनिःसारक होने से कास और कृच्छ्रश्वास में यह अवलेह की भाँति उपयोग की जाती है। उरः फुफ्फुस को यह सान्द्र दोषों से शुद्ध करती है। शोथघ्न होने से इसका लेप सूजन उतारता है।

तरोई कड़वी (कोषातकी)

नाम। सं०-कोषातकी, कृतवेधन, मृदङ्गफल, जालिनी। हिं०-कटतुरइआ, कड़वी तुरई। बं०-तेंतो धुंदुल । गु०-कडवां तुरीआं। म०-कडु तुरई, कडुदोडकें, रानदोडकें (तुरई)। काठियावाड़-कडवी घीसोडी। अं०-बिटर लुफ्फा (*Bitter Luffa*)। ले०-लूफ़्फ़ा आकूटांगुला प्र० आमारा *Luffa acutangula* (L.) Roxb. *var amara*, (Roxb.) C.B. Cl.।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड-कुल (कुकुरबिटासे *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में कड़वी तुरई की लताएँ जंगली रूप से पायी जाती हैं। इसकी मीठी जाति (लूफ़्फ़ा आकूटांगुला (*Luffa acutangula* Roxb.) बोयी जाती है, और उसके फलों का व्यवहार तरकारी बनाने के लिए किया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – कड़वी तुरई या जंगली तुरई की लता भी उद्यानज या कर्षित (*Cultivated*) भेद की लता की ही भाँति होती है। किन्तु इसकी पत्तियाँ अपेक्षाकृत छोटी, पहले श्वेताभ एवं मृदुरोमश किन्तु प्रगल्भ पत्तियाँ कर्कश होती हैं। पुष्प भी मीठी तुरई की अपेक्षा छोटे होते हैं। फल भी अपेक्षाकृत छोटे (२ से ४ इंच लम्बे), अभि-अण्डाकार (*Obovoid*), दोनों सिरों पर कुछ शंक्वाकार (*Obtusely conical*), २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१½ इंच मोटे, शीर्ष से आधार तक जाने वाली दस उन्नत रेखाओं से युक्त होते हैं। स्फुटन में शीर्ष पर एक ढक्कनदार भाग अलग हो जाता है। अन्दर श्वेत सुषिर गूदा होता है, जिसमें खीरे की-सी हल्की गंध आती है। स्वाद में फल तिक्त होता है। अन्दर खाकस्तरी रंग के बीज निकलते हैं, जिनपर जगह-जगह छोटे-छोटे काले दाग-से होते हैं। लता का सम्पूर्ण भाग तिक्त होता है। अपेक्षाकृत पत्तियाँ अधिक तीती होती हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, फल एवं पुष्प।

मात्रा – वमनार्थ-१.२५ से १.८७५ ग्राम या १० से १५ रत्ती। अन्य कर्मों के लिए—३७५ से ६२५ मि० ग्रा० या ३-५ रत्ती। स्वरस–३ से ६ माशा।

संगठन – इसके बीजरहित सूखे फल में इन्द्रायन में पाये जाने वाले कोलोसिंथीन नामक सत्व के समान एक सत्व और एक कोषातकीन (लुफ्फीन *Luffein*) नामक सत्व होता है। बीज में गहरे भूरे या ललाई लिये भूरे रंग का स्थिर-तैल होता है।

वीर्यकालावधि – ३ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–उभयतोभागहर। प्रधान-कर्म–वामक, रेचक, (अल्प मात्रा में) कफनिस्सारक, रक्त शोधक, शोथहर, कफपित्तसंशोधन, कुष्ठनाशक।

मुख्य योग – चरक संहिता के कल्पस्थान अध्याय ६ में इसके अनेक कल्पों का उल्लेख है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० १) एकोनविंशति फलिनी ओषधियों में तथा (सू० अ० २ में कहे) वमनद्रव्यों में (कृतवेधन नाम से) और सुश्रुतोक्त ऊर्ध्वभागहर एवं उभतो-भागहर द्रव्यों में कोशातकी भी है।

त्रायमाण (गाफिस देशी)

नाम। सं०–त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिसानुजा। हिं० (सोलन–जिला शिमला)—कडू। (कश्मीर) नीलकण्ठ, तीता, त्रामाण। अं०–इण्डियन जेन्शन (*Indian Gentian*)। ले०–जेंटिआना कुर्रू (*Gentiana kurroo* Royle.)। यूनानी निघण्टुओं में गाफिस के लिए ही त्रायमाण नाम का उल्लेख मिलता है। किन्तु गाफिस वास्तव में इसी की विदेशीय जाति है, जो इससे पृथक् वनस्पति है, और फारस में होती है। इसका वैज्ञानिक नाम जेंटिआना डाहूरिका *Gentiana dahurica* Fisch. (पर्याय–जेंटिआना ओलीविएरी *Gentiana olivieri* Griseb) है। त्रायमाण को देशी गाफिस कह सकते हैं। किन्तु इसे ही गाफिस या गाफिस को ही त्रायमाण कहना उचित नहीं है।

वानस्पतिक कुल – किराततिक्तादि-कुल (जेंटिआनासे *Gentianaceae*)।

प्राप्तिस्थान – कश्मीर तथा उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश में १५२३ मी० से ३३३७ मी० (५,००० से ११,००० फुट) की ऊंचाई पर इसके क्षुप पाये जाते हैं। शिमला जिले के सोलन नामक स्थान में यह खनोग नामक पहाड़ी की चोटी पर होती है। वैश्नवी देवी (जम्मू के पास) के पहाड़ की चोटियों पर भी यह पैदा होती है। बाजारों में त्रायमाण के नाम से प्रायः अनेक भिन्न औषधियाँ मिलती हैं। अतएव उपर्युक्त वास्तविक त्रायमाण को उद्भव-क्षेत्र के ही व्यापारियों से प्राप्त करना चाहिए।

संक्षिप्त परिचय – त्रायमाण के कोमल काण्डीय छोटे-छोटे

क्षुप होते हैं, जो पहाड़ की चट्टानों के बीच-बीच गढ़ों में निकलते हैं। काण्ड १० से २५ सें० मी० या ४-१० इंच ऊंचा और शाखारहित होता है। इसका मूलस्तम्भ (*Rootstock* भौमिक काण्ड या राइजोम एवं जड़) ४-६ अंगुल गहरी पत्थरों के बीच में होती है। ऊपर ३-४ लम्बे पत्ते (*Radical leaves*) होते हैं, जो ७.५ सें० मी०–१२.५ सें० मी०×$\frac{५}{८}$ सें० मी० से $\frac{५}{४}$ सें० मी० (३ इंच–५ इंच ×$\frac{१}{४}$ से $\frac{१}{२}$ इंच) होते तथा चट्टान पर बिछे होते हैं। काण्ड की पत्तियाँ छोटी (२.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बी) और कम चौड़ी (रेखाकार *Linear*) होती हैं। पुष्प नीले रंग के किन्तु श्वेत बिंदुओं से चित्रित, ४.३७५ सें० मी० से ५ सें० मी० (१$\frac{३}{४}$ से २ इंच) लम्बे एवं व्यास में $\frac{१५}{८}$ सें० मी० या $\frac{३}{४}$ इंच होते हैं, जो अकेले (*Solitary*) या २-३ साथ-साथ निकलते हैं। आभ्यन्तर कोष (*Corolla*) वाह्य कोष (*Calyx*) की अपेक्षा दुगुना बड़ा होता है। वाह्य कोष ५ रेखाकार खण्डयुक्त, किन्तु आभ्यन्तर कोष के खण्ड लट्वाकार एवं नुकीले अग्रवाले होते हैं। पुष्पागम सितम्बर में होता है तथा फल (*Capsule*) आयताकार (*Oblong*), $\frac{५}{८}$ सें० मी० या $\frac{३}{४}$ इंच तक लम्बा एवं $\frac{१}{२}$ सें० मी० या $\frac{१}{५}$ इंच चौड़ा होता है। बीजों की लम्बाई चौड़ाई से दुगुनी होती है।

उपयोगी अंग – शुष्क मूलस्तम्भ (जड़ एवं राइजोम) तथा पचाङ्ग।

मात्रा – चूर्ण–३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
स्वरस–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – त्रायमाण (जेंटिआना कुर्रु) का मूलस्तम्भ बहुवर्षायु स्वरूप का होता है, और जमीन के अन्दर फैलता है। जड़ मटमैले सफेद रंग की होती है, जिसका शीर्ष (अग्र) ग्रंथिल (*Knotty*) सा होता है, जहाँ से बेलनाकार (*Cylindrical*) कुछ-कुछ चतुष्कोणाकार (*Bluntly quadrangular*) ७.५ से १५ सें० मी० या ३-६ इंच लम्बे, खड़े अनेक भौमिक काण्ड या राइजोम (*Erect rhizomes*) निकले होते हैं। ओषधि में राइजोम का ही भाग अधिक होता है। राइजोम के प्रत्येक पार्श्व पर एक कतार में टूटे हुए सूत्राकार उपमूलों (*Rootlets*) के चिह्न होते हैं। मूल एवं राइजोम कुछ टेढ़े-मेढ़े (*Twisted*) तथा वाह्य तल पर अनुलम्ब दिशा में झुर्रीदार (*Longitudinally wrinkled*) होते हैं। केवल राइजोम अग्र की ओर अनुप्रस्थ दिशा में मुद्रिकाकार, झुर्रीदार (*Annulate and transversely wrinkled*) होते हैं। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर एधा-रेखा (*Cambium line*) स्पष्ट मालूम होती है, जिसके बाहर की ओर पीताभ भूरे रंग का त्वक् (*Bark*) का भाग तथा अन्दर या केन्द्र की ओर काष्ठीय भाग होता है, जो बनावट में विरल या सरंध्र (*Porous*) होता है; तथा तन्तु कुछ अरवत् (*Radiate*) स्थित होते हैं। राइजोम का काष्ठीय भाग कुछ चतुष्कोणाकार होता है। राइजोम तथा मूल दोनों ही स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं। त्रायमाण (देशी जेन्शन) भी स्वाद एवं गंध में विदेशी त्रायमाण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं; और जल-विलेय सत्व (*Aqueous extract*) कम-से-कम २०% तथा भस्म अधिकतम २% प्राप्त होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – त्रायमाण (जेंटिआना कुर्रु) में कुटकी (पीक्रोर्हीज़ा कुर्रोआ *Picrorhiza kurroa Linn. Family : Scrophulariaceae*) तथा जेंटिआना की अन्य जातियों यथा जेंटिआना डेकुम्बेन्स (*Gentinaa decumbens Linn. f.*) तथा जेंटिआना टेनेल्ला (*G. tenella Fries*) आदि की जड़ों का मिलावट किया जाता है। आपाततः देखने में तथा स्वाद में उक्त जड़ें त्रायमाण की जड़ों से कुछ-कुछ मिलती हैं, और इनका उद्भव क्षेत्र भी प्रायः वही है। वक्तव्य—भारतीय बाजारों में अन्य अनेक जड़ें भी त्रायमाण के नाम से बेची जाती हैं, किन्तु त्रायमाण के नाम से इनका ग्रहण नहीं होना चाहिए। (१) फा०– जरीर। बम्ब० बाजार–गुल जलील। ले०–डेल्फीनिउम ज़लील *Delphinium zalil Ait.* (*Family : Ranunculaceae*); (२) ममीरा (*Coptis teeta*); एवं (३) ममीरी (*Thalictrum foliolosum*) आदि वत्सनाभ कुलीय वनस्पतियों की जड़ें भी कभी-कभी त्रायमाण के नाम से बेची जाती हैं; किन्तु इनको त्रायमाण मानना भ्रमपूर्ण है। (४) बंगीय त्रायमाणा–*Ficus heterophylla Linn.* (मुड़डुमुर) के शुष्क फलों (बलाडुमुर) को बंगीय वैद्य त्रायमाणा के नाम से ग्रहण करते हैं। कोई-कोई बनफशा (वनपुष्पा) को त्रायमाणा मानते हैं। किन्तु त्रायमाणा के नाम से इन द्रव्यों का ग्रहण करना नितान्त भ्रमपूर्ण ही है।

संग्रह एवं संरक्षण – त्रायमाण की जड़ों का संग्रह सितंवर के महीने में पुष्पागम होने के वाद करना चाहिए और इन्हें मिट्टी आदि से साफ कर छायाशुष्क करके मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – त्रायमाण की जड़ों में एक तिक्त सत्व तथा २०% तक पीले रंग का रेज़िन पाया जाता है। अन्य नकली प्रजातियों में रेजिन का अभाव होता है, या यह कम मात्रा में पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – ३ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, पित्तसंशोधन, दीपन, आमपाचन, पित्तसारक, कटु पौष्टिक, अनुलोमन, रेचन, कृमिघ्न, रक्तशोधक, शोथहर, मूत्र–स्वेदजनन, ज्वरघ्न, आर्त्तवजनन, स्तन्यशोधन, कुष्ठघ्न। वाह्य प्रयोग से व्रणशोधन, रोपण, एवं केश्य होता है। वक्तव्य—त्रायमाण, विलायती जेन्शन जेंटिआना लूटेआ (*Gentiana lutea Linn.*) की उत्तम प्रतिनिधि औषधि है।

विशेष – चरकोक्त (वि० अ० ८) तिक्तस्कन्ध एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) लाक्षादि गण में त्रायमाणा भी है।

दन्ती

नाम। सं०–दन्ती, प्रत्यक्श्रेणी, उदुम्वरपर्णी, निकुम्भा। हिं०–दंती। म०–दांती। मुंगेर–ताँम्वा। ले०–वालिओस्पेर्मुम मोंटानुम *Baliospermum montanum* (*Willd.*) *Muell. Arg.* (पर्याय–*B. axillare Bl.*)।

वानस्पतिक कुल – एरण्ड-कुल (एउफ़ार्विआसे : *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की वाहरी पर्वत श्रेणियों में कश्मीर से भूटान तक (९१४.४ मीटर या ३,००० फुट की ऊंचाई तक) तथा आसाम, खसिया की पहाड़ियों, वंगाल, विहार, मध्यभारत, दक्षिण भारत में ट्रावन्कोर तक दंती के जंगली क्षुप पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – दंती के गुल्म (*Undershrub*) ०.९ से १.८ मीटर या ३-६ फुट तक ऊंचे, तथा अनेक मूलोद्भूत शाकीय शाखाओं से युक्त और काष्ठीय मूलस्तम्भ वाले होते हैं। पत्तियाँ सवृन्त (वृन्त ५ से १५ सें० मी० या २-६ इंच लम्वे) तथा एकान्तर क्रम से स्थित और नीचे से ऊपर तक इनके कद और आकार में प्रायः वड़ी भिन्नता होती है। ऊपर की ओर की पत्तियाँ प्रायः छोटी, मालाकार या पक्षाकार शिराजाल युक्त और नीचे की ओर की लट्वाकार, वहुत वड़ी और प्रायः करतलाकार ३-५ विच्छेदों वाली होती हैं। इनकी कुछ पत्तियाँ उदुम्वर पत्र सदृश होती हैं। पुष्प एक लिंगी, छोटे तथा हरिताभ वर्ण के होते हैं। पुं०–पुष्प एवं स्त्रीपुष्प प्रायः एक ही पौधे पर (*Monoecious*) पाये जाते ह। पुष्पवृन्त $\frac{१}{४}$ सें० मी० से $\frac{३}{८}$ सें० मी० ($\frac{१}{१०}$ से $\frac{३}{२०}$ इंच) लम्वे तथा मंजरियों पर गुच्छवद्ध होते हैं। मंजरियाँ ऊपर की पत्तियों के कोणों से निकलती हैं, जिनपर थोड़ी-थोड़ी जगह छोड़ कर पुष्प गुच्छवद्ध (*Interrupted racemes*) होते हैं। पुं०–पुष्प एवं स्त्री-पुष्प प्रायः दोनों में ही आभ्यन्तर कोष का अभाव होता है। नर पुष्पों में पुंकेशर संख्या में १५-२० होते हैं तथा स्त्री पुष्पों मे कुक्षिवृन्त (*Style*) काफी मोटी, द्वि-विभक्त तथा मटमैले लाल रंग की होती है। फल (*Capusule*) $\frac{३}{४}$ सें० मी० से $\frac{११}{८}$ सें० मी० ($\frac{३}{१०}$ से $\frac{१}{२}$ इंच) तक लम्वा, किंचित् रोमश तथा तीन-खण्डों वाला (*3-lobed*) होता है), जिनमें ३ वीज निकलते हैं। उक्त वीज भूरी वाह्य वृद्धि से युक्त होते ह और आपाततः देखने में एरण्डवीजवत् मालूम होते हैं। दन्ती में प्रायः वर्षभर फूल-फल मिलते हैं। मूल एवं दंतीवीज का उपयोग चिकित्सा में होता है, जो भेदन एवं रेचन होते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, वीज एवं पत्र।

मात्रा – मूलचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा। वीज – १२५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० $\frac{१}{२}$ से १ रत्ती।

संग्रह एवं संरक्षण – दन्ती मूल एवं वीजों को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में पृथक् विषैली औषधियों के साथ रखें और उस पर एक लेविल भी लगा देना चाहिए।

संगठन – दंतीमूल में राल (रेजिन) तथा स्टार्च होता है। वीजों में एक स्थिर तैल प्राप्त होता है। इसका आपेक्षिक गुरुत्व (*s. g. at* 15°)–०.९३८ से ०.९४३। सेपोनिफिकेशन वैल्यू–२०७ से २१५।

वीर्यकालावधि – मूल–१ वर्ष। वीज एवं तैल–दीर्घकाल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफपित्तहर, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, विरेचन, कृमिघ्न, शोथहर, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, विकाशी, विषघ्न, कुष्ठघ्न, अश्मरीनाशन।

मूल एवं बीज का लेप शोथहर एवं वेदनास्थापन होता है। इसके प्रयोग से पेट में मरोड़ तथा हृल्लास आदि लक्षण होते हैं। मात्रातियोग होने पर क्षोभक तथा मादक लक्षण होते हैं। मरोड़ एवं हृल्लास आदि के निवारण के लिए इसे सौंफ आदि सुगंधित द्रव्यों के साथ क्वाथ बना कर देना चाहिए। मात्रातियोगजन्य उपद्रवों के प्रगट होने पर मधुर स्निग्ध पदार्थ, शर्बत, दूध आदि का सेवन करें।

उपयोग – दन्तीबीज एवं बीजोत्थ तेल जयपाल (जमालगोटा) तथा जयपाल तेल की भाँति तीव्र रेचन होते हैं। दंतीमूल शोथघ्न, भेदन एवं ज्वरघ्न होता है। दंतीमूल से यकृत् की क्रिया सुधर कर दूषित पित्त मल द्वारा निकल जाता है। विबन्धयुक्त ज्वर में भी यह लाभप्रद होता है। जलोदर, हृदयोदर, यकृदुदर और वृक्कोदर आदि उदररोगों में तथा कामला में दंतीमूल का प्रयोग विरेचनार्थ एवं दोषनिर्हरण के लिए किया जाता है। शरीर-उपापचय क्रिया (*Metabolic processes*) की विकृति से उत्पन्न दोषों के संचय से नाना प्रकार के त्वचा रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्थाओं में दंतीमूल का क्वाथ देने से दोषों का निर्हरण होता तथा क्रिया में सुधार होकर विकृतियों का शमन होता है। यकृन्मन्दताजन्य अग्निमांद्य तथा अर्श एवं कृमिरोग में भी इसका व्यवहार किया जाता है। अश्मरीरोग, रक्तविकार एवं सर्वांगशोफ में भी दन्ती का प्रयोग उपयोगी है। शोथ, वेदना, अर्श आदि में दन्तीमूल का स्थानिक प्रयोग लेप के रूप में किया जाता है। वातव्याधि एवं आमवातादि में तेल के मिश्रण का व्यवहार अभ्यंग के लिए करते हैं।

मुख्य योग – दन्त्यरिष्ट, दन्त्यादिचूर्ण, दन्तीहरीतकी। चरक कल्प स्थान अ० १२ में दन्ती के अनेक कल्पों का उल्लेख है।

विशेष – चरक संहिता में दन्ती, द्रवन्ती एवं नागदन्ती इन तीनों का एकत्र उल्लेख मिलता है। दन्ती और द्रवन्ती का चरक और सुश्रुत में प्रायः साथ ही उल्लेख पाया जाता है। उक्त तीनों ओषधियाँ गुण-कर्म की दृष्टि से प्रायः बहुत-कुछ समानता रखती हैं। दन्ती का वर्णन किया गया है। (नागदन्ती) नाम। सं०–हस्तिदन्ती, नागदन्ती। म०–घणसर। मुंगेर–पोतेर, पुतेर। राँची–पुतरी। खर०–भैंसवान। को०–कुटीर। ले०–क्रोटॉन आवलांगीफोलिउस *Croton oblongifolius Roxb.* (*Family : Euphorbiaceae*)। नागदन्ती के छोटे वृक्ष होते हैं, जो हिमालय की तराई में अवध से लेकर पूरब में बिहार, बंगाल, सिलहट आदि तथा मध्य भारत एवं दक्षिण भारत में प्रचुरता से पाये जाते हैं। नागदन्ती के मध्यम ऊंचाई के वृक्ष होते हैं, जिसकी पत्तियाँ शाखाओं पर समूहबद्ध पायी जाती हैं। यह सवृन्त, ५-१० इंच लम्बी, रूपरेखा में आयताकार–भालाकार तथा दन्तुर धार वाली होती हैं। पुष्प छोटे, हरित-पीत एवं एकलिंग ५-१२ इंच लम्बी मंजरियों में लगते हैं। फल $\frac{३}{१०}$ इंच लम्बे तथा गोलाई लिये तीन खण्डों वाले मालूम होते हैं। बीज चिकने और भूरे होते हैं। औषधि में इसके बीज एवं मूलत्वक् का व्यवहार होता है। द्रवन्ती के विषय में अभी तक कोई निश्चित मत स्थापित नहीं हो सका है।

दरियाई नारियल – दे०, 'नारियल'।

दारुहल्दी

नाम – (१) काष्ठ। सं०–दारुहरिद्रा, कटङ्कटेरी, पचम्पचा, दार्वी। हिं०–दारुहलदी। जौनसार–काशमोइ। गढ़०–किंगोरा। बं०–दारुहरिद्रा। ने०–चित्रा, कष्मल। म०–दारुहलद। गु०–दारुहलदर। अ०–दारहल्द। फा०–दारचोबा। ले०–बेर्बेरिस आरिस्टाटा (*Berberis aristata DC.*)। (२) फल। हिं०–जरिष्क। फा०–ज़रिष्क, ज़िरिष्क। अ०–अम्बरबारीस। अं०–बरबरी फ्रूट या बेरीज़ (*Barberry fruit or berries*)। (३) रसक्रिया। हिं०–रसवत, रसौत। सं०–रसाञ्जन। म०, बं०–रसाञ्जन। गु०–रसवंती। ने०–रसवंती। बेर्बेरिस आरिस्टाटा नाम इसके गुल्म का है।

वानस्पतिक कुल – दारुहरिद्रा-कुल (बेर्बेरिडासे *Berberidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय प्रदेश में १८२९ मीटर से ३०४६ मीटर या ६,०००–१०,००० फुट की ऊंचाई तक (विशेषतः नेपाल में) दारुहरिद्रा की स्वयंजात झाड़ियाँ पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त यह बिहार, पारसनाथ की पहाड़ी एवं नीलगिरी में भी पायी जाती है। इसकी अन्य कई जातियाँ भी हैं, जिनका प्रयोग दारुहरिद्रा की ही भाँति होता है। इनमें तीन जातियाँ मुख्य हैं—(१) बेर्बेरिस आशिआटिका (*Berberis asiatica Roxb.*)

(२) वेर्बेरिस लीसिउम् (*B. lycium Royle*) तथा (३) वेर्बेरिस चित्रिआ (*B. Chitria Lindl.*)। ये जातियाँ भी हिमालय प्रदेश में पाई जाती हैं। बाजारों में सर्वत्र इसका काष्ठ एवं मूल (जो पीले रंग का होता है) दारु-हल्दी के नाम से तथा रसक्रिया रसवत के नाम से और फल जरिष्क या झरिष्क के नाम से मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय–दारुहरिद्रा के १.५ मीटर से ४.५–५.४ मीटर (५ से १५–१८ फुट) ऊँचे कँटीले क्षुप या गुल्म होते हैं, जिनके काण्डस्कन्ध व्यास में २० सें० मी० या ८ इंच तक मोटे होते हैं। शाखा प्रशाखाएँ संख्या में अधिक तथा श्वेताभ या पीताभ खाकस्तरी रंग की, पत्तियाँ ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच लम्बी, मोटी, मजबूत तथा चौड़ी–अभिलट्वाकार, अधस्तल पर खाक-स्तरी, दृढ़-स्पष्ट शिराविन्यासयुक्त तथा दूर-दूर पर तीक्ष्ण काँटों से युक्त होती हैं। पत्रतट सरल (अखण्डित) या दूर-दूर दन्तुर होता है। पुष्प व्यास में $\frac{1}{2}$ सें० मी० या $\frac{1}{5}$ इंच हल्के पीले रंग के होते हैं, जो सघन, समशिख-सी मंजरियों में निकलते हैं। फल या बेरी (*Berries*) १ सें० मी० से $\frac{1}{2}$ सें० मी० या $\frac{2}{5}$ से $\frac{1}{2}$ इंच तक लम्बे, अंडाकार, नीले या कृष्णाभ वर्ण के और रजावृत होते हैं, तथा खाने में रुचिकर एवं खटमिट्ठे होते हैं। पुष्पागम बसन्त में तथा फलागम गर्मियों में होता है। फल (जरिष्क) मृदु सारक होते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, काण्डकाष्ठ, फल, रसवत।

मात्रा – फल (जरिष्क) —६ ग्राम से १२ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।
रसवत —$\frac{1}{2}$ ग्राम से १ ग्राम या $\frac{1}{2}$ से १ माशा (ज्वरघ्न २ माशा)।
दारुहल्दी —३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – काण्ड–बाजार में दारुहल्दी के छोटे-बड़े खण्ड बिकते हैं। छाल कार्कयुक्त (*Corky*) एवं हल्के भूरे रंग की होती है। छाल के नीचे अश्म कोषाओं (*Stony cells*) का स्तर पाया जाता है। केन्द्रस्थ भाग सघन कोषाओं का होता है, जिसमें स्टार्च के कण पाये जाते हैं। दारुहल्दी की लकड़ी, हल्दी के समान पीले रंग की स्वाद में तिक्त एवं मंद गंधयुक्त होती है। इसमें पीले रंग का जल में घुलनशील एक रञ्जक तत्त्व पाया जाता है। मूल–दारुहल्दी की जड़ छोटे-बड़े पीताभ भूरे रंग के बेलनाकार एवं ग्रंथिल टुकड़ों के रूप में होती है। मूलत्वक् अन्दर से गाढ़े भूरे रंग की किन्तु बाहर हल्के भूरे रंग की, स्वाद में अत्यन्त तिक्त और मुलायम होती है, जो तोड़ने पर भुरभुरी टूटती है। काष्ठीय भाग जम्बीरवत् पीले रंग का होता है। काष्ठ में प्रायः मज्जक (*Pith*) का अभाव होता है, किन्तु जब पाया जाता है, तो यह चमकीले पीले रंग का होता है। दारुहरिद्रा चूर्ण चमकीले पीले रंग का होता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम–२% होते हैं और काण्ड का भाग अधिकतम ५%। अम्ल में अविलेय भस्म–अधिकतम २%। ऐल्कलायड्स की सकल मात्रा–कम से कम १%। जरिष्क–जरिष्क प्रायः परस्पर चिपके होने के कारण छोटे-बड़े कृष्णाभ पिण्डों के रूप में आता है। अधिकांश फलों में बीज नहीं होता। बीज लम्बगोल या आयताकार और $\frac{3}{5}$ सें० मी० या $\frac{3}{10}$ इंच तक लम्बे होते हैं। जरिष्क स्वाद में खटमिट्ठा होता है। रसवत–यह दारुहरिद्रा मूल एवं काण्ड के अधःभाग के काष्ठ से रसक्रिया द्वारा बनाया घन सत्व होता है, जो कृष्णाभ पीत वर्ण के अनियमित स्वरूप के पिण्डाकार टुकड़ों के रूप में मिलता है। स्वाद में रसवत कसैलापन लिये तिक्त होता है। जल में यह तुरंत घुल जाता है, जिससे पीले रंग का विलयन प्राप्त होता है। इस विल-यन में और अधिक जल मिलाने से चमकीले पीले रंग का हो जाता है। अरबी में इसे हुजुज़ कहते हैं। अरबी रसवत हुजुज़मक्की के नाम से मिलता है। बाजारू रसवत में प्रायः अपद्रव्य भी मिले होते हैं। अतएव प्रयोग के पूर्व इसका शोधन कर लेना चाहिए।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, दारुहरिद्रा एवं जरिष्क का प्रधान प्राप्ति साधन वेर्बेरिस आरिस्टाटा जाति है; किन्तु साथ ही साथ इसकी अन्य जातियाँ (*Species*) भी पायी जाती हैं, जो स्वरूपतः उक्त प्रजाति से बहुत मिलती-जुलती हैं और प्रायः उन्हीं नामों से अभिहित भी की जाती हैं। अतएव संग्रह में इनके मिलावट की संभावना भी रहती है। इनमें कतिपय का रासायनिक संघटन भी न्यूनाधिक रूप से वेर्बेरिस आरिस्टाटा की ही भाँति है:—(१) वेर्बेरिस चित्रिआ (*B. Chitria Lindl.*) यह भी

काशमोई (जौनसार) तथा किंगोरा (गढ़वाल) नामों से प्रसिद्ध है और ६,०००—६,००० फुट की ऊंचाई के प्रदेशों में पायी जाती है। शाखाएँ प्रायः गहरे लाल रंग की होती हैं तथा फल लाल और रजहीन, पत्तियाँ चर्मवत्, शिराजाल अस्पष्ट, दोनों पृष्ठों पर कुछ-कुछ चमकदार और पुष्पमञ्जरी सशाख होती हैं। इसमें पुष्प एवं फल, आरिस्टाटा जाति की अपेक्षा कुछ पहले ही होता है। इससे भी दारुहरिद्रा एवं जरिष्क प्राप्त किया जाता है। (२) बेर्बेरिस आशिआटिका (*B. asiatica Roxb. ex. DC.*) इसको भी देहरादून एवं गढ़वाल आदि में किंगोरा कहते हैं। पहली की अपेक्षा यह जाति प्रायः कम ऊंचाई के क्षेत्रों में (६१४ मीटर से १५२३ मीटर या ३,०००—५,००० फुट कभी-कभी १८,००—२,००० फीट में भी) पायी जाती है। इसका काष्ठभाग भी दारुहरिद्रा की भाँति पीत वर्ण का होता है। पत्तियाँ चिकनी, अखण्ड या कण्टकी दन्तुर धार वाली और २.५ से ७.५ सें० मी० (१—३ इंच) लम्बी होती हैं। इसके ऊपर निःशाख अथवा पाँच तक शाखाओं से युक्त काँटे और पीले पुष्प होते हैं, जिनके बाह्य एवं आभ्यन्तर कोश दोनों में ३—३ दलों के दो-दो चक्र होते हैं। फल (*Beries*), अंडाकार, १ से ५/४ सें० मी० (३/८—१/२ इंच) तक व्यास के तथा काले या बैंगनी नीले रंग के और खटमिट्ठे होते हैं। इसके फलों एवं काष्ठ का भी संग्रह जरिष्क एवं दारुहरिद्रा के नाम से किया जाता है। (३) बेर्बेरिस लीसिउम (*B. lycium Royle.*) यह भी जौनसार में 'चतरोई' एवं 'काशमाल' नामों से प्रसिद्ध है। इसके क्षुप अपेक्षाकृत छोटे और समूहबद्ध ३,०००—७,००० फुट की ऊंचाई के क्षेत्रों में पाये जाते हैं। चकरौता तथा मसूरी के नीचे इसके क्षुप प्रचुरता से मिलते हैं। इसका उपयोग भी उपर्युक्त दोनों जातियों की ही भाँति होता है।

संग्रह एवं संरक्षण — दारुहल्दी का संग्रह वर्षा के बाद में कर, उसको मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। रसवत एवं झरिष्क को चौड़े मुँह की शीशियों में अच्छी तरह डाटबंद करके अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। नमी से बचाना चाहिए।

संगठन — दारुहरिद्रा में बर्बेरीन (*Berberine* $C_{20}H_{10}NO_{6}$), ऑक्सी-अकेन्थीन एवं बर्बेमीन तथा अन्य अनेक ऐल्कलाइड्स पाये जाते हैं, किन्तु इनमें बर्बेरीन ही विशेष महत्त्व का है। बर्बेरीन के पीले रंग के सूच्याकार छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं, जो ठंढे जल में भी सुविलेय होते हैं। इसका जलीय विलयन स्वाद में तिक्त तथा लिटमस की प्रतिक्रिया में उदासीन (*Neutral*) होता है। जरिष्क में चिञ्चाम्ल या टार्टरिक एसिड (*Tartaric acid*) एवं सेवाम्ल या मेलिक एसिड (*Malic acid*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि — जरिष्क—१ वर्ष।
रसवत एवं दारुहरिद्रा—कई वर्ष तक।

स्वभाव — गुण—लघु, रुक्ष। रस—तिक्त, कषाय। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। फल (झरिष्क)—मधुर-अम्ल रसयुक्त एवं शीतवीर्य होता है। रसवत—तिक्तरसप्रधान एवं शीतवीर्य होता है। कर्म—कफपित्तहर, (फल) पित्तशामक; स्थानिक प्रयोग से दारुहरिद्रा एवं रसवत शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन एवं व्रणरोपण तथा चक्षुष्य होते हैं। मौखिक सेवन से दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, ग्राही (अधिक मात्रा में मृदुरेचन), रक्तशोधक; (रसाञ्जन) रक्तस्तम्भक, कटु पौष्टिक, ज्वरघ्न, विषमज्वर—प्रतिबन्धक, कफघ्न, गर्भाशय के शोथ एवं स्राव को रोकने वाला है। यूनानी मतानुसार दारुहल्दी पहले दर्जे में शीत एवं रूक्ष तथा रसवत (उसारए दारहलद) एवं जरिष्क दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष (खुश्क) होते हैं। अहितकर (दारुहलदी)—उष्ण प्रकृति के लिए; रसवत—प्लीहारोग में; जरिष्क—कफप्रकृतिवालोंके लिए। (निवारण)—दारुहलदी—बिजौरा या नारंगी का अर्क; (रसवत)—अनीसून; (जरिष्क)—शर्करा और लौंग। दारुहलदी एवं रसाञ्जन दोनों व्रणशोधन एवं व्रणरोपण होते हैं। वेदनायुक्त शोथों पर इनका लेप के रूप में प्रयोग किया जाता है। नेत्राभिष्यंद में रसवत को गुलाब जल में घोल-छान कर उक्त द्रव को आँखों में डालने से उपकार होता है। नेत्रशोथ में पलकों पर भी रसाञ्जन का लेप किया जाता है। लेपार्थ, रसौत, फिटकरी, और अफीम को नीबू के रस में पीस कर व्यवहृत किया जाता है। श्वेत प्रदर और गर्भाशय की शिथिलता से उत्पन्न अत्यार्तव में दारुहलदी का क्वाथ या रसौत मुख द्वारा तथा उत्तरवस्ति के रूप में व्यवहृत करने से लाभ होता है। थोड़ी मात्रा में दारुहलदी कटु पौष्टिक, दीपन और सौम्य ग्राही है। बड़ी मात्रा में जोरदार स्वेदल, ज्वरहर और मृदुरेचक है। बड़ी मात्रा में यह पर्यायज्वर प्रतिबंधक होती है, तथा इसकी क्रिया कुनैन की भाँति होती

है। फिरंग, उपदंश, गंडमाला, अपची, नाड़ीव्रण, भगन्दर, व्रण और विसर्प में भी दारुहलदी से लाभ होता है। एतदर्थ इसको स्थानिक तथा मौखिक दोनों प्रकार से व्यवहृत करते हैं। रक्तार्श, रक्तप्रदर आदि में रसवत को अकेले अथवा नागकेशर या खूनखराबा आदि अन्य रक्तस्तम्भक द्रव्यों के साथ देने से लाभ होता है। जरिष्क पित्तसंशमन एवं रक्तोद्वेगसंशमन है। यह उष्ण यकृदामाशय के संताप को शमन करता है। पित्तज रोगों में विशेषकर पित्तज ज्वरों को शमन करने तथा वमन एवं उत्क्लेश निवारण के लिए इसे अर्क में पीस-छान पिलाते हैं। पित्तज प्रकृति के लोगों के लिए तथा पैत्तिक रोगी में इसको आहार में मिला कर भी खिलाते हैं।

वक्तव्य – बर्वेरीन सल्फेट का उष्णकटिबन्धज व्रण (*Tropical ulcer and Delhi sore*) में अधस्त्वक् एवं अन्तस्त्वक् इंजेक्शन करने से बहुत लाभ होता है। इसके एम्पूल्स सम्प्रति बाजारों में मिलते हैं।

मुख्य योग – दार्व्यादि क्वाथ, दार्व्यादि लेह, दार्व्यादि तैल। जरिष्क के योग – सफ़ूफ जरिष्क, जुवारिश जरिष्क, क़ुर्स जरिष्क।

विशेष – (१) रसाञ्जन निर्माणविधि–दारुहलदी के छोटे-छोटे टुकड़े करके १६ गुने जल में उबालें। जब चतुर्थांश शेष रहे, उतार कर छान लें। इसमें पुनः बराबर मात्रा में गाय या बकरी का दूध मिला कर पुनः मन्दाग्नि पर पाक करें। जब गाढ़ा हो जाय उतार लें। यही रसाञ्जन या रसवत है।

(२) रसाञ्जन शोधन–बाजारू रसवत में प्रायः अपद्रव्य भी काफी मिला होता है। अतएव इसको शुद्ध करके ही व्यवहृत करना चाहिए। एतदर्थ इसे चौगुने पानी में घोल कर १–२ घंटा रख छोड़ें। अब ऊपर का पानी निथार, कपड़े से छान कर मंदाग्नि पर रसक्रिया जैसा गाढ़ा कर लें।

(३) चरकोक्त (सू० अ० ४) लेखनीय, अर्शोघ्न तथा कण्डूघ्न गण एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) हरिद्रादि, मुस्तादि एवं लाक्षादि गण के द्रव्यों में दारुहरिद्रा भी है।

दालचीनी (त्वक्) एवं तज

नाम। (१) छाल–सं०– त्वक्, गुड़त्वक्। हि०–दालचीनी। म० दालचीनी। बं०–दारुचिनि। अ०–दारसीनी, क़िर्फ़ा। फा०–दारचीनी। अं०–सिन्नेमन् (*Cinnamon*), सिन्नेमन् बार्क (*Cinnamon Bark*)। ले०–सीन्नामोमुम् *Cinnamomum* (*Cinnam.*), सीन्ना मोमी कॉर्टेक्स (*Cinnamomi Cortex.*)।

(२) तेल – हि०–दालचीनी का तेल। फा०–रोग़न दारचीनी। अं०–ऑयल ऑव सिन्नेमन् (*Oil of Cinnamon.*)। ले०–ओलेउम सिन्नामोमी *Oleum Cinnamomi* (*Ol. Cinnam.*)।

(३) वृक्ष – सीन्नामोमुम जेइलानिकुम *Cinnamomum Zeylanicum Nees.*।

वानस्पतिक कुल – कर्पूर-कुल (लाउरासे *Lauraceae*)।

प्राप्तिस्थान – मूलतः यह लंका का वृक्ष है। लंका, दक्षिण भारत, सिचेलीज द्वीप (*Seychelles*), जावा, जमैका आदि में जंगली रूप से भी पाया जाता है। उक्त स्थानों में इसकी खेती की जाती है। उत्तम छाल लगाये हुए वृक्षों की होती है। इनमें भी लंका की दालचीनी सर्वोत्तम होती है। बाजारों में यह सिंहली दालचीनी (*Ceylon Cinnamon*) के नाम से मिलती है। अधुना फ्रेंच गायना, ब्रेजिल एवं पश्चिमी द्वीपसमूह में भी इसकी खेती होने लगी है।

संक्षिप्त परिचय – दालचीनी के मध्यम कद के सदाहरित वृक्ष होते हैं, जिसकी टहनियाँ चपटी एवं चिकनी होती हैं। पत्तियाँ अभिमुख या लगभग अभिमुख (कभी-कभी एकान्तर), कड़ी एवं चर्मिल, ७.५ से २० सें० मी० या ३–८ इंच लम्बी, ३.७५ से ७.५ सें० मी० १½ से ३ इंच तक चौड़ी, लट्वाकार या लट्वाकार भालाकार, अग्र कुछ नुकीला, आधार की ओर गोलाकार अथवा उत्तरोत्तर कम चौड़ी, ऊर्ध्व पृष्ठ पर चिकनी और चमकदार तथा अधःपृष्ठ पर फीके रंग की तथा सुगंधित होती हैं। पर्णवृन्त १.२५ से २.५ सें० मी० (½–१ इंच) तक लम्बे होते हैं। पुष्प धूसर वर्ण के होते हैं, जो नम्य मंजरियों (*Lax panicles*) में निकलते हैं। फल १.२५ से २.५ सें० मी० (½–१ इंच) तक लम्बे, रूपरेखा में लम्बगोल या अंडाकार-आयताकार, गहरे बैंगनी रंग के तथा परिदल-पुन्ज (सवर्ण कोष) से अंशतः आवृत होते हैं। लगाये हुए १–२ वर्ष पुराने पौधों को जड़ के पास से काट दिया जाता है, जहाँ से अनेक सीधी नयी शाखाएँ निकलती हैं। इन्हीं शाखाओं की सुखाई हुई अन्तर्छाल औषधि में (*dried*

inner bark of the shoots of coppiced trees) प्रयुक्त होती है। उक्त छाल से आसवन द्वारा एक उड़नशील तेल भी प्राप्त किया जाता है, जिसे दालचीनी का तेल कहते हैं।

उपयोगी अंग – त्वक् (दालचीनी) एवं तैल (दालचीनी का तेल)।

मात्रा – त्वक् चूर्ण–½ ग्राम से २ ग्राम या ४ रत्ती से २ माशा।

तैल–१ से ३ बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) छाल (दालचीनी)–स्वाभाविक रूप में दालचीनी की छाल ०.६ मीटर से १.८ मीटर या ३ से ६ फुट तक लम्बी, व्यास में १ सें० मी० (⅜ इंच) तथा एक दूसरे पर लिपटी हुई (*Single or double, closely packed compound quills*) होती है। वाह्यतः यह मटमैले पीताभ भूरे रंग की (*Dull yellowish-brown*) होती है, जिस पर अनुलम्ब दिशा में अनेक फीके रंग की सूक्ष्म लहरदार रेखाएँ होती हैं। जगह-जगह छोटे-छोटे चिह्न (*Scars*) एवं छिद्र भी पाये जाते हैं। कहीं-कहीं वाह्य छाल का अंश भी लगा हुआ (*Patches of Cork*) मिल जाता है। अन्तस्तल गाढ़े रंग का तथा अनुलम्ब दिशा में सूक्ष्म रेखांकित (*Longitudinal striations*) होता है। वाजारों में इनके तोड़े हुए छोटे-वड़े टुकड़े मिलते हैं, जो ½ मिलिमिटर ($\frac{1}{50}$ इंच) तक मोटे होते हैं। यह टुकड़े अत्यन्त भंगुर (*Brittle*) होते हैं और तोड़ने पर खट से चप्पड़ की भाँति टूटते हैं (*Fracture splintery*)। दालचीनी में एक विशिष्ट प्रकार की मनोरम सुगंधि पायी जाती है, तथा मुख में चावने पर स्वाद में मीठी, तीक्ष्ण एवं सुगंधित होती है, तथा मुँह में कुछ उष्णता का अनुभव होता है। उत्तम दालचीनी में उड़नशील तेल (दालचीनी का तेल) कम से कम १% (*V/W*) तक पाया जाता है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम–२%। भस्म–अधिकतम ७%। अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम २%।

स्थानापन्न द्रव्य एवं मिलावट – व्यावसायिक लम्बे टुकड़ों की तैयारी में उनके टूटे हुए छोटे टुकड़ों (*Quillings*) को पृथक् संग्रहीत कर वेचा जाता है। यह भी प्रायः नं० १ के टुकड़ों की ही भाँति होते हैं, किन्तु इनमें उड़नशील तेल की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। विना छिली हुई छाल के टुकड़ों अर्थात् छिप्पी या चैली (*Cinnamon chips*) में कार्क का भाग अपेक्षाकृत अधिक होता है; तथा उत्तम एवं छिली हुई दालचीनी की अपेक्षा इसमें ऐल्कोहॉल (९०%) विलेय सत्व भी कम प्राप्त होता है। इसके कागजी छिलके (*Featherings*) चैलीदार टुकड़ों की अपेक्षा उत्तम होते हैं। सिंहली दालचीनी के जंगली पौधों की छाल (*Jungle Cinnamon*) गाढ़े रंग की तथा खुरदरी और कम सुगंधित होती है। व्यावसायिक सैगन दालचीनी (*Saigon Cinnamon*) सिनामोमम् लूरिरियाइ (*Cinnamomum loureirii Nees*) नामक जाति से प्राप्त की जाती है। इसकी छाल सिंहली दालचीनी की अपेक्षा मोटी, रंगमें खाकस्तरी या खाकस्तरी भूरे रंग की तथा वाह्य तल पर ग्रंथिल–सी (*Warty and ridged*) तथा स्वाद में मीठी होती है। जावा दालचीनी (*Java Cinnamon*), सीन्नामोमुम वर्मान्नी (*C. burmanni Blume*) की छाल होती है। यह सिंहली दालचीनी की अपेक्षा कम सुगन्वित होती है, तथा ऐल्कोहल्-विलेय सत्व भी अपेक्षाकृत कम प्राप्त होता है। इसके मज्जकिरणों (*Medullary rays*) में कैल्सियम् आँक्ज़लेट के पट्टाकार क्रिस्टल्स (*Tabular crystals*) पाये जाते हैं। कभी-कभी इसमें तज (*Cassia bark*) के टुकड़े भी मिला दिये जाते हैं।

(२) तेल (दालचीनी का तेल)–दालचीनी का तेल सिंहली दालचीनी के छाल से आसवन द्वारा प्राप्त किया जाता है। ताजी अवस्था में यह हल्के पीले रंग का द्रव होता है, जो रखने पर कालान्तर से लालिमा लिये भूरे रंग का (*reddish brown*) हो जाता है। गंध एवं स्वाद में तेल भी छाल की ही भाँति होता है। इसमें कम से कम ५०% तथा अधिक से अधिक ६५% (*W/W*) सिन्नेमिक ऐल्डिहाइड (*Cinnamic aldehyde* C_9H_8O.) होता है। विलेयता–१५.५° तापक्रम पर ३ भाग ऐल्कोहल् (७०%) में घुलनशील होता है। विलयन किंचित् धुंधला होता है। २०° तापक्रम पर १ मिलिलिटर तेल का भार ०.९९४ से १.०३४ ग्राम होता है। (*Optical Rotation*)–०° से–२°। (*Refractive-Index at* २०°) १.५६५ से १.५८२। तेल की शुद्धता एवं शक्ति प्रमापीकरण के लिए तैलगत सिन्नेमिक ऐल्डिहाइड्स का प्रमापन किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – दालचीनी को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। दालचीनी के तेल को अच्छी तरह मुखबंद शीशियों में शीतल स्थान में रखना चाहिए और प्रकाश से बचाना चाहिए।

संगठन – दालचीनी में ½ से १% उत्पत् तैल (दालचीनी का तेल), टैनिन, पिच्छिल द्रव्य (म्युसिलेज), शर्करा, स्टार्च आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं। दालचीनी के तेल में ६०–७५% तक सिन्नेमैल्डिहाइड (*Cinnamaldehyde*) तथा (१०%) यूजिनोल (*Eugenol*) भी होता है।

वीर्यकालावधि – त्वक्—१ वर्ष। तेल–दीर्घकाल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–उत्तेजक, वेदनास्थापन, नाड़ीसंस्थान-उत्तेजक, दीपन–पाचन, वातानुलोमन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, जन्तुघ्न, हृदयोत्तेजक, श्लेष्महर, यक्ष्मानाशक, मूत्रजनन, गर्भाशयसंकोचक, वाजीकरण। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में उष्ण एवं रुक्ष है। अहितकर–वस्ति को। निवारण–कतीरा और असारून। प्रतिनिधि–तज।

मुख्य योग – सितोपलादि चूर्ण।

विशेष – यह त्रिजात एवं चातुर्जात का उपादान है। सुश्रुतोक्त एलादि गण में भी त्वक् का उल्लेख है।

दुग्धफेनी

नाम। (१) पौधा। सं०–दुग्धफेनी, कर्णफूल (राजनिघण्टु)। हिं०–जंगली कासनी, दुधल, कानफूल, बरन। पं०–दूदल (–ली), दुधली, दूधवत्थल। फा०–कासनी दश्ती, कासनी सहराई। अ०–हिंदबाउर्री, बक्लेे यहूदिया। अं०–डंडेलिअन (*Dandelion*)। ले०–टाराक्साकुम ऑफ्फ़ीसिनाले (*Taraxacum officinale Weber*)। (२) मूल या जड़–सं०–दुग्धफेनी मूल। हिं०–जंगली कासनी या दुधल की जड़। अ०–अस्लुल् हिंदुबा एलबर्री। फा०–तरख्शकून, बीख कासनी (ए) दश्ती।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कम्पोजीटे *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान– समस्त हिमालय प्रदेश, पश्चिमी तिब्बत, मिष्मी पर्वत एवं नीलगिरी पर इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। यूरोप में यह प्रचुरता से मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – दुग्धफेनी के बहुवर्षायु छोटे-छोटे पौधे (*Perennial herb*) कासनी या वन गोभी से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। पत्तियाँ बिनाल तथा जड़ के पास से निकली होती हैं। आकार में यह कुछ-कुछ आयताकार परन्तु परिवर्तनशील तथा ५ से २० सें०. मी० या २–८ इंच लम्बी एवं अनियमित रूप से खण्डित होती हैं। खण्ड रेखाकार (*Linear*) या त्रिभुजाकार, तीक्ष्णाग्र-दन्तुर तथा दन्ताग्र अधोमुख होते हैं। उक्त खण्ड कभी-कभी भालाकार एवं सरलधार भी हो सकते हैं। पुष्प-व्यूह मुण्डक की भाँति होता है, जिनमें जिह्वाकार (*Ligulate*) पीत वर्ण के पुष्प होते हैं। उक्त पुष्पव्यूह मुण्डक, मूल से निकलने वाले पोले एवं पत्ररहित एकाकी दंडों पर धारण किये जाते हैं तथा व्यास में ⅚ से २ इंच होते हैं। पुष्पव्यूह के नीचे बाह्य-आभ्यन्तर रूप से दो पंक्तियों में स्थित अधःपत्रावलि (*Involucre*) होती हैं। इसमें चर्मफल या युतोतफल (*Achenes*) लगते हैं, जो चपटे तथा मूल (आधार) की ओर पतले तथा ऊपरी सिरे की ओर भी क्रमशः सकरे होकर चोंच-जैसी रचना में अन्त होते हैं। इनपर रोमकण्टक (*Pappus*) होता है। वनस्पति के सर्वांग से एक प्रकार का गंधरहित कड़वा दूध सदृश चिकना पदार्थ निकलता है। औषधि में इसकी जड़ का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – शुष्क या ताजा मूल।

मात्रा – चूर्ण–½ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा तक। क्वाथ की जड़–२ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – दुग्धफेनी की जड़ रम्भाकार (*Cylindrical*) या कुछ-कुछ चपटी तथा नीचे की ओर मूली की भाँति उत्तरोत्तर पतली, बाह्यतः रंग में पीताभ भूरे रंग से लेकर (ऊदी रंग) भूरापन लिये काले रंग की होती है। जड़ पर अनुलम्ब दिशा में अनेक झुर्रियाँ, तथा इतस्ततः टूटे हुए उपमूलों के चिन्ह (*Scars*) होते हैं। सूखी जड़ तोड़ने पर खट से टूटती है तथा टूटा तल वत्सनाभ के टूटे तल की भाँति मालूम होता (*Fracture short and horny*) है। किन्तु नम होने पर लचीली हो जाती है। अनुप्रस्थ काट या विच्छेद करने पर बार्क का अन्तःभाग हल्के भूरे रंग का होता है तथा इसमें आक्षीर-वाहिनियों (*Latex-vessels*) के अनेक एक केन्द्रिक चक्र (*Concentric rings*) होते हैं। काष्ठीय भाग (*Wood*) पीत वर्ण का तथा मोटाई में १–४ मिलिमीटर होता है। उक्त जड़ प्रायः गंधहीन (अथवा एक

हल्की गंधयुक्त) तथा स्वाद में अत्यन्त तिक्त होती है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं; तथा अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम ४% तक प्राप्त होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कभी-कभी व्यावसायी लोग इसी कुल की अन्य वनस्पतियों की जड़ दुधल के नाम से वेचते हैं। एतदर्थ आम तौर से वन्य कासनी (*Cichorium intybus Linn.*) की जड़ का उपयोग अधिक किया जाता है। किन्तु वन्य कासनी की जड़ अथवा राइजोम का अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर आक्षीर-वाहिनियाँ अरवत् क्रम से (*Radially*) स्थित होती ह, जवकि दुग्धफेनी में एक केन्द्रिक वृत्तों में क्रमवद्ध होती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – दुग्धफेनी की जड़ को छायाशुष्क करके मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – दुग्धफेनी की जड़ में टैरेक्सेसिन (*Taraxa cin* ; $C_{40}H_{40}O_5$) नामक स्फटिकीय स्वरूप का तिक्त सत्व, रेजिन, उत्पत् तैल, सेपोनिन, फाइटॉस्टेरोल, टॅरेक्स्टेरोल (*Taraxa sterol*) तथा इन्युलिन (*Inulin*) एवं अल्प मात्रा में शर्करा आदि घटक पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्त-सारक, रेचन और कृमिघ्न, रक्तशोधक, शोथहर, मत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, कटु पौष्टिक आदि। स्वरस व्रण-शोधन होता है। यूनानी मतानुसार प्रथम कक्षा में उष्ण एवं रूक्ष है। यह संग्राही, दीपन, अर्तवजनन, स्तन्य जनन तथा यकृत् एवं प्लीहा के अवरोधों का उद्घाटन करने वाली तथा कामला नाशक है।

मुख्य योग – (१) दुग्धफेनी स्वरस – दुग्धफेनी की ताजी जड़ को कूच कर रस निकाल लें। इसमें चतुर्थांश ऐल्कोहल् (९०%) मिलाकर ७ दिन तक रख दें। इसके वाद छान कर रख लें। सुरासार पड़ने से यह विगड़ता नहीं। मात्रा–३ से ६ माशा (१ से २ फ्लुइड ड्राम)। (२) दुग्धफेनी-घनसत्व–२ रत्ती से १ माशा। (३) दुग्धफेनी का प्रवाही घनसत्व (लिक्विड एक्स्ट्रक्ट)–१॥ से ६ माशा (½ से २ ड्राम)।

विशेष – यकृद् विकार में दुग्धफेनी का प्रयोग वहुत उपयोगी होता है। एतदर्थ इसको स्वतंत्र रूप से या गिरिपर्पट आदि अन्य औषधियों को साथ मिलाकर दे सकते हैं।

दुद्धी, छोटी (लघुदुग्धिका)

नाम। सं०–लघु दुग्धिका, नागार्जुनी, विक्षीरिणी। हिं०–छोटी दुधी (दुद्धी), दुधिया घास, निगाचूनी। संथा – नन्हाँपूसी-तोआर। वं०–रक्तकेरु, दुधिया,। पं०–दोधक, हजार दाना, हजारदानी। म०–लहान नायटी। गु०–नानी दुधेली। फा०–शीरे गियाह, शीरक। ले० (१) रक्त–एउफ़ॉर्विआ थीमीफ़ोलिआ *Euphorbia thymifolia Linn.*; (२) श्वेत–एउफ़र्विआ मीक्रोफ़िल्ला *E. micropy lla Heyne.*।

वानस्पतिक कुल – एरण्ड-कुल (एउफ़ॉर्विआसे : *Euphorbia ceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के मैदानी भागों में तथा निचली पहाड़ियों पर, लाल तथा सफेद दोनों प्रकार की छोटी दुद्धी के स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – एउफ़ॉर्विआ थीमीफ़ोलिआ–इसके एक वर्षायु, वहुत छोटे-छोटे पौधे होते हैं और चारों ओर प्रसरी हुई अनेक शाखाओं से युक्त होते हैं, जिनको तोड़ने से दूध निकलता है। शाखाएँ पतली-पतली सुतरी की तरह तथा लाल रंग की होती हैं। पत्तियाँ सूक्ष्म, अभिमुख, द्विपंक्ति, तिर्यक् आयताकार या गोल, तथा ललाई लियें हरी और गोल दंतुर होती हैं। एकाभ-व्यूह गुच्छीकृत तथा हरित या गुलावी होते हैं। इसमें वारह महीने फल होते हैं। फल (*Capsule*) १॥ मिलिमिटर लम्वे तथा वीज १⅐ मि० मि० और आयताकार होते हैं, जिन पर अनुप्रस्थ दिशा में ५–६ सूक्ष्म हलखा-तवत् रेखाएँ होती हैं। (२) एउफ़र्विआ मीक्रोफ़िल्ला–इसकी शाखाएँ श्वेताभ-हरित, पत्तियाँ पहली की पत्तियों की अपेक्षा कुछ छोटी और कभी-कभी केवल अग्र पर दन्तुर (पहली में गोल दन्तुर) होती हैं। इसमें एकाभ-व्यूह चिकने तथा पहली में प्रायः मृदु रोमश होते हैं। दोनों का प्रयोग छोटी दुद्धी के नाम से होता है और यह दुद्धी खुर्द के नाम से प्रसिद्ध है। सूखाई हुई छोटी दूधी से काली चाय जैसी हल्की गंध आती है तथा स्वाद में कुछ कसैली होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – सर्वत्र सुलभ होने से इसका प्रयोग ताजा ही किया जाता है। संग्रहार्थ पंचाङ्ग को छाया शुष्क कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन—छोटी दुद्धी में क्वर्सेटिन से मिलता-जुलता एक क्रिस्टली क्षारोद सत्व होता है। बड़ी दुद्धी में मायाफलाम्ल या गैलिक एसिड (*Gallic acid*), क्वर्सेटिन (*Quercetin*) तथा कुछ उत्पत् तैल एवं क्षारोद प्रभृति तत्त्व होते हैं।

स्वभाव—गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस—कटु, तिक्त, मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफपित्तहर, वात वर्धक; अनुलोमन, उत्तेजक, रक्तशोधक, कफघ्न, श्वास हर, मूत्रल, अश्मरीनाशन, आर्त्तवजनन, कुष्ठघ्न, विषघ्न आदि। यूनानी मतानुसार छोटी दुद्धी दूसरे दर्जे में उष्ण और रूक्ष; मतांतर से दूसरे दर्जे में शीत और रूक्ष है। यह आंत्र पर संग्राही कर्म करती है। शुक्राशय पर भी इसका संग्राही कर्म होता है। अतएव छोटी दुद्धी को जल में पीस-छान कर अतिसार-प्रवाहिका में देते हैं। शुक्र प्रमेह, योनि से नाना प्रकार का स्राव, शुक्रतारल्य और शीघ्रपतन आदि में इसका चूर्ण व्यवहृत होता है। इसमें चाँदी और वंग की बनायी हुई भस्म सूजाक, शुक्रमेह एवं शुक्रतारल्य आदि रोगों में व्यवहृत होती है। जीर्ण श्वास एवं कास में भी यह उपयोगी है।

विशेष—दुद्धी या दुग्धिका का बड़ा भेद भी होता है जिसे बड़ी दुद्धी (या दूधी कलाँ) कहते हैं। इसका वानस्पतिक नाम एउफ़ॉर्बिआ हिर्टा (*Euphorbia hirta Linn.* (पर्याय—*E. pilulifera Auct. non Linn.*) है। इसके प्रतिवर्ष उत्पन्न होने वाले ६० सें० मी० या २ फुट तक ऊंचे रोमश क्षुप होते हैं, जिसके पत्र अभिमुख, मध्यशिरा के दोनों ओर के खण्ड असमान, रूपरेखा में अण्डाकार-आयताकार अथवा आयताकार-प्रासवत् १.८७५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० या $\frac{3}{4}$–$1\frac{1}{2}$ इंच तक लम्बे एवं दन्तुर धारयुक्त और अग्र पर तीक्ष्ण या संकुचित होते हैं। एकाभ व्यूह सूक्ष्म और गुच्छीभूत होता है। इसका एक दूसरा भेद भी होता है, जिसमें पत्रतट सरल तथा पौधा रोमरहित और हरा होता है। इसको एउफ़ॉर्बिआ हीपेरीसीफ़ोलिआ (*E. hypericifolia Linn.*) कहते हैं।

दूब (दूर्वा)

नाम। सं०—दूर्वा, शतपर्वा, गोलोमी। हिं०—दूब। बं०—दूर्वा-घास। पं०—खबल, दुबड़ा। म०—हरियाली, दूर्वा। गु०—धरो, दरो। सिंध—छब(ब्ब)र; अ०—उश्व। फा०—मर्ग। अं०—क्रीपिंग डाग्स-टूथ ग्रास *Creeping Dog's Tooth grass*। ले०—सीनोडॉन डाक्टीलॉन (*Cynodon dactylon Pers.*)।

वानस्पतिककुल—तृण-कुल (ग्रामीने *Gramineae*)।

प्राप्तिस्थान—समस्त भारतवर्ष के मैदानों एवं परती जमीन में दूब अपने आप उगी हुई मिलती है।

संक्षिप्त परिचय—दूर्वा के बहुवर्षायु स्वभाव के पतले किन्तु कड़े काण्ड युक्त प्रसरी पौधे होते हैं, जो जमीन पर छत्ते की तरह चारों ओर फैलते हैं। काण्ड भूमि पर आगे-आगे प्रसरण करता जाता है, और प्रत्येक पर्व पर मूल निकल कर भूमि के साथ बद्ध होते हैं, और वायव्य काण्ड निकल कर नया पौधा बनता जाता है पत्तियाँ २.५ से १० सें० मी० या (१–४ इंच) तक लम्बी, $1\frac{1}{2}$ से ३ मि० मि० ($\frac{1}{2}$ इंच तक) चौड़ी, रेखाकार (*Linear*) अथवा भालाकार (*Lanceolate*) तथा नुकीले अग्र वाली और चिकनी तथा मुलायम होती हैं। पुष्प छोटे, हरिताभ या नीलारुण होते हैं। फल छोटे दानों के रूप में ($\frac{1}{2}$ इंच लम्बे) लगते हैं। साल भर दूब फूलती-फलती रहती है। दूब पशुओं के लिए उत्तम खाद्य है, अतएव कहीं-कहीं यह लगायी भी जाती है। निघण्टुओं में (१) श्वेत, (२) नील, एवं (३) गंडदूर्वा भेद से दूब के ३ भेदों का उल्लेख है। श्वेत दूर्वा वास्तव में कोई भिन्न वनस्पति नहीं मालूम होती। हरी दूब ही जब सफेद हो जाती है, तो इसे श्वेत दूर्वा कहते हैं।

उपयोगी अंग—पंचाङ्ग।

मात्रा—६ ग्राम से १२ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण—दूब प्रायः सर्वत्र १२ महीने उपलब्ध होती है। अतएव ताजी अवस्था में ही इसका व्यवहार करना चाहिए।

संगठन—दूब में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट एवं रेशे पाये जाते हैं। जलाने पर ११.७५% भस्म प्राप्त होती है, जिसमें पोटासियम्, मैगनीसियम् एवं सोडियम् के लवण पाये जाते हैं।

स्वभाव—गुण—लघु, स्निग्ध। रस—मधुर, कषाय, तिक्त। विपाक—मधुर। वीर्य—शीत। प्रधान कर्म—कफपित्तशामक, स्तम्भन, व्रणरोपण, दाहप्रशमन, वर्ण्य, छर्दिनिग्रहण, तृष्णा-निग्रहण, रक्तस्तम्भक, रक्तशोधक, प्रजास्थापन, मूत्रल, कुष्ठघ्न, जीवनीय, विषघ्न आदि। यूनानी मतानुसार दूर्वा प्रकृति में सरदी की तरफ मायल और समशीतोष्ण के समीप है।

मुख्य योग – दूर्वादि क्वाथ, दूर्वाद्य घृत, दूर्वाद्य तैल।

विशेष – रक्तपित्त में दूर्वा स्वरस का प्रयोग अनुपान के रूपमें कर सकते हैं। चरकोक्त (सू० अ० ४) वर्ण्य महाकषाय में ('सिता-लता' नाम से)तथा प्रजास्थापन महाकषाय में ('शतवीर्या-सहस्रवीर्या' नामसे)दूर्वा का भी उल्लेख है।

देवदार (देवदारु)

नाम। सं०–देवदारु, भद्रदारु, सुरभूरुह। हिं०–देवदार। म०, गु०–देवदार। शिमला पर्वत–कैल, कैलो। जौनसार–केलोन (*Kelon*)। अ०, फा०–सनूबरे हिंदी। अं०–सेडार (*Cedar*)। ले०–सेड्रुस लीवानी *Cedrus libani Rich. var. deodara. Hook. f.* (पर्याय–*C. deodara* (Roxb.) *Loud.*।

वानस्पतिककुल – सरल-कुल (पीनासे *Pinaceae*)।

प्राप्ति स्थान – उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश में १२०४ मीटर से ३०४६ मीटर (४,०००-१०,००० फुट) की ऊँचाई पर, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट ऊँचाइयों पर, इसके वन पाये जाते हैं। देवदारु के वृक्ष सम्भवतः सवसे अधिक ऊंचे, चिरायु और सुन्दर होते हैं तथा समूहवद्ध उगते हैं। देवदारु की लकड़ी (हृत्काष्ठ *Heart-wood*) एवं वुरादा (*Saw-wood*) वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – देवदारु के वहुत ऊँचे-ऊँचे (७६ १/४ मीटर या २५० फुट तक) सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिनकी शाखाएँ चारों ओर फैली होती हैं, किन्तु शाखाग्र कोमल और नीचे को झुके होते (*Tips slender and nodding*) हैं। प्रकाण्ड-स्कन्ध सीधा और काफी मोटा (लगभग ११ मीटर या ३६ फुट परिधि तक) होता है। काण्डत्वक् खाकस्तरी रंग से लालिमा लिये भूरे रंग की होती है, और इस पर अनुलम्व दिशा में तथा तिरछे अनेक दरारें पड़ी होती हैं। ऊपर की ओर शाखाएँ क्रमशः छोटी होती जाती हैं, जिससे नये वृक्षों में इसकी चोटी (*Crown*) शंक्वाकार (*Pyramidal*) मालूम होती है, किन्तु पुराने वृक्षों में यह स्तूपाकार (*Spherical*) होती है। पत्तियाँ २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१॥ इंच) लम्वी, सूच्याकार एवं त्रिकोणाकार (*Acicular and triquetrous*), चिकनी, चमकदार हरे रंग की होती हैं, जो प्रायः लम्वी टहनियों पर एकाकी और पेचदार क्रम से किन्तु छोटी टहनियों पर सघन गुच्छों (*dense fascicles*) में निकलती हैं। देखने में उक्त पत्रगुच्छक चँवर की भाँति मालूम होते हैं। नरपुष्प शाखाग्रों पर ५/६ से १ सें० मी० (१/३ से २/५ इंच) लम्वे एकाकी (*Solitary*) नम्य एवं लम्वगोल, अवृन्त-काण्डज मञ्जरियों (*Catkin*) में निकले होते हैं। शंकुफल (*Cone*), १० से १२.५ सें० मी० (४-५ इंच) लम्वे, ७.५ से १० सें० मी० या ३-४ इंच मोटे होते हैं, जो शाखाग्रों पर एकाकी स्थित होते हैं। शल्कपत्र (*Scales*) पंखे के आकार के (*Fan-shaped*) होते हैं, जो शंकुफलों पर अनुप्रस्थ दिशा में ठसाठस स्थित होते हैं। वीज ७/४० सें० मी० से ५/४ सें० मी० (७/१०० से १/२ इंच) तक लम्वे त्रिकोणाकार या अर्धचन्द्राकार और पंखयुक्त या सपक्ष होते हैं। उक्त पंख त्रिकोणाकार और ३/२ से ७/४ सें०मी० (३/५ से ७/१० इंच) लम्वे होते हैं। वीजपत्र (*Cotyledons*) लगभग १० होते हैं। पुष्पागम काल–सितम्वर-अक्टूवर। फलागम–अप्रैल से प्रारम्भ होता है और फल अगले अक्टूवर-नवम्वर तक पकते हैं।

उपयोगी अंग – हृत्काष्ठ (काष्ठसार) एवं वुरादा तथा काष्ठ तैल (*Tar*)।

मात्रा – चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
तैल–२० से ४० वूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजार में देवदारु, चन्दन के टुकड़ों की भाँति मिलता है। यह टुकड़े पीताभ-वादामी रंग के साधारण गुरु एवं कड़े होते हैं। अनुप्रस्थ छेद करने पर उस पर किंचित् गाढ़े रंग की सूक्ष्म रेखाएँ-सी होती हैं। इसके वारीक छिलके पारभासी (*Translucent*) होते हैं। इसमें तारपीन-जैसी सुगंधि पायी जाती है। देवदार का वुरादा चन्दन के वुरादे-जैसा होता है और उसमें लकड़ी की भाँति सुगंधि पायी जाती है। लकड़ी के विच्छेदक आसवन (*Destructive Distillation*) द्वारा एक गाढ़े रंग का तैल प्राप्त किया जाता है, जिसे देवदार–टार (*Tar*) कहते हैं। १ सेर लकड़ी से प्रायः २ १/२ छटांक तक तेल प्राप्त होता है।

संग्रह तथा संरक्षण – काष्ठ एवं वुरादे को उपयुक्त स्थान में, वन्द डिब्वों में रखें। तेल को अच्छी तरह वन्द शीशियों में शीतल स्थान में रखना चाहिए तथा प्रकाश से वचाना चाहिए।

संगठन – काष्ठ में ओलियो-रेजिन तथा एक गहरे रंग का तेल प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वात-कफ शामक, (स्थानिक प्रयोग से) शोथहर, वेदनास्थापन, क्रिमिघ्न, व्रणशोधन एवं रोपण, दीपन-पाचन, अनुलोमन (एवं आंत्रोद्वेष्ठहर), कफनिःसारक एवं श्वासमार्गशोधक, मूत्रजनन, प्रमेहघ्न, गर्भाशय एवं स्तन्य शोधन, लेखन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, आदि।

मुख्य योग – देवदार्वादि क्वाथ, देवदार्वादि चूर्ण, रास्नादि-क्वाथ, रोग़न ज़र्द आदि।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) स्तन्यशोधन एवं अनुवास-नोपग महाकषाय में तथा कटुस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में (किलिम नाम से) और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) वात संशमन वर्ग के द्रव्यों में (भद्रदारु नाम से) देवदारु का भी उल्लेख है।

देवदाली–दे०, 'बंदाल'।

धतूरा (धत्तूर)

नाम। सं०–धत्तूर, कनक, धूर्त, उन्मत्तक। हिं०–धतूर। धतूरा। बं०–धूतूरा। म०–धोत्रा। मा०–धत्तूरो। गु०–धत्तूरो, धतूरो। अ०–जौजुल् मासेल। फा०–तातूर। अं०–डॅटूरा (तू) *Datura*। ले०–डाटूरा ईन्नॉक्सिआ *Datura innoxia* Mill. (*D. metel* Auct. non L.)।

वानस्पतिक कुल–कण्टकारी-कुल (सोलानासे: *Solanaceae*)।

प्राप्ति स्थान – डाटूरा मेटल के समस्त भारतवर्ष में स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। मन्दिरों के पास इसके लगाये हुए पौधे मिलते हैं। पुष्प एवं फल शिवजी को चढ़ाया जाता है। डाटूरा इन्नॉक्सिआ वास्तव में विदेशी पौधा है, परन्तु अब समस्त भारतवर्ष में फैल गया है। स्वरूप में यह मेटल से बिलकुल मिलता-जुलता है। धतूरा का बीज बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – धतूरा मेटल–इसके एक वर्षायु ६० से १५० सें० मी० या २ से ५ फुट ऊंचे क्षुप होते हैं, जिसके काण्ड चिकने होते हैं। पत्तियाँ लट्वाकार-भालाकार, लम्बाग्र या अग्र पर सहसा नुकीली, तथा आधार पर मध्य नाड़ी के दोनों पार्श्व असम होते हैं। पत्रतट लहरदार दन्तुर या किंचित् मुड़े हुए, होते हैं। पत्तियाँ दोनों पृष्ठों पर चिकनी होती हैं तथा काण्ड के अधः भाग में अकेली किन्तु ऊर्ध्व, भाग में आमने-सामने (अभिमुख क्रम से) स्थित होती हैं जिनमें एक दूसरे की अपेक्षा कुछ छोटी होती हैं। बड़ी पत्ती १७.५ से २० सें० मी० या ७-८ इंच तक लम्बी होती हैं। पुष्प ऊपर को खड़े (*Erect*) तथा १५ से १७.५ सें० मी० या ६-७ इंच लम्बे होते हैं। बाह्य कोष (*Calyx*) बैंगनी रंग का, नलिकाकार-कोणाकार, ५ सें० मी० या २ इंच लम्बा ऊर्ध्व भाग में ५ खण्डों से युक्त। आभ्यन्तर कोष सफेद तथा तुरही के आकार का तथा लगाये हुए पौधों में दोहरा-तेहरा होता है। पुंकेशर संख्या में ५-६। फल (*Capsule*) लम्बगोल, व्यास में ८.३ सें० मी० या ३। इंच तक, नीचे को लटके हुए या झुके हुए होते हैं। उस पर छोटे-छोटे काँटे होते हैं। पक्व फलों का स्फुटन अनियमित रूप से होता है।

उपयोगी अंग – मूल, पत्र पुष्प एवं बीज।

मात्रा–शोधित बीजचूर्ण–६२.५ मि० ग्रा० से १२५ मि० ग्रा० या १/२ से १ रत्ती। पत्रचूर्ण–६२.५ मि० ग्रा० से १८९.५ मि० ग्रा० या १/२ से १॥ रत्ती (खाने के लिए)। १/२ ग्राम से २ ग्राम या ४ से १५ रत्ती (धूम्रपानार्थ)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – धतूरे के बीज सुमाक के दाने की तरह कर्णाकृति, चपटे, खुरदरे, पिलाई लिए भूरे रंग के १/६ से १/५ इंच (४-५ मि० मि०) लम्बे, १/८ से १/६ इंच (३-४ मि० मि०) चौड़े तथा १/२५ इंच (१ मि० मि०) मोटे तथा स्वाद में यह तिक्त एवं चाबने पर या कूचने पर एक हल्की अप्रिय गन्ध युक्त होते हैं। हायोसायमीन की मात्रा कम से कम ०.२%। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%। भस्म-अधिकतम ६%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – राजधत्तूर (डाटूरा स्ट्रामोनिउम *Datura stramonium* Linn.) के क्षुप समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में (कश्मीर से सिक्कम तक) २७२६ मीटर या ९,००० फुट की ऊंचाई तक तथा बिलूचिस्तान एवं दक्षिण भारत में कहीं-कहीं पाये जाते हैं। वास्तव में कृष्ण धत्तूर इसी को कहना चाहिए। यह अन्य प्रजातियों की अपेक्षा अधिक वीर्यवान् होता है। इसके बीज चपटे, वृक्काकार, १/८ इंच लम्बे, १/१४ इंच चौड़े तथा १/२४ इंच मोटे होते हैं। नाभि (*Hilum*) नतोदर धार पर स्थित

होती है। रंग में यह नीलारुण वर्ण के अथवा काले रंग के होते हैं। स्वाद में यह तिक्त एवं स्नेहमय तथा मसलने पर एक अरुचिकारक गंध होती है। हायोसायमीन–कम-से-कम ०.२%। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य-अधिकतम २%। भस्म–अधिकतम ५%।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों के वीजों एवं प्रगल्भ पत्तों को छाया शुष्क करके मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – धतूरे के पत्र एवं बीच में अजवायन खुरासानी में पाये जाने वाले हायोसायमीन और हायोसीन नामक ऐल्केलॉइडस (०.२५ से ०.५५%) पाये जाते हैं, जो इसके प्रधान सक्रिय तत्त्व हैं। वीजों में कुछ रालीय तत्त्व एवं (१५ से ३०%) तक स्थिर तैल भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कटु, तिक्त, कषाय, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफ-नाशक, वात-पित्त कारक; स्थानिक प्रयोग से अवसादक, वेदनास्थापन एवं शोथहर; आभ्यन्तरसेवन से दीपन, शूलहर, ज्वरघ्न (विशेषतः पर्याय ज्वरहर), श्वासनलिकोद्वेष्ठहर, श्वासहर तथा मात्रातियोग से मादक प्रभाव करता है। यनानी मतानुसार धतूरा चौथे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होता है। **विषाक्त प्रभाव**-धतूरे के वीज विषैली मात्रा में खिलाने से रोगी की ज्ञानन्द्रियाँ अस्थिर और बुद्धि लुप्त हो जाती है, जिह्वा और कंठ शुष्क हो जाते हैं। नेत्र रक्त हो जाते हैं और पुतलियाँ फैल जाती हैं। दृष्टि कम हो जाती है। आवाज़ भर्रा जाती है और रोगी प्रलाप करने लगता है। कभी-कभी उठ कर भागने का प्रयास करता है। परन्तु मद्यपान से मदमस्त की भाँति इधर-उधर पैर रखता है। कभी-कभी काल्पनिक वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं और वह उनको पकड़ने का यत्न करता है। कभी सन्निपात के रोगियों की भाँति अपने कपड़े को चुनने लगता है और विछौना, दीवाल आदि से काल्पनिक वस्तुओं को पकड़ने लगता है। साधारण अवस्थाओं में १-२ दिन वाद स्थिति सुधर कर रोगी स्वस्थ हो जाता है। किन्तु कभी श्वासावरोध होकर या हृद्गति रुककर प्राणान्त तक हो जाता है। **चिकित्सा**–प्रारम्भ में (मदनफल का क्वाथ आदि) वामक द्रव्यों द्वारा वमन करा लें और पीछे गाय का दूध तथा मक्खन आदि पिलावें। साथ में विशिष्ट अगद (*Antidote*) का भी व्यवहार कर सकते हैं।

मुख्य योग – ज्वराङ्कुश एवं मृत्युञ्जय रस में धत्तूर वीज पड़ता है।

विशेष – धतूरा विदेशी औषधि वेलाडोना का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है।

धनिया (धान्यक)

नाम। सं०–धान्यक, कुस्तुम्वुरु, वितुन्नक। हिं०–धनिया (आ)। द०–धनियाँ। वं०–धने। म०–धणे, कोथिंव्या। गु०–धाणा, कोथमीर। क०–कोत्तुंवरि। फा०–कश्नीज़। अ०–कुज्व (वु) रः। अं०–कोरिएन्डर (*Coriander*)। ले–(१) फल–कोरिआंड्रम *Coriandrum* (२) वनस्पति–कोरिआंड्रम साटीवुम (*Coriandrum sativum Linn.*)।

विशेष – हरी धनिया (धनिया सब्ज़) को फारसी और अरवी में क्रमशः कश्नीज़ रतव (पत्र को वर्ग कश्नीज़) तथा कुज्वुरः और सूखी धनिया अर्थात् वीज (धनिया खुश्क) को कश्नीज खुश्क तथा कुज्वुरः याविस (वज़्रुल् कुज्वुरः या सम्रुल् कुज्वुरः) कहते हैं। जव इसके फलों को कट कर वाहरी छिलका निकाल दिया जाता है, तव उसको 'मग़्ज़ कश्नीज़' या 'विरंज कश्नीज़' कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – छत्रक-कुल (उम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – धनिया भूमध्य सागरीय प्रान्तों का आदिवासी पौधा है। भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में काफी परिमाण में इसकी खेती की जाती है। दक्षिण भारत के कपास वाली काली मिट्टी के क्षेत्रों में धनिया खूव उपजती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न समयों में वीज वोये जाते हैं। मैसूर तथा मद्रास में इसकी दो फस्लें भी तैयार की जाती हैं—(१) मई से अगस्त तक; (२) अक्टूवर से जनवरी तक। किसी-किसी प्रान्त में धनिए की फसल वरसाती पानी के आधार पर ही वोयी जाती है (*Rain-fed crop*) और कहीं सिंचाई करके वोई जाती है (*Irrigated Crop*)। शहरों के आसपास तरकारी वोने वाले थोड़े परिमाण में वारहों महीने धनिया वोते हैं। हरी धनिया शहरों में प्रायः वारहों महीने तरकारी वेचने वालों के यहाँ तथा पक्व फल (जिनको वीज कहते हैं) वाजारों में पंसारियों के यहाँ विकते हैं। भारतवर्ष के अतिरिक्त, रूस, मध्य यूरोप, एशिया माइनर तथा मोरक्को आदि में भी प्रचुरता से धनिया वोयी जाती है। विदेशी धनिया भारतीय धनिया

की अपेक्षा छोटी, किन्तु ठोस और अधिक तैल युक्त होती है। बाजारों में यह अपेक्षाकृत अच्छी समझी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – धनिया के एक वर्षायु कोमल काण्डीय शाक जातीय पौधे प्रायः १-३ फुट ऊंचे होते हैं। पत्तियाँ खण्डित होती हैं, जिनमें नीचे की पत्तियों के खण्ड चौड़े, किनारे दन्तुर (*Crenate*) किन्तु ऊपर की पत्तियों के खण्ड रेखाकार (*Linear*) होते हैं। पुष्प श्वेत या हल्के गुलाबी रंग के होते हैं, जो शाखाग्रों पर संयुक्त उच्छत्रकों (*Compound terminal umbels*) में निकलते है। फल गोलाकार, व्यास में २ मिलिमिटर (३/८ इंच) से ३½ मिलिमिटर और पकने पर पीताभ भूरे रंग के होते हैं, जिनपर ८-१० उन्नत रेखाएँ होती हैं। इन फलों को अंगुली के बीच दावने से यह दो एक-फल खण्डों या वेश्मों (*Mericarps*) में पृथक् होते हैं, जिनमें प्रत्येक में एक वीज होता है। धनिये की फसल प्रायः ३-३½ महीने में तैयार हो जाती है। पकने पर पौधों को जड़ से उखाड़ लिया जाता है, और इनको सुखाकर, पीट कर फल पृथक् कर लिये जाते हैं। पुनः इन फलों को सुखा कर वोरों में भर कर बाजारों में भेज दिया जाता है। हरे पौधे के पंचाङ्ग से एक विशिष्ट सुगन्धि आती है। अतएव इसका उपयोग चटनी-तरकारी आदि में डालने के लिए किया जाता है। सूखे फलों का उपयोग गरम मसाले में तथा औषध्यर्थ किया जाता है।

उपयोगी अंग – पक्व फल (जिनको वीज कहते हैं) तथा पत्र।

मात्रा – फलचूर्ण–३ से ६ माशा।

पत्र स्वरस–१ से २ तोला।

हिम–२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भारतीय धनिया, विदेशी की अपेक्षा आकार में बड़ी (लगभग ⅕ इंच तक) रूपरेखा में अंडाकार होती है। इसमें रेशे अधिक और उत्पत् तैल अपेक्षाकृत कम होता है। फल के शीर्ष पर फलधारक (*Stylopodium*) एवं बाह्य कोष का कुछ अवशेष (*Calicinal teeth*) तथा डंठल का कुछ भाग लगा होता है। प्रत्येक फल खण्ड में संधिस्थल पर दो-दो तैल नलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। दोनों फल-खण्ड बाह्य फलत्वचा (*Pericarp*) द्वारा परस्पर जुटे रहते हैं, जिनके अंतमर्ध्य अर्धचन्द्राकार खातोदर अवकाश होता है। छोटी धनिया रूपरेखा में अधिक गोलाकार (*Subglobular*), अपेक्षाकृत छोटी (व्यास में २-४ मि० मि०) तथा भूरापन लिये पीले रंग की होती है। धनिये में एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि होती है तथा इसमें रुचिकारक मसालेदार स्वाद होता है। उत्तम धनिया के फल में कम-से-कम ०.३% (*V/W*) तथा चूर्ण में ०.२% (*V/W*) उत्पत् तैल होता है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%। भस्म अधिकतम ७% प्राप्त होती है। अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम १½ %। औषधीय प्रयोग के लिए छोटी धनिया का ही ग्रहण होना चाहिए।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बाजारू धनिये में मिट्टी, कंकड़ तथा मेथी के बीच एवं दाल जातीय बीज भी मिले होते हैं। इसके अतिरिक्त फलों के डंठल या पतले काण्ड के टुकड़े भी मिले होते हैं। इनको पृथक् कर लेना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – धनिया को मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। विशेषतया चूर्ण को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में भर कर शीतल स्थान में रखना चाहिए, अन्यथा इसका उड़नशील तैल उड़ जाने से औषधि निर्वीर्य हो जाती है।

संगठन – धनिये में ०.३ से १% तक एक उत्पत् तैल तथा लगभग १३% तक स्थिर तैल एवं प्रोटीन आदि तत्त्व होते हैं। उत्पत् तैल में मुख्यतः कोरिएन्ड्रोल (*Coriandrol* $C_{10}H_{18}O$) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कषाय, तिक्त, मधुर, कटु। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषहर, बाह्य प्रयोग से लेप शोथहर, वेदनास्थापन, आभ्यन्तर सेवन से तृष्णा-निग्रहण, रोचन, दीपन–पाचन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, रक्त-पित्तशामक, हृद्य, कफघ्न, मूत्रविरजनीय, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, मस्तिष्कबल्य आदि। यूनानी मतानुसार धनियाफल दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। अहितकर–शुक्रनाशन। निवारण–भृष्ट करने से इसका परिहार हो जाता है।

मुख्य योग–धान्यकादि हिम, धान्यपञ्चक, धान्यचतुष्क, अतरीफ़ल कश्नीज़ी।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) तृष्णानिग्रहण तथा शीतप्रशमन महाकषाय एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) गुडूच्यादि गण में धान्यक या धनिया ('कुस्तुम्बरु' नाम से) भी है]

धनिया नेपाली (तुम्बुरु)

नाम। सं०–तुम्बरु। हिं०–नेपाली धनिया, तुंबुल, तुमरू, तेजफल। बं०–तंबुल, नेपाली धने। पं०–कबावा, तुंबरू,

तीमरू। म०–नेपाली धनिया। जौनसार–तेमरू। अ०–फ़ाग़िर: (*Open-mouthed*)। फा० – कबाबेहे खंदाँ, फ़ाखिर:। पश्तो–डम्बरे। अं०–टूथ-एक ट्री (*Tooth-ache Tree*)। ले० – ज़ांथोक्सीलुम आलाटुम *Zathoxylum alatum Roxb.* (अंग्रेजी एवं लेटिन नाम इसके वृक्ष के हैं)। वृक्ष को हिन्दी में **तेजबल** कहते हैं।

वानस्पतिक कुल–जम्बीर-कुल (रूटासे : *Rutaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में पंजाब से भूटान तक १५२३ मीटर से २१३३ मीटर (५,०००–७,००० फुट) की ऊंचाई तक तथा खसिया की पहाड़ियों पर भी (६०२ से १९१४ मीटर या २,०००-३,००० फुट तक) पाया जाता है। भारतीय बाजारों में इसका आयात उक्त हिमालय प्रदेशीय केन्द्रों से विशेषत: नेपाल से तथा विदेशों (सूडान, जेरबाद आदि) से होता है।, नेपाली धनिया बाजारों में सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – तेजबल के छोटे वृक्ष या बड़े गुल्म होते हैं, जिनकी शाखाओं, पर्णवृन्तों एवं पत्रकों (की मध्य-शिरा) पर काँटे होते हैं। पत्तियाँ एकान्तर क्रम से स्थित (*Alternate*), सपत्रक एवं असमपक्षवत् (*Imparipinnate*) होती हैं, तथा पत्रवृन्त एवं पत्रकधारक दण्ड सपक्ष (*Winged*) होता है। पत्रक २-६ जोड़े, विषम-संख्यक, अभिमुख क्रम से स्थित, वृन्तकहीन (*Sessile*), २.५ से ७.५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बे तथा $\frac{1}{6}$ से २ सें० मी० या $\frac{1}{3}$ से $\frac{3}{4}$ इंच चौड़े, नोकदार तथा दन्तमय धार वाले होते हैं। पुष्प पीले, अत्यंत छोटे तथा प्राय: एकलिंगी होते हैं, जो पार्श्ववर्ती मञ्जरियों में निकलते हैं। पुष्पों में बाह्य कोष ही रंगीन होता है, तथा आभ्यन्तर कोष का अभाव होता है। पुंकेशर संख्या में ६-८ होते हैं। फल सुगंधित और देखने में धनिया की तरह होते हैं। फलत्वक् दानेदार (*Tubercled*) होता है। फल प्राय: अन्दर से खोखले होते हैं। किन्हीं-किन्हीं फलों में नील-कृष्ण वर्ण के बीज होते हैं। पुष्पागम काल–अप्रैल से जून तक। फलागम–अगस्त से अक्टूबर तक। इसकी दातून दाँतों के लिए बहुत अच्छी समझी जाती है।

उपयोगी अंग – फल, त्वक् (छाल)।

मात्रा। फलचूर्ण–५०० मि० ग्रा० से $\frac{1}{2}$ ग्राम या ४ से १० रत्ती।

त्वक्चूर्ण–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – तुंबरु का फल देखने में धनिया के समान, रूपरेखा में अंडाकार या अर्ध-गोलाकार (*Spherical*), कबाबचीनी से बड़ा (अधिकतम $\frac{1}{5}$ इंच) तथा आधे तक फटा हुआ (फ़ाग़िर:, दहनशिग़ाफ्ता), बाहर से देखने में मुश्की (रक्ताभ-भूरा) रंग का होता है। बाह्य तल दानेदार (*Covered with rominent tubercles*) होता है। उक्त दाने तैलीय राल से पूर्ण होते हैं। अन्दर कागज की तरह पतला सफेद कला या झिल्ली होती है, जो बीज के गिर जाने पर सिकुड़ जाती है। फलों के अन्दर छोटा-सा गोल, काला चमकदार बीज होता है, जो स्वाद में कुछ-कुछ काली मिर्च-जैसा होता है। अधिकांश फलों में एक पतला डंठल (वृन्त) भी लगा होता है। फटे हुए सूखे फलों को जल में भिगोने पर फूल कर पूर्ववत् हो जाते हैं। नेपाली धनिया में एक मनोरम सुगंधि होती है, तथा स्वाद में सुगंधित (पहले कुछ-कुछ धनिये जैसा) एवं कुछ तीक्ष्ण होती है। हिमालय से आने वाला ताजा फल कुछ हरे रंग का होता है। इसकी चटनी पीस कर खाने के साथ खाते हैं। यह स्वाद में अम्लता लिये तीक्ष्ण और कुछ सुगंधित-सा होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – तुम्वुरु की अन्य अनेक जातियाँ भी पायी जाती हैं, जिनका प्रयोग नेपाली धनिये के स्थानापन्न के रूप में होता है :—(१) तिरफल–ज़ांथोक्सीलुम र्‌हेट्सा *Zanthoxylum rhetsa D.C.* (पर्याय–*Z. budrunga Wall.*)–इसके वृक्ष दक्षिण भारत (विशेषत: दकन, कोंकण, मलाबार, मैसूर, अनामलाइ, ट्रावन्कोर आदि) तथा उड़ीसा, सिलहट, खसिया एवं चटगाँव आदि में प्रचुरता से पाये जाते हैं। उड़ीसा, खसिया आदि में प्राय: (*Z. budrunga Wall.*) जाति पायी जाती हैं। *Z. rhetsa DC.* दक्षिण भारत में पायी जाती है। दक्षिण भारत में तिरफल का प्रयोग तुम्बुरु (या नेपाली धनिया) के स्थान में होता है। दोनों के फल देखने में तुम्बुरु-जैसे किन्तु कुछ बड़े (मटर के बराबर) होते हैं। स्वाद में प्रथम नीबू के छिलके की भाँति बाद में तुम्बुरु-जैसे तीक्ष्ण होते हैं। किन्तु फलों पर तुम्बुरु की भाँति दाने (*Tubercles*) नहीं या कम पाये जाते हैं, और अन्दर की सफेद झिल्ली भी प्राय: नहीं होती। फलों का बाह्य तल झुर्रीदार (*Wrinkled*) होता है। इनके अतिरिक्त ज़ांथोक्सीलुम की निम्न जातियों के फल भी स्थानिक लोग तीमूर (तुम्बुरु)

के नाम से व्यवहृत करते हैं:-(२) जांथोक्सीलुम अकांथोपोडिउम Z. *acanthopodium* DC.; (२) जांथोक्सीलुम ऑक्सीफिल्लुम Z. *oxyphyllum Edgew.*; (३) जांथो० ओवालीफोलिउम Z. *ovalifolium Wight* तथा (४) Z. *hamiltonianum Wall.* । जांथो० अकांथोपोडिउम तथा जांथो० ऑक्सीफिल्लुम के वृक्ष हिमालय प्रदेश में सिक्कम् से भूटान तक (२१३३ से २४०८ मीटर ७-८ हजार फुट की ऊंचाई तक) तथा खसिया की पहाड़ियों पर (१२०४ से १८२८ मीटर या ४-६ हजार फुट तक) पाये जाते हैं। जांथो० हामिल्टोनिआनुम आसाम की पहाड़ियों पर तथा जांथो० ओवालीफोलिउम आसाम में तथा दक्षिण भारत में कनाड़ा, कुर्ग, नीलगिरी एवं मद्रास में पाया जाता है। जांथो० ऑक्सीफिल्लुम एवं जांथो० हामिल्टोनिआनुम के फल तुम्बुरु की ही भांति किन्तु प्रायः अवृन्त (*Sessile*) तथा स्वाद में तिरफल की भाँति होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – तुम्बुरु या नेपाली धनिया को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – फल में एक उत्पत् तैल, राल, तथा बर्बेरीन की भांति एक तिक्त क्रिस्टलीय तत्त्व पाये जाते हैं। फलत्वचा में एक उत्पत् तैल, राल एक पीला अम्ल सत्त्व एवं जैन्थोक्सिलिन (*Zanthoxylin*) नामक क्रिस्लीय ठोस तत्त्व होता है। काण्डत्वक् (*Bark*) में भी फल में पाये जाने वाले तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवात शामक, पित्तवर्धक; कोथप्रशमन, जीवाणुनाशक, उत्तेजक, वातहर, नाड़ीवल्य, दन्तशोधन, दीपन-पाचन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न, हृदयोत्तेजक, कफघ्न, मूत्रजनन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, कटु पौष्टिक आदि। इसका उत्सर्ग त्वचा से होता है। यूनानी मतानुसार नेपाली धनिया दूसरे दर्जे में रूक्ष एवं उष्ण होती है। इसका सूंघना और खाना मस्तिष्क एवं हृदय बलदायक है। यह शीतल आमाशय एवं यकृत् को शक्ति देती, पाचन शक्ति को बढ़ाती, तथा वायु का उत्सर्ग और मलावरोध उत्पन्न करती है। मुखपाक में इसके स्वरस या काढ़े से कुल्ली करने से उपकार होता है।

मुख्य योग – तुम्बर्वादि चूर्ण।

विशेष – चरकोक्त शिरोविरेचन (सू० अ० २) एवं तिक्त स्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में तुम्बरु (नेपाली धनिया) का पाठ भी है।

धमासा (धन्वयास)

नाम। सं०–धन्वयास, दुरालभा। हिं०–धमासा। पं०–धमांह, धम्या। गु०–धमासो। म०–धमासा। कच्छ–धमाऊ। बं०–दुरालभा। ले०–फागोनिआ क्रेटिका *Fagonia cretica Linn.* (पर्याय–*F. arabica L.*)।

वानस्पतिक कुल – गोक्षुर-कुल (जीगोफ़िल्लासे : *Zygophyllaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष में धमासा दक्न, खान देश, कच्छ, पश्चिमी राजस्थान, पंजाब एवं पश्चिम में अफगानिस्तान, फारस, अरब एवं मिस्र आदि में होता है। इसका शुष्क पंचाङ्ग पंसारी भी रखते हैं।

संक्षिप्त परिचय – धमासा के पीताभ-हरित वर्ण के शाखाबहुल एवं छोटे-छोटे (३० सें० मी० से ६० सें० मी० या १ से ३ फुट ऊंचे), कँटीले क्षुप में शाखा और पत्र फीके हरे रंग के होते हैं। पत्तियाँ तीन पत्रकों वाली अभिमुखक्रम से स्थित होती हैं। पत्रक २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१½ इंच) तक लम्बे, सरल धार वाले तथा रूपरेखा में रेखाकार-अंडाकार (*Linear - elliptic*) आपाततः देखने में सनायपत्रकों-जैसे लगते हैं। प्रत्येक पत्ती के मूल में २-२ कांटे होते हैं, जो वास्तव में कांटों में रूपान्तरित अनुपत्र (*Stipules*) होते हैं। पुष्पागम शरद् ऋतु (कुवार-कार्तिक) में होता है। पुष्प छोटे-छोटे तथा गुलाबी रंग के, पुटपत्र (*Sepals*) रूपरेखा में आयताकार-भालाकार दलपत्रों की आधी लम्बाई के बराबर होते हैं। फल (*Capsule*) पांच पक्ष अथवा धाराओं से युक्त, अग्र पर तीक्ष्णाग्र लम्बा काँटा होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (तथा पत्र, टहनी)।

मात्रा – ६ ग्राम से १२ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण–धमासे को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, मधुर, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–कफपित्तशामक, दाहप्रशमन, व्रणरोपण, मस्तिष्कवल्य, स्तम्भन, रक्तप्रसादन एवं रक्तस्तम्भक, कफनिःसारक, मूत्रल, ज्वरघ्न, त्वग्दोषहर, कटु

पौष्टिक आदि। चरकोक्त (सू० अ० ४) अर्शोघ्न एवं तृष्णानिग्रहण महाकषाय में धन्वयास भी पड़ता है।

मुख्य योग – दुरालभादि क्वाथ। धन्वयास (धमासा) का उल्लेख चरकोक्त तृष्णानिग्रहण एवं अर्शोघ्न गण की औषधियों में भी है। विशेष – धमासे के समग्र क्षुप को कूटने से रस प्राप्त नहीं होता। इसलिए उसका हिम तथा फाण्ट बनाना पड़ता है। धमासा, पित्तपापड़ा और मुनक्का इन सबका हिम या फाण्ट बनाना अच्छा है।

वक्तव्य – भावप्रकाश निघण्टु में धन्वयास, यवासा (जवासा) के लिए लिखा है। परन्तु प्राचीनों ने इसे दुरालभा (धमासा) के पर्यायों में लिखा है, और यही ठीक है— यथा धन्वयासः (च० सू० अ० ४), (ध०, रा० नि०)। धमासा एवं जवासा दोनों पृथक्-पृथक् ओषधियाँ हैं। इनके वानस्पतिक कुल भी भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि आपाततः दोनों के क्षुप देखने में साधारण एकरूपता रखते हैं, किन्तु फल युक्त होने पर वानस्पतिक-कुल के विशिष्ट लक्षणों के आधार पर पहचानना अत्यंत सरल है। जवासे में शिम्बी या फलियाँ (*Legumes*) लगती हैं। धमासे में फल (*Capsules*) होते हैं। धमासे में दो पत्तियाँ, (उनमें मूल के पास स्थित) ४ काँटे और एक फूल चक्राकार में होते हैं।

धाय, धवई (धातकी)

नाम। सं० – धातकी, धातुपुष्पी, वह्निज्वाला, ताम्रपुष्पी। हिं०—धवई के फूल, धाय के फूल, धवला। बं०—धाईफुल। म० – धायटी, धावस। गु० – धावड़ी। का० – थाइ। फा०–गुले धावा। अं० – डाउनी ग्रिजलेआ (*Downy Grislea*)। ले०—वुडफोर्डिआ फ्रूटिकोसा *Woodfordia fruticosa Kurz.* (पर्याय—वूडफोर्डिआ फ्लोरिबुंडा *Woodfordia floribunda Salisb*)। लेटिन नाम इसके क्षुप का है।

वानस्पतिक कुल—धातक्यादि-कुल (लीथ्रासे *Lythraceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के पहाड़ी प्रदेशों में १५२३ मीटर या ५,००० फुट की ऊंचाई तक इसके क्षुप स्वयंजात होते हैं। सुखाये हुए पुष्प पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके क्षुप बड़े, शाखाएँ लम्बी फैली हुई होती हैं। नवीन शाखाओं और पत्तियों पर काले-काले बिन्दु (*Black glands*) होते हैं। पत्तियाँ अभिमुख या लगभग अभिमुख (*Sub opposite*), दो कतारों में (*Distichous*), कभी-कभी ३-३ के चक्र (*Whorls of 3*) में स्थित होती हैं। रूपरेखा में यह भालाकार, या लट्वाकार - भालाकार, अग्र प्रायः नुकीला और लम्बा, आधार पर गोल या हृदयाकार, ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बी तथा १.५ से २.५ सें० मी० (३/४-१ इंच) चौड़ी और सरल धार, रंग में फीकी (*Pale*) तथा अधः पृष्ठ प्रायः खाकस्तरी मृदुरोमावृत (*Grey pubescent*) होता हैं। पुष्प चमकीले लाल रंग के होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत ५-१५ पुष्पवाहक दण्डों पर गुच्छों में निकलते हैं। बाह्य कोष (*Calyx*) १ सें० मी० से ३/२ सें० मी० (२/५ से ३/५ इंच) लम्बा, नलिकाकार, कुछ टेढ़ा और गाढ़े लाल रंग का आभ्यन्तर कोष ६ दलपत्रों का श्वेत बाह्य पुट के अन्दर छिपे होते हैं। पुंकेशर (*Stamens*) संख्या में १२। पुंकेसरों एवं कुक्षिवृन्त (*Styles*) की लम्बाई में नानारूपिता पायी जाती है। फल (*Capsule*) अण्डाकार तथा स्थायी बाह्य कोष नलिका (*Persistent Calyx-tube*) के अन्दर छिपा रहता है। फलों में अनेक छोटे-छोटे बीज पाये जाते हैं। फूलों से लाल रंग प्राप्त होता है जिसका उपयोग सिल्क रंगने के लिए किया जाता है। पुष्पों का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। जाड़ों में पुष्प तथा वर्षा में फल आते हैं।

उपयोगी अंग – पुष्प (फूल)।

मात्रा – चूर्ण—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाह्य कोष नलिका स्थायी होती है, तथा सूखने पर भी इसका रंग ज्यों-का-त्यों बना रहता है। बाजार में मिलने वाले सूखे धाय के फूल में उक्त स्थायी बाह्य कोष नलिका में फल भी होता है, जो द्विकोष्ठीय (*2-Celled*) तथा द्विकपाटीय (*2-valved*) होता है। फलों के अन्दर हल्के भूरे रंग के अति सूक्ष्म लम्बगोल अनेक बीज होते हैं। यदि बाह्य कोष को जल में भिगो दिया जाय तो यह १२ दंताकार खण्डों से युक्त मालूम होता है। मामूली नमूनों में प्रायः पुष्पों के गुच्छे ही होते हैं, जिनसे डंठल पृथक् नहीं किया गया होता है, तथा कभी -कभी सूखी पत्तियाँ भी मिली होती हैं। स्वाद में यह अत्यंत कसैले होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पुष्पों को यथास्थान मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए और नमी से बचाना चाहिए।

संगठन – पुष्पों में लगभग २०% टैनिक एसिड होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष । रस–कषाय, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–शीत । प्रधानकर्म-कफपित्तशामक, दाहप्रशमन, रक्तस्तम्भन, मूत्रविरजनीय, ज्वरघ्न, शीतग्राही। अतिसार-प्रवाहिका नाशक । यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। अहितकर–कृमिजनक है। निवारण-अनार का रस ।

वक्तव्य – चिकित्सा-व्यवहार में धाय के फूल का अधिकांशतः उपयोग आसवारिष्ट में खमीर उठाने के लिए किया जाता है।

मुख्य योग – धातक्यादि क्वाथ, धातक्यादि चूर्ण, धातक्यादि तैल ।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) संधानीय, पुरीषसंग्रहणीय एवं मूत्रविरजनीय महाकषाय तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) प्रियङ्ग्वादि और अम्बष्ठादि गण के द्रव्यों में धातकी भी है।

नरसल (नल)

नाम। सं०–नल, पोटगल, शून्यमध्य, धमन । हिं०–नरसल, नरकट, नरकुट; (कुमायूं)–कर्का। को०–जंकई । बं०–नल । म०–नल। अं०–नॉडिंग रीड *Nodding reed* (अग्र नीचे को झुका होने से) । ले०–फ्राग्मीटेस कार्का (*Phragmites karka Trin.*) ।

वानस्पतिक कुल – तृण-कुल (ग्रामीने : *Gramineae*) ।

प्राप्तिस्थान – यह आनूप प्रदेशों (जलप्राय प्रदेश–नदी-नालों के किनारे तथा दलदल भूमि) में स्वयं उगता है।

संक्षिप्त परिचय – नरकट के बहुवर्षायु स्वरूप के पौधे होते हैं, जिनके काण्ड या नाल अथवा कल्म (*Culms*) ३ से ३.६ मीटर (१०-१२ फुट) ऊंचे, अन्दर से खोखले, रूपरेखा में गोलाकार तथा बाहर से चिकने, अधिकांशतः पत्राधार से आवृत होते हैं। काण्ड के पर्व हरिताभ-पीत या पीत वर्ण के तथा छोटे होते हैं। नरकट का एक-दो पौधा लगा देने पर भी यह लम्बे भूमिशायी काण्ड द्वारा शीघ्र अपनी संख्या वृद्धि करते हैं। कोई-कोई काण्ड सशाख भी होते हैं। पत्तियां कड़ी, सीधी खड़ी, ३० से ६० सें० मी० (१-२ फुट) लम्बी तथा २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१½ इंच) चौड़ी अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़ी होकर नुकीली हो जाती हैं। जाड़ों में पुष्पागम होता है। पुष्पव्यूह या घूआ १५ सें०मी० से ६२.५ सें०मी० (६-२५ इंच) तक लम्बा होता है। पुष्पव्यूह की छोटी दण्डिकाएँ या अनुशूकी (*Spikelets*) धूसर या भूरे रंग की होती हैं। काण्ड का कलम बनाया जाता है तथा बांसुरी भी बनाते हैं। मूल का औषध्यर्थ व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – मूल ।

मात्रा। क्वाथ–५ से १० तोला ।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – नल (नरकट) की बड़ी जाति भी होती है। धन्वन्तरि एवं राजनिघण्टुकार ने इसका वर्णन 'महानल' तथा 'देवनल' के नाम से किया है। इसके वानस्पतिक नाम यह हैं—(१) आरुंडो डोनाक्स (*Arundo donax Linn.* (*Family: Gramineae*); (२) फ्राग्मीटेस माक्सीमा *Phragmites maxima Blatter & Mc Cann.* (*Family : Gramineae*) । उक्त वनस्पतियाँ समस्त भारतवर्ष में (तथा हिमालय की तराई में ९१४.४ मीटर से १५२३ मीटर या ३,०००, ५,००० फुट की ऊंचाई तक) पायी जाती हैं। इनका मूल भी अभावे नलमूल के स्थान में ग्राह्य हो सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में नलमूल का संग्रह कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षण करें।

स्वभाव। गुण–लघु, स्निग्ध । रस–मधुर, कषाय, तिक्त । विपाक – मधुर । वीर्य–शीत । कर्म–त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशामक; दाहप्रशमन, मूत्रल, रक्तपित्तशामक एवं रक्तशोधक, स्तन्य-जनन, वृष्य; लेप के रूप में स्थानिक प्रयोग से दाहप्रशमन एवं व्रणरोपण।

मुख्य योग – तृणपंचमूलक्वाथ, पंचतृणक्षीर ।

नागकेसर (नागकेशर)

नाम। सं०–नागकेशर, नागपुष्प । हिं०–नागकेसर, नागेसर। बं०–नागेश्वर । म०, गु०–नागकेसर । फा०–नारेमुश्क। अ०–मिस्कुरम्मान। अं०–आयर्नवुड ट्री (*Iron-wood tree*), कोबराज सैफ्रन (*Cobra's Saffron*) । ले०–मेसुआ फ़ेर्रेआ (*Mesua ferrea Linn.*)। लेटिन नाम वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – नागकेशर-कुल (गुट्टीफ़ेरे *Guttiferae*) ।

प्राप्ति स्थान – पूर्वी हिमालय, पूर्वी बंगाल, आसाम, दक्षिणी कोंकण तथा पश्चिमी घाट के जंगलों में १५२३ मीटर या ५,००० फुट की ऊँचाई तक तथा अंडमान द्वीपसमूह में

इसके जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। यह बगीचों में भी लगाया जाता है। शुष्क पुंकेशर पंसारियों के यहाँ बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – नागकेशर के मध्य मकद के सदाहरित, सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ सीधी, गोल तथा कोमल और छाल धूसर वर्ण की होती है। पत्तियाँ ५ सें० मी० से १५ सें० मी० या २ से ६ इंच तक लम्बी २.५ से ३.७५ सें० मी० (१ से १॥ इंच) तक चौड़ी, आयताकार-भालाकार तथा अग्र की ओर नुकीली, ऊर्ध्व पृष्ठ चमकीला, अधःपृष्ठ श्वेताभ तथा क्षोदलिप्त, शिराएँ सघन एवं अस्पष्ट होती हैं, शाखाग्रों पर पत्रकोणों से पुष्प निकलते हैं, जो सफेद, सुगन्धित तथा व्यास में ७.५ सें० मी० से १० सें० मी० (३-४ इंच) होते हैं। पुष्पवाह्यदल स्थायी और कठोर होता है, तथा फलावस्था में भी बना रहता है। पुंकेशर पीतवर्ण गुच्छों में होते हैं। फल, २.५ सें० मी० से ३.१२५ सें० मी० (१-१। इंच) लम्बा, रूपरेखा में लम्बगोल होता है, जिसके भीतर मेंहदी के बीजों की भाँति १-४ कठोर धूसर वर्ण के बीज निकलते हैं। पुष्पागम वसन्त में तथा फलागम शरद् ऋतु में होता है। केशरों को नागकेशर तथा पुष्प को नागपुष्प कहते हैं।

उपयोगी अंग – पुष्प (विशेषतः पुंकेसर)।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यह पुन्नागजातीय नागचम्पा वृक्ष के फूल के केसर हैं, जो औषध के काम में आते हैं। फूल पिलाई लिये सफेद और सुगन्धित होता है। पुष्प व्यास में लगभग ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक होते हैं, जिनके पुटपत्र अथवा वाह्यदल या सेपल (*Sepals*) गोलाकार, मोटे, परन्तु किनारों पर पतले होते हैं। दलपत्र (*Petals*) संख्या में ४, सफेद रंग के, अभिलट्वाकार तथा फैले हुए (*Spreading*) होते हैं। परागकोश या परागाशय अथवा ऐन्थर (*Anther*) अपेक्षाकृत बड़ा, लम्बगोल तथा सुनहले रंग का होता है। फल शंक्वाकार–लम्बगोल, आकार में चेस्टनट के बराबर, तथा अग्र की ओर नुकीला होता है। फल का आधार स्थायी पुटपत्रों या वाह्यदल द्वारा आवृत होता है। कच्चे फलों के आधार पर एक रालीय चिपचिपा निर्यास (*Tenacious resin*) भी निकलता है, जो पहले मुलायम, किन्तु हवा में खुला रहने पर कड़ा हो जाता है। इसमें एक मनोरम सुगंधि भी पायी जाती है और हल्के पीले रंग का, फूल के गंध का और चैन टर्पेन्टाइन के समान होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – (१) लाल नागकेशर।

नाम। सं०–सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका। म०–सुरंगी (वृक्ष), लाल नागकेशर। गु०–रातुं नागकेशर। हिं०–लालनागकेशर। ले० – ओक्रोकार्पुस लांगीफोलिउस (*Ochrocarpus longifolius Benth. & Hook. f.*)। लाल नागकेशर का वृक्ष दक्षिण कोंकण से मलावार तक तथा कोयम्बटूर में समुद्रतट के प्रदेशमें स्वयंजात होता है, और बोया भी जाता है। इसकी सुखायी हुई कलिकाएँ, जो हल्की लालिमा लिये भूरे रंग की तथा छोटे लौंग के बराबर होती हैं, बाजारों में लाल नागकेशर के नाम से बिकती हैं। इसके गुण-कर्म भी असली नागकेशर की ही भाँति होते हैं, किन्तु उसकी अपेक्षा हीन कोटि का है। अभावे इसका प्रयोग असली नागकेशर के स्थान में किया जा सकता है। (२) काला नागकेशर – तज या चीनी दालचीनी या तमालपत्र (तेजपात) तथा दक्षिण भारत में पायी जाने वाली निकटतम जातियों के सुखाये हुए कच्चे या अप्रगल्भ फल (*Immature fruit*) दक्षिण में काला नागकेसर के नाम से बिकते हैं। इनका आयात चीन से तथा दक्षिण भारत के जंगलों से होता है। यूरोप में मसाले में काफी मात्रा में इसकी खपत होती है। मद्रास में पंसारी लोग काले नागकेशर को, नागकेसर के फल अथवा पीला नागकेशर या असली नागकेसर (*Mesua ferrea*) तथा लाल नागकेशर (*Ochrocarpus longifolius*) के नाम से बेचते हैं। नागकेशर के स्थान में इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – नागकेशर को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – कच्चे फलों में एक तैलीय राल (*Oleo-resin*) निकलता है, जिससे एक प्रकार का उत्पत् तैल प्राप्त होता है। बीजों में एक स्थिर तैल होता है और फलावरण में कषाय द्रव्य तथा केशर में दो तिक्त द्रव्य पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफपित्तशामक, दुर्गन्धनाशक, स्वेदापनयन, दीपन-पाचन, ग्राही, अर्शोघ्न, कृमिघ्न,

रक्तस्तम्भक, वल्य, वाजीकरण, मूत्रजनन, मेध्य। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति के लिए। निवारण–शुद्ध मधु। प्रतिनिधि–नागरमोथा।

मुख्य योग – हलवा सुपारीपाक।

विशेष – नागकेशर चातुर्जात का उपादान है। सुश्रुतोक्त एलादि गण, प्रियङ्ग्वादि गण एवं अञ्जनादि गण में नाग पुष्प (नागकेशर) का भी उल्लेख है।

नागरमोथा (नागरमुस्ता)

नाम। सं०–नागरमुस्ता। हिं०–नागरमोथा। बं०–नागरमुता। म०–नागरमोथा। गु०–नागरमोथ। अ०–सोअ (अ्) द कूफ़ी। फा०–मुश्केजमीं, मुश्क ज़ेरेज़मीं। ले०–सीपेरुस स्कारिओसुस (*Cyperus scariosus* R. Br.)।

वानस्पतिक कुल– मुस्तादि-कुल (सीपेरासे *Cyperaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पूर्वी एवं दक्षिण भारत, बंगाल, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान आदि के जलाशयों में पाया जाता है। इसका सुखाया हुआ कन्दयुक्त भौमिक काण्ड बाजारों में बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – नागरमोथा के मोटे अन्तर्भूमिशायी काण्ड होते हैं। वायव्य काण्ड पतला, कोमल तथा त्रिपार्श्विक (*Triquetrous*) होता है, जो प्रायः ३७.५ सें० मी० से ९० सें० मी० (१। से ३ फीट) तक ऊंचा होता है, और अग्र पर व्यास में केवल १–१॥ मिलिमीटर होता है। पत्तियाँ मूलीय पत्रगुच्छ के रूप में होती हैं, जो प्रायः काण्ड से छोटी (कभी बड़ी) और कभी नहीं होतीं। पुष्प छोटे हरिताभ, जो समस्थ मूर्धज क्रम में स्थित पुष्पवाहक शाखाओं पर निकलते हैं, जो अवृन्त काण्डज व्यूहों अर्थात् अनुशूकी (स्पाइकलेट *Spikelets*) का संयुक्त व्यह होते हैं। इसके कन्दयुक्त भौमिक काण्ड बाजार में नागरमोथा के नाम से बिकते हैं।

उपयोगी अंग – (भौमिक काण्ड युक्त) कन्दाकार जड़।

मात्रा – चूर्ण – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा। क्वाथ २॥ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – नागरमोथा के कन्द लम्बे, कुछ दबे हुए, टेढ़े और कालापन लिये हुए ५ सें० मी० या २ इंच तक लम्बे और व्यास में १.२५ सें० मी० या ½ इंच तक, कभी-कभी सशाख (*Branched*), बाह्य तल प्रायः शल्कपत्रों के अवशेष से आवृत होता है और इस पर अनेक वलयाकार या मुद्रिकाकार रेखाएँ (*Annular rings*) होती हैं। शल्कपत्रों को साफ करने पर कन्द गाढ़े भूरे रंग का होता है। अवस्तल से कभी-कभी सूत्राकार जड़ें निकली होती हैं और निचले सिरे पर भौमिक काण्ड लगा होता है। कन्द का अन्तर्वस्तु कड़ा और रक्ताभ वर्ण का होता है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर त्वचीय या बहिर्भाग (*Cortical portion*) कुछ गाढ़े रंग का होता है। नागरमोथे में एक विशिष्ट प्रकार की उग्र सुगन्धि (वचा की सी तथा कुछ-कुछ तारपीन-सी) पायी जाती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – मोथा की कई जातियाँ पायी जाती हैं, जो गुण-कर्म में बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। इन सबमें नागरमोथा सर्वश्रेष्ठ होता है। किन्तु उसके अभाव में अन्य मुस्ता का भी प्रयोग कर सकते हैं :—

(१) सीपेरुस रोटुंडुस (*Cyperus rotundus Linn*)। नाम। सं०–मुस्तक, मुस्ता। हिं०–मोथा, मुथा। बं०–मुता। म०, गु०–मोथ। हो०–रोटेसिला। मोथा में मूलीय पत्रगुच्छ होता है, जो एक कठोर कन्द सदृश भौमिक काण्ड (*Rounded rhizome*) से निकलता है। नीचे सूत्राकार अन्तर्भूमिशायी काण्ड भी प्रायः होते हैं, जिससे काले कन्द (*Bulbous root*) निकलते हैं। पत्तियों के बीच से तीन पहल का वायव्य-काण्ड (*Aerial stem*) निकलता है। अग्रपर समस्थ मूर्धज क्रम में पुष्पवाहक शाखा छोटे-छोटे अवृन्तकाण्डज व्यूहों का संयुक्त व्यूह होती है। पुष्पव्यूह का आधार भाग तीन पत्र-सदृश कोणपुष्पकों या निपत्रों (*Bracts*) से घिरा होता है। मोथा सर्वत्र भारतवर्ष में लगभग १८२९ मीटर या ६,००० फुट की ऊंचाई तक पाया जाता है। खेतों में अथवा रास्तों के किनारे या परती जमीन में जल के पास उगा मिलता है। इसकी कन्दाकृति जड़ बाहर से काली और भीतर से सफेद, गोल, कठिन और सुगंधित होती है। स्वाद में किंचित् तिक्त होती है। औषधि में इन्हीं का व्यवहार होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – नागरमोथे को अच्छी तरह मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – नागर मोथे की जड़ में अल्प मात्रा (०.०७५ से ०.०८०%) में एक सुगंधित उत्पत् तैल तथा वसा, शर्करा, निर्यास, कार्बोहाइड्रेट एवं ऐल्ब्युमिन, एवं क्षार आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

इसके जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। यह बगीचों में भी लगाया जाता है। शुष्क पुंकेशर पंसारियों के यहाँ बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – नागकेशर के मध्य मकद के सदाहरित, सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ सीधी, गोल तथा कोमल और छाल धूसर वर्ण की होती है। पत्तियाँ ५ सें० मी० से १५ सें० मी० या २ से ६ इंच तक लम्बी २.५ से ३.७५ सें० मी० (१ से १॥ इंच) तक चौड़ी, आयताकार-भालाकार तथा अग्र की ओर नुकीली, ऊर्ध्व पृष्ठ चमकीला, अधःपृष्ठ श्वेताभ तथा क्षोदलिप्त, शिराएँ सघन एवं अस्पष्ट होती हैं, शाखाग्रों पर पत्रकोणों से पुष्प निकलते हैं, जो सफेद, सुगन्धित तथा व्यास में ७.५ सें० मी० से १० सें० मी० (३-४ इंच) होते हैं। पुष्पबाह्यदल स्थायी और कठोर होता है, तथा फलावस्था में भी बना रहता है। पुंकेशर पीतवर्ण गुच्छों में होते हैं। फल, २.५ सें० मी० से ३.१२५ सें० मी० (१-१। इंच) लम्बा, रूपरेखा में लम्बगोल होता है, जिसके भीतर मेंहदी के बीजों की भाँति १-४ कठोर धूसर वर्ण के बीज निकलते हैं। पुष्पागम वसन्त में तथा फलागम शरद् ऋतु में होता है। केशरों को नागकेशर तथा पुष्प को नागपुष्प कहते हैं।

उपयोगी अंग – पुष्प (विशेषतः पुंकेसर)।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यह पुन्नागजातीय नागचम्पा वृक्ष के फूल के केसर हैं, जो औषध के काम में आते हैं। फूल पिलाई लिये सफेद और सुगन्धित होता है। पुष्प व्यास में लगभग ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक होते हैं, जिनके पुटपत्र अथवा बाह्यदल या सेपल (*Sepals*) गोलाकार, मोटे, परन्तु किनारों पर पतले होते हैं। दलपत्र (*Petals*) संख्या में ४, सफेद रंग के, अभिलट्वाकार तथा फैले हुए (*Spreading*) होते हैं। परागकोश या परागाशय अथवा ऐन्थर (*Anther*) अपेक्षाकृत बड़ा, लम्बगोल तथा सुनहले रंग का होता है। फल शंक्वाकार–लम्बगोल, आकार में चेस्टनट के बराबर, तथा अग्र की ओर नुकीला होता है। फल का आधार स्थायी पुटपत्रों या बाह्यदल द्वारा आवृत होता है। कच्चे फलों के आधार पर एक रालीय चिपचिपा निर्यास (*Tenacious resin*) भी निकलता है, जो पहले मुलायम, किन्तु हवा में खुला रहने पर कड़ा हो जाता है। इसमें एक मनोरम सुगंधि भी पायी जाती है और हल्के पीले रंग का, फूल के गंध का और चैन टर्पेन्टाइन के समान होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – (१) लाल नागकेशर। **नाम।** सं०–सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका। म०–सुरंगी (वृक्ष), लाल नागकेशर। गु०–रातुं नागकेशर। हिं०–लालनागकेशर। ले० – ओक्रोकार्पुस लांगीफोलिउस (*Ochrocarpus longifolius Benth. & Hook. f.*)। लाल नागकेशर का वृक्ष दक्षिण कोंकण से मलाबार तक तथा कोयम्बटूर में समुद्रतट के प्रदेशमें स्वयंजात होता है, और बोया भी जाता है। इसकी सुखायी हुई कलिकाएँ, जो हल्की लालिमा लिये भूरे रंग की तथा छोटे लौंग के बराबर होती हैं, बाजारों में लाल नागकेशर के नाम से बिकती हैं। इसके गुण-कर्म भी असली नागकेशर की ही भाँति होते हैं, किन्तु उसकी अपेक्षा हीन कोटि का है। अभावे इसका प्रयोग असली नागकेशर के स्थान में किया जा सकता है। (२) काला नागकेशर – तज या चीनी दालचीनी या तमालपत्र (तेजपात) तथा दक्षिण भारत में पायी जाने वाली निकटतम जातियों के सुखाये हुए कच्चे या अप्रगल्भ फल (*Immature fruit*) दक्षिण में काला नागकेसर के नाम से बिकते हैं। इनका आयात चीन से तथा दक्षिण भारत के जंगलों से होता है। यूरोप में मसाले में काफी मात्रा में इसकी खपत होती है। मद्रास में पंसारी लोग काले नागकेशर को, नागकेसर के फल अथवा पीला नागकेशर या असली नागकेसर (*Mesua ferrea*) तथा लाल नागकेशर (*Ochrocarpus longifolius*) के नाम से बेचते हैं। नागकेशर के स्थान में इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – नागकेशर को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – कच्चे फलों में एक तैलीय राल (*Oleo-resin*) निकलता है, जिससे एक प्रकार का उत्पत् तैल प्राप्त होता है। बीजों में एक स्थिर तैल होता है और फलावरण में कषाय द्रव्य तथा केशर में दो तिक्त द्रव्य पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफपित्तशामक, दुर्गन्धनाशक, स्वेदापनयन, दीपन-पाचन, ग्राही, अर्शोघ्न, कृमिघ्न,

अपेक्षाकृत अधिक स्थूल एवं फूला-सा होता है। काण्ड पर पत्तियों का गुच्छक (कूर्चशीर्पक) होता है। पत्तियाँ १.८ मीटर से ५.४ मीटर (६ से १८ फुट) लम्बी तथा त्रिपादोत्तर पक्षवत् (*Pinnatisect*) होती हैं। पत्रक ६० सें० मी० से ९० सें० मी० (२ - ३ फुट) लम्बे, कम चौड़े तथा अग्र की ओर चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती है। पुष्पव्यूह पत्रावृत अवृन्त - काण्डज स्थूल मञ्जरी या स्पैडिक्स (*Spadix*) होता है, जो पत्र-कोणों से निकलता है, तथा पत्रकोश (*Spathe*) द्वारा आवृत रहता है। पुष्प एक लिंगी होते हैं, किन्तु एक ही वृक्ष पर नर एवं स्त्री दोनों प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं। सशाख मञ्जरियों पर स्त्री पुष्प गोलाकार, प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे, संख्या में अपेक्षाकृत कम और नीचे के भाग में स्थित होते हैं। नरपुष्प छोटे, सुगंधित और संख्या में अधिक होते हैं, जो मञ्जरियों के अग्र भाग की ओर स्थित होते हैं। फल प्रायः अंडाकार (*Ovoid*), त्रिपार्श्विक (*Three-angled*) तथा १५ सें० मी० से ३० सें० मी० (६ - १२ इंच) तक लम्बा होता है, जिनमें प्रत्येक में एक बीज होता है। नारियल में वर्ष भर फूल-फल लगते रहते हैं। कच्चे फलों में एक द्रव भरा रहता है, जिसे डाभ या नारिकेलोदक (*Cocoanut - water*) कहते हैं। मध्यावस्था में जल अपेक्षाकृत कम और गिरी मृदु दुग्धवत् होती है। किन्तु पक्वावस्था में गिरी (*Kernel*) कठोर, स्वाद-रहित और प्रायः निर्जल हो जाती है। फलों का वाह्य छिलका रेशावहुल (*Fibrous*) होता है, जिसके अन्दर कड़ा खपड़ोहा (*Shell*) होता है। इसको तोड़ने पर अन्दर गिरी (*Kernel*) निकलती है। खोपड़े (*Shell*) के एक सिरे पर ३ छिद्र होते हैं। व्यावसायिक दृष्टि से नारियल एक महत्त्व का वृक्ष है। इसके सभी अंगों की प्रचुर मात्रा में व्यावसायिक खपत होती है।

उपयोगी अंग – फल की गिरी (खोपड़ा), गिरी का तेल (*Cocoanut oil*), फल, पुष्प, रोमराजि या जटा (*Tomentum*), मूल एवं क्षार (नारिकेल क्षार), ताजा रस या नीरा (*Sweet-Toddy*)।

मात्रा – क्षार– ½ ग्राम से १ ग्राम या ४ से ८ रत्ती।
गिरी–२ से ३ तोला।
तेल–१० से २० बूंद।
डाभ–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा। गरी का तेल – यह नारियल की पक्व गिरी से संपीडन द्वारा रंगहीन अथवा हल्के पीले रंग के पारदर्शक द्रव के रूप में प्राप्त किया जाता है। २०° तापक्रम पर यह जम जाता है और १५° तापक्रम पर तो कड़ा होकर मोम की भाँति हो जाता है। तेल में भी गिरी-जैसी गंध होती है, तथा स्वाद में मधुर एवं रुचिकर होता है। हवा में देर तक खुला रहने से गरी का तेल विकृत हो जाता है। विलेयता–६०° तापक्रम पर दुगुने आयतन के बराबर ऐल्कोहल (९५%) में घुल जाता है (कम तापक्रम पर अपेक्षाकृत कम घुलता है)। ईथर, क्लोरोफार्म एवं कार्बन-बाईसल्फाइड में भी फौरन घुल जाता है। आपेक्षिक गुरुत्व (२५° तापक्रम पर)–०.९१८२; (३०° तापक्रम पर)–०.९१५०; (३५° तापक्रम पर)–०.९१३५। अपवर्तनांक तालिका : (२५° पर)—१.४५३०–१.४५६०। आयोडीन वैल्यू (*Iodine value*)—८.० से ९.६। सैपोनिफिकेशन वैल्यू (*Saponification value*)–२५०–२६३।

मिलावट—गरी के तेल में मूंगफली के तेल एवं खनिज तैलों का मिलावट किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – तैल को अच्छी तरह कार्कवन्द सफेद शीशियों में भर कर अँधेरी जगह में रखना चाहिए। क्षार को अच्छी तरह कार्कबन्द शीशियों में रखें और आर्द्रता या नमी से बचाना चाहिए। अन्य उपयोगी अंगो को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – ताजे खोपरे में मांसवर्धक तत्त्व (*Nitrogenous substances*), वसा, द्राक्षशर्करा, इक्षुशर्करा प्रभृति तत्त्व होते हैं। गरी से ६० से ७०% तैल प्राप्त होता है, जिसमें लॉरिक एसिड (४४ से ५१·३%), मायारिस्टिक एसिड (१३ से १८%), केप्रिलिक एसिड, पामिटिक एसिड, स्टियरिक एसिड के ग्लिसराइड्स पाये जाते हैं। डाभ (*Cocoanut milk*) में प्रोटीन, इक्षुशर्करा, क्लोराइड्स एवं विटामिन 'A' और 'B' पाये जाते हैं। क्षार में काफी मात्रा में पोटास पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – तैल-दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रभाव–केश्य। कर्म–वातपित्त शामक। इसका जल–अग्निदीपन, हिक्कानिग्रहण, रक्तपित्तशामक, मूत्र-

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष । रस–कटु, तिक्त, कषाय । विपाक–कटु । वीर्य–शीत । कर्म–कफपित्तशामक, दीपन-पाचन, ग्राही, तृष्णानिग्रहण, कृमिघ्न, रक्तप्रसादन, कफघ्न, मूत्रार्तवजनन, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, बल्य, मेध्य आदि ।

मुख्य योग – मुस्तकादि क्वाथ, मुस्तकाद्यरिष्ट, षडंगपानीय, जुवारिश जालीनूस आदि ।

विशेष – चरकोक्त लेखनीय, तृप्तिघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन एवं तृष्णानिग्रहण गणों (महाकषायों) में तथा सुश्रुतोक्त वचादि एवं मुस्तादि गण की औषधियों में मुस्ता (नागरमोथा) का भी उल्लेख है ।

नारङ्गी (नारंग)

नाम । सं०–नागरङ्ग, नारंग । हिं०–नारंगी । म०–संत्रें, नारिंग । गु०–नारंगी । अ०–नारंज । फा०–नारंग । अं०–ऑरेन्ज (*Orange*) । ले०–सिट्रस आऊरान्टिउम *Citrus aurantium Linn.* (कड़वी नारंगी); (२) सिट्रस साइनेन्सिस *Citrus sinensis Linn.* (मीठी नारंगी या मुसम्मी) ।

वानस्पतिक कुल – जम्बीर-कुल (रूटासे *Rutaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में नारंगी के लगाये हुए पेड़ मिलते हैं । मद्रास में गन्टूर जिले में काफी परिमाण में इसके बगीचे लगाये गये हैं । सिट्रस सीनेन्सिस (मीठी नारंगी) के भी समस्त भारतवर्ष (विशेषतः बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, कुर्ग, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार-उड़ीसा एवं पंजाब आदि) में बगीचे लगाये जाते हैं । फसल के समय में पक्व फल बाजारों में बिकते हैं । पूना की मुसम्मी अधिक अच्छी होती है ।

संक्षिप्त परिचय – नारंगी के अनेक शाखा-प्रशाखा युक्त, मध्यमकद के कँटीले वृक्ष होते हैं । कोमल शाखाएँ हरिताभ श्वेत वर्ण की होती हैं । पत्तियाँ वास्तव में सपत्रक होती हैं, किन्तु एक ही पत्रक पाया जाता है, जिससे साधारण पत्रवत् मालूम होती हैं । यह ५ सें० मी० या २ इंच तक लम्बी तथा अनुपपत्र एवं एकान्तर क्रम से स्थित होती है । पर्णवृन्त सपक्ष (*Winged*) होता है, जिससे फलक जुटा-सा (*Jointed*) मालूम होता है । पत्तियों के पृष्ठ पर सूक्ष्म तैल विन्दु पाये जाते हैं, जिससे पत्तियों को मसल कर सूंघने से एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि मालूम होती है । पत्रतट सूक्ष्मदन्तुर होता है । पुष्प सफेद तथा मीठी सुगंधि युक्त होते हैं । फल गोलाकार किन्तु दोनों सिरों पर चपटे होते हैं । कच्ची अवस्था में यह हरे तथा पकने पर पीले रंग के हो जाते हैं । फल का छिलका पतला होता है तथा गूदे से आसानी से पृथक् हो जाता है । गूदा मीठा होता है ।

उपयोगी अंग – फल एवं पुष्प तथा फलत्वचा ।

मात्रा – फलस्वरस–२ से ५ तोला ।
फलत्वचा–आवश्यकतानुसार ।

संग्रह एवं संरक्षण – नारंगी के छिलके को छायाशुष्क कर अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें ।

स्वभाव – गुण – गुरु, स्निग्ध । रस–मधुर, अम्ल । विपाक–मधुर । वीर्य–शीत । कर्म–वातपित्तशामक, सौमनस्यजनन, रोचन, दीपन, छर्दिनिग्रहण, हृद्य, शोणितस्थापन एवं बल्य आदि । फलत्वचा लेखन एवं वर्ण्य तथा पुष्प आक्षेप हर होते हैं ।

मुख्य योग – शर्बत नारंग ।

नारियल (नारिकेल)

नाम । सं०–नारिकेल, नालिकेर । हिं०–नारियल, नरियल । बं०–नारकेल् । पं०–नरेल, खोपा । म०–नारल (फल), माड (वृक्ष) । गु०–नारिअल, नारियल । अ०–नारजील, जैंजो हिंदी । फा०–नारगील । अं०–(१) फल–कोकोनट फ्रूट (*Cocoanut fruit*); (२) वृक्ष–कोकोनट ट्री (*Cocoanut tree*) । ले०–कोकोस नूसीफ़ेरा *Cocos nucifera Linn.* ।

वानस्पतिक कुल – ताड़-कुल (पामासे *Palmaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत, मलाबारतट, करोमंडलतट, पूर्वी बंगाल, लंका, ब्रह्मा तथा पूर्वी द्वीपसमूह । इसके कच्चे, पके फल तथा पक्व फलों की गिरी (खोपरा) बाजारों में बिकते हैं । गरी का तेल भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य है ।

संक्षिप्त परिचय – नारियल के ऊँचे-ऊँचे (२४.३६ मीटर या ८० फुट तक या इससे भी अधिक) तथा निःशाख देखने में ताड़-जैसे वृक्ष होते हैं, जिसका काण्डस्कन्ध (*Trunk*) व्यास में ३० सें०मी० से ४५ सें०मी० (१-१॥ फुट) होता है । इस पर वलयाकार किन्तु अस्पष्ट चिह्न (*Ringlike leaf scars*) होते हैं । मूल के पास काण्ड

अपेक्षाकृत अधिक स्थूल एवं फूला-सा होता है। काण्ड पर पत्तियों का गुच्छक (कूर्चशीर्षक) होता है। पत्तियाँ १.८ मीटर से ५.४ मीटर (६ से १८ फुट) लम्बी तथा त्रिपादोत्तर पक्षवत् (*Pinnatisect*) होती हैं। पत्रक ६० सें० मी० से ९० सें० मी० (२ - ३ फुट) लम्बे, कम चौड़े तथा अग्र की ओर चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती है। पुष्पव्यूह पत्रावृत अवृन्त - काण्डज स्थूल मञ्जरी या स्पैडिक्स (*Spadix*) होता है, जो पत्र-कोणों से निकलता है, तथा पत्रकोश (*Spathe*) द्वारा आवृत रहता है। पुष्प एक लिंगी होते हैं, किन्तु एक ही वृक्ष पर नर एवं स्त्री दोनों प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं। सशाख मञ्जरियों पर स्त्री पुष्प गोलाकार, प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे, संख्या में अपेक्षाकृत कम और नीचे के भाग में स्थित होते हैं। नरपुष्प छोटे, सुगंधित और संख्या में अधिक होते हैं, जो मञ्जरियों के अग्र भाग की ओर स्थित होते हैं। फल प्रायः अंडाकार (*Ovoid*), त्रिपार्श्विक (*Three-angled*) तथा १५ सें० मी० से ३० सें० मी० (६ - १२ इंच) तक लम्बा होता है, जिनमें प्रत्येक में एक बीज होता है। नारियल में वर्ष भर फूल-फल लगते रहते हैं। कच्चे फलों में एक द्रव भरा रहता है, जिसे डाभ या नारिकेलोदक (*Cocoanut - water*) कहते हैं। मध्यावस्था में जल अपेक्षाकृत कम और गिरी मृदु दुग्धवत् होती है। किन्तु पक्वावस्था में गिरी (*Kernel*) कठोर, स्वाद-रहित और प्रायः निर्जल हो जाती है। फलों का बाह्य छिलका रेशाबहुल (*Fibrous*) होता है, जिसके अन्दर कड़ा खपड़ोहा (*Shell*) होता है। इसको तोड़ने पर अन्दर गिरी (*Kernel*) निकलती है। खोपड़े (*Shell*) के एक सिरे पर ३ छिद्र होते हैं। व्यावसायिक दृष्टि से नारियल एक महत्त्व का वृक्ष है। इसके सभी अंगों की प्रचुर मात्रा में व्यावसायिक खपत होती है।

उपयोगी अंग—फल की गिरी (खोपड़ा), गिरी का तेल (*Cocoanut oil*), फल, पुष्प, रोमराजि या जटा (*Tomentum*), मूल एवं क्षार (नारिकेल क्षार), ताजा रस या नीरा (*Sweet-Toddy*)।

मात्रा—क्षार— ½ ग्राम से १ ग्राम या ४ से ८ रत्ती।
गिरी—२ से ३ तोला।
तेल—१० से २० बूंद।
डाभ—आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा। गरी का तेल—यह नारियल की पक्व गिरी से संपीडन द्वारा रंगहीन अथवा हल्के पीले रंग के पारदर्शक द्रव के रूप में प्राप्त किया जाता है। २०° तापक्रम पर यह जम जाता है और १५° तापक्रम पर तो कड़ा होकर मोम की भाँति हो जाता है। तेल में भी गिरी-जैसी गंध होती है, तथा स्वाद में मधुर एवं रुचिकर होता है। हवा में देर तक खुला रहने से गरी का तेल विकृत हो जाता है। विलेयता—६०° तापक्रम पर दुगुने आयतन के बराबर ऐल्कोहल (९५%) में घुल जाता है (कम तापक्रम पर अपेक्षाकृत कम घुलता है)। ईथर, क्लोरोफार्म एवं कार्बन-बाईसलफाइड में भी फौरन घुल जाता है। आपेक्षिक गुरुत्व (२५° तापक्रम पर)—०.९१८२; (३०° तापक्रम पर)—०.९१५०; (३५° तापक्रम पर)—०.९१३५। अपवर्तनांक तालिका: (२५° पर)—१.४५३०—१.४५६०। आयोडीन वैल्यू (*Iodine value*)—८.० से ९.६। सैपोनिफिकेशन वैल्यू (*Saponification value*)—२५०—२६३।

मिलावट—गरी के तेल में मूंगफली के तेल एवं खनिज तैलों का मिलावट किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण—तैल को अच्छी तरह कार्कबन्द सफेद शीशियों में भर कर अँधेरी जगह में रखना चाहिए। क्षार को अच्छी तरह कार्कबन्द शीशियों में रखें और आर्द्रता या नमी से बचाना चाहिए। अन्य उपयोगी अंगों को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन—ताजे खोपरे में मांसवर्धक तत्त्व (*Nitrogenous substances*), वसा, द्राक्षशर्करा, इक्षुशर्करा प्रभृति तत्त्व होते हैं। गरी से ६० से ७०% तैल प्राप्त होता है, जिसमें लॉरिक एसिड (४४ से ५१·३%), मायारिस्टिक एसिड (१३ से १८%), केप्रिलिक एसिड, पामिटिक एसिड, स्टियरिक एसिड के ग्लिसराइड्स पाये जाते हैं। डाभ (*Cocoanut milk*) में प्रोटीन, इक्षुशर्करा, क्लोराइड्स एवं विटामिन 'A' और 'B' पाये जाते हैं। क्षार में काफी मात्रा में पोटास पाया जाता है।

वीर्यकालावधि—तैल-दीर्घ काल तक।

स्वभाव—गुण—गुरु, स्निग्ध। रस—मधुर। विपाक—मधुर। वीर्य—शीत। प्रभाव—केश्य। कर्म—वातपित्त शामक। इसका जल—अग्निदीपन, हिक्कानिग्रहण, रक्तपित्तशामक, मूत्र-

जनन, वस्तिविशोधन, ज्वरनाशक, तृष्णादाहशामक। क्षार—भेदन, शूलप्रशमन, अम्लपित्तनाशक। कोमल फल—वृंहण, वल्य, रक्तपित्तशामक; और पक्व फल—वाजीकरण, आर्तवजनन। गिरीका तेल—केश्य, कुष्ठघ्न, व्रणरोपण। ताजा तेल चर्बी के स्थान में प्रयुक्त होता है, और उससे श्रेष्ठ होता है। यूनानी मतानुसार नारियल दूसरे दर्जे में गरम और तर है। अहितकर—अभिष्यन्दि एवं चिरपाकी। निवारण—शर्करा और मिश्री। प्रतिनिधि—अखरोट, पिस्ता, चिलगोजा इत्यादि।

मुख्य योग — नारिकेल खण्ड, नारिकेल लवण, नारिकेलामृत, माजून फिलसफा।

नारियल दरियाई

नाम। हिं०—दरियाई नारियल। द०—दरिया का नारियल। म०—दर्याचा नारल। गु०—दर्यानुं नालीएर (नारिअल)। वम्ब०, कों० मा० — जहरी नारल। अ० — नारजीले वहरी। फा० — नारजीले दरियाई। अं० — सी-कोकोनट (*Sea-Cocoanut*)। ले० — लोडोइसेआ सेइचेल्लारुम् *Lodoicea seychellarum Labill.* (पर्याय—*L. maldivica Pers.*)।

वानस्पतिक कुल — ताड़-कुल (पामे *Palmae*)।

प्राप्तिस्थान — दरियाई नारियल सिचेलिन द्वीपसमूह (*Seychelles*) का आदिवासी वृक्ष है। समुद्र-धाराओं द्वारा इसका प्रसार अन्य देशों में भी हो गया है। अफरीका एवं अमेरीका के समुद्र तटवर्ती देशों में भी यह होता है। अधुना दक्षिण भारत के समुद्र तटवर्ती प्रान्तों में भी यह कहीं-कहीं लगाया जाता है। सर्वत्र पंसारियों के यहाँ इसके मग्ज के कटे हुए वेडौल टुकड़े मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय — दरियाई नारियल का वृक्ष भी ताड़ या नारियल के वृक्ष की भाँति होता है। इसका काण्ड काफी ऊंचाई तक (३०.४६ मीटर १०० फुट तक) वढ़ता है और लौह-स्तम्भ की भाँति मालूम होता है। स्त्री जाति के वृक्ष अपेक्षाकृत कम ऊँचे होते हैं। ताड़ कुल के अन्य वृक्षों की अपेक्षा यह अधिक दीर्घायु होता है, और फूल-फल भी वहुत विलम्व से आने प्रारम्भ होते हैं। २०—२५ वर्ष का हो जाने पर वृक्ष अत्यंत सुन्दर मालूम होता है। प्राय: ३० वर्ष पुराना होने पर प्रथम पुष्प आने प्रारम्भ होते हैं। नरवृक्ष की पत्रावृत अवृन्त काण्डज नम्य स्थूल मञ्जरियाँ प्राय: ९० से १२० सें० मी० या ३—४ फुट तक लम्वी एवं व्यास में ७.५ से १० सें० मी० या ३—४ इंच होती हैं। नारी-मंजरियों का पुष्पवाहक दण्ड काफी टेढ़ा-मेढ़ा होता है। जिसपर साधारणत: ४—५ या अधिक से अधिक ११ तक फल लगते हैं, जो वहुत वड़े-वड़े (२०-२५ सेर तक वजन के) रूपरेखा में नारियल के फलों की भाँति होते हैं। फूल लगने से लेकर फल पकने तक प्राय: ११ वर्ष तक का समय लग जाता है। किन्तु साधारणत: ३—४ वर्ष में फल प्रगल्भ हो जाते हैं और इस समय पर यह मुलायम होता है और अन्दर जेली की भाँति अर्धघन गूदा (गिरी) भरा होता है। फलों के वाहर नारियल की भाँति रोमराजि या रेशेदार जटा (*Thick fibrous coat*) होती है, जिसके अन्दर ३—३ खोपड़े (*Nuts*) निकलते हैं। गिरी काफी कड़ी होती है।

उपयोगी अंग — मग्ज या गिरी (फल मज्जा)।

मात्रा — ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४ से ८ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा — दरियाई नारियल की गिरी १.८७५ सें० मी० से २.५ सें०मी० (¾से १ इंच) तक मोटी, वहुत कड़ी और सफेद होती है, जिससे आपातत: देखने में गरी की भाँति लगती है। वाजार में इसके कटे हुए छोटे-वड़े वेडौल टुकड़े मिलते हैं, जिनमें कोई गंध या स्वाद नहीं होता। जल में काफी देर तक भिगोने से यह मुलायम हो जाते हैं, और छिलकेदार टुकड़े निकल सकते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण — इसे मुखवंद पात्रों में उपयुक्त स्थान में रखना चाहिए।

वीर्यकालावधि — दीर्घ काल तक।

स्वभाव — गुण—लघु, रूक्ष। रस—कटु, मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण। कर्म—कफवातशामक, तृष्णा निग्रहण, हृदयोत्तेजक, प्राकृतदेहाग्नि संरक्षक, विषघ्न, वामक आदि।

मुख्य योग — जवाहरमोहरा।

विशेष — दरियाई नारियल वहुत कड़ा होता है। अतएव इसका वुरादा प्रयुक्त करना चाहिए।

नाशपाती (टंक)

नाम। सं०—टंक, अमृत फल। हिं०—नाशपाती, नशपाती, नासपाती। पं०—नाक, नासपाती। अफ०—अमरूप, अमरूद, नाक। फा०—अमरूद। अ०—कुम्मस्रा। अं०—पिअर (*Pear*)। ले०—पीरुस कॉम्यूनिस (*Pyrus communis Linn.*) यह अमरूद से भिन्न है। जिस फल को भारतवर्ष में अमरूद कहते हैं, उसका कोई अरवी, फारसी नाम नहीं है।

वानस्पतिक कुल—तरुणी-कुल (रोजासे *Rosaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पूर्वी और मध्य यूरोप तथा पश्चिमी एशिया। उत्तर पश्चिम हिमालय में यह बड़े पैमाने पर लगायी जाती है। फसल में शहरों में इसका फल मेवाफरोशों के यहाँ बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – यह एक प्रसिद्ध मीठा फल है, जो विभिन्न आकार प्रकार का होता है। सामान्यतया नाशपाती खाने में कड़ी होती है; परन्तु कश्मीर आदि पहाड़ी प्रदेशों की नाशपाती अत्यंत कोमल एवं रसीली होती है। रूपरेखा में यह कुछ सुराहीनुमा होती है। इसको विशेषतया नाक (नाख) कहते हैं। यह नाशपाती की कलम करके सुधारी हुई जाति होती है।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य-शीत। प्रधान कर्म–त्रिदोषशामक, रोचन हृद्य एवं रक्तपित्तशामक, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, बल्य।

मुख्य योग – अर्कशीर, मुरब्बा नाशपाती।

निम्बूक–दे०, 'नीबू'।

निर्गुण्डी (मेउड़ी)

नाम। सं०–निर्गुण्डी। हिं०–सम्हालू, सँभालू, म्योड़ी, मेउ(उँ)ड़ी। बं०–निशिंदा, निसिन्दा। म०–निर्गुण्डी। गु० – नगोड। संथा०–सिन्दवार। खर०–सिनुआर। उड़ि०–वेगुनिया या निगुण्डी। हो०–विगना, सुरसिंग। फा०–पंजंगुश्त। अ०–अस्लक़, फंजंजिकिश्त, जूखम्सतिल औराक़, जूखम्सते असाबेअ। अं०–फाइव्ह् लीव्ड चेस्ट-ट्री (*Five-leaved chesttree*)। ले० – वीटेक्स निगुण्डो (*Vitex negundo Linn.*)।

वानस्पतिक कुल–निर्गुण्डी-कुल (वर्बेनासे *Verbenaceae*)।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष में इसके स्वयंजात एवं लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। गाँवों के आसपास प्राय: सर्वत्र बगीचों एवं खेतों के मेड़ों पर झाड़ी (*Hedge*) के लिए इसके पौधे लगाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके पौधे प्राय: दो रूपों (*Forms*) में मिलते हैं, जिनमें प्रथम प्रकार अधिक सामान्य है। इसके पतझड़ करने वाले बड़े-बड़े गुल्म (१.८ से ३.६ मीटर या ६.–१२ फुट ऊंचे) अथवा कभी-कभी वृक्षवत् होते हैं, जिनके ऊपर श्वेताभ रोमावरण होता है। इससे अनेक पतली-पतली शाखाएँ निकल कर चारों ओर फैली रहती हैं। पत्तियाँ सपत्रक, जिनमें पत्रक संख्या ३–५ ((3-5 *foliolate*) होती है। पत्रक प्रासवत्, २.५ सें० मी० से १२.५ सें०मी० या १ से ५ इंच लम्बे ११/६ से ३०/६ सें०मी० (१/३ से १ १/३ इंच) चौड़े, लम्बाग्र, प्राय: सरल, किन्तु कभी-कभी गोलदन्तुर (*Crenate*) होते हैं। जिन पत्तियों में पत्रक संख्या ५ होती है, उनमें सबसे नीचे वाले जोड़े के पत्रक सबसे छोटे, विनाल (*Sessile*) या बहुत छोटे वृन्तयुक्त (*Subsessile*) बीच का जोड़ा प्राय: सनाल या सवृन्तक (*Petioluled*) और पाँचवाँ पत्रक (*Odd leaflet*) सबसे बड़ा तथा सवृन्तक, सरल अथवा अग्र की ओर विरलदन्तुर (*Distantly crenate*) होता है। पुष्प छोटे-छोटे नीलाभ या बैंगनी आभा लिये श्वेत वर्ण के होते हैं। पुष्पगुच्छ (*Panicles*) ३० सें० मी० या १२ इंच तक लम्बा होता है। बाह्य कोष १/४ सें० मी० से ३/८ सें० मी० लम्बा तथा सिरे पर पाँच खण्डों वाला तथा आभ्यन्तर कोष १/६ सें० मी० से ५/४ सें० मी० (१/५ से १/२ इंच) लम्बा पंचखण्डीय एवं द्विओष्ठीय होता है। अधरोष्ठ का मध्यम खण्ड सबसे बड़ा होता है। पुंकेशर संख्या में ४ तथा विषम-युग्म (*Didynamous*) होते हैं। फल गोलाकार (*Globose*) मांसल अष्ठिफल (*Succulent drupes*) ३/८ सें० मी० से ५/८ सें० मी० (३/२० से १/४ इंच) व्यास के तथा पकने पर काले हो जाते हैं। फलों पर प्राय: बाह्य कोष की चोटी-सी (*Accrescent calyx*) लगी होती है। वर्षा के प्रारम्भ में पुष्पागम तथा शरद में फल आते हैं। (२) दूसरा भेद उपर्युक्त की अपेक्षा कुछ छोटा होता है, जिसकी पत्तियाँ अधिक दन्तमय और मंजरी, पुष्प एवं फल आदि सभी कुछ छोटे होते हैं। इसमें फूल भी देर से आते हैं। दूसरे प्रकार का सम्हालू देहरादून में बहुत होता है।

उपयोगी अंग – पत्र, मूल एवं बीज।

मात्रा – पत्रस्वरस – १ से २ तोला।

मूलचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

बीजचूर्ण–१/२ ग्राम से १ १/२ ग्राम (४ रत्ती से १॥ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – निर्गुण्डी की पत्तियों में एक हल्की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में किंचित् तिक्त एवं हृल्लासजनक होती हैं। फल में भी एक हल्की सुगंधि पायी जाती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – इसकी एक जाति वीटेक्स ट्रीफोलिआ (*Vitex trifolia Linn.*) होती है, जिसकी

पत्तियों में १–३ पत्रक होते हैं; और प्रायः सभी पत्रक अवृन्त, रूपरेखा में अभिलट्वाकार या अभिलट्वाकार-आयताकार होते हैं। इसके पुष्प श्वेत या हल्की बैंगनी आभा लिये सफेद होते हैं।

यूनानी चिकित्सक "पंजंगुश्त" नाम से निर्गुण्डी भेद वीटेक्स आग्नुस–कास्टुस (*Vitex-agnus-castus L.*)का भी व्यवहार करते हैं। इसके क्षुप या वृक्ष होते हैं, जो वलूचिस्तान, अफगानिस्तान आदि में वहुतायत से पाये जाते हैं। इसके वीज वम्वई वाजार में ईरान से आते हैं, और रेणुका नाम से विकते हैं। परन्तु आयुर्वेदीय शास्त्रों में वर्णित रेणुका से यह भिन्न द्रव्य मालूम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण–यह प्रायः सर्वत्र सुलभ है। उपयोगी अंगों का उपयुक्त काल में संग्रह कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – पत्र में एक रंगहीन उड़नशील तेल, और एक राल, वीजों में एक चरपरा राल, एक कपाय सेन्द्रिय अम्ल, क्षारोद, सेवाम्ल तथा अल्प मात्रा में एक रंजक द्रव्य पाया जाता है। ईरानी वीज में केस्टीन (*Castine*) नामक एक तिक्त वीर्य, एक वनपफशई तिक्त पदार्थ, एक वसामय तैल प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण – लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु, कपाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–वातकफशामक, वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोधन–रोपण, केश्य, जन्तुघ्न, दीपन, आमपाचन, यकृदुत्तेजक, कफघ्न, कासहर मूत्रार्तवजनन, ज्वरघ्न (विशेपतः विपमज्वर प्रतिवन्धक), वल्य, रसायन, कण्डूघ्न एवं कुष्ठघ्न आदि। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जेमें गरम एवं खुश्क है। अहितकर–शिरःशूलकारक एवं वृक्क के लिए अहितकर। निवारण–ववूल का गोंद और कतीरा।

मुख्य योग–निर्गुण्डी कल्प, निर्गुण्डी तैल, सफूफ फंजंकिश्त।

विशेष–चरकोक्त (सू० अ० ४) विपघ्न महाकपाय में (सिन्दुवार नाम से) तथा क्रिमिघ्न महाकपाय में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सुरसरादि गण में निर्गुण्डी भी है।

निर्मली

नाम। सं०–कतक, पयःप्रसादिनी। हिं०, पं० वं०–निर्मली। अं०–क्लियरिंगनट (*Clearing-Nut*)। ले०–स्ट्रीक्नॉस पोटाटोरुम (*Strychons potatorum Linn. f.*)।

वानस्पतिक कुल–कारस्कर-कुल (लोगानिआसे : *Loganiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – निर्मली के वृक्ष दक्षिण भारत (कोंकण, उत्तरी कन्नड, कर्नाटक से ट्रावंकोर, दकन), मध्य भारत एवं वंगाल में जंगली रूप से पाये जाते हैं। निर्मली वीज सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – निर्मली के मध्यम कद के (कभी-कभी १२.१८ मीटर या ४० फुट तक ऊंचे) वृक्ष होते हैं, जिनकी छाल कृष्णाभ तथा विदीर्ण होती है। पत्तियाँ ५ सें० मी० (२-३ इंच) लम्वी, २.५ से ४.३७५ सें० मी० अवृन्त या वहुत छोटे वृन्तयुक्त, रूपरेखा में (१–१॥ इंच) तक चौड़ी लट्वाकार या अण्डाकार, अग्र पर सहसा नुकीली या कुछ लम्वे नोक वाली रचना में कुछ चर्मिल तथा चिकनी और चमकीली होती हैं। इनमें ३ से ५ तक शिराएँ होती हैं। फलक-मूल गोलाकार या नुकीला होता है। पुष्प छोटे तथा पीताभ वर्ण के होते हैं, जो पत्र कोणों में समूहवृद्ध (जव पुष्पवाहक दण्ड का अभाव होता है) या छोटी १.२५ सें०मी० या (१/२ इंच लम्वी) मंजरियों में निकलते हैं। पुष्पवृन्त वहुत छोटे होते हैं। वाह्य कोप लगभग ५/२४ सें० मी० या १/१२ इंच लम्वा तथा ५ खण्डों वाला और आभ्यन्तर कोप ५/१२ सें०मी० से ५/८ सें०मी० (१/६ से १/४ इंच) लम्वा तथा यह भी ५ खण्डों वाला होता है। फल या वेरी (*Berry*) रूपरेखा में कुचिले की तरह किन्तु अपेक्षाकृत छोटा (व्यास में १.६ सें०मी० या २/३ इंच) तथा पकने पर काला हो जाता है। प्रत्येक फल में १-२, कुचिले के सदृश किन्तु छोटे, उन्नतोदर एवं सूक्ष्म एवं मटमैले मृदुरोमावृत्त वीज निकलते हैं। औपधि में इन्हीं वीजों का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – १ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।
वमनार्थ–६ ग्राम या ६ माशा।
स्थानिक प्रयोग के लिए–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – निर्मली के वीज वटन की तरह गोल-गोल किन्तु दोनों पार्श्वों में उन्नतोदर, व्यास में १.६ सें० मी० या २/३ इंच तक तथा १.२५ सें० मी० या १/२ इंच तक मोटे होते हैं। परिधि में चारों ओर एक उन्नत धार-सी होती है। इसीपर एक स्थल में धार टूटी-सी प्रतीत होती है, जहाँ आदिमूल (मूलभ्रूण) या मूलांकुर (*Radicle*)

होता है, जहाँसे हल्की रेखा-सी केन्द्रस्थ नाभि (*Umbilicus*) तक जाती है। बीजका छिलका पीताभ खाकस्तरी रंग का होता है, और सूक्ष्म रेशमी लोमावृत होता है। कुचिले के बीज की तरह इसमें भी द्वि-दल होता है।

संग्रह एवं संरक्षण—निर्मलीबीजों को अच्छी तरह मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन—निर्मलीबीजों में कुचिले के बीजों की भाँति ब्रूसीन (*Brucine*) नामक ऐल्केलॉइड पाया जाता है; किन्तु स्ट्रिक्नीन नहीं होता।

वीर्यकालावधि—२ वर्ष।

स्वभाव। गुण–लघु, विशद। रस-मधुर, कषाय, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रभाव–चक्षुष्य।

कर्म—कफवात शामक; जलशोधक, लेखन, रोचन, दीपन, स्तम्भन, छेदन, (अधिक मात्रा में) वामक, मूत्रजनन। जल-शोधन के लिए निर्मली एक उत्तम द्रव्य है। एतदर्थ जलपूर्ण पात्र में इसको घिस दिया जाता है। इस प्रकार गंदगी नीचे बैठ जाता है। नेत्र रोगों में इसका अञ्जन भी बहुत उपयोगी होता है। बीजों का उपयोग वमन कराने के लिए भी किया जाता है।

निशोथ (त्रिवृत्)

नाम। सं०–त्रिवृत् (त्रिवृता), त्रिभण्डी, त्रिपुटा, रेचनी। हिं०–निशोत(थ), निसो(त)थ, पितोहरी, नाकपत्तर; वनएटका–(संथा०)। बं०–तेउडी, तेउरी। पं०–तिखी। सिंध०–ट्रीज। म०–निशोत्तर। गु०–नसोत्तर। अ०–तुर्बुद। द०–तिकड़ा। अं०–टर्पेथ। ले०–ओपेर्क्यूलिना टुर्पेथुम *Operculina turpethum* (L.) *Silva Manso* (पर्याय-*Ipomoea turpethum* R. Br.)। वक्तव्य–अरबी तुर्बुद एवं अंग्रेजी टर्पेथ आदि संज्ञाएँ सम्भवतः संस्कृत त्रिवृता (त्रिवृत्, त्रिपुटा) आदि के ही अपभ्रंश हैं। इसकी लता का तना एवं शाखाएँ तिकोनी होने से उक्त संस्कृत नाम रखे हैं।

वानस्पतिक कुल–त्रिवृत्-कुल (कॉन्वॉल्वुलासे *Convolvulaceae*)।

प्राप्तिस्थान–समस्त भारतवर्ष में ९१४½ मीटर या ३,००० फुट की ऊंचाई तक इसकी बेल होती हैं। कहीं-कहीं बगीचों में लगायी हुई भी मिलती है। मूल के फटे छोटे-बड़े टुकड़े निशोथ नाम से पंसारियों के यहाँ विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय–निशोथ की बहुवर्षायु बड़ी-बड़ी आरोही लताएं होती हैं, जिनका काण्ड प्रायः काष्ठीय नहीं होता तथा इस पर ३-४ धाराएँ या पंख सदृश उभार होते हैं और काण्ड को तोड़ने पर दूध-जैसा स्राव निकलता है। पुराना होने पर काण्ड भूरे रंग के होते हैं। नवीन काण्ड का पृष्ठ सपंख होने से त्रिधार होता है। नीचे की पत्तियाँ चौड़ाई लिये हुई लट्वाकार हृद्वत् और १५ सें०मी० या ६ इंच तक लम्बी, ११.२५ सें० मी० या ४॥ इंच तक चौड़ी लम्बाग्र तथा तीक्ष्णाग्र और ऊपरी पत्तियाँ प्रायः आयताकार, कुण्ठित रोमश अग्र वाली होती हैं। पर्णवृन्त १.८७५ सें०मी० से ७.५ सें०मी० (॥।–३ इंच) तक लम्बे होते हैं। पुष्प सफेद, ५ से० ७.५ सें० मी० या २–३ इंच लम्बे तथा प्रायः एक साथ ३–५ होते है, जो २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बे पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncle*) पर निकलते हैं। पुष्पवृन्त (*Pedicel*) ३/४ से ५/४ सें० मी० (३/८ से १ इंच)तक लम्बे होते हैं। नियत्र २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे प्रायः गुलाबी रंग के और कलिकायुक्त होते हैं। वाह्य कोश के अन्दर के ३ पुटपत्र छोटे तथा कोमल और वाहरी पुटपत्र बड़े होते हैं, जो फलावस्था में भी बढ़ कर फल के साथ लगे होते हैं। आभ्यन्तर नाल चिकना और सपक्ष, मुख पर घण्टिकाकार होता है। फल (*Capsule*) गोलाकार व्यास में ॥–।॥ इंच तक स्थायी, मांसल एवं भंगुर पुट-पत्रों से आवृत्त होते हैं। फलत्वक् का वाहरी भाग जब फट जाता है तो भीतरी पारदर्शक पर्दा रह जाता है, जिसके अन्दर दो गह्वर और १–४ भूरे तथा चिकने बीज होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्पागम होता है तथा जाड़ों में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग–मूलत्वक्।

मात्रा–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–बाजार में मिलने वाले निशोथ में मूल एवं काण्ड दोनों के ही बेलनाकार टुकड़े मिले होते हैं। यह टुकड़े व्यास में १.२५ सें० मी० से ५ सें० मी० (॥–२ इंच) तक मोटे होते हैं। मूलत्वक् काफी मोटा होता है, और केन्द्रस्थ काष्ठीय भाग रस्सी की भाँति स्पष्ट मालूम होता है। यह आसानी से पृथक् हो जाता है। जिन टुकड़ों से यह निकाल दिया गया रहता है, वह नालीदार होते हैं। किन्हीं टुकड़ों से कुछ अंश मूलत्वक् को तो पृथक् किया गया होता है और शेष भाग ज्यों का त्यों होता है, ऐसे टुकड़ों में केन्द्रस्थ रस्सीनुमा काष्ठीय भाग स्पष्ट निकला हुआ दिखाई देता है; किन्तु औषधीय दृष्टि से केवल मूलत्वक् ही उपयोगी होती है।

उत्तम निशोथ वह है कि जिसके दोनों छोर पर गोंद लगा हो। तोड़ने पर छाल तो खट से टूटती है, किन्तु अन्दर का काष्ठीय भाग रेशेदार टूटता है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटा तल हल्के भूरे रंग का मालूम होता है। पैरेन्काइमा (*Parenchyma*) में इतस्ततः रेजिन कण पाये जाते हैं। कभी-कभी इस पर कुछ गाढ़े रंग के अनेक एककेन्द्रिक वृत्त से दिखाई पड़ते हैं। यह मूल की वार्षिक वृद्धि के द्योतक होते हैं। मूल में कोई विशेष गंध नहीं होती; किन्तु मुँह में देर तक रखने से उत्क्लेशकारी स्वाद का अनुभव होता है। त्रिवृत्-मूल की रेचक क्रिया इसमें पाये जाने वाले रेजिन (रालीय तत्त्व) के कारण होती है। अतएव इसकी हीनता एवं उत्तमता इसीकी प्रतिशत मात्रा की उपस्थिति पर निर्भर है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होना चाहिए। राल की प्रतिशत मात्रा ५% होनी चाहिए जिसका कुछ अंश ईथर में विलेय होता है।

विशेष – रेजिन के आधार पर इसका शक्ति प्रमापन भी किया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बाजारू नमूने में प्रायः काण्ड का भी भाग मिला होता है। मूल में भी औषधीय अंग केवल इसकी मोटी छाल होती है। अतएव अन्दर के काष्ठीय भाग को पृथक् कर देना चाहिए। रंग भेद से निशोथ **सफेद एवं काली** होती है, जिसमें काली निशोथ के प्रयोग से मूर्च्छा, भ्रम एवं दाह आदि उपद्रव होते हैं, इस धारणा को लेकर इसके वानस्पतिक प्राप्तिसाधन (*Botanical source*) के बारे में बड़ा भ्रम फैला हुआ है। निशोथ का प्राप्तिसाधन पूर्ववर्णित 'ओपेर्कूलिना टुर्पेथुम' नामक लता है, जिसके **सफेद** या **कृष्ण** ऐसे कोई **प्रकार** नहीं होते। आजकल सर्वत्र भारतीय बाजारों में सफेद निशोथ से जो औषधि मिलती है, वह एक सर्वथा भिन्न लता (*Marsdenia tenucissima W. & A : Family. Asclepiadaceae*) की जड़ एवं काण्ड होती है, जो स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं तथा इनमें रेचन गुण बिल्कुल नहीं होता।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में मूल का संग्रह कर, इसके टुकड़े काट लें और एक पार्श्व से चीरा देकर अन्दर का काष्ठीय भाग पृथक् कर देना चाहिए। इसे छाया शुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – त्रिवृत् मूल में ५ से १०% तक एक राल (*Resin*) पाया जाता है। यह इसका सक्रिय अंश होता है। इसका कुछ अंश ईथर में घुलनशील होता है। जो अंश ईथर में अविलेय होता है, उसे टर्पेथिन (*Turpethin*) कहते हैं। इसका संगठन बहुत कुछ जलापा में पाये जाने वाले जैलेपीन नामक रेचक तत्व की भांति होता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–पित्त-कफशामक, भेदन, सुखविरेचन, शोथहर, लेखन, ज्वरघ्न। निशोथ की क्रिया बहुत कुछ विदेशीय औषधि जलापा की भाँति होती है। इससे पीले रंग के पतले दस्त आते हैं। पैत्तिक एवं कफज व्याधियों में यह एक उत्तम सुखविरेचन औषधि है। इसको अकेला प्रयुक्त कर सकते हैं, अथवा मरोड़ आदि के निवारण के लिए सोंठ, सौंफ, या अन्य सुगन्धित द्रव्य तथा सेंधा नमक या मिश्री अथवा बराबर मात्रा में क्रीम ऑव टारटार (*Cream of Tartar*) मिला कर व्यवहृत कर सकते हैं। इसके उत्क्लेशकारक दोष के निवारण के लिए मूलत्वक् को बादाम के तेल में स्नेहाक्त कर सकते हैं। निशोथ को हर्रे के चूर्ण के साथ भी व्यवहृत कर सकते हैं।

मुख्य योग – त्रिवृतादि चूर्ण, त्रिवृतादि घृत, त्रिवृतादि गुटिका, अविपत्तिकर चूर्ण।

विशेष – चरकोक्त (सू०अ० ४) भेदनीय महाकषाय एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) श्यामादिगण एवं अधोभागहर गण में त्रिवृता (निशोथ) भी है।

नीबू (निम्बूक–कागजी नीबू)

नाम। सं०–निम्बूक। हिं०–नीबू, कागज़ी नीबू। बं०–कागजी लेबु, पातिनेबू। म०–लिंबू, कागदी लिंबु। द०–लीमू, लीमूं। अ०–लीमू। फा०–लीमू, लीमूए काग़ज़ी। अं०–लाइम (*Lime*)। ले०–सिक्ट्रस आरेन्शिफोलिया सीट्रस आउरांटीफ़ोलिआ *Citrus aurantifolia* (*Christm.*) *Swingle*. पर्याय–सीट्रस मेडिका प्र० एसिडा *C. medica L. var. acida Watt.*)

वानस्पतिक कुल – जम्बीर-कुल (रूटासे *Rutaceae*)।

प्राप्तिस्थान – नीबू भारतवर्ष का आदिवासी पौधा है। हिमालय की बाहरी पर्वत श्रेणियों की उष्ण घाटियों में (गढ़वाल से सिक्कम, गारो की पहाड़ियाँ एवं चटगाँव

तक) इसके जंगली वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। मध्य भारत, मध्यप्रदेश एवं सतपुड़ा के जंगलों में भी यह स्वयंजात होता है। समस्त भारत में काफी परिमाण में नीबू के वृक्ष लगाये जाते हैं। बाजारों में बारहों महीने नीबू तरकारी बेचने वालों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – नीबू के छोटे झाड़ीनुमा कँटीले वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ छोटी तथा पर्णवृन्त छोटे एवं सपक्ष (*Winged*) होते हैं। पत्तियों को मसलने से नीबू जैसी सुगंधि आती है। पुष्प भी सुगंधित होते हैं। फल गोल तथा चिकने होते हैं। छिलका (R*ind*) कागज की तरह पतला, कच्चे फल में हरा, पकने पर पीले रंग का हो जाता है, जो गूदे के साथ चिपका रहता है। गूदा, पीताभ हरे रंग का स्वाद में अत्यन्त खट्टा तथा सुगंधित होता है। इसकी एक जाति का फल कुछ लम्बा होता है। नीबू के रस से सिकंजबीन तथा फलों का अचार बनाया जाता है। आहार के साथ नीबू का दैनिक व्यवहार अचार के स्थान में किया जाता है। औषध्यर्थ एवं आहार में कागजी नीबू ही अधिक प्रशस्त माना जाता है।

उपयोगी अंग – फल का रस (आबे लीमूं), बीज (तुख्मे लीमूँ) तथा फल का छिलका (पोस्ते लीमूं)।

मात्रा – फलरस–½ से १ तोला।

छिलका एवं बीज–०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

संगठन – फल रस में सिट्रिक एसिड (७–१०%), फास्फोरिक एसिड, मेलिक एसिड (सेबाम्ल) एवं शर्करा आदि तत्त्व पाये जाते हैं। फलत्वक् (छिलके) में एक उत्पत् तैल, एक तिक्त स्फटिकीय ग्लूकोसाइड हेस्पेरिडिन (विशेषतः छिलके के सफेद भाग में) पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–लघु। रस–अम्ल। विपाक–मधुर। वीर्य–अनुष्ण। कर्म–अम्ल होने पर भी पित्तशामक, तृष्णा-निग्रहण, रोचन, दीपन-पाचन, अनुलोमन तथा पित्त-सारक, रक्तशोधक एवं रक्तपित्तशामक, मूत्रल, स्वेद-जनन, ज्वरघ्न, पाण्डु-कामला नाशक। यूनानी मतानुसार नीबू का रस दूसरे दर्जे में शीत तथा पहले दर्जे में खुश्क (मतांतर से दूसरे दर्जे में शीत और पहले दर्जे में तर) है। बीज और फल के ऊपर का छिलका दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–शीत प्रकृति वालों और वातनाड़ियों को। निवारण–चीनी। प्रतिनिधि–नारंज।

मुख्य योग – सिकंजबीन लीमू। रसशास्त्र एवं भैषज्य-कल्पना में नीबू का रस शोधन के लिए तथा भावना आदि देने के लिए प्रयुक्त होता है।

विशेष – नीबू में 'विटामिन 'C' (सी) काफी मात्रा में पाया जाता है। अतएव इसमें स्कर्वी-निवारक गुण (*Anti scorbutic properties*) पाये जाते हैं। दूसरी विशेषता इसमें यह है, कि अम्ल होने पर भी यह पित्तशामक है।

'जम्बीरी नीबू' भी काग़जी नीबू की ही जाति की वनस्पति है। जम्बीरी का फल काग़जी की अपेक्षा बड़ा होता है। दोनों का वस्तु संगठन भी एक-सा है, किन्तु काग़जी नीबू में अपेक्षाकृत सिट्रिक एसिड अधिक पाया जाता है।

नीम (निम्ब)

नाम। सं०–निम्ब। हिं०–नीम, नीब। बं०–निम। म०–कडूनिंब। गु०–लींबड़ो, लीमड़ो। पं०–निंब। सिं०–निमु। फा०–आज़ाददरख़्ते हिन्दी। अं०–नीम या मारगोसाट्री (*Neem or Margosa Tree*), इंडियन लिलैक (*Indian Lilac*)। ले०–आजाडीराक्टा इंडिका *Azadirahta indica A. Juss.* (पर्याय–मेलिआ आज़ाडी-राक्टा *Melia azadirachta Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – निम्ब-कुल (मेलिआसे *Meliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दकन के शुष्क जांगल प्रदेशों में नीम के वन पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त भारतवर्ष में नीम के लगाये हुए एवं जंगली दोनों प्रकार के वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं, किन्तु पंजाब में यह अपेक्षाकृत कम होता है। हवा की शुद्धता एवं छाया के लिए इसके वृक्ष घरों एवं गाँवों के आसपास तथा सड़कों के किनारे लगाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – यह भारतवर्ष का प्रसिद्ध वृक्ष है, जिसके प्रायः सब अंग-प्रत्यंग तिक्त होते हैं। नीम के प्रायः सदाहरित ऊँचे-ऊँचे सुन्दर वृक्ष होते हैं जिनकी पत्तियाँ शाखाग्रों पर समूहबद्ध होती हैं, तथा शाखाग्र कोमल होते हैं। पत्तियाँ २२.५ सें० मी० से ३७.५ सें० मी० या ९–१५ इंच लम्बी, चिकनी एवं सपत्रक तथा असम पक्षवत् (*Imparipinnate*) होती हैं। पत्रक संख्या में ९–१५ होते हैं, जिनमें एक अग्र पर अकेले तथा शेष

पत्रक-दण्ड पर प्रायः आमने-सामने दो-दो (*Sub opposite*) स्थित होते हैं। उक्त पत्रक ५ से १० सें० मी० (२–४ इंच) लम्बे १.२५-से २.५ सें० मी० (॥–१ इंच) चौड़े, रूपरेखा में भालाकार या लट्वाकार-भालाकार, अग्र लम्बा तथा नुकीला, ऊर्ध्व पृष्ठ पर चमकीले गाढ़े हरे रंग के होते हैं, और बहुत छोटे वृन्तकों पर धारण किये जाते (*Subsessile or minutely petioluled*) हैं। पत्रकों के किनारे आरे की भाँति गम्भीर दन्तुर (*deeply serrate*) होते हैं। कभी-कभी पत्रक-तट टेढ़ा होने से पत्रक रूपरेखा में हसिये के आकार के (*Falcate*) मालूम होते हैं। पत्रकों के मध्य नाड़ी के दोनों तरफ के भाग प्रायः असमान (*Unequal sided*) होते हैं। कभी-कभी अग्र का पत्रक न होने से पत्र सम पक्षवत् (*Paripinnate*) मालूम होते हैं। पुष्प छोटे-छोटे तथा ($\frac{1}{5}$ इंच) सफेद रंग के एवं सुगंधित होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत सशाख मञ्जरियों में निकलते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) लम्बगोल (*Ovoid-oblong*), १.२५ से १.८७५ सें० मी० ($\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ इंच) लम्बे, चिकने तथा कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर हरापन लिये पीले रंग के हो जाते हैं। फलों को **निवकौली (निमाली)** कहते हैं। इसमें एक कड़ी एवं अपेक्षाकृत बड़ी गुठली होती है, जिसके ऊपर गूदे का एक पतला पर्त होता है। बीज (गिरी) हरिताभ श्वेत रंग का एवं स्वाद में तिक्त होता है। आपाततः यह देखने में पिस्ते की भाँति लगता है। इससे एक तीता स्थिर तैल प्राप्त किया जाता है, जिसे **नीम का तैल** (निमकौली का तेल) कहते हैं। नीम के वृक्ष से कभी-कभी एक गोंद भी निकलता है, जो लम्बे-लम्बे टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों (*Longish vermiform pieces*) के रूप में प्राप्त होते हैं। यह स्वाद में अन्य अंगों की भाँति तीते नहीं होते तथा ठंढे जल में भी अच्छी तरह घुल जाते हैं। किसी-किसी वर्ष नीम के वृक्षों से एक नीर या स्राव (*Saccharine juice*) अपने आप या चीरा लगाने पर काफी मात्रा में स्रवित होता है। पतझड़ में पत्तियाँ गिर जाने पर जल्दी ही ताम्रलोहित पल्लव निकलते हैं। पुष्पागम भी वसन्त में होता है और फलागम ग्रीष्म ऋतु के अन्त में या वर्षा के प्रारम्भ में होता है।

उपयोगी अंग – काण्ड एवं मूलत्वक् (छाल), पत्र, पुष्प, बीज एवं बीजों से प्राप्त तैल (*Margosa Oil*) तथा गोंद और नीर।

मात्रा – त्वक् चूर्ण–१ ग्राम से २ ग्राम या १–२ माशा। इसके हरे पत्ते और छाल जब रक्तप्रसादन के लिए इनका शीरा निकाला जाय या क्वाथ बनाया जाय तो ६ माशे से १ तोला तक व्यवहृत कर सकते हैं। तैल–४ से १० बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) छाल–निम्बत्वक् खातोदर या नालीदार (*Channelled*) तथा चिमड़े और रेशेदार टुकड़ों के रूप में प्राप्त होती है, जो १ सें० मी० ($\frac{3}{5}$ इंच) तक मोटे होते हैं। नये-पुराने वृक्षों के अनुसार छाल की मोटाई में भी न्यूनाधिक्य पाया जाता है। बाह्यतः यह खुरदरी तथा मुरचई-खाकस्तरी (*Rustygrey*) रंग की होती है तथा इसमें अनेक दरारें (*Fissures*) पड़ी होती हैं। अन्तस्तल पीताभ वर्ण का होता है। स्वाद में नीम की छाल किंचित् कसैलापन लिये अत्यंत तीती होती है। तथा इसमें लशुन जैसी उत्क्लेशकारक गंध होती है। (२) नीम का तेल–यह पकी निमौली की गिरी (बीज) को कोल्हू में पेरकर प्राप्त किया जाता है और फिर इसे छान कर रख लेते हैं। नीम का तेल हल्के या गाढ़े पीले द्रव के रूप में, उग्र गंधयुक्त, स्वाद में कड़ुवा एवं तीता होता है। २५° तापक्रम पर आपेक्षिक गुरुत्व ०.६००-०.६२० होता है। अपवर्तनांक (*Refractive index* 25° पर)–१·४४० से १·४८०। एसिड वैल्यू (*Acid Value*)–२२। आयोडीन वैल्यू (*Iodine Value*) ६५–७०। सेपोनिफिकेशन वैल्यू (*Saponification value*)–१६६ से २००।

संग्रह एवं संरक्षण – नीम के तेल को अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में तथा शीतल स्थान में रखना चाहिए। अन्य उपयुक्त अंगों को भी अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखें। पुराने वृक्षों से नीम की ताड़ी अपने आप निकलती है। यह रस ४–७ सप्ताह तक वृक्ष के कई भागों से एक समान निकलता है। किसी-किसी नीम वृक्ष से ३–४ वर्ष के अन्तर से यह रस अत्यधिक प्रमाण में निकल जाने से वृक्ष सूख जाता है। कभी-कभी कृत्रिम उपायों से भी उक्त रस निकाला जाता है। एतदर्थ किसी जलाशय के पास वाले अच्छे, तरुण नीम वृक्ष की जड़ में छेद करके उसके नीचे एक मजबूत मिट्टी या पत्थर या चीनी मिट्टी का पात्र रख कर ऊपर

से ढँक दिया जाता है। इस प्रकार २४ घंटे के अन्दर २–६ बोतल तक रस इकट्ठा हो जाता है। किन्तु स्वयं निकला रस अधिक उत्तम होता है। ताजे नीरा का स्वाद मधुरता युक्त तिक्त होता है। संरक्षण के लिए इसमें शहद मिला कर बोतलों में भर कर अच्छी तरह डाटबंद कर अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें। प्रति बोतल में ५ तोला शहद इस कार्य के लिए पर्याप्त होता है। इस प्रकार रखने पर महीने में २ बार तक छानते रहना चाहिए। संरक्षण के लिए सरसों का शुद्ध तेल मिला कर भी रखा जा सकता है। रस के विकृत होने पर इसमें अम्लता आ जाती है। उक्त अम्लता कभी-कभी नीरा के बिना विकृत हुए स्वाभाविक रूप से भी आ जाती है। किन्तु बाद में पुनः यह स्वयमेव मधुरता युक्त तिक्त रस में परिणत हो जाता है।

संगठन – छाल में निम्बीन या मार्गोसीन (*Margosine*) नामक तिक्त रालमय सत्व, ½% निम्बिडिन (*Nimbidin*), ०.०३ प्रतिशत निम्बिन (*Nimbin* : $C_{28}H_{40}O_8$), निम्बिनिन (*Nimbinin* : $C_{27}H_{30}O_0$) तथा निम्बोस्टेरोल तथा एक उड़नशील तेल एवं ६% टैनिन पाया जाता है। उक्त उड़नशील तेल इसके पुष्पों में भी पाया जाता है। पत्तियों में तिक्त सत्व अपेक्षाकृत कम होता है, किन्तु छाल की अपेक्षा यह जल में अधिक घुलनशील होता है। मद (*Toddy or Sap*) में तिक्त द्रव्य, इक्षुशर्करा, द्राक्षशर्करा, रंजक द्रव्य, निर्यास, प्रोटीड्स एवं भस्म जिसमें पोटासियम्, लोह, एलूमिनियम् और कैलसियम तथा कज्जलद्विओषिद होते हैं, होता है। बीजों में ४०% तक स्थिर तैल (नीम का तेल *Margosa Oil*) होता है। तैल में २% तिक्त सत्व, ओलीक एसिड (४६–६१.६%), लिनोलीक एसिड (२ से १५%), पामिटिक एसिड (१२ से १५%), स्टियरिक एसिड (१४ से २३%) आदि तथा (०.०३%) निम्बोस्टेरोल आदि पाये जाते हैं।

स्वभाव – गुण–लघु। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–कफपित्तशामक; रोचन, ग्राही, कृमिघ्न, यकृदुत्तेजक, कटुपौष्टिक, रक्तशोधक, दाह प्रशमन, ज्वरघ्न (विशेषतः नियतकालिक ज्वरनाशन)। पत्र एवं छाल–स्थानिक प्रयोग से व्रणपाचन, व्रणशोधन, पूतिहर, दाह-प्रशमन। तैल–व्रणरोपण, कुष्ठघ्न, वेदना-स्थापन, उदर-कृमिनाशक एवं त्वग्रोगहर। फल–भेदन एवं बीज गर्भाशयोत्तेजक है। कोमल पत्तियाँ एवं पुष्प–चक्षुष्य। यूनानी-मतानुसार नीम के पंचाङ्ग की प्रकृति पहले दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–रूक्ष प्रकृतिवालों के लिए। अधिक मात्रा में बीज एवं बीजोत्थ तैल का सेवन करने से कभी-कभी हृल्लास, वमन एवं रेचन आदि उपद्रव लक्षित होते हैं। निवारण–मधु, काली मिर्च, स्नेह द्रव्य।

मुख्य योग – निम्बादि क्वाथ, निम्बादि चूर्ण, निम्बारिष्ट, निम्ब हरिद्राखण्ड, हब्बे बवासीर आदि। चरकोक्त कण्डूघ्न महाकषाय (च० सू० अ० ४) एवं वमन द्रव्यों में (च० सू० अ० २) तथा तिक्तस्कन्ध की औषधियों में (च० वि० अ० ८) और सुश्रुतोक्त, आरग्वधादि, गुडूच्यादि एवं लाक्षादि गण (सु० सू० अ० ३८) की औषधियों में निम्ब का भी परिगणन है। नीम का उपयोग आजकल दंतमंजन (*Neem Tooth-paste*) बनाने में भी किया जाता है।

नील (नीलिनी)

नाम। सं०–नीलिनी, नीली, रञ्जनी। हिं०–नील, लील। संथा०–सिलीबिची। बं०–नील। म०–नील, गुली। गु०–गली। फा०–नीलः। अ०–नीलजः। अं०–इन्डिगो (नील *Indigo*); नील का पौधा, (*Indigo Plant*)। ले० – ईंडिगोफ़ेरा टींक्टोरिआ (*Indigofera tinctoria Linn.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (लेगूमिनोसे : पैपीलिओनासे (*Leguminoseae : Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पहले भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों – विशेषतः बंगाल, बिहार, अवध, सिंध, बम्बई एवं मद्रास आदि में काफी परिमाण में नील की खेती की जाती थी, जिससे व्यावसायिक रूप में इससे नील रंग प्राप्त किया जाता था। किन्तु अब विदेशों से कृत्रिम (संश्लिष्ट) नील रंग का आयात होने से यहाँ नील की खेती बन्द हो गयी है। फिर भी थोड़े-बहुत मात्रा में स्थान-स्थान में इसे बोते हैं। समस्त भारतवर्ष में न्यूनाधिक मात्रा में इसके स्वयं-जात पौधे भी पाये जाते हैं।

परिचय – नील के सीधे खड़े (*Erect*) तथा ६० सें० मी० से ९० सें० मी० या २–३ फुट (कभी-कभी ६ फुट तक) ऊंचे एक वर्षायु क्षुप होते हैं, जिनपर इतस्ततः

रोम पाये जाते हैं, जो पृष्ठ से सटे होते हैं। शाखाएँ रूपरेखा में वेलनाकार और कड़ी होती हैं। पत्तियाँ सकृत्पक्षवत् सपत्रक (*Pinnated*) होती हैं, जिनमें ५–६ जोड़े पत्रक (*Leaflets*) होते हैं। पत्रक रूपरेखा में अंडाकार या अंडाकार-लट्वाकार (*Oblongovate*) होते हैं, जो आधार की ओर अधिक चौड़े तथा स्फानाकार (*Cuneate*) तथा अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़े होते हैं। पुष्प हरिताभ गुलाबी रंग के (*Greenish rose coloured*) होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत मंजरियों में निकलते हैं। फलियाँ प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बी तथा वेलनाकार होती हैं, जो स्थान-स्थान पर कुछ अधिक मोटी या फूली-सी अर्थात् मनकाकार (*Torulose*) होती हैं। उक्त फलियाँ प्रायः कुछ-कुछ धनुषाकार टेढ़ी होती हैं, जिनका उन्नत पृष्ठ वाहर की ओर (*Deflexed*) होता तथा ऊपर (अग्र पर) टेढ़ी (*Curved upwards*) होती हैं। प्रत्येक फली में १०–१२ वेलनाकार छोटे वीज होते हैं, जो दोनों सिरों पर कटे-से या छिन्नाभ (*Truncated at both ends*) होते हैं। पुष्पागम वर्षा में तथा फलागम शरद्ऋतु में होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग विशेषतः वीज (तुख्मे नील), पत्र (वस्मा, वर्क़ुन्नील) एवं मूल आदि।

मात्रा – क्वाथ–२½ से ५ तोला।

मूल घनसत्व–१२५ मि० ग्राम से २५० मि० ग्रा० या १ से २ रत्ती (वड़ी मात्रा में रेचक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – असली नील के पौवे से ४.५ प्रतिशत भस्म प्राप्त होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – न्यूनाधिक वानस्पतिक रचना भेद से नील की कई जातियाँ पायी जाती हैं। इनमें सर्वाधिक एवं सामान्यतः ग्राह्य जाति का वर्णन ऊपर ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १½–२½ इंच लम्बी मञ्जरियों में निकलते हैं। फलियाँ सीधी होती हैं और केवल मञ्जरी के आधार भाग में लगती हैं। (२) ईडिगोफ़ेरा सुमात्राना (*I. sumatrana Gaertn.*) –यह ईडिगोफेरा टींक्टोरिआ जाति का ही भेद होता है। इसके गुल्म अधिक पुष्ट होते हैं। पत्रक ६–२५, लम्वाई में चौड़ाई से अधिक तथा रूपरेखा में अभिलट्वाकार या पतले अण्डाकार होते हैं। मञ्जरियाँ ७.५ से १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्वी तथा फली ३.१२५ सें०मी० या १⅞ इंच लम्वी, अधिक मोटी और ८–१० वीजोंवाली होती है। (३) ईडिगो० आर्टीकुलाटा (*I. articulata Gouan. Syn. I. argentea Linn.*)—इसके क्षुप विहार, सिंध एवं दकन आदि में पाये जाते हैं। पत्रकदण्ड ३.७५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या २½–३ इंच लम्वे और पत्रक ४ जोड़े रूपरेखा में अभिलट्वाकार तथा मञ्जरी २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच (फलवती होने पर ७.५ सें० मी० या ३ इंच) लम्वी होती है। फली पुष्ट परन्तु छोटी, टेढ़ी और घन रोमश होती है। (४) भुईनील (*Indigofera enneaphylla Linn.*)—इसका क्षुप प्रसरी या जमीन पर फैलने वाला होता है, जिसकी शाखाएँ पतली तथा २० सें० मी० से ६० सें० मी० या ८"–२ फुट तक लम्वी होती हैं। पत्तियाँ १.२५ से ३.७५ सें० मी० या ½–१½ इंच लम्वी, असमपक्षवत्, पत्रक ५–७ (कभी-कभी ११ तक) अभिप्रासवत् ½ से १ सें० मी० (⅕ से ⅖ इंच) लम्वे, दोनों तलों पर रोमश होते हैं। पुष्प छोटे लाल एवं गुच्छवद्ध होते हैं। फली द्विवीजी होती है। यह भारत के मैदानी भागों में (विशेषतः ऊपर भूमि में) पायी जाती है।

केशरंजन (पत्ते), वात-कफनाशक, केशवर्धन, दीपन-पाचन, यकृदुत्तेजक, स्वेदजनन एवं ज्वरघ्न, (विशेषतः विषमज्वर प्रतिबन्धक), बलवर्धक, रसायन, वाजीकरण (बीज), मूत्रल, रक्तप्रसादन, कफघ्न, विषघ्न। स्वरस का उपयोग पागल कुत्ते के विषशामक एवं मूलक्वाथ संखिया विष निवारक समझा जाता है। पत्तों का उपयोग खिजाब में डालने के लिए करते हैं। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है।

मुख्य योग – चरकोक्त विरेचन एवं सुश्रुतोक्त अधोभागहर औषधियों में 'नीलिनी' का भी उल्लेख है।

नेपाली धनिया—दे०, 'धनिया'।

पटोल—दे०, 'परवल'।

पठानीलोध—दे०, 'लोध'।

पतंग (पतङ्ग—बकम)

नाम। सं०–पत्राङ्ग, पतङ्ग। हिं०, म०, गु०, द०–पतंग। बं०–बोकोम। अ०–बुक्कम, बक़म, खशबुल् अह्मर। फा०–बकम। अं०–सप्पन वुड (*Sappan Wood*)। वृक्ष–सेसालपीनिआ सप्पन (*Caesalpinia sappan Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : इम्लिका-उपकुल (लेगूमिनोसे; सेसालपिनिआसे *Leguminosae: Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत तथा बंगाल में पतंग के स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। व्यावसायिक रूप में काष्ठ का संग्रह मुख्यतः दक्षिण भारत में ही होता है, जो बम्बई बाजार से होकर अन्यत्र भेजा जाता है। अन्यत्र भी इसके लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। पतंग काष्ठ (हृत्काष्ठ या सारकाष्ठ *Heart-wood*) पंसारियों के यहाँ मिलता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त पतंग लंका, ब्रह्मा एवं मलायाद्वीपसमूह में भी होता है। बाजार में सिंगापुरी, धुनसरी और लंका ऐसे तीन नाम की लकड़ियाँ मिलती हैं। इनका आयात बम्बई में होता है।

संक्षिप्त परिचय – पतंग के बड़े गुल्म या छोटे क़द के वृक्ष होते हैं, जिसकी कोमल तथा नवीन शाखाएँ रक्ताभ-मृदुरोमश होती हैं, और उपपक्षकों (*Pinnae*) के आधार के पास छोटे-छोटे काँटे होते हैं। पत्तियाँ २० सें० मी० से ४० सें० मी० या ८–१६ इंच तक लम्बी होती हैं, जिनपर ८–१२ युग्म पक्षक या पिना *Pinnae*) होते हैं, जो १० सें० मी० से १७.५–२० सें० मी० या ४ से ७–८ इंच लम्बे तथा अत्यंत छोटे वृन्तयुक्त (*Subsessile*) होते हैं। प्रत्येक पत्र-पक्ष पर १०–१८ युग्म पत्रक होते हैं, जो १.२५ सें० मी० से २ सें० मी० (१/२ से ४/५ इंच) तक लम्बे तथा १ सें० मी० या २/५ इंच चौड़े, रूपरेखा में आयताकार, किन्तु अग्र पर गोलाकार होते हैं, जो सघन स्थित होते हैं और छोटे वृन्तक युक्त होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं, जो शाखाग्रज एवं पत्रकोणोद्भूत मञ्जरियों (३० सें० मी० से ४० सें० मी० या १२ से १६ इंच लम्बी) में निकलते हैं। फलियाँ ७.५–१० सें० मी० × ३.७५ – ५ सें० मी० (३–४ इंच × १॥–२ इंच), रूपरेखा में तिर्यगायताकार चपटी, काष्ठीय तथा अस्फोटी होती हैं, जिनमें ३–४ बीज होते हैं। चौड़े सिरे के ऊर्ध्व-धारा पर (*S*) के आकार की चोंच-सी होती है। फलियों के छिलके एवं काण्डत्वक् का उपयोग व्यवसाय में चमड़ा सिझाने के लिए तथा हृत्काष्ठ औषध्यर्थ व्यवहृत होता है।

उपयोगी अंग – सारकाष्ठ या हृत्काष्ठ (*Heart-wood*)।

मात्रा – २ ग्राम से ३ ग्राम या २–३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पतंग काष्ठ ठोस, भारी, कड़ा तथा ताजा कटा होने पर रक्ताभ-श्वेत, किन्तु वायु में खुला रहने पर लाल हो जाता है। इसमें कोई विशेष गंध एवं स्वाद नहीं होता, किंतु कषाय (संग्राही) होता है। इससे जल तथा सुरासार में उत्तम लाल रंग आ जाता है। बाजार में इसके विभिन्न आकार-प्रकार के कड़े, भारी टुकड़े या लाल नारंगी रंग की चपटियाँ मिलती हैं। अनुप्रस्थ विच्छेद (आड़े रुख काटने से) करने पर इन पर वृत्त एवं सरल रेखाएँ पायी जाती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पतंग काष्ठ को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें सैपोनिन नामक एक क्रिस्टली सत्व होता है, जो हीमेटॉक्सीलीन के समान है।

स्वभाव – पतंग काष्ठ दूसरे दर्जे में गरम और चौथे में खुश्क होता है। यह उपशोषण, व्रणलेखन, संग्राही और रक्त-स्तम्भन होता है। अतिसार-प्रवाहिका में इसे खिलाते हैं तथा संग्राही उत्तर वस्ति के रूप में भी इसका व्यवहार होता है।

मुख्य योग – पत्राङ्गासव (पतंगासव)।

रोम पाये जाते हैं, जो पृष्ठ से सटे होते हैं। शाखाएँ रूपरेखा में वेलनाकार और कड़ी होती हैं। पत्तियाँ सकृत्पक्षवत् सपत्रक (*Pinnated*) होती हैं, जिनमें ५–६ जोड़े पत्रक (*Leaflets*) होते हैं। पत्रक रूपरेखा में अंडाकार या अंडाकार-लट्वाकार (*Oblongovate*) होते हैं, जो आधार की ओर अधिक चौड़े तथा स्फानाकार (*Cuneate*) तथा अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़े होते हैं। पुष्प हरिताभ गुलावी रंग के (*Greenish rose coloured*) होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत मंजरियों में निकलते हैं। फलियाँ प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बी तथा वेलनाकार होती हैं, जो स्थान-स्थान पर कुछ अधिक मोटी या फूली-सी अर्थात् मनकाकार (*Torulose*) होती हैं। उक्त फलियाँ प्रायः कुछ-कुछ धनुपाकार टेढ़ी होती हैं, जिनका उन्नत पृष्ठ वाहर की ओर (*Deflexed*) होता तथा ऊपर (अग्र पर) टेढ़ी (*Curved upwards*) होती हैं। प्रत्येक फली में १०–१२ वेलनाकार छोटे वीज होते हैं, जो दोनों सिरों पर कटे-से या छिन्नाभ (*Truncated at both ends*) होते हैं। पुष्पागम वर्षा में तथा फलागम शरदृतु में होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग विशेषतः बीज (तुख्मे नील), पत्र (वस्मा, वर्क़ुन्नील) एवं मूल आदि।

मात्रा – क्वाथ–२½ से ५ तोला।

मूल घनसत्व–१२५ मि० ग्राम से २५० मि० ग्रा० या १ से २ रत्ती (वड़ी मात्रा में रेचक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – असली नील के पौधे से ४.५ प्रतिशत भस्म प्राप्त होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – न्यूनाधिक वानस्पतिक रचना भेद से नील की कई जातियाँ पायी जाती हैं। इनमें सर्वाधिक एवं सामान्यतः ग्राह्य जाति का वर्णन ऊपर किया गया है। (२) ईंडिगोफ़ेरा आर्रेक्टा (*I. arrecta Hochst.*)–यह जाति प्रायः विहार में वन्य एवं कर्षित दोनों अवस्थाओं में पायी जाती है। इसका गहरे हरे रंग का तथा ९० सें० मी० से १८० सें० मी० या ३–६ फुट ऊँचा पत्रमय क्षुप होता है, जिसके काण्ड कोणदार या पहलदार और नालीदार, पत्तियाँ १० से १२.५ सें० मी० या ४–५ इंच लम्बी, जिनमें पत्रक ७ जोड़े एवं एक अग्रपत्रक युक्त होती हैं। पुष्प छोटे तथा गुलावी रंग के होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या १½–२½ इंच लम्बी मञ्जरियों में निकलते हैं। फलियाँ सीधी होती हैं और केवल मञ्जरी के आधार भाग में लगती हैं। (२) ईडिगोफ़ेरा सुमात्राना (*I. sumatrana Gaertn.*) –यह ईडिगोफेरा टींक्टोरिआ जाति का ही भेद होता है। इसके गुल्म अधिक पुष्ट होते हैं। पत्रक ९–२५, लम्बाई में चौड़ाई से अधिक तथा रूपरेखा में अभि-लट्वाकार या पतले अण्डाकार होते हैं। मञ्जरियाँ ७.५ से १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्बी तथा फली ३.१२५ सें०मी० या १¼ इंच लम्बी, अधिक मोटी और ८–१० वीजोंवाली होती है। (३) ईंडिगो० आर्टीकुलाटा (*I. articulata Gouan. Syn. I. argentea Linn.*)—इसके क्षुप विहार, सिंध एवं दकन आदि में पाये जाते हैं। पत्रकदण्ड ३.७५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या २½–३ इंच लम्बे और पत्रक ४ जोड़े रूपरेखा में अभिलट्वाकार तथा मञ्जरी २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच (फलवती होने पर ७.५ सें० मी० या ३ इंच) लम्बी होती है। फली पुष्ट परन्तु छोटी, टेढ़ी और घन रोमश होती है। (४) भुईनील (*Indigofera enneaphylla Linn.*)—इसका क्षुप प्रसरी या जमीन पर फैलने वाला होता है, जिसकी शाखाएँ पतली तथा २० सें० मी० से ६० सें० मी० या ८"–२ फुट तक लम्बी होती हैं। पत्तियाँ १.२५ से ३.७५ सें० मी० या ½–१½ इंच लम्बी, असमपक्षवत्, पत्रक ५–७ (कभी-कभी ११ तक) अभिप्रासवत् ½ से १ सें० मी० (⅕ से ⅖ इंच) लम्बे, दोनों तलों पर रोमश होते हैं। पुष्प छोटे लाल एवं गुच्छवद्ध होते हैं। फली द्विवीजी होती है। यह भारत के मैदानी भागों में (विशेपतः ऊपर भूमि में) पायी जाती है। उत्तर प्रदेश में कहीं-कहीं इसे **हनुमान वूटी** भी कहते हैं। इसका क्षुप आपाततः देखने में नील-जैसा किन्तु प्रसरी होने के कारण इसे **भुईनील** कह दिया जाता है। वैसे नील से इसका कोई संवंध नहीं है।

संगठन – इसमें इन्डिकन (*Indican*) नामक ग्लूकोसाइड (*Glucoside*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, लघु। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–लेखन, वेदनास्थापन

केशरंजन (पत्ते), वात-कफनाशक, केशवर्धन, दीपन-पाचन, यकृदुत्तेजक, स्वेदजनन एवं ज्वरघ्न, (विशेषतः विषमज्वर प्रतिबन्धक), बलवर्धक, रसायन, वाजीकरण (बीज), मूत्रल, रक्तप्रसादन, कफघ्न, विषघ्न। स्वरस का उपयोग पागल कुत्ते के विषशामक एवं मूलववाथ संखिया विष निवारक समझा जाता है। पत्तों का उपयोग खिजाब में डालने के लिए करते हैं। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है।

मुख्य योग – चरकोक्त विरेचन एवं सुश्रुतोक्त अधोभागहर औषधियों में 'नीलिनी' का भी उल्लेख है।

नेपाली धनिया—दे०, 'धनिया'।

पटोल—दे०, 'परवल'।

पठानीलोध—दे०, 'लोध'।

पतंग (पतङ्ग—वकम)

नाम। सं०–पत्राङ्ग, पतङ्ग। हिं०, म०, गु०, द०–पतंग। बं०–बोकोम। अ०–बुक्कम, वक़म, खशबुल् अह्मर। फा०–वकम। अं०–सप्पन वुड (*Sappan Wood*)। वृक्ष–सेसालपीनिआ सप्पन (*Caesalpinia sappan Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : इम्लिका-उपकुल (लेगूमिनोसे; सेसालपिनिआसे *Leguminosae: Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत तथा बंगाल में पतंग के स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। व्यावसायिक रूप में काष्ठ का संग्रह मुख्यतः दक्षिण भारत में ही होता है, जो बम्बई बाजार से होकर अन्यत्र भेजा जाता है। अन्यत्र भी इसके लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। पतंग काष्ठ (हृत्काष्ठ या सारकाष्ठ *Heart-wood*) पंसारियों के यहाँ मिलता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त पतंग लंका, ब्रह्मा एवं मलायाद्वीपसमूह में भी होता है। बाजार में सिंगापुरी, धुनसरी और लंका ऐसे तीन नाम की लकड़ियाँ मिलती हैं। इनका आयात बम्बई में होता है।

संक्षिप्त परिचय – पतंग के बड़े गुल्म या छोटे क़द के वृक्ष होते हैं, जिसकी कोमल तथा नवीन शाखाएँ रक्ताभ-मृदुरोमश होती हैं, और उपपक्षकों (*Pinnae*) के आधार के पास छोटे-छोटे काँटे होते हैं। पत्तियाँ २० सें० मी० से ४० सें० मी० या ८–१६ इंच तक लम्बी होती हैं, जिनपर ८–१२ युग्म पक्षक या पिना *Pinnae*) होते हैं, जो १० सें० मी० से १७.५–२० सें० मी० या ४ से ७–८ इंच लम्बे तथा अत्यंत छोटे वृन्तयुक्त (*Subsessile*) होते हैं। प्रत्येक पत्र-पक्ष पर १०–१८ युग्म पत्रक होते हैं, जो १.२५ सें० मी० से २ सें० मी० (½ से ⅘ इंच) तक लम्बे तथा १ सें० मी० या ⅜ इंच चौड़े, रूपरेखा में आयताकार, किन्तु अग्र पर गोलाकार होते हैं, जो सघन स्थित होते हैं और छोटे वृन्तक युक्त होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं, जो शाखाग्रज एवं पत्रकोणोद्भूत मञ्जरियों (३० सें० मी० से ४० सें० मी० या १२ से १६ इंच लम्बी) में निकलते हैं। फलियाँ ७.५–१० सें० मी० ×३.७५ –५ सें० मी० (३–४ इंच × १॥–२ इंच), रूपरेखा में तिर्यगायताकार चपटी, काष्ठीय तथा अस्फोटी होती हैं, जिनमें ३–४ बीज होते हैं। चौड़े सिरे के ऊर्ध्व-धारा पर (*S*) के आकार की चोंच-सी होती है। फलियों के छिलके एवं काण्डत्वक् का उपयोग व्यवसाय में चमड़ा सिझाने के लिए तथा हृत्काष्ठ औषध्यर्थ व्यवहृत होता है।

उपयोगी अंग – सारकाष्ठ या हृत्काष्ठ (*Heart-wood*)।

मात्रा – २ ग्राम से ३ ग्राम या २–३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पतंग काष्ठ ठोस, भारी, कड़ा तथा ताजा कटा होने पर रक्ताभ-श्वेत, किन्तु वायु में खुला रहने पर लाल हो जाता है। इसमें कोई विशेष गंध एवं स्वाद नहीं होता, किंतु कषाय (संग्राही) होता है। इससे जल तथा सुरासार में उत्तम लाल रंग आ जाता है। बाजार में इसके विभिन्न आकार-प्रकार के कड़े, भारी टुकड़े या लाल नारंगी रंग की चपटियाँ मिलती हैं। अनुप्रस्थ विच्छेद (आड़े रुख काटने से) करने पर इन पर वृत्त एवं सरल रेखाएँ पायी जाती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पतंग काष्ठ को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें सैपोनिन नामक एक क्रिस्टली सत्व होता है, जो हीमेटॉक्सीलीन के समान है।

स्वभाव – पतंग काष्ठ दूसरे दर्जे में गरम और चौथे में खुश्क होता है। यह उपशोषण, व्रणलेखन, संग्राही और रक्त-स्तम्भन होता है। अतिसार-प्रवाहिका में इसे खिलाते हैं तथा संग्राही उत्तर वस्ति के रूप में भी इसका व्यवहार होता है।

मुख्य योग – पत्राङ्गासव (पतंगासव)।

विशेष – पतङ्गासव एक उत्तम रक्तस्तम्भक योग है। रक्तप्रदर में अत्यधिक रक्तस्राव रोकने के लिए बहुत उपयोगी है।

पत्ता अजवायन (पत्थरचूर)

नाम। सं०–पर्णयवानी, पाषाणभेदी। हिं०–पत्ता अजवायन। बं०–पाथरचूर। म०–पानओवा। अं०–कन्ट्री बोरेज (*Country Borage*)। ले०–कोलेउस आंबोइनिकुस *Coleus amboinicus Lour.* (पर्याय–कोलेउस आरोमाटीकुस *C. aromaticus Benth.*)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – यह मलक्का द्वीपपुञ्ज की आदिवासी वनस्पति है; किन्तु सम्प्रति सुगन्धित पत्तों के लिए सर्वत्र भारतवर्ष में वाटिकाओं में लगायी जाती है। पत्तियों की पकौड़ी बना कर खायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – इसके बहुवर्षायु स्वरूप के कोमल काण्डीय पौधे सर्वत्र बगीचों में लगाये हुए मिलते हैं। इसके क्षुप रोमश होते हैं, तथा जड़ के पास का भाग गुल्म स्वभाव का होता है। पत्तियाँ सवृन्त (परन्तु वृन्त छोटा), वृत्ताकार, हृद्वत्, गोलदन्तुर, मोटी, मांसल तथा किंचित् रोमश और लगभग २.५ से ७.५ सें० मी० या १–३ इंच तक लम्बी होती हैं। इनमें अजवायन-जैसी उग्र सुगंधि पायी जाती है, इसीलिए इसे संस्कृत में पर्णयवानी तथा हिन्दी में 'पत्ता अजवायन' कहते हैं। पुष्प बहुत छोटे, नीले या हल्के जामुनी रंग के और सघन परन्तु दूर-दूर स्थित चक्रों में निकलते हैं। कलिकायुक्त कोणपुष्पकों की चार कतारें रहती हैं। पत्तियाँ मूत्रल एवं अश्मरीघ्न समझी जाती हैं। अतएव 'पाषाणभेदी' एवं 'पाथरचूर' आदि नाम इसके लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। रुचिकारक गुण में विदेशी वनस्पति (*Borago officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि है। इसी से अंग्रेजी में इसे "*Country Borage*" कहते हैं। जाड़ों के अन्त में पुष्प तथा गर्मियों में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र।

मात्रा – स्वरस–६ ग्राम से ११.६६ ग्राम या ½ से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पत्ता अजवायन की पत्तियाँ ७.५ सें० मी० या ३ इंच तक लम्बी, मोटी एवं मांसल तथा रूप-रेखा में वृत्ताकार, हृद्वत्, गोल अथवा चौड़ी लट्वाकार होती हैं। पत्तियों के किनारे दन्तुर या दंदानेदार (*Crenated*) होते हैं। पत्र-पृष्ठ ग्रंथि रोमश (*Glandular hairy*) होते हैं, जो अधःपृष्ठ पर और भी सघन होते हैं, जिससे यह ओसलिप्त-सा श्वेताभ (*Frosted appearance*) मालूम होता है। शिरा विन्यास (*Venation*) जालमय (*Reticulate*) होता है, जो अधःपृष्ठ पर अधिक स्पष्ट होता है। इतस्ततः तैलबिन्दु भी पाये जाते हैं, किन्तु सुगंधि मुख्यतः ग्रंथि रोमों के ही कारण होती है। पत्तियों में अजवायन-जैसी उग्र मनोरम सुगंधि होती है, और मुख में चाबने पर सुगंधित और तीक्ष्ण (*Pungent*) होती है।

संगठन – पत्तियों में अल्प मात्रा में सुगंधित उत्पत् तैल मुख्यतः कार्वेक्रोल (*Carvacrol*) नामक तत्त्व से युक्त पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक; वेदनास्थापन, विषघ्न, आक्षेपहर, रोचन, दीपन-पाचन, ग्राही, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न, कफदुर्गन्ध-नाशक, श्वासहर, मूत्रल, अश्मरीघ्न आदि। अहितकर–अधिक मात्रा में मादक होता है। अतः इसका प्रयोग करते समय सावधान रहें।

विशेष – हाल में ही कलकत्ते में पत्ता अजवायन का परीक्षण विशूचिका या हैजा (*Cholera*) के रोगियों में किया गया है, जिसमें अत्यंत संतोषप्रद परिणाम मिला है। यद्यपि इससे विशूचिका के जीवाणु नष्ट तो नहीं होते, किन्तु उपद्रवों की शान्ति होकर रोगी निरोग हो जाता है। एतदर्थ प्रथम मात्रा ४ ड्राम या १। तोले की, तथा इसके बाद १–१ घंटे के अन्तर से दो मात्राएँ २ ड्राम या ७½ माशे की दी जाती हैं। यदि इससे दस्त बन्द न हों तो ८ घंटे पर यही चिकित्सा क्रम दुहराया जाता है, जब तक कि दस्त रुक न जायँ। इस प्रकार यह हैजे की सर्वसुलभ एवं सुगम औषधि है।

पद्मकाष्ठ (पद्मक)

नाम। सं०–पद्मक, पद्मगंधि। हिं०–पद्माक, पद्माख, पद्मकाठ, पदमकाठ; (जौनसार आदि हिमालयप्रदेश)–पाजा (*Pajja*), फाजा (*Phajja*)। म०, गु०–पद्मकाष्ठ। अं०–हिमालयन चेरी (*Himalayan Cherry*)। ले०–प्रूनुस सेरासॉइडेस *Prunus cerasoides D. Don.* (पर्याय–प्रूनुस पद्दुम *Prunus puddum Roxb. ex Wall.*)।

वानस्पतिक कुल – तरुणी-कुल (रोज़ासे *Rosaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश (*Temperate Himalayas*) में सतलज से गढ़वाल (९१४.४ मीटर से १८२८.८ मीटर या ३,०००–६,००० फुट) तथा भूटान (१५२३ मीटर से २४०८.३६ मीटर या ५,०००–८,००० फुट) तक, खसिया, मनीपुर, उत्तरी-ब्रह्मा तथा दक्षिण भारत में उटकमंड आदि की पहाड़ियों पर पद्मकाष्ठ के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। उक्त प्रदेशों के गाँवों के आसपास के जंगलों में तथा बगीचों में इसके स्वयंजात एवं लगाये हुए दोनों वृक्ष मिलते हैं। काष्ठ पंसारियों के यहाँ बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – पद्माख के मध्यम ऊंचाई के वृक्ष होते हैं, जिनकी छाल हल्का भूरापन लिए खाकस्तरी (*Brownish-grey*) रंग की तथा चिकनी होती है, और इसकी पतली चमकीली पपड़ियाँ छूटती (*Bark peeling off in thin shining horizontal strips*) हैं। काण्ड गोलाकार रक्ताभ तथा ग्रंथियुक्त होता है, और इसमें कमल के समान गंध होती है। पत्तियाँ ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३–५ इंच लम्बी, २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१½ इंच चौड़ी, भालाकार-लट्वाकार, लंबे नोंक वाली (*Long-acuminate*) एवं चिकनी तथा दोहरे दाँतों वाली (*closely doubly serrate*); पत्रवृन्त लगभग १.२५ सें०मी० या ½ इंच लम्बा, जिसके आधार पर २-४ ग्रंथियाँ होती हैं। पतझड़ के बाद पहले पुष्पागम (अप्रैल–मई तक) होता है, तब पत्तियाँ निकलती (मई-जून) हैं। पुष्पागम होने पर इसके वृक्ष बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। पुष्प व्यास में २ सें०मी० या ⅘ इंच तथा पहले गुलाबी रंग के बाद में सफेद हो जाते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncles*) १.२५ से ३.७५ सें० मी० या ½ से १½ इंच लम्बे होते हैं और मंजरियाँ छत्राकार (*Umbellate fascicles*) होती हैं। पुष्पों से भी कमल की-सी हल्की गंध आती है। पुष्पागम के लगभग २ माह बाद फलागम होता है। इसका अष्ठिफल (*Drupe*) अंडाकार, पीला या लाल, दोनों सिरों पर कुण्ठित (*Obtuse at both ends*) तथा स्वाद में किंचित् कसैलापन लिए खट्टा होता है। पके फल स्थानिक लोग खाते हैं। फलों में गूदा प्रायः कम तथा गुठली (*Stone*) अपेक्षाकृत बड़ी होती है, जो झुर्रीदार एवं खातोदर रेखांकित (*Rugose and furrowed*) होती है। पद्मकाष्ठ की सीधी डालियों की छड़ियाँ (*Walking Sticks*) बनाते हैं तथा गुठलियों को सुखाकर माला बनाते हैं।

उपयोगी अंग – काण्डकाष्ठ एवं छाल तथा बीजमज्जा।

मात्रा – चूर्ण–½ ग्राम से २ ग्राम या आधा से २ माशा। फाण्ट–२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में पद्माख काण्ड के टुकड़े मिलते हैं, जिनकी त्वचा कृष्णाभ रक्त तथा हृत्काष्ठ (*Heart-wood*), रक्तपीताभ श्वेत होता है। औषध्यर्थ नये काण्ड का व्यवहार करना चाहिए। क्वाथ बनाने में इसका सत्व उड़ जाता है, अतएव इसका फाण्ट बनाना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – काष्ठ एवं अन्य उपयोगी अंगों को मुखबन्द शीशियों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – काण्डत्वक् में एमिग्डेलिन (*Amygdalin*), प्रुनेसेटिन एवं हायड्रोसाइनिक एसिड नामक तीव्र विषाक्त सत्व पाया जाता है। अतएव इसकी छाल का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

वीर्यकालावधि – ३ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–त्रिदोषहर। प्रधान कर्म–काण्ड एवं छाल स्तम्भन, कटुपौष्टिक, वेदनास्थापक, रक्तशोधक एवं शामक तथा बीजमज्जा अश्मरीघ्न होती है।

मुख्य योग – अर्क हराभरा।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) वर्ण्य तथा वेदनास्थापन महाकषाय एवं कषाय स्कन्ध के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सारिवादि एवं चन्दनादि गण में पद्मक भी है।

पपीता (एरण्डकर्कटी)

नाम। सं०–एरण्डकर्कटी (अभिनव)। हिं०–एरंड (अरंड) ककड़ी, एरण्ड (अरंड) खरबूजा, पपीता, पपैया, पपय्या, विलायती रेंड। बं०–पेंपे। म०–पपाया। गु०–झाड़चीभडुं, पोपैयुं। सिंध–काठगिदरो। ता०–पचलै, पप्पलि। ते०–बोप्पयी। मल०–पप्पायम्। अ०–शजरतुल् बित्तीख़। फा०–दरख़्त खुरपुज़ा (–ख़र्बूज़ा)। अं०–पपाव (या) ट्री *Papaw (Papaya) Tree*। ले०–कैरीका पपाया (*Carica papaya Linn.*)। **वक्तव्य**–स्पेन की भाषा में पपीता शब्द का प्रयोग कुचिला वर्ग की एक अन्य विषैली

ओपधि (स्ट्रिक्नोस इग्नाटी (*Strychnos ignatii*) के अर्थ में भी होता है।

वानस्पतिक कुल – एरण्डकर्कटी-कुल (कारीकासे *Caricaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पपीता वास्तव में ब्रेजिल (दक्षिण अमरीका) का आदिवासी पौधा है। किन्तु अब यह भारतवर्ष में भी अधिवासी हो गया है। समस्त भारतवर्ष में इसकी प्रचुर मात्रा में खेती की जाती है। कच्चे एवं पके पपीता के फल तरकारी बाजारों में सर्वदा बिकते हैं। प्रौढ़ कच्चे फल के दूध का व्यवहार औषधि में होता है।

संक्षिप्त परिचय – पपीते के छोटे कद के वृक्ष लगभग ६ मीटर से ९ मीटर या (२०–३० फुट ऊँचे) होते हैं, जिनका काण्डस्कन्ध एवं डालियाँ कोमल (*Soft-wooded*) होती हैं। वृक्ष होते हुए भी यह अल्पायु होता है, और इसका सक्रिय जीवन-काल केवल ४–५ वर्षों का होता है; अर्थात् इसमें फूल-फल केवल उक्त अवधि तक ही आते हैं। और इस जीवन को समाप्त करने के बाद वृक्ष नष्ट हो जाते हैं। इसकी पत्तियाँ चौड़ी-चौड़ी, चमकीली, अर्धानुत्तर–खण्डित या पाणिदर (पालमेटीफिड *Palmatifid*) तथा पाणिवत् शिरा विन्यास युक्त (*Palminerved*) होती हैं। ये पत्तियाँ केवल वृक्ष के शिखर पर छत्रवत् समूहबद्ध स्थित होती हैं। पर्णवृन्त या डंठल एरण्ड की भाँति लम्बे-लम्बे तथा खोखले होते हैं। इसमें हल्के पीले रंग के सुगंधित पुष्प आते हैं, जो एकलिंगी होते हैं, और नरपुष्प तथा नारी पुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर आते हैं। नरपुष्प लम्बी सगुच्छ मञ्जरियों में लगते हैं, जो नीचे को लटकी रहती (*Drooping panicles*) हैं। नारीपुष्पव्यूह धारक दण्ड छोटा होता है, अतएव यह गुच्छकों में दिखाई देते हैं। नरपुष्पों का आभ्यन्तर कोप नलिकाकार एवं श्वेत रंग का तथा स्त्रीपुष्पों में बड़ा, मांसल तथा पीले रंग का और पाँच खण्डों से युक्त (5-*lobed*) होता है। फल छोटे तरबूज के बराबर तथा गूदेदार होते हैं, जो कच्चे होने पर हरे और कड़े तथा पकने पर पीताभ वर्ण के तथा कोमल हो जाते हैं। फलों के अन्दर खोखला अवकाश होता है, जिसमें गोल-गोल, खाकस्तरी रंग के तथा स्पर्श में चिपचिपे असंख्य बीज भरे होते हैं। बीजों में एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गंध भी होती है। कच्चे फलों पर चीरा लगाने से आक्षीर या लैटेक्स (*Latex or milky Juice*) निकलता है। औषधीय दृष्टि से यही विशेष महत्त्व का है। इसी से पैपेन (*Papain*) प्राप्त किया जाता है। पपीता एक उत्तम मांसपाचक शाक है। कच्चे फलों की तरकारी तथा अचार बनाया जाता है और पके फल अन्य फलों की भाँति खाये जाते हैं।

उपयोगी अंग – फल, बीज, पत्र एवं दूध (*Latex*), तथा दूध से प्राप्त सत्व (पपेन *Papain*)।

मात्रा – दूध – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ½ से १ तोला।
पपेन – १२५ मि० ग्रा० से ५०० मि० ग्रा० या १ से ४ रत्ती।
बीजचूर्ण – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४–८ रत्ती।
फल – आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पपेन, सफेद से हल्के भूरे रंग के अथवा भूरापन लिये खाकस्तरी से हल्के पीले रंग के चूर्ण के रूप में मिलता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गन्ध एवं हल्का खट्टा या नमकीन स्वाद होता है। कन्दुक में शुष्क किए हुए (*Ovendried*) पपेन में धूप में सुखाये हुए पपेन (*Sundried*) की अपेक्षा सक्रियता अधिक होती है। विलेयता–नमक के पानी में यह थोड़ा-थोड़ा घुलता है, किन्तु ऐल्कोहल् (७०%) में अच्छी तरह घुल जाता है। ईथर तथा क्लोरोफॉर्म में अघुलनशील होता है। भस्म–अधिकतम १% प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – इसका संग्रह करने के लिए प्रगल्भ कच्चे फलों पर प्रातःकाल अनुलम्ब दिशा में २-३ चीरा (३.१२५ मि०मी० या ⅛ इंच तक गहरा) लगा दिया जाता है। ३-७ दिन के अन्तर से इस क्रिया को दुहराते रहते हैं। इस प्रकार जो दूध जैसा सफेद तथा गाढ़ा स्राव निकलता है, उसे खरोंच कर सीसे के पात्र में एकत्रित करते रहते हैं। दूध का अधिकतम स्राव वर्षा के अन्त में अक्टूबर-नवम्बर के महीनों में होता है। संग्रहीत दूध में १०% सेंधा नमक मिला दिया जाता है। इससे दूध की क्रियाशीलता क्षीण नहीं होने पाती। इसे छायाशुष्क करके अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में, जिनमें हवा भी प्रविष्ट न हो सके, संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – पपीते के आक्षीर (दूध) में पपेन या पपायोटिन नामक मांसपाचक सत्व पाया जाता है। यह प्राणिज

पेप्सिन नामक पाचक द्रव्य के समान, प्रत्युत अनेक विषयों में उससे भी उत्तम है। ताजे फल में शर्करा, पेक्टिन, सीट्रिक एसिड, टार्टरिक एसिड, मेलिकएसिड तथा विटामिन '*A*', '*B*' एवं '*C*' भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पपीते में कैल्सियम्, फास्फोरस, लौह, एवं मैंगनीसियम् के लवण भी पाये जाते हैं। बीजों में एक प्रकार का कुस्वाद और अप्रियगंधी तेल होता है, जिसे पपैया का तेल (*Papaya oil*) कहते हैं। पत्तियों में कार्पेन (*Carpaine*) नामक ऐल्केलाइड तथा कार्पोसाइड (*Carposide*) नामक ग्लाइकोसाइड तथा विटामिन '*C*' एवं '*E*' पाये जाते है।

वीर्यकालावधि – शुष्क क्षीर–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक (पका फल–पित्तशामक); दूध (आक्षीर)–लेखन, वेदनास्थापन, मांसपाचक, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न (विशेषतः–केंचुए एवं स्फीतकृमि नाशक), आर्तवजनन, स्तन्यजनन, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न। पत्र एवं बीज–शोथहर, आर्तवजनन, स्वेदजनन, रक्तशोधक, हृद्य, कटुपौष्टिक, वल्य। यूनानी मतानुसार पक्व पपीताफल उष्ण एवं तर तथा कच्चा पपीता उष्ण एवं रूक्ष है। इसके सेवन से आमाशय बलवान होता है, खूब भूख लगती है तथा अपान वायु खुलती है। अहितकर–उष्ण प्रकृति वालों तथा गर्भवती स्त्रियों में भी इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

विशेष – कच्चे पपीते की तरकारी एवं अचार बनाया जाता है, और पक्व फल खाये जाते हैं। यकृद्विकार में तथा मांसहारियों के लिए उत्तम पथ्य द्रव्य है।

परजाता (पारिजात)

नाम। सं०–पारिजात, शेफालिका। हिं०–हरश्रृंगार, हरसिंगार, परजाता। (देहरादून)–कूरी (*Kurri*)। को०, संथा०–सपरोम। माल०–कुलामारसल। बं०–सिंटिक, शेफालिका। म०–पारिजात। गु०–हारशणगार। अं०–वीपिंग निक्टेंथीस (*Weeping Nyctanthes*), नाइट जैस्मिन (*Night Jasmine*)। ले०–निक्टांथेस आर्बोरट्रीस्टिस (*Nyctanthes arbortristis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – यूथिका-कुल (ओलेआसे *Oleaceae*)।

प्राप्ति स्थान – समस्त भारतवर्ष। (विशेषतः हिमालय की बाहरी पर्वत श्रेणियों में)। इसके जंगली एवं लगाये हुए वृक्ष बहुतायत से मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – हरसिंगार के पर्णपाती छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं, जिसकी पतली शाखाएँ प्रायः चतुष्कोणाकार और छाल खाकस्तरी रंग या हरिताभ-श्वेत वर्ण की तथा कर्कश होती है। पत्तियाँ अभिमुखक्रम से स्थित (*Opposite*) तथा १० से १२·५ सें० मी० या ४-५ इंच लम्बी, २½-३ इंच चौड़ी, लट्वाकार या हृदयाकार अथवा आयताकार, अग्र नुकीले, किनारे प्रायः सरल (कभी-कभी दूर-दूर दन्तुर से) होते हैं। ऊर्ध्व पृष्ठ हरित वर्ण तथा अधः पृष्ठ श्वेताभ होता है। पत्तियों पर तीक्ष्णाग्र श्वेत रोम पाये जाते हैं, जिससे स्पर्श में यह कर्कश होती हैं। पर्णवृन्त ०·५ से १.२५ सें० मी० (⅕ से ½ इंच) लम्बा होता है। पुष्प सुगन्धित होते हैं, जो सशाख गुच्छों में (३-७ पुष्प) निकलते हैं। आभ्यन्तरकोप-नलिका या दलपुञ्ज-नलिका कॉरोलाट्यूब (*Corolla tube*) पीतरक्त तथा दल सफेद और सुगन्धित होते हैं। पुष्प प्रायः रात में खिलते तथा प्रातः झड़ जाते हैं। फल (*Capsule*) १·८७५ सें० मी० या ¾ इंच तक लम्बा, १.२५ सें० मी० (½ इंच) तक चौड़ा, लम्बगोल, लोमाग्र (*Mucronate*), चपटा, पकने पर भूरे रंग का प्रायः द्विकोष्ठीय होता है। प्रत्येक कोष्ठ में हल्के भूरे रंग का चपटा एवं पतला बीज होता है। आभ्यन्तरकोप-नलिकाओं को पृथक् करके नारंगी रंग (*Orange colour*) प्राप्त किया जाता है। पत्तियाँ, छाल एवं बीज स्वाद में कसैलापन लिये तिक्त होते हैं। पुष्पागम–अगस्त से अक्टूबर तक। फलागम–जाड़े के दिनों में।

उपयोगी अंग – पत्र, छाल एवं बीज।

मात्रा – पत्रस्वरस–६ माशा से २ तोला।

चूर्ण–१२५ मि०ग्रा० से ५०० मि०ग्रा० या १ से ४ रत्ती।

संग्रह एवं संरक्षण – इसके वृक्ष सर्वत्र सुलभ होने से ताजी पत्तियों का व्यवहार करना चाहिए। यदि संग्रह करना हो तो उपयुक्त अंगों को छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – पुष्पों में चमेली की भाँति सुगन्धित तैल होता है। पत्तियों में निक्टेन्थीन (*Nyctanthine*) नामक क्षारोद

ओषधि (स्ट्रिक्नोस इग्नाटी (*Strychnos ignatii*) के अर्थ में भी होता है।

वानस्पतिक कुल – एरण्डकर्कटी-कुल (कारीकासे *Caricaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पपीता वास्तव में ब्रेजिल (दक्षिण अमरीका) का आदिवासी पौधा है। किन्तु अब यह भारतवर्ष में भी अधिवासी हो गया है। समस्त भारतवर्ष में इसकी प्रचुर मात्रा में खेती की जाती है। कच्चे एवं पके पपीता के फल तरकारी बाजारों में सर्वदा बिकते हैं। प्रौढ़ कच्चे फल के दूध का व्यवहार औषधि में होता है।

संक्षिप्त परिचय – पपीते के छोटे कद के वृक्ष लगभग ६ मीटर से ९ मीटर या (२०–३० फुट ऊँचे) होते हैं, जिनका काण्डस्कन्ध एवं डालियाँ कोमल (*Soft-wooded*) होती हैं। वृक्ष होते हुए भी यह अल्पायु होता है, और इसका सक्रिय जीवन-काल केवल ४–५ वर्षों का होता है; अर्थात् इसमें फूल-फल केवल उक्त अवधि तक ही आते हैं। और इस जीवन को समाप्त करने के बाद वृक्ष नष्ट हो जाते हैं। इसकी पत्तियाँ चौड़ी-चौड़ी, चमकीली, अर्धानुत्तर–खण्डित या पाणिदर (पालमेटीफिड *Palmatifid*) तथा पाणिवत् शिरा विन्यास युक्त (*Palminerved*) होती हैं। ये पत्तियाँ केवल वृक्ष के शिखर पर छत्रवत् समूहबद्ध स्थित होती हैं। पर्णवृन्त या डंठल एरण्ड की भाँति लम्बे-लम्बे तथा खोखले होते हैं। इसमें हल्के पीले रंग के सुगंधित पुष्प आते हैं, जो एकलिंगी होते हैं, और नरपुष्प तथा नारी पुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर आते हैं। नरपुष्प लम्बी सगुच्छ मञ्जरियों में लगते हैं, जो नीचे को लटकी रहती (*Drooping panicles*) हैं। नारीपुष्पव्यूह धारक दण्ड छोटा होता है, अतएव यह गुच्छकों में दिखाई देते हैं। नरपुष्पों का आभ्यन्तर कोष नलिकाकार एवं श्वेत रंग का तथा स्त्रीपुष्पों में बड़ा, मांसल तथा पीले रंग का और पाँच खण्डों से युक्त (5-*lobed*) होता है। फल छोटे तरबूज के बराबर तथा गूदेदार होते हैं, जो कच्चे होने पर हरे और कड़े तथा पकने पर पीताभ वर्ण के तथा कोमल हो जाते हैं। फलों के अन्दर खोखला अवकाश होता है, जिसमें गोल-गोल, खाकस्तरी रंग के तथा स्पर्श में चिपचिपे असंख्य बीज भरे होते हैं। बीजों में एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गंध भी होती है। कच्चे फलों पर चीरा लगाने से आक्षीर या लैटेक्स (*Latex or milky Juice*) निकलता है। औषधीय दृष्टि से यही विशेष महत्त्व का है। इसी से पैपेन (*Papain*) प्राप्त किया जाता है। पपीता एक उत्तम मांसपाचक शाक है। कच्चे फलों की तरकारी तथा अचार बनाया जाता है और पके फल अन्य फलों की भाँति खाये जाते हैं।

उपयोगी अंग – फल, बीज, पत्र एवं दूध (*Latex*), तथा दूध से प्राप्त सत्व (पपेन *Papain*)।

मात्रा –दूध – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ½ से १ तोला।
पपेन – १२५ मि० ग्रा० से ५०० मि० ग्रा० या १ से ४ रत्ती।
बीजचूर्ण – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४–८ रत्ती।
फल – आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पपेन, सफेद से हल्के भूरे रंग के अथवा भूरापन लिये खाकस्तरी से हल्के पीले रंग के चूर्ण के रूप में मिलता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गन्ध एवं हल्का खट्टा या नमकीन स्वाद होता है। कन्दुक में शुष्क किए हुए (*Ovendried*) पपेन में धूप में सुखाये हुए पपेन (*Sundried*) की अपेक्षा सक्रियता अधिक होती है। विलेयता–नमक के पानी में यह थोड़ा-थोड़ा घुलता है, किन्तु ऐलकोहल् (७०%) में अच्छी तरह घुल जाता है। ईथर तथा क्लोरोफॉर्म में अघुलनशील होता है। भस्म–अधिकतम १% प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – इसका संग्रह करने के लिए प्रगल्भ कच्चे फलों पर प्रातःकाल अनुलम्ब दिशा में २-३ चीरा (३.१२५ मि०मी० या ⅛ इंच तक गहरा) लगा दिया जाता है। ३-७ दिन के अन्तर से इस क्रिया को दुहराते रहते हैं। इस प्रकार जो दूध जैसा सफेद तथा गाढ़ा स्राव निकलता है, उसे खरोंच कर सीसे के पात्र में एकत्रित करते रहते हैं। दूध का अधिकतम स्राव वर्षा के अन्त में अक्टूबर-नवम्बर के महीनों में होता है। संग्रहीत दूध में १०% सेंधा नमक मिला दिया जाता है। इससे दूध की क्रियाशीलता क्षीण नहीं होने पाती। इसे छायाशुष्क करके अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में, जिनमें हवा भी प्रविष्ट न हो सके, संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – पपीते के आक्षीर (दूध) में पपेन या पपायोटिन नामक मांसपाचक सत्व पाया जाता है। यह प्राणिज

पेप्सिन नामक पाचक द्रव्य के समान, प्रत्युत अनेक विषयों में उससे भी उत्तम है। ताजे फल में शर्करा, पेक्टिन, सीट्रिक एसिड, टार्टरिक एसिड, मेलिकएसिड तथा विटामिन '*A*', '*B*' एवं '*C*' भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पपीते में कैल्सियम्, फास्फोरस, लौह, एवं मैंगनीसियम् के लवण भी पाये जाते हैं। बीजों में एक प्रकार का कुस्वाद और अप्रियगंधी तेल होता है, जिसे पपैया का तेल (*Papaya oil*) कहते हैं। पत्तियों में कार्पेन (*Carpaine*) नामक ऐल्केलाइड तथा कार्पोसाइड (*Carposide*) नामक ग्लाइकोसाइड तथा विटामिन '*C*' एवं '*E*' पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – शुष्क क्षीर–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक (पका फल–पित्तशामक); दूध (आक्षीर)–लेखन, वेदना स्थापन, मांसपाचक, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न (विशेषतः–केंचुए एवं स्फीतकृमि नाशक), आर्तवजनन, स्तन्यजनन, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न। पत्र एवं बीज–शोथहर, आर्तवजनन, स्वेदजनन, रक्तशोधक, हृद्य, कटुपौष्टिक, बल्य। यूनानी मतानुसार पक्व पपीताफल उष्ण एवं तर तथा कच्चा पपीता उष्ण एवं रूक्ष है। इसके सेवन से आमाशय बलवान होता है, खूब भूख लगती है तथा अपान वायु खुलती है। अहितकर–उष्ण प्रकृति वालों तथा गर्भवती स्त्रियों में भी इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

विशेष – कच्चे पपीते की तरकारी एवं अचार बनाया जाता है, और पक्व फल खाये जाते हैं। यकृद्विकार में तथा मांसाहारियों के लिए उत्तम पथ्य द्रव्य है।

परजाता (पारिजात)

नाम। सं०–पारिजात, शेफालिका। हिं०–हरश्रृंगार, हरसिंगार, परजाता। (देहरादून)–कूरी (*Kurri*)। को०, संथा०–सपरोम। माल०–कुलामारसल। बं०–सिटिक, शेफालिका। म०–पारिजात। गु०–हारशणगार। अं०–वीपिंग निक्टेंथीस (*Weeping Nyctanthes*), नाइट जैस्मिन (*Night Jasmine*)। ले०–निक्टांथेस आर्बोरट्रीस्टिस (*Nyctanthes arbortristis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – यूथिका-कुल (ओलेआसे *Oleaceae*)।

प्राप्ति स्थान – समस्त भारतवर्ष। (विशेषतः हिमालय की बाहरी पर्वत श्रेणियों में)। इसके जंगली एवं लगाये हुए वृक्ष बहुतायत से मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – हरसिंगार के पर्णपाती छोटे-छोटे वृक्ष होते हैं, जिसकी पतली शाखाएँ प्रायः चतुष्कोणाकार और छाल खाकस्तरी रंग या हरिताभ-श्वेत वर्ण की तथा कर्कश होती है। पत्तियाँ अभिमुखक्रम से स्थित (*Opposite*) तथा १० से १२·५ सें० मी० या ४-५ इंच लम्बी, २½-३ इंच चौड़ी, लट्वाकार या हृदयाकार अथवा आयताकार, अग्र नुकीले, किनारे प्रायः सरल (कभी-कभी दूर-दूर दन्तुर से) होते हैं। ऊर्ध्व पृष्ठ हरित वर्ण तथा अधः पृष्ठ श्वेताभ होता है। पत्तियों पर तीक्ष्णाग्र श्वेत रोम पाये जाते हैं, जिससे स्पर्श में यह कर्कश होती हैं। पर्णवृन्त ०·५ से १.२५ सें० मी० (⅕ से ½ इंच) लम्बा होता है। पुष्प सुगन्धित होते हैं, जो सशाख गुच्छों में (३-७ पुष्प) निकलते हैं। आभ्यन्तरकोप-नलिका या दलपुञ्ज-नलिका कॉरोलाट्यूब (*Corolla tube*) पीतरक्त तथा दल सफेद और सुगन्धित होते हैं। पुष्प प्रायः रात में खिलते तथा प्रातः झड़ जाते हैं। फल (*Capsule*) १·८७५ सें० मी० या ¾ इंच तक लम्बा, १.२५ सें० मी० (½ इंच) तक चौड़ा, लम्बगोल, लोमाग्र (*Mucronate*), चपटा, पकने पर भूरे रंग का प्रायः द्विकोष्ठीय होता है। प्रत्येक कोष्ठ में हल्के भूरे रंग का चपटा एवं पतला बीज होता है। आभ्यन्तरकोष-नलिकाओं को पृथक् करके नारंगी रंग (*Orange colour*) प्राप्त किया जाता है। पत्तियाँ, छाल एवं बीज स्वाद में कसैलापन लिये तिक्त होते हैं। पुष्पागम–अगस्त से अक्टूबर तक। फलागम–जाड़े के दिनों में।

उपयोगी अंग – पत्र, छाल एवं बीज।

मात्रा – पत्रस्वरस–६ माशा से २ तोला।
चूर्ण–१२५ मि०ग्रा० से ५०० मि०ग्रा० या १ से ४ रत्ती।

संग्रह एवं संरक्षण – इसके वृक्ष सर्वत्र सुलभ होने से ताजी पत्तियों का व्यवहार करना चाहिए। यदि संग्रह करना हो तो उपयुक्त अंगों को छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – पुष्पों में चमेली की भाँति सुगन्धित तैल होता है। पत्तियों में निक्टेन्थीन (*Nyctanthine*) नामक क्षारोद

तथा कषाय द्रव्य, रालीय तत्त्व, रंजक द्रव्य, आदि पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – त्वक्–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–ज्वरघ्न, यकृतोत्तेजक, कृमिघ्न कटुपौष्टिक, आनुलोमिक, रक्तशोधक, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रल, विषघ्न, केश्य।

विशेष – कहीं-कहीं इसे 'सडसियारी' भी कहते हैं। कुछ लोग इसे ही भ्रम से पारिभद्र मानते हैं, जो वस्तुतः फरहद का नाम है। हरसिंगार सम्भवतः शेफालिका है, जिसे कुछ लोग सम्भालू भेद कह दिया करते हैं।

परवल (पटोल–जंगली परवल)

नाम। सं०–पटोल, कर्कशच्छद, राजीफल। हि०–परवल, परवर, परोरा। बं०–पटोल, पल्ता। म०–पडवल। गु०–पाडर, पटोल। पं०–पलवल। ले०–ट्रीकोज़ांथेस डिऑइका *Trichosanthes dioica Roxb.* । उक्त लता के २ भेद होते हैं–(१) कृषिजन्य (*Cultivated variety*) तथा (२) स्वयंजात या जंगली (*Wild variety*)। कृषिजन्य लता से प्राप्त फल तिक्त नहीं होता। इसी से इसे मीठा पटोल कहते हैं। इसका शाक बनाया जाता है। वन्य पटोल का पंचांग अत्यंत तिक्त होता है। इसे तिक्त पटोल कहते हैं। औषधीय प्रयोग के लिए प्रायः यही व्यवहृत होता है।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड-कुल (कूकुरबिटासे *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर भारत के मैदानी भागों में पूरब में आसाम बंगाल तक।

संक्षिप्त परिचय – परवल की एक वर्षायु दीर्घ-आरोही लता होती है, जिसका काण्ड कुछ कर्कश तथा रोमावृत होता है। शाखाग्रों का रूपान्तर तन्तु या टेंड्रिल (*Tendrils*) में होता है, जो २-४ शाखाओं में विभक्त होते हैं। पत्तियाँ ७.५ से १० सें० मी० (३-४ इंच) लम्बी, ५ सें० मी०या २ इंच चौड़ी, लट्वाकार-आयताकार या हृदयाकार अग्र नुकीला, पत्र-तट लहरदार दंतुर होता है। पत्र के दोनों तल प्रायः कर्कश होते हैं.। पर्णवृन्त लगभग १.८७५ सें० मी० या ¾ इंच लम्बा होता है। पुष्प एकलिंगी, नर एवं नारीपुष्प पृथक्-पृथक् पौधों पर होते (डायोशिअस) हैं। फल लम्बगोल दोनों सिरों की ओर नुकीले, ५ से ७.५ से० मी० (२-३ इंच) लम्बे होते हैं। कच्चे फल श्वेताभ-हरित, पकने पर लाल हो जाते हैं। फलों पर सफेद धारियाँ होती हैं। जंगली लता का पंचाङ्ग स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा। स्वरस–१ से २ तोला।
क्वाथ–५ से १० तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – परवल का काण्ड चक्रारोही (आधार को लपेट कर चढ़ता है) होता है, जो स्पर्श में कर्कश एवं रूई के समान कोमल रोमावृत्त (*Woolly*) होता है। पत्तियाँ ७.५ सें० मी० ×५ सें० मी० (३ इंच ×२ इंच), प्रायः अखण्डित तथा किनारे लहरदार गोलदन्तुर (*Sinuate dentate*), पर्णवृन्त लगभग १.८७५ सें० मी० या ¾ इंच लम्बे, तथा आरोही प्रतान द्विधा विभक्त (*Teadrils bifid*) होते हैं। नरपुष्पवाहक दण्ड दो-दो एक-एक साथ निकलते हैं। फल ५ सें० मी० से ८.७५ सें० मी० या २ से ३½ इंच तक लम्बा, रूपरेखा में लम्बगोल तथा दोनों छोरों की ओर क्रमशः नुकीला होता है। कच्चा फल सफेदी लिये हरा रहता है जो पकने पर पीला या नारंगी रंग का हो जाता है। बीज ⅝ से ¹⁵⁄₈ सें० मी० या ½ से ¾ इंच लम्बे, चपटे, प्रायः अर्ध गोलाकार (*half-ellipsoid*) तथा किनारों पर किंचित् सिकुड़े हुए या झुर्रीदार (*Corrugate*) होते हैं। इसमें पुष्प एक लिंगी होते हैं, तथा नरपुष्प एवं नारीपुष्प पृथक्-पृथक् पौधों पर पाये जाते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – विशेषतः दक्षिण भारत में तथा अन्य प्रान्तों में भी जहाँ परवल नहीं होता, वहाँ चिचिंडा का ग्रहण परवल के नाम से किया जाता है। कृषिजन्य चिचिंडा काफी (*Trichosanthes anguina L.*) बड़ा-बड़ा (१-२ हाथ तक) होता है। और इसका शाक बनाया जाता है। वन्य प्रकार का ग्रहण औषध्यर्थ वनपटोल के स्थान पर किया जाता है। (नाम) ट्रीकोज़ांथेस कूकूमेरिना (*Trichosanthes cucumerina Linn.*)। इसकी भी चक्रारोही लता होती है। पत्तियाँ ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बी ५ खण्डों वाली, खण्डाग्र कुण्ठिताग्र या कभी-कभी अग्र पर नुकीले होते हैं। इसका फल पटोल से कुछ लम्बा २.५ सें० मी० (१-४ इंच) किन्तु स्वरूपतः मिलता-जुलता है। गुण में भी यह पटोल

से वहुत-कुछ मिलता-जुलता है। अतएव पटोल के अभाव में इसका ग्रहण किया जा सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पंचाङ्ग को छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में यथास्थान रखें।

संगठन – परवल की जड़ में एक अक्रिस्टली सैपोनिन (*Amorphous saponin*), एक तिक्तसत्व जो ग्लूकोसाइड स्वभाव का होता है; तथा अल्पमात्रा में उत्पत् तैल आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण – लघु, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक, केश्य, व्रणशोधन-रोपण, रोचन, दीपन–पाचन, तृष्णानिग्रहण, पित्तसारक, अनुलोमन, कृमिघ्न, (अधिक मात्रा में वामक तथा रेचन), रक्तशोधक, ज्वरघ्न (विशेषतः पित्तज्वर नाशक), कुष्ठघ्न, वल्य, विषघ्न, कफघ्न आदि। यूनानी मतानुसार पहले दर्जे में उष्ण और दूसरे में तर है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–हरा एवं सूखा धनिया। प्रतिनिधि–तुरई।

मुख्य योग – पटोलादि क्वाथ, पटोलाद्य चूर्ण।

विशेष – कृपिजन्य मीठा परवल एवं आरण्य तिक्त पटोल वानस्पतिक दृष्टि से वास्तव में एक ही लता है, जो परिस्थित जन्य परिवर्तनों के कारण मीठा (अर्थात् जो तिक्त न हो) तथा तीता परवल फल देती है। सुदीर्घ काल तक यत्न पूर्वक पालित होने से आरण्य तिक्त पटोल ही स्वादु (मीठा) पटोल में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार मीठा पटोल भी वन्यज परिस्थिति में दीर्घ काल तक रहने पर तिक्त पटोल हो जाता है। मीठे का प्रयोग आहार के रूप में तथा तिक्त पटोल औषध्यर्थ प्रयुक्त होता है। परवल त्रिदोषशामक एवं सुपाच्य फलशाक है, अतएव रोगनिवृत्ति काल (*Convalescent period*) के लिए यह एक परमोत्तम पथ्य है। वाजार में २ प्रकार का परवल मिलता है। एक का फल छोटा, चिक्कण, एवं गूदा तथा मुलायम होते हैं, दूसरे (विहार में कर्षित प्रकार में फल वड़ा और कड़ा होता है। इनमें प्रायः प्रथम प्रकार ही श्रेष्ठ होता है। अनेक स्थानों में जहाँ उक्त परवल उपलब्ध नहीं होता, इससे मिलते-जुलते अन्यतम द्रव्यों का ग्रहण परवल के नाम से होता है। जैसे चिचिण्डा, जिसका वर्णन 'प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट' शीर्षक में किया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं कर्कोटकी (खेकसा–*Momordica cochinchinensis Spreng.*) का ग्रहण भी पटोल के नाम से होता है। इसके फल देखने में करैले-जैसे किन्तु आकार में छोटे होते हैं।

पर्पट (पित्तपापड़ा) : शाहतरा

नाम। (१) सं०–क्षेत्रपर्पट। हिं०–पित (त्त) पापड़ा, धमगजरा, देशी शाहतरा, खेतपापड़ा। सिं०–शाहतरा, शातरा। म०–पित्तपापड़ा। गु०–शाहतरा, पित्तपापड़ो। फा०–शाहतरः। अ०–शाहतरज। अं०–फाइव-लीव्ड फ्युमिटरी (*Five-leaved Fumitory*)। ले०–फ़ूमारिआ ईंडिका *Fumaria indica (Hanssk.) Pugsley* (पर्याय–*F. parviflora Wt. & Arn.: F. vaillantii Loisel var. indica Hanssk.*)। (२) शाहतरा। फा०–शाहतरः। अ०–शाहतरज, कुज्बुरतुल् हिमार, वक़लतुल् मलिक, मलिकुलवक़ूल। सं०–यवनपर्पट। हिं०–पित्तपापड़ा, शाहतरा। म०, वम्ब०–शातरा। अं०–कॉमन फ्युमिटरी (*Common Fumitory*)। यू०–कापनूस। ले०–फ़ूमारिआ आफ्फ़ीसिनालिस (*Fumaria officinalis L.*)।

वानस्पतिक कुल–पर्पटादि-कुल (फ़ूमारिआसे *Fumariaceae*)।

प्राप्तिस्थान – शाहतरा फारस में वोये हुए खेतों में होता है और फ़ारस से ही इसका आयात होता है। धमगजरा (देशी शाहतरा) भारत के अनेक भागों में (विशेषतः उत्तर प्रदेश, पंजाव एवं वलूचिस्तान आदि) गेहूँ और चने के खेतों में होता है। इसके अतिरिक्त समस्त भारतवर्ष में इसके इतस्ततः स्वयंजात पौधे भी मिलते हैं। इसका शुष्क पंचाङ्ग भी पंसारी लोग पित्तपापड़ा एवं शाहतरा दोनों ही नामों से वेचते हैं।

संक्षिप्त परिचय – धमगजरा, शाहतरा का ही देशी भेद है (इसीलिए इसको देशी शाहतरा कहते हैं) और औषधि में उसी के स्थान में प्रयुक्त होता है। इसके छोटे-छोटे (१५ सें० मी० से ३० सें० मी०या आधा से १ फुट) एक वर्षायु कोमल पौधे होते हैं, जो जाड़े की फस्ल में जौ, गेहूँ तथा चने के खेतों में प्रचुरता से घास के रूप में उगे हुए मिलते हैं। पत्ते गाजर या धनिये की तरह सूक्ष्म और कटे हुए होते हैं। इसीलिए इसको **धमगजरा**

कहा जाता है। पुष्प छोटे, श्वेत या गुलावी (अग्र भाग पर वैंगनी) रंग के होते हैं। फल शाहतरे के फल की तरह क्षुद्र एवं गोल तथा अग्र पर २-खात युक्त (*Double-pitted at the apex*) होते हैं। यह स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है। इसमें पुष्प और फल माघ-फाल्गुन में आते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – चूर्ण–५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।
क्वाथ–२॥ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यवनपर्पट या पारस्य क्षेत्रपर्पट (फ़ूमारिआ ऑफ़्फ़ीसिनालिस) का सुखाया हुआ पंचाङ्ग होता है। वाजार में इसके सूखे पौधे के प्रायः वहुत टूटे फूटे टुकड़े मिलते हैं, जिसमें लगभग गोल, मसृण और अस्फोटी, आल्पीन के मुंड (घुण्डी) से कुछ वड़े (*Large pin's head*) वहुसंख्यक फल मिश्रीभूत होते हैं। प्रत्येक फल में एक वीज होता है। यह प्रायः निर्गंध, और स्वाद में किंचित् कड़ुवापन एवं कसैलापन लिए तिक्त होता है। धमगजरा या देशी शाहतरा इसका उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यह सर्वत्र सुलभ होने के कारण मौसम में प्रायः ताजा भी मिल सकता है। इसका सुखाया पंचाङ्ग पंसारी भी रखते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – खेतपापड़ा (क्षेत्र पर्पट) के नाम से भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न ओषधियों का ग्रहण किया जाता है। उत्तर भारत में विशेषतः पूर्ववर्णित 'धमगजरा' ही प्रचलित है। इसी रूप में तथा इन्हीं कार्यों के लिए यूनानी चिकित्सा में शाहतरा का प्रचलन है। गुण-कर्म की दृष्टि से निम्न वर्णित प्रान्तीय क्षेत्रपर्पट एक-दूसरे से वहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। अतएव अभाव में एक दूसरे के प्रतिनिधि रूप में इनका भी ग्रहण किया जा सकता है :–

(१) वंगीयपर्पट। (नाम०) सं०–क्षेत्रपर्पट। वं०–खेतपापड़ी। म०–परिपाठ। ले०–ओल्डेंलांडिआ कोरीम्वोसा *Oldenlandia corymbosa Linn.* (मंजिष्ठा-कुल : रूबीआसे *Rubiaceae*)। इसके छोटे-छोटे (३ इंच से १५ इंच ऊंचे) शाकीय पौधे होते हैं, जो समस्त भारतवर्ष (विशेषतः वंगाल) में स्वयंजात पाये जाते हैं। इसकी पत्तियाँ रेखाकार या अंडाकार-भालाकार किन्तु वहुत कम चौड़ी, किनारे वाहर को मुड़े हुए तथा पुष्पवाहक दण्ड एकल (*Solitary*) होता है, जिस पर १-४ लम्बे वृन्त युक्त छोटे पुष्प होते हैं। इसके पौधे के स्वरूप एवं पत्रादि की रचना में नानारूपिता पायी जाती है। वंगाल में इसकी या इसकी अन्य जातियों (*Other species of oldenlandia*) का ताजा या सुखाया हुआ पंचाङ्ग खेतपापड़े के नाम से व्यवहृत होता है।

(२) जौनपुरी पित्तपापड़ा। ले०–पॉलीकार्पेआ कोरीम्वासो *Polycarpaea corymbosa Lamk.* (*Family : Caryophyllaceae*)। इसके छोटे-छोटे (७.५ से १५ सें० मी० या ३ से ६ इंच कभी-कभी ३० सें० मी० या १२ इंच तक) वहुशाखी शाकीय पौधे होते हैं। पत्तियाँ रेखाकार और अभिमुख होती हैं। शीर्षस्थ सघन मंजरियाँ द्विविभक्त, रजतवर्ण और पुष्प वहुत छोटे होते हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में क्वार-कार्तिक के महीनों में प्रायः वाजरे के खेतों में इसके पौधे उगे हुए मिलते हैं और ग्रामीण पित्तपापड़ा के नाम से पित्त प्रकोप की शान्ति के लिए इसका व्यवहार करते हैं।

(३) पित्तपापड़ा (वम्वई)। (नाम)–वम्वई, म०–पित्तपापड़ा, घाटी पित्तपापड़ा। गु०–खडसलीया पित्त पापड़ा। ले०–जुस्टीसिआ प्रोकुम्वेंस *Justicia procumbens Linn.* (वासक-कुल : अकान्थासे *Acanthaceae*)। यह कोंकण, वम्वई, मद्रास, ट्रावन्कोर में होता है। वम्वई वाजार में शाहतरा के स्थानापन्न ओषधि के रूप में विकता है।

(४) पूना और शोलापुरी पित्तपापड़ा। म०–पथर-सौआ। हिं०–वनसोआ। ले०–ग्लॉस्सोकार्डिआ लिनेआरी फ़ोलिआ (*Glosso cardia linearifolia Cass.*) पर्याय-ग्लोसोकार्डिआ वोस्वालिआ (*Glossocardia bosvallia DC.*) मुण्डी-कुल (कॉम्पोजिटी *Compositae*)। दकन, महाराष्ट्र, कोंकण, मध्यभारत आदि में इसके पौधे स्वयंजात होते हैं। इसके छोटे-छोटे एक वर्षायु शाकीय पौधे होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – जिस समय ताजा पौधा होता है, उस समय तो ताजे पंचाङ्ग का व्यवहार करना चाहिए। यदि संग्रह करना हो तो माघ-फागुन में धमगजरे में फलागम होने पर पूरा पौधा उखाड़ कर, छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखें।

संगठन – धमगजरा तथा शाहतरा में फ्युमेरिक एसिड तथा फ्युमेरीन नामक क्षारोद सत्व पाये जाते हैं । भस्म में पोटासियम् के लवण पाये जाते हैं, जिसके कारण इसमें मूत्रल प्रभाव पाया जाता है ।

वीर्यकालावधि – ६ मास से १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु । रस–तिक्त । विपाक–कटु । वीर्य–शीत । कर्म–पित्तशामक, तृष्णाशामक, दीपन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, रक्तशोधक, रक्तस्तम्भन, मूत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न (विशेपत: पित्तज्वरनाशक), दाहशामक । यूनानी मतानुसार यह समशीतोष्ण तथा दूसरे दर्जे में खुश्क है।

मुख्य योग – पर्पटादि क्वाथ, पर्पटाद्यरिष्ट, पडंगपानीय । चरकोक्त तृष्णानिग्रहण गण के द्रव्यों में पर्पट का भी उल्लेख है ।

विशेष – पैत्तिक ज्वर एवं उसमें होने वाले तृष्णा के उपद्रव को शमन करने के लिए तथा अन्य अनेक पैत्तिक विकृतियों में पित्तपापड़ा एक परमोपयोगी औपधि है । इस शीर्षक में वर्णित तथा पर्पट के नाम से व्यवहृत प्राय: सभी ओषधियाँ मैदानी भागों या कर्षित भूमि में पायी जाती हैं । हिमालय की पर्वत श्रेणियों पर काफी ऊंचाई पर एक और पर्पट मिलता है, जिसे पहाड़ों पर होने के कारण गिरिपर्पट (रिखपित्ता) कहते हैं । इसका प्रयोग पित्तसारक के रूप में अनेक यकृद्विकृतियों में किया जाता है ।

गिरिपर्पट (रिखपित्ता)

नाम । सं०–गिरिपर्पट, वनवृन्ताक । हिं०, पं०–वन-ककड़ी; रिखपित्ता (देववन) । अं०–इंडियन पोडो-फ़िलम् (*Indian Podophyllum*) । ले०–पोडोफ़ील्लुम हेक्सांड्रुम् *Podophyllum hexandrum* Royle.(पर्याय–*P. emodi Wall.*) ।

वानस्पतिक कुल – दारुहरिद्रा-कुल (बेर्बेरीडासे : *Berberidaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की भीतरी पर्वत श्रेणियों पर पूरब में सिक्कम से लेकर पश्चिम में हज़ारा, कश्मीर तक (२७२७.१८ मीटर से ४२५० मीटर या ६,००० से १४,००० फुट की ऊंचाई पर तथा कश्मीर में १८२८ मीटर या ६,००० फुट की ऊंचाई के क्षेत्रों में भी–सिक्कम, गढ़वाल, शिमला, चम्बा, कुलू, कांगड़ा, तथा कश्मीर) गिरिपर्पट के कोमल शाकजातीय पौधे छायादार जगहों में पाये जाते हैं । इसका भौमिक काण्ड (राइजोम) देशी एवं डाक्टरी दोनों पद्धतियों में चिकित्सार्थ व्यवहृत होता है । अतएव अधिकांश औपधि अंग्रेजी दवा निर्माण करने वाली फार्मेसियों द्वारा सीधे खरीद ली जाती है । हिमालय प्रदेश के स्थानिक बाजारों एवं मंडियों में इसका मूलस्तम्भ विक्रयार्थ रखा जाता है, जिसे पहाड़ी लोग थोड़ी मात्रा में लाकर बेंच जाते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – गिरिपर्पट के छोटे-छोटे शाकीय मांसल पौधे (*Succulent herb*) होते हैं, जिनका वायव्य भाग तो प्रतिवर्ष सूख जाता है, किन्तु मूलस्तम्भ (*Root-stock*) बहुवर्षायु स्वरूप का होता है और जमीन के अन्दर फैलता रहता है । औपधि में इसी का व्यवहार होता है । पुष्पध्वज या स्केप (*Scape*) १५ से ४५ सें० मी० या ६-१८ इंच लम्बा, काफी मोटा किन्तु कोमल और स्वावलम्वी होता है, जिसके सिरे के पास २-३ (प्राय: २) पत्तियाँ होती हैं, जो एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं । उक्त पत्तियाँ स्थूलत: रूपरेखा में गोलाकार, व्यास में १५ सें० मी० से २५ सें० मी० या ६-१० इंच, ३-५ खण्डों से युक्त जिनके कटाव की गहराई, आधी चौड़ाई तक अथवा कभी-कभी आधार तक भी होता है । खण्डों के किनारे सूक्ष्म दन्तुर होते हैं। पत्तियाँ पर्णवृन्त से पृष्ठ पर जुड़ी (*Peltate*) होती हैं, जो काफी लम्बे होते हैं । पत्तियों की उक्त रचना विशेष के कारण गिरिपर्पट के पौधों को आपातत: देखने से अगेली (*Anemone obtusifolia Don. Family*: *Ranunculaceae*) का भ्रम हो जाता है । वसन्त में पुष्प आते हैं, जो एकल (*Solitary*) तथा संख्या में एक या कभी-दो होते हैं । पत्तियों के निकलने के पूर्व पुष्पवाहक दण्ड अग्रज (*Terminal*) मालूम होता है, किन्तु पत्तियों की अवस्था में कोणों से किंचित् ऊपर स्थित-सा (*Supra-axillary*) होता है। पुष्प बड़े तथा कटोरेनुमा रूपरेखा के, व्यास में ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १॥-२ इंच और प्राय:सफेद या कभी-कभी गुलावी रंग के होते हैं। पुटपत्र (*Sepals*) संख्या में तीन तथा दलपत्रवत् होते हैं; किन्तु यह शीघ्र पतनशील होते हैं । दलपत्र (*Petals*) एवं पुंकेशर संख्या में ६, कुक्षिवृन्त छोटा तथा कुक्षि (*Stigma*) बाह्य पृष्ठ पर उन्नत रेखाओं से युक्त (*Crest-like ridge*) होती है । फूलों के गिरने के बाद गर्मियों में टमाटर-जैसे तथा रूपरेखा में अंडाकार, २.५ से ५ सें०

मी० या १-२ इंच वड़े, मांसल एवं पुष्कल वीज वाले फल लगते हैं। स्थानिक लोग इसका पक्व फल खाते हैं, तथा मूलस्तम्भ (*Rootstock*) औषधि के काम आता है। गुणकर्म में पर्पट की भाँति तथा ऊंचे पहाड़ों पर उत्पन्न होने के कारण इसे 'गिरिपर्पट' तथा फल वनभण्टा-जैसे होने के कारण 'वनवृन्ताक' तथा फल खाद्य होने से 'वनककड़ी' आदि नाम रखे गये हैं। गिरिपर्पट उत्तम पित्तसारक एवं विरेचक द्रव्य है। पैत्तिक विकृतियों एवं यकृन्मन्दता आदि रोगों में यह परमोपयोगी औषधि है। इसका स्थानिक नाम रिखपित्ता या रिसपित्ता (सं०–ऋषिपित्ता, अर्थात् पर्वतवासियों को सुलभ पित्तप्रकोप में उपयोगी द्रव्य) भी इसके उक्त गुणकर्म की परम्परागत ख्याति का द्योतक है।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ (विशेपतः राइजोम) एवं इसमें पाया जाने वाला रालीय सत्त्व (पोडोफाइलिन)।

मात्रा– मूल–२५० मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २ से ५ रत्ती।

सत्व–१५.५ मि० ग्र.० से ६२.५ मि० ग्र.० या $\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{२}$ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – गिरिपर्पट के भौमिक काण्ड के टेढ़े-मेढ़े प्रायः २ सें० मी० से ४ सें० मी० ($\frac{४}{५}$ से १$\frac{३}{५}$ इंच) लम्वे एवं १ सें० मी० से २ सें० मी० ($\frac{३}{५}$ से $\frac{४}{५}$) इंच तक मोटे टुकड़े होते हैं, जो रूपरेखा में वेलनाकार अथवा पार्श्वों में तो वेलनाकार किन्तु पृष्ठ एवं अधस्तल पर कुछ चिपटे (*Flattened dorsiventrally*) होते हैं। पृष्ठ तल पर टूटे हुए वायव्यकाण्डों के ३-४ प्यालेनुमा किन्तु अत्यंत छोटे चिह्न होते हैं। अधस्तल पर पतली रस्सी की भाँति अनेक दृढ़ जड़ें लगी होती हैं, अथवा टूटी जड़ों के चिह्न पाये जाते हैं। गिरिपर्पट के उक्त टुकड़े वाह्यतः पीताभ-भूरे या मटमैले-भूरे रंग के होते हैं, और तोड़नेपर खट से टूटते (*Fracture Short*) हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में तिक्त एवं कड़वे होते हैं। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटा हुआ तल स्थूलतः रूपरेखा में वृत्ताकार तथा देखने में हल्के भूरे रंग का और पिष्टमय (*Starchy*) मालूम होता है। केन्द्र में मज्जक (*Pith*) का भाग काफी चौड़ा होता है। जहाँ से पहिए के अरों की भाँति स्थित वाहिनी-पूलों (*Vascular bundles*) की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं, जो संख्या में २० तक होती हैं। इनके वीच-वीच में मज्जक-किरणें (*Medullary rays*) होती हैं। परिधि की गाढ़े रंग की रेखा कार्कयुक्त वल्कल की होती है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं। गिरिपर्पट का चूर्ण हल्के भूरे रंग का होता है।

परीक्षण – $\frac{१}{२}$ ग्राम या ७$\frac{१}{२}$ ग्रेन (३ रत्ती) गिरिपपर्ट का चूर्ण १० मिलिलिटर (सी० सी०) ऐल्कोहल् (६०%) में भिगो दें। १० मिनटके वाद इसे छान लें। इसमें $\frac{३}{५}$ सी० सी० (०.६ मि० लि०) स्ट्रांग सॉल्यूशन ऑव कापर एसिटेट मिलावें। इस प्रकार परखनलिका के तल में भूरे रंग का अधःक्षेप (*Brown precipitate*) होता है, किन्तु विलयन का रंग हरा नहीं होता।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – गिरिपर्पट में काफी मात्रा में टूटी हुई जड़ें भी मिली होती हैं। विदेशीय गिरिपर्पट (पोडोफ़ील्लुम पेल्टाटुम *P. peltatum Linn.*) भी गुणकर्म में भारतीय गिरिपर्पट की ही भाँति होता है। किन्तु रेजिन की मात्रा अपेक्षाकृत भारतीय गिरिपर्पट में अधिक पायी जाती है। अतएव विदेशीय या अमेरिकन गिरिपर्पट की अपेक्षा यह अधिक उत्कृष्ट है।

संग्रह एवं संरक्षण – गिरिपर्पट की जड़ों का संग्रह नया वायव्य काण्ड निकलने के पूर्व ही करना अधिक श्रेयष्कर है, क्योंकि रेजिन की मात्रा इस समय अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है। किन्तु चूंकि इस समय पौधे का पता नहीं चलता, इसलिए फूलने-फलने के वाद जव वायव्य भाग सूख जाता है, उस समय मूल स्तम्भ को खोद कर निकाल लें और मिट्टी आदि साफ करके इसे टुकड़े-टुकड़े काट, छायाशुष्क करके मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – गिरिपर्पट में १०% तक पोडोफिलिन् (*Podophyllin*) नामक रालीय सत्व पाया जाता है, जो इसका सक्रिय घटक है। पोडोफिलिन में पोडोफिलोटॉक्सिन (*Podophyllotoxin*), क्वर्सेटिन (*Quercetin*) एवं पोडोफिलो-रेजिन (*Podophylloresin*) आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी तरह संरक्षित करने से इसमें कई वर्ष तक वीर्य वना रहता है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफपित्तहर विशेपतः

पित्तशोधन, दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, विरेचन, (अल्प मात्रा में) कटु पौष्टिक एवं रक्तशोधक आदि। वाह्यतः स्थानिक प्रयोग से लेखन एवं क्षोभक है। गिरिपर्पट पित्तसारक एवं विरेचन होने के कारण, पित्त प्रकोप की अवस्थाओं में विरेचन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। एतदर्थ मूलचूर्ण एवं रालीय सत्व दोनों में से किसी का सुविधानुसार व्यवहार कर सकते हैं। इससे पीले रंग के पतले दस्त होते तथा यकृत् का शोथ उतरता है और उसकी क्रिया सुधरती है। यकृद्विकारजन्य अग्निमांद्य, जीर्णविवन्ध एवं अग्निमांद्यजन्य दौर्वल्य में अपेक्षाकृत अल्प मात्राओं में गिरिपर्पट अथवा इसके सत्व का व्यवहार करने से वहुत लाभ होता है। आमवात, वातरक्त एवं कुष्ठ आदि त्वचा रोगों में भी इसका प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है। इससे स्रोतों का अवरोध दूर होकर संचित दोषों का निर्हरण होता है। अहितकर–औषधीय मात्राओं में भी गिरिपर्पट के प्रयोग से आंतों में मरोड़ होती है, तथा कभी-कभी हृल्लास एवं वमन भी होता है। मात्रातियोग से आमाशयांत्र प्रदाह होता है। गिरिपर्पट अथवा इसका सत्व आँखों में लगने पर उग्र क्षोभक प्रभाव करता है अतएव अंगुलियों में लगने पर आँखों में स्पर्श न हो इस वात का ध्यान रखना चाहिए। निवारण–हृल्लास-वमन की प्रवृत्ति, एवं मरोड़ के निवारण के लिए गिरिपर्पट एवं इसके सत्व का प्रयोग सुगन्धित द्रव्यों अथवा खुरासानी अजवायन अथवा वेलाडोना आदि औषधियों के साथ मिला कर वटिका या गुटिका रूप में व्यवहृत करना अधिक उपयुक्त है। मात्रातियोग जन्य आमाशयान्त्रप्रदाह की अवस्था में दूध, नीवू का शर्वत आदि स्निग्ध, मधुर एवं शीत द्रव्यों को सेवन कराना चाहिए।

पलाण्डु – दे०, 'प्याज'।

पलास (पलाश)

नाम। (१) वृक्ष – सं०–पलाश, किंशुक, क्षारश्रेष्ठ। हिं०–पलास, परास, ढाक, ढाँख, छिडल, छिडला। द०–पलाश का झाड़। वं०–पलाश गाछ। म०– पलस। गु०–खाखरो, खाखयड़ो। फा०–पलः, दरख्ते पलः। अं०–वस्टर्ड टीक (*Bastard Teak*)। ले०–वूटेआ मोनोस्पेर्मा *Butea monosperma (Lamk.) Taub.* (पर्याय–*B. frondosa Koen. ex Roxb.*)।

(२) शिम्वी या फली। हिं०–ढकपन्ना।

(३) वीज। सं०–पलाशवीज। हिं०–पसदामा, पलास (ढाक) के वीज, पलास (ढाक) पापड़ा। द०–पलास-पापड़ा। म०–पलसाचीवीज। गु०–पलासपापड़ो। फा०–तुख्म पलः। अं०–व्यूटिया सीड्स *Butea Seeds*। ले०–वूटेआ सेमिना *Butea Semina (Butea Sem.)*।

(४) गोंद। सं०–पलाशनिर्यास। हिं०–पलास या ढाक का गोंद, कमरकस, चुनियाँ गोंद, चुन्नी गोंद, ढाककी कनी। वं०–पलाश गुंद। म०–पलसाचागोंद। गु०–खाखरनोगोंद। फा०–समग़ेपलः। ले०–वूटेई गम्मी *Buteae Gummi*। अं०–व्युटिआगम (*Butea Gum*); वेंगाल काइनो (*Bengal Kino*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्वीकुल-अपराजितादि उपकुल : लेगूमिनोसे : पापीलीओनासे *Leguminosae* : *Papilionaceae*।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में १२०४.१८ मीटर या ४,००० फुट की ऊंचाई तक सर्वत्र इसके जंगली पेड़ पाये जाते हैं। केवल वहुत वलुई जमीन में यह नहीं होता। पलाश का गोंद, वीज एवं शुष्क पुष्प पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – पलास के मध्यम कद के पर्णपाती वृक्ष होते हैं। काण्ड-स्कन्ध (*Trunk*) प्रायः टेढ़ा-मेढ़ा (*Crooked*) होता है। पत्तियों में ३-३ पत्रक (*3-foliolate*), दो आमने-सामने तथा तीसरा सिरे पर होता है। पत्रक मजवूत, कर्कश तथा चर्मिल (*rigidly coriaceous*), ऊर्ध्व तल पर चिकने किन्तु अधः पृष्ठ पर रेशमी रोंयेदार (*Silky-tomentose*); संमुखवर्ती पत्रक १५ से २० सें० मी० या ६-८ इंच लम्वे, ७·५ से १८·७५ सें० मी० या ५–७$\frac{1}{2}$ इंच चौड़े, तिरछे लट्वाकार (*Obiquely-ovate*) अथवा चौड़े-अंडाकार (*Broad elliptic*) तथा $\frac{5}{6}$ से १ सें० मी० ($\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ इंच) लम्वे मजवूत वृन्तकों (*Petiolule*) पर धारण किये जाते हैं। तीसरा पत्रक १२.५ सें० मी० से २० सें० मी० (५-८ इंच) लम्वा तथा ११.२५ से १७.५ सें० मी० (४॥ से ७ इंच) चौड़ा तथा रूपरेखा में समांतर असम चतुर्भुजाकार (*Rhomboid*) से चौड़ा-अभिलट्वाकार होता है। वसन्त में पतझड़ होने पर जव नयी पत्तियाँ निकलनी शुरू होती हैं, तो वृक्ष रक्त-पीत पुष्पों से लद जाता है। जंगलों में जहाँ इसके समूहवद्ध वृक्ष पाये जाते हैं, पुष्पागम के समय दूर से देखने में

अग्नि-ज्वाला की भाँति लगते हैं। इसीलिए इसे *'Flame of the jungle'* भी कहते हैं। पुष्प ५ से ८.७५ सें० मी० या २-३॥ इंच लम्बे अपराजितादि-उपकुल के विशिष्ट पुष्प की भाँति (*Papilionaceous*) होते हैं। वाह्य कोप १.२५ सें० मी० या १/२ इंच लम्बा अन्तस्तल पर खाकस्तरी-रेशमी रंग का तथा मांसल होता है। आभ्यन्तर कोप नारंगी की भाँति लाल रंग का होता है। वाह्य तल पर दलपत्र सफेद रोयेंदार (*Silvery—tomentose*) होते हैं। ध्वजदल (*Standard*) लगभग २.५ सें०मी० या १ इंच चौड़ा होता है, और अग्र की ओर नुकीला तथा अन्दर को मुड़ा हुआ होता है, जिससे पुष्प सुग्गे की चोंच की भाँति मालूम पड़ता है। इसीलिए पलाश को "किंशुक" भी कहते हैं। फलागम जून-जुलाई के महीने में होता है। फलियाँ (*Pod*) १० सें० मी० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बी, ३.७५ से ५ सें० मी० या १॥-२ इंच चौड़ी, चपटी तथा कच्ची अवस्था में वाह्य तल पर रेशमी रोंयेदार होती हैं, जो वृन्त (१/२ से ७/१० इंच लम्बे) के सहारे नीचे को लटकी रहती (*Pendulous*) हैं। प्रत्येक फली में एक चपटा गोलाकार वीज होता है, जो फली के अग्र की ओर होता है। फली का स्फुटन (*Dehiscence*) केवल वीज के भाग में ही होता है। पलास की लाख उत्तम समझी जाती है। पलास के काण्ड पर चीरा लगाने से लाल रंग का एक गाढ़ा रस निकलता है, जो वाद में जम जाता है। इसे पलाश की गोंद कहते हैं। गोंद का स्राव (*Exudation*) अपने आप भी होता है।

उपयोगी अंग – वीज, पुष्प, गोंद, पत्र, छाल एवं क्षार।

मात्रा – वीजचूर्ण–२५० मि० ग्रा० से १ ग्राम या २ से ८ रत्ती; (कृमिघ्न मात्रा) १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

गोंद–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

पुष्प या फूल (गुल टेसू)–६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

पत्रस्वरस–३ माशा से २ तोला तक।

छाल–६ माशा से १ तोला।

त्वक् क्वाथ–२॥ तो० से ५ तोला तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वीज (पलासपापड़ा)–पलास के वीज चपटे, बहुत पतले, रूपरेखा में किंचित् वृक्काकार (*Reniform*), ३.७५ सें० मी० या १॥ इंच लम्बे, २.५ सें० मी० या १ इंच चौड़े तथा ·३२ सें० मी० या १/८ इंच मोटे होते हैं। वीजावरण या वाह्य चोल (*Testa*) लालिमा लिये गाढ़े भूरे रंग का, पतला, चमकदार-रेखांकित (*Glossy veined*), तथा किंचित् झुर्रीदार (*wrinkled*) होता है। नाभि (*Hilum*) खातोदर धारा के मध्य में स्थित होती है। वीज द्विदल (*Cotyledons*) वड़े, पीताभ वर्ण के तथा पतले होते हैं। द्विदलों पर भी सूक्ष्म रेखाएँ-सी होती हैं। वीजों में एक अत्यंत हल्की गंध होती है तथा स्वाद में यह हल्के कड़वे एवं तिक्त होते हैं। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं; तथा १००° तापक्रम पर शुष्क करने से भार में अधिकतम ८% तक कमी होती है। भस्म अधिकतम ६% तक प्राप्त होती है। वीजों में ऐल्व्युमिनाइड्स की सकल मात्रा (*Total albuminoids*) कम-से-कम १८% होती है।

पलाश निर्यास (चुनियाँ गोंद)–ताजा निर्यास माणिक्य की भाँति लाल रंग का होता है, और अधिकांश: जल में घुलनशील होता है। किन्तु कुछ समय के वाद ववूल के गोंद की भाँति फूल कर परिमाण में वढ़ जाता है और इसका रंग भी गाढ़ा होकर काली आभा लिये लाल हो जाता है। वाजार में पलाश गोंद के छोटे-छोटे (जव के बराबर या उससे भी छोटे) अश्रुवत् दाने (*Tears*) या चपटे अथवा कोणाकार टुकड़े (*flattish angul ar fragments*) मिलते हैं। साधारणतया देखने में यह कालिमामय लालरंग के तथा अपारदर्शक (*Black and opaque*) मालूम पड़ते हैं; किन्तु प्रकाश में देखने से माणिक्य की भाँति चमकदार लाल एवं पारभासी (*Translucent*) होते हैं। उक्त टुकड़े कड़े एवं अत्यंत भंगुर होते हैं; और खरल में घोंटने पर फौरन चूर्णित हो जाते हैं, जिससे हल्के लाल रंग का चूर्ण प्राप्त होता है। रेक्टिफाइड स्प्रिट में घोलने पर ताजे एवं सूखे वाजारू गोंद दोनों का ही टैनिन (*Tannin*) का तो लगभग आधा भाग घुल जाता है, किन्तु शेष भाग अविलेय रहता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पलास पापड़ा पुष्प एवं गोंद को अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में रखना चाहिए और नमी से वचाना चाहिए। क्षार को अच्छी तरह वन्द पात्रों में रखें और नमी से वचाना चाहिए।

संगठन – (१) बीज–में १८% एक पीले रंग का स्थिर तैल (*Moodooga oil or Kino-tree oil*) तथा १९ प्रतिशत तक ऐल्ब्युमिनाइड्स (*Albuminoids*) एवं शर्करा प्रभृति तत्त्व, तथा ताजे बीजों में प्रोटीन एवं वसा पाचककिण्व (*Enzymes*) भी पाये जाते हैं। गोंद एवं छाल में काइनो-टैनिक एवं गैलिक अम्ल तथा पुष्प में १½% ब्युट्रिन नामक ग्लूकोसाइड ०.३% ब्युटीन (*Butein*) एवं एक पीत रञ्जक प्रभृति द्रव्य होते हैं।

वीर्यकालावधि – बीज, पुष्प एवं छाल में १ वर्ष तक तथा गोंद एवं क्षार में कई वर्षों तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। पुष्प–मधुरविपाक एवं शीतवीर्य होते हैं। प्रधान कर्म–(१) बीज–लेखन, भेदन, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, वातरक्तनाशक, प्रमेहघ्न, विषघ्न। (२) पुष्प––स्तम्भन, रक्तस्तम्भन, मूत्रल, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, श्वेदप्रदरनाशक। (३) गोंद––स्तम्भन, अम्लतानाशक, रक्तस्तम्भन, वृष्य, बल्य, संधानीय। (४) क्षार––अनुलोमन, भेदन, आदि। (५) छाल एवं पत्र––संग्राही, वीर्यपुष्टिकर, मूत्रजनन तथा आर्तवजनन, आदि। यूनानी मतानुसार बीज तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क हैं; पलाश गोंद गरम और खुश्क होता है। अहितकर––अधः अंगों को। निवारण––कतीरा, अर्कगुलाब और चन्दन। प्रतिनिधि––बबूल का गोंद। पुष्प–उष्णता लिये शीत एवं खुश्क हैं। अहितकर–शीत प्रकृति के लिये। निवारण–नमक। छाल एवं पत्र शीत एवं रूक्ष होते हैं। अहितकर–आंत्र के लिए। निवारण–अर्क गुलाब और बाबूना। पलाशबीज एक उत्तम आंत्रकृमिहर औषधि है, विशेषतः इसकी क्रिया केंचुए (*Round-worm*) पर होती है। इसका गोंद शुक्रमेह आदि में प्रयुक्त माजूनों एवं चूर्णों में पड़ता है।

मुख्य योग – पलाशबीजादि चूर्ण, पलाशक्षार घृत।

विशेष – सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) रोध्रादि, मुष्ककादि, अम्बष्ठादि एवं न्यग्रोधादि गण के द्रव्यों में पलाश भी है।

पाठा (पाढ़ी)

नाम। सं०–पाठा, अम्बष्ठा, अम्बष्ठकी, वनतिक्ता, वरतिक्ता, अविद्धकर्णी, पीलुफला। हिं०–पाढ़, पाढ़ी; पाढ़ी, हरजोड़ी (देहरादून, गढ़वाल)। को०–पीटूसिंग, रानू-रेड। बं०–आकनादि। म०–पहाडवेल, वेल पाडली, पाडावल। गु०–कालीपाठ, करंढियुं। लै०–सीस्साम्पेलॉस पारेईरा (*Cissampelos pareira Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – गुडूची-कुल (मेनिस्पेर्मासे : *Menispermaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष तथा लंका के उष्ण एवं समशीतोष्ण-कटिबन्धीय प्रदेशों में पाठा की स्वयंजात पतली लताएँ होती हैं, जो खुली हुई पथरीली जगहों में प्रायः छोटे वृक्षों तथा झाड़ियों पर फैली हुई मिलती हैं। पाठा मूल एवं शुष्क पंचाङ्ग सर्वत्र बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – पाठा की आरोही लताएँ होती हैं, जिनका मूलस्तम्भ (*Rootstock*) तो बहुवर्षायु स्वरूप का होता है, किन्तु वायव्य भाग प्रतिवर्ष फूलने-फलने के बाद सूख जाता तथा बरसात में नये काण्ड निकलते हैं, जो पतले तथा मृदु श्वेताभ रोमों से आवृत होते हैं। पत्तियाँ ३.७५ से १० सें० मी० या १॥-४ इंच तक लम्बी, २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१॥ इंच चौड़ी, रूपरेखा में चौड़ी लट्वाकार एवं कुछ-कुछ त्रिकोणाकार, वृत्ताकार या कभी-कभी वृत्ताकार-वृक्काकार होती हैं, जो अग्र पर कुण्ठित एवं तीक्ष्ण लोम युक्त (*Mucronate*) होती हैं। उक्त पत्तियाँ पहले तो दोनों पृष्ठों पर मृदुरोमश, किन्तु बाद में चिकनी दिखाई पड़ती हैं। पर्णवृन्त ३.७५ से १० सें० मी० या १॥-४ इंच तक लम्बे तथा पत्तियों से पृष्ठ पर जुड़े (*Peltate*) होते हैं। आधार की ओर पत्र-फलक हृदयाकार अथवा मुण्डित या छिन्नाभ (*Trunate*) होता है। पुष्प एकलिंगी तथा छोटे-छोटे और पीताभ-श्वेत वर्ण के होते हैं। नरपुष्प पत्रकोणोद्भूत सशाख एवं गुच्छीभूत मंजरियों में निकलते हैं, अथवा कभी यह मंजरियाँ कोमल शाखाग्रों पर भी होती हैं। नारी पुष्पों के गुच्छे कोणपुष्पकों या निपत्रों (*Bracts*) के कोणों से निकलते हैं। नर पुष्पों में पुटपत्र संख्या में ४ तथा रूपरेखा में अभिलट्वाकार-आयताकार तथा बाह्य तल पर मृदुरोमावृत होते हैं। दलपत्र(*Petals*)भी संख्या में चार, किन्तु परस्पर जुटे होते हैं, जिससे यह प्याले (*Cup*) के आकार के मालूम होते हैं। पुंकेसर भी संख्या में ४ होते हैं जो परस्पर जुटे होते हैं। स्त्रीपुष्पों में पुटपत्र, दलपत्र एवं डिम्बाशय प्रत्येक १-१ तथा कुक्षिवृन्त अग्र पर ३ खण्डों में विभक्त (*3-fid*)होते

अग्नि-ज्वाला की भाँति लगते हैं। इसीलिए इसे '*Flame of the jungle*' भी कहते हैं। पुष्प ५ से ८.७५ सें० मी० या २-३।। इंच लम्बे अपराजितादि-उपकुल के विशिष्ट पुष्प की भाँति (*Papilionaceous*) होते हैं। वाह्य कोष १.२५ सें० मी० या १/२ इंच लम्बा अन्तस्तल पर खाकस्तरी-रेशमी रंग का तथा मांसल होता है। आभ्यन्तर कोष नारंगी की भाँति लाल रंग का होता है। वाह्य तल पर दलपत्र सफेद रोंयेंदार (*Silvery—tomentose*) होते हैं। ध्वजदल (*Standard*) लगभग २.५ सें०मी० या १ इंच चौड़ा होता है, और अग्र की ओर नुकीला तथा अन्दर को मुड़ा हुआ होता है, जिससे पुष्प सुग्गे की चोंच की भाँति मालूम पड़ता है। इसीलिए पलाश को "किंशुक" भी कहते हैं। फलागम जून-जुलाई के महीने में होता है। फलियाँ (*Pod*) १० सें० मी० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बी, ३.७५ से ५ सें० मी० या १।।-२ इंच चौड़ी, चपटी तथा कच्ची अवस्था में वाह्य तल पर रेशमी रोंयेंदार होती हैं, जो वृन्त (१/२ से ७/१० इंच लम्बे) के सहारे नीचे को लटकी रहती (*Pendulous*) हैं। प्रत्येक फली में एक चपटा गोलाकार वीज होता है, जो फली के अग्र की ओर होता है। फली का स्फुटन (*Dehiscence*) केवल वीज के भाग में ही होता है। पलास की लाख उत्तम समझी जाती है। पलास के काण्ड पर चीरा लगाने से लाल रंग का एक गाढ़ा रस निकलता है, जो वाद में जम जाता है। इसे पलाश की गोंद कहते हैं। गोंद का स्राव (*Exudation*) अपने आप भी होता है।

उपयोगी अंग – वीज, पुष्प, गोंद, पत्र, छाल एवं क्षार।

मात्रा – वीजचूर्ण—२५० मि० ग्रा० से १ ग्राम या २ से ८ रत्ती; (कृमिघ्न मात्रा) १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

गोंद—१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

पुष्प या फूल (गुल टेसू)—६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

पत्रस्वरस—३ माशा से २ तोला तक।

छाल—६ माशा से १ तोला।

त्वक् क्वाथ—२।। तो० से ५ तोला तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वीज (पलासपापड़ा)—पलास के वीज चपटे, बहुत पतले, रूपरेखा में किंचित् वृक्काकार (*Reniform*), ३.७५ सें० मी० या १।। इंच लम्बे, २.५ सें० मी० या १ इंच चौड़े तथा ३/१६ सें० मी० या १/१६ इंच मोटे होते हैं। वीजावरण या वाह्य चोल (*Testa*) लालिमा लिये गाढ़े भूरे रंग का, पतला, चमकदार-रेखांकित (*Glossy veined*), तथा किंचित् झुर्रीदार (*wrinkled*) होता है। नाभि (*Hilum*) खातोदर धारा के मध्य में स्थित होती है। वीज द्विदल (*Cotyledons*) वड़े, पीताभ वर्ण के तथा पतले होते हैं। द्विदलों पर भी सूक्ष्म रेखाएँ-सी होती हैं। वीजों में एक अत्यंत हल्की गंध होती है तथा स्वाद में यह हल्के कड़वे एवं तिक्त होते हैं। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं; तथा १००° तापक्रम पर शुष्क करने से भार में अधिकतम ८% तक कमी होती है। भस्म अधिकतम ६% तक प्राप्त होती है। वीजों में ऐल्व्युमिनाइड्स की सकल मात्रा (*Total albuminoids*) कम-से-कम १८% होती है।

पलाश निर्यास (चुनियाँ गोंद)—ताजा निर्यास माणिक्य की भाँति लाल रंग का होता है, और अधिकांशः जल में घुलनशील होता है। किन्तु कुछ समय के वाद ववूल के गोंद की भाँति फूल कर परिमाण में वढ़ जाता है और इसका रंग भी गाढ़ा होकर काली आभा लिये लाल हो जाता है। वाजार में पलाश गोंद के छोटे-छोटे (जव के वरावर या उससे भी छोटे) अश्रुवत् दाने (*Tears*) या चपटे अथवा कोणाकार टुकड़े (*flattish angul ar fragments*) मिलते हैं। साधारणतया देखने में यह कालिमामय लालरंग के तथा अपारदर्शक (*Black and opaque*) मालूम पड़ते हैं; किन्तु प्रकाश में देखने से माणिक्य की भाँति चमकदार लाल एवं पारभासी (*Translucent*) होते हैं। उक्त टुकड़े कड़े एवं अत्यंत भंगुर होते हैं; और खरल में घोंटने पर फौरन चूर्णित हो जाते हैं, जिससे हल्के लाल रंग का चूर्ण प्राप्त होता है। रेक्टिफाइड स्प्रिट में घोलने पर ताजे एवं सूखे वाजारू गोंद दोनों का ही टैनिन (*Tannin*) का तो लगभग आधा भाग घुल जाता है, किन्तु शेष भाग अविलेय रहता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पलास पापड़ा पुष्प एवं गोंद को अच्छी तरह डाटवंद पात्रों में रखना चाहिए और नमी से वचाना चाहिए। क्षार को अच्छी तरह वन्द पात्रों में रखें और नमी से वचाना चाहिए।

संगठन – (१) वीज–में १८% एक पीले रंग का स्थिर तैल (*Moodooga oil or Kino-tree oil*) तथा १६ प्रतिशत तक ऐल्व्युमिनाइड्स (*Albuminoids*) एवं शर्करा प्रभृति तत्त्व, तथा ताजे वीजों में प्रोटीन एवं वसा पाचककिण्व (*Enzymes*) भी पाये जाते हैं। गोंद एवं छाल में काइनो-टैनिक एवं गैलिक अम्ल तथा पुष्प में १½% व्युट्रिन नामक ग्लूकोसाइड ०.३% व्युटीन (*Butein*) एवं एक पीत रञ्जक प्रभृति द्रव्य होते हैं।

वीर्यकालावधि – बीज, पुष्प एवं छाल में १ वर्ष तक तथा गोंद एवं क्षार में कई वर्षो तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। पुष्प–मधुरविपाक एवं शीतवीर्य होते हैं। प्रधान कर्म–(१) बीज–लेखन, भेदन, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, वातरक्तनाशक, प्रमेहघ्न, विषघ्न। (२) पुष्प—स्तम्भन, रक्तस्तम्भन, मूत्रल, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, श्वेदप्रदरनाशक। (३) गोंद—स्तम्भन, अम्लतानाशक, रक्तस्तम्भन, वृष्य, वल्य, संधानीय। (४) क्षार—अनुलोमन, भेदन, आदि। (५) छाल एवं पत्र—संग्राही, वीर्यपुष्टिकर, मूत्रजनन तथा आर्तवजनन, आदि। यूनानी मतानुसार वीज तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क हैं; पलाश गोंद गरम और खुश्क होता है। अहितकर—अधः अंगों को। निवारण—कतीरा, अर्कगुलाव और चन्दन। प्रतिनिधि—वबूल का गोंद। पुष्प–उष्णता लिय शीत एवं खुश्क हैं। अहितकर–शीत प्रकृति के लिये। निवारण–नमक। छाल एवं पत्र शीत एवं रूक्ष होते हैं। अहितकर–आंत्र के लिए। निवारण–अर्क गुलाव और वाबूना। पलाशवीज एक उत्तम आंत्रकृमिहर औषधि है, विशेषतः इसकी क्रिया केंचुए (*Round-worm*) पर होती है। इसका गोंद शुक्रमेह आदि में प्रयुक्त माजूनों एवं चूर्णो में पड़ता है।

मुख्य योग – पलाशवीजादि चूर्ण, पलाशक्षार घृत।

विशेष – सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) रोध्रादि, मुष्ककादि, अम्वष्ठादि एवं न्यग्रोधादि गण के द्रव्यों में पलाश भी है।

पाठा (पाढ़ी)

नाम। सं०–पाठा, अम्वष्ठा, अम्वष्ठकी, वनतिक्ता, वरतिक्ता, अविद्धकर्णी, पीलुफला। हिं०–पाढ़, पाढ़ी; पाढ़ी, हरजोड़ी (देहरादून, गढ़वाल)। को०–पीटूसिंग, रानू-रेड। वं०–आकनादि। म०–पहाडवेल, वेल पाडली, पाडावल। गु०–कालीपाठ, करंढियुं। ले०–सीस्साम्पेलॉस पारेईरा (*Cissampelos pareira Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – गुडूची-कुल (मेनिस्पेर्मासे : *Menispermaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष तथा लंका के उष्ण एवं समशीतोष्ण-कटिवन्धीय प्रदेशों में पाठा की स्वयंजात पतली लताएँ होती हैं, जो खुली हुई पथरीली जगहों में प्रायः छोटे वृक्षों तथा झाड़ियों पर फैली हुई मिलती हैं। पाठा मूल एवं शुष्क पंचाङ्ग सर्वत्र बाजारों में पंसारियो के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – पाठा की आरोही लताएँ होती हैं, जिनका मूलस्तम्भ (*Rootstock*) तो वहुवर्षायु स्वरूप का होता है, किन्तु वायव्य भाग प्रतिवर्ष फूलने-फलने के बाद सूख जाता तथा वरसात में नये काण्ड निकलते हैं, जो पतले तथा मृदु श्वेताभ रोमों से आवृत होते हैं। पत्तियाँ ३.७५ से १० सें० मी० या १॥-४ इंच तक लम्बी, २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१॥ इंच चौड़ी, रूपरेखा में चौड़ी लट्वाकार एवं कुछ-कुछ त्रिकोणाकार, वृत्ताकार या कभी-कभी वृत्ताकार-वृक्काकार होती हैं, जो अग्र पर कुण्ठित एवं तीक्ष्ण लोम युक्त (*Mucronate*) होती हैं। उक्त पत्तियाँ पहले तो दोनों पृष्ठों पर मृदुरोमश, किन्तु वाद में चिकनी दिखाई पड़ती हैं। पर्णवृन्त ३.७५ से १० सें० मी० या १॥-४ इंच तक लम्बे तथा पत्तियों से पृष्ठ पर जुड़े (*Peltate*) होते हैं। आधार की ओर पत्र-फलक हृदयाकार अथवा मुण्डित या छिन्नाभ (*Truncate*) होता है। पुष्प एकलिंगी तथा छोटे-छोटे और पीताभ-श्वेत वर्ण के होते हैं। नरपुष्प पत्रकोणोद्भूत सशाख एवं गुच्छीभूत मंजरियों में निकलते हैं, अथवा कभी यह मंजरियाँ कोमल शाखाग्रों पर भी होती हैं। नारी पुष्पों के गुच्छे कोणपुष्पकों या निपत्रों (*Bracts*) के कोणों से निकलते हैं। नर पुष्पों में पुटपत्र संख्या में ४ तथा रूपरेखा में अभिलट्वाकार-आयताकार तथा वाह्य तल पर मृदुरोमावृत होते हैं। दलपत्र(*Petals*)भी संख्या में चार, किन्तु परस्पर जुटे होते हैं, जिससे यह प्याले (*Cup*) के आकार के मालूम होते हैं। पुंकेसर भी संख्या में ४ होते हैं जो परस्पर जुटे होते हैं। स्त्री-पुष्पों में पुटपत्र, दलपत्र एवं डिम्बाशय प्रत्येक १-१ तथा कुक्षिवृन्त अग्र पर ३ खण्डों में विभक्त (*3-fid*)होते

है। अष्ठिफल (*Drupe*) मटर के सदृश, व्यास में लगभग ०.५ सें० मी० या ½ इंच तथा पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। गुठली (*Endocarp*) पर अनुप्रस्थ दिशा में रेखाएँ होती हैं। वर्षा ऋतु में पुष्पागम तथा जाड़ों में फलागम होता है। पाठामूल का व्यवहार औषधि में होता है। विहार के आदिवासी अपने चावली रानू (*Rice-beer*) नामक पेय वनाने में किण्वीकरण के लिए अन्य वानस्पतिक मूलों के साथ-साथ पाठामूल का भी व्यवहार करते हैं।

उपयोगी अंग– मूल ।

मात्रा – चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पाठा की जड़ व्यास में १.२५ सें० मी० या आधा इंच तक, बाह्य तल हल्के भूरे रंग का तथा इस पर लम्वाई के रुख (अनुलम्व दिशा) में अनेक हलखात (*Longitudinal furrows*) होते हैं। अनुप्रस्थ (वेड़े) दिशा में जड़ जगह-जगह सिकुड़ी-सी (*Transverse constrictions*) या कभी-कभी जड़ बहुत टेढ़ी-मेढ़ी तथा ग्रंथिल (*Crooked and Knotty*) होती है। कंकरीली जमीन में उगी हुई लताओं की जड़ों में प्रायः इस प्रकार की सम्भावना अधिक रहती है। तोड़ने पर पाठा की जड़ मुलेठी की भाँति रेशेदार टूटती (*Fracture fibrous*) है। मूलत्वक् कार्कयुक्त तथा जड़ की मोटाई को देखते हुए काफी मोटी होती है। काष्ठीय भाग पीताभ वर्ण का होता है, जो गुडूचीकाण्ड की भाँति १०-१५ वंडलों (*Wedge-Shaped bundles*) में विभक्त-सा मालूम होता है। पाठा की ताजी जड़ में तो प्रायः कोई गंध नहीं होती किन्तु सूखी जड़ों में एक अत्यंत धीमी सुगंधि पायी जाती है और स्वाद में यह अत्यंत तिक्त होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – सूक्ष्म रचना में पाठा की जड़, इस कुल की अन्य अनेक वनस्पतियों के काण्ड एवं मूल से मिलती-जुलती है। अतएव केवल सूक्ष्म रचना के आधार पर इसका निर्णय कभी-कभी कठिन हो जाता है। पाठा के साथ-साथ इसी कुल की स्टेफानिआ प्रजाति की लताएँ भी पायी जाती हैं, जो आपाततः देखने में पाठा-जैसी मालूम होती हैं। अतएव भ्रमवश संग्रहकर्ता इसका भी संग्रह कर लेते हैं। इनमें स्टेफानिआ ग्लाव्रा *Stephania glabra* (Roxb.) *Miers.* (पर्याय–*Stephania rotunda* *Hook. f. and Thomas*) विशेष महत्त्व की है। कहीं-कहीं इसे पाठा का ही नाम (पाढी) दे दिया जाता है। किन्तु इसमें मूल कन्दवत्, पत्तियाँ हमेशा चिकनी तथा अपेक्षाकृत वड़ी और पुष्पमञ्जरी सचूड़ एवं छत्रक–सम (*Compound pedunculate umbels*) होती है। सीक्लेआ (*Cyclea*) प्रजाति की भी लताएँ पाठा से कुछ-कुछ मिलती-जुलती हैं। ट्रावन्कोर-कोचीन में सीक्लेआ पेल्टाटा *Cyclea peltata Diels* की जड़ का ही ग्रहण पाठामूल के नाम से किया जाता है। चरक आदि आयुर्वेदीय संहिताओं में पाठा के दो भेदों का उल्लेख मिलता है :— (१) पाठा (पाढ़ी या छोटी पाठा) तथा (२) राजपाठा (पाढ़ा या वड़ी पाठा)। छोटी पाठा, पाढ़ी या मात्र पाठा से उपर्युक्त ओषधि का ग्रहण होना चाहिए। राजपाठा के नाम से स्टिफानिआ हेर्न्नाण्डीफोलिआ *Stephania hernandi folia* (*Willd.*) *Walp.* नामक लता की जड़ का ग्रहण किया जा सकता है। इसकी लताएँ आपाततः देखने में पाठा जैसी मालूम होती हैं। यह विहार, वंगाल, आसाम, सिक्कम तथा हिमालय की तराई में भी कहीं-कहीं (देहरादून आदि) और दक्षिण भारत में पूर्वीय एवं पश्चिमी समुद्र तटीय प्रदेशों में पायी जाती है। राजपाठा की पत्तियाँ अपेक्षाकृत वड़ी होती हैं और दोनों की पुष्पमञ्जरियों में वहुत अन्तर होता है, जिससे एक दूसरे को पहचाना जा सकता है। पाठा में पुटपत्र संख्या में ४ (पुं-पुष्प) या १-२ (स्त्री-पुष्प) होते ह, किन्तु राजपाठा में यह ६-१० तक पाये जाते हैं। इसी प्रकार दलपत्रों की संख्या में भी अन्तर होता है, जो राजपाठा में ३-५ तक किन्तु पाठा में परस्पर संसक्त होने से एक ही होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पाठामूल का संग्रह जाड़ों में फूल-फल आजाने पर करना चाहिए, और मिट्टी आदि को जल से धोकर जड़ों को छायाशुष्क कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – पाठा की जड़ में वर्वेरीन (*Berberine* ०.५%), सिस्सैम्पेलीन (*Cissampeline*), एवं सेपीरीन (*Sepeerine*) आदि ऐल्केलाइड्स तथा कुछ सैपोनीन एवं क्षार भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण । रस–तिक्त । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक विशेषतः कफवात शामक;

कुष्ठघ्न, व्रणरोपण, दीपन-पाचन, ग्राही, अनुलोमन, कटुपौष्टिक, कृमिघ्न, रक्तशोधक, शोथहर, कफघ्न, स्तन्य-शोधन, मूत्रल, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, विषघ्न आदि। इसका निस्सरण मूत्रमार्ग से होता है। ज्वरातिसार, प्रवाहिका, अग्निमांद्य, ज्वरोत्तरकालिक दौर्बल्य, श्वास-कास आदि में यह विशेष रूपेण उपयोगी है।

मुख्य योग – गंगाधर चूर्ण, कुटजाष्टक क्वाथ।

पाढ़ल (पाटला)

नाम। सं०–पाटला। हिं०–पाढ़ल, अधकपारी। बं०–पारुल। म०, गु०–पाडल। पं०–पाडल। था०–परार। संथा०–पाड़ेर, पाड़र। उरि०–वोरो पाटुली। को०–हूसी। मल०–पाति (दि) रि। ले०–स्टेरेओस्पेर्मुम सूआवेओ-लेन्स (*Stereospermum suaveolens DC.*)।

वानस्पतिक कुल – श्योनाक-कुल (बिग्नोनिआसे : *Bignoniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेपतः उत्तरी भारत वंगाल, विहार, हिमालय की तराई) में इसके लगाये हुए तथा जंगली वृक्ष मिलते हैं। हिमालय की तराई में शाल के जंगलों में पाटला के भी (समूहवद्ध) वृक्ष मिलते हैं। मूलत्वक् पंसारियों के यहाँ मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – पाटला के वहुत बड़े या मध्यम ऊँचाई (९.१४ से १८.२८ मीटर या ३०-६० फुट ऊँचे) के पतझड़ करने वाले सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिनके नवीन भाग चिपचिपे रोमश और ग्रंथिमय होते हैं। पत्तियाँ ३० से ६० सें० मी० या १-२ फीट लम्बी, विपरीत क्रम से स्थित, अयुग्मपक्षाकार या विषमपक्षवत् (*Imparipinnate*) होती हैं। पत्रक (*Leaflets*) संख्या में ५-९ (सामान्यतः ७), ७.५–१७.५ सें० मी० ×५–८.२५ सें० मी० (३-७ इंच×२–३½ इंच), रूपरेखा में चौड़े अंडाकार या आयताकार, यकायक लम्वाग्र, अवृन्त या छोटे वृन्त वाले, चर्मिल, कर्कश (*Scabrous*) या मृदुरोमश तथा कोमल एवं नये पत्रकों का तट तीक्ष्णतन्दुर किन्तु पुराने पत्रक अखण्ड या सरलधारवाले होते हैं। पुष्प अत्यंत सुगन्धित, वाहर से लाल किन्तु भीतर पीली रेखाओं से युक्त होते हैं, जो त्रिधा विभक्त, पिचचिपी एवं शाखाग्रय पुष्पगुच्छवत् मंजरियों (*Viscid tri-chotomous panicles*) में; वाह्य दलपुंज या कैलिक्स (*Calyx*) छोटा (१.२५ से १.६ सें० मी० या ½–⅔ इंच), घंटिकाकार तथा अग्र पर ३-५ खण्डयुक्त होता है। दलपुंज या कॉरोला २.५ से ३.७५ सें० मी० या १-१½ इंच लम्बा, अत्यंत मृदु, तथा द्वि-ओष्ठीय-सा, पुंकेशर ४, जिनमें दो छोटे और दो बड़े (विषम युग्म *Didynamous*) होते हैं। कभी पाँचवाँ अप्रगल्भ पुंकेशर भी पाया जाता है। फली (*Capsule*) ३७.५ सें० मी० से ६० सें० मी० या १¼-२ फुट तक लम्बी, टेढ़ी या ऐंठी हुई-सी, बेलनाकार और व्यास में १.५ से २ सें० मी० (⅗ से ⅘ इंच), चार अस्पष्ट धाराओं से युक्त होती है, जिसका पृष्ठ गाढ़े खाकस्तरी रंग का तथा श्वेत विन्दुओं (*White specks*) से युक्त होता है। बीज प्रत्येक फली में प्रायः १२-३० होते हैं, जो ३.७५ से ०.८३ सें०मी० (१½ इंच×⅓ इंच) तथा सपक्ष होते हैं। पुष्प ग्रीष्मऋतु (मई-जून) में नई पत्तियों के साथ लगते हैं, तथा फलियाँ जाड़ों में लगती हैं, जो वहुत दिनों तक पेड़ों में लगी रहती हैं। पाटला के वृक्षों में पुष्प एवं फल वृक्ष के काफी पुराना होने पर लगते हैं।

उपयोगी अंग – मूलत्वक्, पुष्प, क्षार, फलमज्जा।

मात्रा – मूलत्वक्चूर्ण–१½ ग्राम से २½ ग्राम या १०से २०रत्ती। पुष्पस्वरस–१ से २ तोला।

क्षार–½ ग्राम से १½ ग्राम या ४ रत्ती से १½ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पाटला की छाल वाह्यतः खाकस्तरी रंग की तथा स्पर्श में कर्कश होती है। काटने पर यह हल्के पीले रंग की होती है, और उसमें कड़े और मुलायम पर्त वारी-वारी से निकलते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – दक्षिण भारत में (विशेपतः मलावार, कोंकण आदि) पाटला का दूसरा भेद पाया जाता है। वहाँ पाटला या पाडरी नामसे इसी की छाल का ग्रहण किया जाता है। इसे स्टेरेओस्पेर्मुम केलोनोइ्डेस *S. chelonoides DC.* (पर्याय–*S. tetragonum DC.*) कहते हैं। अन्यत्र भी इसके वृक्ष मिलते हैं, किन्तु अपेक्षाकृत कम। यह प्रायः नम भूमि में होता है। पत्तियाँ ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० या १२–१८ इंच लम्बी, अयुग्म पक्षवत् तथा छोटी-छोटी टहनियों के अग्र पर समूहवद्ध; पत्रक संख्या में ७-११, चिकने, अंडाकार तथा ८.७५ से १२.५ सें० मी० या ३॥-५ इंच लम्बे, पुष्प पीले या गुलावी रंग के (पीतपुष्प पाटला या निघण्टुओं की सितपाटला) होते हैं। फल ३० सें० मी० से ५० सें० मी० या १२-२० इंच लम्बा घेरे में गोल न होकर सपक्ष

या चार उभरी हुई रेखाओं से युक्त होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पाढ़ल की छाल को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – इसके पुष्पों में ऐल्ब्युमिन, शर्करा, म्युसिलेज तथा मोमीय पदार्थ होता है।

वीर्यकालावधि – छाल–३-६ महीना।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण (किंचित्)। पुष्प एवं फल–कषायमधुर रस एवं शीत वीर्य हैं। कर्म–त्रिदोषशामक; वेदनास्थापन, व्रणरोपण, रुचिवर्धक, तृष्णाशामक, ग्राही, यकृदुत्तेजक, शोथहर, मूत्रल, अश्मरीनाशन, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन; पुष्प–हृद्य, पौष्टिक एवं वाजीकरण हैं।

मुख्य योग – बृहत् पंचमूल, पाटली तैल।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) शोथहर महाकषाय एवं सुश्रुतोक्त आरग्वधादि, महत्पंचमूल एवं अधोभागहर (सू० अ० ३८, ३९) गण के द्रव्यों में पाटला भी है।

पातालगरुड़ी (छिलहिण्ट)

नाम। सं०–पातालगरुडी, छिलहिण्ट, महामूल। हिं०–पाताल गरुड़ी, छिरेटा, छिलहिन्ड, जलजमनी, फरीदवूटी ? ले०–कॉक्कूलुस हीर्सुटुस *Cocculus hirsutus* (*Linn.*) *Diels.* (पर्याय–*C. villosus DC.*)।

वानस्पतिक कुल – गुडूची-कुल (मेनिस्पेर्मासे *Menispermaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण एवं समशीतोष्ण प्रदेशों में जलजमनी की इतस्ततः झाड़ियों पर फैली हुई या आश्रय न मिलने पर भूमि पर प्रसरी लताएँ मिलती हैं। किन्तु बाजारों में विक्रयार्थ प्रायः इसका संग्रह नहीं किया जाता। जलजमनी की पत्तियों एवं मूल का उपयोग चिकित्सार्थ किया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – पातालगरुड़ी की लता होती है, जिसके काण्ड पतले एवं मुलायम होते हैं। कभी-कभी यह आरोही गुल्मक के रूप में भी प्राप्त होती है। पत्तियाँ मृदु, श्वेताभ रोमावरण से ढकी हुई तथा एक ही लता में नीचे से ऊपर तक अनेक आकार-प्रकार की होती हैं। नीचे की पत्तियाँ प्रायः लट्वाकार-आयताकार, ७.५ सें० मी० या ३" तक लम्वी तथा ५ सें० मी० या २" तक चौड़ी और ऊपर की ओर क्रमशः छोटी और आयताकार होती हैं। शीर्ष पर प्रायः यह लोमयुक्त (*Mucronate*) होती हैं। पर्णवृन्त १.२५ सें० मी० या ½ इंच तक लम्वा होता है। पुष्प छोटे, हरिताभ वर्ण के तथा एकलिंग होते हैं। नरपुष्प प्रायः पत्रकोणोद्भूत मंजरियों में निकलते हैं, किन्तु स्त्रीपुष्प पत्रकोणों में छोटे वृन्तों पर और प्रायः एक साथ १-३ निकले होते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) व्यास में ०.५ सें० मी० या ⅕ इंच और कच्चे में हरे तथा पकने पर काले वैंगनी रंग के हो जाते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र एवं मूल।

मात्रा – स्वरस–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – हरी एवं ताजी पत्तियों को जल में मसलने से पानी जम जाता है। मूल–पातालगरुड़ी की जड़ काफी लम्वी तथा टेढ़ी-मेढ़ी और ऐंठी हुई होती है, जिससे कुछ पतले सूत्राकार उपमूल निकले होते हैं। वाह्यतः यह हल्के भूरे रंग की होती है, तथा अनुप्रस्थ विच्छेद (*T. S.*) करने पर कटा हुआ तल हल्के पीले रंग का होता है, जिसपर अरवत् मटमैले पीले रंग की रेखाएँ (*Radiating darker yellow lines*) दिखाई देती हैं। इसमें एक हल्की अप्रिय गंध होती है तथा स्वाद भी अरुचिकारक एवं तिक्त होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – सर्वत्र सुलभ होने से पत्तियाँ एवं मूल दोनों ही ताजे प्राप्त किये जा सकते हैं। रखने के लिए मूल को जाड़ों में संग्रह कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – एक अम्ल एवं दूसरा ऐल्केलाइड या क्षारोद स्वभाव के दो तत्त्व तथा राल आदि घटक होते हैं।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–विषघ्न। कर्म–दीपन–पाचन, अनुलोमन, वल्य, वृष्य, ज्वरघ्न, रक्तशोधक, कफघ्न, मूत्रल एवं मूत्रमार्ग का स्नेहन करने वाला एवं विषघ्न आदि। वाह्यतः स्थानिक प्रयोग से इसका लेप विषघ्न, शामक एवं त्वग्दोषहर है।

पान (ताम्बूल)

नाम। सं०–ताम्बूल, नागवल्लरी, ताम्बूलवल्ली, नागवल्ली। हिं०, वं०, द०–पान। म०–नागवेल, पानवेल, नागरवेल। गु०–नागरवेलना पान, पान। फा० – तंवूल। अ०–तंवूल, तांवूल। अं०–वीटेल या पेपर लीफ (*Betel or Peppel leaf*)। ले०–पीपेर वेटेल (*Piper betle Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – पिप्प्यादि-कुल (पीपेरासे *Piperaceae*)।

प्राप्तिस्थान – ताम्बूल या पान भारतवर्ष का ही आदिवासी पौधा है, और उष्ण एवं नम प्रदेशों में प्रचुरता से इसकी खेती की जाती है। लंका एवं मलाया द्वीप-पुंज में भी पान बोया जाता है। भारतवर्ष में पान बहुत खाया जाता है और सर्वत्र इसकी दुकानें मिलती हैं। पान भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य है।

संक्षिप्त परिचय – यह एक बहुवर्षायु लता है। इसके पत्ते खाये जाते और औषध के काम में लिये जाते हैं। स्वरूप एवं स्वाद के न्यूनाधिक भेद से हिन्दुस्तान में इसके अनेक भेद होते हैं। पान की खेती के लिए बड़ी कुशलता एवं दक्षता की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए उपयुक्त भूमि में भीटे बना दिये जाते हैं और मवेशियों से बचाने के लिए झाड़ियों से घेरा बना दिया जाता है। फिर इस पर धूप एवं झकर या आंधी वगैरह से बचाने के लिए छायादार झोपड़ियाँ बना दी जाती हैं। अन्दर इसके पौधे रोपे जाते हैं और बेल को चढ़ने के लिए स्थान-स्थान पर एरण्ड, पपीता, जयन्ती तथा अगस्त आदि के वृक्ष लगा दिये जाते हैं। प्रायः १८ माह से २ वर्ष बाद फसल मिलने लगती है और कई वर्षों तक भीटे (*Betle gardens*) ज्यों का त्यों रखे जाते हैं। यह आगन्तुक जड़ों (*Adventitious rootlets*) द्वारा सहारे के वृक्ष पर ऊंचाई तक चढ़ जाता है। पर्वों पर काण्ड अधिक मोटा या फूला होता है। कोमल काण्ड चिकने होते हैं। पत्तियाँ ७.५ से २० सें० मी० या ३ से ८ इंच लम्बी, चौड़ी-लट्वाकार तथा किंचित् हृदयाकार तथा अग्र पर नुकीली होती हैं। पुष्प एकलिंगी तथा रम्भाकार अवृन्तकाण्डज सघन मञ्जरियों (*Cylindrical dense spikes*) में निकले होते हैं, जो २.५ से १५ सें०मी० या १ से ६ इंच लम्बी, मांसल एवं अधोमुख लटकी रहती (*Pendulus*) है। फलागम अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। फल छोटे-छोटे होते हैं, जो मञ्जरी पर छोटे-छोटे ग्रंथि से (*Nodosities*) मालूम होते हैं। वसन्त और ग्रीष्म में पुष्प-फल आते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र (पान)।

मात्रा – स्वरस–३ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पान का पत्ता लगभग ७.५ से २० सें० मी० या ३ से ८ इंच लम्बा तथा ५ से १२.५ सें० मी० या २ से ५ इंच तक चौड़ा, रूपरेखा में चौड़ा-मालाकार (*Broadly ovate*) तथा आधार की ओर तिरछे हृदयाकार (*Obliquely cordate*) होता है। अग्र सहसा नुकीला (*Acute*) या लम्बा नुकीला (*Acuminate*) होता है। ऊर्ध्व पृष्ठ चमकदार होता है और इस पर ५-७ नाड़ियाँ होती हैं। पत्र-वयन (*Texture*) में चर्मिल (*Coriaceous*) होता है। इसमें कभी-कभी डंठल लगा होता है, जो १.१२५ से २.५ सें० मी० या ॥ से १ इंच लम्बा होता है। पान के पत्तों में एक सुगंधि पायी जाती है; तथा मुंह में चाबने पर स्वाद में तीक्ष्णता लिये तिक्त एवं उष्ण और सुगन्धित होता है। स्थान भेद से अनेक व्यावसायिक नामों से पान मिलता है, यथा–बंगला, देसावरी, कपूरी, मूगिया, महोवा, मालवी (मालवा का), मदरासी, माघी, अहमदाबादी, बनारसी आदि। खाने के लिए बनारसी माघी, महोवा एवं बंगला पान अधिक पसन्द किया जाता है। औषधीय कार्य के लिए सभी ग्राह्य हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पान के पत्ते सर्वत्र १२ महीने सुलभ होते हैं।

संगठन – पत्ते में (०.२ से २%) एक उड़नशील तैल पाया जाता है, जो पीले रंग का, सुगन्धित, तीक्ष्ण दाहक, स्वादयुक्त एवं उष्ण होता है। कोमल पत्तों में यह विशेष रूप से पाया जाता है। तेल में बीटलफिनोल (*Betle-phenole*) और टर्पिन होता है। स्थान भेद से उक्त घटक की मात्रा में न्यूनाधिक्य भी देखा जाता है। पान की पत्तियों में काफी मात्रा में श्वेतसारपाचक किण्व (*Diastase*) पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, विशद। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वात-कफशामक किन्तु पित्तप्रकोपक, जीवाणुनाशक, शोथहर, वेदनास्थापन, उत्तेजक, पूतिहर, मुखवैशद्यकारक, दीपन-पाचन, अनुलोमन, हृदयोत्तेजक, शीतप्रशमन, ज्वरघ्न, कफनिस्सारक, वाजीकरण, एवं कटु पौष्टिक आदि। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–उष्ण प्रकृतिवालों के लिए विशेषतः निहार मुंह। तीक्ष्ण, उष्ण एवं पित्तप्रकोपक होने के कारण रक्तपित्त, उरःक्षत एवं मूर्च्छा आदि पैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग निषिद्ध है। निवारण–सफेद इलायची। प्रतिनिधि–लौंग।

मुख्य योग – अर्कताम्बूल। ताम्बूल पत्र स्वरस का उपयोग चिकित्सा में बहुशः अनुपान के रूप में किया जाता है।

विशेष – भ्रमवश लोग पान की जड़ को कुलंजन कह दिया करते हैं। किन्तु कुलंजन एक पृथक् द्रव्य है। ताम्बूल

स्वरस का उपयोग चिकित्सा में अनुपान रूप में भी बहुश: किया जाता है।

पानडी

नाम। हिं०–पनडी, पानडी, जभी, पर्पटी, ।

प्राप्तिस्थान – जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर । बड़े सर्वत्र पंसारियों के यहाँ इसके शुष्क पत्र बिकते हैं।

परिचय एवं उपयोग – यह एक प्रकार की सुगंधित पत्ती होती है। मीठे पेय पदार्थों तथा तेल एवं उबटन आदि में उन्हें सुगंधित करने के लिए इसे डालते हैं। यह रक्त-शोधक एवं मन: प्रसादकर होती है। इसका काढ़ा बना कर पिलाते हैं। यह जुवारिश और माजून के योगों में भी पड़ती है तथा इसका इत्र एवं अर्क भी खींचते हैं। जोधपुर में सुगंधि के लिए इसे नस्य में डालते हैं। कपड़ों में भी रखते हैं।

मात्रा – ३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।

पारिभद्र (फरहद)

नाम। सं०–पारिभद्र, कंटकीपलाश। हिं०–फरहद। बं०–पाल्ते मदार। संथा०–मरार। खर०–फरार। म०–पांगरा। गु०–पांडेखो, पनरवो। अं०–कोरल ट्री (*Coral tree*)। ले०–एरीथ्रीना वारिएगाटा प्र० ओरिएंटालिस *Erythrine variegata L. var. orientais L. Merr* (*Syn. E. indica Lamk.*)

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (पैपीलिओनासे *Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत के समुद्र तटवर्ती स्थान, बंगाल, बिहार, आदि तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं जंगली तथा लगाये हुए वृक्ष सर्वत्र मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – फरहद के (४.५७ मीटर से १२.१८ मीटर या १५ से ४० फुट—कहीं-कहीं १८.२८ मीटर या ६० फुट ऊंचे तक) सुन्दर, कण्टकित वृक्ष होते हैं। कण्टकित होने से बगीचों एवं खेतों की मेड़ पर तथा सौन्दर्य के लिए बगीचों में लगाया मिलता है। पत्तियाँ पलाश-जैसी त्रिपत्रक (जिनमें सिरे वाला पत्रक अपेक्षाकृत बड़ा) होता है। पत्रक ७.५ से १५. सें० मी० या ३ से ६ इंच बड़े और चौड़े तथा रूपरेखा में कुछ त्रिकोणाकार (*Deltoid*) होते हैं। जाड़े के अन्त तक सब पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वसन्त ऋतु में सुग्गे की टोंट-जैसे सुन्दर रक्त वर्ण के पुष्प निकलते हैं। नयी पत्तियाँ पुष्पागम के बाद निकलती हैं और गर्मियों में यह एक उत्तम छाया-वृक्ष होता है। मञ्जरी लगभग १५ सें० मी० या ६ इंच लम्बी और पुष्प दण्ड १० सें० मी० या ४ इंच लम्बा होता है। फूलों का बाह्य कोश एक ओर मूल तक फट जाता है और अग्र पर पाँच दाँत बन जाते हैं। फलियाँ प्रारम्भ में हरी किन्तु पकने पर काली हो जाती हैं। यह १५ सें०मी० से ३० स०मी० या ६ से १२ इंच तक लम्बी, चोंचदार तथा किंचित् टेढ़ी होती है, जिनमें ६–१२ तक लाल, भूरे या जामुनी रंग के अंडाकार बीज होते हैं।

उपयोगी अंग – छाल (काण्डत्वक्) एवं पत्र।

मात्रा – छाल–३ ग्राम से २३.५ ग्राम या ३ माशा से २ तोला। पत्रस्वरस – ६ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – फरहद की ताजी छाल प्राय: चिकनी तथा खाकस्तरी रंग की होती है, जिस पर समकोण दिशा में छोटे-छोटे दरारनुमा श्वसनरंध्र के चिह्न (*Lenticels*) पाये जाते हैं। नख से खुरचने पर बाहरी पतला आवरण (*Suber*) पृथक् होकर अन्दर का हरा तल निकल आता है। छाल का बाहरी भाग दानेदार तथा भंगुर होता है। इसमें अरुचिकारक स्वाद तो होता है, किन्तु स्वाद में तिक्त नहीं होती।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – अभाव में फरहद की उक्त जाति के स्थान में इसकी कतिपय अन्य जातियों का भी ग्रहण किया जाता है, जिनमें एरीथ्रीना सुबेरोसा (*E. Suberosa Roxb.*) मुख्य हैं। इसे उत्तर भारत में धवल ढाक, मदार, पांगरा आदि कहते हैं। इसे हम उत्तर भारत का पारिभद्र कह सकते हैं। **विशेष**–पारिभद्र निम्ब से पृथक् द्रव्य है, अतएव सर्वत्र इसे नीम का पर्याय मानना ठीक नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण – पारिभद्र के काण्डत्वक् को छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – इसकी राल में रालीय तत्त्व तथा एरिथ्रीन (*Erythrine*) नामक तिक्त सत्व पाया जाता है। पत्तियों में भी एरिथ्रीन होता है।

स्वभाव – गुण–लघु। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, शोथहर, व्रणशोधन, कर्णरोगहर, मस्तिष्क शामक, आक्षेपहर, निद्राजनन, दीपन-पाचन, अनुलोमन, शूलहर, रक्तप्रसादन, कफ-नि:सारक, मूत्रल आर्तवजनन, वाजीकरण, मेदोनाशक

तथा ज्वरघ्नादि। कुपीलु-विषाक्तता में यह अगद की तरह कार्य करता है।

पालकजूही (यूथिकपर्णी)

नाम। सं०–यूथिकपर्णी। हिं०–पालकजूही, पालिकजुहिया, जूईपानी। बं०–जोईपाणी। द०–कबूतर का झाड़। म०–गजकर्णी। बम्ब०–जुइपान। गु०–गजकरण। फा०–गुलबगला। ले०–र्‌हीनाकांथुस नासूटा *Rhinacanthus nasutas* (L.) *Kurz.* (पर्याय–*R. Communis Nees.*)।

वानस्पतिक कुल – वासक-कुल (आकान्थासे *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दकन प्रायद्वीप तथा पश्चिमी घाट के जंगलों में यह स्वयंजात होती है। इसके अतिरिक्त प्रायः समस्त भारतवर्ष में इसके लगाये हुए पौधे मिलते हैं। इसके औषधीय अंग प्रायः बाजारों में नहीं बिकते।

संक्षिप्त परिचय – इसके १.५ मीटर या ५ फीट तक ऊंचे झाड़ीनुमा क्षुप होते हैं, जिनके काण्ड सरल एवं अनेक शाखाओं से युक्त होते हैं। पुरानी शाखाएँ गोलाकार तथा खाकस्तरी छालयुक्त होती हैं। कोमल शाखाएँ कुछ-कुछ ६ पहल (*6–sided*) मालूम होती हैं। पत्र, ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्बे, २·५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच चौड़े, रूपरेखा में चौड़े, भालाकार किन्तु कुण्ठिताग्र, ऊर्ध्व तल पर चिकने तथा अधस्तल पर मृदुरोमश, सरल तट वाले तथा सवृन्त होते हैं, जो अभिमुखक्रम से स्थित होते हैं। पत्तियों को मसलने से एक दुर्गन्धि-सी आती है, तथा मुख में चावने पर स्वाद में तीक्ष्ण (*Pungent*) होती हैं। पुष्प छोटे तथा सफेद होते हैं, जो पत्रकोणों एवं शाखाग्रस्थित मञ्जरियों में निकलते हैं। पालकजुही के पत्र एवं मूल का व्यवहार अनेक त्वचा रोगों में बहुत उपयोगी सिद्ध होता है।

उपयोगी अंग – पत्र एवं मूल।

मात्रा – पत्र स्वरस–६ माशा से १ तोला।
मूल–½ ग्राम से २ ग्राम या ४ रत्ती से २ माशा।

संगठन – इसके मूल और छाल में र्‌हाइनाकैन्थिन (*Rhinacanthin*) नामक लाल रंग का रालीय सक्रिय तत्त्व पाया जाता है। इसमें बहुत कुछ क्राइसोफेनिक एसिड तथा फ्रेंग्युलिक एसिड से साम्यता पायी जाती है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–चर्मरोगनाशक (विशेषतः दद्रुघ्न), रक्तशोधक, विषघ्न, वाजीकरण आदि।

मुख्य योग – जिमाद दाद।

पाषाणभेद (पखानभेद)

नाम। सं०–पाषाणभेद, अश्मघ्न; (राजनिघण्टु)–वटपत्री। हिं०–पखानभेद, सिलफड़ा, (पथरचूर)। म०, गु०–पपानभेद। ले०–बेर्जेनिआ लीगूलाटा *Bergenia ligulata* (*Wall.*) *Engl.* (पर्याय–साक्सीफ्राजा लिगूलाटा *Saxifraga ligulata Wall.*)। **वक्तव्य** – "साक्सीफ्राजा *Saxi fraga*" शब्द व्युत्पन्न है लेटिन "साक्सुम *Saxum = a stone* (पाषाण) तथा "फ्रान्जो *frango = to break* (भेदन करना)" से। परम्परा से इसकी कुछ प्रजातियाँ अश्मरीघ्न (*Lithontriptic*) क्रिया के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उक्त नाम इसकी प्रजातियों के पत्थरों के अन्तर्मध्य (*from their growing among rocks*) से उगने के कारण भी रखे गये हैं। उपर्युक्त पाषाणभेद में उक्त दोनों ही विशेषताएँ पायी जाती हैं।

वानस्पतिक कुल – पाषाणभेद-कुल (साक्सीफ्रागासे *Saxifragaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश (*Temperate Himalayas*) में कश्मीर से भूटान (२१३३.६ मीटर से ३०४६ मीटर या ७,००० से १०,००० फुट की ऊंचाई) तक तथा खसिया की पहाड़ियों (१२०४.८ मीटर या ४००० फुट की ऊंचाई) पर इसके पौधे पर्वत की ढालों पर पत्थरों की दरारों में कसरत से निकले हुए मिलते हैं। इसके भौमिक काण्ड के गोल-गोल काटकर सुखाये हुए टुकड़े पंसारियों के यहाँ बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके बहुवर्षायु छोटे-छोटे कोमल क्षुप होते हैं। चट्टानों के बीच के दरारों से इसका काण्ड बाहर निकला होता है। मूलस्तम्भ (*Rootstock*) रक्ताभ (भीतर सफेद) और लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच मोटा होता है। इससे पतले उपमूल निकल कर पत्थरों के बीच फैले रहते हैं। पत्तियाँ लट्वाकार या कुछ-कुछ गोल २.५ से १५ सें० मी० या २ से ६ इंच (३० सें० मी० या १२ इंच तक) लम्बी, काफी चौड़ी मांसल एवं चिकनी या कभी-कभी मृदुरोमश तथा ऊपरी पृष्ठ पर हरी और अधःपृष्ठ पर रक्ताभ; किनारे (तट) सूक्ष्म सघन दाँतों से युक्त होते हैं। एक स्थान पर प्रायः ३–४ पत्तियों से अधिक नहीं निकलतीं। पुष्प सफेद,

गुलाबी या हल्के जामुनी रंग के व्यास में ३.१२५ सें०मी० या १$\frac{1}{4}$ इंच तथा बहुवर्ष्यक्ष, गुच्छवत् मञ्जरियों (*Cymose panicle*) में निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड प्रायः कोमल, नम्य या लचीला (*Flexible*) तथा १० से २५ सें० मी० या ४ से १० इंच तक लम्बा होता है। औषधि में इसके मूलस्तम्भ या भौमिक काण्ड का व्यवहार होता है। बाजारों में इसके सुखाये हुए कतरे पाखानभेद के नाम से मिलते हैं।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ या राइजोम (भौमिककाण्ड)।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में पाषाणभेद के काट कर सुखाये हुए टुकड़े मिलते हैं, जो २.५ से ५ सें०मी० या १–२ इंच लम्बे तथा मोटाई में १.२५ से २.५ सें० मी० ($\frac{1}{2}$ से १ इंच) व्यास के होते हैं। बाह्यतः यह भूरे रंग के तथा झुर्रीदार (*Wrinkled*) होते हैं, तथा इतस्ततः इस पर टूटे हुए उपमूलों के चिह्न पाये जाते हैं। अन्तर्वस्तु, सघन, कठिन तथा रक्ताभ वर्ण का होता है। स्वाद में यह किंचित् कसैले होते हैं, तथा इनमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की सुगन्धि पायी जाती है। सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षण करने पर अनेक क्रिस्टल-पुंज (*Conglomerate crystals*) एवं अंडाकार स्टार्च कण (*Ovoid starch cells*) दिखाई पड़ते हैं।

भस्म – १२.८७ प्रतिशत।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – पाषाणभेद एक सन्दिग्ध द्रव्य है। इस नाम से स्थानभेद से अन्य अनेक औषधियों का ग्रहण होता है। किन्तु बाजारों में जो द्रव्य पाषाणभेद से मिलता है, वह उपर्युक्त औषधि के मूलस्तम्भ के काटे हुए शुष्क टुकड़े ही होते हैं। पाषाणभेद नाम से वस्तुतः इसी का ग्रहण होना चाहिए। वैसे प्रतिनिधि द्रव्यों में भी कतिपय में, अश्मरीघ्न एवं मूत्रल गुण होने के कारण अभावे उनका भी ग्रहण किया जा सकता है। पाषाणभेद नाम से प्रयुक्त अन्य औषधियाँ :–

(१) पथरचूर। नाम। सं०–ऐरावती (राजनिघण्टु)। हिं०–पथरचूर, पर्णबीज। पं०–पाथरकुचि। ले०–कालांकोए पीन्नाटा *Kalanchoe pinnata Pers.* (पर्याय–ब्रीओफ़ील्लुम कालीसिनुम *Bryophyllum calycinum Salisb.* (*Family : Crassulaceae*)। यह मूत्रल होता है और पाषाण-भेद का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

(२) कोलेउस आंबोइनिकुस *Coleus amboinicus Benth.* (पर्याय–कोलेउस आरोमाटिकुस *Coleus aromaticus Benth.* (*Family : Labiatae*)। नाम। द०–अजवान का पत्ता। ता०–कर्पूरवल्ली। बम्बई–ओंवा, पाथरचूर। यह वाटिकाओं में लगायी जाती है, तथा राजस्थान में जंगली भी होती है।

(३) एर्वा लानाटा *Aerva lanata Juss.* (*Family : Amaranthaceae*)। नाम। गोरखगांजा। समस्त भारतवर्ष में ३,००० फुट की ऊंचाई तक इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं।

(४) ईरिस प्सेउडोआकोरुस *Iris pseudo-acorus* (*Family : Irideae*)। यह केसरजातीय पौधा होता है। इसका भौमिक काण्ड 'पखानभेद लकड़ी' के नाम से मिलता है।

(५) ममरी या ऑसीमुम बासीलिकुम *Ocimum basilicum Linn.* (*Labiatae*)।

(६) फतरसोआ (ब्रीडेलिआ रेटूसा *Bridelia retusa Spreng.* (*Family : Euphorbiaceae*)।

(७) रोटूला आक्वाटिका *Rotula aquatica Lour.* (*Family : Boraginaceae*))। पर्य्याय–रहाब्डिआ लीसीओइडेस (*Rhabdia lycioides Mart.*)।

संग्रह एवं संरक्षण – पाषाणभेद के टुकड़ों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – टैनिक एसिड, गैलिक एसिड १५$\frac{1}{2}$%, ग्लूकोज ५.६%, म्युसिलेज २$\frac{3}{4}$%, मोम (*wax*), स्टार्च १६%, खनिज लवण, मेटार्बिन एवं ऐल्ब्युमिन ७$\frac{3}{4}$% आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–अश्मरीभेदन। प्रधान कर्म–त्रिदोषशामक, रक्तपित्तशामक, हृद्य, अश्मरीभेदन एवं मूत्रल, ज्वरघ्न, विषघ्न, कफनिस्सारक।

मुख्य योग – पाषाणभेदादि क्वाथ, पाषाणभेदाद्यघृत।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) मूत्रविरेचनीय महाकषाय एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वीरतर्वादि गण के द्रव्यों में पाषाणभेद भी है।

पिप्पली (पीपल)

नाम। सं०–पिप्पली, मागधी, वैदेही, कृष्णा, कणा, तीक्ष्ण-तण्डुला, ऊषणा, उपकुल्या, शौण्डी, कोला । हिं०–पीप (ल) र। द०–पिपली, पिपलियाँ । बं०–पिपुल। गु०–पीपर, लींडी पीपर । म०–पिंपली । सिंध–तिप्पिली । को०–राली-रेड, नजमरेड । संथा०–राली, रानू रैन । फा०–फ़िल्फ़िल् । अ०–दारफ़िल्फ़िल् । अं०–लांग पेपर (*Long Pepper*)। (जड़) सं०–पिप्पलीमूल । हिं०–पि (पी) पली (ला) मूल, पिपला (रा) मूल (र)। बं०–पिपुलीमूल। म०, गु०–पिपलीमूल । था०–पिपलामूल । अ०–फ़िल्फ़िल् मूयः, बेख दारफ़िल्फ़िल् । अं०–पेपर (पाइपर) रूट (*Pepper* (*Piper*) *Root*)। लता का नाम – पीपेर लोंगुम (*Piper longum Linn.*) ।

वानस्पतिक कुल – पिप्पल्यादि-कुल (पीपेरासे *Piperaceae*)

प्राप्ति स्थान – उत्तर-पूर्वी और दक्षिण भारत, लंका, मलक्का एवं फिलिपाइन द्वीपसमह में जंगली रूप से भी पायी जाती है, तथा इसकी काफी परिमाण में खेती भी की जाती है। पिप्पली छायादार एवं नम जमीन में होती है। विहार में चम्पारन, पूर्निया, सिंहभूमि, पलामू एवं संथाल परगना में यह जंगली होती है। आसाम में तथा देहरा-दून की निचली पहाड़ियों में यह पायी जाती है। पूर्वी बंगाल में फल के लिए इसकी खेती भी की जाती है। पिप्पली (फल) एवं पिप्पलीमूल, पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – पिप्पली की गुल्मक (*Undershrub*) स्वभाव की कोमलकाण्डीय बेल होती है, जिससे अनेक लम्बी-लम्बी आरोही (*Ascending*) अथवा विसर्पी या भूशायी (*Prostrate*) शाखाएँ निकलकर चारों ओर फैलती हैं, जो प्रायः मृदुरोमश होती हैं तथा इसमें किंचित् गंध भी पायी जाती है। पीपल की लता के काण्ड रूपरेखा में बेलनाकार (*Cylindrical*) तथा पर्वों (*Nodes*) पर अपेक्षाकृत अधिक मोटे होते हैं। पत्तियाँ ५ से ७.५ सें० मी० या २ से ५ इंच लम्बी, २.७५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० (१½ से ३ इंच) चौड़ी, एकान्तर, दूर-दूर पर निकली हुई, नीचे की लम्बे वृन्त या डण्ठल वाली तथा रूपरेखा में हृद्वत् (*Cordate*), प्रायः लट्वाकार या वृत्ताकार तथा ऊपर की छोटे डंठल युक्त अथवा अवृन्त (*Sessile*) तथा काण्डसंसक्त (*Stem clasping*) और रूपरेखा में आयताकार अण्डाकार और फलकमूल की ओर किंचित् हृदयाकार होती हैं। अग्र पर प्रायः सभी पत्तियाँ न्यूनाधिक नुकीली (*Sub-acute*) तथा चिकनी, पतली, सरल (*Entire*), ऊर्ध्व पृष्ठ पर गाढ़े हरे रंग की और चमकदार तथा अधःपृष्ठ पर हल्के (फीके) रंग की होती हैं। पुष्प एकलिंग और कोणपुष्पक या निपत्र (*Bracts*) वृन्त--गोलायत या ढालाकार (*Peltate*) होते हैं। पुंपुष्पों की अवृन्तकाण्डज मञ्जरी या शूकी (*Male spikes*) ३.७५ से ८.७५ सें० मी० या १½ से ३½ इंच लम्बी और पोली होती है; और स्त्रीपुष्पों की मंजरी १.२५ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० (½–¾ इंच) लम्बी तथा फल ३ सें० मी० या १⅕ इंच तक लम्बे तथा रूपरेखा में लम्बगोल शुण्डाकार तथा देखने में कच्चे शहतूत की भाँति होते हैं। पकने पर इनका वर्ण रक्त होता है, जो सूखने पर कृष्णाभ धूसर वर्ण के हो जाते हैं। पुष्पागम वर्षा ऋतु में तथा फलागम शरद्ऋतु में होता है।

उपयोगी अंग – सुखाये हुए पक्व या अपक्व फल (पिप्पली) एवं मूल (पिप्पलीमूल) ।

मात्रा – चूर्ण–६२५ मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम या ५ से १० रत्ती (१ ग्राम से २ ग्राम या १ माशे या ८ रत्ती से २ माशे या १६ रत्ती तक) ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में छोटी तथा बड़ी भेद से दो प्रकार की पीपल मिलती है। छोटी पीपल देशी होती है, जो आसाम-बंगाल आदि से आती है, और लगायी हुई या जंगली लताओं से संग्रहीत की जाती है। बड़ी पिप्पली बाहर–सिंगापुर, लंका, जंजीबार आदि से आती है। छोटी पिप्पली की फली (*Amentum*) २.५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० या १–१½ इंच लम्बी (या छोटी) रूपरेखा में लम्बगोल आयताकार बालियों के रूप में होती है, जो कृष्णाभ हरित वर्ण की तथा चमकीली होती है। आपाततः देखने में यह कच्चे शहतूत की भाँति मालूम होती है, जिसमें फल छोटे-छोटे दानों के रूप में ठसाठस भरे होते हैं। बड़ी पिप्पली लम्बाई तथा मोटाई दोनों में छोटी से अधिक तथा कृष्णाभ खाकस्तरी रंग की होती है; किन्तु जल से धो देने पर दाने रक्ताभ भूरे रंग के मालूम होते हैं। ताजे पीपर में तो कोई गंध नहीं होती, किन्तु सूखने की प्रक्रिया में इसमें एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि पैदा हो जाती है। स्वाद काली मिर्च की तरह कड़वाहट लिए तीक्ष्ण एवं चरपरा तथा साथ

ही कुछ सुगन्धित होता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं।

पीपलामूल–यह पिप्पली की लता की जड़ होती है, जो ग्रंथिल, कड़ी और भारी होती है। इसकी आकृति कुछ-कुछ तगर की तरह और रंगत श्यामलता लिये खाकस्तरी होती है, और तोड़ने पर अन्दर से सफेद निकलती है। स्वाद पिप्पली की तरह कड़वाहट लिये तीक्ष्ण एवं चरपरा होता है। बाजार में इसके छोटे-बड़े काटे हुए टुकड़े आते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पीपल एवं पिपलामूल को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। संग्रह में पक्व फलों को ही ग्रहण करना चाहिए और संरक्षण के पूर्व इसे अच्छी तरह शुष्क कर लेना चाहिए। बड़े औषधि-निर्माताओं को पीपल खरीदते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए, अन्यथा बाद में इसके वजन में काफी कमी हो जाती है। पिपरामूल के लिए प्रायः ५–६ वर्ष पुरानी लताओं को खोदकर इनकी जड़ें संग्रहीत की जाती हैं।

संगठन – इसमें १% से (२% तक) एक उत्पत् तैल पाया जाता है, जिसमें पिप्पलीन (पाइपेरीन *Piperine*), पाइपेरीडीन (*Piperidine*) नामक ऐल्केलाइड्स, एक तीक्ष्ण रालीय सत्व (चविसीन *Chavicine*) एवं स्टार्च, वसामय तैल आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–मधुर। वीर्य–अनुष्णशीत। इसका आर्द्र फल–गुरु, मधुर-रस एवं शीतवीर्य होता है। कर्म–शुष्क फल वातकफ-शामक, आर्द्र फल वातकफवर्धक एवं पित्तशामक, मेध्य, दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, यकृदुत्तेजक, प्लीहा-वृद्धिहर, रक्तवर्धक, रक्तशोधक, कास-श्वासहर, हिक्का-निग्रहण, (चूर्ण) शिरोविरेचन, मूत्रल, वृष्य, ज्वरघ्न (विशेषतः नियत कालिक ज्वरनाशक), रसायन, बल्य, कुष्ठघ्न आदि। यूनानी मतानुसार पीपल (शुष्क) एवं पीपलामूल दोनों दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क हैं।

मुख्य योग – पिप्पल्यासव, पिप्पलीखंड, गुड़पिप्पली, पिप्पली वर्धमान रसायन। पीपल, त्रिकटु (त्र्यूषण), चतुरूषण एवं पंचकोल तथा षडूषण का उपादान है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २) शिरोविरेचन एवं वमन द्रव्यों में तथा (सू० अ० ४ में कहे) दीपनीय, तृप्तिघ्न, हिक्कानिग्रहण, कासहर एवं शूलप्रशमन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि गण, ऊर्ध्वभागहर एवं शिरोविरेचन (सू० अ० ३८, ३९,) द्रव्यों में पिप्पली भी है।

पियावासा (सैरेयक)

नाम। सं०–पीतसैरेयक, कुरण्टक। हिं०–कटसरैया, पियाबाँसा। बं०–कांटाजाती। उड़ि०–दासकरण्टा। म०–कोरण्टा। गु०–काँटासेरियों। ले०–बार्लेरिआ प्रीओनाटिस (*Barleria prionatis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वासक-कुल (आकान्थासे: *Acanthaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों (विशेषतः बम्बई, मद्रास, आसाम, सिलहट आदि) में इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। गाँवों के आसपास बगीचों की मेड़ पर तथा मन्दिरों के पास इसके लगाये हुए पौधे मिलते हैं। पियाबाँसा का फूल देवताओं को भी चढ़ाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – पियाबाँसा के गुल्म काँटेदार तथा ०.६ मीटर से १.५ मीटर या २–५ फुट ऊँचे और बहुशाखी होते हैं। शाखाएँ जड़ के पास से निकलती हैं और सम्मुखवर्ती, गोल, मसृण और सीधी होती हैं। पत्तियाँ अण्डाकार ३.७५ सें० मी० से १० सें० मी० या १॥–४ इंच लम्बी (शाखाओं की पत्तियाँ आयताकार प्रासवत्), अभिमुखक्रम से स्थित, अखण्ड तट वाली तथा कण्टकित अग्र वाली; पर्णवृन्त प्रायः छोटे होते हैं। इसके पौधे कहीं-कहीं बड़े सुखी और हरे-भरे परन्तु शुष्कभूमि में अल्पवृद्धि वाले और छोटे रह जाते हैं। पुष्प अवृन्त, बड़े तथा पीले रंग के होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत तथा प्रायः एकाकी (*Solitary*) होते हैं। कोणपुष्पक या निपत्र (*Bracts*) रेखाकार या रेखाकार आयताकार होते हैं और उनका अग्र कंटकी होता है। वृन्तपत्रक का भी प्रायः काँटों में रूपान्तर हुआ रहता है। बाह्य दल भी अग्र पर कंटकित होते हैं। फल (*Capsule*) अड़ूसे की तरह यवाकृतिक तथा द्विकोष्ठीय होते हैं। प्रत्येक कोष्ठ में १-१ बीज होता है। जड़ काष्ठीय तथा बहु-वर्षायु स्वभाव की होती है, जिससे अनेक पार्श्विक उपमूल निकले होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (विशेषतः पत्र एवं मूल)।

मात्रा – ३ ग्राम से ११.६ ग्राम या ३माशा से १ तोला।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – पुष्प के रंग भेद से सैरेयक ४

प्रकार का होता है —(१) श्वेत–वार्लेरिआ डीकोटोमा *Barleria dichotoma Roxb.* (पर्याय–*B. cristata Linn. var. dichotoma*) । इसे संस्कृत में सैरेयक, सहचर, झिण्टी आदि कहते हैं। (२) पीत–कटसरैया, पियावाँसा। (३) रक्त – वार्लेरिआ क्रीस्टाटा (*Barleria cristata Linn.*) इसे जाती (वं०), रेलावाहा (संथा०) तथा रक्त सैरेयक या कुरण्टक कहते है। इसमें पुष्प भड़कीले, गुलावी रंग के या कभी सफेद और प्रायः अत्यधिक संख्या में निकलते हैं। इस जातिके पौधों में स्थानभेद से पत्रादि के आकारादि एवं पुष्पवर्ण में वहुत भिन्नता देखने में आती है। हिमालय पर होने वाले पौधों में जामुनी नील वर्ण के पुष्प होते हैं। (४) नील–वार्लेरिआ स्ट्रीगोसा (*Barleria strigosa Willd.*) इसके लिए वाण, दासी, आर्त्तगल आदि संस्कृत नाम निघंटुओं में दिये गये है। अन्य नाम–रैलावाहा–संथा०; दासी–वं०; वनमल्ली–उड़ि०। इसके पुष्प नीले, २ इंच लम्वे और १–३ इंच चौड़े होते हैं, जो अवृन्तकाण्डज क्रम से सघन मञ्जरियों में निकले होते हैं। मंजरियाँ वृन्तपत्रकों से युक्त और एक पार्श्वीय होती हैं। मञ्जरी में दोनों वृन्तपत्रक दो पार्श्वीय कतारों में और दो वड़े-वड़े वाह्यदल ऊपर की ओर एक कतार में रहते हैं। इनमें औषध्यर्थ प्रायः पीले फूल वाले कटसरैया का व्यवहार होता है, जो सर्वत्र सुलभ होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पियावाँसा सर्वत्र सुलभ है। स्वरस आदि के लिए ताजा पौधा व्यवहृत करें। जड़ को छाया-शुष्क कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संग्रहीत करें।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक; रक्तशोधक, शोथहर, स्वेदजनन, ज्वरघ्नक फघ्न, विषघ्न, कुष्ठघ्न, शुक्रशोधन नाड़ीवल्य। लेप के रूप में स्थानिक प्रयोग से शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणपाचन, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न, एवं केश्य होता है। श्वसनसंस्थान के रोगों में इसका स्वरस एकौषधि के रूप में अथवा अन्य औषधियों के साथ अनुपान के रूप में देने से वहुत उपकार होता है।

पियाराँगा (पीआरंग)

नाम। सं०–पीतरङ्गा। हिं०–पियाराँगा, पयाराँगा, पीली-जड़ी, शूप्रक, पीतराँगा। वम्व०–पीआरंग। ले०–थाली-वट्रुम फोलिओलोसुम (*Thalictrum foliolosum DC.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (रानुन्कुलासे : *Ranunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – यह हिमालय में सर्वत्र १५२३ मीटर से २७२७ मीटर या ५,००० से ८,००० फुट की ऊंचाई पर तथा खसिया की पहाड़ियों पर १२०४ से १८२८.८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट की ऊंचाई पर पाया जाता है। यह खसिया पर्वतमाला पर विशेष होता है। संग्रह-कर्ता सिलहट और इसलामावाद में लाते हैं, जहाँ से इसे अन्यत्र ले जाते हैं। हिमालय के अन्य क्षेत्रों से भी संग्रह-कर्ता थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मैदान के वाजारों में ले आते तथा पिआरंग नाम से वेच जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – पियाराँगा के वहुवर्षायु स्वभाव से १.२ से २.४ मीटर या ४–८ फुट ऊंचे क्षुप होते हैं, जिसकी पत्तियाँ १५ सें० मी० से ३५ सें० मी० या ६–१८ इंच लम्वी होती हैं। अनुपपत्र पक्ष की (*Pinnules*) प्रायः त्रिपत्रक होती हैं। उक्त पत्रक १ सें० मी० से २ सें० मी० (½ से ¾ इंच) लम्वे, रूपरेखा में आयताकार-लट्वाकार, तीन खण्डों वाले तथा दन्तुर धार वाले होते हैं। पुटपत्र या वाह्य दल (*Sepals*) लगभग ०.५ सें० मी० या ⅕ इंच, रूपरेखा में लट्वाकार तथा हरित वर्ण के होते हैं। चर्मफल ०.५ सें० मी० या ⅕ इंच तक लम्वे होते हैं। जड़ों का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पियाराँगा के मूल ललाई लिये पीले रंग के १५ सें०मी० से २० सें०मी० या ६ से ८ इंच तक लम्वे, अंगुलि के वरावर मोटे तथा स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं। मूल-त्वक् चिकनी, लम्वाई के रुख झुर्रीदार तथा पीताभ भूरे रंग की होती है। काष्ठीय भाग कड़ा तथा चमकीले पीले रंग का, जल में भिगोने पर पीला रंग आ जाता है; आपाततः देखने में मुलेठी के टुकड़ों की भाँति मालूम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पियाराँगा को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – पियाराँगा की जड़ों में भी ममीरा एवं दारुहरिद्रा में पाया जाने वाला वर्वेरीन (*Berberine*) नामक तिक्त ऐल्केलाइड् पाया जाता है।

०.५ सें० मी० $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{5}$ इंच) और पकने पर पीला होता है। पीलु की हरी पत्तियों को ऊंट बड़े चाव से खाते हैं किन्तु दूसरे जानवर नहीं छूते।

उपयोगी अंग – फल, बीजोत्थ तैल, मूलत्वक् एवं पत्र।

मात्रा – फलरस—$\frac{1}{2}$–१ तोला।

मूलत्वक्—३ ग्राम से ११.६ ग्राम या ३ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – छोटे पीलु (*S. persica*) का फल (*Berry*) अपेक्षाकृत छोटा, चिकना तथा रसदार होता है। बड़े पीलु (*S. oleoides*) का फल इससे बड़ा तथा पीले रंग का होता है। बीजों में एक उग्र गंध आती है और स्वाद में यह चन्द्रशूर की भाँति होते हैं। तैल–पीलु का तेल (खांखण का तेल) घी की तरह जमने वाला तथा चमकीले हरे रंग का होता है और इसमें एक तीक्ष्ण गंध होती है। बाजारों में मिलने वाले तेल में अन्य अपद्रव्यों का मिलावट होता है जिससे यह हरिताभ पीत रंग का होता है। मूलत्वक्–ताजी छाल हल्के भूरे रंग की तथा प्रायः चिकनी होती है। इस पर जगह-जगह छोटे-छोटे उत्सेध होते हैं। अन्तर्वस्तु सफेद तथा मुलायम और स्वाद में उष्ण एवं तीक्ष्ण होता है। तोड़ने पर छाल खट से टूटती है।

संग्रह एवं संरक्षण – तैल को चौड़े मुँह की अम्बरी शीशियों में रख कर शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए। मूलत्वक् मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – मूलत्वक् में राल, रंजक तत्त्व, ट्राइ-मेथिलैमीन (*Trimethylamine*), सैल्वेडोरीन नामक क्षारोद तथा भस्म (२७%) प्राप्त होती है, जिसमें प्रचुर मात्रा में क्लोरीन पायी जाती है। फल में शर्करा, वसा एवं रंजक तत्त्व आदि और बीजों में (विशेषतः वृद्ध पीलु के) काफी मात्रा में वसा तथा कुछ रंजक तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – तैल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – पीलु तिक्त, कटु, कटु विपाकी, तीक्ष्ण, किंचित् स्निग्ध, सारक, शिरोविरेचन, विरेचनोपग, ज्वरहर, पित्तकर, कफवातहर, रक्तपित्तशामक तथा अर्शोघ्न होता है। छोटा पीलु कटु, कषाय, खटमीठा, स्वादिष्ठ, सारक, दीपन और गुल्म तथा अर्श का नाश करने वाला है। बड़ा पीलु मधुर, वृष्य, रोचन, दीपन, पित्तप्रशमन तथा आमपाचन एवं विषघ्न होता है। छोटे पीलु की पत्तियाँ सनाय-जैसी रेचक होती हैं और बड़े पीलु की पत्तियाँ उष्ण वीर्य, वातनाशक, मूत्रजनन, और क्षीर जनन हैं। संधिवात में तैल का मालिश करने से वेदना का शमन होता है।

विशेष – चरकोक्त शिरोविरेचन, विरेचन (सू० अ० २), विरेचनोपग तथा ज्वरहर महाकषाय (सू० अ० ४) एवं कटु स्कन्धोक्त (वि० अ० ८) द्रव्यों में पीलु का भी उल्लेख है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) शिरोविरेचन द्रव्यों में पीलुपुष्प का पाठ है।

पुदीना

नाम। सं०–पूतिहा, पुदिनः, रोचनी। हिं०–पुदीना। बं०–पुदिना। म०–पुदिना। गु०–फुदीनो। फा०–पूदिनः, पूदीनः। अ०–फूतनज, फूदनज। ले०–(१) मेन्था साटीवा *Mentha sativa Linn.* (२) मेन्था स्पीकाटा (*Mentha spicata Linn.*) (पर्याय–मेन्था विरिडिस *Mentha viridis Linn.*)। **वक्तव्य** – 'मेन्था' लेटिन शब्द यूनानी 'मिन्था' (एक कुमारी) से व्युत्पन्न है। मेन्था का अरबी-रूपान्तर मेन्सा है, जिसे मख्जन और मुहीत के फूदनज के प्रकरण में प्रमादवश 'मशी' लिखा है। पूदीना का फारसी नाम 'पूद' है, जिसका अरबी रूपान्तर 'फूदानज–पूदानज—पोदानज़' है। इन्हीं नामों से पूदीना या पोदीना आदि संज्ञाएँ बनी प्रतीत होती हैं।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*))।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में पुदीना की खेती की जाती है। इसकी पत्तियाँ चटनी आदि के काम में ली जाती हैं। ताजा पुदीना तरकारी बेचने वालों के यहाँ सदैव (विशेषतः गर्मी के दिनों में) सर्वत्र मिलता है। घरेलू खर्च के लिए प्रायः इसे गृह-उद्यानों में भी लगाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – यह भूमि पर फैलने वाला एक प्रसिद्ध सुगंधित क्षुद्र क्षुप है। एक पौधा लगा देने पर उससे अन्तर्धावी काण्डों (*Stolons*) द्वारा बढ़ता जाता है। काण्ड कोमल एवं पत्रबहुल होता है। पत्तियाँ अवृन्त, रूपरेखा में भालाकार से आयताकार (*Oblong*) तथा अग्र पर नुकीली होती हैं। पत्रतट दन्तुर-से (*Coarsely dentate*) होते हैं। पुष्पदण्ड मृदु होता है, जिसके चारों ओर फूलों के गुच्छे होते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र।

मात्रा – स्वरस—$\frac{1}{2}$ से २ तोला।

अर्क—२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पुदीने की अनेक अन्य जातियाँ भी पायी जाती हैं। उत्पत्तिस्थान भेद से इनको जंगली पुदीना (पूदिनः वर्री,) पहाड़ी पुदीना, (पूदिनः कोही) तथा जलपुदीना (पूदिनः नहरी) कहते हैं। साधारणतया एक भेद दूसरे का प्रतिनिधि हो सकता है। औषधीय एवं आहारोपयोग के लिए उद्यानज (पूदिनः बुस्तानी) या बोया हुआ पुदीना अधिक उत्तम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – ताजा पुदीना प्रायः सर्वदा एवं सर्वत्र सुलभ है। संग्रह के लिए पत्तियों को सुखा कर मुखबन्द पात्रों में रखें।

संगठन – पुदीने की पत्तियों एवं पुष्प-मंजरी में एक सुगन्धित उड़नशील तैल, राल, निर्यास (गोंद) एवं कषाय सत्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ३–६ महीना।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवात शामक, वेदनास्थापन, दुर्गन्ध नाशक, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, रोचन, दीपन, छर्दिनिग्रहण, वातानुलोमन, कृमिघ्न, हृदयोत्तेजक, कफ-निस्सारक, मत्रल, स्वेदन, ज्वरघ्न, गर्भाशयोत्तेजक, विषघ्न आदि। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है।

मुख्य योग – अर्क पुदीना, माजूने फ़ूतंजी।

विशेष – मेंथा पीपेरीटा (*Mentha piperita Linn.*) भी पूदीने की ही एक प्रजाति है, जिससे सत पुदीना (मेंथॉल *Menthol*) प्राप्त किया जाता है।

पुनर्नवा (रक्तपुनर्नवा–गदहपूरना)

नाम। सं०–पुनर्नवा, वृश्चीर, शोथघ्नी। हिं०–गदहपूरना, विष(स) खपरा, पथरी, ठोकरी। पं०–इटसिट। बं०–पुनर्नवा, गदापुण्या। म०–घेटुली, खापरा। गु०–राती साटोडी, वसेडो। मा०–साटी। संथाल–ओहेक अड़ा। अ०–हन्दकूकी। अं०–स्प्रेडिंग हाग्-वीड् (*Spreading Hogweed*)। ले०–बोएर्हाविआ डीफ्फूजा *Boerhaavia diffuse Linn.* (पर्याय–*B. repens L.*)।

वानस्पतिक कुल – पुनर्नवा-कुल (निक्टाजिनासे *Nyctaginaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में घास की भाँति उगती है। प्रायः परती जमीन तथा सडकों के किनारे मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – पुनर्नवा के छोटे-छोटे पौधे होते हैं, जिसकी जड़ प्रायः बहुवर्षायु होती है। प्रतिवर्ष वर्षा में नये पौधे निकलते हैं, और ग्रीष्म में सूख जाते हैं। पत्र अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। प्रत्येक पर्व की दोनों पत्तियों में एक छोटी तथा दूसरी बड़ी होती है। पुष्प छोटे-छोटे, सफेद या हल्के गुलाबी रंग के होते हैं, जो प्रायः वृन्तरहित या छोटे वृन्तयुक्त होते हैं। इस प्रकार ४–१० पुष्प छत्रक-सम गुच्छकों (*Umbels*) में स्थित होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत लम्बे डंठल पर धारण किये जाते हैं। फल छोटे ०.६२५ सें० मी० या $\frac{1}{4}$ इंच लम्बे होते हैं, जिनमें चौलाई की तरह बीज भरे होते हैं। शीत काल में पुष्प और फल आते हैं। फलों में कुलफा की भाँति काले-काले बीज भरे होते हैं। **पुनर्नवामूल**–गदहपूरना की जड़ प्रायः ३० सें० मी० या १ फुट तक लम्बी, ताजी अवस्था में अंगुली के बराबर मोटी एवं गूदेदार तथा २–३ शाखाओं से युक्त होती है। स्वाद में यह कुछ तीती (तिक्त) एवं उत्क्लेशकारि (*Nauseous*) होती है। पुनर्नवा पंचांग में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं।

स्थानापन्न द्रव्य एवं मिलावट – श्वेत जाति का वर्षाभू (विषखपरा या पथरी) गुण-कर्म की दृष्टि से पुनर्नवा से बिलकुल मिलता-जुलता है, अतएव पुनर्नवा के स्थानापन्न द्रव्य के रूप में इसका उपयोग कर सकते हैं। इसका वानस्पतिक नाम ट्रिआंथेमा पोर्टुलाकास्ट्रम *Trianthema portulacastrum Linn.* (पर्याय–*T. monogyna L.*) है। उक्त औषधि इसी का सफेद भेद (*white variety*) होती है। इसके पौधे सर्वत्र भारतवर्ष में पाये जाते हैं और वर्षा का पानी पड़ते ही उगते है तथा जमीन पर छा जाते हैं। शाखाएँ कोमल, गूदेदार रूपरेखा में कुछ कुछ कोणाकार तथा अनेक प्रशाखाओं से युक्त होती हैं। पत्तियाँ मोटी, चौड़ी लट्वाकार या गोलाकार तथा अग्र पर लोमयुक्त (*Apiculate*) होती हैं, जो शाखाओं पर अभिमुख क्रम से नीचे ऊपर तिरछे रूप से (*Obliquely opposite*) स्थित होती हैं। इनमें ऊपर वाली पत्ती नीचे वाली से बड़ी १.८७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० लम्बी तथा १.८७५ से ३.१२५ सें० मी० चौड़ी ($\frac{3}{4}$–१ इंच लम्बी, $\frac{3}{4}$–१। इंच चौड़ी) होती है। पर्णवृन्त $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ इंच लम्बे तथा कोमल होते हैं। पुष्प छोटे तथा विनाल

०.५ सें० मी० $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{5}$ इंच) और पकने पर पीला होता है। पीलु की हरी पत्तियों को ऊंट बड़े चाव से खाते हैं किन्तु दूसरे जानवर नहीं छूते।

उपयोगी अंग – फल, बीजोत्थ तैल, मूलत्वक् एवं पत्र।

मात्रा – फलरस—$\frac{1}{2}$–१ तोला।

मूलत्वक्—३ ग्राम से ११.६ ग्राम या ३ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – छोटे पीलु (*S. persica*) का फल (*Berry*) अपेक्षाकृत छोटा, चिकना तथा रसदार होता है। बड़े पीलु (*S. oleoides*) का फल इससे बड़ा तथा पीले रंग का होता है। बीजों में एक उग्र गंध आती है और स्वाद में यह चन्द्रशूर की भाँति होते हैं। तैल–पीलु का तेल (खाखण का तेल) घी की तरह जमने वाला तथा चमकीले हरे रंग का होता है और इसमें एक तीक्ष्ण गंध होती है। बाजारों में मिलने वाले तेल में अन्य अपद्रव्यों का मिलावट होता है जिससे यह हरिताभ पीत रंग का होता है। मूलत्वक्–ताजी छाल हल्के भूरे रंग की तथा प्रायः चिकनी होती है। इस पर जगह-जगह छोटे-छोटे उत्सेध होते हैं। अन्तर्वस्तु सफेद तथा मुलायम और स्वाद में उष्ण एवं तीक्ष्ण होता है। तोड़ने पर छाल खट से टूटती है।

संग्रह एवं संरक्षण – तैल को चौड़े मुँह की अम्बरी शीशियों में रख कर शीतल एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए। मूलत्वक् मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – मूलत्वक् में राल, रंजक तत्त्व, ट्राइ-मेथिलैमीन (*Trimethylamine*), सैल्वेडोरीन नामक क्षारोद तथा भस्म (२७%) प्राप्त होती है, जिसमें प्रचुर मात्रा में क्लोरीन पायी जाती है। फल में शर्करा, वसा एवं रंजक तत्त्व आदि और बीजों में (विशेषतः वृद्ध पीलु के) काफी मात्रा में वसा तथा कुछ रंजक तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – तैल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – पीलु तिक्त, कटु, कटु विपाकी, तीक्ष्ण, किंचित् स्निग्ध, सारक, शिरोविरेचन, विरेचनोपग, ज्वरहर, पित्तकर, कफवातहर, रक्तपित्तशामक तथा अर्शोघ्न होता है। छोटा पीलु कटु, कषाय, खटमीठा, स्वादिष्ठ, सारक, दीपन और गुल्म तथा अर्श का नाश करने वाला है। बड़ा पीलु मधुर, वृष्य, रोचन, दीपन, पित्तप्रशमन तथा आमपाचन एवं विषघ्न होता है। छोटे पीलु की पत्तियाँ सनाय-जैसी रेचक होती हैं और बड़े पीलु की पत्तियाँ उष्ण वीर्य, वातनाशक, मूत्रजनन, और क्षीर जनन हैं। संधिवात में तैल का मालिश करने से वेदना का शमन होता है।

विशेष – चरकोक्त शिरोविरेचन, विरेचन (सू० अ० २), विरेचनोपग तथा ज्वरहर महाकषाय (सू० अ० ४) एवं कटु स्कन्धोक्त (वि० अ० ८) द्रव्यों में पीलु का भी उल्लेख है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) शिरोविरेचन द्रव्यों में पीलुपुष्प का पाठ है।

पुदीना

नाम। सं०–पूतिहा, पुदिनः, रोचनी। हिं०–पुदीना। बं०–पुदिना। म०–पुदिना। गु०–फुदीनो। फा०–पूदिनः, पूदीनः। अ०–फूतनज, फूदनज। ले०–(१) मेन्था साटीवा *Mentha sativa Linn.* (२) मेन्था स्पीकाटा (*Mentha spicata Linn.*) (पर्याय–मेन्था विरिडिस *Mentha viridis Linn.*)। **वक्तव्य** – 'मेन्था' लेटिन शब्द यूनानी 'मिन्था' (एक कुमारी) से व्युत्पन्न है। मेन्था का अरबी-रूपान्तर मेन्सा है, जिसे मख्जन और मुहीत के फूदनज के प्रकरण में प्रमादवश 'मशी' लिखा है। पूदीना का फारसी नाम 'पूद' है, जिसका अरबी रूपान्तर 'तूदानज–पूदानज़—पोदानज़' है। इन्हीं नामों से पूदीना या पोदीना आदि संज्ञाएँ बनी प्रतीत होती हैं।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*))।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में पुदीना की खेती की जाती है। इसकी पत्तियाँ चटनी आदि के काम में ली जाती हैं। ताजा पुदीना तरकारी बेचने वालों के यहाँ सदैव (विशेषतः गर्मी के दिनों में) सर्वत्र मिलता है। घरेलू खर्च के लिए प्रायः इसे गृह-उद्यानों में भी लगाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – यह भूमि पर फैलने वाला एक प्रसिद्ध सुगंधित क्षुद्र क्षुप है। एक पौधा लगा देने पर उससे अन्तर्वाही काण्डों (*Stolons*) द्वारा बढ़ता जाता है। काण्ड कोमल एवं पत्रबहुल होता है। पत्तियाँ अवृन्त, रूपरेखा में भालाकार से आयताकार (*Oblong*) तथा अग्र पर नुकीली होती हैं। पत्रतट दन्तुर-से (*Coarsely dentate*) होते हैं। पुष्पदण्ड मृदु होता है, जिसके चारों और फूलों के गुच्छे होते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र।

मात्रा – स्वरस—$\frac{1}{2}$ से २ तोला।

अर्क—२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पुदीने की अनेक अन्य जातियाँ भी पायी जाती हैं। उत्पत्तिस्थान भेद से इनको जंगली पुदीना (पूदिनः बर्री,) पहाड़ी पुदीना, (पूदिनः कोही) तथा जलपुदीना (पूदिनः नहरी) कहते हैं। साधारणतया एक भेद दूसरे का प्रतिनिधि हो सकता है। औषधीय एवं आहारोपयोग के लिए उद्यानज (पूदिनः बुस्तानी) या बोया हुआ पुदीना अधिक उत्तम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – ताजा पुदीना प्रायः सर्वदा एवं सर्वत्र सुलभ है। संग्रह के लिए पत्तियों को सुखा कर मुखबन्द पात्रों में रखें।

संगठन – पुदीने की पत्तियों एवं पुष्प-मंजरी में एक सुगन्धित उड़नशील तैल, राल, निर्यास (गोंद) एवं कषाय सत्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ३–६ महीना।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवात शामक, वेदनास्थापन, दुर्गन्ध नाशक, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, रोचन, दीपन, छर्दिनिग्रहण, वातानुलोमन, कृमिघ्न, हृदयोत्तेजक, कफ-निस्सारक, मत्रल, स्वेदन, ज्वरघ्न, गर्भाशयोत्तेजक, विषघ्न आदि। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है।

मुख्य योग – अर्क पुदीना, माजूने फ़ूतंजी।

विशेष – मेंथा पीपेरीटा (*Mentha piperita Linn.*) भी पूदीने की ही एक प्रजाति है, जिससे सत पुदीना (मेंथॉल *Menthol*) प्राप्त किया जाता है।

पुनर्नवा (रक्तपुनर्नवा–गदहपूरना)

नाम। सं०–पुनर्नवा, वृश्चीर, शोथघ्नी। हिं०–गदहपूरना, विष(स) खपरा, पथरी, ठीकरी। पं०–इटसिट। बं०–पुनर्नवा, गदापुण्या। म०–घेटुली, खापरा। गु०–राती साटोडी, वसेडो। मा०–साटी। संथाल–ओहेक अड़ा। अ०–हन्दकूक़ी। अं०–स्प्रेडिंग हाग्-वीड् (*Spreading Hogweed*)। ले०–बोएर्हाविआ डीफ्फूजा *Boerhaavia diffuse Linn.* (पर्याय–*B. repens L.*)।

वानस्पतिक कुल – पुनर्नवा-कुल (निक्टाजिनासे *Nyctaginaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में घास की भाँति उगती है। प्रायः परती जमीन तथा सडकों के किनारे मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – पुनर्नवा के छोटे-छोटे पौधे होते हैं, जिसकी जड़ प्रायः बहुवर्षायु होती है। प्रतिवर्ष वर्षा में नये पौधे निकलते हैं, और ग्रीष्म में सूख जाते हैं। पत्र अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। प्रत्येक पर्व की दोनों पत्तियों में एक छोटी तथा दूसरी बड़ी होती है। पुष्प छोटे-छोटे, सफेद या हल्के गुलाबी रंग के होते हैं, जो प्रायः वृन्तरहित या छोटे वृन्तयुक्त होते हैं। इस प्रकार ४–१० पुष्प छत्रक-सम गुच्छकों (*Umbels*) में स्थित होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत लम्बे डंठल पर धारण किये जाते हैं। फल छोटे ०.६२५ सें० मी० या ¼ इंच लम्बे होते हैं, जिनमें चौलाई की तरह बीज भरे होते हैं। शीत काल में पुष्प और फल आते हैं। फलों में कुलफा की भाँति काले-काले बीज भरे होते हैं। **पुनर्नवामूल**—गदहपूरना की जड़ प्रायः ३० सें० मी० या १ फुट तक लम्बी, ताजी अवस्था में अंगुली के बराबर मोटी एवं गूदेदार तथा २–३ शाखाओं से युक्त होती है। स्वाद में यह कुछ तीती (तिक्त) एवं उत्क्लेशकारि (*Nauseous*) होती है। पुनर्नवा पंचांग में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं।

स्थानापन्न द्रव्य एवं मिलावट – श्वेत जाति का वर्षाभू (विषखपरा या पथरी) गुण-कर्म की दृष्टि से पुनर्नवा से बिलकुल मिलता-जुलता है, अतएव पुनर्नवा के स्थानापन्न द्रव्य के रूप में इसका उपयोग कर सकते है। इसका वानस्पतिक नाम ट्रिआंथेमा पोर्टुलाकास्ट्रुम *Trianthema portulacastrum Linn.* (पर्याय–*T. monogyna L.*) है। उक्त औषधि इसी का सफेद भेद (*white variety*) होती है। इसके पौधे सर्वत्र भारतवर्ष में पाये जाते हैं और वर्षा का पानी पड़ते ही उगते हैं तथा जमीन पर छा जाते हैं। शाखाएँ कोमल, गूदेदार रूपरेखा में कुछ कुछ कोणाकार तथा अनेक प्रशाखाओं से युक्त होती हैं। पत्तियाँ मोटी, चौड़ी लट्वाकार या गोलाकार तथा अग्र पर लोमयुक्त (*Apiculate*) होती हैं, जो शाखाओं पर अभिमुख क्रम से नीचे ऊपर तिरछे रूप से (*Obliquely opposite*) स्थित होती हैं। इनमें ऊपर वाली पत्ती नीचे वाली से बड़ी १.८७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० लम्बी तथा १.८७५ से ३.१२५ सें० मी० चौड़ी (¾–१ इंच लम्बी, ¾–१। इंच चौड़ी) होती है। पर्णवृन्त ¼–½ इंच लम्बे तथा कोमल होते हैं। पुष्प छोटे तथा विनाल

(*Sessile*) और एकल (*Solitary*) क्रम से निकले होते हैं, जो पत्रकोणों में स्थित होते हैं। पुंकेसर संख्या में १०–२० तक होते हैं। फल (*Capsule*) १ से ५ वीजयुक्त होते हैं। वीज मटमैले काले रंग के रूपरेखा में वृक्काकार होते हैं, जिनपर एक केन्द्रिक उन्नत लहरदार रेखाएँ होती हैं। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%।

संग्रह एवं संरक्षण – शुष्क पंचाङ्ग को अनार्द्र-शीतल स्थान में मुखबंद डिब्बों में रखें।

संगठन – उक्त दोनों वनस्पतियों में पुनर्नवीन (*Punarnavine* : ०.०१ से ०.०४%) नामक ऐल्केलाइड् पाया जाता है। पुनर्नवा में (०.५%) पोटासियम् नाइट्रेट, सल्फेट्स एवं क्लोराइड्स तथा तैल भी पाये जाते हैं। वर्षाभू में एक अन्य ऐल्केलायड् ($C_{32}N_{46}O_6N_2$) भी पाया जाता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा–स्वरस १ से २ तोला तक।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–मधुर, तिक्त, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषहर, लेखन, शोथहर, दीपन, अनुलोमन, रेचन, अधिक मात्रा में वामक, हृद्य, रक्तवर्धक, शोथहर, कासहर, मूत्रजनन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न, रसायन, विषघ्न। वीज–वृष्य हैं। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–वक्ष के लिए। निवारण–शहद।

मुख्य योग – पुनर्नवादि मण्डूर, पुनर्नवासव, पुनर्नवार्क, पुनर्नवाष्टक, पुनर्नवादि क्वाथ एवं चूर्ण।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) स्वेदोपग, अनुवासनोपग, कासहर तथा वयःस्थापन महाकषायों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) विदारिगन्धादि गण के द्रव्यों में पुनर्नवा भी है।

पुष्करमूल

नाम। सं०–पुष्करमूल, पद्मपत्रक, काश्मीर, कुष्ठभेद। हिं०–पोहकरमूल। काश्मीर–पोकर, पोष्कर। म०, गु०–पुष्करमूल, पोहकरमूल। ले०–ईनूला रासेमोसा (*Inula racemosa Hook. f.*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़ीटे *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेशों में (५,००० से १४,००० फुट की ऊंचाई तक) विशेषतः कश्मीर में (५,००० से ७,००० फुट की ऊंचाई तक)। कश्मीर में सरकारी नियंत्रण में इसकी खेती भी की जाती है। भारतीय बाजारों में पोहकरमूल विशेषतः कश्मीर से ही आता है। अमृतसर इसका प्रधान विक्री केन्द्र है।

संक्षिप्त परिचय – पुष्करमूल के शाकीय किन्तु वड़े पौधे होते हैं। काण्ड ३० सें० मी० से १२०–१८० सें० मी० या १ से ४–६ फुट तक ऊंचा, कुछ खुरखुरा एवं नालीदार होता है। पत्तियाँ अधःभाग (मल के पास) वड़ी २० सें० मी०–४५ सें० मी०×१२.५ सें० मी०–२० सें० मी० (८ से १८ इंच×५ से ८ इंच) रूपरेखा में अंडाकार भालाकार तथा लम्बे पर्णवृन्त (डंठल) पर धारण की जाती हैं। काण्डीय पत्र रूपरेखा में आयताकार-से तथा आधार पर गहरे कटाव युक्त होते हैं जो कुछ काण्ड-संसक्त होते हैं। पुष्प मुण्डक अनेक तथा वड़े (व्यास में ३.७५ से ५ सें० मी० या १॥–२ इंच तक) पीले रंग के आपाततः देखने में सूर्यमुखी की भाँति होते हैं। युतोत्फल लगभग ४ मि० मी० या ⅙ इंच लम्बा, कोमल एवं लोमरहित होते हैं। पुष्करमूल की जड़ का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – २५० मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम या २ से १० रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पुष्करमूल की जड़ आकृति में कुछ-कुछ कुष्ठ से मिलती-जुलती है। तोड़ने पर यह सख्त एवं चटकदार टूटती है, और ताजी अवस्था में टूटा हुआ तल सफेदी लिए मटमैला-सा होता है। इसके अतिरिक्त यह कुछ सुषिर भी मालूम होता है। कुष्ठ का तोड़ नरम एवं भुरभुरा होता है। पुष्करमूल में कपूर की-सी कुछ गंध लिये मीठी-मीठी वास आती है, जो कई वर्षो तक वनी रहती है। इसमें कीड़ा नहीं लगता। पुष्करमूल स्वाद में कुछ चरपरा कटुगंध युक्त होता है और कंठ में लगता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कभी-कभी पुष्करमूल में कुष्ठ के डंठल के टुकड़े मिलाये जाते हैं। ओरिस रूट का व्यवहार भी पुष्करमूल के नाम से नहीं होना चाहिए। यह भी कश्मीर में होता है, जिसे वहाँ मजारमुंड और मजारपोश कहते हैं। यूनानी चिकित्सा में इसे ईरसा या सौसन आदि नाम दिये गये हैं। यह किसी कदर आयु-

वैदीय निघण्टुओं की हैमवती वचा हो सकती है, किन्तु पुष्करमूल के नाम से इसको व्यवहृत करना भयंकर भूल है।

संग्रह एवं संरक्षण – पुष्करमूल का संग्रह बीज पक जाने के बाद ग्रीष्म के अन्त में या शरद् ऋतु के प्रारम्भ में किया जाता है। पुष्करमूल को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – पुष्करमूल में एक उत्पत् तैल तथा कुछ ऐल्केलाइड पाया जाता है। इसके अतिरिक्त अल्पतः बेंजोइक एसिड भी होता है।

वीर्यकालावधि – कई वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, नाड़ीबल्य, कास-श्वासहर, हिक्कानिग्रहण, पार्श्वशूलनाशक, दीपन-पाचन, अनुलोमन, कटुपौष्टिक, वाजीकर, गर्भाशयोत्तेजक, आमपाचन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, आदि।

मुख्य योग – पुष्करमूलादि चूर्ण, पुष्करादि चूर्ण।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) श्वासहर एवं हिक्का निग्रहण महाकषायों में पुष्करमूल भी है। डीमक आदि पाश्चात्य लेखक और उनकी देखा-देखी वनौषधि दर्पणकारादि ने "ऑरिस रूट *Oris Root* (*Iris germanica Linn. or Iris species. Family : Iridaceae*)" को, जिसे यूनानी ग्रंथकार ईरसा या सोसन कहते हैं, पुष्करमूल माना है। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः कश्मीर से आने वाला पुष्करमूल ईनूला रासेमोसा *Inula racemosa* Hook.f. (*Family* : *Compositae*) की ही जड़ होती है। "कुश्तेशामी" जिसे 'जंजबीले शामी' या रासन (*Inula helenium Linn.*) भी कहते हैं, पृथक् द्रव्य है। स्वरूपतः एवं गुणतः बहुत-कुछ समान होने के कारण ही पुष्कर मूल को भाव-प्रकाशकार ने 'कुष्ठभेद' लिखा है।

पूग–दे०, 'सुपारी'।

पेठा–दे०, 'कूष्माण्ड'।

प्याज (पलाण्डु)

नाम। सं०–पलाण्डु। हिं०–प्याज। बं०–पेंयाज। म०–कांदा। गु०–डुंगली, डुंगरी, कांदो। पं०–गंडा। सिंध–वसर। अ०–बस्ल। फा०–पियाज। अं०–ऑनियन *Onion*। ले०–आल्लिअम सेपा (*Allium cepa Linn.*)। लेटिन नाम वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसे: *Liliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में प्याज की लम्बे परिमाण में खेती की जाती है। इसका प्रपुष्ट पत्रक कंद (*Bulbs*) बाजारों में बारहों महीने शाक की दूकानों पर, तथा बीज पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – प्याज एक प्रसिद्ध कंद शाक है। इसके द्विवर्षायु शाकीय या कोमल पौधे (*Biennial herb*) होते हैं। पत्तियाँ रम्भाकार, मांसल तथा खातोदर (*Hollow*) होती हैं। पुष्प छोटे तथा सफेद रंग के होते हैं, जो छत्रकाकार मुण्डकों (*Umbels*) में लगते हैं। फल सामान्य स्फोटी तथा त्रिकोष्ठीय (*3-celled*) होते हैं, जिनमें छोटे-छोटे काले बीज भरे होते हैं। जब पत्तियाँ मुरझा कर सूख जाती हैं, कन्द खोद कर निकाल लिये जाते हैं। कन्दों का तथा कोमल हरी पत्तियों का शाक खाया जाता है। कभी-कभी पुष्पमुण्डकों में छोटी-छोटी अप्रगल्भ गांठदार कलिकाएँ (*Bulbils*) भी लगती हैं। बोने के लिए उक्त कलिकाओं एवं बीज तथा कन्द तीनों का ही प्रयोग किया जाता है। रंगभेद से प्याज का कन्द सफेद, पीला, लाल तथा भूरा और रूपरेखा में गोला, चपटा तथा शंक्वाकार (*Conical*) होता है। सफेद प्याज की अपेक्षा लाल प्याज अधिक तीक्ष्ण होता है। इसके बीजों को अरबी एवं फारसी में क्रमशः 'बज्रुलबस्ल' एवं 'तुख्मेपियाज' कहते हैं।

उपयोगी अंग – कन्द एवं बीज।

मात्रा–कन्दस्वरस—१ से ३ तोला।

बीजचूर्ण—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – कन्द एवं बीजों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – कंद में (पूरे पौधे में भी) एक उग्रगंधी एवं चरपरा उत्पत् तैल (पंचाङ्ग का ०.०५%) तथा गंधक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्टार्च, कैल्सियम, लौह एवं विटामिन '*A*', '*B*' एवं '*C*' भी पाये जाते हैं। कंद के बाहरी छिलके में क्वर्सेटीन नामक पीत रञ्जक तत्त्व भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। रस–मधुर, कटु। विपाक–मधुर। वीर्य-उष्ण। कर्म–वातहर, तथा पित्त एवं कफकारक, बाह्य प्रयोग से वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोथ

पाचन, लेखन, त्वग्दोषहर, (आभ्यन्तर सेवन से) दीपन, रोचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, अमेध्य, हृदयोत्तेजक छेदन, कफनिस्सारक, मूत्रजनन, शुक्रजनन, वाजीकरण, आर्त्तवजनन, वल्य, त्वग्दोषहर, रक्तस्तम्भक, आदि। यूनानी मतानुसार कन्द तीसरे दर्जे में गरम एवं पहले दर्जे में खुश्क तथा बीज दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क। बीज विशेषतः बाजीकर एवं लेखन हैं। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–सिरका, नमक, मधु और अनार का रस।

मुख्य योग – माजून प्याज।

प्रसारिणी (गन्धप्रसारनी)

नाम। सं०–प्रसारिणी। हिं०–गन्धप्रसारनी, पसरन। स्वर०–गन्धाली, गन्ध-भादुली, गोलालरंग। बं०–गंधभादुलिया। ले०–पेडेरिआ फेटीडा (*Paederia foetida Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – मञ्जिष्ठा-कुल (रूबिआसे: *Rubiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – मध्यवर्ती एवं पूर्वी हिमालय प्रदेश में ५,००० फुट की ऊंचाई तक विशेषतः नेपाल, आसाम एवं बंगाल (पूरब में मलाया एवं पूर्वी द्वीपसमूह तक) में इसकी स्वयंजात लताएँ पायी जाती हैं। बंगाल में प्रचुरता से होती है। सुखाया हुआ पत्र पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – गंधप्रसारनी की सुदीर्घ प्रसरणशील या आरोही लताएँ होती हैं। ऊंचे वृक्षों का सहारा पाकर इसकी लताएँ काफी ऊंचाई तक चढ़ जातीं एवं ऊपर खूब फैल कर छा जाती हैं। पत्तियाँ लट्वाकार या भालाकार अथवा आयताकार लट्वाकार, नुकीली अथवा कुण्ठिताग्र, ५ से ७.५ सें० मी० (२–३ इंच) लम्बी, २.५ से ३.७ सें० मी० (१–१॥ इंच) चौड़ी, तथा अभिमुख क्रम से स्थित होती हैं। दोनों पत्तियों के बीच में प्रति ग्रंथि पर दो-दो संयुक्त उपपत्र होते हैं। पर्ण-वृन्त १.२५ से ३.७५ सें० मी० (॥–१॥ इंच) लम्बे होते हैं। वर्षान्त या शरद् के प्रारम्भ में पुष्प लगते हैं, जो रूपरेखा में फनेल के आकार के तथा बैंगनी रंग के होते हैं, और प्रायः तीन-तीन के गुच्छों में लगभग १५ सें० मी० (६ इंच) लम्बी मञ्जरियों में निकलते हैं। जाड़ों में फल लगते हैं, जो गोलाकार, छोटे तथा पक्षयुक्त होते हैं, जिनमें छोटे-छोटे दानेदार बीज निकलते हैं। गंध-प्रसारनी के पंचाङ्ग को मसलने पर बड़ी दुर्गन्ध (कार्बन बाइसल्फाइड-जैसी) आती है; किन्तु उबालने से यह दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। प्रसारिणी की लताएँ प्रायः आर्द्र स्थानों में पायी जाती हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा–स्वरस—१ से २ तोला।
क्वाथ—४ से ८ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – प्रसारिणी का काण्ड कड़ा (*Ligneous*) और कोमल भाग चिकना होता है। विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य अधिकतम ३%। सूखी पत्तियों का चूर्ण हरिताभ भूरे रंग का तथा अत्यंत दुर्गन्धित होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – लता का संग्रह सूखने के पूर्व करना चाहिए। अतएव जाड़े में इसका संग्रह कर छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – पंचाङ्ग में एक उड़नशील तैल, जिसमें ताजे पौधे-जैसी दुर्गन्ध, अल्फा एवं बीटा पिडेरीन (*Paederine*) नामक दो ऐल्केलाइड्स भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–५–६ मास।

स्वभाव–गुण–गुरु, सर। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, नाड़ीबल्य, वातानुलोमन, वेदनास्थापक, सारक, रक्तशोधक, बल्य एवं वृष्य।

मुख्य योग – प्रसारिणी तैल।

विशेष – वातव्याधि में तथा आमवात के रोगियों को प्रसारिणी का पत्रशाक एक उत्तम पथ्य है।

प्रियंगु (गंधप्रियंगु)

नाम। सं०–प्रियंगु, गंधप्रियंगु, फलिनी। हिं०, बाजार–फूल प्रियंगु। (देहरादून, गढ़वाल)–डइया। बं०–मठुरा। को०–बुंडुढ। संथा०–बूढ़ीघासी। ले०–काल्लीकार्पा माक्रोफ़िल्ला (*Callicarpa macrophylla Vahl.*)।

वानस्पतिक कुल–निर्गुण्डी-कुल (वेर्बेनासे : *Verbenaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई में कश्मीर से आसाम तक (१८२८.८ मीटर या ६,००० फुट की उंचाई तक) तथा बंगाल, विहार में इसके गुल्म जंगलों के किनारे, घाट और ऊंची चढ़ाइयों पर, खुले मैदान तथा परती जमीन में पाये जाते हैं। गंधप्रियंगु, इसी के प्रियंगु-धान्यसदृश पुष्पकलिकाएँ या छोटे-छोटे फल होते हैं, जो बाजार में 'फूल प्रियंगु' के नाम से बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – गंधप्रियंगु के मजबूत गुल्म होते हैं, जिनकी शाखाएँ अनियमित रूप से फैली रहती हैं। शाखा, पत्ती

तथा पुष्पव्यूह आदि भागों में तूल सदृश सघन रोम होते हैं। पत्तियाँ १२.५ से २५ सें० मी० या ५–१० इंच लम्बी, अण्डाकार, कभी-कभी लट्वाकार प्रासवत् तथा लम्बाग्र होती हैं, जिनके किनारे (पत्रतट) गोल-दन्तुर होते हैं। पर्णवृन्त ⅓–½ इंच लम्बा होता है। वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं, जो छोटे-छोटे, हल्के गुलाबी रंग के होते हैं, और पत्रकोणोद्भूत, द्विविभक्त, मुण्डाकार, सघन गुच्छकों (*Dense-flowered globose axillary compound cyme*) में निकलते हैं, जो २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे तथा व्यास में लगभग ५ सें० मी० या २ इंच होते हैं। डालियाँ पुष्पगुच्छों से लद जाती हैं और उनके भार से झुकी रहती हैं। पुष्प के बाह्य एवं आभ्यन्तर कोष ४–४ खण्डों वाले, पुंकेशर ४ तथा डिम्बाशय भी ४–कोषीय होता है। अष्ठिलफल (*Drupe*) मांसल, श्वेत तथा चार गुठलिकाओं (4 *one-celled pyrenes*) से युक्त होता है, और पकने पर ऊपरी पृष्ठ कुछ स्पञ्जाकार तथा रसदार मांसल (*Spongy-succulent*) होता है। जाड़ों में फल आते हैं। यही फल बाजारों में फूल प्रियंगु के नाम से विकते हैं। इनमें मसलने पर गंध भी होती है।

उपयोगी अंग – फल, पुष्पकलिकाएँ और पत्र।

मात्रा – चूर्ण–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।
पत्र (बाह्य प्रयोग के लिए)–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वास्तव में गंधप्रियंगु से उपर्युक्त ओषधि का ही ग्रहण होना चाहिए। किन्तु बाजारों में तथा अन्य स्थानिक प्रयोगों में प्रियंगु नाम से अन्य द्रव्यों के व्यवहार की भी परम्परा है। (१) फ़ल प्रियंगु, प्रियंगु–बं०, हिं०। ले०–आग्लाइआ रॉक्सबुर्घिआना *Aglaia roxburghiana Miq.* (*Famliy : Meliaceae*)। इसके वृक्ष विशेषतः दक्षिण भारत (कोंकण, कनाड़ा, मलाबार, ट्रावन्कोर, तिन्नेवाली, दकन) आदि में प्रचुरता से पाये जाते हैं। उत्तर भारत में (उड़ीसा आदि) कहीं-कहीं मिलता है। इसके ऊंचे वृक्ष होते हैं। फल लम्बगोल, व्यास में १.२५ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० (½ से ¾ इंच), पकने पर ताजी अवस्था में पीताभ वर्ण के तथा सूखने पर भूरे हो जाते हैं, जिनका वाह्य तल सिकुड़ा एवं झुर्रीदार होता है। अन्दर गुठली होती है, जिसको तोड़ने पर १–२ भूरे बीज निकलते हैं, जिनके चारों ओर हल्का गुलाबी गूदा-सा लगा होता (*Pink fleshy aril*) है। बीज कुछ खट्टे और कषैले होते हैं, सूखने पर इनमें हल्की सुगंधि भी पायी जाती है। (२) गहुला–म०; घऊंला–गु०। महालिब–अ०। बम्ब०–घंउला, महालिब। ले०–प्रूनुस महालेब *Pruns mahaleb Linn.* (तरुणी–कुल : *Rosaceae*)। इसके वृक्ष बलूचिस्तान एवं उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश में होते तथा लगाये जाते हैं। इसके फल आपाततः देखने में बादाम-जैसे किन्तु अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। मग्ज बंबई बाजार में 'घऊंला' नाम से बिकता है, जो चिरौंजी-जैसा, गोधूम वर्ण और सुगंधित होता है। गंधप्रियंगु के प्रतिनिधि द्रव्य के रूप में इसका ग्रहण किया जा सकता है। (३) गांदनी–(१) ब्रीडेलिआ मोन्टाना *Bridelia montana Willd.* (*Euphorbiaceae*); (२) कॉर्डिआ रॉथीआइ *Cordia rothii Roem. & Schult.* (*Boraginaceae*)। उक्त वृक्षों के फल को भी भ्रमवश प्रियंगु कह देते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – छायाशुष्क पक्व फलों को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–तिक्त, कषाय मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–त्रिदोषशामक, दाहप्रशमन, वेदनास्थापन, दीपन, अनुलोमन, स्तम्भन, रक्तशोधक, मूत्रविरजनीय, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, त्वग्दोषहर।

मुख्य योग – प्रियंग्वादि तैल।

फालसा (परूषक)

नाम। सं०–परूषक। हिं०–फालसा, पालसा, फरसिया, पुरुषा। बं०–फल्सा। म०, गु०–फालसा। सिंध–फारवाँ। फा०–फालसः। ले०–ग्रूइआ सुबइनेक्वालिस *Grewia subinequalis DC.* (पर्याय–*G. asiatica Mast.*)।

वानस्पतिक कुल – परूषकादि-कुल (टीलिआसे : *Tiliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में फालसे के वृक्ष लगाये जाते हैं। इसके वृक्ष प्रायः जंगली नहीं मिलते। फालसा के पके फल गर्मियों में बाजारों में बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – फालसे के गुल्म अथवा कभी उपयुक्त परिस्थिति में छोटे वृक्ष होते हैं, जिसकी कोमल शाखाएँ रोमश होती हैं। पत्तियाँ सवृन्त ७.५ से १० सें० मी० या ३-४ इंच लम्बी, अधस्तल पर प्रायः सफेद तथा आरावत् दन्तुर धारवाली होती है। पर्णवृन्त ६.२५ मि० मी० से

१२.५ मि० मी० या ।-॥ इंच लम्बे एक अग्र पर अपेक्षाकृत स्थूल होने से मुद्गराकार होते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncle*) पर्णवृन्त से काफी लम्बे होते हैं, जिनपर छोटे, पीले रंग के पुष्प होते हैं। दलपत्र, पुटपत्रों की अपेक्षा छोटे होते हैं। कुक्षिवृन्त काफी मोटा तथा कुक्षि चार खण्डों युक्त होती है।

उपयोगी अंग – पक्व फल एवं अन्तस्त्वक् (अन्त : छाल)।

मात्रा – फालसा मेवा की भाँति–२ से ५ तोला।

औषधरूप से स्वरस–२ से ३ तोला।

छाल (फाण्ट के लिए)–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – फालसा का प्रगल्भ फल जंगली बेर के बराबर या उससे छोटा होता है। कच्चा फालसा हरा और कसैला, अधपका लाल एवं खट्टा और पूरा पका कालाई लिये लाल एवं खटमिट्ठा होता है। फालसा प्रायः २ प्रकार का मिलता है—(१) यह रसीला, पकने के पूर्व खट्टा और पकने के उपरान्त खटमिट्ठा होता है। इसे फ़ालसा शर्वती कहते हैं। (२) यह कम रसीला, खटमिट्ठा, और बाद में मीठा होता है। इसको फालसा-शकरी कहते हैं। शर्वत निर्माण के लिए खटमिट्ठा फालसा अधिक अच्छा होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – फालसे का शर्वत फसल के समय जब ताजा फल मिलता है, तब बनाना चाहिए। सर्वत्र सुलभ होने से छाल भी ताजी मिल सकती है। संग्रहार्थ इसे छाया-शुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – इसके फल में अम्ल, शर्करा आदि तथा त्वक् में पिच्छिल द्रव्य होता है।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, अम्ल, कषाय। विपाक–कच्चे फल का विपाक अम्ल तथा पके फल का विपाक मधुर होता है। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्त-शामक, रोचन-दीपन, ग्राही, यकृदुत्तेजक (कच्चा फल) तथा तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, विरेचनोपग; हृद्य, रक्तपित्तशामक, कफनिःसारक, बल्य, बृंहण, वृष्य, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, शोथहर। छाल–मूत्रल, दाह-प्रशमन, स्नेहन (*Demulcent*), इक्षुमेहनाशक। यूनानी मतानुसार फालसा दूसरे दर्जे में शीत एवं पहले दर्जे में स्निग्ध तथा पित्त की तीक्ष्णता को दूर करने वाला, रक्त के प्रकोप को शमन करने वाला, उत्क्लेश–वमन और उबकाई को लाभप्रद, उदरसंग्राहक, हृदयबलदायक, उष्ण, यकृदामाशय बलदायक, पित्तज्वरनाशक, विशेषतः पित्तज रोग एवं हृद्द्रवनाशक है। मधुमेह में इसकी अन्तःछालका फाण्ट बहुत उपयोगी होता है। अहित-कर–आनाहकारक। निवारण–गुलकंद, अनीसूं और माजून कम्मून।

मुख्य योग – शर्वत फालसा।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) विरेचनोपग, ज्वरहर एवं श्रमहर महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त मधुरस्कन्ध एवं परुषकादि गण के द्रव्यों में फालसा या परूषक भी है।

बंदाल (देवदाली)

नाम। सं०–जीमूत (क), देवदाली, गरागरी, देवताडक। हिं०–बंदाल, बिंदाल, बंडाल, घघरबेल, सोनैया। बं०–देवताड। पं०–घगडबेल। म०–देवडांगरी। गु०–कुकुड-वेला। सिंध–नेधेजा डेलू। मा०–बंदालडोडा। बम्ब०–कुकुडवेल। ले०–लूफ़्फ़ा एकीनाटा (*Luff echinata Roxb.*)।

वानस्पतिक कुल – कूष्माण्ड-कुल (कूकुरबिटासे : *Cucurbitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेषतः सिंध, गुजरात, बम्बई, देहरादून, उत्तरी अवध, बुंदेलखण्ड, बिहार एवं बंगाल आदि) में बंदाल की जंगली लताएँ पायी जाती हैं। सुखाये हुए पक्व फल पंसारियों के यहाँ भी मिलते हैं। इसके फल बंडालडोडा के नाम से प्रसिद्ध हैं।

संक्षिप्त परिचय – बंदाल की प्रसरणशील लताएँ होती हैं, जिनके काण्ड पतले, पांचकोने वाले तथा केवल काण्ड-ग्रंथियों पर स्पर्श में कर्कश होते हैं, तथा काण्डसूत्र द्वि-विभक्त होते हैं। पत्तियाँ सवृन्त, व्यास में २.५ से ६.२५ सें० मी० या १-२॥ इंच, वृक्काकार गोल, लट्वाकार या हृद्वत्, अखण्डित या विच्छिन्न (५ खण्डों में) तथा दोनों तलों पर रोमश होती हैं, जिससे स्पर्श में यह खुरखुरी मालूम होती हैं। पुष्प सफेद (कभी-कभी पीले) तथा व्यास में १.२५ से २.५ सें० मी० (॥-१ इंच) होते हैं। पुं–पुष्प ५ से २० सें० मी० (२-८ इंच) लम्बी मञ्जरियों में निकलते हैं और उन्हीं पत्रकोणों में एकाकी स्त्रीपुष्प भी निकलते हैं। फल २.५ से ३$\frac{3}{4}$ सें० मी० (१–१$\frac{1}{2}$ इंच) लंबे, दीर्घवृत्ताभ तथा देखने में आपाततः खेखसे के फलों की तरह मालूम होते हैं। औषध्यर्थ इन्हीं का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – फल ।

मात्रा – कटु पौष्टिक–½ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा संशोधनार्थ–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वंदालडोडा २.५ से ३.७५ सें० मी० (१-१॥ इंच) लम्बा, रूपरेखा में दीर्घवृत्ताभ या अंडाकार, पीली हड़ या जायफल के समान किंतु हलके, पोले, धारारहित परंतु खेससे (ककोड़ा) की तरह कण्टकित तथा कुण्ठित शंखाकार अग्र वाला होता है। फलों के ऊपर घने बारीक और नरम काँटे खड़े होते हैं और पक्व फलों की रंगत पिलाई लिये होती है। फलों के अन्दर का अवकाश जालीदार तन्तुओं से पूर्ण होता है, तथा स्थूलतः तीन कोष्ठों में विभक्त-सा मालूम होता है। स्फुटन के समय शंखाकार अग्र ढक्कन की भाँति पृथक् हो जाता है। प्रत्येक फल में लगभग १८ तक बीज निकलते हैं, जो लट्वाकार, चपटे, काले रंग के तथा तलस्पर्श में खुरखुरे होते हैं। बीजत्वक् (*Testa*) बहुत कड़ी होती है तथा अन्दर की मज्जा (मग्ज या गिरी) सफेद होती है। फलों के अन्दर का तन्तुल भाग स्वाद में अत्यंत तिक्त होता है। मुख्यतः वंदाल का सक्रिय अंश यही होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – आपाततः देखने में वंदाल डोडा भी कर्कोटकी या खेखसे के फलों-जैसा मालूम होता है, किन्तु खेखसा का फल तीक्ष्णाग्र और चोंचदार होता है। कहीं-कहीं वंदाल की जाति की एक दूसरी लता (*Luffa graveolens Roxb.*) भी पायी जाती है, जिसके फल भी आपाततः देखने में वंदाल-जैसे होते हैं। किन्तु उक्त लता के काण्डसूत्र ३-४ शाखाओं वाले, पुष्प पीले, पुं–पुष्प गुच्छबद्ध तथा पुंकेशर संख्या में ५ होते हैं, जब कि देवदाली में यह संख्या में केवल तीन तथा पुष्प भी सफेद होते हैं। इसके फल भी देवदाली सदृश काँटेदार होते हैं, किन्तु उक्त कंटकाकार वृद्धियाँ वंदाल की अपेक्षा मुलायम होती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – वंदाल के फलों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए और इस पर एक लेबिल लगाना चाहिए जिसपर 'विष' लिखा हो।

संगठन – वंदाल में लुफ्फीन (*Luffein*) नामक तिक्त सत्व पाया जाता है, जिसकी क्रिया इन्द्रायण में पाये जाने वाले कोलोसिन्थिन् नामक तत्त्व की भाँति तीव्र वामक एवं रेचक (उभयतोभागहर) होती है। बीजों में एक स्थिर तैल पाया जाता है, जो कड़वा नहीं होता।

वीर्यकालावधि – फल–४ वर्ष तक।

स्वभाव – गुण – लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषहर, विशेषतः कफपित्तहर। अल्पमात्रा में यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा कटु पौष्टिक किन्तु अधिक मात्रा में वामक एवं रेचक (उभयतोभागहर) तथा कृमिघ्न एवं विषघ्न होता है; रक्तशोधक, शोथहर, कफनिःसारक, मूत्रल, गर्भाशय-संकोचक, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न आदि। स्थानिक प्रयोग से वंदाल व्रणशोधन एवं रोपण तथा लेखन और (नस्य से) शिरोविरेचन होता है। यूनानी मतानुसार वंदाल तीसरे दर्जे में गरम एवं रुक्ष है। अहितकर–देवदाली एक उग्र स्वरूप की औषधि है। मात्राधिक्य से घातक परिणाम हो सकते हैं। निवारण–स्नेहद्रव्य। कामला एवं कफज शिरोरोग में इसका नस्य उपयोगी होता है। घ्राणाज्ञान, पीनस एवं अपस्मार में इसको पीसकर, गोघृत में मिला कर नाक के अन्दर टपकाते हैं। पीत कामला को नष्ट करने के लिए २-३ वंदाल डोडा को रात्रि में जल में भिगोकर छोड़ देते हैं। प्रातःकाल उसमें से २-३ बूंद पानी लेकर नाक में टपकाते हैं। इससे नाक से पीला पानी बहता है और आँखों की पिलाई दूर हो जाती है। वंदालडोडे को पीसकर, टिकिया बना कर घृताक्त कर अर्शांकुरों पर बांधने या अग्नि पर डाल कर धूनी देने से मस्से सूखकर झड़ जाते हैं। पंचकर्म में देवदाली का उपयोग वमन-विरेचन कराने के लिए किया जाता है। जीमूतक (वंदाल) की क्रिया कड़वी तोरई तथा इन्द्रायण की भाँति होती है।

विशेष – चरकोक्त एकोनविंशतिफलिनी द्रव्यों (सू० अ० १) में तथा वमन द्रव्यों (सू० अ० २) में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) ऊर्ध्वभागहर एवं उभयतोभागहर गण के द्रव्यों में जीमूत या जीमूतक भी हैं।

बकायन (महानिम्ब)

नाम। सं०–महानिम्ब, द्रेक। हिं०–बकाइन, बकायन। द०–गौरी नीम। म०–बकाणा (णि) निंब। गु०–बकान लींबड़ो। बं०–द्रेक। (देहरादून) बकाइन, डेक। (जौनसार) डेकनोई। बं०–घोड़ानिम्। फा०–ताक, आज़ाद दरख्त। अं०–पर्सियन लिलेक (*Persian Lilac*)। ले०–

मेलिआ आज़ेडाराक (*Melia azedarach Linn.*)।

वक्तव्य – किसी-किसी ने आजाद दरख्त को इससे भिन्न माना है। घोड़ानिम्ब या अरलु अन्यत्र आइलान्थुस एक्सेलसा *Ailanthus excelsa Roxb.* (*Family Simarubaceae*) को कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – निम्ब-कुल (मेलिआसे *Meliaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय के निम्न प्रदेशों (६०२ से ९१४.४ मीटर या २,०००–३,००० फुट की ऊंचाई तक) तथा कश्मीर, दक्षिण भारत एवं भारतवर्ष में अन्यत्र भी इसके लगाये हुए तथा जंगली वृक्ष मिलते हैं। इसके अतिरिक्त बलूचिस्तान, फारस एवं चीन में भी इसके वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। वकायन के शुष्क फल एवं बीज पंसारियों के यहाँ बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – यह नीम की जाति का और उसके समान एक बड़ा वृक्ष है। पत्र २२.५ से ४५ सें० मी० या ९-१८ इंच लम्बे सपत्रक पक्षवत्, जो प्रायः द्विपक्षवत् (*Bipinnate*) किन्तु कभी-कभी त्रिपक्षवत् (*Tripinnate*) भी होते हैं। पत्रक (*Leaflets*) संख्या में ३-७ होते हैं, जो १.२५ से ३.७५ सें० मी० (½ से १॥ इंच) लम्बे, लट्वाकार – भालाकार तथा अग्र नुकीला एवं लम्बा (*Acuminate*) होता है। पत्रतट (पत्तियों के किनारे) नीम की पत्तियों की भाँति आरा की भाँति दंतुर (*Serrate*) होते हैं। पुष्प नीली आभा लिये श्वेत वर्ण के, जो सवृन्तकाण्डज मञ्जरियों या पुष्प-गुच्छों (*Axillary cyme-bearing panicles*) में निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncle*) ७.५ से १० सें० मी० या ३-४ इंच लम्बा होता है। पुष्प वाह्य कोष ५ गम्भीर खण्डों वाला (*deeply 5–lobed*) तथा दलपत्र संख्या में ५, जो ½ से ¾ सें० मी० ⅕ (से ³⁄₁₀ इंच) लम्बे तथा रूपरेखा में पतले एवं अभिप्रासवत् (*Linear oblanceloate*) होते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) गोलाकार, व्यास में १.२५ सें० मी० या ½ इंच, देखने में निबकौली (नीम की फली) की भाँति तथा हरे रंग के होते हैं, जो पकने पर पीले हो जाते हैं। पके फल पहले तो चिकने किन्तु वाद में झुर्रीदार (*Wrinkled*) हो जाते हैं। पकने के बाद भी फल काफी दिनों तक पेड़ पर लगे रहते हैं। अन्दर फल प्रायः ५–कोष्ठीय होते हैं, जिनमें प्रत्येक में एक-एक बीज करके ५ बीज (*5-scelled and 5-eeded*)) होते हैं। पतझड़ काल–दिसम्बर से मार्च। पुष्पागम–मार्च से मई तक। फलागम–शीत काल। इसके वृक्ष से भी नीम की भाँति गोंद निकलता है।

उपयोगी अंग – जड़ की ताजी छाल, पत्र, फूल, फल एवं गिरी से प्राप्त तैल।

मात्रा – बीज चूर्ण–½ ग्राम से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा।
छाल–६ ग्राम से १२ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।
त्वक् क्वाथ–२॥ तोला से ५ तोला।
पत्रस्वरस–१ से २ तोला।
पत्रचूर्ण–२ ग्राम से ४ ग्राम या २ से ४ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बकाइन के जड़ की ताजी छाल मोटी होती है, जो बाहर से गाढ़े भूरे रंग की तथा खुरदरी एवं जगह-जगह ग्रंथिल (*Warty*) सी होती है। अन्तस्तल सफेद तथा छाल का अन्तर्वस्तु गुलाबी रंग का होता है। स्वाद में यह कड़वी, तिक्त एवं किंचित् कसैली तथा उत्क्लेशकारी होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंगों को संग्रह कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसका गुणोत्पादक वीर्य एक हल्का पीला अक्रिस्टली, तिक्त, रालदार, क्षारोद गुण विरहित पदार्थ है। इसके अतिरिक्त इसमें शर्करा होती है। छाल के बाहरी भाग में एक कषायिन या टैनिन (*Tannin*) होती है। वीर्यवान् भाग इसका अन्तःछाल है। फलों में एक विषैला घटक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नीम की भाँति मार्गोसीन (*Margosine*) नामक तिक्तसत्व पाया जाता है, जो ज्वरनाशक होता है। गिरी से प्राप्त स्थिर तैल में गन्धक पाया जाता है। इसके गुण कर्म नीमकौली के तेल की भाँति होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु, कषाय। विपाक –कटु। वीर्य–अनुष्ण। प्रभाव–अर्शोघ्न। प्रधान कर्म– अर्शोघ्न, कृमिघ्न, रक्तशोधक, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, प्रमेहघ्न, कटु पौष्टिक (अल्पमात्रा में) तथा गर्भाशयसंकोचक आदि। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है। अहितकर–यकृत एवं आमाशय को। निवारण–अनीसूं। प्रतिनिधि–तज एवं जावित्री।

विषाक्त प्रभाव – अधिक मात्रा में (७.८ बीज) प्रयुक्त करने से विषाक्तता होने की आशंका होती है। इससे

मादकता होती तथा अन्ततः मृत्यु तक हो जाती है।

मुख्ययोग – अर्शोघ्नी वटी, हब्बे बवासीर।

विशेष – सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) पिप्पल्यादिगण एवं अधोभागहरवर्ग (सू० अ० ३९) में (रम्यक नाम से–"रम्यको द्रेक्का, 'वकाइण' इति लोके डल्हणः) महानिम्ब भी है।

वच–दे०, 'वचा'।

वछनाग (वत्सनाभ)

नाम। सं०–वत्सनाभ, विष। हिं०–मीठा विष। अ०–खानेकुल् नमर। अं०–एकोनाइट। ले०–आकोनीटुम फेरोक्स (*Aconitum ferox Wall.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभकुल (रानुनकुलासे *Ranunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय पर गढ़वाल से सिक्किम तक के प्रदेशों में ३०४६ मीटर से ४२५० मीटर या १०,००० से १४,००० फुट की ऊंचाई के प्रदेशों में।

संक्षिप्त परिचय – क्षुप–बहुवर्षायु; मूल–कन्दयुक्त, २.५ से ७.५ सें० मी० या १-३ इंच लम्बा, ०.६२५ सें० मी० से २.५ सें० मी० ¼ से १ इंच मोटा गाजर की आकृति के समान, बाह्य वर्ण धूसर और अन्तःवर्ण श्वेताभ स्निग्ध तथा किंचित् चमकयुक्त। तना–सीधा गोल, शाखा–सीधी कोमल और हरिताभ। पत्र–परस्पराभिमुख, आकृति में सम्भालू पत्र के समान। पुष्प–रक्ताभ श्वेत तथा पीत। फल-गोल चिकने।

उपयोगी अंग – मूलकन्द।

मात्रा – ६२.५ मि० ग्रा० से १२५ मि० ग्रा० या ½ से १ रत्ती।

संग्रह एवं संरक्षण – वत्सनाभ के शोधित मूलों को स्वच्छ और कार्कयुक्त शीशियों में अनार्द्र तथा शीतल स्थान पर रखें और शीशी पर 'विष' का संज्ञापक लगा दें।

संगठन – एकोनाइटिन एवं स्युडो-एकोनाइटिन नामक विषाक्त तत्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष (कृमिभक्षित न होने पर कई वर्ष)।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, सूक्ष्म। रस-मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण।

मुख्य योग – मृत्युञ्जय रस, संजीवन वटी, त्रिभुवनकीर्ति रस।

विशेष – वस्तुतः प्राकृतिक वत्सनाभ का वर्ण श्वेत होता है। अमृतसर में व्यापारी उसको विशेष विधि से रंग कर काला बनाते हैं। इस प्रकार रंगे हुए वत्सनाभ में कीड़े नहीं लगते।

बड़ा गोखरू–दे०, 'गोखरू बड़ा'।

बड़ी इलायची–दे०, 'इलायची बड़ी'।

बड़ी कटाई (कटेरी)–दे०, 'कटाई बड़ी'।

वनफ़शा (बनफसा)

नाम। हिं०, म०, गु०–बनफसा (शा)। फा०–बनफ्शः। अ०–बनफ्सज, फ़रफ़ीर। अं०–स्वीट वायोलेट (*Sweet violet*)। ले०–वियोला ओडोराटा (*Viola odorata Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वनफ्शादि-कुल (वियोलासे *Violaceae*)।

प्राप्तिस्थान – वैंगनी फूल वाले वनफ़शा का फारस आदि स्थान है, जहाँ यह प्रचुरता से स्वयंजात होता है। इसके निकटतम भेद (*Varieties*) भारतवर्ष में कश्मीर एवं अनुष्णशीत पश्चिमी हिमालय में १५२३ से १८२८.८ मीटर या ५,०००-६,००० फुट की ऊंचाई पर जंगलों में स्वयंजात होते हैं। उक्त क्षेत्रों में अनेक पहाड़ी स्थानों (*Hill-stations*) पर वनफ़शे की खेती भी की जाती है। भारतीय बाजारों में वनफशा मुख्यतः फारस से तथा कश्मीर से आता है।

संक्षिप्त परिचय – यह एक क्षुद्र वनस्पति है, जिसकी पत्तियाँ हृदयाकृति गोल, अधःपृष्ठ पर रोमश तथा शिरावंधुर होती हैं; और ब्राह्मी की पत्तियों की भाँति दाँतेदार दिखाई पड़ती हैं। फूल वैंगनी नीले रंग के झुमकेदार होते हैं और उनमें से बड़ी ही मनोरम सुगंध आती है। पुराना पड़ने पर यह भूरे या पिलाई लिये सफेद हो जाते हैं। जड़ ५-६ उपमूल युक्त पतली होती है। इसका पंचाङ्ग "वनफसा" तथा फूल "गुले वनफ़शा" एवं जड़ 'बीखे वनफ्शः" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (वनफ्शः) एवं पुष्प (गुले वनफ्शः)।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा। स्वेदजनन एवं कफघ्न कर्म के लिए–६२५ मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम या ५-१० रत्ती पंचाङ्ग तथा रक्तस्तम्भन के लिए १.८७५ ग्राम से २.५ ग्राम या १५-२० रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वनफसा नाम से इसका सुखाया हुआ पंचाङ्ग एवं गुलेवनफ्शा नाम से पृथक् रूप से केवल इसका पुष्प दोनों ही चीजें बाजार में मिलती हैं। बम्बई बाजार में यह दोनों चीजें फारस से आती हैं और वहाँ से अन्य

भारतीय बाजारों में भेजी जाती हैं। भारतीय बाजारों में सीधे अथवा बम्बई होकर उक्त दोनों ही द्रव्य कश्मीर से भी आते हैं। इनको कश्मीरी वनफ्शा या बागवनफ्शा कहते हैं। पुष्पों के रंग भेद से बनफ्शा के कई भेद होते हैं जिनमें नीले या जामुनी रंग मिश्रित (नील लोहित *Purple*) फूलं की वनस्पति अधिक उत्तम समझी जाती है। इस दृष्टि से फारस का वनफ्शा कश्मीरी बनफ्शे की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। वनफ्शे की जड़ (बीख़ वनफ्शा) फीके पीले रंग की तथा कौवे के चोंच के बराबर मोमी एवं टेढ़ी-मेढ़ी होती है, जिसमें ४-५ पतले उपमूल लगे होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – उत्तरी भारत में असली वनफ्शे के स्थान में विओला सिनेरेआ (*Viola cinerea Boiss.*) तथा विओला सेर्पेन्स (*Viola serpens Wall*).) जाति का वनफ्शा भी प्रयुक्त किया जाता है। इनके गुण-कर्म भी बहुत-कुछ असली वनफ्शे की ही भाँति होते हैं। इनमें प्रथम प्रजाति वजीरिस्तान, पंजाब, बलूचिस्तान तथा सिंध, काठियावाड़ एवं पश्चिमी राजपुताने की पहाड़ियों पर जंगली रूप से तथा द्वितीय प्रजाति समस्त भारतवर्ष के पहाड़ी इलाकों में जगह-जगह पायी जाती है।

संग्रह एवं संरक्षण – वनफ्शा को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में तथा अनार्द्रशीतल स्थान में रखना चाहिए तथा सूर्य प्रकाश से बचाना चाहिए।

संगठन – इसमें वनफ्शीन या वायोलीन (*Violine*) नामक इपेकोक्वाना में पाये जाने वाले इमेटीन की भाँति वामक ऐल्केलाइड् (क्षारोद), वायोला-क्वर्सेट्रीन (*Violaquercitrin*) नामक पीला सत्व, अल्प मात्रा में उत्पत् तैल, कई रंजक तत्त्व तथा शर्करा प्रभृति द्रव्य पाये जाते हैं। वनफ्शा के सभी अंगों में ग्लूकोसाइड के रूप में मेथिल सेलिसिलेट पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–ज्वरघ्न (विशेषत: वातश्लैष्मिक ज्वर में उपयुक्त), श्लेष्मनिस्सारक, रक्तस्तम्भक, पित्तसंशमन, उर: कंठमार्दवकर। यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में शीत एवं तर होता है। इसका खमीरा और शर्बत मलावरोध, प्रसेक–प्रतिश्याय और ज्वर में उपयोगी होते हैं। रोग़न वनफ्शा शिरोभ्यंग से मस्तिष्क स्नेहन एवं स्वप्नजनन (निद्रा-कारक) होता है। अहितकर–आकुलताकारक। निवारण–नीलूफर और मर्जञ्जोश। प्रतिनिधि–खुब्बाजी के पत्र तथा गावजबान एवं मुलेठी।

मुख्य योग – वनफ्शादि क्वाथ, शरबत वनफ्शा, खमीरा वनफ्शा, गुलकन्द बनफ्शा एवं रोग़न वनफ्शा।

बबूल (बब्बूल)

नाम। सं०–बब्बूल। हिं०–बबुल, बबूल, बबुर, बबूर, कीकर। पं०–किक्कर। बं०–बाबला। सिंध–बबुर। मा०–बावलियो। म०–बाभूल। गु०–बावल। अं०–ऐकैशिया ट्री (*Acacia tree*)। ले०–आकासिआ आरबिका (*Acacia arabica Willd.*)। उपर्युक्त नाम इसके वृक्ष के हैं। (गोंद) हिं०–बबूल का गोंद। अ०–समग़ अरबी। ले०–गम आकासिआ (*Gum acacia*), गम अरेबिक (*Gum arabic*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल: बब्बूल-उपकुल (लेगूमिनोसे: माइमोसासे *Leguminosae Mimosaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में बबूल के जंगली या लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। सिंध तथा दकन एवं राजस्थान में बबूल के बड़े-बड़े जंगल पाये जाते हैं। बबूल की छाल एवं गोंद प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य हैं। छाल का उपयोग चमड़ा सिझाने के लिए भी किया जाता है। बबूल का गोंद सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – बबूल के मध्यम कद के वृक्ष होते हैं, जो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। काण्डत्वक् गाढ़े भूरे रंग की या कालिमा लिये होती है, जिसपर लम्बाई के रुख दरारें (*Longitudinally fissured*) पड़ी होती हैं। शाखाएँ गोल, सरल तथा झुकी हुई होती हैं। कोमल एवं नवीन शाखाएँ चिकनी होती हैं, जिनका दातून किया जाता है। अनुपत्रों का रूपान्तर काँटों में (*Stipular spines*) होता है, जो ०.६२५ सें० मी० से ५ से० मी० ($\frac{1}{4}$ से २ इंच) तक लम्बे, चिकने, सफेद या धूसर वर्ण के और अग्र पर नुकीले होते हैं। पत्र द्विपक्षवत्, ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बे होते हैं। उपपक्ष या पक्षक (*Pinnae*) ४-६ युग्म, २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बे तथा छोटे वृन्त युक्त होते हैं। पत्रक १०-२५ युग्म, ०.३१२५ सें० मी० से ०.४२५ सें० मी० ($\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{6}$ इंच) तक लम्बे,

०.१२५ सें० मी० से ०.२० सें० मी० ($\frac{1}{20}$ से $\frac{1}{12}$ इंच) तक चौड़े, रेखाकार एवं चिकने होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में फूल आते हैं, जो पीले रंग के होते हैं और गोलाकार मुण्डकों (*Globose heads*) में लगते हैं। पुष्प-वाहक दण्ड पत्रकोणों से निकलते हैं और प्रत्येक २-६ पुष्पों को धारण करते हैं। जाड़ों में फलियाँ लगती हैं, जो प्रगल्भ होने पर ७.५ से १५ सें० मी० या ३-६ इंच तक लम्बी, १.२५ सें० मी० ($\frac{1}{2}$ इंच) तक चौड़ी एवं चपटी बाहर से देखने में खाकस्तरी होती हैं। प्रत्येक फली में ८-१२ तक चपटे बीज होते हैं। बीजों के बीच-बीच में फली दबी होती है, जिससे देखने में मालाकार (*Moniliform*) मालूम होती है। बबूल के तने पर कुछ लालिमा लिये सफेद रंग का गोंद निकलता है, जो प्रायः स्वयं स्रवित होता है। त्वचा पर क्षत करने से निर्यास जल्दी और अधिक मात्रा में निकलता है। गर्मियों में तथा नये वृक्षों से अपेक्षाकृत गोंद अधिक निकलता है। बबूल की लकड़ी जलाने के लिए बहुत उत्तम समझी जाती है।

उपयोगी अंग – त्वक् (छाल), निर्यास (गोंद), फल एवं पत्र।

मात्रा – छाल क्वाथार्थ–६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तो०।

फलचूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

पत्र–२ ग्राम से ४ ग्राम या २ से ४ माशा।

गोंद–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बबूल की छाल, कड़ी, काष्ठीय, बाहर से कालिमा लिये, अन्दर से मुरचई भूरे रंग की होती है। बाह्य तल खुरदुरा एवं अनुलम्ब दिशा में अनेक दरार-युक्त होता है। अन्तस्तल चिकना एवं रेशेदार होता है। स्वाद में यह कसैली एवं लुआबी होती है। **गोंद** – बबूल के गोंद के गोल-गोल अथवा लम्बगोल, छोटे-बड़े अश्रुवत् दाने होते हैं। बाजारों में जो गोंद मिलता है, उसमें समूचे टुकड़े या इनके अनियमित रूपरेखा के टूटे हुए टुकड़े भी होते हैं, जो रंग में सफेद से लेकर हल्के गुलाबी या भूरे तथा कभी कालिमा लिये होते हैं। इन टुकड़ों पर अनेक सूक्ष्म दरारें (*Minute fissures*) पड़ी होती हैं। टूटा हुआ तल चमकदार होता है। सफेद दाने अधिक उत्तम समझे जाते हैं। बबूल का गोंद प्रायः गंधहीन तथा स्वाद में कुछ मिठास लिये फीका तथा लुआबी होता है। इसका चूर्ण हल्के भूरे या पीताभ वर्ण का होता है। विलेयता–तौल में दुगुने जल में बबूल का गोंद पूर्णतः घुल जाता है, जिससे चिपचिपा गाढ़ा लसीला विलयन प्राप्त होता है, जो प्रतिक्रिया में कुछ-कुछ आम्लिक होता है। उक्त विलयन में और पानी मिलाने पर गोंद का कुछ भाग तलस्थित हो जाता है। ऐल्कोहल् (९०%) में गोंद अविलेय होता है। इसका १०% (*W/V*) बल का जलीय विलयन दक्षिण प्रकाश परावर्ती (*Dextrorotatory*) होता है। भस्म–अधिकतम ४%। अम्ल में अविलेयभस्म–अधिकतम $\frac{1}{2}$%। द्रवांश–अधिकतम १५%। अपवर्तनांक (*Optical rotation*) –ऐकेशिया अरेबिका के गोंद का १०% बल का जलीय विलयन दक्षिणप्रकाशपरावर्ती (*Dextrorotatory*) होता है; किन्तु ऐकेशिया सेनेगल से प्राप्त गोंद का विलयन वाम-प्रकाशपरावर्ती (*Laevorotatory*) होता है।

परीक्षण – (१) बबूल के गोंद के २% बल का जलीय विलयन १० मि० लि० (१० सी० सी०) एक परख-नलिका में लें। इसमें ३ बूंद (०.२ मि० लि०) डायल्यूट सॉल्यूशन ऑव लेड-सबएसिटेट (*Dilute Lead Subacetate solution*) डालें। ऊर्णमय अधःक्षेप (*flocculent precipitate*) होगा। (२) बबूल के गोंद का २% बल का जलीय विलयन बना कर उबाल लें और इसे ठंढा होने दें। ठंढा होने पर इसमें आयोडीन सॉल्यूशन मिलाने से यदि विलयन का रंग हल्का नीला या लाल नहीं होता, तो यह नमूने में स्टार्च या डेक्स्ट्रिन के अभाव का द्योतक होता है। (३) एक परख नलिका में बबूल के गोंद का २% बल का जलीय विलयन १० मि० लि० लें। इसमें १$\frac{1}{2}$-२ बूंद (०.१ मि० लि०) फेरिक क्लोराइड सॉल्यूशन डालें। अब विलयन न तो नीलिमा लिये काले रंग का (*Bluish-black*) होता है और न इस रंग का अधःक्षेप ही होता है। यह टैनिनबहुल गोंदों (*Tannin-containing gums*) के मिलावट के अभाव का द्योतक होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बबूल के गोंद का संग्रह ऐकैशिया सेनेगल (*A. Senegal Willd.*) प्रजाति से भी किया जाता है। और यह गोंद अधिक साफ एवं उत्तम होता है। इसके वृक्ष भारतवर्ष में सिंध, पंजाब एवं राजपूताने में पाये जाते हैं। अफ्रीका, अरब आदि विदेशों

में गम-अरेबिक का संग्रह प्रायः इसी प्रजाति से किया जाता है।

वीर्यकालावधि – फल, पत्र–१ वर्ष। छाल–२ वर्ष। गोंद–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। गोंद–स्निग्ध, मधुरकषाय रस, मधुर विपाक और शीतवीर्य होता है। कर्म–कफपित्तशामक; व्रण-रोपण, स्तम्भन, संकोचक, रक्तरोधक, कफघ्न, गर्भाशयशोथ एवं स्रावहर, कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन, विषघ्न। गोंद–वातपित्तशामक, स्नेहन, ग्राही, मूत्रल, वृष्य, वल्य आदि। यूनानी मतानुसार (पत्र, फली, छाल आदि) दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष हैं; तथा बबूल का गोंद अनुष्ण शीत एवं दूसरे दर्जे में खुश्क होता है। अकाकिया भी दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होता है। बबूल की कोमल फलियाँ एवं पत्र श्वेतप्रदर एवं शुक्ररोग तथा अतीसार आदि में दिये जाते हैं। छाल, अतीसार-प्रवाहिका नाशक क्वाथों में पड़ता है। इसके क्वाथ से कासहर गुटिकाएँ बनायी जाती हैं। बबूल के गोंद के लुआव में औषधियों को गूंध कर गोलियाँ और चक्रिकाएँ बनायी जाती हैं, तथा पौष्टिक योगों में भी यह पड़ता है। उरः कंठ के खरत्व, फुफ्फुसव्रण, उरःक्षत, प्रवाहिका और अतीसार में भी इसका उपयोग होता है।

मुख्य योग – बब्बूलारिष्ट, लवंगादि वटी, अकाकिया, दवाए जरयान कोहना, सुनून पोस्त मुग़ीलाँ, क़ुर्स अक़ाकिया।

विशेष – पाश्चात्य भैषज्य-कल्पना में भी बबूल के गोंद का व्यवहार किया जाता है। एतदर्थ यह इमल्सन-निर्माण तथा टैबलेट, पिल एवं मुख-चक्रिका (*Lozenges*) आदि बनाने के लिए प्रयुक्त होता है।

बरगद (वट)

नाम। सं०–वट, न्यग्रोध, वहुपाद, रक्तफल, शृङ्गी, क्षीरी। हिं०–वड़, वर, वरगद। वं०–वटगाछ। पं०–बूहड़। म०–वट। गु०–वड, वडलो। सिं०–नुग। मल०–आल (*Al*), पेराल (*Peral*)। ता०–आलमरम् (*Almaram*), वटमरम् (*Vatamaram*)। फा०–दरख़्ते रीशः। अ०–जातुज्जवानिव, कवीरुल्अश्जार। अं०–बैनीयन ट्री (*Banyan Tree*)। ले०–फ़ीकुस वेंघालेंसिस (*Ficus bengalensis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वटादि-कुल (ऊर्टिकासे *Urticaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई, दक्षिण का पश्चिमी पठार तथा भारतवर्ष में अन्यत्र सभी जगह इसके स्वयंजात एवं लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। उत्तम छायावृक्ष होने के कारण सड़कों के किनारे अथवा गाँवों के आस-पास लगाये हुए इसके वृक्ष बहुधा मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – वरगद के सदाहरित विशालकाय छाया-वृक्ष होते हैं, जिसकी मोटी शाखाएँ प्रायः चारों ओर पार्श्वों की ओर फैली रहती हैं। इनसे अनेक वायव्य जड़ें (*Aerial roots*) निकल कर झूलती रहती हैं, जो कभी-कभी जमीन तक पहुँच जाती हैं और वृक्ष को सहारा देने (*Prop roots*) तथा जमीन से खाद्यरस पहुँचाने का काम करती हैं। कोमल टहनियाँ सूक्ष्म मृदु रोमश होती हैं। पत्तियाँ एकान्तर (*Alternate*), १० से २० सें० मी० या ४-८ इंच लम्बी तथा ५ से ७.५ सें० मी० या २-५ इंच चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार या अंडाकार, कुण्ठिताग्र (*Obtuse*), आधार की ओर किंचित् हृदयाकार (*Subcordate*) या गोल तथा किनारे सरल (*Entire*) होते हैं और वयन (*Texture*) में काफी मोटी और चर्मिल (*thickly coriaceous*) होती हैं। पर्णवृन्त २.५से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बे तथा मोटे होते हैं। अनुपत्र या उपपत्र १.७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० या (७/८ से १ इंच) तक लम्बे चर्मिल एवं कोपाकार (*Coriaceous and sheathing*) होते हैं। नर एवं अप्रगल्भ या वन्ध्या तथा प्रगल्भ नारी पुष्प (*Male, female and gall flowers*) छोटे-छोटे तथा एक ही कुम्भाभ–व्यूह या हाइपैन्थोडियम् (*Hypanthodium*) में स्थित होते हैं। दल्यक्ष (*Receptacle*) ही बढ़ कर कुम्भाकार होकर सारे पुष्प-व्यूह को आवृत किये रहता है। यह व्यास में १.२५ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० या (१/२ से ३/४ इंच) तक होता है। उक्त पुष्प-व्यूह ही को व्यवहार में फल कहा जाता है, जो पत्रकोणोद्भूत तथा जोड़ों में (दो-दो), वृन्तरहित (*Sessile*), गोलाकार, किंचित् रोमश (*Puberulous*) तथा कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। फलों के आधार पर ३ चौड़े, चर्मिल, कोण पुष्पकों (*Bracts*) की शय्या-सी होती है। वरगद की टहनियाँ काट कर लगा देने से ही नया वृक्ष लग जाता है। इसके वृक्षों पर भी कभी-कभी लाक्षा (*Lac*) लगती है।

उपयोगी अंग – त्वक्, क्षीर, पत्र (एवं वटशुंग), जटा, (रीशे वर्गद), फल ।

मात्रा – चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा ।
क्वाथ–२॥ से ५ तोला ।
क्षीर–५ से २० बूंद ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – काण्डत्वक् (वरगद की छाल)–वरगद की छाल अपेक्षाकृत मोटी होती है, किन्तु वृक्ष की आयु के अनुसार छाल की मुटाई में भी अन्तर पाया जाता है। वाह्य तल गाढ़े सलेटी खाकस्तरी रंग का होता है और इस पर अनुलम्ब दिशा में श्वसन-रन्ध्रों के चिह्न (*Lenticellate*) पाये जाते हैं, किन्तु छाल पर प्रायः गम्भीर दरारें (*Cracks and fissures*) नहीं पायी जातीं। छोटे वृक्षों के काण्डस्कन्ध अथवा शाखाओं की छाल वाह्यतः चिकनी, किन्तु पुराने वृक्षों में यह खुरदरी तथा कड़ी पपड़ीदार चैलीयुक्त भी होती है। चैली छुटने पर उसी रूपरेखा के खातोदर स्थल भी होते हैं। छाल का वाहरी ⅔ भाग प्रायः गुलाबी या हल्के लाल रंग का (वाहर की ओर उत्तरोत्तर रंग गाढ़ा होता है) तथा दानेदार और विन्दुकित तथा अन्तर्भाग श्वेताभ एवं रेशेदार होता है। सूखने पर पूरी छाल का रंग धीरे-धीरे मटमैला गुलावी और अन्ततः हल्का भूरा हो जाता है। तोड़ने पर छाल का वाहरी ⅔ दानेदार भाग खट से टूटता (*With a clean short fracture*) तथा अन्दर का शेष भाग रेशेदार आसानी से नहीं टूटता। छाल में प्रायः कोई गंध नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में यह कसैली (*Astringent*) होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – वरगद सर्वत्र सुलभ होने से आवश्यकता पड़ने पर यह ताजा प्राप्त किया जा सकता है।

संगठन – छाल और शुङ्ग में १० प्रतिशत टैनिन, मोम और रवड़ होता है। फल में तैल, ऐल्व्युमिनाइड्स, कार्वोहाइड्रेट, तन्तु (*Fibres*) एवं क्षार (भस्म) ५-६ प्रतिशत होते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कपाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–वेदनास्थापन, व्रणरोपण, शोथहर, चक्षुष्य, रक्तस्तम्भक, रक्तपित्तहर, गर्भाशय शोथहर एवं शुक्रस्तम्भक, मूत्रसंग्रहणीय, अतिसार-प्रवाहिकानाशक, गर्भस्थापन, रक्त एवं श्वेतप्रदर में विशेप उपयोगी। यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में शीत और दूसरे में खुश्क तथा वटक्षीर (शीर वरगद) तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होता है। अहितकर–आन्त्र और आमाशय के लिए। निवारण–शर्करा, मधु और कतीरा। प्रतिनिधि–गूलर का दूध।

मुख्य योग – न्यग्रोधादि चूर्ण, न्यग्रोधादि क्वाथ, न्यग्रोधाद्य घृत, माजून वरगद।

विशेष – उदुम्वर (गूलर) एवं अश्वत्थ (पीपर) की भाँति वट (वरगद) भी चरकोक्त मूत्रसंग्रहणीय महाकपाय, कपाय-स्कन्ध एवं सुश्रुतोक्त न्यग्रोधादि गण तथा भावप्रकाशोक्त क्षीरिवृक्षों और पंचवल्कल में है।

वरना (वरुण)

नाम। सं०–वरुण। हिं०–वरुना, वरना। पं०–वरना। (सहारनपुर) वरना। वं०–वरुण। म०–हाडवर्णा, वायवर्णा। गु०–वरणो, वायवरणो, कागडाकेरी। मल०–नीर्वाल्। क्राटेवा नुर्वाला *Crataeva nurvala Buch-Ham.* (पर्याय–*C. relgiosa Hook. & Th.*)।

वानस्पतिक कुल – वरुण-कुल (काप्पारीडासे *Capparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेपतः मलावार, कन्नड़ एवं हिमालय की तराई, वंगाल आदि) में वरुण के जंगली तथा ग्रामों के पास उद्यानों में लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। जंगलों में प्रायः नालों के किनारे या आर्द्र जगहों में इसके वृक्ष मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – वरुण के प्रायः मध्यम कद के ७.५ से ६.१४ मीटर (२५-३० फुट ऊंचे) पतझड़ करने वाले अर्थात पतझड़ी वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ वेलपत्र की भाँति त्रि-पत्रक (*3-foliolate*) होती हैं। पत्रवृन्त–१० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बे, पत्रक ७.५-१५ सें० मी० × ३.३-७.५ सें० मी० (३-६ इंच × १⅓-३ इंच), रूपरेखा में लट्वाकार, या लट्वाकार भालाकार, नुकीले अग्रवाले, चिकने, कुछ चर्मिल (*Subcoriaceous*), अधः पृष्ठ पर फीके रंग के तथा सरलधारवाले (*Entire*) होते हैं। पत्रकवृन्त (*Petiolule*) कुछ कर्णाकार (*Auriculate*) होते हैं। पुष्पागम वसन्तऋतु में होता है। फूल व्यास में ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच, भूरी और जामुनी छाया लिये सफेद रंग के होते हैं, जो शाखाग्रों पर

में गम-अरेविक का संग्रह प्रायः इसी प्रजाति से किया जाता है।

वीर्यकालावधि – फल, पत्र–१ वर्ष। छाल–२ वर्ष। गोंद–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। गोंद–स्निग्ध, मधुरकषाय रस, मधुर विपाक और शीतवीर्य होता है। कर्म–कफपित्तशामक; व्रण-रोपण, स्तम्भन, संकोचक, रक्तरोधक, कफघ्न, गर्भाशयशोथ एवं स्रावहर, कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन, विषघ्न। गोंद–वातपित्तशामक, स्नेहन, ग्राही, मूत्रल, वृष्य, वल्य आदि। यूनानी मतानुसार (पत्र, फली, छाल आदि) दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष हैं; तथा ववूल का गोंद अनुष्ण शीत एवं दूसरे दर्जे में खुश्क होता है। अकाकिया भी दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होता है। ववूल की कोमल फलियाँ एवं पत्र श्वेतप्रदर एवं शुक्ररोग तथा अतीसार आदि में दिये जाते हैं। छाल, अतीसार-प्रवाहिका नाशक क्वाथों में पड़ता है। इसके क्वाथ से कासहर गुटिकाएँ वनायी जाती हैं। वव्रूल के गोंद के लुआव में औषधियों को गूंध कर गोलियाँ और चक्रिकाएँ वनायी जाती हैं, तथा पौष्टिक योगों में भी यह पड़ता है। उरः कंठ के खरत्व, फुपफुसव्रण; उरःक्षत, प्रवाहिका और अतीसार में भी इसका उपयोग होता है।

मुख्य योग – वव्बूलारिष्ट, लवंगादि वटी, अकाकिया, दवाए जरयान कोहना, सुनून पोस्त मुग़ीलाँ, क़ुर्स अक़ाकिया।

विशेष – पाश्चात्य भैषज्य-कल्पना में भी ववूल के गोंद का व्यवहार किया जाता है। एतदर्थ यह इमल्सन-निर्माण तथा टैवलेट, पिल एवं मुख-चक्रिका (*Lozenges*) आदि वनाने के लिए प्रयुक्त होता है।

बरगद (वट)

नाम। सं०–वट, न्यग्रोध, वहुपाद, रक्तफल, शृङ्गी, क्षीरी। हिं०–वड़, वर, वरगद। वं०–वटगाछ। पं०–वूहड़। म०–वट। गु०–वड, वडलो। सिं०–नुग। मल०–आल (*Al*), पेराल (*Peral*)। ता०–आलमरम् (*Almaram*), वटमरम् (*Vatamaram*)। फा०–दरख़्ते रीशः। अ०–जातुज्जवानिव, कवीरुल्‌अश्जार। अं०–बैनीयन ट्री (*Baiyan Tree*)। ले०–फ़ीकुस वेंघालेंसिस (*Ficus bengalensis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वटादि-कुल (ऊर्टिकासे *Urticaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई, दक्षिण का पश्चिमी पठार तथा भारतवर्ष में अन्यत्र सभी जगह इसके स्वयंजात एवं लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। उत्तम छायावृक्ष होने के कारण सड़कों के किनारे अथवा गाँवों के आस-पास लगाये हुए इसके वृक्ष वहुवा मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – वरगद के सदाहरित विशालकाय छाया-वृक्ष होते हैं, जिसकी मोटी शाखाएँ प्रायः चारों ओर पार्श्वों की ओर फैली रहती हैं। इनसे अनेक वायव्य जड़ें (*Aerial roots*) निकल कर झूलती रहती हैं, जो कभी-कभी जमीन तक पहुँच जाती हैं और वृक्ष को सहारा देने (*Prop roots*) तथा जमीन से खाद्यरस पहुँचाने का काम करती हैं। कोमल टहनियाँ सूक्ष्म मृदु रोमश होती हैं। पत्तियाँ एकान्तर (*Alternate*), १० से २० सें० मी० या ४-८ इंच लम्बी तथा ५ से ७.५ सें० मी० या २-५ इंच चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार या अंडाकार, कुण्ठिताग्र (*Obtuse*), आधार की ओर किंचित् हृदयाकार (*Subcordate*) या गोल तथा किनारे सरल (*Entire*) होते हैं और वयन (*Texture*) में काफी मोटी और चर्मिल (*thickly coriaceous*) होती हैं। पर्णवृन्त २.५से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बे तथा मोटे होते हैं। अनुपत्र या उपपत्र १.७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० या ($\frac{७}{१०}$ से १ इंच) तक लम्बे चर्मिल एवं कोपाकार (*Coriaceous and sheathing*) होते हैं। नर एवं अप्रगल्भ या वन्ध्या तथा प्रगल्भ नारी पुष्प (*Male, female and gall flowers*) छोटे-छोटे तथा एक ही कुम्भाभ–व्यूह या हाइपैन्थोडियम् (*Hypanthodium*) में स्थित होते हैं। दल्यक्ष (*Receptacle*) ही वढ़ कर कुम्भाकार होकर सारे पुष्प-व्यूह को आवृत किये रहता है। यह व्यास में १.२५ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० या ($\frac{१}{२}$ से $\frac{३}{४}$ इंच) तक होता है। उक्त पुष्प-व्यूह ही को व्यवहार में फल कहा जाता है, जो पत्रकोणोद्भूत तथा जोड़ों में (दो-दो), वृन्तरहित (*Sessile*), गोलाकार, किंचित् रोमश (*Puberulous*) तथा कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। फलों के आधार पर ३ चौड़े, चर्मिल, कोण पुष्पकों (*Bracts*) की शय्या-सी होती है। वरगद की टहनियाँ काट कर लगा देने से ही नया वृक्ष लग जाता है। इसके वृक्षों पर भी कभी-कभी लाक्षा (*Lac*) लगती है।

उपयोगी अंग – त्वक्, क्षीर, पत्र (एवं वटशुंग), जटा, (रीशे वर्गद), फल।

मात्रा – चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
क्वाथ–२॥ से ५ तोला।
क्षीर–५ से २० बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – काण्डत्वक् (बरगद की छाल)–बरगद की छाल अपेक्षाकृत मोटी होती है, किन्तु वृक्ष की आयु के अनुसार छाल की मुटाई में भी अन्तर पाया जाता है। बाह्य तल गाढ़े सलेटी खाकस्तरी रंग का होता है और इस पर अनुलम्ब दिशा में श्वसन-रन्ध्रों के चिह्न (*Lenticellate*) पाये जाते हैं, किन्तु छाल पर प्रायः गम्भीर दरारें (*Cracks and fissures*) नहीं पायी जातीं। छोटे वृक्षों के काण्डस्कन्ध अथवा शाखाओं की छाल बाह्यतः चिकनी, किन्तु पुराने वृक्षों में यह खुरदरी तथा कड़ी पपड़ीदार चैलीयुक्त भी होती है। चैली छुटने पर उसी रूपरेखा के खातोदर स्थल भी होते हैं। छाल का बाहरी ⅓ भाग प्रायः गुलाबी या हल्के लाल रंग का (बाहर की ओर उत्तरोत्तर रंग गाढ़ा होता है) तथा दानेदार और बिन्दुकित तथा अन्तर्भाग श्वेताभ एवं रेशेदार होता है। सूखने पर पूरी छाल का रंग धीरे-धीरे मटमैला गुलाबी और अन्ततः हल्का भूरा हो जाता है। तोड़ने पर छाल का बाहरी ⅓ दानेदार भाग खट से टूटता (*With a clean short fracture*) तथा अन्दर का शेष भाग रेशेदार आसानी से नहीं टूटता। छाल में प्रायः कोई गंध नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में यह कसैली (*Astringent*) होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – बरगद सर्वत्र सुलभ होने से आवश्यकता पड़ने पर यह ताजा प्राप्त किया जा सकता है।

संगठन – छाल और शुङ्ग में १० प्रतिशत टैनिन, मोम और रबड़ होता है। फल में तैल, ऐल्ब्युमिनाइड्स, कार्बोहाइड्रेट, तन्तु (*Fibres*) एवं क्षार (भस्म) ५-६ प्रतिशत होते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–वेदनास्थापन, व्रणरोपण, शोथहर, चक्षुष्य, रक्तस्तम्भक, रक्तपित्तहर, गर्भाशय शोथहर एवं शुक्रस्तम्भक, मूत्रसंग्रहणीय, अतिसार-प्रवाहिकानाशक, गर्भस्थापन, रक्त एवं श्वेतप्रदर में विशेष उपयोगी। यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में शीत और दूसरे में खुश्क तथा वटक्षीर (शीर बरगद) तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होता है। अहितकर–आन्त्र और आमाशय के लिए। निवारण–शर्करा, मधु और कतीरा। प्रतिनिधि–गूलर का दूध।

मुख्य योग – न्यग्रोधादि चूर्ण, न्यग्रोधादि क्वाथ, न्यग्रोधाद्य घृत, माजून बरगद।

विशेष – उदुम्बर (गूलर) एवं अश्वत्थ (पीपर) की भांति वट (बरगद) भी चरकोक्त मूत्रसंग्रहणीय महाकषाय, कषाय-स्कन्ध एवं सुश्रुतोक्त न्यग्रोधादि गण तथा भावप्रकाशोक्त क्षीरिवृक्षों और पंचवल्कल में है।

बरना (वरुण)

नाम। सं०–वरुण। हिं०–बरुना, बरना। पं०–बरना। (सहारनपुर) बरना। बं०–वरुण। म०–हाडवर्णा, वायवर्णा। गु०–वरणो, वायवरणो, कागडाकेरी। मल०–नीर्वालि। क्राटेवा नुर्वाला *Crataeva nurvala Buch-Ham.* (पर्याय–*C. relgiosa Hook. & Th.*)।

वानस्पतिक कुल – वरुण-कुल (काप्पारीडासे *Capparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (विशेषतः मलाबार, कन्नड़ एवं हिमालय की तराई, बंगाल आदि) में वरुण के जंगली तथा ग्रामों के पास उद्यानों में लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। जंगलों में प्रायः नालों के किनारे या आर्द्र जगहों में इसके वृक्ष मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – वरुण के प्रायः मध्यम कद के ७.५ से ६.१४ मीटर (२५-३० फुट ऊंचे) पतझड़ करने वाले अर्थात पतझड़ी वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ बेलपत्र की भांति त्रि-पत्रक (*3-foliolate*) होती हैं। पत्रवृन्त–१० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बे, पत्रक ७.५-१५ सें० मी० × ३.३-७.५ सें० मी० (३-६ इंच × १⅓-३ इंच), रूपरेखा में लट्वाकार, या लट्वाकार भालाकार, नुकीले अग्रवाले, चिकने, कुछ चर्मिल (*Subcoriaceous*), अधः पृष्ठ पर फीके रंग के तथा सरलधारवाले (*Entire*) होते हैं। पत्रकवृन्त (*Petiolule*) कुछ कर्णाकार (*Auriculate*) होते हैं। पुष्पागम वसन्तऋतु में होता है। फूल व्यास में ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच, भूरी और जामुनी छाया लिये सफेद रंग के होते हैं, जो शाखाग्रों पर

समशिख नम्य गुच्छकाकार मञ्जरियों (*Lax terminal corymbs*) में निकलते हैं; और इनमें एक धीमी, मीठी सुगंधि होतीहै। पुटपत्र संख्या में ४ तथा कलिकायुष्क या शीघ्रपाती (*deciduous*) तथा दलपत्र ४, आयताकार, लट्वाकार या स्त्रुवाकार (*Spathulate*) होते हैं। पुंकेशर अनेक तथा दलपत्रों से बड़े होते हैं। कुक्षि, कुक्षिवृन्त रहित होती है। फल (*Berry*), लम्वगोल, व्यास में २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच, नीवू के आकार के आपाढ़-श्रावण में लगते हैं, जो पकने पर लाल हो जाते हैं। फल-मज्जा पीले रंग की होती है, जिसमें कई-कई वीज छिटके रहते हैं। पत्रकों को मसलने पर एक तीक्ष्ण गंध निकलती है। इसके पत्र, फूल और कच्चे फल का स्वाद तिक्त होता है। फल पकने पर किंचित् मधुर हो जाता है। वरुण की जड़, छाल एवं पत्तियों का उपयोग चिकित्सा में होता है।

उपयोगी अंग – छाल, मूल एवं पत्र।

मात्रा – चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
स्वरस–१ से २ तोला।
क्वाथार्थ छाल एवं मूलत्वक्–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वरुण की छाल मोटी एवं वाह्यतः खाकस्तरी रंग की होती है। वाह्य त्वचा अनुप्रस्थ दिशा में फटी हुई या दरारयुक्त (*Fissured*) होती है। त्वचा के वाह्य स्तर (*Epidermis*) के नीचे का स्तर हरे रंग का तथा अन्तर्वस्तु सफेद होता है। तोड़ने पर छाल खट से टूटती (*Fracture short*) है। छाल का अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर जगह-जगह वड़ी-वड़ी अश्म-कोशाओं (*Stone cells*) के पुञ्ज मालूम पड़ते हैं, जो पीले विन्दुओं के रूप में दिखते हैं। स्वाद में छाल किंचित् तिक्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंगों को मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – छाल में सेनेगा की भाँति सेपोनिन (*Saponin*) तत्त्व पाया जाता है। अल्प मात्रा में टैनिन भी पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–भेदन। कर्म–कफवात शामक, दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन, रक्तशोधक, अश्मरीभेदन एवं मूत्रल, ज्वरघ्न (अल्प मात्रा में कटु पौष्टिक)। यूनानी मतानुसार वरुण तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है।

मुख्य योग – वरुणादि क्वाथ, वरुणादि घृत, वरुणादि तैल।

विशेष – वरुण की छाल उत्तम जीवाणु-नाशक औषधि है। पूयमयता (*Pyaemia*) एवं जीवाणुमयता (*Septicaemia*), विद्रधि, व्रण एवं गण्डमालादि रोगों में इसका व्यवहार उत्तम है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८, चि० अ० ७) वरुणादि, वाताश्मरीनाशन एवं कफाश्मरीनाशन गण के द्रव्यों में वरुण भी है।

वला (वरियारा)

नाम। सं०–वला, वाटयालिका। हिं०–वरियार, खरेंटी, वरियरा। वं०–वेडेला। पं०–खरयटी। गु०–वल, वला, खरेटी। म०–चिकणा। अं०–कन्ट्री मैलो (*Country Mallow*)। ले०–(१) सीडा र्‌हॉम्वीफ़ोलिआ *Sida rhombifolia L*; (२) सीडा कॉर्डीफ़ोलिआ (*Side cordifolia Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – कार्पास-कुल (माल्वासे *Malvaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण कटिवन्धीय तथा समशीतोष्ण प्रान्तों में जंगलों में तथा गाँवों के आसपास की परती जमीन एवं वगीचों में वला के स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – (१) *Sida rhombifolia Linn.*–इसके ६० सें० मी० से १२० सें० मी० या २-४ फुट ऊंचे, सीधे, क्षुप या गुल्मक (*Undershrub*) होते हैं, जिसकी शाखाएँ तूल-रोमश (*Stellate tomentose*) होती हैं। पत्तियाँ २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बी, रूपरेखा में वहुत परिवर्तनशील, सामान्यतः तिर्यगायताकार (*Rhomboid*) या अभिलट्वाकार, ऊर्ध्व पृष्ठ पर प्रायः चिकनी किन्तु अधः पृष्ठ पर मृदुरोमश होती हैं। किनारे आधार की ओर सरल किन्तु अग्र की ओर दन्तुर (*denatate-serrate*) होते हैं। आधार की ओर यह स्फानाकार (*Cuneate*) होती और तीन स्पष्ट शिराएँ होती हैं। पर्णवृन्त ०.६२५ सें० मी० या ¼ इंच तक लम्बे होते हैं। पुष्पवाहक दण्ड पत्रकोणों से निकलते हैं अथवा शाखाग्रों पर समूहवद्ध होते हैं, जिन पर पीले या पीताभ श्वेत वर्ण के पुष्प होते हैं। वाह्यकोष ५-कोणीय होता है, जिसके खण्ड त्रिकोणाकार तथा लम्वाग्र होते हैं। स्त्रीकेशर (*Carpels*) संख्या

में ८-१० तक, शूक (*Awns*) २ तथा छोटे होते हैं। यह एक परिवर्तनशील जाति है, जिसके अन्दर कई उपभेद पाये जाते हैं। (२)*Sida cordifolia Linn.*–इसका ६० सें० मी० (०.६ मीटर) से १२० सें० मी० (१.२ मीटर) या २-४ फुट ऊंचा स्वावलम्वी गुल्मक (*Erect undershrub*) होते हैं। पत्तियाँ १-२ इंच लम्बी, लट्वाकार या लट्वाकार आयताकार, आधार हृद्वत्, कुण्ठिताग्र या कुछ नुकीले अग्र वाली, दोनों तलों पर तूल–रोमश तथा तट गोलदन्तुर (*Crenate*) होते हैं। पर्णवृन्त ॥-१॥ इंच तक लम्बा होता है। पुष्पवाहक दण्ड पत्रकोणोद्भूत, अकेला या कई-कई साथ-साथ होते हैं। नीचे के पुष्पों के वृन्त पर्णवृन्त से बड़े किन्तु ऊपर के छोटे होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं। पुष्प के वाह्य एवं आभ्यन्तर दल संख्या में प्रायः ५-५ होते हैं। बीज छोटे, भूरे या काले रंग के दानों के रूप में होते हैं। वर्षा के बाद पुष्प और फल लगते हैं। बला के बीजों को **बीजबन्द** कहते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग विशेषतः मूल, बीज एवं पत्र।

मात्रा–स्वरस–१ से २ तोला।

चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा एवं स्थानापन्न द्रव्य – बला नाम से प्रायः सीडा की उपर्युक्त दोनों जातियों का ही ग्रहण होना चाहिए। उनमें भी उत्तर प्रदेश में अपेक्षाकृत सीडार्होम्बीफोलिआ अधिक पायी जाती है। इनके अतिरिक्त बला की कई जातियाँ पायी जाती हैं, जिनका ग्रहण स्थान-स्थान में बला के नाम से होता है। वैसे बलाभेद के नाम से इनका ग्रहण स्थानापन्न द्रव्य के रूप में हो सकता है। (१) सीडा स्पीनोजा (*Sida spinosa Linn.*)–यह लगभग ३० सें० मी० या १ फुट ऊंची गुल्माकार वनस्पति होती है, जिसकी पत्तियाँ प्रायः छोटी अग्र पर गोली और कभी ५ सें० मी० या २" तक लम्बी होती हैं। पुष्प पीले या श्वेताभ होते हैं। पर्णवृन्त के आधार के पास प्रायः तीक्ष्ण वाह्य वृद्धियाँ (*Petioles with small spiny tubercles at the base*) होती हैं। इसके भी पुष्प के रंग भेद से २ भेद होते हैं। सीडा आल्बा (*Sida alba*) के पुष्प सफेद तथा सीडा आल्नीफोलिआ (*S. alnifolia*) के पुष्प पीत वर्ण के होते हैं। इसको 'श्वेतपुष्पा बला' कह सकते हैं। (२) सीडा आकूटा (*Sida acuta Burm.*)–इसके क्षुप ६० सें० मी० से ६० सें० मी० या २-३ फुट ऊँचे (कभी-कभी १.५ मीटर या ५ फुट तक) होते हैं। पत्तियाँ ३.७५ सें० मी० से ८.७५ सें० मी० या १॥-३॥ इंच लम्बी, १.२५ से २.५ सें० मी० या ॥-१ इंच चौड़ी, प्रासवत् (*Lanceolate*) अथवा प्रासवत् अभिलट्वाकार (*Lanceolate-obovate*), चिकनी, अम्यारावत् धारवाली होती हैं। पुष्प हल्के पीले रंग के होते हैं। यह भी प्रायः सर्वत्र ऊसर भूमि में पायी जाती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में जड़ों का संग्रह कर जल से धोकर सुखा लें और मुखबन्द पात्रों में उपयुक्त स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – जड़ों में पिच्छिल द्रव्य, वसाम्ल, राल एवं पोटासियम् नाइट्रेट आदि तत्त्व होते हैं। इसके अतिरिक्त ०.०८५ क्षारतत्त्व पाया जाता है। बीजों में क्षार तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, नाड़ीवल्य, स्नेहन, हृद्य, रक्तपित्तशामक, शुक्रल, प्रजास्थापन, मूत्रल, ज्वरघ्न, बल्य, बृंहण, ओजोवर्धक।

मुख्य योग – बलाद्य घृत, चन्दनबलालाक्षादि तैल, बलातैल।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) बृंहणीय महाकषाय में (वाट्यायनी नाम से), प्रजास्थापन महाकषाय में (वाट्यपुष्पी नाम से) तथा बल्य महाकषाय एवं मधुर-स्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में एवं सुश्रुतोक्त (सू०अ० ३९) वातसंशमन वर्ग में बला भी है।

बहमन, लाल

नाम। हिं०–लाल बहमन। फा०–बहमने सुर्ख। अं०–रेड बहमन या र्‌हैपटोनिक (*Red bahman or rhaptonic*), ब्लडवेन्ड सेज (*Bloodvened sage*)। ले०–साल्विआ हेमोटोडेस (*Salvia hemotodes.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष तथा खुरासान। भारतवर्ष में इसका आयात फारस से होता है। सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलता है।

उपयोगी अंग – कंदाकार शुष्क मूल।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

समशिख नम्य गुच्छकाकार मञ्जरियों (*Lax terminal corymbs*) में निकलते हैं; और इनमें एक धीमी, मीठी सुगंधि होतीहै। पुटपत्र संख्या में ४ तथा कलिकायुष्क या शीघ्रपाती (*deciduous*) तथा दलपत्र ४, आयताकार, लट्वाकार या स्रुवाकार (*Spathulate*) होते हैं। पुंकेशर अनेक तथा दलपत्रों से बड़े होते हैं। कुक्षि, कुक्षिवृन्त रहित होती है। फल (*Berry*), लम्बगोल, व्यास में २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच, नीबू के आकार के आपाढ़-श्रावण में लगते हैं, जो पकने पर लाल हो जाते हैं। फल-मज्जा पीले रंग की होती है, जिसमें कई-कई बीज छिटके रहते हैं। पत्रकों को मसलने पर एक तीक्ष्ण गंध निकलती है। इसके पत्र, फूल और कच्चे फल का स्वाद तिक्त होता है। फल पकने पर किंचित् मधुर हो जाता है। वरुण की जड़, छाल एवं पत्तियों का उपयोग चिकित्सा में होता है।

उपयोगी अंग – छाल, मूल एवं पत्र।

मात्रा – चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। स्वरस–१ से २ तोला।
क्वाथार्थ छाल एवं मूलत्वक्–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वरुण की छाल मोटी एवं बाह्यतः खाकस्तरी रंग की होती है। बाह्य त्वचा अनुप्रस्थ दिशा में फटी हुई या दरारयुक्त (*Fissured*) होती है। त्वचा के बाह्य स्तर (*Epidermis*) के नीचे का स्तर हरे रंग का तथा अन्तर्वस्तु सफेद होता है। तोड़ने पर छाल खट से टूटती (*Fracture short*) है। छाल का अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर जगह-जगह बड़ी-बड़ी अश्म-कोशाओं (*Stone cells*) के पुञ्ज मालूम पड़ते हैं, जो पीले विन्दुओं के रूप में दिखते हैं। स्वाद में छाल किंचित् तिक्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – उपयोगी अंगों को मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – छाल में सेनेगा की भाँति सेपोनिन (*Saponin*) तत्त्व पाया जाता है। अल्प मात्रा में टैनिन भी पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–भेदन। कर्म–कफवात शामक, दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन, रक्तशोधक, अश्मरीभेदन एवं मूत्रल, ज्वरघ्न (अल्प मात्रा में कटु पौष्टिक)। यूनानी मतानुसार वरुण तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है।

मुख्य योग – वरुणादि क्वाथ, वरुणादि घृत, वरुणादि तैल।

विशेष – वरुण की छाल उत्तम जीवाणु-नाशक औषधि है। पूयमयता (*Pyaemia*) एवं जीवाणुमयता (*Septicaemia*), विद्रधि, व्रण एवं गण्डमालादि रोगों में इसका व्यवहार उत्तम है। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८, चि० अ० ७) वरुणादि, वाताश्मरीनाशन एवं कफाश्मरीनाशन गण के द्रव्यों में वरुण भी है।

वला (बरियारा)

नाम। सं०–वला, वाट्यालिका। हिं०–वरियार, खरैंटी, वरियरा। वं०–वेडेला। पं०–खरयंटी। गु०–वल, वला, खरेटी। म०–चिकणा। अं०–कन्ट्री मैलो (*Country Mallow*)। ले०–(१) सीडा र्‌हॉम्बीफ़ोलिआ *Sida rhombifolia L*; (२) सीडा कॉर्डीफ़ोलिआ (*Side cordifolia Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – कार्पास-कुल (माल्वासे *Malvaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण कटिबन्धीय तथा समशीतोष्ण प्रान्तों में जंगलों में तथा गाँवों के आसपास की परती जमीन एवं वगीचों में वला के स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – (१) *Sida rhombifolia Linn.*–इसके ६० सें० मी० से १२० सें० मी० या २-४ फुट ऊंचे, सीधे, क्षुप या गुल्मक (*Undershrub*) होते हैं, जिसकी शाखाएँ तूल-रोमश (*Stellate tomentose*) होती हैं। पत्तियाँ २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बी, रूपरेखा में बहुत परिवर्तनशील, सामान्यतः तिर्यगायताकार (*Rhomboid*) या अभिलट्वाकार, ऊर्ध्व पृष्ठ पर प्रायः चिकनी किन्तु अधः पृष्ठ पर मृदुरोमश होती हैं। किनारे आधार की ओर सरल किन्तु अग्र की ओर दन्तुर (*denatate-serrate*) होते हैं। आधार की ओर यह स्फानाकार (*Cuneate*) होती और तीन स्पष्ट शिराएँ होती हैं। पर्णवृन्त ०.६२५ सें० मी० या ¼ इंच तक लम्बे होते हैं। पुष्पवाहक दण्ड पत्रकोणों से निकलते हैं अथवा शाखाग्रों पर समूहवद्ध होते हैं, जिन पर पीले या पीताभ श्वेत वर्ण के पुष्प होते हैं। वाह्यकोप ५-कोणीय होता है, जिसके खण्ड त्रिकोणाकार तथा लम्बाग्र होते हैं। स्त्रीकेशर (*Carpels*) संख्या

में ८-१० तक, शूक (*Awns*) २ तथा छोटे होते हैं। यह एक परिवर्तनशील जाति है, जिसके अन्दर कई उपभेद पाये जाते हैं। (२)*Sida cordifolia Linn.*–इसका ६० सें० मी० (०.६ मीटर) से १२० सें० मी० (१.२ मीटर) या २-४ फुट ऊंचा स्वावलम्बी गुल्मक (*Erect undershrub*) होते हैं। पत्तियाँ १-२ इंच लम्बी, लट्वाकार या लट्वाकार आयताकार, आधार हृद्वत्, कुण्ठिताग्र या कुछ नुकीले अग्र वाली, दोनों तलों पर तूल–रोमश तथा तट गोलदन्तुर (*Crenate*) होते हैं। पर्णवृन्त ।।-१।। इंच तक लम्बा होता है। पुष्पवाहक दण्ड पत्रकोणोद्भूत, अकेला या कई-कई साथ-साथ होते हैं। नीचे के पुष्पों के वृन्त पर्णवृन्त से बड़े किन्तु ऊपर के छोटे होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं। पुष्प के बाह्य एवं आभ्यन्तर दल संख्या में प्रायः ५-५ होते हैं। बीज छोटे, भूरे या काले रंग के दानों के रूप में होते हैं। वर्षा के बाद पुष्प और फल लगते हैं। बला के बीजों को **बीजबन्द** कहते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग विशेषतः मूल, बीज एवं पत्र।

मात्रा–स्वरस–१ से २ तोला।

चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा एवं स्थानापन्न द्रव्य – बला नाम से प्रायः सीडा की उपर्युक्त दोनों जातियों का ही ग्रहण होना चाहिए। उनमें भी उत्तर प्रदेश में अपेक्षाकृत सीडार्होम्बीफोलिआ अधिक पायी जाती है। इनके अतिरिक्त बला की कई जातियाँ पायी जाती हैं, जिनका ग्रहण स्थान-स्थान में बला के नाम से होता है। वैसे बलाभेद के नाम से इनका ग्रहण स्थानापन्न द्रव्य के रूप में हो सकता है। (१) सीडा स्पीनोजा (*Sida spinosa Linn.*)–यह लगभग ३० सें० मी० या १ फुट ऊंची गुल्माकार वनस्पति होती है, जिसकी पत्तियाँ प्रायः छोटी अग्र पर गोली और कभी ५ सें० मी० या २" तक लम्बी होती हैं। पुष्प पीले या श्वेताभ होते हैं। पर्णवृन्त के आधार के पास प्रायः तीक्ष्ण बाह्य वृद्धियाँ (*Petioles with small spiny tubercles at the base*) होती हैं। इसके भी पुष्प के रंग भेद से २ भेद होते हैं। सीडा आल्बा (*Sida alba*) के पुष्प सफेद तथा सीडा आल्नीफोलिआ (*S. alnifolia*) के पुष्प पीत वर्ण के होते हैं। इसको 'श्वेतपुष्पा बला' कह सकते हैं। (२) सीडा आकूटा (*Sida acuta Burm.*)–इसके क्षुप ६० सें० मी० से ६० सें० मी० या २-३ फुट ऊँचे (कभी-कभी १.५ मीटर या ५ फुट तक) होते हैं। पत्तियाँ ३.७५ सें० मी० से ८.७५ सें० मी० या १।।-३।। इंच लम्बी, १.२५ से २.५ सें० मी० या ।।-१ इंच चौड़ी, प्रासवत् (*Lanceolate*) अथवा प्रासवत् अभिलट्वाकार (*Lanceolate-obovate*), चिकनी, अम्यारावत् धारवाली होती हैं। पुष्प हलके पीले रंग के होते हैं। यह भी प्रायः सर्वत्र ऊसर भूमि में पायी जाती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में जड़ों का संग्रह कर जल से धोकर सुखा लें और मुखबन्द पात्रों में उपयुक्त स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – जड़ों में पिच्छिल द्रव्य, वसाम्ल, राल एवं पोटासियम् नाइट्रेट आदि तत्त्व होते हैं। इसके अतिरिक्त ०.०८५ क्षारतत्त्व पाया जाता है। बीजों में क्षार तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, नाड़ीबल्य, स्नेहन, हृद्य, रक्तपित्तशामक, शुक्रल, प्रजास्थापन, मूत्रल, ज्वरघ्न, बल्य, वृंहण, ओजोवर्धक।

मुख्य योग – बलाद्य घृत, चन्दनबलालाक्षादि तैल, बलातैल।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) वृंहणीय महाकषाय में (वाट्यायनी नाम से), प्रजास्थापन महाकषाय में (वाटचपुष्पी नाम से) तथा बल्य महाकषाय एवं मधुर-स्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में एवं सुश्रुतोक्त (सू०अ० ३९) वातसंशमन वर्ग में बला भी है।

बहमन, लाल

नाम। हिं०–लाल बहमन। फा०–बहमने सुर्ख। अं०–रेड बहमन या र्हैपटोनिक (*Red bahman or rhaptonic*), ब्लडवेन्ड सेज (*Bloodvened sage*)। ले०–साल्विआ हेमोटोडेस (*Salvia hemotodes.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष तथा खुरासान। भारतवर्ष में इसका आयात फारस से होता है। सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलता है।

उपयोगी अंग – कंदाकार शुष्क मूल।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यह प्रसिद्ध सूखी जड़ है, जो छोटी गाजर के समान झुर्रीदार, खुरदरी, कड़ी, भारी और किसी कदर टेढ़ी होती है। यह तोड़ने पर सख्ती से टूटती है। वाहर से कालाई लिये अधिक लाल और अंदर से कम लाल होती है। साफ, भारी और लाल जड़ उत्तम समझी जाती है। इसका स्वाद लवावी और कुछ कसैला होता है, तथा इसमें हल्की सुगंधि भी आती है। कभी-कभी वाजारों में इसके कतरेनुमा काटे टुकड़े आते हैं, जिनमें से केन्द्रस्थ काष्ठीय भाग निकाल दिया दिया जाता है। सूक्ष्म रचना में लाल वहमन की जड़ें कुछ-कुछ ऊदसलीव से मिलती-जुलती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसे मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें वसा, टैनिक एसिड (*Tannic acid*) एवं बहमनीन नाम किस्टली स्वरूप का तिक्त क्षारोद (एल्केलॉइड) प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – उष्ण एवं रूक्ष। वाजीकर, वृंहण, शुक्रल, हृद्य, हृदयोल्लासकर। दोनों वहमन को हृद्य और सौमनस्य–जननार्थ दिल की धड़कन और हृदयदौर्बल्य में उपयोग करते हैं। एतदर्थ इसे मुफ़र्रेह या याकूती कल्पों में डाल कर खिलाते हैं। वाजीकर एवं शुक्रजनन कर्म के लिए अकेले इसका चूर्ण दूध के साथ या उपयुक्त औषधियों के साथ चूर्ण या माजून वना कर खिलाते हैं। शरीर को स्थूल करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। अहितकर–उष्णप्रकृति को। प्रतिनिधि–दोनों वहमन एक दूसरे के प्रतिनिधि हैं। दोनों का प्रतिनिधि तोदरी और मुसली है।

विशेष – बहमन सुर्ख का उपयोग जीवक (अष्टवर्गोक्त) के प्रतिनिधि द्रव्य के रूप में भी किया जाता है।

बहमन, सफेद

नाम। हिं०–सुफेद वहमन। अ०–वहमन अव्यज़। फा०–वहमने सुफ़ेद। अं०–व्हाइट विहीन (*White behen*), व्हाइट र्‍हैपौन्टिक (*White rhapontic*)। ले०–सेंटाउरेआ वेहेन (*Centaurea behen Linn.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़ीटे : *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस, सीरिया, अरमीनिया। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः फारस से होता है। यह सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलता है।

उपयोगी अंग – मूल (कन्दाकार जड़)।

मात्रा – ५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ से ७ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – यह एक सूखी जड़ होती है, जो वाहर से सफेदी लिये भूरी, अत्यंत झुर्रीदार एवं खुरदरी तथा पेंचदार या व्यावृत्त (*Twisted*) होती है। शीर्ष (*Crown*) से समीप विपुल वृत्ताकार रेखाओं से अंकित होती है। कभी जड़ सीधी तथा कभी नीचे की ओर क्रमशः कम मोटी और कभी सशाख होती है। कभी-कभी काण्ड का कुछ भाग भी लगा होता है। औसतन सफेद वहमन की जड़ें ६.२५ सें० मी० या २॥ इंच लम्बी तथा व्यास में १.८७५ सें० मी० या ¾ इंच होती हैं। काटने पर अन्दर का भाग सफेद तथा कुछ स्पंजवत् (*Spongy*) होता है। जल में भिगोने पर यह फूल जाती तथा लुवावी हो जाती है। स्वाद में लुआवी तथा किंचित् तिक्त होती है। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर अन्दर तनुभित्तिक-ऊति या पैरेंकाइमा (*Parenchyma*) का भाग होता है। वल्कल (*Cortex*) की कोशाएँ भूरे रंग की तथा रूपरेखा में आयताकार होती हैं। तनुभित्तिक ऊति की कोशाओं का अन्तर्वस्तु आयोडीन सोल्यूशन के संपर्क से कुछ कृष्णाभ नीली आभा का हो जाता है। भारी, कड़ी तथा खुरासानी और अर्मनी जड़ उत्तम होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – सफेद वहमन की जड़ों को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसकी जड़ों में म्युसिलेज, शर्करा एवं वसा प्रभृति-तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – वहुत कुछ लाल वहमन की भाँति।

विशेष – सफेद वहमन का उपयोग अष्टवर्गोक्त ऋषभक नामक औषधि के प्रतिनिधि स्वरूप में किया जाता है।

वहेड़ा (विभीतक)

नाम। सं०–अक्ष, कर्षफल, कलिद्रुम। हिं०–वहेड़ा। वं०–वयड़ा, वहेड़ा। अ०–वलीलज। फा०–वलीलः। अं०–वेलेरिक मायरोवलन (*Beleric Myrobalan*)। ले०–टर्मिनालिया वेल्लीरिका (*Terminalia belerica Roxb.*)। लेटिन नाम वहेड़े के वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रीटासे *Combretaceee*) ।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारत में ९१४.४ मीटर या ३,००० फुट की ऊंचाई तक एवं लंका तथा वर्मा के जंगलों में वहेड़े के वृक्ष वहुतायत से पाये जाते है ।

संक्षिप्त परिचय – बहेड़े के ९ मीटर से १८ मीटर या ३० से लेकर ६० फुट तक और कभी-कभी इससे भी ऊंचे वृक्ष होते हैं । काण्डस्कन्ध लम्बा सीधा और व्यास में १.८ मीटर से ३ मीटर या ६ से १० फुट अथवा कभी-कभी ४.८ मीटर से ६ मीटर या १६ से २० फुट तक भी होता है। काण्डत्वक् या छाल २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच तक मोटी श्वेताभ वर्ण की और ऊंची नीची होती है । पत्र १० सें० मी० से २२.५ सें० मी० या ४ से ९ इंच लम्बे छोटी शाखाओं पर तथा एकान्तर क्रम से स्थित एवं शाखाग्रों पर समूहवद्ध होते हैं जिससे विभीतक या वहेड़ा एक छायावृक्ष भी होता है । पत्तियों की रूपरेखा एवं क्रम को देखते हुए दूर से इसके वृक्ष महुए के वृक्षों की भाँति प्रतीत होते हैं । पर्ण-वृन्त या पत्तियों का डंठल २.५ से ७.५ सें० मी० या १ से ३ इंच लम्बा होता है । पुष्प छोटे-छोटे हरिताभ पीत वर्ण के एवं सुगन्धयुक्त होते हैं; और नरपुष्प एवं उभयलिंगी दोनों ही प्रकार के पुष्प एक ही मंजरी में पाये जाते हैं। वाह्यदलकोश रोमश होता है । फल लम्ब-गोल लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बा तथा पकने पर हल्का भूरापन लिये खाकस्तरी मखमली रंग का हो जाता है। व्यवहार में इन्हीं फलों का उपयोग वहेड़ा के नाम से होता है ।

उपयोगी अंग – पक्व फल (प्रायः फल का छिलका) ।

मात्रा – १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – छोटे वहेड़ा के फल प्रायः गोलाकार और व्यास में १.२५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या आधे से तीन इंच होते हैं और एक छोटे से डंठल के साथ लगे होते हैं। पके फलों के वाह्य तल पर पीताभ भूरे रंग का एक सूक्ष्म मखमली आवरण होता है। फल के अन्दर पंचकोणीय गुठली होती है। गुठली को तोड़ने पर इसके अन्दर वादाम की भाँति मीठी गिरी निकलती है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २ प्रतिशत ।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को ग्रहण कर गुठली निकाल दें और फिर इसे सुखा कर अनार्द्र शीतल स्थान में मुखवंद पात्रों में रखें ।

संगठन – फल में १७ प्रतिशत टैनिन पाया जाता है । फल के ऐल्कोहल-विलेय सत्त्व का कुछ भाग पेट्रोलियम-ईथर में घुलनशील होता है, और कुछ भाग नहीं घुलता । प्रथम में स्थिर तैल और द्वितीय में सेपोनिन आदि तत्त्व पाये जाते हैं ।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण—रूक्ष, लघु । रस—कषाय । विपाक—मधुर । वीर्य—उष्ण । प्रधान कर्म—फलत्वक् श्वास, कास एवं स्वरभेदनाशक होता है; इसके अतिरिक्त यह चक्षुष्य, त्वग्रोगनाशक, दीपनपाचन, अनुलोमन तथा संग्राही एवं मेध्य होता है । यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में शीत एवं दूसरे दर्जे में रूक्ष होता । अहितकर – अन्त्र एवं गुदा के लिए । निवारण—मधु और शर्करा ।

मुख्य योग – त्रिफला चूर्ण, विभीतक तैल, फलत्रिकादि क्वाथ एवं लवंगादि वटी ।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) विरेचनोपग तथा ज्वरहर महाकषाय एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) मुस्तादि गण और त्रिफला गण की औषधियों में विभीतक या वहेड़ा भी है ।

वाकुची (बावची)

नाम । सं०—वाकुची, पूतिफली, कृष्णफला, कुष्ठघ्नी । हिं०—वकुची, वाकुची, वावची । वं०—वुकुचिदाना । म०, गु०—वावची । अं०—पर्पिल फ्लीवेन (*Purple Fleabane*), सोरेलिआ सीड्स (*Psoralea seeds*) । ले०—(१) फल (वीज)—प्सोरालेए सेमिना *Psoraleae Semina* (*Psoral. Sem.*) । (२) वनस्पति—प्सोरालेआ कोरीलीफ़ोलिआ (*Psoralea corylifolia Linn.*) ।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल । (लेगूमिनोसे : पैपीलीओनासे *Leguminosae* : *Papilionaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष एवं लंका में वाकुची के स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं । जगह-जगह इसकी खेती भी की जाती है ।

संक्षिप्त परिचय – वाकुची के ६० सें० मी० (०.६ मीटर) से १२० सें० मी० (१.२ मीटर) या १ से ४ फुट तक ऊंचे सीधे खड़े कोमल पौधे होते हैं, जो साधारणतः एक वर्षायु होते हैं। किन्तु सावधानी से रखने पर इसके

क्षुप ४-५ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं। शाखाएँ अपेक्षाकृत कड़ी तथा ग्रंथि-बिन्दुकित (*gland-dotted*) होती हैं। पत्तियाँ–साधारण, सवृन्त, २.५ से ७.५ सें० मी० या १ से ३ इंच लम्बी, रूपरेखा में गोलाकार तथा वयन में मजबूत (*Firm in texture*), प्रायः चिकनी तथा दोनों पृष्ठों पर कृष्णबिन्दुकित (*Dotted with black dots*) होती हैं। पुष्प नीलापन लिये बैंगनी (हल्के जामुनी) रंग के आते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत १० से ३० फूलों की सवृन्तकाण्डज सघन एक वर्ध्यक्ष मञ्जरियों या रेसीम (*Dense axillary* 10-30 *flowered racems*) में निकलते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncles*) २.५ से ५ सें० मी० या १ से २ इंच लम्बे एवं मृदुरोमावृत होते हैं, पुष्प इन्हीं दण्डों पर छोटे-छोटे पुष्पवृन्तकों (*Podicels*) द्वारा धारण किये जाते हैं। बाह्य कोष ३.१२५ मि० मी० से ४.१६ मि० मी० या बाह्य दलपुञ्ज ($\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{6}$ इंच) लम्बा तथा बाह्य तल पर मृदुरोमावृत्त होता है। आभ्यन्तर कोष या दलपुञ्ज (*Corolla*) प्रायः बाह्य कोष से दुगुना बड़ा; फली (*Pod*)–छोटी-छोटी, काले रंग की, लम्बगोल, चिकनी होती है, जिसमें बाह्य त्वचा (*Pericarp*) बीज से चिपकी होती (*adhering to the seed*) है। उक्त फलियाँ प्रायः अस्फोटी (*Indehiscent*) होती हैं और प्रत्येक में १–१ बीज होते हैं, जो फलियों की रूपरेखा के, काले रंग के तथा बेल की तरह सुगन्धियुक्त होते हैं। पुष्पागम काल–शीत काल। फलागम–ग्रीष्म ऋतु।

उपयोगी अंग – बीज एवं बीजों से प्राप्त तैल (*Oleo-resinous Extract*)।

मात्रा – बीजचूर्ण १ ग्राम से ३ ग्राम १ से ३ माशा (कृमिघ्न प्रभाव के लिए–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा)। तैल–बाह्य प्रयोग के लिए आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाकुची के बीज प्रायः बाजार में मिलते हैं, जो मसूर के दाने की तरह, किंतु उससे किंचित् बड़े, काले या गहरे भूरे, लम्बगोल और चपटे, कड़े किंतु अभंगुर एवं खुरदरे होते हैं। इन्हें काटने पर अंदर से सफेद मग्ज निकलता है। गंध ठीक बेल के फल सरीखा रुचिकर एवं सुगंधित और स्वाद तिक्त एवं चरपरा होता है, जो जबान में लगता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – अमेरिका की फार्माकोपिआ में बाकुची का ग्रहण कृमिघ्न कार्य के लिए किया गया था। अतएव सोरेलेआ की अन्य कई प्रजातियों का व्यवहार वहाँ किया जाता है और गुण-कर्म की दृष्टि से वह सब भी भारतीय बाकुची जाति से मिलती-जुलती हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – बाकुची-बीजों को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। तैल को अच्छी तरह डाटबंद शीशियों में रख कर सूखे स्थान में रखें और सूर्य प्रकाश से बचाना चाहिए।

संगठन – बीजों में एक उड़नशील तैल, एक राल या रेजिन (*Resin*), एक स्थिर तैल, तथा दो क्रिस्टलाइन सत्व–सोरालेन (*Psoralen*) एवं आइसो-सोरालेन (*Iso-psoralen*) पाये जाते हैं। फल की बाह्य त्वचा (*Pericarp*) से सोरेलिडिन (*Psoralidin*) नामक सत्व भी प्राप्त किया गया है। बाकुची के सोरालेन एवं आइसो-सोरालेन नामक उक्त दोनों सत्व तैल में घुलनशील होते हैं। बाकुची के कुष्ठघ्न एवं कृमिघ्न यह दोनों प्रसिद्ध कर्म इन्हीं सत्वों के कारण होते हैं। रासायनिक दृष्टि से यह फ़ूरोकूमारीन (*Furocoumarins*) होते हैं। सोरेलिन, अंजीर में पाये जाने वाले फाइकसिन (*Ficusin*) नामक सत्व से बहुत-कुछ मिलता-जुलता या तदनुरूपिक (*Identical*) है।

वीर्यकालावधि – बीजों में १ वर्ष। तैल को ठीक तरह सुरक्षित रखने से कई वर्ष तक सक्रियता बनी रहती है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–कुष्ठघ्न, एवं कृमिघ्न। प्रधान कर्म–वात-कफनाशक, कुष्ठघ्न, कटु पौष्टिक, कृमिघ्न, उत्तेजक, वाजीकरण, दीपन-पाचन, नाड़ीबल्य। प्रमेहघ्न, श्वास-कासहर, ज्वरघ्न। तैल बाह्य प्रयोग से श्वित्रहर। यूनानी मतानुसार बाकुची दूसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क होती है। अहितकर–आनाहकारक। निवारण–दही एवं स्नेह-द्रव्य। प्रतिनिधि–पवाँड़ (चक्रमर्द) के बीज।

मुख्य योग – बाकुची तैल।

विशेष – आभ्यन्तर प्रयोग के लिए पहले बीजों को शुद्ध कर लेना चाहिए। एतदर्थ बीजों को एक सप्ताह तक गोमूत्र या अदरक के रस में भिगोना चाहिए और प्रति दिन इसको बदलते रहें।

बादाम मीठा (वाताद)

नाम। सं०–मिष्ठवाताद, मधुरवाताम। हिं०–मीठा बादाम, बदाम। बं०, पं०–मीठा बदाम। गु०–मीठी बदाम।

म०–गोडवदाम। अं०–स्वीट आमंड (*Sweet Almond*)। ले०–आमीग्डाला डुल्सिस् (*Amygdala dulcis*) । (वृक्ष) सं०–मिष्टवातादवृक्ष। फा०–दरख्त बादाम शीरीं। अ०–शज्रतुल् लौंजुलूहलों। ले०–प्रूनुस आमीग्डालुस प्र० डुल्सिस *Prunus amygdalus Batsch. var. dulcis* (DC) *Koehne.* (*P. communis Arcang. var. dulcis Schneid.*)

वानस्पतिक कुल–तरुणी-कुल (रोजासे *Rosaceae*)।

प्राप्तिस्थान–यह पश्चिमी एशिया में अधिकता से होता है। कश्मीर, पंजाब, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, फारस, एवं भूमध्यसागरतटीय प्रान्तों में इसके वृक्ष प्रचुरता से लगाये जाते हैं, और इन्हीं स्थानों से भारतीय बाजारों में बादाम आता है।

संक्षिप्त परिचय–बादाम के वृक्ष मध्यम कद के होते हैं, जिनकी शाखाएँ चिकनी तथा हल्के रंग की होती हैं। पूर्ण प्रगल्भ (*Full-grown*) पत्तियाँ, खाकस्तरी रंग की रूपरेखा में आयताकार भालाकार तथा किनारे सूक्ष्म दन्तुर (*Serrulate*) होते हैं। वृन्त (*Petiole*) पत्ती की अधिकतम चौड़ाई के बराबर या कुछ अधिक लम्बे होते हैं। पुष्प सफेद, जो लाल रंग से चित्रित (*tinged with red*) होते तथा नयी पत्तियाँ निकलने के पूर्व ही निकलते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) बाहर से मखमली (*Velvety*), किन्तु पकने पर कड़ा हो जाता है। कच्चा फल खट्टा तथा पकने पर खटमिट्ठा हो जाता है। कच्चे फलों का साग बनाते हैं। बीज या गुठली (*Stone*), पार्श्वों में चिपटा तथा किंचित् झुर्रीदारसा तथा उस पर अनेक छोटे-छोटे सूक्ष्म छिद्र होते हैं। इनको तोड़ने पर अन्दर मग्ज या गिरी निकलती है। बाजार में उक्त बीज ही बादाम के नाम से बिकते हैं।

उपयोगी अंग–बीज या बादाम के ऊपर का कड़ा छिलका,, मग्ज या बीजमज्जा तथा मग्ज से प्राप्त तैल या बीजमज्जा तैल (बादाम का तेल–रोगन बादाम)।

मात्रा–बीजमज्जा–७ से ११ दाने।
तैल (रोगन बादाम)–३ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा–यह बादाम के वृक्ष के फल का प्रसिद्ध-बीज होता है, जिसको तोड़ने पर अन्दर से सफेद मज्जा (मग्ज) निकलती है। यह स्वाद में मीठा एवं स्वादिष्ठ होता है। इसके कई भेद हैं। उनमें एक का छिलका इतना पतला होता है कि चुटकी से मलने से टूट जाता है। इसको कागजी (*Thin-celled*) बादाम कहते हैं। यह सर्वोत्तम होता है। बादाम (के बीज) प्रायः २.५ सें० मी० या १ इंच से कुछ अधिक तक लम्बे तथा १.२५ सें० मी० या ½ इंच तक चौड़े, रूपरेखा में आयताकार गोलाकार होते हैं, जिनका एक सिरा कम चौड़ा तथा नुकीला और दूसरा अधिक चौड़ा एवं गोलाकार-सा होता है। इस पर दालचीनी के रंग का एक छिलकेदार आवरण होता है जो अनुलम्ब दिशा में झुर्रीदार-सा होता है। नाभि (*Hilum*) नुकीले सिरे से लेकर आधी लम्बाई तक स्थित होती है। चौड़े सिरे की ओर कैलाजा (*Chalaza*) स्थित होता है, जहाँ से अनेक सूक्ष्म रेखाएँ पहिये की अरों की भाँति चारों ओर जाती दिखाई देती हैं। थोड़ी देर जल में भिगो देने से बीजों का छिलका आसानी से पृथक् हो जाता है। छिलका हटाने पर अन्दर सफेद रंग के तैलीय द्विदल निकलते हैं, जो अन्तस्तल पर चपटे तथा बाह्य तल पर उन्नतोदर (*Plano-convex cotyledons*) होते हैं। द्विदलों के अन्तर्मध्य मूलभ्रूण (*Radicle*) एवं भ्रूणाग्र (*Plumule*) होते हैं। भस्म अधिकतम २%। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम १% होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–कड़वे बादाम में हाइड्रोसायनिक एसिड नामक तीव्र विषैला सत्व पाया जाता है। अतः इसका मौखिक सेवन कदापि नहीं होना चाहिए। कभी-कभी गलती से मीठे बादाम में यदा-कदा कड़वे बीज भी मिल जाते हैं। ऐसे बादाम के सेवन से भयंकर परिणाम हो सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण–बादाम को उचित स्थानों में मुखबंद पात्रों में रखें।

संगठन–मीठे बादाम के बीजों में ४५% से ५६% तक स्थिर तैल (बादाम का तेल) होता है। इसके अतिरिक्त प्रोटीन एवं इमल्सिन (*Emulsin*) नामक किण्वों (*Enzymes*) का मिश्रण, शर्करा एवं लवाब आदि पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–२ वर्ष। तैल में कई वर्षों तक।

स्वभाव। गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। *प्रधान कर्म*–वातशामक तथा कफपित्तवर्धक, दन्त्य, वर्ण्य, स्नेहन, अनुलोमन, मृदुरेचन (इस क्रिया में जैतून के तेल का उत्तम प्रतिनिधि है।), नाड़ी संस्थान-बल्य, शुक्रजनन, वाजीकर, स्तन्यार्तवजनन, बृंहण, मूत्रल

आदि। गुठली का बाहरी छिलका जला कर दंतमंजनों में डालते हैं। यूनानी मतानुसार मीठा बादाम पहले दर्जे में गरम और तर है। अहितकर–चिरपाकी है। निवारण–मस्तगी एवं मिश्री। प्रतिनिधि–अखरोट का मग्ज।

मुख्य योग – बादाम पाक, खमीरा बादाम, लऊक बादाम, रोग़न बादाम।

विशेष – औषधि में गिरी या मज्जा के अतिरिक्त इनसे प्रपीड़न द्वारा तैल पृथक् रूप से भी प्राप्त किया जाता है। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए केवल मीठे बादाम का तेल (रोग़न बादाम) ही व्यवहृत होता है। वाह्य प्रयोग के लिए कड़वे बादाम का तेल (रोग़न बादाम तल्ख) अथवा मीठे तथा कड़वे दोनों प्रकार के मिश्रित बीजों के तेल का व्यवहार होता है। यह जैतून के तेल की भाँति स्नेहनन एवं मार्दवकर तथा आभ्यन्तर प्रयोग से सारक भी होता है।

बायबिडंग (विडङ्ग)

नाम। सं०–विडंग, कृमिघ्न, चित्रतंडुल। हिं०–वायविड़ंग, भाभीरंग। वं०–विडङ्ग। पं०–बावडींग। म०, गु०–वावडींग। अ०–बिरंज। फा०–बिरंगकाबुली। ले०–एम्बेलिआ रीबेज (*Embelia ribes Burm. f.*)

वानस्पतिक कुल–विडङ्गादि-कुल (मीर्सिनासे *Myrsinaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में जंगली प्रदेशों में ५,००० फुट की ऊंचाई तक इसके स्वयंजात गुल्म पाये जाते हैं। इसके सुखाये हुए पक्व फलों का व्यवहार औषधि में होता है, जो बाजारों में पंसारियों तथा वनौषधि विक्रेताओं के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – विडंग के आरोही स्वभाव के बड़े गुल्म (*Large scandent shrub*) होते हैं, जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ लम्बी, पतली तथा लचीली और रूपरेखा में वेलनाकार या गोली (*Terete*) होती हैं। पर्व (*Nodes*) दूर-दूर होते हैं। काण्डत्वक् पर जगह-जगह वातरंध्र के चिह्न (*Lenticels*) पाये जाते हैं। पत्तियाँ चर्मिल (*Coriaceous*) ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच लम्बी, १.८७५ सें० मी० से ३.७५ से० मी० या ।।।–१।। इंच चौड़ी, रूपरेखा में अंडाकार या अंडाकार भालाकार तथा अग्र पर सहसा नुकीली या लम्बे अग्रवाली तथा सरलधार होती हैं। फलक के दोनों पृष्ठ चिक्कण होते हैं। ऊर्ध्व पृष्ठ चमकदार तथा अधःपृष्ठ फीके रंग का होता है, जिसपर सर्वत्र सूक्ष्म लाल बिंदु पाये जाते हैं, जो नयी पत्तियों में अधिक स्पष्ट होते हैं। फलक मूल किन्हीं पत्तियों में गोलाकार, किन्तु किन्हीं-किन्हीं में उत्तरोतर कम चौड़ा होता हुआ नुकीला (*Acute*) हो जाता है। पर्णवृन्त ६.२५ मि० मी० से १५ मि०मी० या $\frac{1}{4}$ से $\frac{3}{5}$ इंच लम्वा होता है। पुष्प छोटे-छोटे तथा हरिताभ पीत वर्ण के और पंचभागीय (*5-merous*) होते हैं। मञ्जरियाँ शाखाग्रों पर निकलती हैं, फल मरिच की भाँति गुच्छों में लगते हैं, जो व्यास में ३–४ मिलिमीटर ($\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{6}$ इंच) चिकने तथा कुछ गूदेदार (*Succulent*) होते हैं, जो पकने पर लालिमा लिये काले रंग के हो जाते हैं और सूखने पर रक्ताभ धूसर वर्ण के और कुछ-कुछ काली मिर्च की भाँति लगते हैं। फल के भीतर धूसर वर्ण की मज्जा तथा एक बीज होता है, जिस पर सफेद दाग़ होते हैं। फल के शीर्ष पर चोंच-जैसी चोटी होती है। वह कुक्षिवृन्त का अवशेष होती है।

उपयोगी अंग – सुखाये हुए पक्व फल (विडंग)।

मात्रा – १ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विड़ंग का सुखाया हुआ फल काली मिर्च के समान, किन्तु उससे छोटा और चिकना, गोल, ललाई लिये काला (खाकस्तरी) होता है, जिसमें प्रायः एक पतला वृन्त या डंठल तथा कटोरीनुमा पंचखंडीय वाह्य कोष लगा होता है। फल के वाह्य तल पर आधार से शीर्ष की ओर अनेक अनुलम्ब रेखाएँ या धारियाँ होती हैं। सिरे पर एक चोंचदार चोटी (*Small beak*) होती है, जो वस्तुतः स्थायी कुक्षिवृन्त (*Style*) ही होता है। फलों पर छोटे-छोटे विन्दु (*Dark spots*) से भी मालूम होते हैं। वायविडंग का छिलका (*Pericarp*) भंगुर होता है। इसके अन्दर रक्ताभ वर्ण का बीज होता है, जो एक पतले आवरण से ढका होता है। बीज गोल और आधार (डंठल के स्थान) पर भीतर को धँसा होता है। इसपर छोटे-छोटे सफेद दाग़ होते हैं जो बीजों को जल में भिगोने पर हल्के पड़ जाते हैं। रखने पर कालान्तर से विडंग गाढ़े रंग का हो जाता है। वायविडंग में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होता है।

विनिश्चय – एक परखनलिका में ५ मिलिलिटर (५ सी०सी) ईथर लें। इसमें ०.२ ग्राम वायविडंग का चूर्ण डाल कर खूब हिलावें और इसे छान लें। इसमें १–२ बूंद डायल्यूट

सॉल्यूशन ऑव अमोनिया डालने पर नीलापन लिये बैंगनी रंग का अवःक्षेप (*Bluish-violet precipitate*) होता है, जो असली वायविडंग का द्योतक है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – विडंग की एक और जाति पायी जाती है, जिसके फल स्वरूपतः एवं गुण-कर्म की दृष्टि से (भी बहुत कुछ) असली विडंग की ही भाँति होते हैं। अतएव इसे विडंग भेद कह सकते है और इसका उपयोग चिकित्सा में असली विडंग के स्थान में किया जा सकता है। नाम। हिं०–अमचुर। (देहरादून) गैया (*Gaia*)। को०–गोयण्टा (कोयतङ्), माटा। संथा०–मावरी। ले०–एम्बेलिआ त्सजेरिआम-कोट्टाम *Embelia tsjeriam-cottam A. DC.* (पर्याय–*E. robusta* C. B. Clarke (*Fl. Br. Ind. non* Roxb.)। यह भी समस्त भारतवर्ष में ५,००० फुट की ऊंचाई तक (विशेषतः देहरादून, छोटा नागपुर, सिलहट, आसाम एवं मलाबार आदि में) पाया जाता है। इसके वड़े गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ हल्के धूसर रंग की और विन्दुकित तथा कोमल शाखाएँ मुरचई रंग की होती हैं। पत्तियाँ १२.५ से १७.५ सें० मी० या ५–७ इंच लम्बी, ५ से ७.५ सें मी० या २–३ इंच चौड़ी, अंडाकार, अग्र पर सहसा नुकीली लहरदार और कभी-कभी सूक्ष्म दन्तुर धार से युक्त, अवःपृष्ठ पर प्रायः रोमश और मुरचई रंग की होती हैं। फल गोल, नीरस और लाल तथा पके फल खाने में खटमिट्ठे होते हैं। असली विडंग की भाँति यह भी अग्र पर कुक्षिवृन्त से युक्त होते हैं। वीज विडंग की भाँति गोल और आधार पर अन्दर की ओर धँसा होता है। हिमालय की पर्वतश्रेणियों में कश्मीर से नेपाल तक १५४.६ मीटर से २३६.५५ मीटर या १,०००–८,५०० फुट की ऊंचाई तक एक और वृक्ष होता है, जिसे वनवान (जौनसार), रिखडाल्मी *Rikhdalmi* (गढ़वाल) कहते हैं। इसका वानस्पतिक नाम मीरसीने आफ्रीकाना (*Myrsine africana* Linn.) है। इसके छोटे-छोटे सदा-हरित झाड़ीनुमा गुल्म होते हैं, जिनकी कोमल शाखाएँ एवं पर्णवृन्त मुरचई रंग की (*Ferruginous*) होते हैं। इसके फल भी गोल (व्यास में ५ मि० मी० से ६.२५ मि० मी० या ३/१६ से १/४ इंच), लाल रंग के (पूर्णतः पकने पर कालिमा लिये बैंगनी रंग के) होते हैं। यह भी विडंग के नाम से बेचे जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – वायविडंग को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए।

संगठन – वायविडंग में २.५ से ३.१ प्रतिशत विडंगाम्ल या एम्बेलिक एसिड (*Embelic acid*) या एम्बेलिन *Embelin*, $C_{18}\ H_{28}\ O_4$ (2 : 5—*dihydroxy*—3—*lauryl-para-benzoquinone*), पाया जाता है, जो सुनहले पीले रंग के मणिभ या क्रिस्टल्स (*Crystals*) के रूप में प्राप्त होता है। यह क्रिस्टल्स जल में तो अविलेय होते हैं, किन्तु ऐल्कोहल्, ईथर, क्लोरोफॉर्म तथा बेंजीन में घुलनशील होते हैं। क्षारीय विलयन (*Alkaline solution*) में इसके घुलने से लाल रंग का विलयन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में एक उत्पत् तैल, रालदार पदार्थ, रंजक द्रव्य तथा क्रिस्टेम्बीन (*Christembine*) नामक ऐल्केलाइड या क्षारोद तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु., रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–दीपन, पाचन, अनुलोमन, उदर-कृमिनाशक (*Anthelmintic for Tapeworm*), शिरोविरेचन, नाड़ीवल्य, रक्तशोधक, मूत्रल, वर्ण्य, रसायन, कुष्ठनाशक। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क होता है। अहितकर–अन्त्रको। निवारण–कतीरा और मस्तगी।

मुख्य योग – विडंगारिष्ट, विडङ्गादि चूर्ण, विडंग लौह, विडंग तैल।

विशेष – (१) बहुत-से लोग भ्रमवश कमीला (कम्पिल्लक) के वीज को विडंग मानते हैं। किन्तु दोनों पृथक् द्रव्य हैं। कबीला वायविडंग फलरज नहीं अपितु कम्पिल्लक फल का रज है।

(२) चरकोक्त (सू० अ० ४) तृप्तिघ्न, कृमिघ्न एवं कुष्ठघ्न महाकषाय एवं शिरोविरेचन द्रव्यों (सू० अ० २) में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सुरसादि एवं पिप्पल्यादि गण में विडंग भी है।

बाल वच–दे०, 'वचा'।

विखमा (प्रतिविषा)

नाम। सं०–प्रतिविषा, श्यामकन्दा। हिं०–विखमा, विखमा। म०, एवं बम्ब० बाजार–वखमा। गु०–वखमो, वखमो। ले०–आकोनीटुम पाल्माटुम (*Aconitum palmatum* D. Don.)। विष (वत्सनाभ) वर्ग की होने पर भी यह भी

अतीस (अतिविषा) की भाँति विषैली नहीं होती। इसी लिए इसे प्रतिविषा ('विषं प्रति विरुद्धा' इति प्रतिविषा–विषवर्ग की होने पर भी विष नहीं) संज्ञा दी गयी है। अतीस की भाँति इसके भी शंक्वाकार रूप-रेखा के द्विवर्षायु कन्द होते हैं, जो रंग में सफेद न होकर सफेदी लिये काले रंग के होते हैं। अतएव इसे श्यामकन्दा कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (रानुनकुलासे *Ranunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पूर्वी समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में सिक्कम से गढ़वाल तक तथा तिब्बत के दक्षिणी प्रदेश में (३०४६ मीटर से ४८७४.८ मीटर या १०,०००–१६,००० फुट ऊंचाई पर) तथा मिश्मी की पहाड़ियों पर विखमा के क्षुप पाये जाते हैं। अतीस की भाँति इसके भी द्विवर्षायु, युग्म एवं शंक्वाकार या ढोला-जैसे लंवगोल कंद होते हैं। व्यावसायिक रूप में इसका संग्रह नहीं किया जाता, जिससे वाजारों में यह आम तौर से नहीं मिलती। किन्तु उक्त इलाकों के छोटे व्यापारी या संग्रहकर्ता न्यूनाधिक मात्रा में विखमा के कन्द भी लाते तथा समीपवर्ती वाजारों एवं मंडियों में वेच जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – प्रतिविषा या विखमा के शाकीय पौधे होते हैं, जिनका भौमिक भाग वहुवर्षायु स्वरूप का (*Perennial*) होता है। काण्ड ६० सें० मी० से १५० से०मी० या २–५ फुट तक ऊंचा तथा खड़ा (*Erect*) प्रायः चिकना एवं पत्रवहुल होता है। पत्तियाँ सवृन्त रूपरेखा में स्थूलतः वृक्काकार, व्यास में १० सें० मी० से १५ सें० मी० (४–६ इंच) तक और ५ गम्भीर खण्डों से युक्त होती हैं। पर्णवृन्त काफी लम्वे होते हैं। पुष्प वड़े, हरिताभ नीलवर्ण के तथा लम्वे वृन्तयुक्त होते हैं और अल्प पुष्पीय मञ्जरियों में निकलते हैं। फल (पुटिका) या फालिकिल (*Follicles*) २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१$\frac{1}{3}$ इंच लम्वे होते हैं, जिनमें अनेक वीज होते हैं। वत्सनाभ-कुल की होने पर भी यह भी अतीस की भाँति निर्विषैली होती है। कन्दों का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – कंद।

मात्रा – २५० मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २ से ५ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विखमा के कन्द भी द्विवर्षायु, एक साथ दो-दो (प्रथम एवं द्वितीय वर्ष के) रूपरेखा में शंक्वाकार या ढोल-जैसे लंवगोल, ३.७५ सें० मी० से १० सें० मी० (१$\frac{1}{2}$–४ इंच) तक लम्वे तथा $\frac{1}{2}$ सें० मी० से $\frac{5}{6}$ सें० मी० ($\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{3}$ इंच) तक मोटे और वजनदार होते हैं। वाह्यतः उक्त कन्द सफेदी लिये काले रंग के तथा तोड़ने पर खट से टूटते (*Fracture short*) और अन्तर्वस्तु सफेद तथा पिष्टमय अथवा पीताभ या हल्के भूरे रंग का तथा वत्सनाभ की भाँति कुछ चमकीला (*Horny*) होता है। उक्त दोनों ही प्रकार के कन्द स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं। मुँह में चावने पर, जीभ पर इसकी कड़ुआहट वहुत देर तक वनी रहती है। जिन कन्दों का अन्तर्वस्तु भूरे रंग का होता है, उन्हें जल से आर्द्र करने पर तीक्ष्ण गंध-सी उत्पन्न हो जाती है। सूक्ष्म दर्शक से परीक्षण करने पर अन्तर्वस्तु तनुभित्तिक ऊति या पैरेन्काइमा (*Parenchyma*) का वना होता है, जिसमें ६–१२ वाहिनी–पूल (*Bundles of scalariform vessels*) पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसका संग्रह एवं संरक्षण अतीस की ही भाँति समझना चाहिए।

संगठन – विखमा में भी अतीस में पाया जाने वाला ऐल्केलाइड् अतीसीन (*Atisine*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – विखमा के गुण-कर्म भी वहुत-कुछ अतीस की ही भाँति होते हैं। विशेषकर यह वातघ्न, दीपन-पाचन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न एवं ज्वरघ्न है। अजीर्ण, पेट का दर्द, अजीर्णजन्य वमन, अतिसार और आध्मान में इसको काली मिर्च और जावित्री आदि के साथ मिला कर चूर्ण के रूप में देते हैं। जीर्ण ज्वर, कृमिविकार तथा हैजे आदि में भी इसके प्रयोग से वहुत लाभ होता है।

विशेष – विखमा को प्राचीन निघण्टुकारों ने अतीस का एक भेद माना है। "अतिविषा शुक्लकन्दापरा प्रतिविषा" (कैय्यदेव निघण्टु), "श्यामकन्दा प्रतिविष विरूपा घुणवल्लभा" (नि० सं०) आदि वचन इसी का संकेत करते है।

विजयसार (वीजक)

नाम – (१) वृक्ष। सं०–वीजक। हिं०–विजयसार, विजासार। पं०–विजयसार। वं०–पियासाल। विहार–पैसार, विजासार, वीया। को०–हिंद। संथा०–मुरगा। म०–विवला। गु०–वीयो। मा०–विजैसार। अं०–इण्डियन काइनोट्री (*Indien Kino-tree*)। ले०–प्टेरोकार्पुस

मार्सूपिउम *Pterocarpus marsupium Roxb.* । (२) विजयसार निर्यास (गोंद)—मलावार काइनो (*Malabar Kino*), कोचिन काइनो (*Cochin Kino*), ईस्ट इण्डियन काइनो (*East Indian Kino*), मद्रास काइनो (*Madras Kino*) ।

वानस्पतिक कुल — शिम्बी-कुल : प्रजापति-उपकुल (लेगूमिनोसे : पैपीलिओनासे *Leguminosae: Papilionaceae*) ।

प्राप्तिस्थान — दक्षिण भारत (विशेषतः दकन के पश्चिम-वर्ती जांगल प्रदेश, मलावार, मद्रास, कोचिन आदि) तथा विहार आदि में विजयसार के वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। इसके गोंद का व्यावसायिक रूप से संग्रह मुख्यतः कनाडा एवं मलावार आदि में किया जाता है, जो कोचिन होकर विदेशों को भेजा जाता है। इसी कारण इसके मलावार-काइनो एवं कोचिन काइनो आदि नाम पड़े हैं। मद्रास में भी काफी परिमाण में गोंद संग्रहीत किया जाता है। भारतीय वाजारों में इसकी आमद वम्वई होकर होती है। विजयसार का गोंद वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय — विजयसार के ऊँचे-ऊँचे तथा पतझड़ करने वाले सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिनका काण्डस्कन्ध मोटा और कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता है; और इससे शाखाएँ निकल कर चारों ओर फैली होती हैं। पत्तियाँ पक्षवत् तथा ५–७ पत्रकों से युक्त होती हैं, जो रूपरेखा में आयताकार या अण्डाकार ६.२५ से १२.५ सें० मी० या २॥–५ इंच तक लम्बे तथा ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १½–२ इंच तक चौड़े, कुण्ठित या नताग्र तथा दोनों पृष्ठों पर चिकने और अधःस्तल पर चमकीले होते हैं। पुष्प शीत काल के आरम्भ में लगते हैं और श्वेताभ पीत वर्ण के होते हैं तथा सघन एवं सशाख अग्र्य मञ्जरियों में लगते हैं। वाह्य कोश ६.२५ मि० मी० या ¼ इंच से कुछ कम लम्वा तथा आभ्यन्तर कोश लगभग इसका द्विगुण होता है। जाड़े के अंत तक फलियाँ पकती हैं, जो वृत्ताकार एवं सपक्ष तथा व्यास में २.५से ५ सें० मी० या या १–२ इंच तक होती हैं। वृन्त के पास का कोना कुछ चोंचदार होता है। वीज छोटे होते हैं। विजयसार के काण्डत्वक् पर चीरा लगाने से प्रचुर मात्रा में लाल रस निकलता है, जो कालान्तर से सूख कर कड़ा और काला पड़ जाता है। यही इसका गोंद होता है। व्यवसाय में इसे पुनः जल में घोल कर उवाल लिया जाता है और रसक्रिया द्वारा घनीभूत करते हैं। यहीं उत्तम व्यावसायिक मलावार-काइनो होता है।

उपयोगी अंग — गोंद (मलावार-काइनो), सारकाष्ठ एवं त्वक् (छाल)।

मात्रा — गोंद (निर्यास)—२५० मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २ से ५ रत्ती।

त्वक् एवं काष्ठ चूर्ण —३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। क्वाथार्थ—१¼–२½ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा — विजयसार की छाल पीताभ खाकस्तरी रंग की तथा काफी मोटी होती है, जिसके वाह्य तल पर अनुलम्व दिशा में दरारें होती हैं। इसका वाह्य तल कार्कयुक्त होता है। स्वाद में छाल कसैली होती है। विजयसार के काष्ठ को पानी में डालने पर पहले यह पीला तथा वाद में काले रंग का हो जाता है। **गोंद**—वाजार में विजयसार के गोंद के छोटे-छोटे (३.१२५ मि० मी० से ५ मि० मी० या (⅛ से ⅕ इंच) कोणाकार-टुकड़े (*Angular fragments*) मिलते हैं, जो चिकने, चमकीले तथा कालिमा लिये गाढ़े लाल रंग के होते हैं। किन्तु प्रकाश में इसके किनारों को देखने पर यह माणिक्य की भाँति लाल रंग का मालूम होता है। उक्त टुकड़े काफी भंगुर (*Brittle*) होते हैं, और चूरा (चूर्ण) भूरापन लिए लाल रंग का होता तथा टूटा हुआ तल चमकदार होता है। गोंद में प्रायः कोई गंध नहीं होती और मुख में चावने पर अत्यंत कसैला होता तथा दाँतों में चिपक जाता है और लालास्राव लाल रंग का हो जाता है। इसमें १५% तक आर्द्रता होती है और जलाने पर २½% तक भस्म प्राप्त होती है। उत्तम गोंद में ७०% से ८५% तक टैनिक एसिड (*Kinotannic acid*) पाया जाता है। विलेयता—ठंढे जल में गोंद अंशतः (६०–७०%) घुलता है, किन्तु उवलते जल में यह प्रायः अधिकांशतः (९०%) घुल जाता है। ऐल्कोहल् (९०%) में भी उक्त गोंद अंशतः घुलता है, किन्तु ईथर में पूर्णतः विलेय है। उत्तम गोंद रेक्टिफाइड स्प्रिट में भी पूर्णतः घुल जाता है, जिससे गाढ़े लाल रंग का निष्कर्ष प्राप्त होता है। किन्तु कुछ समय पड़ा रहने पर यह चिपचिपा-सा हो जाता है। इसमें थोड़ा ग्लिसरिन मिला देने से निष्कर्ष (टिंक्चर) चिपचिपा नहीं होने पाता।

अतीस (अतिविषा) की भाँति विषैली नहीं होती। इसी लिए इसे प्रतिविषा ('विषं प्रति विरुद्धा' इति प्रतिविषा– विषवर्ग की होने पर भी विष नहीं) संज्ञा दी गयी है। अतीस की भाँति इसके भी शंखवाकार रूप-रेखा के द्विवर्षायु कन्द होते हैं, जो रंग में सफेद न होकर सफेदी लिये काले रंग के होते हैं। अतएव इसे श्यामकन्दा कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (रानुनकुलासे *Ranunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पूर्वी समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में सिक्कम से गढ़वाल तक तथा तिब्बत के दक्षिणी प्रदेश में (३०४६ मीटर से ४८७४.८ मीटर या १०,०००–१६,००० फुट ऊंचाई पर) तथा मिश्मी की पहाड़ियों पर विखमा के क्षुप पाये जाते हैं। अतीस की भाँति इसके भी द्विवर्षायु, युग्म एवं शंखवाकार या ढोला-जैसे लंबगोल कंद होते हैं। व्यावसायिक रूप में इसका संग्रह नहीं किया जाता, जिससे बाजारों में यह आम तौर से नहीं मिलती। किन्तु उक्त इलाकों के छोटे व्यापारी या संग्रहकर्ता न्यूनाधिक मात्रा में विखमा के कन्द भी लाते तथा समीपवर्ती बाजारों एवं मंडियों में बेच जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – प्रतिविषा या विखमा के शाकीय पौधे होते हैं, जिनका भौमिक भाग बहुवर्षायु स्वरूप का (*Perennial*) होता है। काण्ड ६० सें० मी० से १५० से०मी० या २–५ फुट तक ऊंचा तथा खड़ा (*Erect*) प्राय: चिकना एवं पत्रबहुल होता है। पत्तियाँ सवृन्त रूपरेखा में स्थूलत: वृक्काकार, व्यास में १० सें० मी० से १५ सें० मी० (४–६ इंच) तक और ५ गम्भीर खण्डों से युक्त होती हैं। पर्णवृन्त काफी लम्बे होते हैं। पुष्प बड़े, हरिताभ नीलवर्ण के तथा लम्बे वृन्तयुक्त होते हैं और अल्प पुष्पीय मञ्जरियों में निकलते हैं। फल (पुटिका) या फालिकिल (*Follicles*) २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१½ इंच लम्बे होते हैं, जिनमें अनेक बीज होते हैं। वत्सनाभ-कुल की होने पर भी यह भी अतीस की भाँति निर्विषैली होती है। कन्दों का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – कंद।

मात्रा – २५० मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २ से ५ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विखमा के कन्द भी द्विवर्षायु, एक साथ दो-दो (प्रथम एवं द्वितीय वर्ष के) रूपरेखा में शंखवाकार या ढोल-जैसे लंबगोल, ३.७५ सें० मी० से १० सें० मी० (१½–४ इंच) तक लम्बे तथा ½ सें० मी० से ½ सें० मी० (⅕ से ⅓ इंच) तक मोटे और वजनदार होते हैं। बाह्यत: उक्त कन्द सफेदी लिये काले रंग के तथा तोड़ने पर खट से टूटते (*Fracture short*) और अन्तर्वस्तु सफेद तथा पिष्टमय अथवा पीताभ या हल्के भूरे रंग का तथा वत्सनाभ की भाँति कुछ चमकीला (*Horny*) होता है। उक्त दोनों ही प्रकार के कन्द स्वाद में अत्यंत तिक्त होते हैं। मुँह में चाबने पर, जीभ पर इसकी कड़ुआहट बहुत देर तक बनी रहती है। जिन कन्दों का अन्तर्वस्तु भूरे रंग का होता है, उन्हें जल से आर्द्र करने पर तीक्ष्ण गंध-सी उत्पन्न हो जाती है। सूक्ष्म दर्शक से परीक्षण करने पर अन्तर्वस्तु तनुभित्तिक ऊति या पैरेन्काइमा (*Parenchyma*) का बना होता है, जिसमें ६–१२ वाहिनी–पूल (*Bundles of scalariform vessels*) पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसका संग्रह एवं संरक्षण अतीस की ही भाँति समझना चाहिए।

संगठन – विखमा में भी अतीस में पाया जाने वाला ऐल्केलाइड् अतीसीन (*Atisine*) पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – विखमा के गुण-कर्म भी बहुत-कुछ अतीस की ही भाँति होते हैं। विशेषकर यह वातघ्न, दीपन-पाचन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न एवं ज्वरघ्न है। अजीर्ण, पेट का दर्द, अजीर्णजन्य वमन, अतिसार और आध्मान में इसको काली मिर्च और जावित्री आदि के साथ मिला कर चूर्ण के रूप में देते हैं। जीर्ण ज्वर, कृमिविकार तथा हैजे आदि में भी इसके प्रयोग से बहुत लाभ होता है।

विशेष – विखमा को प्राचीन निघण्टुकारों ने अतीस का एक भेद माना है। "अतिविषा शुक्लकन्दापरा प्रतिविषा" (कैय्यदेव निघण्टु), "श्यामकन्दा प्रतिविषा विरूपा घुणवल्लभा" (नि० सं०) आदि वचन इसी का संकेत करते है।

विजयसार (बीजक)

नाम – (१) वृक्ष। सं०–बीजक। हिं०–विजयसार, विजासार। पं०–विजयसार। बं०–पियासाल। बिहार–पैसार, विजासार, बीया। को०–हिद। संथा०–मुरगा। म०–बिबला। गु०–बीयो। मा०–बिजैसार। अं०–इण्डियन काइनोट्री (*Indian Kino-tree*)। ले०–प्टेरोकार्पुस

मार्सूपिउम *Pterocarpus marsupium Roxb.*। (२) विजयसार निर्यास (गोंद)–मलाबार काइनो (*Malabar Kino*), कोचिन काइनो (*Cochin Kino*), ईस्ट इण्डियन काइनो (*East Indian Kino*), मद्रास काइनो (*Madras Kino*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : प्रजापति-उपकुल (लेगूमिनोसे : पैपीलिओनासे *Leguminosae: Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत (विशेषतः दकन के पश्चिमवर्ती जांगल प्रदेश, मलाबार, मद्रास, कोचिन आदि) तथा विहार आदि में विजयसार के वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। इसके गोंद का व्यावसायिक रूप से संग्रह मुख्यतः कनाडा एवं मलाबार आदि में किया जाता है, जो कोचिन होकर विदेशों को भेजा जाता है। इसी कारण इसके मलाबार-काइनो एवं कोचिन काइनो आदि नाम पड़े हैं। मद्रास में भी काफी परिमाण में गोंद संग्रहीत किया जाता है। भारतीय बाजारों में इसकी आमद बम्बई होकर होती है। विजयसार का गोंद बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – विजयसार के ऊँचे-ऊँचे तथा पतझड़ करने वाले सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिनका काण्डस्कन्ध मोटा और कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता है; और इससे शाखाएँ निकल कर चारों ओर फैली होती हैं। पत्तियाँ पक्षवत् तथा ५–७ पत्रकों से युक्त होती हैं, जो रूपरेखा में आयताकार या अण्डाकार ६.२५ से १२.५ सें० मी० या २॥–५ इंच तक लम्बे तथा ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १$\frac{1}{2}$–२ इंच तक चौड़े, कुण्ठित या नताग्र तथा दोनों पृष्ठों पर चिकने और अधःस्तल पर चमकीले होते हैं। पुष्प शीत काल के आरम्भ में लगते हैं और श्वेताभ पीत वर्ण के होते हैं तथा सघन एवं सशाख अग्र्य मञ्जरियों में लगते हैं। वाह्य कोश ६.२५ मि० मी० या $\frac{1}{4}$ इंच से कुछ कम लम्बा तथा आभ्यन्तर कोश लगभग इसका द्विगुण होता है। जाड़े के अंत तक फलियाँ पकती हैं, जो वृत्ताकार एवं सपक्ष तथा व्यास में २.५से ५ सें० मी० या या १–२ इंच तक होती हैं। वृन्त के पास का कोना कुछ चोंचदार होता है। बीज छोटे होते हैं। विजयसार के काण्डत्वक् पर चीरा लगाने से प्रचुर मात्रा में लाल रस निकलता है, जो कालान्तर से सूख कर कड़ा और काला पड़ जाता है। यही इसका गोंद होता है। व्यवसाय में इसे पुनः जल में घोल कर उबाल लिया जाता है और रसक्रिया द्वारा घनीभूत करते हैं। यही उत्तम व्यावसायिक मलाबार-काइनो होता है।

उपयोगी अंग – गोंद (मलाबार-काइनो), सारकाष्ठ एवं त्वक् (छाल)।

मात्रा – गोंद (निर्यास)–२५०.० मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २ से ५ रत्ती।

त्वक् एवं काष्ठ चूर्ण –३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। यवार्थ–१$\frac{1}{2}$–२$\frac{1}{2}$ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विजयसार की छाल पीताभ रक्ताभ्भूरी रंग की तथा काफी मोटी होती है, जिसके वाह्य तल पर अनुलम्ब दिशा में दरारें होती हैं। उसका वाह्य तल कार्कयुक्त होता है। स्वाद में छाल कसैली होती है। विजयसार के काष्ठ को पानी में डालने पर पहले यह पीला तथा बाद में काले रंग का हो जाता है। गोंद–बाजार में विजयसार के गोंद के छोटे-छोटे (३.१२५ मि० मी० से ५ मि० मी० या ($\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{5}$ इंच) कोणाकार-टुकड़े (*Angular fragments*) मिलते हैं, जो चिकने, चमकीले तथा कालिमा लिये गाढ़े लाल रंग के होते हैं। किन्तु प्रकाश में इसके किनारों को देखने पर यह माणिक्य की भांति लाल रंग का मालूम होता है। उक्त टुकड़े काफी भंगुर (*Brittle*) होते हैं, और चूरा (चूर्ण) भूरापन लिए लाल रंग का होता तथा टूटा हुआ तल चमकदार होता है। गोंद में प्रायः कोई गंध नहीं होती और मुख में चावने पर अत्यंत कसैला होता तथा दांतों में चिपक जाता है और लालास्राव लाल रंग का हो जाता है। इसमें १५% तक आर्द्रता होती है और जलाने पर २$\frac{1}{2}$% तक भस्म प्राप्त होती है। उत्तम गोंद में ७०% से ८५% तक टैनिक एसिड (*Kinotannic acid*) पाया जाता है। विलेयता–ठंढे जल में गोंद अंशतः (६०–७०%) घुलता है, किन्तु उबलते जल में यह प्रायः अधिकांशतः (६०%) घुल जाता है। ऐल्कोहल् (६०%) में भी उक्त गोंद अंशतः घुलता है, किन्तु ईथर में पूर्णतः विलेय है। उत्तम गोंद रेक्टिफाइड स्प्रिट में भी पूर्णतः घुल जाता है, जिससे गाढ़े लाल रंग का निष्कर्ष प्राप्त होता है। किन्तु कुछ समय पड़ा रहने पर यह चिपचिपा-सा हो जाता है। इसमें थोड़ा ग्लिसरिन मिला देने से निष्कर्ष (टिंक्चर) चिपचिपा नहीं होने पाता।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – गुण-कर्म की दृष्टि से विजासार का गोंद प्रसिद्ध औषधि खूनखरावा (दम्मुल् अख़वैन) एवं पलाशगोंद (*Butea Kino*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। व्यवसाय में बीजक-निर्यास की काफी खपत होने के कारण इसमें स्वरूपतः मिलते-जुलते अन्य वृक्षों से प्राप्त गोंदों के मिलावट की सम्भावना अधिक रहती है, जिनमें मुख्य यह हैं :-(१) मकरेंगा काइनो (*Macaranga Kino*)-यह माकारांगा पेल्टाटा *Macaranga peltata Muell Arg.*—(पर्याय–*M. roxburghii Wight.* (*Famitly : Euphorbiaceae*) नामक वृक्ष से प्राप्त होता है। इसके वृक्ष भी उन्हीं क्षेत्रों में पाये जाते हैं, जहाँ-जहाँ बीजक पाया जाता है। मकरेंगा काइनों के अश्रुवत् अथवा अनियमित रूपरेखा के टुकड़े होते हैं, जो प्रायः गंधहीन तथा स्वादहीन होते हैं। (२) रामपत्री एवं जातिपत्री (*Myristica malabarica Lam & M. fragrans Houtt.*) से प्राप्त गोंद भी आपाततः देखने में बीजक-निर्यास की भाँति होता है, किन्तु इसमें केलिसयम् टार्ट्रेट के क्रिस्टल्स पाये जाते हैं, किन्तु असली बीजक-निर्यास में इनका अभाव होता है। (३) पलाश निर्यास (*Butea Kino or Bengal Kino*)। (४) युकेलिप्टस जातियों से प्राप्त रक्तनिर्यास (*Eucalyptus Kino*)। परीक्षण—बीजक निर्यास का जलीय विलयन प्रतिक्रिया में हल्का आम्लिक (*Faintly acid*) होता है, तथा इसमें फेरिक क्लोराइड सॉल्यूशन मिलाने से गाढ़े हरे रंग का अवःक्षेप होता है। इसके अतिरिक्त बीजक-निर्यास के जलीय विलयन में क्षारों का जलीय विलयन (*Alkali solution*) मिलाने से विलयन भूरे या नारंग वर्ण हो जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – छाल एवं काष्ठ को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखें। गोंद को विशेषतः अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में संरक्षित करें और अन्दर नमी न पहुँचे इसका ध्यान रखना चाहिए।

संगठन – बिजयसार के गोंद में काफी मात्रा में काइनो-टैनिक एसिड, पायरो-कैटेचिन, गैलिक एसिड आदि अन्य कषाय-तत्त्व एवं कुछ गोंद का अंश भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–बाह्य प्रयोग से शोथहर, संधानीय, कुष्ठघ्न तथा आभ्यन्तर प्रयोग से स्तमन, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक, मूत्रसंग्रहणीय, प्रमेह-नाशक (विशेषतः मधुमेहहर), कुष्ठघ्न, सन्धानीय आदि।

विहीदाना

नाम। (१) बीज। हिं०–विहीदाना, बेहदाना। म०–बीहीदाणा, मोंगली, बेदाणा। गु०–मोगलाइ बेदाण। अ०–हब्बुस्सफ़रजल। फा०–विहीदानः, बेहदानः। अं०–क्विन्स सीड (*Quince Seed*)। (२) फल। हिं०–विही, बीहि, कश्मीरी नाशपाती। कश्मीर–बमचूंठ। अ०–सफ़रजल। फा०–बेह, विही; (खुरासान)–विही। म०–बिहि। अं०–क्विन्स (*Quince*)। (वृक्ष)। ले०–सीडोनिआ ओब्लोंगा *Cydonia oblonga Mill*; (पर्याय–*Cydonia vulgaris Pers.*; *Pyrus ydonia Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – तरुणी-कुल (रोज़ासे : *Rosaceae*)।

प्राप्तिस्थान – ईरान, अफगानिस्तान और पेशावर तथा उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष के कश्मीर, पंजाब आदि प्रदेश। दक्षिण भारत में नीलगिरि में भी इसके वृक्ष लगाये गये हैं। भारतीय बाजारों में फलों की आमद पेशावर, काबुल, तथा कश्मीर, पंजाब आदि से होती है। इसके बीज (विहीदाना) सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलते हैं, जो ईरान, अफगानिस्तान एवं कश्मीर आदि से आते हैं।

संक्षिप्त परिचय – विही के बड़े गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं, जिसमें अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। काण्डत्वक् कृष्णाभ रंग की होती है। पत्तियाँ साधारण (*Simple*), सानुपत्र (*Stipulate*), अंडाकारत था सरल धार वाली, एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं। पुष्प बड़े, सफेद या गुलाबी रंग के तथा तूलरोमश (*Woolly*), एकल (*solitary*) क्रम से स्थित होते हैं। कोणपुष्पक या निपत्र (*Bracts*) पत्रमय होते हैं। पुटपत्र बड़े, फैले हुए मुग्दराकार तथा दन्तुर धार वाले होते हैं। दलपत्र ५, पुंकेशर २०, तथा कुक्षिवृन्त संख्या में ५ होते हैं। फल रूपरेखा में अमरूद या सेव की तरह, गूदेदार और पकने पर सुनहले पीले रंग का तथा मनोहर सुगंधयुक्त एवं खाने में बहुत स्वादिष्ठ होता है। स्वाद की दृष्टि से यह मीठा (मधुर), खटमिट्ठा (मधुराम्ल) एवं खट्टा (अम्ल)–तीन प्रकार का होता है। विही के फल अन्दर पंचकोष्ठीय-से होते हैं। प्रत्येक कोष्ठ में अनेक बीज भरे होते हैं। पके फल खाये जाते हैं तथा फल एवं बीजों का व्यवहार औषध्यर्थ भी होता है।

उपयोगी अंग – फल एवं बीज।

मात्रा-बीज — ३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा ।
फल का मुरब्बा — १ से २ तोला ।
शर्बत — १ माशा से ५ तोला ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विही का फल रूपरेखा में अमरूद या सेव की तरह होता है और पकने पर सुनहले पीले रंग का, मनोहर सुगंधयुक्त और खाने में बहुत स्वादिष्ठ होता है। मीठा, खट्टा और खटमिट्ठा भेद से यह तीन प्रकार का होता है। फारस में प्रायः मीठे विही के पेड़ लगाये जाते हैं। फलों के अन्दर प्रत्येक कोष्ठ में अनेक बीज भरे होते हैं। यही विहीदाना के नाम से विकते हैं। उक्त बीज रूपरेखा में लम्ब गोल किन्तु चिपटे तथा त्रिपार्श्विक से होते हैं। निचले सिरे पर नाभि (*Hilum*) होती है, जहाँ से सन्धिरेखा या रेफ (*Raphe*) ऊर्ध्व-सिरे की ओर जाती है। शीर्ष या ऊपरी सिरा कुछ चोंचदार टेढ़ा होता है, तथा इस पर एक चिह्न (*Chalaza*) होता है। बीजत्वक् या बीजचोल (*Testa*) गाढ़े भूरे रंग का होता है, जो अत्यन्त लुआबी होता है। जल में भिगोने पर बीज फूल जाते हैं और एक फीका लुआब बना देते हैं। बीजपत्र (*Cotyledons*) दो होते हैं, जो गंध एवं स्वाद में कड़वे बादाम-जैसे होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण– विहीदाना को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीज में साइडोनिन (*Cydonin*) नामक एक पिच्छिल द्रव्य तथा १५.३% बादाम के तेल-जैसा पीला एवं मंदगंधी तेल होता है। बीजों के भस्म में यवक्षार, सर्जिक्षार, मैग्नीसियम्, कैलसियम्, लौह, फास्फोरिक एसिड, सल्फ्युरिक एसिड प्रभृति द्रव्य पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–बीज–१ वर्ष। फलों का मुरब्बा, एवं शर्बत–दीर्घ काल तक।

स्वभाव–गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक; मेध्य, सौमनस्यजनन, रोचन, दीपन, स्नेहन, यकृद्बल्य, हृद्य, रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक, रक्तस्तम्भन, कफनिःसारक मूत्रजनन, दाह-प्रशमन, ज्वरघ्न, बल्य एवं बृंहण। यूनानी मतानुसार मीठी विही अनुष्णाशीत और पहले दर्जे में तर तथा खट्टी विही पहले दर्जे में शीत और दूसरे में खुश्क है। विहीदाना दूसरे दर्जे में शीत एवं तर होता है। विही मेवा की भाँति खायी जाती है। यह भारी एवं काबिज है। हृदय एवं मस्तिष्क को उल्लास एवं शक्ति पहुँचाती है, और उष्ण प्रकृतिवालों के लिए सात्म्य है। हृदय दौर्बल्य, उष्ण हृत्स्पंदन, पित्तातिसार और यकृदामाशय का संताप शमन करने के लिए इसका शर्बत, मुरब्बा या पानक देते हैं। अग्निमांद्य, अरुचि, हृल्लास, छर्दि, तृष्णा, कोष्ठगतरौक्ष्य, उदरशूल एवं रक्ततिसार में फल एवं बीजों का व्यवहार किया जाता है। गरम प्रसेक, प्रतिश्याय, गरम खाँसी, कंठ की कर्कशता, जिह्वाशोथ, उरःक्षत, पेचिस एवं उष्ण ज्वरों में विहीदाने का लुआब बहुत उपयोगी होता है। हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार, रक्ताल्पता, एवं रक्तपित्त मे भी औषधीय अथवा पथ्य रूप में विही का प्रयोग उपयोगी है।

मुख्य योग – जुवारिश सफरजली क़ाबिज (अथवा मुसहिल), मुरब्बा विही, लऊक़ विहीदाना, शर्बत विहीदाना।

वेदमुश्क

नाम। हिं०, पं०–वेदमुश्क, वेदमिश्क। अ०–खिलाफुल् वलखी। फा०–वेदेमुश्क, मुश्कवेद। पश्तो, अफ०–ख्वगवल। कश्मीर–मुश्कवेद। अं०–गोट्स सैलो (*Goats' Sallow*)। ले०–सालिक्स काप्रेआ (*Salix caprea Linn.*)।

वानस्पतिक-कुल – वेतस-कुल (सालीकासे *Salicaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर-पश्चिम भारत (विशेषतः पंजाब, कश्मीर) में इसके वृक्ष लगाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त फारस तथा यूरोप में भी होता है। अर्कवेदमुश्क पंजाब से आता है, और यूनानी दवाखानों में मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – यह वेतस (वेद या सैलिक्स (*Salix*) की जाति का और वेद सादा की तरह का एक क्षुप या १.५ से ३ मीटर अथवा १५–३० फुट तक ऊंचा छोटा वृक्ष होता है। पत्र एकान्तर क्रम से स्थित होते हैं तथा रूपरेखा में लम्ब गोल, अग्र पर नुकीले एवं दंतुर धार होते हैं। मंजरी या कैटकिन (*Catkin*) २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बी तथा मोटी एवं रूपरेखा में बेलनाकार, अथवा कोई-कोई विल्ली के हाथ-जैसी और चमकीले पीले रंग की एवं परम सुगंधित होती हैं। पुष्पों पर लम्बे-लम्बे रोयें पाये जाते हैं। पुष्पागम नयी पत्तियों के निकलने के पूर्व ही होता है। पुष्पों का संग्रह अर्क बनाने के लिए किया जाता है।

उपयोगी अंग–पुष्प एवं छाल।

संगठन – इसकी छाल में सैलीसिन (*Salicin*) नामक तिक्त सत्व पाया जाता है। इसके अतिरिक्त टैनिन, मोम,

वसा एवं निर्यास प्रभृति तत्त्व भी पाये जाते हैं। पुष्पों में सुगंधित उत्पत् तैल पाया जाता है।

स्वभाव – पहले दर्जे में शीत एवं तर है ; तथा हृदयोल्लास-कारक, मेघ्य, संतापहर, मूत्रल, वेदनास्थापन, सारक, विशेषतः शिरःशूल-नाशक एवं हृदय वलदायक होता है।

मुख्ययोग – अर्क वेदमुश्क।

विशेष – अर्क वेदमुश्क का उपयोग पिष्टी वनाने में किया जाता है। योगों को सुगन्धित करने के लिए भी इसे डालते हैं। सौमनस्यजनन आदि के लिए अर्क वेदमुश्क का स्वतंत्र रूप से भी प्रयोग करते हैं।

वेल (विल्व)

नाम। सं०–विल्व, श्रीफल। हिं०–वेल। वं०–वेल। को०–लोहगासी। संथा०–सिंजो। म०–वेल। गु०–वीली। पं०–वेल, सीफल। का०–विलकथ। फा०–वेह हिन्दी, वल, शुल्ल। अ०–सफ़रजले हिंदी। अं०–वेंगाल क्विस (*Bengal Quince*)। ले०–एग्ले मार्मेलॉस (*Aegle marmelos Correa*)। इसकी मज्जा को **विल्वपेशिका या विल्व-कर्कटी** तथा सूखे हुए गूदे को **वेलसोंठ** या **वेलगिरी** कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – जम्वीर-कुल (रूटासे *Rutaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई, मध्य एवं दक्षिण भारत तथा विहार एवं वंगाल आदि में वेल के जंगल पाये जाते हैं। फलों एवं वेलपत्र के लिए समस्त भारतवर्ष में इसके वृक्ष वगीचों एवं मंदिरों के पास लगाये जाते हैं। कच्चे फल के गोल-गोल काटे हुए कतरे सुखा कर वेलगिरी के नाम से वाजारों में मिलते हैं। लगाये हुए वृक्षों के पके फल मौसम में सब्जी एवं मेवा फरोशों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – वेल के मध्यम कद के ४.५ मीटर से ९ मीटर या (१५–३० फुट ऊंचे) तथा पतझड़ करने वाले कँटीले वृक्ष होते हैं, जो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। कोणोद्भूत कण्टक २.५ सें० मी० या १ इंच लम्वे तथा मजवूत होते हैं। पत्तियाँ सपत्रक, प्रायः ३–पत्रकों वाली (कभी-कभी ५–पत्रकयुक्त) तथा एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं। पर्णवृन्त २.५ से ६.२५ सें० मी० या १–२॥ इंच तक लम्वा होता है। पत्रक ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्वे, २.५ से ६.२५ सें० मी० या १–२॥ इंच चौड़े तथा रूपरेखा में लट्वाकार भालाकार या तिर्यगायताकार (*Rhomboid*) तथा लम्वाग्र होते हैं। पार्श्ववर्ती पत्रक प्रायः विनाल (*Sessile*) या वहुत छोटे वृन्तक (२.५ मि० मी० या (१/१० इंच) युक्त तथा अग्र पर स्थित पत्रक (*Petiolule*) १.२५ से २.५ सें०मी० या ॥–१ इंच लम्वा होता है। पत्तियों को मसलने से इनमें एक विशिष्ट प्रकार की सुगन्ध पायी जाती है तथा स्वाद में यह तिक्त होती है। गर्मियों में पत्ते गिर जाते हैं तथा पुष्पागम मई के महीनों में होता है। फल अगले वर्ष में मार्च-मई तक आते हैं। पुष्प हरिताभ श्वेत वर्ण के, व्यास में, २.५ सें० मी० या एक इंच तथा सुगन्धित होते हैं। फल या वेरी (*Berry*) व्यास में ५ से १७.५ सें० मी० या २–७ इंच तक होते हैं, जिसका खोपड़ा (*Shell*) कड़ा (*woody*) और चिकना होता है, जो कच्चे फलों में हरे रंग का किन्तु पके फल में सुनहले पीले रंग का हो जाता है। खोपड़े को तोड़ने पर अन्दर पीले रंग का सुगन्धित मीठा गूदा (*Sweet yellow aromatic mealy pulp*) होता है, जिसको लोग खाते हैं या इसका शर्वत वनाया जाता है। जंगली वेल के वृक्ष में काँटे अधिक होते हैं और फल छोटा होता है। खाने या शर्वत वनाने के लिए ग्राम्य या लगाये हुए वृक्षों के फल तथा अतिसार-प्रवाहिका आदि में प्रयुक्त करने के लिए जंगली वेल अधिक उप-युक्त होता है।

उपयोगी अंग – पक्वापक्वफल (फल का गूदा, वेलगिरी), पत्र, मूल एवं त्वक् (छाल)। चूर्ण आदि के लिए कच्चा फल, मुरब्वे के लिए अवपक्वफल और पानक (शर्वत) के लिए पका फल लेना चाहिए। दशमूल आदि कषायों में मूल या मूलत्वक् ली जाती है।

मात्रा–चूर्ण —३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
स्वरस —१ से २ तोला।
पानक —२॥ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वेल के गोलाकार (५ से २० सें० मी० या २ से ८ इंच व्यास तक) वीजिमांसल फल (*Berry*) होते हैं। रूपरेखा में नाना प्रकार के गोलाकार यथा गोलाकार अथवा नारंगी की भाँति गोलाकार तथा चपटे अथवा लम्वगोल या शंक्वाकार (*Pyriform*) होते हैं। इसकी वाहरी भित्ति कड़ी खपड़ोही की भाँति तथा चिकनी, कच्चे फलों में हरिताभ तथा पकने पर पीताभ-भूरे रंग की हो जाती है। वहिर्भित्ति या खपड़ोही (*Epicarp*) प्रायः ३.१२५ मि० मी० या १/८ इंच तक

मोटी होती है, जिसका अन्तस्तल बहुत रेशेदार होता है। फल की मध्यभित्ति एवं अन्तर्भित्ति (*Mesocarp & endocarp*) से इसका गूदेदार भाग बनता है, जो खोपड़ी से चिपका (*Adherent to the rind*) रहता है। बेल का गूदा लालिमा लिये पीले रंग का होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की सुगंधि पायी जाती है, तथा स्वाद में लुआबी (*Mucilaginous*) होता है। फल का अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर यह १०–१५ खण्डों या कोष्ठों में विभक्त-सा मालूम होता है, जिनमें प्रत्येक में ६–१० तक बीज होते हैं, जो सफेद चिपचिपे लुआब से आवृत से होते हैं। बाजार में कच्चे एवं बाल फलों को छील कर गोल-गोल कतरेनुमा काटे हुए सुखाये टुकड़े **बेलगिरी** के नाम से मिलते हैं। यह देखने में ताजे फल जैसे ही मालूम होते हैं, किन्तु सूखने के कारण कुछ कड़े एवं सिकुड़े हुए (*Hard and shrunken*) होते हैं। इसमें बीज भी होते हैं। स्वाद में यह टुकड़े किंचित् कसैले तथा लुआबी होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–बेल प्रायः सर्वत्र सुलभ होने एवं सस्ता होने से साधारणतया इसमें मिलावट की सम्भावना कम होती है। कभी-कभी इसमें गार्सीनिआ मांगोस्टाना (*Garcinia mongostana Linn.* (*Family: Gutliferae*) तथा कपित्थ (कैंथ) के फल मिला दिये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – छोटे कच्चे बेल के फल को संग्रह कर, छील कर, गोल-गोल कतरेनुमा टुकड़े काट कर सुखा कर मुखबंद डिब्बों में अनार्द्रशीतल स्थान में संग्रहीत करें। औषधीय प्रयोग के लिए जंगली फल अधिक उपयुक्त होते हैं।

संगठन – फलों में बिल्वीन या मार्मेलोसिन (*Marmelosin*) नामक तत्त्व पाया जाता है, जो इसका प्रधान सक्रिय घटक होता है। इसके अतिरिक्त गूदे में लबाव, पेक्टिन, शर्करा, कषायिन एवं उत्पत् तैल आदि पाये जाते हैं। ताजे पत्तों में पीताभ हरे रंग का उत्पत् तैल पाया जाता है जो स्वाद में तिक्त होता है तथा इसमें एक विशिष्ट सुगंधि पायी जाती है।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, लघु। रस–कषाय, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक; (कच्चाफल)–दीपन-पाचन, ग्राही, रक्तस्तम्भक। (पक्वफल)–कषाय, मधुर और मृदुरेचन, अधिक मात्रा में विष्टम्भजनक, बल्य, हृद्य। (पत्रस्वरस)–शोथहर, वेदनास्थापन, ज्वरघ्न, मूत्रगतशर्करा को कम करने वाला, प्रतिश्याय, श्वास-कासहर। (मूलत्वक्)–शोथघ्न, कफघ्न, ज्वरनाशक, गर्भाशय शोथहर, नाड़ी संशामक, हृद्य, कटु पौष्टिक आदि। यूनानी मतानुसार बिल्व दूसरे दर्जे में सर्द और तीसरे में खुश्क है। अहितकर–अधिक मात्रा में फलों का सेवन करने से विष्टम्भी होता है, जिससे अर्श के रोगियों के लिए अहितकर है। निवारण–शर्करा।

मुख्य योग – बिल्वादि चूर्ण, बिल्वतैल, बिल्वादि घृत, बृहद् गंगाधर चूर्ण, बिल्वपंचक क्वाथ।

विशेष – बिल्व मूलत्वक् दशमूल का उपादान है। चरकोक्त (सू० अ० ४) अर्शोघ्न, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग एवं शोथघ्न महाकषाय तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वरुणादि, अम्बष्ठादि एवं महापञ्चमूल गण के द्रव्यों में बिल्व भी है।

बोल (मुरमकी)

नाम। सं०–बोल, गंधरस, बर्बर। हिं०–बोल, बीजाबोल, हीराबोल। बं०–गंधरस, गंधबोल। म०–हिराबोल। गु०–हिराबोल। मा०–बीजाबोल। अ०–मुर्र, मुर। फा०–बोल। अं०–मिर्ह (*Myrrh*)। ले०–मीर्रहा (*Myrrha*)। वृक्ष का नाम–कोम्मीफ़ोरा मीर्रहा (*Commiphora myrrha* (*Nees*) *Engl.* (पर्याय–बाल्सामोडेन्ड्रोन मीर्रहा *Balsamodendron myrrha T. Nees.; C. molmol Engl.*)।

वानस्पतिक कुल–शल्लकी-कुल (बुर्सेरासे *Burseraceae*)।

प्राप्तिस्थान – सुमाली लैंड, एबीसीनिया, पूर्वी अफ्रीका। इसके अतिरिक्त अरब, फारस और श्याम में भी इसके वृक्ष पाये जाते हैं। सुमाली लैंड का बोल तथा मक्का का बोल सर्वोत्तम होता है। मक्का का बोल 'मुरमक्की' के नाम से बिकता है। भारतवर्ष में बोल का आयात सर्व प्रथम बम्बई में होता है, जहाँ इसे छाँट कर उत्तम, मध्यम एवं हीन कोटि का बोल पृथक्-पृथक् करके बेचा जाता है।

संक्षिप्त परिचय – बोल एक तैल एवं रालयुक्त गोंद (*Oleo-gum-resin*) होता है, जो कोम्मीफ़ोरा की अनेक जातियों से प्राप्त किया जाता है। वृक्ष के काण्डत्वक् में अनेक निर्यास-वाहिनियाँ होती हैं। अतएव त्वचा को क्षत करने-

से एक पीताभ श्वेत गाढ़ा निर्यास निकलता है, जो जम कर लालिमा लिये भूरे रंग का हो जाता है । यही व्यावसायिक वोल होता है। कभी-कभी स्वयं भी त्वचा विदीर्ण हो जाती है और निर्यास अपने आप निकलता रहता है।

उपयोगी अंग – निर्यास (*Oleo-gum-resin*) ।

मात्रा – ६२५ मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम या ५ से १० रत्ती ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वोल के गोल, वेडौल, छोटे-वड़े अश्रुवत् दाने (*Tears*) होते हैं, अथवा इन दानों के परस्पर मिलने से विभिन्न आकार-प्रकार की डलियाँ वन जाती हैं। बाहर से इनकी रंगत ललाई लिये पीत या भूरी होती है, तथा वाह्य तल एक सूक्ष्म चूर्ण से धूसरित-सा प्रतीत होता है। वोल के टुकड़े कड़े तथा भंगुर होते हैं। डलियों को तोड़ने पर अनियमित रूपरेखा में टूटती हैं। टूटा हुआ तल कभी-कभी पारभासी (*Translucent*) होता है। यह गाढ़े भूरे रंग का तथा तेलमय मालूम होता है, तथा इस पर जगह-जगह श्वेत चिह्न या रेखाएँ सी दीखती हैं। वोल में एक विशिष्ट प्रकार की सुगन्धि पायी जाती है तथा स्वाद सुगंधित एवं कड़ुआहट लिये तिक्त होता है । उत्तम वोल में कम से कम ७% तक उड़नशील तेल पाया जाता है । ऐल्कोहल् (९०%) में अविलेय सत्व–अधिकतम ७०% । भस्म–अधिकतम ९% । विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य – अधिकतम ४% ।

संग्रह एवं संरक्षण – वोल को अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – वोल में प्रायः ५७% से ६१% तक गोंद, २५% से ४०% तक रालीय या रेजिन का अंश तथा ७ से १७% तक उड़नशील तैल पाया जाता है, जो इसका तिक्त सत्व होता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक ।

स्वभाव – गुण – रूक्ष, लघु । रस–तिक्त, कटु, कषाय । विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषहर; कोथप्रशमन, वेदनास्थापन, शोथहर, स्तम्भन, दीपनपाचन, अनुलोमन, रक्तशोधक, श्लेष्महर एवं श्लेष्मपूतिहर, मूत्रल, आर्त्तवजनन, स्वेदजनन, त्वग्रोगनाशक। इसका उत्सर्ग त्वचा, मूत्र, एवं फुफ्फुसों से होता है। अतएव उत्सर्ग के समय इन मार्गों की कला पर उत्तेजक एवं जीवाणुनाशक प्रभाव करता है। यूनानी मतानुसार वोल दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है । अहितकर–उष्ण प्रकृति को । निवारण–मधु और सर्द एवं तर द्रव्य ।

ब्राह्मी

नाम। (१) पंजावी एवं उत्तर प्रदेशीय ब्राह्मी । सं०–मण्डूकपर्णी, माण्डूकी, ब्राह्मी ? हिं०–ब्रह्मी, ब्राह्मी । वं०–थुल-कुडी । गु०, म०–ब्राह्मी । का०–ब्रह्मबूटी । हरद्वार–कोट्याली । अं०–इन्डियन पेनीवर्ट (*Indian Pennywort*) । ले०–सेन्टेल्ला एशिआटिका *Centella asiatica* (*Linn.*) *Urban.* (पर्याय–हाइड्रोकोटीले एशिआटिका (*Hydrocotyle asiatica Linn.*) । (२) **बंगीय** ब्राह्मी । वं०–ब्राह्मी शाक । हिं०–जलनीम । ले०–वाकोपा मोन्निएरी *Bacopa monnieri Pennell* (पर्याय – *B. monniera Wettst.* ; हेर्पेस्टिस मोन्निएरा *Herpestis monniera H. B. & K.*) ।

वानस्पतिक कुल – प्रथम ब्राह्मी गर्जर-कुल (ऊम्वेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*) की तथा वंगीय ब्राह्मी या जलनीम कटुका-कुल स्क्रोफुलारिआसे (*Scrophulariaceae*) की वनस्पति है। उत्तर भारत के वाज़ारों में ब्राह्मी नाम से सेन्टेल्ला एशिआटिका या इसकी निकटतम प्रजातियों का सुखाया हुआ पंचाङ्ग मिलता है। ब्राह्मी का आयात वाजारों में प्रधानतः हरद्वार से होता है ।

प्राप्तिस्थान – मण्डूकपर्णी भारतवर्ष के शीतप्रधान एवं आर्द्र-प्रदेशों (विशेषतः हिमालय की तराई एवं विहार आदि) में नदी-नालों एवं नहरों के किनारे अधिक देखी जाती है। जल मिलने पर वारहों महीने हरी-भरी रहती है। जलनीम भी समस्त भारतवर्ष में पंजाव से लंका तक (विशेषतः वंगाल में) १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊँचाई तक नम एवं दलदली भूमि के आसपास अधिक पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – (१) **मण्डूकपर्णी** – इसके छोटे-छोटे छत्तेदार विसर्पी (*Trailing*) पौधे होते हैं । इसका तना दूर तक जमीन पर फैलता है, जिसकी प्रत्येक ग्रंथि पर अनेक, मूल तथा फूल-फल लगते हैं। पत्तियाँ, गोलाकार-वृक्काकार (*Orbicular-reniform*), व्यास में १.२५ से ६.२५ सें० मी० (॥ से २॥ इंच), चिक्कण तथा किनारे सरल या किन्हीं-किन्हीं में गोल दाँतों से युक्त (*Crenate*) या कभी-कभी विच्छिन्न

(*Lobulate*) होती हैं। पुष्प विनाल या वृन्तरहित (*Sessile*) तथा लालरंग के होते हैं, जो ३–६ के गुच्छों में स्थित होते हैं। फल लगभग ८.३ मि० मी० या ⅓ इंच बड़े होते हैं, जिनपर ७–६ उन्नत धारियाँ होती हैं। फलों में चपटे बीज होते हैं।

(२) **जलनीम**–इसके चिक्कण एवं मांसल कांडयुक्त (*Glabrous and succulent*) प्रसरणशील स्वभाव के (*Creeping*) छोटे-छोटे पौधे (*Herb*) होते हैं। पत्तियाँ ६.२५ मि० मी० से २.५ सें० मी० या ¼ से १ इंच तक लम्बी तथा २.५ मि० मी० से १० मि० मी० या 1/10 से ⅖ इंच तक चौड़ी, विनाल (*Sessile*) चतुर्पंक्तिक क्रम से स्थित (*Decussate*), कुंठिताग्र, सरल तटवाली तथा काली बिन्दुकित होती हैं। पुष्प सफेद अथवा हल्के नीले रंग के ⅓ इंच लम्बे होते हैं, जो छोटे-छोटे तथा पतले पत्रकोणोद्भूत एकल (*Axillary solitary*) वृन्तों (*Pedicels*) पर धारण किये जाते हैं। फल (*Capsule*) लम्ब गोल किन्तु अग्र पर नुकीले तथा ⅙ इंच लम्बे होते हैं, जिनमें छोटे-छोटे चपटे, लम्बगोल बीज निकलते हैं, जिनका तल सूक्ष्म रेखांकित (*Striate*) होता है।

उपयोगी अंग – ताजा या सुखाया हुआ पंचाङ्ग।

मात्रा-पंचाङ्ग चूर्ण—३ से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।
स्वरस —१ से २ तोला।
मूलचूर्ण —०.५ ग्राम से १.५ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) मण्डूकपर्णी के प्रधान मूलस्तम्भ (*Rootstock*) से अनेक पत्तियाँ निकलती हैं, जो लम्बे-लम्बे वृन्तों (*Petioles*) पर धारण की जाती हैं। इनके कोणों से लम्बे-लम्बे सूत्राकार (*Filiform*) धावी काण्ड या भूस्तारी काण्ड अथवा रनर (*Runners*) निकलते हैं, जो जमीन पर दूर तक फैलते हैं। इन पर दूर-दूर पर्व या ग्रंथियाँ (*Nodes*) होती हैं, जहाँ से पत्र, मूल एवं फूल-फल निकल कर स्वतंत्र पौधे बन जाते हैं। पर्वों पर प्रायः १–३ पत्तियाँ निकलती हैं। अनुपत्र (*Stipules*) छोटे-छोटे तथा काण्डसंसक्त (*Adnate to the stem*) होते हैं। ताजा क्षुप मसलने से या चबाने से एक विशेष प्रकार की गाजरवत् गंध देता है। स्वाद उत्क्लेशकारक, तिक्त और किंचित् कषाय होता है। परंतु सूखने पर इसके उक्त गुण बहुत-कुछ जाते रहते हैं। बाजारों में ब्राह्मी की सूखी पत्तियाँ मिलती हैं। किन्तु इनमें काण्ड एवं कुछ विजातीय तृण आदि भी मिले होते हैं। किसी-किसी काण्ड-ग्रंथि पर सूत्राकार जड़ें पायी जाती हैं। इसमें काण्ड का भाग अधिक से अधिक १०% तक तथा अन्य विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य २% तक ही होने चाहिए। ब्राह्मी का चूर्ण हरिताभ से हरिताभ भूरे रंग का होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – हीड्रोकोटिल की अन्य दो प्रजातियाँ भी इसके साथ-साथ पायी जाती हैं और यह देखने में बहुत-कुछ मण्डूकपर्णी से मिलती-जुलती भी हैं:—(१) हीड्रोकोटिल रोटुंडीफोलिआ (*Hydrocotyle rotundifolia Roxb.*) तथा (२) ही० जावानिका (*H. javanica Thunb.*)। पहली की पत्तियाँ व्यास में १–३ इंच और दूसरी की ¼ से १ इंच लम्बी होती हैं। दोनों में दलपत्र नुकीले और अनाच्छादित (*Valvate*)) होते हैं। मण्डूकपर्णी (सेन्टेल्ला एशिआटिका या हीड्रोकोटिल एशिआटिका) के दलपत्र कुंठिताग्र और अनाच्छादित होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – ब्राह्मी का प्रयोग यथासम्भव ताजी अवस्था में ही करना चाहिए। यदि पंचाङ्ग का संग्रह करना हो तो, छाया में ही सुखाना चाहिए। क्योंकि धूप में सुखाने से इसका उड़नशील तैल उड़ जाता है जिससे इसकी शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण इसका क्वाथ या फाण्ट भी नहीं बनाना चाहिए। सूखी ब्राह्मी को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। ब्राह्मी चूर्ण को अच्छी तरह मुखबंद शीशियों में रखना चाहिए और नमी या आर्द्रता से बचाना चाहिए।

संगठन – इसमें हाइड्रोकोटिलिन (*Hydrocotylin* : $C_{22}H_{33}NO_8$) नामक ऐल्कलाइड, एशियाटिकोसाइड (०.०७ से ०.१२%) नामक ग्लाइकोसाइड, वेल्लेरीन (*Vellarine*) नामक सफेद क्रिस्टलीय स्वाद में तिक्त गुणोत्पादक वीर्य, अल्पमात्रा में एक उड़नशील तैल, स्थिर तेल एवं रालीय सत्व, पेक्टिक एसिड तथा एस्कोरबिक एसिड (*Ascorbic acid*) आदि तत्त्व पाये जाते हैं। ग्लूकोसाइड एवं उड़नशील तेल प्रायः हरी पत्तियों में पाये जाते हैं। सूखे पौधों में सेन्टोइक एसिड (*Centoic acid* $C_{30}H_{48}O_6$) तथा सेन्टेल्लिक एसिड (*Centellic acid* $G_{30}H_4O_6$) भी पाये जाते हैं।

जलनीम या बंगीय ब्राह्मी में (०.०१–०.०२%) ब्राह्मीन (*Brahmine*) नामक ऐल्कलायड तथा ३ भास्मिक सत्व (*Bases : B_1 Oxalate, B_2 Oxalate, B_3 Chloroplatinate*) तथा एक स्टेरोल पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, सर। रस–तिक्त। अनुरस–कषाय, मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रभाव–मेध्य। प्रधान कर्म–मेध्य, हृद्य, स्तम्भन, (बाह्य प्रयोग से) शोथ-नाशक, मूत्रल, रक्तशोधक, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, वल्य, रसायन आदि। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क तथा किसी-किसी के मत में सर्द और खुश्क है। अहितकर–उष्ण प्रकृति के लिए। निवारण–सूखी धनिया। प्रतिनिधि–दालचीनी, कवावचीनी और तज।

मुख्य योग – ब्राह्मी पाक, ब्राह्मी पानक, ब्राह्मी घृत, ब्राह्मी तैल, सारस्वतारिष्ट, सारस्वत घृत, हव्व वरहमी (ब्राह्मी गुटिका)। यूनानी चिकित्सक इसका माजून भी वनाते हैं।

विशेष – शंखपुष्पी की भाँति ब्राह्मी का सेवन ठंडई के साथ भी कर सकते हैं। चरकोक्त (सू० अ० ४) वयःस्थापन महाकषाय एवं तिक्तस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ४२) तिक्तवर्ग में मण्डूकपर्णी का भी उल्लेख है।

भँगरैया भृंगराज (श्वेत)

नाम। सं०–भृंगराज, मार्कव, केशराज। हिं०–भँगरा, भाँगरा, भँगरैया। बं०–केसारी, केसूटी, भीमराज, केशुत्ते। म०–माका। गु०–भाँगरो। अ०–कदीमुल् वित। को०–हातूकेसारी। उ०–केसरडा। ले०–एक्लिप्टा आल्बा (*Eclipta alba Hassk.*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोजीटे *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में १८२८.८ मीटर या ६,००० फुट की ऊंचाई तक भांगरे के स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। यह प्रायः आर्द्र भूमि में या जलाशयों के पास पाया जाता है। ऐसी जगहों में जहाँ पानी का सोता वहता है, वारहो महीने उगता है।

संक्षिप्त परिचय – भांगरा के छोटे-छोटे एक वर्षायु पौधे प्रायः प्रसरणशील (*prostrate*), कभी-कभी खड़े (*Erect*) तथा अनेक शाखाओं से युक्त होते हैं। खुरखुरी या रूक्षरोमी शाखाएँ श्वेतरोमावृत और ग्रंथियों पर मूलयुक्त (*Rooting at the nodes*) होती हैं। पत्तियाँ अभिमुख, प्रायः अवृन्त या छोटे वृन्तयुक्त, आयताकार भालाकार, या अण्डाकार और नुकीली होती हैं। मुण्डक (*Heads*) व्यास में ६.२५ मि० मी० से ८.१२५ मि० मी० ($\frac{1}{4}$-$\frac{1}{3}$ इंच) एकाकी या प्रत्येक कोण में दो-दो होते हैं, जो छोटे-वड़े पुष्पवृन्तों पर धारण किये जाते हैं। निचक्रनिपत्र (*Involucral bracts*) ८, लट्वाकार, नुकीले या कुण्ठिताग्र तथा खुरखुरे होते हैं। प्रान्तीय पुष्प या रश्मिपुष्प (*Ray flowers*) स्त्रीलिंग और पट्टाकार (*Ligulate*) तथा केन्द्रीय पुष्प (*Disc flowers*) घंटिकाकार होते हैं। इसमें सामान्यतः जाड़ों में पुष्प-फल लगते हैं। वीज लम्बे, छोटे, कालीजीरी के समान होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (ताजा या छायाशुष्क)।

मात्रा–पत्र–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
वीज–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – आयुर्वेद में रंग भेद से ३ प्रकार के भृंगराज का उल्लेख मिलता है—(१) श्वेत (२) पीत और (३) कृष्ण। इनमें कृष्ण भृंगराज का अभी तक निश्चय नहीं हुआ है। सम्भवतः यह सफेद भृंगराज का ही कोई भेद हो। सफेद भांगरे का ऊपर वर्णन किया गया है। पीत भृंगराज भी मिलता है, और इसके गुण-कर्म भी श्वेत की ही वहुत-कुछ भाँति होते हैं। पीत भृंगराज का वानस्पतिक नाम वेडेलिया कालेंडुलासेआ (*Wedelia calendulacea Less.*) है। इसके क्षुप प्रसरणशील होते हैं। कांड प्रायः जमीन के नीचे ३० से ६० सें० मी० या १-२ फुट की लम्वाई में फैले रहते हैं और उनसे स्वावलम्वी शाखाएँ ऊपर की ओर निकली रहती हैं। पत्तियाँ आयताकार–प्रासवत्, ५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच लम्वी, लगभग अखण्ड या दन्तुर होती हैं। अवः पत्रावली के पत्र लगभग दो चक्रों में और वाहर के ३-५ पत्र वड़े एवं पर्णाकार होते हैं। मुण्डक पीले होते हैं। प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प संख्या में आठ होते हैं। इसके क्षुप भी प्रायः पानी के आस-पास होते हैं और वंगाल, आसाम, कोंकण तथा मद्रास प्रान्त में अधिक पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – प्रयास से इसका ताजा पंचाग सदैव उपलव्ध हो सकता है। संग्रह करना हो तो पंचांग को छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – भांगरे में एक्लिप्टीन (*Ecliptine*) नामक ऐल्केलाइड या क्षारोद तथा विपुल मात्रा में राल पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – ३-४ महीने।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, लघु। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वातकफनाशक, शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण, चक्षुष्य, केशवर्धन एवं केशरञ्जन; दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, पित्त-विरेचक; शूलप्रशमन, रक्तशोधक, रक्तवर्धक, पाण्डु कामलानाशक, आमपाचन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, वल्य, रसायन, वाजीकरण। बीज – मूत्रल, कुष्ठघ्न आदि। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है।

मुख्य योग – भृङ्गराजादि चूर्ण, भृंगराज तैल, भृङ्गराज घृत, षड्बिन्दु तैल।

भव्य (चालता)

नाम। सं०–भव्य। हिं०–चालता। बं०–चाल्ता। ले०–डील्लेनिआ ईंडिका (*Dillen iaindica Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – भव्य-कुल (डील्लेनिआसे *Dilleniaceae*)

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई के सदाहरित जंगलों में कुमायूं-गढ़वाल से लेकर पूरब में आसाम-बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य भारत, दक्षिण भारत के कोंकण एवं लंका आदि में चाल्ता के स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – स्वभावतः चाल्ता या भव्य के सदाहरित वृक्ष होते हैं, किन्तु कभी-कभी गर्मियों में किन्हीं वृक्षों में थोड़े समय के लिए पतझड़ भी होता मिलता है। पत्तियाँ २० से ३० सें० मी० या ८-१२ इंच लम्बी तथा काफी चौड़ी और रूपरेखा में प्रतिभालाकार (*Oblanceolate*) अथवा आयताकार मालाकार, किनारों पर आरावत् तीक्ष्ण दंतुर और अग्र पर सहसा नुकीली या कभी-कभी लम्बे नोक वाली, ऊर्ध्व पृष्ठ पर चिक्कण, अधः पृष्ठ पर मृदुरोमश तथा स्पष्टतः उभरी हुई एवं समानान्तर रूप से स्थित अनेक पार्श्वीय सिराओं से युक्त, प्रायः शाखाग्रों पर समूहबद्ध पायी जाती हैं। आधार के पास पर्णवृन्त कुछ कोषमय होता है। पुष्प सफेद रंग के तथा काफी बड़े (व्यास में १५ सें० मी० से २० सें० मी० या ६-८ इंच) होते हैं, जो शाखाग्रों पर एकल क्रम (*Terminal and solitary*) से निकलते हैं और देखने में बहुत आकर्षक होते हैं। वाह्य दल पत्र (*Sepals*) काफी बड़े, रूपरेखा में गोलाकार मोटे तथा मांसल होते हैं, जो पुष्प की अवस्था में तो कुछ खुले होते हैं, किन्तु स्थायी होकर फलावस्था में उसको चारों ओर से ढके रहते हैं। फल गोलाकार, व्यास में ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३-५ इंच होता है तथा उक्त मोटे नतोदर पुटपत्रों से ढका होता है। कच्चे फल कषाय और पके फल खटमीठे होते हैं। पके फल दाल, साग और चटनी में खटाई के लिए डालते हैं। गर्मियों में फूल आते तथा जाड़ों में फल पकते हैं। वृक्काकार बीज चिपचिपे गूदे में बिखरे रहते हैं।

उपयोगी अंग – अर्धपक्व एवं पक्व फल।

संगठन – भव्य के दलपत्रों में कुछ द्राक्षशर्करा (ग्लूकोज), सेवाम्ल (मेलिक एसिड–०.५१%) तथा टैनिन आदि तत्त्व पाये जाते हैं। पत्तियों तथा छाल में कषाय द्रव्य (टैनिन) पाया जाता है।

स्वभाव – गुण–गुरु। रस–अम्ल, मधुर एवं कषाय। विपाक–अम्ल। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–मुखशोधन, रोचन, विष्टम्भि, हृद्य, कफनिःसारक, तृष्णा एवं ज्वरशामक।

विशेष – फल वर्ग का भव्य यही है, कर्मरंग (कमरख) नहीं है जैसा कुछ लोग मानते हैं। सुश्रुतोक्त (सू० अ० ४६) फलवर्ग एवं चरकोक्त (सू० अ० २७) फलवर्ग में भव्य का भी उल्लेख है।

भाँग (विजया)

नाम। सं०–भंगा, विजया। हिं०–भंग, भाँग, विजया, सिद्धि, सब्जी। बं०–भाङ्, सिद्धि। म०, गु०–भाँग। अ०–क़िन्नब, क़ुन्नब, हशीश, वर्क़ुलखियाल। फा०– कनब, किनब, बंग। अं०–इन्डियन हेम्प (*Indian hemp.*)। ले० – कान्नाबिस साटिवा *Cannabis sativa Linn.* (पर्याय–कान्नाबिस ईंडिका *Cannabis indica Lam.*)। लेटिन एवं अंगरेजी नाम इसकी वनस्पति के हैं। **गाँजा**–सं०–गंजा। हिं०, बं०–गाँजा। म०, गु०–गाँजा। अ०–कुन्नब, क़िन्नब। फा०–किन्नब। (बीज)–अ०–शहदानज, बज्रुल्किन्नब। फा०–शहदानः, तुख्मे किन्नब, तुख्मे बंग।

चरस – भाँग की शाखाओं पर जमे रालसदृश पदार्थ को चरस कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – भंगादि-कुल (कान्नाबिनासे *Cannabinaceae*)

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई में पंजाब से बंगाल तक

भाँग के जंगली पौधे प्रचुरता से पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश, विहार एवं बंगाल में यह विशेष रूप से मिलता है। इसके अतिरिक्त दकन (*Deccan*) में भी कुछ होता है। सरकार (आवकारी मुहकमा) के नियंत्रण में स्थान-स्थान में इसकी खेती भी की जाती है। इसकी पत्तियाँ **भाँग** के नाम से, मादा पौधे के सुखाये हुए पुष्पिताग्र (*Flowering tops*) के चप्पड़ **गाँजा** के नाम से तथा सुखाई राल **चरस** के नाम से आवकारी के दुकानों में विकते हैं। विदेशों में ईरान, ईराक और मिस्र में भी होता है। भारतवर्ष में चरस का आयात प्रायः विदेशों से होता है।

संक्षिप्त परिचय – भाँग के एकवर्षायु एवं गंधयुक्त ०.६ से १.५ मीटर या ३.५ फुट ऊंचे तथा खड़े क्षुप होते हैं, जो सशाख या कभी-कभी निःशाख होते हैं और स्त्रीक्षुप (*Pistillate plants*) एवं पुरुष (नर) क्षुप अलग-अलग होते हैं। पत्तियाँ सवृन्त (*Stalked*), नीचे की अभिमुख किन्तु ऊपर की एकान्तर क्रम से स्थित, व्यास में ७.५ सें० मी० से २० सें० मी० या ३-८ इंच वड़ी तथा खण्डित (*Palmate*) होती हैं, ऊपर की पत्तियों में १-३ (कभी-कभी ५ तक) एवं नीचे की पत्तियों में ५-११ तक खण्ड होते हैं, जिनमें मध्यस्थ खण्ड सवसे बड़ा होता है। पत्रतट तीक्ष्ण दंतुर होते हैं। पत्तियाँ ऊर्ध्व पृष्ठ पर गाढ़े हरे रंग की तथा अधः पृष्ठ पर फीके रंग की एवं मृदु रोमावृत होती हैं। पुष्प हल्के पीताभ हरित वर्ण के होते हैं। नरपुष्प छोटी-छोटी एवं सघन तथा नम्य कोणोद्भूत मंजरियों (*Short axillary drooping panicles*) में निकलते हैं, जिनमें सवर्ण कोश या परिदल पुंज (*Perianth*) ५ खण्डों वाला, खण्ड नौकाकार तथा पुंकेशर संख्या में ५ होते हैं। स्त्री-पुष्प, कोणोद्भूत, अवृन्त होते हैं, जिनमें सवर्ण कोष एक एक अखण्डि पत्रवत् होता है, जो गर्भाशय को ढंके रहता है। कुक्षिवृन्त (*Style*) सूत्रवत् तथा दो शाखाओं में विभक्त होता है, जो वाहर को निकला रहता है। चर्मफल (*Achene*) $\frac{1}{8}$ इंच लम्बे, किंचित् चपटे होते हैं, जो स्थायी सवर्ण कोश (*Persistent perianth*) से आवृत रहते हैं। इसके फलयुक्त पत्रों को भाँग, मादा पौधे के मञ्जरी युक्त शाखाग्रों (*Female floweing tops*) को जिन पर रालदार द्रव्य लगा होता है, गाँजा और लेसदार द्रव या राल (निर्यास–*resinous exudation*) को जो भंग के पत्तों पर लगी होती है और हाथ पर चिपक जाती है और जिसे उन पर से खुरच कर संग्रह कर लेते हैं चरस कहते हैं। इसे उसारए भंग और इत्रे विलायती भी कहते हैं। जिन क्षुपों से गाँजा बनता है, उनके आसपास पुरुष क्षुप नहीं होने चाहिए क्योंकि गर्भाधान होने पर मादकत्व लुप्त हो जाता है। इनका प्रयोग औषधि में भी होता है तथा लोग नशे के लिए पत्तियों को खाते हैं तथा चरस एवं गाँजे को चिलम पर धूम पान के रूप में सेवन करते हैं। अतएव इसका आयात-निर्यात आवकारी महकमें के नियंत्रण में होता है।

उपयोगी अंग – फलयुक्त शुष्कपत्र (भाँग), गाँजा, चरस एवं वीज।

मात्रा – भाँग–१२५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० या १ से २ रत्ती।

गाँजा–६२.५ मि० ग्रा० से १२५ मि० ग्रा० या $\frac{1}{2}$ से १ रत्ती

चरस–३१.२५ मि० ग्रा० या $\frac{1}{4}$ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भाँग कान्नाविस साटीवा नामक उपर्युक्त वनस्पति की सुखायी हुई पत्तियाँ होती हैं। एतदर्थ कर्षित (वोये हुए) अथवा जंगली तथा मादा एवं नर सभी पौधों की पत्तियाँ ली जाती हैं। वाजार में प्रायः भाँग की सुखायी हुई पत्तियाँ मिलती हैं, जो गाढ़े हरे रंग की होती हैं। इनमें प्रायः इनके लम्वे वृन्त या डंठल (*Petioles*) भी होते हैं। पत्तियाँ करतलाकार खंडित होती हैं, जिनके पत्रक रेखाकार भालाकार (*Linearlanceolate*) तथा तीक्ष्ण दंतुर (*Sharply serrated*) किनारे वाले होते हैं। आधार की ओर यह उत्तरोत्तर कम चौड़े होते हैं। वाजारू भाँग में पत्तियाँ प्रायः टूटी हुई होती हैं, जिससे यह स्थूल चूर्ण के रूप में प्राप्त होती हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है। **गाँजा** – वाजार में गाँजा के कालिमा लिये मटमैले हरे रंग के चप्पड़ (*Compressed rough dusky-green masses*) मिलते हैं, जिनमें भाँग के स्त्री (मादा) पौधे के पुष्पिताग्र (कोमल शाखा, पत्र, पुष्प एवं फल आदि) होते हैं, जो एक, लसदार या रालदार द्रव के द्वारा परस्पर चिपके रहते हैं। फल छोटे-छोटे एक वीज युक्त होते हैं तथा इनके साथ एक कोणपुष्पक (*Bract*) भी लगा होता है, जो पत्रवत् एवं रूपरेखा में लट्वाकार भालाकार होते हैं।

इसमें एक विशिष्ट प्रकार की उग्र मदकारक गंध होती है, तथा स्वाद में कड़वी एवं तीक्ष्ण होती है। गाँजे में पत्र-काण्ड एवं फल आदि अधिकतम १०% तक होते है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%। ऐल्कोहल् (९०%) में विलेय सत्व कम-से-कम १०% तथा भस्म अधिकतम १५% तथा अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम ५% प्राप्त होती है। **परीक्षण**। चरस – शुद्ध चरस हरिताभ भूरे रंग के नम रालीय चप्पड़ (*Moist resinous mass*) के रूप में होती है, जिसमें पत्तियों के कण (*fragments of the leaves*) एवं रोम (*Hairs*) भी चिपके होते हैं। चरस में भी भाँग के पौधेकी-सी विशिष्ट गंध पायी जाती है। किन्तु बाजारू नमूनों में अपद्रव्यों के मिलावट एवं नये-पुराने के कारण रंग एवं विलेयता (*Solubility*) में बहुत अन्तर पाया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कभी-कभी असावधानी से भाँग की पत्तियों में इसके बीज भी मिले होते हैं। पौधे के नीचे की पत्तियाँ प्रायः निष्क्रिय होती हैं। अतएव इनका भी मिलावट नहीं होना चाहिए। गाँजा में भाँग के बीज एवं पत्तियों का मिलावट नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – मैदानों में भाँग का संग्रह प्रायः मई-जून के महीनों में तथा पहाड़ी इलाकों में कुछ देर से (जून-जुलाई) में किया जाता है। पौधों को काट कर दिन में धूप में तथा रात्रि में ओस में रखा जाता है। इस प्रकार कई दिन तक प्रक्रिया दुहराई जाती है। जब सूख जाता है, इन्हें पीट कर पत्तों को पृथक् प्राप्त कर लेते हैं। गाँजा का संग्रह प्रायः लगाये हुए पौधों से ही किया जाता है। जब पौधे बढ़ने लगते हैं, नीचे की शाखाएँ काट दी जाती हैं। इससे पुष्पिताग्रों में वृद्धि तेजी से होती है। जब पुष्प आने शुरु हो जायँ तो नर पौधे छाँट कर उखाड़ दिये जाते हैं। जब नीचे की पत्तियाँ सूख कर गिरने लगती हैं, तथा पुष्प वृन्त पीले पड़ने लगते हैं, तब गाँजा के लिए फसल तैयार समझी जाती है। वायु में खुला रहने से गाँजा, चरस आदि की सक्रियता धीरे-धीरे कम हो जाती है। अतएव इनको अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में सुरक्षित करना चाहिए।

संगठन – भाँग में भूरे रंग की एक मृदु राल (*Soft resin*) पायी जाती है, जिसे केनाबिनोन (*Cannabinone*) कहते हैं। राल में लाल रंग का एक गाढ़ा चिपचिपा तेल (*Viscid red oil*) पाया जाता है, जो अत्यंत मदकारि (*Narcotic*) होता है। हवा में खुला रहने पर यह रालीय हो जाता है तथा इसकी सक्रियता भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त भारतीय भाँग में कुछ गोंदीय पदार्थ, शर्करा, उड़नशील तेल, तथा कैल्सियम फॉस्फेट आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–मादक। प्रधान कर्म–वेदनास्थापक, निद्राजनन, आक्षेपहर, दीपन-पाचन, ग्राही, पित्तसारक, आन्त्रशूल-प्रशमन, व्यवायी, विकासी, शुक्रस्तम्भक, श्वासहर, अधिकमात्रा में मूर्च्छाजनक एवं मदकारि। यूनानी मतानुसार भाँग, गाँजा तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होते हैं तथा चरस चौथे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। अहितकर–दृष्टि एवं मस्तिष्क के लिए (उन्माद जनक एवं मदकारक है)। निवारण–घी आदि स्निग्ध पदार्थ।

मुख्य योग – लाई चूर्ण, जातीफलादि चूर्ण, मदनानन्द मोदक, माजून फ़लकसेर।

भारङ्गी (भार्गी)

नाम। सं०–भार्ङ्गी, भार्गी, ब्राह्मणयष्टिका ? हिं०–भारङ्गी। (जौनसार)–वनबाकरी। बं०–बामुनहाटी। म०–भारंग। गु०–भारंगी। पं०–भरंगी। संथा०–सरमलूतुर। ले०–क्लेरोडेन्ड्रॉन् सेर्राटुम *Clerodendron serratum* (*Linn.*) *Moon.*।

वानस्पतिक कुल – निर्गुण्डी-कुल (वर्बेनासे : *Verbenaceae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष में इसके क्षुप पाये जाते हैं। विशेषतः हिमालय की तराई–नेपाल, कुमायूं, गढ़वाल, देहरादून आदि, बंगाल तथा बिहार आदि स्थानों में प्रचुरता से पाया जाता है। दक्षिण भारत में भी मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – इसके बहुवर्षायु गुल्म होते हैं, जिनमें अनियमित क्रम से अनेक चौपहल शाखाएँ निकली रहती हैं। जिन स्थानों में दावाग्नि होती रहती है, वहाँ मूलस्तम्भ केवल बहुवर्षायु होता है। उक्त काष्ठीय मूलस्तम्भ से प्रतिवर्ष ०.९ मीटर से १.८ मीटर या ३.६ फुट ऊंचे किंचित् शाकीय सीधे काण्ड निकलते हैं। पत्तियाँ ७.५ से २० सें० मी० या ३ से ८ इंच तक लम्बी तथा ३.७५ सें० मी० से ६.२५ सें० मी० (१॥-२॥ इंच) चौड़ी

भाँग के जंगली पौधे प्रचुरता से पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश, विहार एवं बंगाल में यह विशेष रूप से मिलता है। इसके अतिरिक्त दकन (*Deccan*) में भी कुछ होता है। सरकार (आवकारी मुहकमा) के नियंत्रण में स्थान-स्थान में इसकी खेती भी की जाती है। इसकी पत्तियाँ **भाँग** के नाम से, मादा पौधे के सुखाये हुए पुष्पिताग्र (*Flowering tops*) के चप्पड़ **गाँजा** के नाम से तथा सुखाई राल **चरस** के नाम से आवकारी के दुकानों में विकते हैं। विदेशों में ईरान, ईराक और मिस्र में भी होता है। भारतवर्ष में चरस का आयात प्रायः विदेशों से होता है।

संक्षिप्त परिचय – भाँग के एकवर्षायु एवं गंधयुक्त ०.९ से १.५ मीटर या ३.५ फुट ऊंचे तथा खड़े क्षुप होते हैं, जो सशाख या कभी-कभी निःशाख होते हैं और स्त्रीक्षुप (*Pistillate plants*) एवं पुरुष (नर) क्षुप अलग-अलग होते हैं। पत्तियाँ सवृन्त (*Stalked*), नीचे की अभिमुख किन्तु ऊपर की एकान्तर क्रम से स्थित, व्यास में ७.५ सें० मी० से २० सें० मी० या ३-८ इंच वड़ी तथा खण्डित (*Palmate*) होती हैं, ऊपर की पत्तियों में १-३ (कभी-कभी ५ तक) एवं नीचे की पत्तियों में ५-११ तक खण्ड होते हैं, जिनमें मध्यस्थ खण्ड सबसे बड़ा होता है। पत्रतट तीक्ष्ण दंतुर होते हैं। पत्तियाँ ऊर्ध्व पृष्ठ पर गाढ़े हरे रंग की तथा अधः पृष्ठ पर फीके रंग की एवं मृदु रोमावृत होती हैं। पुष्प हल्के पीताभ हरित वर्ण के होते हैं। नरपुष्प छोटी-छोटी एवं सघन तथा नम्य कोणोद्भूत मंजरियों (*Short axillary drooping panicles*) में निकलते हैं, जिनमें सवर्ण कोश या परिदल पुंज (*Perianth*) ५ खण्डों वाला, खण्ड नौकाकार तथा पुंकेशर संख्या में ५ होते हैं। स्त्री-पुष्प, कोणोद्भूत, अवृन्त होते हैं, जिनमें सवर्ण कोष एक एक अखण्डि पत्र-वत् होता है, जो गर्भाशय को ढंके रहता है। कुक्षिवृन्त (*Style*) सूत्रवत् तथा दो शाखाओं में विभक्त होता है, जो वाहर को निकला रहता है। चर्मफल (*Achene*) $\frac{1}{8}$ इंच लम्बे, किंचित् चपटे होते हैं, जो स्थायी सवर्ण कोश (*Persistent perianth*) से आवृत रहते हैं। इसके फलयुक्त पत्रों को भाँग, मादा पौधे के मज्जरी युक्त शाखाग्रों (*Female floweing tops*) को जिन पर रालदार द्रव्य लगा होता है, गाँजा और लेसदार द्रव या राल (निर्यास–*resinous exudation*) को जो भंग के पत्तों पर लगी होती है और हाथ पर चिपक जाती है और जिसे उन पर से खुरच कर संग्रह कर लेते हैं चरस कहते हैं। इसे उसारए भंग और इत्रे विलायती भी कहते हैं। जिन क्षुपों से गाँजा बनता है, उनके आसपास पुरुष क्षुप नहीं होने चाहिए क्योंकि गर्भाधान होने पर मादकत्व लुप्त हो जाता है। इनका प्रयोग औषधि में भी होता है तथा लोग नशे के लिए पत्तियों को खाते हैं तथा चरस एवं गाँजे को चिलम पर धूम पान के रूप में सेवन करते हैं। अतएव इसका आयात-निर्यात आवकारी महकमें के नियंत्रण में होता है।

उपयोगी अंग – फलयुक्त शुष्कपत्र (भाँग), गाँजा, चरस एवं बीज।

मात्रा – भाँग–१२५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० या १ से २ रत्ती।

गाँजा–६२.५ मि० ग्रा० से १२५ मि० ग्रा० या $\frac{1}{2}$ से १ रत्ती

चरस–३१.२५ मि० ग्रा० या $\frac{1}{4}$ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भाँग कान्नाबिस साटीवा नामक उपर्युक्त वनस्पति की सुखायी हुई पत्तियाँ होती हैं। एतदर्थ कर्षित (बोयें हुए) अथवा जंगली तथा मादा एवं नर सभी पौधों की पत्तियाँ ली जाती हैं। बाजार में प्रायः भाँग की सुखायी हुई पत्तियाँ मिलती हैं, जो गाढ़े हरे रग की होती हैं। इनमें प्रायः इनके लम्बे वृन्त या डंठल (*Petioles*) भी होते हैं। पत्तियाँ करतलाकार खंडित होती हैं, जिनके पत्रक रेखाकार भालाकार (*Linearlanceolate*) तथा तीक्ष्ण दंतुर (*Sharply serrated*) किनारे वाले होते हैं। आधार की ओर यह उत्तरोत्तर कम चौड़े होते हैं। बाजारू भाँग में पत्तियाँ प्रायः टूटी हुई होती हैं, जिससे यह स्थूल चूर्ण के रूप में प्राप्त होती हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है। **गाँजा** – बाजार में गाँजा के कालिमा लिये मटमैले हरे रंग के चप्पड़ (*Compressed rough dusky-green masses*) मिलते हैं, जिनमें भाँग के स्त्री (मादा) पौधे के पुष्पिताग्र (कोमल शाखा, पत्र, पुष्प एवं फल आदि) होते हैं, जो एक, लसदार या रालदार द्रव के द्वारा परस्पर चिपके रहते हैं। फल छोटे-छोटे एक बीज युक्त होते हैं तथा इनके साथ एक कोणपुष्पक (*Bract*) भी लगा होता है, जो पत्रवत् एवं रूपरेखा में लट्वाकार भालाकार होते हैं।

इसमें एक विशिष्ट प्रकार की उग्र मदकारक गंध होती है, तथा स्वाद में कड़वी एवं तीक्ष्ण होती है। गाँजे में पत्र-काण्ड एवं फल आदि अधिकतम १०% तक होते हैं। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%। ऐल्कोहल् (६०%) में विलेय सत्व कम-से-कम १०% तथा भस्म अधिकतम १५% तथा अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम ५% प्राप्त होती है। **परीक्षण**। चरस–शुद्ध चरस हरिताभ भूरे रंग के नम रालीय चप्पड़ (*Moist resinous mass*) के रूप में होती है, जिसमें पत्तियों के कण (*fragments of the leaves*) एवं रोम (*Hairs*) भी चिपके होते हैं। चरस में भी भाँग के पौधेकी-सी विशिष्ट गंध पायी जाती है। किन्तु बाजारू नमूनों में अपद्रव्यों के मिलावट एवं नये-पुराने के कारण रंग एवं विलेयता (*Solubility*) में बहुत अन्तर पाया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–कभी-कभी असावधानी से भाँग की पत्तियों में इसके बीज भी मिले होते हैं। पौधे के नीचे की पत्तियाँ प्रायः निष्क्रिय होती हैं। अतएव इनका भी मिलावट नहीं होना चाहिए। गाँजा में भाँग के बीज एवं पत्तियों का मिलावट नहीं होना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण–मैदानों में भाँग का संग्रह प्रायः मई-जून के महीनों में तथा पहाड़ी इलाकों में कुछ देर से (जून-जुलाई) में किया जाता है। पौधों को काट कर दिन में धूप में तथा रात्रि में ओस में रखा जाता है। इस प्रकार कई दिन तक प्रक्रिया दुहराई जाती है। जब सूख जाता है, इन्हें पीट कर पत्तों को पृथक् प्राप्त कर लेते हैं। गाँजा का संग्रह प्रायः लगाये हुए पौधों से ही किया जाता है। जब पौधे बढ़ने लगते हैं, नीचे की शाखाएँ काट दी जाती हैं। इससे पुष्पिताग्रों में वृद्धि तेजी से होती है। जब पुष्प आने शुरु हो जायँ तो नर पौधे छाँट कर उखाड़ दिये जाते हैं। जब नीचे की पत्तियाँ सूख कर गिरने लगती हैं, तथा पुष्प वृन्त पीले पड़ने लगते हैं, तब गाँजा के लिए फसल तैयार समझी जाती है। वायु में खुला रहने से गाँजा, चरस आदि की सक्रियता धीरे-धीरे कम हो जाती है। अतएव इनको अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में सुरक्षित करना चाहिए।

संगठन–भाँग में भूरे रंग की एक मृदु राल (*Soft resin*) पायी जाती है, जिसे केनाबिनोन (*Cannabinone*) —— । राल में लाल रंग का एक गाढ़ा चिपचिपा तेल (*Viscid red oil*) पाया जाता है, जो अत्यंत मदकारि (*Narcotic*) होता है। हवा में खुला रहने पर यह रालीय हो जाता है तथा इसकी सक्रियता भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त भारतीय भाँग में कुछ गोंदीय पदार्थ, शर्करा, उड़नशील तेल, तथा कैल्सियम फॉस्फेट आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–१ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–मादक। प्रधान कर्म–वेदनास्थापक, निद्राजनन, आक्षेपहर, दीपन-पाचन, ग्राही, पित्तसारक, आन्त्रशूल-प्रशमन, व्यवायी, विकासी, शुक्रस्तम्भक, श्वासहर, अधिकमात्रा में मूर्च्छाजनक एवं मदकारि। यूनानी मतानुसार भाँग, गाँजा तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष होते हैं तथा चरस चौथे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। अहितकर–दृष्टि एवं मस्तिष्क के लिए (उन्माद जनक एवं मदकारक है)। निवारण–घी आदि स्निग्ध पदार्थ।

मुख्य योग–लाई चूर्ण, जातीफलादि चूर्ण, मदनानन्द मोदक, माजून फ़लकसेर।

भारङ्गी (भार्गी)

नाम। सं०–भार्ङ्गी, भार्गी, ब्राह्मणयष्टिका? हिं०–भारङ्गी। (जौनसार)–वनवाकरी। बं०–बामुनहाटी। म०–भारंग। गु०–भारंगी। पं०–भरंगी। संथा०–सरमलूतुर। ले०–क्लेरोडेन्ड्रॉन् सेर्राटुम *Clerodendron serratum* (*Linn.*) *Moon.*।

वानस्पतिक कुल–निर्गुण्डी-कुल (वर्बेनासे : *Verbenaceae*)।

प्राप्तिस्थान–प्रायः समस्त भारतवर्ष में इसके क्षुप पाये जाते हैं। विशेषतः हिमालय की तराई–नेपाल, कुमायूं, गढ़वाल, देहरादून आदि, बंगाल तथा बिहार आदि स्थानों में प्रचुरता से पाया जाता है। दक्षिण भारत में भी मिलता है।

संक्षिप्त परिचय–इसके बहुवर्षायु गुल्म होते हैं, जिनमें अनियमित क्रम से अनेक चौपहल शाखाएँ निकली रहती हैं। जिन स्थानों में दावाग्नि होती रहती है, वहाँ मूलस्तम्भ केवल बहुवर्षायु होता है। उक्त काष्ठीय मूलस्तम्भ से प्रतिवर्ष ०.६ मीटर से १.८ मीटर या ३.६ फुट ऊंचे किंचित् शाकीय सीधे काण्ड निकलते हैं। पत्तियाँ ७.५ से २० सें० मी० या ३ से ८ इंच तक लम्बी तथा ३.७५ सें० मी० से ६.२५ सें० मी० (१॥-२॥ इंच) चौड़ी

लगभग अवृन्त, रेखाकार आयताकार, अण्डाकार, अभिलट्वाकार या अभिप्रासवत् तथा तीक्ष्ण दन्तुर और चिकनी कुछ-कुछ मांसल, आमने-सामने या तीन-तीन पत्तियाँ प्रतिचक्र में होती हैं। पुष्प व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच से अधिक, नीलाभ, हल्के गुलाबी या सफेद रंग के होते हैं, जो शाखाग्रों पर गुच्छों में निकलते हैं, और कुछ सुगंधित होते हैं। कोणपुष्पक स्थायी और बाह्य कोष कुछ-कुछ फलोपचयी होता है। अष्ठिफल (*Drupe*), प्रायः १-३, परस्पर संयुक्त और मांसल खण्डफलों का होता है। पकने पर यह जामुनी काले रंग के हो जाते हैं। पुष्पागम ग्रीष्म में तथा फलागम वर्षान्त या जाड़ों के प्रारम्भ में होता है।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – उपर्युक्त भार्गी के पर्यायों में ब्राह्मणयष्टिका (सं०) तथा वामनहाटी का भी उल्लेख है। वास्तव में वामनहाटी नाम से क्लेरोडेन्ड्रॉन सीफोनान्थुस (*Clerodendron Siphonanthus* R. *Br.*) नामक भार्गी की दूसरी जाति का ग्रहण होना चाहिए। पर्यायों की उक्त गड़बड़ी से भारङ्गी नाम से इसका भी संग्रह किया जाता है। अभावे यह भी असली भार्ङ्गी का प्रतिनिधित्व कर सकता है। वामनहाटी के गुल्मस्वभाव के शाकीय पौधे होते हैं, जिनमें काण्ड सीधा, लम्बा एवं ०.६ मीटर से १.८ मीटर या ३-६ फुट ऊंचा एवं नालाकार होता है। पत्तियाँ ग्रंथियों पर ३ या ५ के चक्रों में (कभी-कभी अभिमुख) स्थित होती हैं। पुष्प सुन्दर, श्वेत या मलाई वर्ण के, पत्र–कोणीय गुच्छों में और बड़े तथा अग्र्यव्यूह में रहते हैं। परस्पर संयुक्त १-४ फल-खण्डों का बना हुआ अष्ठिफल होता है, जिसके साथ रक्तवर्ण का फलोपचयी बाह्य कोश लगा रहता है। बाजारों में इसकी जड़ के काट कर सुखाये टुकड़े मिलते हैं, जो १८.७५ मि० मी० से ३.१२५ सें० मी० (।।।-१। इंच) लम्बे होते हैं। रूपरेखा में यह बेलनाकार तथा चिकने और बाह्यतः लालिमा लिये भूरे रंग के होते हैं। अन्दर का भाग हल्के पीले रंग का होता है। इसमें कोई विशेष गंध तथा स्वाद नहीं पाया जाता। (२) बंगाल में पीक्रास्मा क्वास्सिऑइडेस *Picrasma quassioides Bennett*. (*Family* : *Simarubaceae*) की छाल भी भारंगी ? के नाम से बिकती है। इसके बड़े क्षुप होते हैं, जो हिमालय प्रदेश में पश्चिम में चनाव से लेकर चम्बा, कुलु, बशहर तथा पूरब में उत्तरी गढ़वाल एवं नैपाल-भूटान में १४६३ मीटर से २४०८ मीटर या ४,८०० से ८००० फुट की ऊंचाई पर) पाये जाते हैं। इसकी छाल स्वाद में अत्यंत तीती होती है और गुण-कर्म की दृष्टि से विलायती क्वासिया की उत्तम प्रतिनिधि समझी जाती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में भार्ङ्गी मूल का संग्रह कर छाया-शुष्क कर लें और मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – इसके मूल में रालीय वसामय तथा क्षारोद स्वभाव के तत्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ६ महीने से १ वर्ष।

स्वभाव –गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवात–शामक, शोथहर, व्रणपाचन, दीपन-पाचन, अनुलोमन, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, कफघ्न, श्वास-कासहर, रक्तशोधक आदि।

मुख्य योग – भार्ङ्गीगुड़, भार्ङ्ग्यादि क्वाथ।

भिलावाँ (भल्लातक)

नाम। सं०–भल्लातक, अरुष्कर, अग्निमुख। हिं०–भिलावाँ, भेला। पं०–भिलावाँ, भेला। बं०–भेला। म०–बिब्बा। गु०–भिलामां। को०, संथा०–सोसो। खर०–भेलवा। अ०–हब्बुलक़ल्ब, इन्क़र्दिया। फा०– ब (बि) लादुर। अं०–(१) (फल) मार्किंग नट (*Marking Nut*), धोबीज नट (*Dhobis' Nut*); (वृक्ष) मार्किंगनट ट्री (*Marking Nut Tree*)। ले०–सेमेकार्पुस आनाकार्डिउम (*Semecarpus anacardium Linn. f.*)। लेटिन नाम इसके वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – आम्रादि-कुल (आनाकार्डिआसे *Anacardiaceae*)।

प्राप्ति स्थान – हिमालय के निचले भाग में व्यास नदी से लेकर ४६६.८ मीटर या (३,५०० फुट की ऊंचाई तक)। पूरब में खसिया की पहाड़ियों तक तथा समस्त भारतवर्ष के उष्ण प्रदेशों में विशेषतः बिहार, बंगाल, आसाम, मध्य भारत, गुजरात, कोंकण, दक्षिण महाराष्ट्र, कनाड़ा एवं मद्रास के जंगलों में इसके स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। इसके सुखाये हुए पक्व फल बाजारों में मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय–भल्लातक के छोटे या मध्यमाकारी पतझड़

करने वाले वृक्ष होते हैं, किन्तु पत्तियाँ बहुत बड़ी तथा शाखाओं पर समूहबद्ध होती हैं। काण्डत्वक् गाढ़े भूरे रंग की या खाकस्तरी होती है, जिसमें चीरा लगाने से काले रंग का दाहक एवं स्फोटजनक रस निकलता है। इसी से लकड़ी आदि के लिए इसके वृक्षों को लोग भयसे नहीं काटते। इसकी कोमल-कोमल टहनियाँ, पत्तियों के अधःपृष्ठ एवं पुष्पव्यूह आदि मृदुरोमावृत होते हैं। पत्तियाँ अखण्डित तथा एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं, जो २२.५ से ६० सें० मी० या ६-२४ इंच तक लम्बी एवं १२.५ सें० मी० से ३५ सें० मी० या ५-१४ इंच चौड़ी, अभिलट्वाकार आयताकार, चर्मिल, अग्र एवं आधार पर प्रायः गोलाकार (आधार पर कभी-कभी हृदयाकार), जिससे स्थूलतः देखने में वायोलीन (*Violin*) बाजे की रूपरेखा-सी मालूम होती हैं तथा ऊर्ध्व पृष्ठ की अपेक्षा अधःपृष्ठ पर फीके रंग की होती हैं। पत्र-शिराएँ १६-२४ जोड़े (*Pairs*) होती हैं, जो स्पष्ट और कठिन होती हैं। पुष्प हरिताभ पीत वर्ण के, छोटे-छोटे (१२.५ मि० मी०–८.३ मि० मीटर (½-⅓ इंच व्यास के) तथा अग्र्य लम्बे स्तवकों या लम्बी सगुच्छ मञ्जरियों में (*in fascicles on long terminal panicles*) में निकलते हैं, जो एक लिंगी होते हैं और स्त्रीपुष्प एवं पुंपुष्प पृथक्-पृथक् वृक्षों पर पाये जाते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बा, चपटा, स्थूलतः आम की रूपरेखा का पकने पर काला चमकदार एवं मांसल तथा चपकाकार नारंग वर्ण के मांसल दल्यक्ष या पुष्पधर (*Fleshy receptacle*) में बैठा हुआ होता है। उक्त दल्यक्ष मधुर एवं स्वादिष्ठ होता है। जंगली लोग या संग्रहकर्त्ता इनको खाते हैं। अतएव बाजारों में जो फल आते हैं उनपर प्रायः उक्त मांसल पुष्पधर का अभाव होता है। इसकी फलभित्ति में भी उपर्युक्त दाहक रस (*Acrid juice*) प्रचुर मात्रा में पाया जाता है, जिसका उपयोग धोबी लोग कपड़ों में निशान लगाने के लिए करते हैं। औषध्यर्थ इन्हीं फलों का व्यवहार होता है। पतझड़ काल–वसन्त। पुष्पागम–ग्रीष्म ऋतु। फलागम–शरद् और हेमन्त ऋतु।

उपयोगी अंग – फलमज्जा एवं रस (*Acrid juice*) या भिलावें का तेल।

मात्रा – फलमज्जा (मग्ज़े बलादुर)–१ ग्राम या १ माशा। फलरस–½ से २ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भिलावे का फल लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बा एवं हृदयाकृति होता है, जिसमें अलिन्द का भाग वस्तुतः दल्यक्ष या पुष्पधर (*Receptacle*) से बनता है, जो वास्तविक फल के ऊपर लाल टोपी की भाँति स्थित होता है। यह मधुर एवं स्वादिष्ठ होता है। संग्रहकर्ता इसे पृथक् कर लेते हैं। बाजार में बिकने वाला भिलावा वास्तविक फल है। अपक्वावस्था में भिलावा हरित वर्ण का किन्तु पकने पर चमकीले काले रंग का हो जाता है। कच्चे फल के भीतर का रस दूध की तरह सफेद रंग का होता है, जो हवा लगने पर काले रंग का हो जाता है। पके फल का रस मधु के समान गाढ़ा और कृष्ण वर्ण का (*Brown oily acrid juice*) होता है। फल के भीतर बादाम की तरह मीठा एक बीज होता है। उक्त कड़वा रस जिसे भिलावे का तेल भी कह देते हैं, वास्तव में इसकी फलभित्ति में पाया जाता है। फलों को जलाने पर २.१४% भस्म प्राप्त होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – भिलावे में प्रायः किसी चीज़ का मिलावट नहीं पाया जाता।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को लेकर, उनका शोधन कर मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें और पात्र पर "विष" का प्रपत्रक (लेबिल) लगा दें।

संगठन – फल के बाह्य त्वक् में काला दाहजनक तेल (३२%), तथा तिक्त सत्व, मग्ज में काजू की गिरी की भाँति पौष्टिक द्रव्य और अनुत्पत् मीठा तेल पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, पित्त संशोधन। बाह्यतः स्थानिक प्रयोग से (रस) स्फोटजनक, आभ्यन्तरसेवन से दीपन-पाचन, भेदन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न, मेध्य, नाड़ीबल्य, कफनिस्सारक, श्वासहर, अर्शोघ्न, आमवातनाशक, वाजीकरण, गर्भाशयोत्तेजक, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न, बृंहण, रसायन, हृदयोत्तेजक, यकृतोदर एवं प्लीहोदरनाशक आदि। यूनानी मतानुसार भल्लातक का फलरस चौथे दर्जे में गरम और खुश्क तथा मज्जा दूसरे दर्जे में गरम और पहले में खुश्क है।

भल्लातक चिकित्साक्रम में सेवनयोग्य पथ्य – भल्लातक सेवन करते समय पित्तवर्धक आहार-विहार यथा कटु-

वानस्पतिक कुल—कण्टकारी-कुल (सोलानासे *Solanaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में, बगीचों में तथा जोते हुए खेतों में एवं गृह-उद्यानों में अपने आप उगी हुई मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – मकोय के एक वर्षायु या द्विवर्षायु कोमल-काण्डीय छोटे क्षुप ३० से ६० सें० मी० (१-३ फुट) ऊँचे होते है। काण्ड कोणाकार (*Angled*) होता है, तथा अनेक शाखा-प्रशाखाएँ निकल कर चारों ओर को छत्राकार फैली रहती हैं। पत्र २.५ से ७.५ सें० मी० (१-३ इंच) लम्बे, रूपरेखा में लट्वाकार आयताकार तथा सवृन्त, पत्रतट सरल या अखण्डित अथवा लहरदार कुछ दन्तुर से होते हैं। पुष्प छोटे तथा सफेद रंग के होते हैं, जो समशिख-गुच्छकों में निकलते हैं। फल (*Berry*) छोटे-छोटे, गोल-गोल तथा कच्चा होने पर हरे किन्तु पकने पर पीले, लाल या काले रंग के हो जाते हैं और खाने में कुछ खट्टापन लिये मीठे होते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, फल, पञ्चाङ्ग।

मात्रा – सूखी मकोय–५ ग्राम से ७ ग्राम या ५ माशे से ७ माशा। मकोय की पत्ती का फाड़ारस–४ तोला से ६ तोला। अर्क मकोय–१ तोला से ५ तोला।

वस्तु संगठन – समस्त पौधे में विशेषतः फलों में काकमाचीन या सोलेनीन (*Solanine*) नामक क्षारोद (ऐल्केलॉइड) पाया जाता है।

स्वभाव – मकोय दूसरे दर्जे में सर्द एवं खुश्क होती है। यह संग्राही, दोषविलोमकर्ता, उपशोषण, संतापहर, मूत्रल और लेप तथा पानतः उष्णश्वयथुविलयन है। कोपस्थ अंगों की सूजन विशेषतः यकृच्छोफ, आमाशयशोथ, जलोदर आदि में मकोय की पत्ती का फाड़ा हुआ रस या इसका अर्क देते हैं। सूजनों में बाह्यतः लेप के रूप में भी इसका व्यवहार होता है। मस्तिष्कावरणशोथ (यथा सन्निपात) में मकोय के रस में सिरका मिला कर उसमें भिगोई हुई पट्टी शिर पर रखने से लाभ होता है।

मुख्य योग – अर्क मकोय।

विशेष – चरकोक्त (वि० अ० ८) तिक्तस्कन्ध के द्रव्यों में काकमाची का भी उल्लेख है।

मखाना (मखान्न)

नाम। सं०–मखान्न, पद्मबीजाभ, पानीयफल। हिं०–मखाना (रा)। बं०–मखाना (रा)। म०–मखान। पं०–जवेर। अं०–फॉक्सनट (*Fox Nut*)। ले०–एउरिआले फ़ेरॉक्स (*Euryale ferox Salisb.*)। लेटिन नाम इसकी वनस्पति का है।

वानस्पतिक कुल – कमल-कुल (नीम्फ़ेआसे *Nymphaeaceae*)।

प्राप्तिस्थान – मखाना भी कमल की भाँति एक जलीय पौधा है, जो उत्तर, मध्य एवं पश्चिमी भारतवर्ष में जलाशयों में पाया जाता है। उत्तरी बिहार (मिथला, पूर्निया आदि) में तालाबों एवं जलाशयों में प्रचुरता से होता है। मखाने का लावा बाजारों में बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – मखाने का क्षुप भी कमल की भाँति जलाशयों में होता है, जिसकी पत्तियाँ वृत्ताकार, व्यास में ३० सें० मी० से १२० सें० मी० या १-४ फुट तक, वक्र कण्टकों से आवृत होतीं तथा जल पर तैरती रहती हैं। मखाने के पत्र, नाल एवं फल सर्वत्र काँटे होते हैं। पुष्प २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बे, बाहर से बनफशई नील एवं अन्दर से लाल रंग के होते हैं। पुष्प दण्ड लम्बा होता है (और इस पर भी काँटे होते हैं) तथा जल के कुछ ऊपर उठा होता है। स्त्रीकेशर चक्राकार में स्थित तथा परस्पर पूर्णतः संयुक्त और कर्णिका में धँसे होते हैं। दलपत्र (*Petals*) एवं पुंकेशर अनेक होते हैं। फल गोल या अण्डाकार (नारंगी की तरह) होते हैं, जिसमें ४-२० तक कमलगट्टे (कमल बीज) से मिलते-जुलते कृष्ण वर्ण के बीज होते हैं। गुण-कर्म में भी कमल-बीज एवं मखान्न-बीज बहुत-कुछ समान होते हैं। इसके बीजों को भून कर हथौड़ी से कूटते हैं, और इस प्रकार इसका लावा प्राप्त होता है। इसका कच्चा फल भी खाया जाता है।

उपयोगी अंग – भुना बीज लोग पंचमेवे में डालते तथा इसकी खीर बनाते हैं।

मात्रा – ६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – मखान्न बीजों एवं लाजा (लावा) को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – मखाने के बीज में मुख्यतः कार्बोज (कार्बोहाइड्रेट) तथा प्रोटीन एवं खनिज तत्त्व तथा कैल्सियम्, लौह, फास्फोरस और केरोटीन आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–मधुर, कषाय, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–त्रिदोषनाशक, विशेषतः वातपित्तशामक, स्तम्भन, (अधिक मात्रा में विष्टम्भी),

वल्य, बृंहण, शुक्रल, शुक्रस्तम्भन, हृद्य, शोणितस्थापन, कफनिःसारक, प्रमेहहर। यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में गरम और तर है। अहितकर–शीतल प्रकृति को। निवारण–इसको भृष्ट करना।

ममीरा (पीतमूला)

नाम। सं०–पीतमूला, मिष्मीतिक्त। हिं०–ममीरा, मुमीरा। म०–ममीरा। गु०–ममीरो। आसाम–मिष्मीतीता। अ०, फा०–मामीरान। अं०– कॉप्टिस (*Coptis*), गोल्डेन थ्रेड (*Golden thread*)। ले०–कॉप्टिडिस राडिक्स (*Coptidis Radix*)। वनस्पतिका नाम–कॉप्टिस टीटा (*Captis teeta Wall.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (रानुनकुलासे *Renunculaceae*)।

प्राप्तिस्थान – काबुल से आसाम तक समशीतोष्ण हिमालय के प्रदेशों में विशेषतः आसाम से पूर्व के देशों के पहाड़ी स्थानों में ममीरा के स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। चीन में इसकी खेती भी की जाती है। चीनी ममीरा (ममीरान चीनी) उत्कृष्ट समझा जाता है। भारतीय ममीरा आसाम की मिष्मी नाम की पर्वतमाला में अधिकतया होता है, जहाँ से मिष्मी नाम की जाति के लोग बेचने के लिए लाते हैं; तथा यह स्वाद में तीता होता है, इसीलिए आसाम में इसको 'मिष्मीतीता' कहते हैं। आसामी ममीरा कलकत्ता से अन्य भारतीय बाजारों को भेजा जाता है। ममीरान चीनी सिंगापूर होकर कलकत्ता तथा बम्बई के बाजारोंमें आता है। कभी-कभी काबुली भी ममीरा बेचने को लाते हैं। मंहगी तथा कम मात्रा में उपलब्ध होने वाली औषधि होने के कारण ममीरा में मिलावट की सम्भावना भी अधिक रहती है।

उपयोगी अंग – भौमिक काण्ड या पाताली धड़ (राइज़ोम)।

मात्रा – १ से २ ग्राम या १ से २ माशा। (कटुपौष्टिक कर्म के लिए—½ से १ ग्राम या ४ रत्ती से १ माशा; विषमज्वर प्रतिबन्धक मात्रा १.५ से ३ ग्राम या १॥-३ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – ममीरा की जड़ें (राइज़ोम) प्रायः २.५ से ७.५ सें० मी० या १ से ३ इंच लम्बी, गिरहदार, कुछ टेढ़ी-मेढ़ी, बाहर से कालिमा लिये पीले रंग की, और अन्दर चमकीले पीले रंग की होती हैं। बाहर की गिरहों (*Annulations*) पर काण्डसंसक्त पत्रवृन्तों (*Stemclasping petioles*) एवं काण्ड पर स्थान-स्थान में टूटे हुए उपमूलों के नुकीले अवशेष-से भी लगे होते हैं। किसी-किसी राइज़ोम का अग्र सशाख होता है। उक्त मुण्डाकार शाखाएँ (*Heads*) पर्णवृन्तों से ढकी होती हैं। तोड़ने पर टूटे हुए तल पर तन्तु एवं कोशाओं की स्थिति अरवत् (*Radiate structure*) मालूम होती है। ममीरे की जड़ों में प्रायः कोई गंध नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में यह अत्यंत तिक्त होती हैं, तथा मुख में चाबने पर लालास्राव का रंग पीला हो जाता है। भस्म–३.१ से ३.२%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कुछ दूसरे पौधों की जड़ें तथा भौमिक काण्ड भी जो इससे मिलते-जुलते हैं, ममीरे के नाम से बिकते हैं। इन्हें नकली ममीरा कहते हैं। ऐसे द्रव्यों में कुटकी (*Picrorhiza kurroa*) एवं पियारांगा या ममीरी (*Thalictrum foliolosum DC. Family : Ranunculaceae*) विशेष महत्व के हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – ममीरे को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – इसमें दारुहरिद्रा में पाया जाने वाला बर्बेरीन (*Berberine* : ७.१ से ८.६%) नामक पीले रंग का तिक्त सत्व पाया जाता है, जो जल एवं ऐल्कोहल् में विलेय होता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव–गुण–रूक्ष। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफपित्तशामक; लेखन, शोथहर, दृष्टिशक्तिवर्धक, दीपन-पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, कटुपौष्टिक, मूत्रल, ज्वरघ्न (विशेषतः विषमज्वर प्रतिबन्धक)। यूनानी मतानुसार ममीरा तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क होता है। इसको अकेला या उपयुक्त औषधद्रव्य के साथ खरल करके दृष्टिदौर्बल्य, जाला, फूली और धूम्रदर्शन (गुब्बार) प्रभृति-जैसे नेत्र रोगों के निवारण के लिए नेत्र में लगाते हैं। यह नेत्ररोगों में विशेष गुणदायक है।

मयूरशिखा

नाम–सं०–मयूरशिखा, मयुच्छदा। हिं०–मयूरशिखा। रांची, संथा०–मयूरजूटी। हो०–माराचूटा। लाटखर–मयूरचुटिया। मिर्जापुर–सहसमूली। ले०–एलेफांटोपुस स्काबेर (*Elephantopus scaber Linn.*)।

ही ५ अप्रगल्भ या वन्ध्य पुंकेशर (*Staminodes*) भी होते हैं, जो शल्कपत्र (*Scales*) के रूप में होते हैं। डिम्वाशय पंचकोष्ठीय होता है और जायांगवृन्त या गाइनोफोर (*Gynophore*) पर स्थित होती है। फलियाँ ३.७५ से ५ सें० मी० (१॥-२ इंच) लम्बी और वटी हुई रस्सी की भाँति पेचदार (*Spirally twisted*) होती हैं । इन फलियों के गुच्छे लगते हैं । फल, मूल एवं त्वक् (छाल) का व्यवहार चिकित्सा में होता है । गर्मी एवं वर्षा ऋतु में पुष्प एवं जाड़ों में फलियाँ होती हैं।

उपयोगी अंग – फल (मरोड़फली), मूल एवं त्वक् ।

मात्रा – फलचूर्ण–१.५ से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा । मूलत्वक् (क्वाथार्थ)–३ ग्राम से १४.६ ग्राम या ३ माशा से १। तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मरोड़फली की फलियाँ ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १॥–२ इंच लम्बी तथा पाँच स्त्रीकेशरों (*Carpels*) की बनी होती हैं, जो वटी हुई रस्सी की तरह या कार्कस्क्रू की भाँति कुन्तल क्रम से लिपटे हुए होते हैं। इस प्रकार रूपरेखा में उक्त फलियाँ वेलनाकार तथा कुछ शंक्वाकार होती हैं । वाह्यतः यह हरिताभ भूरे रंग की तथा अन्तस्तल हरी आभा लिये हुए तथा चिकना होता है । स्वाद लवावी होता है । फलियों के अन्दर एक कतार में छोटे-छोटे कोणाकार वीज (*Angular seeds*) होते हैं, जो गाढ़े भूरे रंग के होते हैं, मूलत्वक–मरोड़फली के जड़ की छाल गाढ़े भूरें रंग की होती है, और इस पर सर्वत्र छोटे-छोटे गोल-गोल उत्सेध (*Small round warts*) होते हैं ।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलियों को तोड़ कर संग्रहीत करें और छायाशुष्क कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें ।

संगठन – फलियों में थोड़ी मात्रा में एक स्नेह द्रव्य तथा अल्पतः टैनिन आदि तत्त्व होते हैं ।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध । रस–कषाय । विपाक–कटु । वीर्य–शीत । कर्म–त्रिदोषघ्न, स्तम्भन, व्रणरोपण, शूलप्रशमन, रक्तस्तम्भक, मूत्रसंग्रहणीय आदि । यूनानी मतानुसार मरोड़फली पहले दर्जे में गरम और खुश्क तथा श्वयथुविलयन, तारल्यजनन, विरेचन (विशेषतः श्लेष्म विरेचन), लेखन, संशमन तथा प्रवाहिकाहर होती है । मात्रातियोग से पुंसत्वोपघाति होती है ।

विशेष – मरोड़फली का मूर्वानाम से ग्रहण नहीं होना चाहिए।

मस्तगी, रूमी

नाम । हिं०–रूमी मस्तगी, मस्तगी। अ०–मस्तकी, मुस्तक्का, मस्तकीए रूमी। फा०–मस्तकी रूमी, कुंदुरे रूमी। म०, गु०–रूमी (मा) मस्तकी । अं०–मैस्टिक (*Mastic, Mastich*) । ले०–मास्टिके *Mastiche* । वृक्ष का नाम–पीस्टासिआ लेंटिस्कुस (*Pistacia lentiscus Linn.*) । भूमध्यसागर (रूमसागर) के आसपास के प्रदेशों में अधिक होने के कारण इसको रूमीमस्तकी कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – आम्रादि-कुल (आनाकार्डिआसे *Anacardiaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण यूरोप (पुर्तगाल से यूनान तक भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेश), सीरिया, इजराइल, रोम, उत्तरी अफ्रीका के भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेश (मोरक्को) ट्युनिस आदि) में तथा भूमध्य सागरीय द्वीपों (सिसली आदि) में मस्तगी की झाड़ियाँ वहुतायत से पायी जाती हैं। भारतीय वाजारों में इसका आयात उक्त देशों से सीधे अथवा ईरान, अफगानिस्तान होकर होता है। मस्तगी उक्त वृक्ष का गोंद है, जो औषधि में तथा वार्निश में भी व्यवहृत होता है। अतएव यह पंसारियों के यहाँ वनौषधि-विक्रेताओं के यहाँ तथा इमारती सामान एवं वार्निश आदि वेचने वालों के यहाँ मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – मस्तगी के झाड़ीदार गुल्म अथवा कभी-कभी छोटे वृक्ष होते हैं। उक्त जाति के अतिरिक्त अनेक मिश्रित जातियाँ भी साथ-साथ पायी जाती हैं, जिनसे गोंद का संग्रह किया जाता है। मस्तगी इन्हीं वृक्षों का रालीय गोंद होता है। रालवहा नालियाँ प्रायः काण्ड एवं शाखाओं की त्वचा में पायी जाती हैं। गोंद मौसम में अपने आप भी निकलता है, किन्तु संग्रहकर्ता अधिक मात्रा में एवं जल्दी गोंद प्राप्त करने के लिए वृक्ष में अनुलम्ब दिशा में छोटे-छोटे चीरा लगा देते हैं। उक्त चीरा प्रायः जून के महीनों में लगाये जाते हैं और २ महीने तक संग्रह किया जाता है। उत्तम वृक्ष से प्रायः ४–५ सेर तक गोंद प्राप्त होता है। एक वृक्ष से लगातार ४ वर्ष तक गोंद संग्रह करने के वाद उसे छोड़ दिया जाता है। वृक्षों से सीधे पाछ कर जो गोंद संग्रह किया जाता है, वह सर्वोत्तम

होता है। जो गोंद नीचे जमीन पर गिर जाता है, उसमें वालू तथा मिट्टी आदि मिल जाती है और निकृष्ट दर्जे का होता है। मिट्टी एवं वालू आदि न मिल जाय इसके लिए वृक्षों के नीचे पत्थर आदि रख दिये जाते हैं, ताकि गोंद उसी पर गिरे। इस प्रकार शिलापट्टों से संग्रहीत गोंद मध्यम दर्जे का होता है।

उपयोगी अंग – रालीय गोंद।

मात्रा – १ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मस्तगी के छोटे गोल, लंबोतरे या अश्रुवत् दाने होते हैं, जिनका रंग पिलाइ लिये सफेद होता है। स्वाद किंचित् मधुर एवं सुगन्धित होता है। यह खरल में रगड़ते समय चिपक जाती है। अतः इसको कपड़े की पोटली में बाँधकर पानी में भिगोते हैं और फिर निकाल कर तुरंत पोंछ देते हैं। इस प्रकार चूर्ण करने से आसानी से चूर्णित हो जाती है।

संग्रह एवं संरक्षण – मस्तगी को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबन्द डिब्बों में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें अल्प मात्रा में एक उड़नशील तेल, १०% मैस्टिकीन (*Mastichine*), ३०% ऐल्कोहल् में घुलनशील राल तथा मैस्टिकोनिक, मैस्टिकीनिक एवं मस्टिकोलिक एसिड (एल्कोहल् में घुलनशील) पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २० वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–मधुर, कपाय। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण (किंचित्)। कर्म–वातपित्तशामक, आमाशयान्त्रवल्य, यकृदुत्तेजक ग्राही, कफनिस्सारक, मूत्रजनन, स्तम्भन, रक्तरोधक, वाजीकरण, आर्त्तवजनन, लेखन आदि। युनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–गुर्दा के रोगों में अहितकर है और रक्तमूत्रता उत्पन्न करता है। निवारण–सिरका।

मुख्य योग – जुवारिश मस्तगी, रोग़न मस्तगी।

महुआ (मधूक)

नाम। सं–मवूक, गुडपुप्प। हिं०–महुआ (वा)। म०–मोहडा। गु०–महुडो। कों०–मवुकम। उरान–मदकी। फा०–गुलेचकां। अं०–महुआ ट्री (*Mahua Tree*), इंडियन वटर ट्री (*Indian Butter Tree*)। लै०–माधूका ईंडिका *Madhuca indica* Gmel. (पर्याय–*M. latifolia* (Roxb.) MacBr.; *Bassia latifolia* Roxb.। लेटिन एवं अंग्रेजी नाम इसके वृक्ष के हैं। फल या वीज को वंगला मे 'कोचरा' तथा हिंदी, कोल एवं संथाल भाषा में 'कोइनी', 'कोइना' या 'टोइया' कहते है। वीजों के मग्ज या गिरी से प्राप्त तेल को डोरिया या कोइना अथवा टोइया का तेल कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – मधूकादि-कुल (सापोटासे *Sapotaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में महुआ के जंगली एवं लगाये हुए वृक्ष पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – महुआ के ऊंचे-ऊंचे पर्णपाली अथवा पतझड़ी (*Deciduous*) वृक्ष होते हैं, जिसकी पत्तियाँ शाखाग्रों पर समूहवद्ध, १२.५ से १७.५ सें० मी० या ५–७ इंच लम्बी, ७.५ से १० सें० मी० या ३–४ इंच चौड़ी, रूपरेखा में अंडाकार या आयताकार अंडाकार, अग्रनुकीला या कुण्ठित अर्थात् कुण्ठाग्र (*Obtuse*) एवं चर्मिल (*Coriaceous*) होती हैं, जो आवार की ओर क्रमशः कम चौड़ी अर्थात् स्फानाकार (*Cuneate*) होती हैं। मध्यशिरा से १०–१२ जोड़े पार्श्वगामी नाड़ियाँ या शिराएँ निकलती हैं। कोमलपत्र अवःपृष्ठ पर सूक्ष्म सघन रोमावृत्त (*densely woolly*) होते हैं। पर्णवृन्त २.५ सें० मी० से ३.७ ५ सें० मी० या (१–१॥ इंच) लम्बे होते हैं। पत्तों से पत्तल वनाये जाते हैं। पुष्प श्वेत, माँसल और रसमय होते हैं, जो शाखाग्रों पर गुच्छकों में निकलते हैं। पुष्पवृन्त २.५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० (१–१॥ इंच) लम्बे तथा सघन मृदुरोमावृत्त एवं नीचे को लटके (*Drooping*) होते हैं। वाह्य कोश (*Calyx*) ४–५ खण्डों वाला तथा चर्मिल और मुरचई रंग के सघन रोमावृत्त (*Densely rusty tomentose*) होता है। आभ्यन्तर कोष (*Corolla*) १.५ से २ सें० मी० (३/५ से ४/५ इंच) तक लम्बा पिलाई लिये सफेद रंग का एवं मांसल तथा रसदार और ७–१४ खंडयुक्त होता है, जिससे एक मीठी-सी गंध आती है। आभ्यन्तर कोशनलिका लम्बगोल होती है। पुंकेशर संख्या में २४–२६ तक, जो आभ्यन्तर कोशनलिका में ३ चक्रों में स्थित (*inserted in 3 series in the corolla-tube*) होते हैं। पुष्प प्रायः शीघ्रपतनशील अर्थात् शीघ्रपाती या कैडुकस (*Early caducous*) होते हैं। इनका स्वाद मीठा एवं हीकदार होता है। सूखने के उपरान्त यह मुनक्का की तरह हो जाता है। ताजे पुष्प कच्चे या दूध में उवालकर खाये जाते हैं। सूखे फूल भी उवालकर अथवा आटे के साथ मिला कर रोटी बना कर खाये

जाते हैं। सूखे फूलों से देशी शराब (ठर्रा) बनायी जाती है। फल या बेरी (*Berry*) लम्बगोल, २.५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बा तथा गूदेदार होता है, जो कच्ची अवस्था में हरे रंग का तथा कड़ा और पकने पर पीताभ एवं मुलायम तथा मीठा होता है। इसको लोग खाते हैं। फल के अन्दर १–४ तक गहरे लाल रंग की गुठलियाँ निकलती हैं। इनकी गिरी या मग्ज को कोल्हू में पेर कर एक जमने वाला गाढ़ा स्थिर तेल प्राप्त किया जाता है, जो जमने पर घी-जैसा मालूम होता है। इसको जलाने तथा खाने के काम में लाते हैं। महुआ में पुष्पागम ग्रीष्म ऋतु में होता है, तथा फल वर्षा में पकते हैं।

उपयोगी अंग – फूल, फल, बीजों का तेल तथा त्वक् या छाल और पत्र।

मात्रा – पुष्प–२३ ग्राम से ५८ ग्राम या २ से ५ तोला। छाल का क्वाथ–५ से १० तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – त्वक् या छाल, बाहर से खुरदरी तथा भूरे रंग की किन्तु अन्दर लाल रंग की होती है। स्वाद में यह कसैली होती है। शुष्क पुष्प (महुआ)–दूर से देखने में मुनक्के की भाँति होता है, किन्तु करीब से देखने पर मांसल, चिपचिपा, पिचका हुआ लगभग १.५ सें० मी० या $\frac{3}{4}$ इंच लम्बा और करीब इतना ही चौड़ा ढोलक की भाँति अन्दर पोला तथा दोनों सिरों पर खुला हुआ होता है। जल में भिगोने पर फूल कर गोलाकार हो जाता है, और अन्दर कण्ठ पर लगे हुए पराग कोश एवं केसरसूत्र स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। स्वाद में यह किंचित् खट्टे तथा मधुर होते हैं। व्यावसायिक रूप से मुख्यतया इनकी खपत देशी शराब बनाने में की जाती है। टोइया का तेल २५·३° सेंटीग्रेड तापक्रम पर ही पिघल जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – महुए की एक दूसरी जाति दक्षिण-पश्चिम भारत में कोंकण से ट्रावनकोर (कनाडा मलाबार, मैसूर, अन्नामलाई एवं सरकार प्रान्त) तक प्रायः आर्द्र भूमि में प्रचुरता से पायी जाती है। इसका वानस्पतिक नाम 'मधूका लांगीफोलिआ' *Madhuka longifolia* (*Linn.*) *Mac Bride*. (पर्याय–*Bassia longifolia Linn.*) है। निघण्टुओं में इसके लिए 'जलमधूक' या 'मधूलक' नाम आया है। हिमालय की तराई में कुमायूँ से भूटान तक ३०४.८ से १५२३ मीटर या १,०००–५,००० फुट की ऊंचाई तक महुए की एक और जाति पायी जाती है, जिसे डीप्लोक्नेमा बुटीरासेआ *Diploknema Butyracea* (*Roxb.*) *Lamb.* (पर्याय–*Madhuca butyracea Mac Bride*; *Bassia butyracea Roxb.*)–(ले०); फुलवा (हिं०), गोफल (बं०), चिउली (था०), चिउरा (देहरादून) कहते हैं। विहार में उत्तरी चम्पारन में सोमेश्वर की पहाड़ियों पर तथा पूर्निया की सरहद के पार मोरंग में भी इसके वृक्ष काफी मात्रा में पाये जाते हैं। इन दोनों वृक्षों के पुष्प एवं बीज तैल आदि भी महुए से स्वरूपतः एवं गुण-कर्म में बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इनका उपयोग भी महुआ के स्थानापन्न द्रव्य के रूप में किया जा सकता है। कुमायूँ में चिउर के ताजे पुष्पों के रस से गुड़ भी बनाया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – सुखाये हुए पुष्पों को मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। तेल को मुखबंद पात्रों में शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीजों में ५०–५५ प्रतिशत तक गाढ़ा स्थिर तैल (*Semisolid fixed oil*) पाया जाता है, जिसमें ४०% ओलीक एसिड, २६.५% पामिटिक एसिड, १३$\frac{1}{2}$% लिनोलिक एसिड तथा १६% मिरिस्टिक एसिड पाये जाते हैं। खली (*Cake*) में माउरिन (*Mowrin*) नामक ग्लाइकोसाइडल सैपोनिन तत्त्व पाया जाता है, जो विषैला प्रभाव वाला होता है। वायुशुष्क पुष्पों में ५२.६% इन्वर्ट शर्करा (*Invert sugar*), २.२% इक्षुशर्करा (*Cane sugar*), २.२% मांसवर्धक तत्त्व (*Albuminoids*), २.४% सेलूलोज, ४.८% राख या भस्म तथा १५% तक जलांश होता है। राख में सिलिसिक एसिड, फास्फोरिक एसिड, कैल्सियम, लोह, पोटास और अंशतः सोडा आदि तत्त्व पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त फूलों में काफी मात्रा में किण्व एवं खमीर (*Enzymes and yeast*) पाये जाते हैं। फल में सेक्रोज (*Saccharose* ४.६–१६.२%), माल्टोज (२.४%) तथा टैनिन एवं किण्व आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – शुष्क पुष्प–२ वर्ष। तैल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत (शुष्क पुष्प उष्ण होते हैं)। कर्म–वातपित्तशामक, नाड़ीबल्य, कफनिस्सारक, वृष्य, बल्य, बृंहण, मूत्रल, दाहप्रशमन। बीजमज्जा–आर्तवजनन।

तेल—वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, । यूनानी मतानुसार महुआ दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर—शिरःशूलजनक है। निवारण—शीतल और स्निग्ध पदार्थ।

मुख्य योग – मधूकासव, मधूकादि हिम ।

मांसरोहिणी (रक्तरोहन)

नाम। सं०—मांसरोहिणी, रोहिणी । हिं०—रोहण, रक्तरोहण; को०—रोहिनी; संथा०—रोहन; खर०—रोहिना। गु०—रोण, रोहणी । बं०—रोहण । अं०—इण्डियन रेड-वुड ट्री (*Indian red-wood tree*) । ले०—सॉइमीडा फ़ेब्रीफ़ूजा (*Soymida febrifuga A. Juss.*) ।

वानस्पतिक कुल – निम्ब-कुल (मेलिआसे *Meliaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण भारत में दकन के पश्चिमवर्ती शुष्क जंगल से लेकर मारवाड़, मध्यभारत, छोटानागपुर, बिहार एवं उत्तर भारत में मिर्जापुर के जंगलों में रक्तरोहन के वृक्ष पाये जाते हैं। काण्डत्वक् (छाल) का व्यवहार औषधि में होता है, किन्तु बाजारों में विक्रयार्थ प्रायः इसे नहीं रखते।

संक्षिप्त परिचय – रोहण के ऊंचे या मध्यमाकार वृक्ष होते हैं, जो जंगलों में पर्वतों पर होते हैं। पत्तियाँ पक्षवत्, २२.५ सें० मी० से ४५ सें० मी० या ६–१८ इंच लम्बी होती हैं, जिनमें पत्रक ३–६ जोड़े, ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्बे, लगभग अवृन्त, रूपरेखा में आयताकार या अण्डाकार, चिकने और तिर्यक् आधार वाले, और नवीन पत्तियाँ ग्रंथियों से युक्त और लाल होती हैं। पत्रदण्ड एवं पत्रक-सिरा सर्वदा लाल बनी रहती है। पुष्प उभयलिंगी तथा हरिताभ श्वेतवर्ण के होते ह, जो अग्र्य मञ्जरियों में निकलते हैं। फल रूपरेखा में मृदङ्गाकार, ७.५ सें० मी०×५ सें० मी० (३×२ इंच) बड़े, बहुत कठोर, भूरे लाल रंग के तथा विदारी होते हैं, जिनके अन्दर अनेक सपक्ष बीज होते हैं। छाल रक्त वर्ण की तथा स्वाद में कड़वी होती है; तथा इस पर क्षत करने से लाल रंग का स्राव निकलता है।

उपयोगी अंग – त्वक् (छाल) ।

मात्रा – चूर्ण १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

क्वाथार्थ—६ ग्राम से १४.६ ग्राम या ६ माशा से १। तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – रक्तरोहन के छोटे वृक्षों से प्राप्त छाल प्रायः सीधे या कुछ टेढ़े-मेढ़े नलिकाकार टुकड़ों (*Quills*) के रूप में प्राप्त होती है; अथवा कभी-कभी इसके चौड़े पट्टाकार तथा खातोदर टुकड़े होते हैं। इनका व्यास २.५ सें० मी० या १ इंच तक तथा मोटाई ०.५ सें० मी० या ¼ इंच तक होती है। इनका बाह्य तल मुरचई खाकस्तरी अथवा भूरे रंग का होता है; और इस पर छोटे-छोटे अंडाकार चिह्न से पाये जाते हैं। पुराने वृक्षों की छाल अपेक्षाकृत अधिक मोटी होती है, तथा इसपर अनुलम्ब दिशा में स्पष्ट तथा बड़ी दरारें पड़ी होती हैं। अन्तस्तल या भीतर से छाल लाल या मांसवर्ण की होती है। तोड़ने पर छाल का बाह्य भाग तो मुलायम किन्तु अन्तर्वस्तु रेशेदार टूटता है। छाल को कूटने पर मुरचई रंग की प्राप्ति होती है, किन्तु हवा में रखने पर या आर्द्रता के कारण गाढ़े लाल रंग की हो जाती है। रक्तरोहन की छाल में कोई विशेष गंध तो नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में यह कसैलापन लिये अत्यंत तिक्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में छाल का संग्रह कर छायाशुष्क कर लें और इसे मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – रक्तरोहन की छाल में एक तिक्त सत्व तथा राल (रेजिन), स्टार्च एवं टैनिक एसिड आदि घटक पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण—लघु, रूक्ष। रस—कषाय, कटु, मधुर। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। कर्म—कफपित्तशामक; स्तम्भन (ग्राही), कटु पौष्टिक, नियतकालिक ज्वर-प्रतिबन्धक, तथा सन्धानीय आदि; अतिसार-प्रवाहिका-नाशक, रक्तस्तम्भक। इसका क्वाथ स्तम्भन एवं व्रण शोधक तथा रोपण होता है। मुख एवं दंत रोगों में क्वाथ का गण्डूष किया जाता है तथा प्रदर में उत्तरबस्ति दी जाती है। अतिसार-प्रवाहिका एवं आमाशयान्त्र शैथिल्य में इसका चूर्ण बहुत उपयोगी होता है। जीर्णज्वर एवं विषमज्वर (मलेरिया) में इसका क्वाथ बहुत उपयोगी होता है। सन्धानीय एवं रक्तस्तम्भक होने से इसका व्यवहार अस्थिभग्न, उरःक्षत, एवं रक्तपित्त में भी बहुत उपयोगी होता है। अहितकर—मात्रातियोग से भ्रम, संज्ञानाश, तंद्रा आदि उपद्रव होते हैं। निवारण—एतदर्थ स्निग्ध, मधुर एवं वातशामक उपचार करने चाहिए।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) वर्ण्य महाकषाय एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) न्यग्रोधादि गण में रोहिणी (मांसरोहिणी) भी है।

माजूफल (मायाफल)

नाम। सं०–मायाफल । हिं०:–माजूफल । म०–मायफल । गु०–कांटांलुं मायुं, मायुं, माजुफल । अ०–अफ़्स, अल्अफ्स, अफ़्मुल्बुलूत । फा०–माजू । अं०–गाल्स (*Galls*), *Aleppo Gall, Blue Galls* । ले०–गाला (*Galla*) । वृक्षका नाम–क्वेर्कुस ईंफ़ेक्टोरिआ *Quercus infectoria Oliv.* । वक्तव्य–माजूफल के ऊपर कतिपय चिह्न कच्छूवत् होते हैं, इसीलिए इसको लेटिन और अंगरेजी में 'गॉला *Galla* या गाल्स *Galls*' कहते हैं। स्वाद में अत्यंत कसैला होता है, अतएव अरबी में अफ़्स (=कषाय) कहते हैं।

वानस्पतिक कुल – मायाफलादि-कुल (कूपूलीफेरे *Cupulifereae*) ।

प्राप्तिस्थान – यूनान, तुर्की, सीरिया और फारस । भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः तुर्की तथा फारस से होता है। तुर्की में काफी परिमाण में इसका संग्रह किया जाता है, इसीलिए व्यवसाय में इसे टर्की या लेवांट गाल भी कहते हैं। माजूफल पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – माजूफल वस्तुतः फल नहीं होता। यह उक्त क्वेर्कुस ईंफेक्टोरिआ नामक बलूत जातीय वृक्ष की डालियों पर एक विशेष प्रकार के कृमि (सीनिप्स गाली ईन्फेक्टोरे *Cynips gallae infectoriae Olivier* (*Family : Cynipidae*) के छिद्र करने और उन छिद्रों में उसके अंडे रखने से, उन स्थानों पर एक प्रकार की गांठें उत्पन्न हो जाती हैं। यही वृक्षव्रणज कीटगृह (*Galls*) माजू या माजूफल कहलाता है।

उपयोगी अंग – वृक्षव्रणज कीटगृह (गाल *Galls*) जिन्हें माजूफल कहते हैं।

मात्रा – १ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – औषधीय प्रयोग के लिए उत्तम माजूफल वह होता है, जिसमें से कीट बाहर नहीं निकले होते। माजूफल आकार में उन्नाव के बराबर और रंग में बाहर से नीलापन लिये गहरा हरा और बाह्य तल पर छोटे-छोटे उभार (*Studded with numerous tuberosities*) तथा अन्दर से पीला या सफेदी लिये भूरा, मध्य में किंचित् पीला, निर्गंध और स्वाद में अत्यंत कसैला होता है। माजूफल को गोलाई में दो समानार्धों में काटने पर अन्दर एक छोटा-सा खात दिखाई देता है, जिसमें कीट का अवशेष पाया जाता है। उक्त उत्तम माजू वजन में अपेक्षाकृत भारी होता है, किन्तु जिस माजूफल से कीट निकल गया होता है, वह वजन में हल्का तथा रंग में भी फीका (पीताभ श्वेत) और कम कसैला होता है। ऐसे माजूफल के धरातल पर छिद्र होता है, जो कीट के निर्गम-द्वार का द्योतक होता है।

प्रतिनिधिद्रव्य एवं मिलावट – सफेद सछिद्र माजू जिनमें से क्रीड़ा छेद कर निकल गया हो, निकृष्ट होता है। काकड़ासींगी फ़ैमिली के रूहुस चीनेंसि *Rhus chinensis Mill.* (*Syn. R. Semialata Murr.*) के वृक्षों पर भी मेलाफिस चीनेन्सिस *Melaphis chinensis Bell* (*Family : Aphididae*) नाम कीटद्वारा माजूसदृश कीटगृह बनते हैं (*Chinese or Japanese Galls*) जिनको असली माजू में मिलाया जाता है। उक्त वृक्ष हिमालय की बाहरी पर्वत-श्रेणियों में ६१४.४ मीटर से २१३३.६ मीटर या ३,०००–७,००० फुट की ऊंचाई तक सिन्ध नदी से लेकर पूरब में नागा की पहाड़ियों तक पाये जाते हैं। इसके माजूफल अपेक्षाकृत बड़े (२.५ से ७.५ सें० मी० या १ से लेकर ३ इंच तक लम्बे) रूपरेखा में ऊबड़-खाबड़ तथा उत्सेध भी बड़े और शंक्वाकार होते हैं। बाह्य तल पर खाकस्तरी रंग के सघन मखमली रोयें होते हैं। कभी इसके टूटे हुए टुकड़े भी मिले होते हैं। कभी असली माजूफल में ऐसे माजू भी मिले होते हैं, जिनपर उत्सेध केवल ऊपरी सिरे से चारों ओर (*Crown Galls*) होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – माजूफल का संग्रह कीटों के निकलने के पूर्व करना चाहिए। इनको अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – माजूफल में मुख्यतः (५% से ७%) टैनिक एसिड (*Gallotannic acid*), तथा अल्प मात्रा में मायाफलाम्ल (गैलिक एसिड *Gallic acid*), शर्करा, स्टार्च आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि। २–३ वर्ष।

स्वभाव—गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–स्तम्भन, उपशोषण, रक्तस्तम्भन, व्रणरोपण, केशरंजन, मूत्रसंग्रहणीय तथा योनिस्राव को कम करता है। इसके अतिरिक्त यह लेखन तथा विषघ्न है।

मुख्य योग – कण्ठशालूकहर लेप, वज्रदंत मंजन, मायाफलादि मलहर, कोहलमाजू।

मानकन्द

नाम। सं०–मानकन्द, मानक, महापत्र । हिं०, हो०–मानसरु, मानकन्द । वं०, आसाम–मानकचू । ले०–आलोकासिया इंडिका (*Alocasia indica Schott.*) ।

वानस्पतिक कुल – सूरण-कुल (आरासे *Araceae or Aroidae*)।

प्राप्तिस्थान – बंगाल, आसाम में गाँवों के आसपास मानकन्द के पौधे बहुतायत से उगे हुए मिलते हैं । जलाशयों के आसपास एवं आर्द्र भूमि में इसके पौधे काफी बढ़ते तथा विकसित होते हैं । भारतवर्ष में अन्यत्र भी सौन्दर्य के लिए वाटिकाओं एवं गृह-उद्यानों में लगाये हुए पौधे मिलते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – मानकन्द का क्षुप ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० या ३–६ फुट ऊंचा होता है, और आपाततः देखने में अरुई या बंडा के क्षुप-जैसा मालूम होता है। काण्ड-स्कन्ध अपेक्षाकृत काफी मोटा (१० सें० मी० से २० सें० मी० या ४–८ इंच व्यास का) होता है। पत्तियाँ गाढ़े हरे रंग की, ६० सें० मी० से ९० सें० मी० या २–३ फीट लम्बी पुंखवत्-त्रिभुजाकार या बाणाकार (*Triangular-sagittate*) होती हैं । शीर्षस्थ खण्ड त्रिभुजाकार और पार्श्वीय खण्ड लट्वाकार होते हैं । पत्रदण्ड प्रायः पत्तियों के बराबर लम्बा या कभी अधिक लम्बा, गोल तथा कठिन होता है, जो अग्र की ओर क्रमशः कम ोटा होता है। पुष्पवाहक दण्ड अनेक, प्रायः १० सें० मी० से २० सें० मी० या ४–८ इंच लम्बे, नर तथा नारी पुष्पव्यूह पृथक्-पृथक् होते हैं, और हरिताभ पीत पत्रकों (*Spathe*) से आवृत्त होते हैं । नर पुष्पव्यूह सफेद तथा नारी पुष्पव्यूह प्रायः पीत वर्ण का होता है। फल या बेरी (*Berry*) गोल-गोल, ०.६२५ सें० मी० से १ स० मी० या (¼ से ⅜ इंच) व्यास के तथा पकने पर लाल हो जाते हैं । स्कन्ध से मूल निकले रहते हैं, और मूल-स्तम्भ से निकले मूलों के अग्र कन्दसदृश होते हैं। स्कन्ध तथा कन्द खाये जाते हैं ।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ (*Rootstock*) अर्थात् कन्दाकार काण्ड एवं जड़, काण्डस्कन्ध एवं पत्र ।

मात्रा – कन्दचूर्ण–०.५ ग्राम से ११.६ ग्राम या ½ से १ तोला। स्वरस––१–२ तोला ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मानकन्द ३० सें० मी० या १ फुट या इससे अधिक लम्बा, मोटा एवं रम्भाकार होता है। बाह्य तल पर्णवृन्तों के अवशेष से ढका होता है, जो भूरे रंग का होता है। अन्दर सफेद रंग का पिष्टमय (*Starchy*) गूदा निकलता है। ताजा कन्द सूरण की भाँति तीक्ष्ण होता है; किन्तु सूखने पर तीक्ष्णता जाती रहती है। कन्दों में काफी मात्रा में सफेद रंग का स्टार्च निकलता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़े के अन्त में कन्दों को निकाल कर छील कर, काट कर सुखा लें और मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें ।

संगठन – मानकन्द में काफी मात्रा में स्टार्च पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कैल्सियम् ऑक्जलेट क्रिस्टल्स तथा कुछ चूना पाया जाता है ।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर । विपाक–मधुर। वीर्य–शीत । कर्म–वातनाशन, शोथहर, वेदनास्थापन, शूलप्रशमन, वातानुलोमन, मूत्रल, वल्य । इसका पत्र रक्तरोधक होता है ।

मुख्य योग – मानकादि गुडिका, मानमण्ड ।

विशेष – शोथ के रोगियों के लिए मानकन्द एक उत्तम पथ्य शाक है ।

मालकँगनी (ज्योतिष्मती)

नाम। सं०–ज्योतिष्मती । हिं०–मालकाँ(कँ)गनी (–काकनी), मींजनी, मि(मु)झनी । म०–मालकांगोणी । गु०–मालकांग(क)णी । कुमाँयू–मलकक्नी । पं०–संखू । ता०–वालुलवै । मल०–पालुरु(ल)वम् ; अ०–तीलाक्रियून । अं०–स्टाफ-ट्री (*Staff tree*) । ले०–सेलास्ट्र स पानीकुलाटुस (*Celastrus paniculatus Willd.*) ।

वानस्पतिक कुल – ज्योतिष्मत्यादि-कुल (सेलास्ट्रासे *Celastracae*) ।

प्राप्तिस्थान – हिमालय से लंका तक १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊंचाई तक मालकँगनी की स्वयंजात लताएँ पायी जाती हैं ।

संक्षिप्त परिचय – मालकाँगनी की क्षुपस्वभाव की वृक्षारोही काष्ठमय तथा बड़ी लम्बी लता होती है । इसकी कोमल शाखाएँ वातरन्ध्रों के चिह्नों से विन्दुकित (*marked with lenticels*) होती हैं। पत्तियों की लम्बाई, चौड़ाई एवं रूपरेखा में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। सामान्यतः ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्बी, ३.७५ से ७.५ सें० मी० या १॥–३ इंच चौड़ी, अभिलट्वाकार, गोलाकार,

अंडाकार अथवा आयताकार, अग्र पर यकायक नुकीली तथा पत्रतट दन्तुर, एवं पत्राधार की ओर चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती (*Base : acute*) है। पत्रवृन्त या डंठल (*Petiole*) लम्बा होता है। फूल छोटे-छोटे पीताभ हरित वर्ण के तथा मधुरगंधयुक्त एवं गुच्छे के गुच्छे नम्य मञ्जरियों (*Dropping panicles*) में लगते हैं। पुष्पागम ग्रीष्म ऋतु (अप्रैल–जून) में होता है। शरद ऋतु में फल लगते एवं पकते हैं। फल (*Capsule*) मटर की आकृति के, कच्चे नीले और पके लाल-पीले तथा तीन कोष्ठों वाले, जिनमें प्रत्येक कोष्ठ में २–३ तिकोने वीज होते हैं, जो वस्तुतः काले रंग के होते हैं, किन्तु लाल रंग के वीजोपाँग (*Red arillus*) से ढँके होने के कारण मुनक्के के वीजों की तरह मालूम होते हैं। पक्व फलों के गुच्छे आ जाने पर लता वहुत सुन्दर मालूम होती है।

उपयोगी अंग – वीज एवं वीजों का तेल।

मात्रा – वीज–०.५ ग्राम से २ ग्राम या ४ रत्ती से २ माशा। तेल–२ से १० वूंद (वाह्य प्रयोग के लिए आवश्यकतानुसार)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मालकाँगनी के वीज ज्वार के दाने या मुनक्का के वीज के आकार के तथा लाल रंग के वीजोपांग (*Red arillus*) से ढँके होते हैं। रूपरेखा में कुछ-कुछ तिकोनिए होते हैं, और वीजचोल (*Testa*) अत्यंत कड़ा होता है। वीजों के अन्दर सफेद मग्ज या गूदा होता है, जो स्वाद में कड़वा होता है। वीजों को कोल्हू में दवा कर लालिमा लिये पीत वर्ण का गाढ़ा तेल प्राप्त किया जाता है, जिसे 'मालकाँगनी का तेल' कहते हैं। रखने पर कुछ समय के वाद तेल का कुछ अंश घनीभूत होकर नीचे वैठ जाता है। तेल स्वाद में तिक्त एवं एक विशिष्ट गंधयुक्त होता है। भस्म–५.८ प्रतिशत।

संग्रह एवं संरक्षण – वीजों को अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में रखना चाहिए। मालकँगनी के तेल को नीली शीशियों में अच्छी तरह मुखवंद करके शीतल एवं अंधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – (१) स्थिर तेल (मालकाँगनी का तेल) ३०%।
(२) तिक्त रालीय पदार्थ।
(३) टैनिन (अल्पमात्रा में)।
(४) रंजकद्रव्य।

वीर्यकालावधि – वीज–२ वर्ष। तेल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–तीक्ष्ण, स्निग्ध, सर। रस-कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–मेध्य। प्रधान कर्म–वातकफनाशक, वाजीकर, रक्तप्रसादन, दीपन-पाचन, कफनिस्सारक। मालकाँगनी का तेल अन्य उपयुक्त औषधियों के साथ श्वित्रादि चर्मरोगों में भी वहुत उपयोगी है। अहितकर–उष्णप्रकृति विशेषतः युवाओं के लिए वहुत अहितकर है। निवारण – गोदुग्ध एवं गोघृत।

मुख्य योग – ज्योतिष्मती तेल (मालकाँगनी का तेल)।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २) शिरोविरेचन द्रव्यों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३६) अधोभागहर एवं शिरोविरेचन वर्ग में ज्योतिष्मती भी है।

माषपर्णी (वन उड़द)

नाम। सं०–माषपर्णी, महासहा। हिं०–मषवन, वनमाष, वनउर्दी। वं०–माषानी। म०–रानउड़द। गु०–जंगली अड़द। ले०–टेराम्नुस लाविआलिस (*Teramnus labialis Spreng.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्वी-कुल : प्रजापति-उपकुल (*Leguminosae : Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष। स्वयंजात लताओं का शुष्क पंचाङ्ग पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – वन उड़द की पतली और चक्रारोही लताएँ प्रायः झाड़ियों पर फैली हुई पायी जाती हैं। पत्तियाँ संयुक्त और त्रिपत्रक; पत्रक भिन्न-भिन्न कद के, रूपरेखा में यह अंडाकार या लट्वाकार (अग्रपर स्थित तीसरा पत्रक कभी-कभी अभिलट्वाकार), १.५ सें० मी० से ३·३ सें० मी० या $\frac{3}{4}$ से १$\frac{1}{3}$ इंच लम्बे (कभी २.५ से ७.५ सें० मी० या १ से ३ इंच तक) तथा अधःपृष्ठ पर रोमावृत होते हैं। पुष्प गुलावी लिये वैंगनी (*Pink-purple*) या कभी सफेद रंग के होते हैं, जो ३.७५ से १२.५ सें० मी० या १॥–५ इंच लम्वी किन्तु पतली मञ्जरियों में निकलते हैं। फली पतली लम्वी, सीधी या कुछ टेढ़ी और रोमश होती है, जिसमें ८–१० वीज होते हैं, जो ताजी अवस्था में लाल किन्तु सूखने पर काले हो जाते हैं। वन मूंग की भांति इसमें भी जाड़ों में फूल-फल आते हैं।

उपयोगी अंग – पंचांग।

मात्रा – १.५ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में फूल-फल आने के बाद पंचांग का संग्रह कर, छायाशुष्क करके मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – पंचांग–३–६ माह।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, कफवर्धक; दीपन, स्नेहन, अनुलोमन, ग्राही, रक्तपित्तशामक, रक्तशोधक, शोथहर, शुक्रजनन, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन तथा जीवनीय आदि।

विशेष – माषपर्णी 'जीवनीय गण' की औषधि है। चरकोक्त (सू० अ० ४) जीवनीय एवं शुक्रजनन महाकषाय तथा मधुरस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) विदारिगन्धादि एवं काकोल्यादि गण के द्रव्यों में माषपर्णी भी है।

मुचकुन्द

नाम। सं०–मुचकुन्द, छत्रवृक्ष। हिं०, म०, गु०–मुचकुंद, मुचुकुंद। बं०–मुचकुंद चांपा। फा०–गुले मुचकुन। जौनसार–मायंग (*Mayeng*)। ले०– प्टेरोस्पेर्मुम् आसेरीफोलिउम (*Pterospermum acerifolium Willd.*)।

वानस्पतिक कुल – मुचकुन्द-कुल (स्टेर्कूलिआसे *Sterculiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई एवं बाहरी पर्वत-श्रेणियों पर १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊंचाई तक, बंगाल, चटगाँव, खसिया, मनीपुर में मुचकुन्द के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। सुगंधित पुष्पों एवं छाया के लिए बगीचों एवं सड़कों के किनारे इसके लगाये हुए वृक्ष सर्वत्र मिलते हैं। बम्बई प्रान्त में मुचकुन्द के लगाये हुए वृक्ष प्रचुरता से मिलते हैं। मुचकुन्द के शुष्क पुष्प पंसारियों के यहाँ बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मुचकुन्द के ऊंचे-ऊंचे सघन वृक्ष होते हैं, जिसकी कोमल शाखाएँ मुरचई-रोमावृत्त (*Ferruginous tomentum*)होती हैं। पत्तियाँ १५ सें०मी० से ३७.५ सें० मी० या ६–१५ इंच लम्बी, १२.५ से २५ सें० मी० या ५–१० इंच चौड़ी, रूपरेखा में गोलाकार या आयताकार, कोई-कोई पत्र खण्डित (*Lobed*) तथा किन्हीं में पत्रतट सरल या अखण्ड अथवा दूर-दूर दन्तुर होते हैं। आधार की ओर फलक गम्भीर हृद्वत् होता है, अथवा किन्हीं पत्तियों में पर्णवृन्त पृष्ठतल पर लगा होता (*Peltate*) है। बनावट में यह चर्मिल, चिकनी और गाढ़े हरे रंग की, पृष्ठतल श्वेताभ मृदुरोमश, शिराविन्यास पाणिवत् तथा पृष्ठतल पर अधिक स्पष्ट होता है। पर्णवृन्त ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० (३–६ इंच) लम्बा एवं रेखांकित (*Striate*)होता है। पुष्प बड़े (व्यास में १२.५–१५ सें० मी० या ५–६ इंच तक)तथा अत्यंत सुगंधित होते हैं, जो पत्रकोणों में एकल क्रम से (*Solitary*) अथवा छोटे-छोटे पुष्पव्यूहों में निकलते हैं, जिनमें २-३ पुष्प होते हैं (*2-3 flowered cymes*)। पुष्पवृन्त १२.५ सें० मी० या ५ इंच तक लम्बा होता है। बाह्य कोश (*Calyx*) ५ खंडों में विभक्त होता है, जो ७.५ से १२.५ सें०मी० या ३–५ इंच लम्बे, ०.८३ सें० मी० से १.२५ सें० मी० या ⅓ से ½ इंच चौड़े काफी मोटे एवं मांसल तथा बाह्य तल पर भूरेरंग के सघन रोम से आवृत्त होते हैं। औषध्यर्थ व्यवहृत पुष्पों में मुख्य अंश बाह्य कोश का ही होता है। आभ्यन्तर कोष सफेद तथा पतला एवं बाह्य कोष की भांति खंडित होता है, जो आपस में लिपटे-से होते हैं, और पुष्पों के सूखने पर या मुरझाने पर गिर जाते हैं। पुंकेसर २.५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच लम्बे तथा सूत्राकार और संख्या में १५ होते हैं, जो प्रत्येक बाह्य दलपत्र (*Sepal*) के सामने ३–३ के समुदाय में स्थित होते हैं। फल (*Capsule*) १० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच लम्बे, रूपरेखा में लम्बगोल किन्तु पंचकोणीय तथा अन्दर से पंचकोष्ठीय (*5-celled*) एवं कड़े (*Woody*) होते हैं। बाह्यतः यह गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। बीज चपटे तथा भूरे रंग के झिल्लीनुमा पक्षयुक्त होते हैं। पुष्पागम वसन्त ऋतु में तथा फलागम जाड़ों में होता है।

उपयोगी अंग – ताजे एवं शुष्क पुष्प (विशेषतः बाह्य कोष या *Calyx*)।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १.५ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा। स्थानिक प्रयोग के लिए आवश्यकतानुसार।

संग्रह एवं संरक्षण – वसंत ऋतु तथा ग्रीष्म में पुष्पागम के बाद विकसित पुष्प स्वयं टूटकर गिरते रहते हैं। अतएव पुष्पों का संग्रह प्रायः भूमि से ही किया जाता है। सूखे फूलों में भी सुगन्धि बनी रहती है। फूलों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – मुचकुन्द के पुष्पों में एक सुगन्धित उड़नशील तेल पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–रूक्ष । रस–कषाय, किंचित् कटुतिक्त । विपाक–कटु । वीर्य-उष्ण । कर्म–बाह्यतः स्थानिक प्रयोग से यह वेदनास्थापन एवं रक्तस्तम्भन होता है। आभ्यन्तर प्रयोग से वेदनास्थापन, रक्तस्तम्भन (अतएव रक्तपित्तनाशक), कफघ्न, कण्ठ्य, विषघ्न तथा त्वग्रोगनाशक होता है। यूनानी मतानुसार मुचकुन्द गरम एवं खुश्क होता है। शीतल शिरःशूल में जल के साथ पीस कर मस्तक पर लेप करते हैं। रक्तपित्त (विशेषतः अर्शोजात रक्त स्राव) में मुचकुन्द-पुष्प का चीनी, घी के साथ बनाया हलवा बहुत उपयोगी होता है। शिरोभ्यंग के लिए प्रयुक्त औषधीय तैलों में भी यह पड़ता है।

मुख्य योग – हिमांशु तैल ।

मुण्डी (गोरखमुण्डी)

नाम । सं०–मुण्डी, मुण्डिका, श्रावणी । हिं०–मुंडी, गोरखमुंडी । पं०–मुँडी । म०, गु०, मा०–गोरखमुंडी । बं०–मुरमुरिया । उड़ि०–मुरिसा, मुइकदम । संथा०–बेलौंजा । ले०–स्फ़ेरांथुस इंडिकुस (*Sphaeranthus indicus Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोज़ीटे *Compositae*) ।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारत में विशेषतः हिमालय प्रदेश में कुमायूँ से सिक्किम तक ५,००० फुट की ऊंचाई तक मुण्डी के स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। शुष्क पंचांग एवं पुष्पमुण्डक पंसारियों के यहाँ मिलते हैं। धान के खेतों में तथा नम जगहों में इसके पौधे अधिक मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मुण्डी के प्रसरणशील एवं गंधयुक्त क्षुप ३० सें० मी० या १ फुट तक ऊंचे होते हैं, जिनके काण्ड सपक्ष, पत्तियाँ अवृन्त या विनाल, अभिलट्वाकार अथवा अभिप्रासवत्, दन्तुर, २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बी तथा काण्डसंसक्त होती हैं। मुण्डक (*Capitula*) पत्राभिमुख, विषमलिंग, संयुक्त १.२५ से १.८७ सें० मी० या ½ से ¾ इंच लम्बे तथा अधःपत्रावलि के उपपत्र रेखाकार तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। शीत काल में पुष्प एवं बाद में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – पंचांग, मुण्डक (*Capitula*) ।

मात्रा – चूर्ण–½ ग्राम से १ ग्राम या ½ से १ माशा।
स्वरस – ½ से २ तोला ।
अर्क–२॥ से १० तोला ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मुण्डी का पंचांग तथा मुण्डक पृथक् से भी बेचे जाते हैं। ताजी अवस्था में मुण्डक बैंगनी रंग के होते हैं, किन्तु सूखने पर रंग उतर जाता है। ताजे मुण्डकों में एक विशिष्ट प्रकार की हल्की सुगंधि भी पायी जाती है। स्वाद में मुण्डी हल्की तिक्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – मुण्डी का संग्रह जाड़ों में पुष्पागम के बाद करना चाहिए। अर्क निकालने के लिए ताजे पंचांग को व्यवहृत करना चाहिए। छायाशुष्क पंचांग अथवा मुण्डकों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – मुण्डी के ताजे पुष्पित पंचांग में एक उत्पत् तैल पाया जाता है। इसमें स्फिरैन्थीन (*Sphaeranthine*) नामक ऐल्केलॉइड भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – ३–४ मास ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कटु, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक; शोथहर, वेदनास्थापन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न, रक्तशोधक, हृदयोत्तेजक, मेध्य, नाड़ीबल्य, कफघ्न, मूत्रल, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, रसायन आदि। चरकसंहिता (चि० अ० १, पा० ४) में इन्द्रोक्त रसायन द्रव्यों में श्रावणी एवं महाश्रावणी का भी उल्लेख है।

मुख्य योग – मुण्डी अर्क, अतरीफल मुंडी, माजून मुंडी, शर्बत मुण्डी, रोग़न मुण्डी, चोआ मुंडी ।

विशेष – मुण्डी एक उत्तम रक्तशोधक द्रव्य है। रक्तविकारों में तथा रक्तविकारजन्य त्वग्रोगों में मुण्डी अर्क का प्रयोग उपयोगी है।

मुद्गपर्णी (वनमूंग)

नाम । सं०–मुद्गपर्णी, शूर्पपर्णी । हिं०–वनमूंग, मुगवन, जंगलीमूँग, मुगानी। बं०–मुगानी। म०–रानमुग। गु०–अडबाऊ मग, जंगली मग । ले०–फ़ासेओलुस ट्रीलोबुस (*Phaseolus trilobus Ait.*) ।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : प्रजापति-उपकुल (*Leguminosae : Papilionaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (लंका में एवं पूरब में बर्मा तक) के मैदानी भागों (पुराने बगीचों, खंडहरों तथा सड़कों के किनारे) में तथा जंगलों में छायादार जगहों में और हिमालय प्रदेश में ७,००० फुट की ऊंचाई तक वनमूंग की स्वयंजात लताएँ होती हैं। शुष्क पंचांग बाजारों में पंसारी लोग भी विक्रयार्थ रखते हैं।

संक्षिप्त परिचय – वनमूंग की छोटी (३० सें० मी० से ६० सें० मी० या १-२ फुट लम्बी) प्रसरी तलाएँ होती हैं, जिनका काण्ड रोमश या चिकना होता है। पौधा आपाततः देखने में मूंग-जैसा मालूम होता है। पत्र संयुक्त तथा त्रिपत्रक (*3-foliolate*) होते हैं। पत्रक साधारणतया आयताकार या अंडाकार किन्तु कद में प्रायः बहुत परिवर्तनशील होते हैं; और प्रायः वृन्त से छोटे ही होते हैं। यह प्रायः सर्वदा खण्डित, खण्ड तीन और गोल होते हैं। उपपत्र बहुत बड़े और पीठ से जुड़े हुए तथा उपपत्रक छोटे परन्तु पर्णवत् होते हैं। पुष्प पीले रंग के तथा मञ्जरी के शीर्ष पर गुच्छबद्ध स्थित होते हैं और बड़ा पुष्पदण्ड होता है। फली पतली, चपटी तथा लगभग ५ सें० मी० या २ इंच लम्बी और चिकनी होती है, जिसमें ६–१२ तक श्वेताभ बीज होते हैं। इसके बीजों को कभी-कभी गरीब लोग खाने के लिए एकत्र करते हैं। जाड़े के दिनों में इसमें फूल-फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – पंचांग, मूल, बीज।

मात्रा – १.५ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में फल-फल आने के बाद पंचांग को ग्रहण कर छायाशुष्क कर लें और मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – पंचांग–३–६ महीने।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष,। रस –मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–त्रिदोषशामक, विशेषतः वातपित्तशामक; शोथहर, चक्षुष्य, दीपन, अनुलोमन, ग्राही, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक एवं रक्तस्तम्भक, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, जीवनीय, वृष्य, विषघ्न।

विशेष – मुद्गपर्णी 'जीवनीय गण' की ओषधि है। चरकोक्त (सू० अ० ४) जीवनीय एवं शुक्रजनन, महाकषाय तथा मधुरस्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) विदारिगन्धादि एवं कोकोल्यादि गण में मुद्गपर्णी भी है।

मुनक्का (द्राक्षा)

नाम। सं०–द्राक्षा, गोस्तनी, मृद्वीका, कपिशा, हारहूरा। क०–दच्छ। पं०–दाख, अंगूर। हिं०–मुनक्का, अंगूर, दाख। म०–द्राक्ष। गु०–दराख, धराख। सिंध–ड्राख। मा०–दाख, मिनका। फा०–अंगूर, रज़, ताक, मवेका। अ०–इनब। लताका नाम–वीटिस वीनीफेरा (*Vitis vinifera Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – द्राक्ष-कुल (वीटासे *Vitaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमोत्तर हिमालय प्रदेश, पंजाब, कश्मीर तथा काबुल, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, कंधार, फारस एवं यूरोप के फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन आदि देश एवं भूमध्यसागरीय क्षेत्रों म अंगूर लम्बे परिमाण में लगाया जाता है और स्वयंजात भी होता है। इसके पके हरे फल मौसम में, एवं शुष्क पक्व फल (मुनक्का) पंसारियों एवं मेवाफरोशों के यहाँ मिलते हैं। भारत में मुनक्का का आयात मुख्यतः अफगानिस्तान, फारस से होता है।

संक्षिप्त परिचय – यह एक बहुवर्षायु सुदीर्घ लता के प्रसिद्ध फल हैं। इसके मुख्य २ भेद होते हैं :–(१) दाखी या बड़ा (लंबोतरा या गोल) न्यूनाधिक बीजयुक्त इसके पके सूखे फल 'मुनक्का' या 'दाख' कहलाते हैं। जंगली एवं बागी (या कर्षित) भेद से, गोल, लंबा और छोटा-बड़ा आदि आकार भेद से तथा सफेद, लाल एवं काला आदि रंग भेद से इसके नाना प्रकार होते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व अधिक श्रेष्ठ होता है। औषधीय कल्पों में प्रायः मुनक्का का ही व्यवहार किया जाता है। (२) प्रथम की अपेक्षा छोटा और बीजरहित होता है। इसके सूखे फलों को 'किशमिश' कहते हैं। यह स्वाद में खटमिट्ठा होता है। यह खाने के काम आता है।

उपयोगी अंग – ताजे पक्व या सुखाये फल (मुनक्का)।

मात्रा – मुनक्का ५–११ दाना (या जितना पच सके)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – अंगूर रूपरेखामें, गोस्तनाकार रसदार फल होता है। रंगभेद से यह हरा, लाल या काला, कई प्रकार का आता है। सर्वोत्तम अंगूर वह है, जो गर्मी ऋतु का हो जिसका दाना बड़ा एवं परिपुष्ट हो और छिलका पतला तथा बीज छोटे हों। मुनक्का या दाख सूखा हुआ अंगूर ही होता है। बड़ा, मोटा, मीठा तथा कम बीज वाला और जो बहुत सूखा न हो ऐसा मुनक्का उत्तम होता है। औषधीय प्रयोग के लिए काला मुनक्का अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है। पेशावरी एवं फारस का 'सुलतान मुनक्का' अपेक्षाकृत अधिक उत्तम होता है। अंगूर को चूना और सज्जीखार के साथ गरम पानी में डुबोकर आबजोश बनाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – अंगूर के फल पकने पर भी जल्दी गुच्छे से टूट कर पृथक् नहीं होते। पक्व गुच्छों को सर्दियों के

पूर्व संग्रहीत कर धूप में विशिष्ट विधियों द्वारा सुखाया जाता है; अथवा आँच द्वारा भी सुखाते हैं। मुनक्का को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए और ध्यान रहे कि पात्र में नमी न पहुँचने पावे।

संगठन – ताजे फल में द्राक्षशर्करा (ग्लूकोज), निर्यास, टैनिन, टारटेरिक एसिड (चिंचाम्ल), सीट्रिक एसिड, द्राक्षाम्ल (*Recemic acid*) एवं सेवाम्ल या मैलिक एसिड (*Malic acid*) एवं विविध क्षार द्रव्य यथा सोडियम् एवं पोटासियम् क्लोराइड, पोटासियम् सल्फेट एवं लौह आदि तत्त्व होते हैं। मुनक्का या सूखे फलों में शर्करा एवं निर्यास के अतिरिक्त सात्म्यीकृत होने योग्य स्वरूप में कैल्सियम्, मैग्नीसियम्, पोटासियम्, फास्फोरस एवं लौह होता है। फल के छिलके में टैनिन पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – मुनक्का–१ वर्ष।

स्वभाव–गुण–स्निग्ध, गुरु, मृदु। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। प्रधान कर्म–वातपित्तशामक, वृंहण, वृष्य, कण्ठ्य, स्नेहोपग, विरेचनोपग, संतर्पण तथा तृष्णा-दाह एवं ज्वरनाशक, मेध्य, सौमनस्यजनन, हृद्य, रक्तप्रसादन, रक्तपित्तशामक, फुफ्फुसवल्य, श्वास-कासहर, उरःक्षत क्षयनाशक, सांद्रदोषपाचन, प्रमाथी, कोष्ठमृदुकर, आन्त्रा-माशय लेखनीय, यकृद्वलदायक, वाजीकर तथा कामोत्तेजक एवं मूत्रल आदि।

मुख्य योग – द्राक्षासव, द्राक्षारिष्ट, द्राक्षादिलेह।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) स्नेहोपग, विरेचनोपग, कासहर एवं ज्वरहर गण तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) काकोल्यादि एवं परुपकादि गण के द्रव्यों में द्राक्षा भी है।

मुलेठी (मधुयष्टी)

नाम। सं०–मधुक, यष्टीमधुक, मधुयष्टी, क्लीतक। हिं०–मुलेठी, मुलहटी। वं०–यष्टिमधु। म०–जेष्ठीमध। गु०–जेठीमध। सिंधी–मिठी काठी। ते०–यष्टीमधुकमु। अ०–अस्लुस्सूस, इर्कुस्सूस। फा०–वेख़ महक, महक मतकी। यू०–मेयन (*Meyan*)। अं०–लिकोरिस (*Liquorice*), लिकोरिस रूट (*Liquorice Root*)। ले०–ग्लिसीर्‌हाइजी रैडिक्स (*Glycyrrhizae Radix*)। उक्त नाम मुलेठी के मूल या जड़ के हैं।

वनस्पति का नाम – ग्लिसीर्‌हीजा ग्लाब्रा (*Glycyrrhiza glabra Linn.*) तथा इसके विभिन्न भेद (*Varieties*)।

सत्व या रसक्रिया – हिं०–रात मुलेठी, मुलेठी का सत। अ०–रुव्वुस्सूस। फा०–उसारए महक।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल (लेगूमिनोसे *Leguminosae*)।

प्राप्तिस्थान – दक्षिण यूरोप, स्पेन, सीरिया, रूस, मिस्र, अरब, ईरान (फारस), तुर्किस्तान, मध्य एशिया, अफ-गानिस्तान, पेशावर की घाटी तथा हिमालय प्रदेश में चनाव से पूरब, समस्त ब्रह्मा एवं अंडमान टापुओं में भी उगती है; किन्तु उक्त प्रान्तों में व्यावसायिक रूप से इसका संग्रह कम होता है। अव पंजाब, सिंध तथा कश्मीर में इसकी खेती का प्रयास किया जा रहा है। भारतवर्ष में मुलेठी का आयात प्रधानतः बाहर से ही फारस की खाड़ी, तुर्किस्तान, साइवेरिया एवं स्पेन आदि से होता है। मध्य एशिया के कवीलों द्वारा भी कुछ मुलेठी देश में लायी जाती है। मुलेठी की जड़ एवं सत मुलेठी सर्वत्र बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मुलेठी के कोमल काण्डीय तथा ४५ सें० मी० से १.५–१.८ मीटर (१॥–६ फुट) तक ऊँचे वहुवर्षायु शाकीय पौधे (*Herbaceous perennial*) होते हैं। पत्तियाँ, सपत्रक, विषम पक्षवत् (*Imparipinnate*); पत्रक संख्या में ४–७ युग्म (*Pairs*), रूपरेखा में आयता-कार से अण्डाकार भालाकार होते हैं, जिनके अग्र नुकीले या कुण्ठित होते हैं। पुष्प हल्के गुलावी से लेकर वैंगनी रंग के होते हैं, जो १.२५ सें० मी० या ½ इंच से कुछ लम्बे होते तथा पत्रकोणोद्भूत शूकीवत् मंजरियों (*Axillary spikes*) में निकलते हैं। शिम्बी लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बी तथा चपटी होती है, जिसमें २–३ (या कभी अधिक) वृक्काकार वीज होते हैं। इसका मूलस्तम्भ (*Rootstock*) जिसमें जड़ें तथा अन्त-र्भावी काण्ड (*Stolons*) होते हैं, व्यावसायिक मुलेठी होती है। बाजार में इसी के छोटे-बड़े टुकड़े मिलते हैं, जिनका कभी छिलका भी उतार दिया जाता है (*Peeled liquorice*) अथवा कभी नहीं भी उतारते (*Unpeeled liquorice*)।

भेद (*Varieties*) – रूस (दक्षिणी रूस) से जो मुलेठी आती है, वह प्रायः उपर्युक्त वनस्पति के ग्लांडूलीफ़ेरा (*G. glabra var. glandulifera Waldst. & Kit.*) से प्राप्त की जाती है। इसमें प्रधानतः मूल ही होता है। स्पेनी मुलेठी (जो प्रधानतः स्पेन एवं सिसिली द्वीप से प्राप्त की जाती है), *G. glabra var. typica Regel & Herd*

की जड़ एवं भौमिक काण्ड से प्राप्त होती है। फारस से आने वाली मुलेठी (जो विशेषतः ईराक से आती है) *G. glabra var. violacea Boiss.* से प्राप्त की जाती है।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ (जड़ एवं भौमिक काण्ड) के टुकड़े तथा इसका सत या रुव्व (सत मुलेठी)।

मात्रा–मूल–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा। सत मुलेठी—½ ग्राम १ ग्राम ½ से १ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा –बाजार में मुलेठी के छोटे-बड़े (२.५ सें० मी० से १०–१२.५ सें० मी० या १ इंच से ४–५ इंच तक लम्बे) टुकड़े आते हैं। बिना छिलका उतारी हुई मुलेठी के टुकड़े बाह्यतः रक्ताभ भूरे अथवा कालिमा लिये भूरे रंग के होते हैं, और उस पर लम्बाई के रुख झुर्रियाँ पड़ी होती (*Longitudinally wrinkled*) हैं। इस पर जगह-जगह टूटी हुई पतली जड़ों के वृत्ताकार चिह्न (*root-scars*) तथा काण्ड के टुकड़ों पर शल्क-कलिकाओं के अवशेष अथवा चिह्न होते हैं। छिले हुए टुकड़े बाह्यतः पीले, चिकने और रेशेदार होते हैं। अन्दर का काष्ठीय भाग पीला और रेशेदार होता है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटे हुए तल (*Transversely-cut surface*) पर एधाकी रेखा (*Cambium ring*) स्पष्ट दिखाई देती है, जिसके बाहर की ओर पीताभ भूरे रंग का वल्कल का भाग होता है, तथा अन्दर की ओर पीला काष्ठीय भाग होता है। काण्ड में केन्द्रस्थ मज्जक (*Central pith*) भी होता है। ऊर्ध्ववाही (*Xylem*) एवं अधोवाही (*Phloem*) अरवत् (*Radiate*) क्रमसे स्थित होते हैं। मुलेठी में एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है, तथा स्वाद में मधुर होती है। उत्तम मुलेठी में तिक्तता नहीं पायी जाती। भस्म–छिलके दार मुलेठी में अधिकतम १०%, छिलका उतारी हुई में ६%। जल में विलेय सत्व–कम से कम २०%। अम्ल में अघुलनशील तत्व–बेछिलकेदार में अधिकतम १%, छिलकायुक्त में अधिकतम २½%। पहचान–गंधकाम्ल या सल्फ्यूरिक एसिड (८०% *v/v*) में भिगोने पर वह क्षेत्र पीत वर्ण का हो जाता है। मुलेठी का चूर्ण पीले रंग का या मटमैले पीले रंग का होता है। भेद–स्पेन की मुलेठी में भौमिक काण्ड का भाग अधिक होता है। यह बहुत मीठी होती है और इसमें तीतापन प्रायः नहीं होता। अतएव यह उत्तम मानी जाती है। रूसी मुलेठी प्रायः जंगली पौधों से प्राप्त की जाती है। इसमें अधिकांश मूल ही होता है। मधुरता के साथ इसमें कुछ तीतापन भी होता है। ईराक की मुलेठी के टुकड़े अपेक्षाकृत मोटे होते हैं। मिस्री, तुर्की एवं अरबी मुलेठी में मिस्री उत्तम, अरबी मध्यम और तुर्की हीन कोटि की होती है। गत मुलेठी–सत मुलेठी के बाजार में काले रंग के पेंसिल के आकार के बत्तीनुमा टुकड़े अथवा काले या लाल रंग के चौकोर टुकड़े आते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – मंचूरियन मुलेठी जो ग्लिसीर्हीजा ऊरालेसिस (*G. uralensis Fisch.*) नामक जाति से प्राप्त की जाती है, तथा ग्लिसीर्हीजा की अन्य जातियों के मूल मिलावट के लिए प्रयुक्त होते हैं। गुञ्जा या घुंघची की जड़ों में भी मुलेठी में पाया जाने वाला ग्लिसर्हाइजिन नामक तत्त्व अल्प मात्रा में पाया जाता है। उक्त जड़ का स्वाद भी कुछ-कुछ मुलेठी से मिलता है। अतएव प्रमादवश लोग गुञ्जामूल को ही मुलेठी मान लेते हैं। इसमें मिठास होने के कारण कीड़े आदि लगने की आशंका अधिक रहती है।

संग्रह एवं संरक्षण–कम से कम ३–४ वर्ष पुराने पौधों की जड़ों एवं भौमिक काण्ड का संग्रह होना चाहिए। मुलेठी को मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखे।

संगठन– मुलेठी में ५% से १०% तक ग्लिसिर्हाइजिन (*Glycyrrhizin*) नामक मधुर सत्व तथा शर्करा (सुक्रोज एवं डेक्स्ट्रोज ५%–१०%), ३०% स्टार्च, प्रोटीन, वसा, रेजिन एवं १% ऐस्पेरिगिन आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव–गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, वातानुलोमन, मृदुरेचन, शोणितस्थापन, मूत्रल, मूत्रविरजनीय एवं मूत्रमार्ग स्नेहन, कफनिस्सारक एवं कण्ठ्य, चक्षुष्य, जीवनीय, सन्धानीय, रसायन एवं बल्य, शुक्रवर्धक, वर्ण्य, कण्डूघ्न, चर्मरोगनाशक, केश्य, शोथहर, ज्वरनाशक आदि।

मुख्य योग–मधुयष्टयादि चूर्ण, यष्टयादि क्वाथ, यष्टीमध्वादि तैल।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) जीवनीय, सन्धानीय, वर्ण्य, कण्ठ्य, कण्डूघ्न, स्नेहोपग, वमनोपग, आस्थापनोपग, छर्दिनिग्रहण, मूत्रविरजनीय एवं शोणितास्थापन महाकषायों में तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) काकोल्यादि, सारिवादि एवं अञ्जनादि गण में मधुक (मुलेठी) भी है।

मुश्कदाना (लताकस्तूरी)

नाम। सं०—लताकस्तूरिका। हिं०, मार०, फा०—मुश्कदाना। वं०, गु०—मुश्कदाना, लताकस्तूरी। म०—कस्तूर भेंड, मुस्कदाणा। अ०—हव्बुल मि(मु) मुष्क। अं०—मस्कमैलो सीड्स (*Muskmallow Seeds*), मस्क सीड्स (*Musk Seeds*)। ले०—आवेल्मॉस्कुस मॉस्काटुस *Abelmoschus moschaus Medic* (**पर्याय**—हिविस्कुस आवेल्मास्कुस *Hibiscus abelmoschus Linn.*) लेटिन नाम इसके क्षुप के हैं। इसके वीजों से कस्तूरी की गंध आती है, अतएव विभिन्न नाम इसके विशेषण से रखे गये हैं। लेटिन नाम का जातीय नाम (*Specific name*) '*abelmoschus*' इसके अरवी नाम हव्बुल्मुष्क (जिसका अर्थ कस्तूरी घटित गोलियों के समान चीज अर्थात् वीज होता है) से अथवा अवुलमुष्क (अर्थात् मुष्क या कस्तूरी का जनक) से व्युत्पन्न है।

वानस्पतिक कुल—कार्पास-कुल (माल्वासे *Malovceae*)।

प्राप्तिस्थान—भारतवर्ष के उष्णतर प्रदेश विशेषतः वंगाल और मद्रास।

संक्षिप्त परिचय—लताकस्तूरी का क्षुप भी देखने में भिण्डी की भाँति होता है, और वरसात में उगता तथा जाड़ों में फूलता-फलता है। पत्तियाँ वहुरूपिक, एवं खण्डयुक्त नीचे के पत्ते अपेक्षाकृत अधिक चौड़े, लट्वाकार या हृदयाकार तथा ऊपर के पत्ते अधिक कटे हुए (*Hastate*) होते हैं। खण्ड आयताकार भालाकार छोटे या लम्वे नोक वाले तथा दन्तुरधारयुक्त होते हैं। सभी पत्तियाँ सघन रोमावृत होती हैं। पुष्प ७.५ से १० सें मी० (३—४ इंच) लम्वे व्यास पीत वर्ण के केन्द्र में नीलारुण वर्णयुक्त तथा शाखाग्रों पर लगते हैं। फल आपाततः देखने में भिण्डी के समान, किन्तु अपेक्षाकृत छोटे (२—३ इंच लम्वे) रूपरेखा में लट्वाकार तथा छोटी नोक वाले होते हैं। वीज वृक्काकार चपटे एवं कृष्ण वर्ण के होते हैं, जिनको मसलने पर कस्तूरी-जैसी सुगन्धि आती है।

उपयोगी अंग—(१) वीज (मुश्कदाना), पत्र एवं मूल।

मात्रा—वीजचूर्ण—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा—मुश्कदाना के छोटे-छोटे एवं किंचित् चपटे तथा वृक्काकृति वीज होते हैं। वाह्य तल पर अनेक, सूक्ष्म एवं समानान्तर क्रम से स्थित रेखाएँ होती हैं। वीजों में नाभि अर्थात् वृन्तक या हाइलम् (*Hilum*) का चिह्न स्पष्ट होता है। रंग में मुश्कदाना भिंडी के वीजों जैसा खाकी स्याहीमायल होता है और इसके अन्दर चिकना सुगन्धित मग्ज़ (गूदा) निकलता है। वीज को मसलने से कस्तूरीवत् सुगन्धि आती है, और मुँह में रखकर चवाने से मुँह स्वच्छ और सुगंधित होता है, तथा खाने पर रुचि उत्पन्न होती है। कहीं-कहीं इसमें वाकुची वीजों का मिलावट किया जाता है, किन्तु गंध से दोनों को पहचाना जा सकता है।

संग्रह एवं संरक्षण—शुष्क एवं पक्व वीजों को ग्रहण कर अच्छी तरह मुखवंद शीशियों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन—(१) स्थिर तेल (*Fixed oil*) हरिताभ पीत वर्ण का जो हवा में खुला रहने से धीरे-धीरे जम जाता है; (२) क्रिस्टलीय स्वरूप का घनतत्त्व (*Solid crystalline matter*)—जो ऐल्कोहल् के गरम विलयन से प्राप्त होता है। ९५° फा० तापक्रम पर यह क्रिस्टल्स पुनः पिघल जाते हैं। (३) सुगंधित तत्त्व (*Odorous matter*) जो हल्के हरे रंग के द्रव के रूप में प्राप्त होता है और इसमें कस्तूरी-जैसी तीव्र सुगंधि पायी जाती है। यह उड़नशील नहीं होता। (४) गोंदीय तत्त्व (*Gum*), एल्व्युमिन एवं रेजिन।

वीर्यकालावधि—१—२ वर्ष तक।

स्वभाव—गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस—तिक्त, मधुर, कटु। विपाक—कटु। वीर्य—शीत। प्रधान कर्म—मुखदुर्गन्धनाशक, रोचन, दीपन, कफपित्तशामक, मूत्रल, वृष्य, शुक्रल एवं आक्षेपहर आदि।

मुसली, स्याह (तालमूली)

नाम। सं०—तालमूली। हिं०—कृष्णमुसली, कालीमुसली, सियामुसली, मुसलीकंद। वं०—तालमूली। गु०—कालीमुसली। म०—कालीमुसली। ले०—कुर्कूलीगो ऑर्किऑइडेज (*Curculigo orchioides Gaertn.*)।

वानस्पतिक कुल—तालमूली-कुल (आमारिल्लीडासे : *Amaryllidaceae*)।

प्राप्तिस्थान—समस्त भारतवर्ष में (विशेषतः अनुष्णहिमालय प्रदेश में कुमायूँ से लेकर पूरव की ओर आसाम तक तथा पश्चिम हिमालय और दक्षिण भारत के पश्चिमी घाट के जंगली प्रदेशों में कोंकण से दक्षिण की ओर) इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। इसकी जड़ (मुसलीकंद) के गोल-गोल काटे हुए टुकड़े वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – कालीमुसली के तालवृक्षाकृति किन्तु अत्यंत छोटे (३० से ४५ सें० मी० या १–१॥ फुट ऊंचे) पौधे होते हैं और चौमासे में उगते हैं। प्रत्येक पौधे में ३–४ पत्तियाँ होती हैं, जो १५ सें० मी० से ४५ सें० मी० या ६–१८ इंच तक लम्बी, १.२५ से २.५ सें० मी० या ॥–१ इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में रेखाकार या रेखाकार भालाकार होती हैं। पत्राधार प्रायः कोषमय होता है। बीच से छोटा पुष्पवाहक दण्ड या पुष्पध्वज (*Scape*) निकलता है, जिस पर अत्यन्त छोटे-छोटे पीले रंग के पुष्प निकलते हैं। फल १.२५ सें० मी० या ½ इंच तक लम्बे होते हैं, जिनमें १–४ चमकीले काले रंग के बीज निकलते हैं। मूल-स्तम्भ सीधा और मोटा होता है। पुरानी चक्राकार पत्र-सन्धियों के कारण यह तालवृक्ष के स्कन्ध जैसा मालूम होता है। इसकी संधियों से सूत्राकार परन्तु मांसल उपमूल निकले रहते हैं। औषधि में जड़ों का व्यवहार मुसलीकंद के नाम से होता है।

उपयोगी अंग – कंद (जड़)।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मुसली स्याह के गोल-गोल काटे हुए टुकड़े व्यास में १.२५ सें० मी० या आधे इंच तक होते हैं। बाहर से देखने में मूलत्वक् कृष्णाभ भूरे रंग की होती है। अन्दर का भाग सफेद या मटमैले रंग का होता है। किन्हीं-किन्हीं टुकड़ों पर टेढ़े-मेढ़े झुर्रीदार उपमूल भी लगे होते हैं। स्वाद फीका-सा लबाबदार होता है। मुख में चावने पर एलुए कीसी हल्की गंध आती है; तथा स्वाद किंचित् तिक्त-सा होता है। ताजी जड़ का अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटा तल ठोस तथा सफेद रंग का होता है, जिसमें अनेक सूक्ष्म छिद्र से होते हैं। इसका केन्द्रस्थ (*Central portion*) एवं परिसरीय (*Cortical*) दोनों ही भाग मुख्यतः तनुभित्तिक ऊति (*Parenchymatous tissue*) के बने होते हैं, जिनमें स्टार्च के छोटे-छोटे कण भरे होते हैं। कहीं-कहीं बड़ी कोशाओं में सूच्याकार क्रिस्टल पुञ्ज भी पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – काली मूसली को जाड़ों में संग्रहीत कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए। संग्रह के लिए प्रायः दो वर्ष पुराने पौधों का कन्द अधिक उपयुक्त समझा जाता है। जड़ों को खोद कर मिट्टी आदि को जल से धोकर साफ कर दिया जाता है और उपमूलों को काट कर पृथक् कर दिया जाता है। अब इनके छोटे-छोटे गोल टुकड़े काट कर तागे में पिरोकर छाया में खूंटी पर टाँग देते हैं। सूखने पर यही बाजारों को प्रेषित किये जाते हैं।

संगठन – स्याह मुसली कंद में राल, लबाब, वसा, स्टार्च, किंचित् कषाय द्रव्य और सुखाये हुए कंद की राख में चूना होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – इसके गुण-कर्म तथा प्रयोग बहुत-कुछ सफेद मुसली की भाँति होते हैं। यह वाजीकर, शुक्रल और वीर्य पुष्टिकर होती है। कामावसाद और शुक्रमेह में इसके चूर्ण को बराबर चीनी मिला कर खिलाते हैं। काली मुसली वाजीकर एवं शुक्रमेहघ्न कल्पों (माजून चूर्ण, पाक आदि) में पड़ती है।

मुसली, सफेद (मुशली)

नाम। सं०– मुशली। हिं०–स (सु) फेद मु (मू) सली। बं०–श्वेतमुषली। म०–सफेत (द) मुसली। गु०–सफेद मुसली, धोली मुसली। अ०, फा०, द०–शक़ाकुले हिन्दी। लें०–आस्पारागुस आडसेंडेंस (*Asparagus adscendens Roxb.*)।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसे : *Liliaceae*)।

प्राप्तिस्थान–पश्चिमी हिमालय, पंजाब, गुजरात, मध्यभारत। उत्तम सफेद मुसली रतलाम में होती है। मुसली (सफेद भी) सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलती है।

संक्षिप्त परिचय–इसका क्षुप काँटेदार और स्वावलम्बी होता है, परन्तु शाखाएँ झुकी हुई और आरोहणशील होती हैं। प्रधान काण्ड, लम्बा, ऊंचा, मोटा, गोल और चिकना होता है। शाखाएँ भस्मवर्ण, नालीदार और कोणयुक्त होती हैं। काँटे १.२५ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० या ॥–॥। इंच लम्बे, मोटे और सीधे होते हैं। पत्राभासकाण्ड या पर्णाभस्तम्भ (*Cladode*) १.२५ से ५ सें० मी० या ॥–२ इंच लम्बे, पतले और ६–२० की संख्या में एक साथ गुच्छबद्ध होते हैं। श्वेत, कन्द सदृश और लम्बगोल मूलों का गुच्छा मूलस्तम्भ से निकला रहता है। इन्हीं मूलों की छाल उतार कर सुखा लेते हैं, जो बाजारों में श्वेत (सफेद) मुसली के नाम से बिकती हैं। पुष्प सफेद तथा छोटे (२.५ मि० मी० से १.२५ मि० मी० या $\frac{1}{10}$ से $\frac{3}{20}$ इंच व्यास के) तथा फल (*Berries*) व्यास में $\frac{1}{5}$

से ⅓ इंच होते हैं, जिनमें १-१ बीज होता है।

उपयोगी अंग – कंदाकार जड़।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मिलने वाली सफेद मुसली छिलका उतार कर सुखायी हुई कन्दाकार जड़ें होती हैं, जो ५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या २-३॥ इंच लम्बी, ६.२५ मि० मी० या ¼ इंच तक (अधिकतम) मोटी, कड़ी हस्तिदन्तवत् स्वच्छ श्वेत होती हैं। प्रायः उक्त जड़ें ऐंठी हुई-सी (*Twisted*) और तोड़ने पर भंगुर होती हैं। किन्हीं-किन्हीं कन्दों पर पीताभ वर्ण का छिलका का भी कुछ भाग लगा होता है। स्वाद में यह फीकी लवाबदार होती हैं, और जल में भिगोने पर फूलती हैं, जिससे देखने में शतावरी-सी मालूम होती हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – किन्हीं-किन्हीं बाजारों में इस कुल की अन्य वनस्पतियों की कन्दाकार जड़ें भी सफेद मुसली के नाम से बिकती हैं:-(१) क्लोरोफीटुम ब्रेविस्कापुम *Chlorophytum breviscapum Dalz.* (पर्याय-क्लोरोफी० अरुन्डीनासेउम *Chlorophytum arundinaceum Baker* (*Family: Liliaceae*)–इसकी जड़ भी शतावरी की तरह गुच्छाकार होती है, जो रंगमें खाकस्तरी होती हैं, और अपेक्षाकृत सस्ती बिकती हैं। (२) मूसली-दक्खिनी–आस्पारागुस सार्मेन्टोसुस *Asparagus sarmentosus Linn.* (*Family : Liliaceae*)।

संग्रह एवं संरक्षण–सफेद मूसली को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – कन्द में ऐस्पेरेगिन (*Asparagin*), ऐल्ब्युमिन युक्त पदार्थ, लबाब और सेलूलोज (*Cellulose*) और चूर्ण में जलीय सत्व, सेलूलोज, आर्द्रता और भस्म होती है।

वीर्यकालावधि – १-२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–वृष्य, शुक्रल, बल्य, बृंहण रसायन आदि। नपुंसकता, शुक्रमेह आदि में प्रयुक्त कल्पों में यह प्रधान उपादान होती है। इक्षुमेह के रोगियों को पथ्य रूप में भी दे सकते हैं।

मुख्य योग – मुशली पाक, मुशल्यादि योग, जुवारिश मुमसियैन।

मूर्वा

नाम। सं०–मूर्वा, अतिरसा, गोकर्णी; मोरट (ध०,रा०नि०)। हिं० (मिर्जापुर)–चिन्हारु, जरतोर; (देहरादून)–मरुआवेल। थारु–मारवी, मरुआवेल। खर०–चिटी, सिटी। संथा०–कोंगा, सिटकी। ले०–मार्सडेनिआ टेनासिस्सिमा (*Marsdenia tenacissima W. & A.*)।

वानस्पतिक कुल–अर्क-कुल (आस्क्लेपिआडासे : *Asclepiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई में (देहरादून में खैर के जंगलों में) तथा बिहार में चम्पारन, सोमेश्वर की पहाड़ी, राजमहल, पलामू, हजारीबाग, आदि जिलों में प्रायः शुष्क पर्वतमालाओं में और झाड़ीदार जंगलों में इसकी लताएँ पायी जाती हैं। विन्ध्य के जंगलों में भी इतस्ततः यह मिलता है। बाजारों में मूर्वामूल के नाम से अन्य औषधियों की जड़ बेची जाती है।

संक्षिप्त परिचय – मरुआवेल की मोटी एवं मजबूत काण्ड की तथा दुग्धयुक्त एवं क्षुप स्वभाव की चक्रारोही (*Twining*) लताएँ होती हैं, जिनके शाखाग्र या नवीन भाग मृदु रोमश होते हैं। काण्डत्वक् धूसर, कार्कयुक्त एवं पुरानी शाखाओं पर नालीदार (*Deeply furrowed*) होती है। पत्तियाँ १० सें० मी० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच तक लम्बी, ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३-५ इंच तक चौड़ी, आधार पर फलक गहरा हृद्वत् तथा ताम्बूलाकार दो विच्छेदों वाला (*Cordately lobed*), तथा यकायक लम्बाग्र या तीक्ष्ण नोकवाली होती हैं। स्पर्श में यह दोनों तलों पर मखमली होती हैं। पर्णवृन्त ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बा होता है। पुष्प छोटे-छोटे, पीताभ-हरित वर्ण के तथा हल्की अरुचिकर गंधयुक्त होते हैं, जो सशाख समशिख गुच्छकों (*Corymbosely branched cymes*) में निकलते हैं। पुष्पागम गर्मियों में तथा फलागम जाड़ों में होता है। फलियाँ (*Follicles*) १० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बी, व्यास में ३ सें० मी० से ३.५ सें० मी० या १.२ से १.४ इंच, रोमश और आधार से एक तिहाई दूर सबसे अधिक मोटी होती हैं, जिनमें १.२५ सें०मी० या ½ इंच तक लम्बे तथा रूपरेखा में लट्वाकार आयताकार (*Ovate-oblong*) बीज होते हैं। फलत्वचा (*Pericarp*) काफी मोटी होती है और इस पर अनुलम्ब दिशा में झुर्रियाँ पड़ी होती (*Longitudinally wrinkled*) हैं।

मरुआवेल (मूर्वा) की नवीन शाखाओं की त्वचा से सफेद रेशमतुल्य मजबूत रेशे निकलते हैं, जिनसे गोरखा मछली मारने की रस्सियाँ और राजमहल के जंगली धनुप की डोर (मौर्वी) वनाते हैं।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – ६ ग्राम से २३ ग्राम या ६ माशा २से तोला।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – इसी कुल एवं प्रजाति की कतिपय अन्य लताएँ भी स्वरूपतः एवं गुणतः कुछ-कुछ मूर्वा से मिलती-जुलती हैं, और अभावे प्रतिनिधि रूप से ग्राह्य होने की पात्रता रखती हैं:—(१) मार्सडेनिआ रोइलियाइ (*Marsdenia roylei Wight.*) इसको भी देहरादून में मरुआवेल और जौनसार में खर्छु कहते हैं। इसकी फलियाँ ३ इंच तक लम्बी तथा व्यास में १–१। इंच तक होती हैं। फलत्वचा पर अनुप्रस्थ दिशा में झुर्रियाँ (*Transversely rugose*) पड़ी होती हैं; तथा फलियाँ अग्र पर चोंच की तरह कुछ वक्र होती हैं। इसके काण्ड-त्वक् से भी मूर्वा की भाँति रेशे निकलते हैं। (२) मोरम अड़ा (*M. hamiltonii Wight.*)–इसका ऊपरी भाग प्रति-वर्ष सूख जाता है। इसमें भी पुष्प छोटे तथा आभ्यन्तर कोश वाहर से सफेद होता है। (३) लाखन (ड्रेजेआ वोलूविलिस *Dregea volubilis Benth.* (*Family : Asclepiadaceae*)–इसकी लताएँ वंगाल, आसाम तथा दक्षिण भारत में दकन एवं मद्रास में तथा इतस्ततः जंगलों में अन्यत्र भी पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मूर्वा के नाम से ग्रहण किये जाते हैं। किन्तु मूर्वा के स्थान में उनका व्यवहार करना उचित नहीं है:—(१) मेरुआ आरेनारिआ *Maerua arenaria Hook. f. & Th.* (*Family: Capparidaceae*)–सं०–मधुरसा, पीलुपर्णी। (मिर्जापुर)–मुरहरी। उत्तर प्रदेश में (विशेपतः इटावा के चिकित्सक) इसको मूर्वा के स्थान में व्यवहृत करते हैं। (२) मोरवेल (म०, गु०)। सं०–गोपवल्ली, त्रिपर्णी। उरान–गोलरंग। ले०–क्लेमाटिस गौरिआना एवं क्लेमाटिस ट्रीलोवा *Clematis gouriana Roxb.* एवं (2) *C. triloba Heyne* (*Family: Ranunculaceae*)–महाराष्ट्र में मूर्वा के नाम से इन्हीं का व्यवहार होता है (महाराष्ट्रीय मूर्वा)। (३) वंगीय मूर्वा। नागदमन–उ० प्र०। सँसेवीरिआ रॉक्सवुर्घिआना *Sansevieria roxburghiana Schult.* (*Family: Haemodoraceae*)–इसके क्षुप घृतकुमारी की भाँति लगते हैं और सौन्दर्य के लिए गमलों में लगाये जाते हैं। (४) *Chonemorpha macrophylla G. Don.* (*Family : Apocynaceae*)–इसकी गुल्म स्वभाव की लताएँ होती हैं, जिनकी शाखा-प्रशाखाएँ वहुदिक फैलती हैं तथा आश्रय को लपेट कर ऊपर चढ़ती है। शाखाओं को तोड़ने से दूध निकलता है। दक्षिण भारत में ट्रावन्कोर-कोचीन में यह वहुतायत से पायी जाती हैं और वहाँ पर इसीकी जड़ का व्यवहार मूर्वामूल के नाम से किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में मूर्वामूल का संग्रह कर छायाशुष्क कर लें और मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीत स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – मूर्वा गुरु, सर, रस में तिक्त तथा रक्तविकार, प्रमेह, त्रिदोप, तृपा, हृद्रोग, कण्डू, कुष्ठ तथा ज्वरनाशक है।

विशेष – मिर्जापुर के जंगली क्षेत्रों में चिन्हारू या जरतोर (*M. tenacissima W. & A.*) का प्रयोग विपमज्वर (मलेरिया) के लिए किया जाता है। विहार के आदि-वासियों में इसकी जड़ के कुष्ठ में व्यवहार की परम्परा है।

मूली (मूलक)

नाम। सं०–मूलक। हिं०–मूली, मुरई, मूरा। वं०–मूला। म०–मुला। गु०–मूलो। पं०–मुरि। फा०–तुर्व। अ०–फुज्ल, फुजल। अं०–रैडिश (*Radish*) ले०–राफानुस साटीवुस (*Raphanus sativus Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – सर्पप-कुल (क्रूसीफ़ेरे : *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – सर्वत्र भारतवर्प में मूली की खेती की जाती है। कच्ची मूली सर्वत्र तरकारी वाजारों में विकती है तथा इसके वीज पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मूली के क्षुप आपाततः देखने में सरसों जैसे होते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक देशी मूली (लघुमूलक या चाणक्य मूलक) दूसरी 'नेवार मूली' (नेपाल, मूलक)। छोटी मूली में भी एक में कुछ-कुछ शलगम से मिलते-जुलते रूपरेखा के तथा रक्ताभ कन्द लगते हैं। नेवार मूली में पतली मूली की अपेक्षा तीक्ष्णता वहुत कम पायी जाती है और इसका कन्द भी हाँथी दाँत–जैसे काफी मोटे और लम्बे होते हैं। उत्तर प्रदेश में जौनपुर में यह काफी वोयी जाती है। इसका अचार-मुरब्बा भी वनाते हैं। औपधीय दृष्टि से पतली मूली ही अधिक उपयोगी होती है। इसमें सरसों

से ¾ इंच होते है, जिनमें १–१ बीज होता है।

उपयोगी अंग – कंदाकार जड़।

मात्रा – ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मिलने वाली सफेद मुसली छिलका उतार कर सुखायी हुई कन्दाकार जड़ें होती हैं, जो ५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या २–२॥ इंच लम्बी, ६.२५ मि० मी० या ¼ इंच तक (अधिकतम) मोटी, कड़ी हस्तिदन्तवत् स्वच्छ श्वेत होती हैं। प्रायः उक्त जड़ें ऐंठी हुई-सी (*Twisted*) और तोड़ने पर भंगुर होती हैं। किन्हीं-किन्हीं कन्दों पर पीताभ वर्ण का छिलका का भी कुछ भाग लगा होता है। स्वाद में यह फीकी लबाबदार होती हैं, और जल में भिगोने पर फूलती हैं, जिससे देखने में शतावरी-सी मालूम होती हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – किन्हीं-किन्हीं बाजारों में इस कुल की अन्य वनस्पतियों की कन्दाकार जड़ें भी सफेद मुसली के नाम से बिकती हैं:–(१) क्लोरोफीटुम ब्रेविस्कापुम *Chlorophytum breviscapum Dalz.* (पर्याय-क्लोरोफी० अरुन्डीनासेउम *Chlorophytum arundinaceum Baker* (*Family: Liliaceae*)–इसकी जड़ भी शतावरी की तरह गुच्छाकार होती है, जो रंगमें खाकस्तरी होती हैं, और अपेक्षाकृत सस्ती बिकती हैं। (२) मूसली-दक्खिनी–आस्पारागुस सार्मेन्टोसुस *Asparagus sarmentosus Linn.* (*Family : Liliaceae*)।

संग्रह एवं संरक्षण–सफेद मूसली को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – कन्द में ऐस्पेरेगिन (*Asparagin*), ऐल्ब्युमिन युक्त पदार्थ, लबाब और सेलूलोज (*Cellulose*) और चूर्ण में जलीय सत्व, सेलूलोज, आर्द्रता और भस्म होती है।

वीर्यकालावधि – १–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–वृष्य, शुक्रल, बल्य, बृंहण रसायन आदि। नपुंसकता, शुक्रमेह आदि में प्रयुक्त कल्पों में यह प्रधान उपादान होती है। इक्षुमेह के रोगियों को पथ्य रूप में भी दे सकते हैं।

मुख्य योग – मुशली पाक, मुशल्यादि योग, जुवारिश मुसलियैन।

मूर्वा

नाम। सं०–मूर्वा, अतिरसा, गोकर्णी; मोरट (ध०,रा०नि०)। हिं० (मिर्जापुर)–चिन्हारु, जरतोर; (देहरादून)–मरुआवेल। था०–गारवी, मरुआवेल। खर०–चिटी, सिटी। संथा०–कोंगा, सिटकी। ले०–मार्सडेनिआ टेनासिस्सिमा (*Marsdenia tenacissima W. & A.*)।

वानस्पतिक कुल–अर्क-कुल (आस्क्लेपिआडासे : *Asclepiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई में (देहरादून में खैर के जंगलों में) तथा बिहार में चम्पारन, सोमेश्वर की पहाड़ी, राजमहल, पलामू, हजारीबाग, आदि जिलों में प्रायः शुष्क पर्वतमालाओं में और झाड़ीदार जंगलों में इसकी लताएँ पायी जाती हैं। विन्ध्य के जंगलों में भी इतस्ततः यह मिलता है। बाजारों में मूर्वामूल के नाम से अन्य औषधियों की जड़ बेची जाती है।

संक्षिप्त परिचय – मरुआवेल की मोटी एवं मजबूत काण्ड की तथा दुग्धयुक्त एवं क्षुप स्वभाव की चक्रारोही (*Twining*) लताएँ होती हैं, जिनके शाखाग्र या नवीन भाग मृदु रोमश होते हैं। काण्डत्वक् धूसर, कार्कयुक्त एवं पुरानी शाखाओं पर नालीदार (*Deeply furrowed*) होती है। पत्तियाँ १० सें० मी० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच तक लम्बी, ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३–५ इंच तक चौड़ी, आधार पर फलक गहरा हृद्वत् तथा ताम्बूलाकार दो विच्छेदों वाला (*Cordately lobed*), तथा यकायक लम्बाग्र या तीक्ष्ण नोक वाली होती हैं। स्पर्श में यह दोनों तलों पर मखमली होती हैं। पर्णवृन्त ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्बा होता है। पुष्प छोटे-छोटे, पीताभ-हरित वर्ण के तथा हल्की अरुचिकर गंधयुक्त होते हैं, जो सशाख समशिख गुच्छकों (*Corymbosely branched cymes*) में निकलते हैं। पुष्पागम गर्मियों में तथा फलागम जाड़ों में होता है। फलियाँ (*Follicles*) १० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच लम्बी, व्यास में ३ सें० मी० से ३.५ सें० मी० या १.२ से १.४ इंच, रोमश और आधार से एक तिहाई दूर सबसे अधिक मोटी होती हैं, जिनमें १.२५ सें०मी० या ½ इंच तक लम्बे तथा रूपरेखा में लट्वाकार आयताकार (*Ovate-oblong*) बीज होते हैं। फलत्वचा (*Pericarp*) काफी मोटी होती है और इस पर अनुलम्ब दिशा में झुर्रियाँ पड़ी होती (*Longitudinally wrinkled*) हैं।

मरुआवेल (मूर्वा) की नवीन शाखाओं की त्वचा से सफेद रेशमतुल्य मजबूत रेशे निकलते हैं, जिनसे गोरखा मछली मारने की रस्सियाँ और राजमहल के जंगली धनुप की डोर (मौर्वी) बनाते हैं।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – ६ ग्राम से २३ ग्राम या ६ माशा २से तोला।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – इसी कुल एवं प्रजाति की कतिपय अन्य लताएँ भी स्वरूपतः एवं गुणतः कुछ-कुछ मूर्वा से मिलती-जुलती हैं, और अभावे प्रतिनिधि रूप से ग्राह्य होने की पात्रता रखती हैं:—(१) मार्सडेनिआ रोइलियाइ (*Marsdenia roylei Wight.*) इसको भी देहरादून में मरुआवेल और जौनसार में खर्छु कहते हैं। इसकी फलियाँ ३ इंच तक लम्बी तथा व्यास में १–१। इंच तक होती हैं। फलत्वचा पर अनुप्रस्थ दिशा में झुर्रियाँ (*Transversely rugose*) पड़ी होती हैं; तथा फलियाँ अग्र पर चोंच की तरह कुछ वक्र होती हैं। इसके काण्ड-त्वक् से भी मूर्वा की भाँति रेशे निकलते हैं। (२) मोरम अड़ा(*M. hamiltonii Wight.*)–इसका ऊपरी भाग प्रति-वर्ष सूख जाता है। इसमें भी पुष्प छोटे तथा आभ्यन्तर कोश वाहर से सफेद होता है। (३) लाखन (ड्रेजेआ वोलूविलिस *Dregea volubilis Benth.* (*Family : Asclepiadaceae*)–इसकी लताएँ वंगाल, आसाम तथा दक्षिण भारत में दकन एवं मद्रास में तथा इतस्ततः जंगलों में अन्यत्र भी पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मूर्वा के नाम से ग्रहण किये जाते हैं। किन्तु मूर्वा के स्थान में उनका व्यवहार करना उचित नहीं है:—(१) मेरुआ आरेनारिआ *Maerua arenaria Hook. f. & Th.* (*Family : Capparidaceae*)–सं०–मधुरसा, पीलुपर्णी। (मिर्जापुर)–मुरहरी। उत्तर प्रदेश में (विशेषतः इटावा के चिकित्सक) इसको मूर्वा के स्थान में व्यवहृत करते हैं। (२) मोरवेल (म०, गु०)। सं०–गोपवल्ली, त्रिपर्णी। उरान–गोलरंग। ले०–क्लेमाटिस गौरिआना एवं क्लेमाटिस ट्रीलोवा *Clematis gouriana Roxb.* एवं (2)*C. triloba Heyne* (*Family: Ranunculaceae*)–महाराष्ट्र में मूर्वा के नाम से इन्हीं का व्यवहार होता है (महाराष्ट्रीय मूर्वा)। (३) वंगीय मूर्वा। नागदमन–उ० प्र०। सँसेवीरिआ रॉक्सवुर्घिआना *Sansevieria roxburghiana Schult.* (*Family: Haemodoraceae*)–इसके क्षुप घृतकुमारी की भाँति लगते है और सौन्दर्य के लिए गमलों में लगाये जाते हैं। (४) *Chonemorpha macrophylla G. Don.* (*Family : Apocynaceae*)–इसकी गुल्म स्वभाव की लताएँ होती हैं, जिनकी शाखा-प्रशाखाएँ वहुदिक फैलती हैं तथा आश्रय को लपेट कर ऊपर चढ़ती है। शाखाओं को तोड़ने से दूध निकलता है। दक्षिण भारत में ट्रावन्कोर-कोचीन में यह वहुतायत से पायी जाती है और वहाँ पर इसीकी जड़ का व्यवहार मूर्वामूल के नाम से किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में मूर्वामूल का संग्रह कर छायाशुष्क कर लें और मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीत स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – मूर्वा गुरु, सर, रस में तिक्त तथा रक्तविकार, प्रमेह, त्रिदोष, तृषा, हृद्रोग, कण्डू, कुष्ठ तथा ज्वरनाशक है।

विशेष – मिर्जापुर के जंगली क्षेत्रों में चिन्हारू या जरतोर (*M. tenacissima W. & A.*) का प्रयोग विषमज्वर (मलेरिया) के लिए किया जाता है। विहार के आदि-वासियों में इसकी जड़ के कुष्ठ में व्यवहार की परम्परा है।

मूली (मूलक)

नाम। सं०–मूलक। हिं०–मूली, मुरई, मूरा। वं०–मूला। म०–मुला। गु०–मूलो। पं०–मुरि। फा०–तुर्ब। अ०–फुज्ल, फुजल। अं०–रैडिश (*Radish*) ले०–राफानुस साटीवुस (*Raphanus sativus Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – सर्पप-कुल (क्रूसीफ़ेरे : *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – सर्वत्र भारतवर्ष में मूली की खेती की जाती है। कच्ची मूली सर्वत्र तरकारी बाजारों में बिकती है तथा इसके बीज पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मूली के क्षुप आपाततः देखने में सरसों जैसे होते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक देशी मूली (लघुमूलक या चाणक्य मूलक) दूसरी 'नेवार मूली' (नेपाल मूलक)। छोटी मूली में भी एक में कुछ-कुछ शलगम से मिलते-जुलते रूपरेखा के तथा रक्ताभ कन्द लगते हैं। नेवार मूली में पतली मूली की अपेक्षा तीक्ष्णता वहुत कम पायी जाती है और इसका कन्द भी हाँथी दाँत–जैसे काफी मोटे और लम्बे होते हैं। उत्तर प्रदेश में जौनपुर में यह काफी वोयी जाती है। इसका अचार-मुरब्बा भी बनाते हैं। औषधीय दृष्टि से पतली मूली ही अधिक उपयोगी होती है। इसमें सरसों

सदृश किन्तु उससे कुछ मोटी २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बी फलियाँ लगती हैं, जिनके पकने पर सरसों-जैसे, किन्तु बड़े और रक्ताभ वीज निकलते हैं। कोमल फलियों का भी शाक खाया जाता है। मूली को जला कर वनाया हुआ क्षार (मूलक-क्षार) एवं बीजों का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोग अंग – कंद या मूल (मूली), पत्र, वीज एवं क्षार (मूलक-क्षार या मूलीखार)।

मात्रा – वीजचूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम (वमनार्थ ६ ग्राम) या १ से ३ माशा (वमनार्थ ६ माशा)।

पत्रस्वरस–२ से ४ तोला।

क्वाथार्थ शुष्क मूलक—६ ग्राम।

क्षार—०.५ ग्राम से १.५ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – शुष्क पक्व फलियों से वीजों को प्राप्त कर, मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। प्रौढ़ कन्दों के गोल-गोल कतरेनुमा टुकड़े काट कर छायाशुष्क कर लें और मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – मूली के वीज एवं मूल में एक अनुत्पत् तैल तथा एक उत्पत् या उड़नशील तेल पाया जाता है, जो राई के तेल के समान होता है। यह रंगरहित तथा स्वाद में मूली के समान होता है। इसमें गंधक एवं फास्फोरिक एसिड पाया जाता है। कन्दों में ऐल्व्युमिनायड्स, कार्वोहाइड्रेट तथा क्षार आदि तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – वीज–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु (लघु मूलक), गुरु (वृहत् मूलक), तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–लघु मूलक त्रिदोषहर, किन्तु वृहत् मूलक-त्रिदोषकर होता है; रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, भेदन, यकृत्प्लीहा-शोथहर, कफनिःसारक, कण्ठ्य, कास-श्वासहर, मूत्रल, अश्मरीभेदन, आर्त्तवजनन आदि। यूनानी मतानुसार मूली पहले दर्जे में उष्ण एवं दूसरे दर्जे में रूक्ष होती है। मूली में दो वीर्य (जौहर) एक दूसरे के विपरीत पाये जाते हैं। एक वीर्य पार्थिव है, जो सांद्र (गलीज) और चिरपाकी होता है, और दूसरा उष्ण एवं प्रवाही (लतीफ) होता है, और इसी वीर्य के आधार पर मूली तारल्यजनन, पाचन, वातानुलोमन, मूत्रल एवं प्लीहाशोथ विलयन हैं। जब इसको भोजन के बाद खाया जाता है, तब यह उसको शीघ्र पचा कर भूख लगाती है; किन्तु अपने पार्थिव वीर्य के कारण स्वयं देर में पचती है। यही कारण है, कि भोजन पच जाने पर भी पीछे तक डकारें आती रहती हैं, जिनमें मूली की गंध आती है। वीज–तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क होते हैं। वहिः प्रयोग से मूली के वीज लेखन, और आन्तरिक प्रयोग से वामक, मूत्रल, वातानुलोमन, मूत्रार्तवजनन एवं वातविलयन होते हैं। अहितकर–आकुलता एवं उत्क्लेशकारक। निवारण–नमक, जीरा, मधु। मूलक–क्षार पाचक एवं मूत्रल होता है।

मुख्य योग – शुष्क मूलाद्य घृत, शुष्कमूलाद्य तैल; रोग़न, तुर्व, सफ़ूफ़ तुर्व।

मेथी (मेथिका)

नाम। सं०–मेथिका, पीतवीजा। हिं०, द०, म०, गु०, वं०–मेथी। पं०–मेथरी, मेथरे। अ०–हुल्वः। फा०–शम्लीत, शम्लीज़। अं०–फेनुग्रीक (*Fenugreek*)। ले०–ट्रीगोनेल्ला फ़ेनुम–ग्रेकुम (*Trigonella foenum-graecum Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्वी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (*Papilionacee*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में मेथी वीजों के लिए कृषक लोग लम्बे परिमाण में इसकी खेती करते हैं, तथा पत्रशाक (कोमल पौधों) के लिए तरकारी वोने वाले भी इसे लगाते हैं। कोमल पौधे तरकारी वाजार में तथा पक्व वीज वाजारों में विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मेथी के एकवर्षायु, छोटे, खड़े क्षुप होते हैं। यह जाड़े की फसल के साथ वोई जाती है। पत्रक १.८७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० या ¾ से १ इंच लम्बे, अभिप्रासवत् आयताकार (*Oblanceolate–oblong*) होते हैं। पुष्प अवृन्त तथा पत्रकोणों में एक साथ १–१ या २–२ निकलते हैं। फली ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच लम्बी अग्र पर कुछ चोंचदार तथा कभी हसियानुमा टेढ़ी होती है, जिसमें १०–२० तक पीले वीज निकलते हैं। औषधि में इन्हीं वीजों का व्यवहार होता है। मेथी के ताजे पौधे को मसल कर सूंघने से इसके वीज-जैसी सुगंधि आती है।

उपयोगी अंग – बीज (औषध्यर्थ एवं मसाले में डालने के लिए) तथा पत्र (शाकार्थ)।

मात्रा – ३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मेथी की फली हसिया के आकार की तथा ७.५ से १० सें० मी० या ३–४ इंच लम्बी होती है, जो कुछ चपटी होती है, तथा अग्र नुकीला होता है। प्रत्येक फली में १०–२० तक पीले या पीताभ भूरे रंग के चतुष्कोणाकार (*Rhomboidal*) बीज होते हैं। उक्त बीज ३·१२५ मि० मी० या ⅛ इंच तक लम्बे और चपटे होते हैं। नुकीले किनारे पर नाभि (*Hilum*) होती है। नाभि से एक खातोदर रेखा आती है, जो बीजपृष्ठ को दो असमान भागों में विभक्त करती है। बीज का पृष्ठतल कुछ ऊबड़-खाबड़ होता है। बीजत्वक् (*Testa*) दो स्तरों का होता है, जिनमें अन्तः स्तर लुआबी होता है, तथा बीज द्विदल एवं मूलांकुर (*Radicle*) को परिवेष्टित करता है। बीज-द्विदल स्नेहमय होता है। मुख में चाबने पर मेथी के बीज स्वाद में तिक्त, तैलीय एवं सुगंधित होते हैं। मेथिका-पत्र भी स्वाद में तिक्त होते हैं; किन्तु इनमें एक मनोरम गंध आती है।

संग्रह एवं संरक्षण – बीजों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – बीजावरण के कोषों में कषाय-द्रव्य तथा द्विदलों में एक पीत रंजन द्रव्य, एक तिक्त, एवं गंधयुक्त वसामय तैल (६%), राल, लबाब तथा कोलीन एवं ट्रिगोनेलीन नामक दो क्षारोद पाये जाते हैं। बीजों के भस्म में काफी मात्रा में फास्फोरिक एसिड पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – मेथी कटु रस वाली, उष्ण वीर्य तथा शोथविलयन, रोचन, दीपन, वात-कफनाशक, ज्वरघ्न, बल्य, स्निग्ध, नाड़ीवल्य, आर्तवजनन एवं आर्तवशूलहर होती है। प्रसूता स्त्रियों को मेथी के बीज के साथ सुगंधि द्रव्य मिला कर उसके लड्डू बना कर खिलाते हैं। इससे भूख लगती तथा दस्त और आर्तव साफ होता है। मेथी की पत्ती शीतल, पित्तशामक, पाचन, शोथघ्न और वातानुलोमन होती है। पित्तप्रकृति के लोगों के कब्ज में मेथी का साग खिलाने से विबन्ध दूर होता है। व्रणशोथ में मेथी की पत्ती अथवा बीज का लेप करने से शोथ विलयन होता है।

मेंहदी (मदयन्तिका)

नाम। सं०–मदयन्तिका। हिं०–मेंहदी, मेहँदी, मेहदी। बं०–मेंदी, मेउदी। म०, गु०–मेंदी। मा०–मेंहदी। अ०–हिन्ना। फा०–हिना। अं०–दि हेना प्लांट (*The Henna Plant*)। ले०–लॉसोनिआ इनेर्मिस *Lawsonia inermis Linn.* (पर्याय-*L. alba Lsnn.*)।

वानस्पतिक कुल – धातकी-कुल (*Lythraceae*)।

प्राप्तिस्थान – सर्वत्र भारतवर्ष में बगीचों, मैदानों तथा खेतों के किनारे झाड़ी के रूप में इसे लगाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मेंहदी के गुल्म होते हैं, जिनकी प्रशाखाएँ कभी-कभी नुकीले अग्र वाली (*Spinescent*) होती हैं। पत्तियाँ आपाततः देखने में सनाय की पत्तियों की भाँति तथा अभिमुख क्रम से स्थित, १.७५ सें० मी० से २.५ सें० मी० (७/१० से १ इंच) तक लम्बी, अंडाकार अथवा आधार एवं अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़ी (*Acute*), परन्तु कोई-कोई कुण्ठिताग्र (*Obtuse*), सरल धार वाली, चर्मिल एवं बहुत छोटे वृन्तयुक्त होती हैं। पुष्प छोटे (व्यास में ०.५ सें० मी० या ⅕ इंच), हरिताभ श्वेत वर्ण के तथा अत्यन्त सुगंधित होते हैं, जो सशाख शाखाग्रच मञ्जरियों (*Cymosely branched terminal panicles*) में निकलते हैं। बाह्य कोष ४ खण्डों वाला होता है, जो २.५ मि० मी० या १/१० इंच लम्बे तथा रूपरेखा में लट्वाकार एवं स्थायी (*Persistent*) होते हैं। बाह्य कोषनलिका (*Calyx-tube*) बहुत छोटी होती है। दलपत्र संख्या में ४ तथा कुछ सिकुड़े हुए (*Wrinkled*) होते हैं। पुंकेशर संख्या में ८ होते हैं, जो दलपत्रों के बीच-बीच में एक-एक साथ दो-दो करके चार युग्मों में होते हैं। कुक्षिवृन्त अपेक्षाकृत बड़ा तथा डिम्बाशय चार कोष्ठीय होता है, जिसमें अनेक बीजीभव (*Ovules*) होते हैं, जो अक्षलग्न (*Axile*) होते हैं। फल (*Capsule*) मटर की तरह गोलाकार (व्यास में ०.५ सें० मी० या ⅕ इंच) होते हैं। बीज छोटे-छोटे तथा कोणाकार (*Angular*) होते हैं। मेंहदी में प्रायः साल भर पुष्प-फल लगते रहते हैं। पुष्पों से इत्र प्राप्त किया जाता है, जिसे 'हिना' कहते हैं। पत्तियों को जल में पीस कर स्त्रियाँ हाथ-पैर के तलवों में लगाती हैं, जिससे उनकी रंगत लाल हो जाती है। पत्र, छाल, पुष्प एवं बीज आदि का व्यवहार औषधियों में भी होता है।

उपयोगी अंग – पत्र, पुष्प, बीज ।

मात्रा – बीज चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा । स्वरस–६ ग्राम से ११.६ ग्राम या ६ माशा से १ तोला । केशरञ्जक के रूपमें पत्र–आवश्यकतानुसार ।

संग्रह एवं संरक्षण – पत्र एवं पुष्प प्रायः ताजे प्राप्त किये जा सकते हैं। सूखी पत्तियों एवं बीजों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मिलने वाली सूखी पत्तियों में समूची तथा टूटी दोनों प्रकार की पत्तियाँ होती हैं तथा इनमें पतले काण्ड के छोटे-छोटे टुकड़े एवं शुष्क फल भी मिले होते हैं। पत्तियाँ भूरे या हरिताभ भूरे या मटमैले हरे रंग की होती हैं। रूपरेखा में यह भालाकार अथवा अंडाकार तथा अग्रपर लोमयुक्त और सरल धार वाली और १–२ इंच लम्बी, ½ से ¾ इंच तक चौड़ी होती हैं। इनमें चाय-जैसी हल्की गंध होती है तथा स्वाद में कुछ मधुर एवं लुआबी होती हैं। फल छोटे-छोटे गोल एवं भूरे रंग के होते हैं, जिनमें भूरे रंग के छोटे-छोटे त्रिकोणाकार बीज होते हैं। पत्तियों का जलीय क्वाथ नारंग भूरे रंग का होता है, जो क्षार के सम्पर्क से और भी गाढ़ा हो जाता है। पत्तियों से कम से कम २५% जलीय सत्व प्राप्त होता है, तथा अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम ४% तक मिलता है ।

संगठन – पत्र में एक रंजक द्रव्य (१२% से १५%), टैनिक एसिड (हेन्नो-टैनिक एसिड *Hennotannic acid*) तथा एक जैतूनी हरे रंग का ईथर एवं ऐल्कोहल् में विलेय राल (रेजिन) पाया जाता है। पुष्पों में एक सुगंधित तेल (इत्र) पाया जाता है, जिसे रोग़न या 'इत्र हिना' कहते हैं। बीजों में भी एक प्रकार का तेल पाया जाता है ।

वीर्यकालावधि – बीज–१ वर्ष । पत्र–३–६ माह ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष । रस–तिक्त, कषाय । विपाक–कटु । वीर्य–शीत । कर्म–कफपित्तशामक । पत्र – लेप रूप में स्थानिक प्रयोग से वेदनास्थापन, दाहप्रशमन, केश्य एवं केशरञ्जक, वर्ण्य, शोथहर, कुष्ठघ्न तथा व्रणशोधन एवं रोपण होते हैं और आभ्यन्तर प्रभाव से यकृदुत्तेजक होते हैं। पुष्प – मेध्य, निद्राजनन, हृद्य, रक्तप्रसादन, रक्तस्तम्भन, शोथहर, एवं ज्वरघ्न। बीज – स्तम्भक एवं अतिसार–प्रवाहिका नाशक हैं। यूनानी मतानुसार मेहदी शीत और उष्ण इन उभय वीर्यों का यौगिक है। इनमें उष्ण वीर्य प्रधान है। किंतु शीतवीर्य की शक्ति बहुत शीघ्र प्रगट होती है, इसीलिए इसकी प्रकृति दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष वर्णन की जाती है ।

मैंदा लकड़ी

नाम । हिं०–मैंदा लकड़ी; मेद (मिर्जापुर)। संथा०–चिउर। माल०–पोरजो, पोजो। (देहरादून)–चंदना। पं०–मेदासक । मा०–कर्कमेदा, मैदालकड़ी । गु०, म०–मेदा लकड़ी। अ०–मगासे हिंदी। फा०–किल्ज़? ले०–लीट्सेआ ग्लूटीनोसा *Litsea glutinose* (*Laur.*) *Robins.* (पर्याय–*L. chinensis Lam.*; *L. sebifera Pers.*) ।

वानस्पतिक कुल – कर्पूर-कुल (लाउरा से : *Lauraceae*) ।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष के उष्ण प्रदेशीय जंगलों (विशेषतः बंगाल, बिहार, सहारनपुर, दून, मिर्जापुर, मध्यप्रदेश आदि) में मैंदा लकड़ी के स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। इसके वृक्ष प्रायः घाटियों तथा छायादार नालों के पास मिलते हैं। इसका संग्रह मुख्यतः मध्य भारत के जंगलों में किया जाता है, जहाँ से यह अन्य बाजारों को भेजा जाता है। मैंदा लकड़ी की छाल (*Inner Bark*) बाजारों में सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – मैंदा लकड़ी के मध्यम कद के सदाहरित वृक्ष होते हैं, जिसकी पत्तियाँ मसल कर सूंघने पर गंध युक्त होती हैं; और उनकी रूपरेखा तथा परिमाण में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। साधारणतया यह अण्डाकार प्रासवत् और लम्बाग्र, लगभग चिकनी तथा १.२५ से ३.७५ सें० मी० (।।–१।। इंच) लम्बे पर्णवृन्त युक्त होती है। पत्तियों का अधःपृष्ठ धूसर वर्ण का होता है। पुष्प सवृन्त मूर्धज गुच्छों में रहते हैं। फल लगभग गोला तथा व्यास में ⅓ इंच होता है, जो गदाकार वृन्त पर स्थित होता है। ग्रीष्म-वर्षा में पुष्प तथा जाड़ों में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग–अन्तस्त्वक् या अन्दर की छाल (*Inner Bark*)।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मैंदा लकड़ी की छाल २.५ मि० मी० से ७.५ मि०मी० या ⅒ से ³⁄₁₀ इंच तक मोटी, मुलायम, कार्कयुक्त तथा काले धूसर या गँदले लाल रंग की होती है। छाल को जल में भिगोने से काफी चिकनी और पिच्छिल (लुआबी) हो जाती है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की हल्की सुगंधि पायी जाती है। छाल में भी

वल्सा-जैसी गंध होती है। पुरानी छाल में प्राय: सुगंधि तो नष्ट हो जाती है, किन्तु लुवावी मात्रा ज्योंकी त्यों बनी रहती है। सूक्ष्मदर्शक से परीक्षण करने पर तनु-भित्तिक ऊति (*Parenchyma*) में म्युसिलेज कोशाएँ पायी जाती हैं तथा इसमें काफी मात्रा में रक्ताभ भूरे रंग का रंजक तत्त्व पाया जाता है। छाल में अश्म-कोशाओं (*Stone cells*) का भी स्तर पाया जाता है। भस्म–४.६% । ऐल्कोहल्‌विलेय सत्व–१४.२ ।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – मैदा की एक दूसरी जाति (*Litsea polyantha Juss.*) भी पायी जाती है, जिसकी छाल भी उपर्युक्त मैदा की ही भांति प्रयुक्त की जाती है। नाम—मैदा लकड़ी–हिं०; कारका (देहरादून), पोरजो, पोजो (संथा०, को०); कुकुरचीता–(वं०)। बघलाल (माल०, प०); मोटवा (था०)। इसकी पत्तियाँ अधःपृष्ठ पर मुरचई रंग की होती हैं। इसकी छाल तथा पत्तियों को मसल कर सूंघने से दालचीनी की कुछ गंध आती है। इसके वृक्ष हिमालय की तराई में आसाम तक (३,००० फुट की ऊंचाई तक) तथा बिहार, सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियों एवं कोरोमण्डल में अधिक मिलते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – मैदा की छाल को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – मैदा की छाल में लारोटेटानीन (*Laurotetanine*) नामक क्षारोद पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक; शोथहर, वेदनास्थापन, नाड़ीबल्य, आक्षेपहर, दीपनग्राही, कफनिःसारक, वाजीकरण आदि। युनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में उष्ण तथा पहले में रूक्ष है। यह विलयन, संग्राही, नाड़ीबलदायक, दीपन, कामोत्तेजक और श्वयथुविलयन होती है। अस्थिभग्न, मोच, आघात-प्रत्याघात, नाड़ियोंमें बल पड़ जाना और कड़ाई के लिए विलीन एवं मृदु करणार्थ गिलअरमनी या अन्य उपयुक्त द्रव्यों के साथ इसका लेप करते हैं। कटिशूल, आमवात, गृध्रसी, वातरक्त, आक्षेप, कामावसाद और अस्थिभग्न आदि रोगों में शहद के साथ खिलाते हैं।

मैनफल (मदनफल)

नाम। सं०–मदनफल। हिं०–मैनफल, मदनफल। अ०–जौज़ुलक़ै। अं०–इमेटिकनट (*Emetic Nut*)। लै०–रांडिया डूमेटोरुम (*Randia dumetorum Lam.*)।

वानस्पतिक कुल – मंजिष्ठादिकुल (रूबिआसे *Rubiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारत के पर्वतीय प्रदेशों में।

संक्षिप्त परिचय–वृक्ष–गुल्मजातीय, कंटकयुक्त, ऊंचाई साधारण। तना–साधारण, दृढ़। शाखा–तीक्ष्ण, कंटकयुक्त। पत्र–मसृण, हरित, अपामार्ग पत्रों के समान। पुष्प–छोटे, हरिताभ श्वेत, पीताभ। पुष्पकाल–ज्येष्ठ। फल–छोटे, अमरूद के आकार के, पील किंचित् रक्तिमा युक्त, अन्तर्भाग चार भागों में विभक्त। बीज–प्रत्येक फल चार बीज युक्त। बीजवर्ण–कृष्ण।

उपयोगी अंग – फल एवं बीज।

मात्रा – फलचूर्ण–१ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – शुष्क मदनफल गोलाकार अथवा अण्डाकार तथा लालिमा लिये भूरे रंग का होता है। मैनफल के ताजे फल में ताजे सिझाये हुए चमड़े की भांति उग्र गंध पायी जाती है। फल कोष्ठ में खाकस्तरी गूदा होता है, जिसमें इतस्ततः बीज बिखरे होते हैं। गूदा स्वाद एवं गन्ध में उत्क्लेशकारी होता है। औसतन एक फल में लगभग १ माशा गूदा प्राप्त होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पीत वर्ण के पके हुए बड़े फलों को शीत काल में ग्रहण कर कुशा से आवृत कर दें और ऊपर से गोबर लगा कर धूप में सुखा लें। इसके पश्चात् मटर, उड़द या कुल्थी की राशि में ८ दिवस पर्यन्त रखा रहने दें। इससे फल कोमल और मधुगंधि हो जाते हैं। शुष्क होने पर फल और बीज को निकाल लें। इनको घृत, दधि, मधु अथवा तिल की पीठी में मसल कर सुखा कर धो डालें और पुनः सुखा कर एक स्वच्छ घड़े में मुखबन्द कर औषधि कार्य हेतु रख लें।

संगठन – सैपोनिन, वलेरिक एसिड, राल (रेज़िन), मोम तथा कुछ रंजक पदार्थ।

वीर्यकालावधि – १–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–मधुर, तिक्त, कषाय, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–वमन।

मुख्य योग – मदनादि लेप।

विशेष – (१) निघण्टुओं में भ्रम से करहाट को मदन-

फल का पर्याय माना गया है। किन्तु यह भ्रमपूर्ण ही ज्ञात होता है। करहाट को मदन से भिन्न द्रव्य मानना चाहिए। राजनिघण्टुकार ने (प्रभद्रादि वर्ग) में इसका वर्णन महापिण्डी के नाम से किया है। इसका लेटिन नाम गार्डेनिआ टूर्जिडा (*Gardenia turgida Roxb.*) है।

(२) प्राचीन अरबी हकीम रक़अ यमानी *Trichilia emetica* को जीजुलक़ै कहते थे। मदनफल को 'जीजुलक़ै हिन्दी' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

(३) चरककोक्त (सू० अ० १) एकोनविंशतिफलिनी द्रव्यों में तथा (सू० अ० २) वमन द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) आरग्वधादि एवं मुष्ककादि ऊर्ध्वभागहर गण के द्रव्यों में मदनफल भी है।

मौलसिरी (वकुल)

नाम। सं०–वकुल। हिं०–मौलसरी, मौलसिरी। वं०, म०–वकुल। गु०–बोलसरी। पं०, मा०–मौस, वकुल। ले०–मीमूसॉप्स एलेंगी (*Mimusops elengi Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – मधूक-कुल (सापोटासे : *Sapotaceae*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी घाट के जंगलों में मौलसिरी के वृक्ष प्रचुरता से मिलते हैं। समस्त भारतवर्ष में बग़ीचों, सड़कों के किनारे तथा घरों के सामने इसके लगाये हुए वृक्ष इतस्ततः मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – मौलसिरी के सघन चिकने पत्रयुक्त, सदाहरित, एवं मध्यम कद के (कभी-कभी ऊँचे) वृक्ष होते हैं। काण्डस्कन्ध (*Trunk*) अपेक्षाकृत छोटा तथा सीधा होता है, जिससे शाखा-प्रशाखाएँ निकल कर चारों ओर फैली रहती हैं, जो सघन पत्रों को धारण करती हैं। पत्तियाँ चिकनी तथा ६.२५ से १० सें० मी० या २।।–४ इंच लम्बी, ३.१२५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १। से २ इंच तक चौड़ी एवं रूप-रेखा में अंडाकार तथा अग्र पर यकायक नुकीली, आधार की ओर फलक गोलाकार अथवा उत्तरोत्तर कम चौड़ा (*Acute*) होता है। इसके पुष्प सफेद रंग के तथा अत्यंत सुगंधित होते हैं, जो अकेले या मञ्जरियों (*Fascicles*) में निकलते हैं। पुष्पवृन्त ६.२५ मि० मी० से २० मि० मी० या $\frac{1}{4}$ से $\frac{3}{4}$ इंच तक लम्बे होते हैं। वाह्य कोष $\frac{3}{8}$ इंच लम्बा तथा ८ खण्डों से युक्त होता है, जो दो श्रेणियों (४ आभ्यन्तर और ४ वाह्य) में होते हैं। आभ्यन्तर कोष (*Corolla*) वाह्य कोश से बड़ा होता है और २४ खण्डों (*Lobes*) से युक्त होता है, जिनमें ८ अन्दर की ओर, और १६ बाहर की पंक्ति में स्थित होते हैं। आभ्यन्तर कोपनलिका $\frac{1}{16}$ इंच तक लम्बी तथा खण्ड (*Lobes*) $\frac{1}{4}$ इंच लम्बे और रेखाकार आयताकार तथा अग्र पर नुकीले होते हैं। पुंकेशर ८ तथा आभ्यन्तर कोष के अन्दर वाले ८ खण्डों के सामने स्थित होते हैं। क्लीवकेशर भी ८ होते हैं जो प्रगल्भ पुंकेशरों के बीच-बीच में स्थित होते हैं। सूखने पर भी पुष्पों में सुगंधि बनी रहती है। कुक्षिवृन्त आभ्यन्तर कोष से बड़ी तथा खातोदर (*Grooved*) होती है। फल (*Berry*) १ इंच तक लम्बा, अंडाकार कच्ची अवस्था में हरा, कसैला और दूधयुक्त पकने पर पीत या नारंग पीत वर्ण का हो जाता है, जो देखने में कुछ-कुछ खिरनी के फलों की तरह लगता है, और स्वाद में कसैलापन के साथ कुछ मीठा भी हो जाता है। प्रत्येक फल में एक बीज होता है, जो अंडाकार किन्तु चपटा तथा चमकीले भूरे रंग का होता है। ग्रीष्म से शरद् ऋतु तक इसमें पुष्प रहते हैं और बाद में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – त्वक्, पुष्प, फल।

मात्रा – छाल चूर्ण — २ से ४ माशा।
पुष्प चूर्ण — १ से २ माशा।
छाल क्वाथार्थ — ६ माशा से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – मौलसिरी की छाल बाहर से खाकस्तरी रंग की तथा अन्तस्तल पर लाल रंग की और रेखांकित (*Coarsely striated*) होती है। अन्तर्वस्तु (*Substance of the bark*) लाल रंग की होती है। ताजी छाल को तोड़ने पर दूध-सा स्राव भी निकलता है। सूखी छाल को तोड़ने पर खट से टूट जाती है; तथा टूटे तल पर जगह-जगह सफेद बिन्दु से (*White specks*) पाये जाते हैं। स्वाद में यह तीती, कसैली एवं लुवावी होती है। छाल को जलाने पर ६.४% तक भस्म प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – मौलसिरी की छाल एवं पुष्पों को मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – मौलसिरी की छाल में टैनिन (कषाय द्रव्य), रंजक द्रव्य, मोमीय पदार्थ (*Wax*) स्टार्च एवं क्षार या भस्म पायी जाती है। पुष्पों में एक सुगन्धित उड़नशील तेल पाया जाता है। बीजों में एक स्थिर तैल (*Fixed oil*)

पाया जाता है। फलमज्जा में शर्करा तथा सैपोनिन पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – छाल एवं पुष्प–१ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु। रस–कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–अनुष्ण। कर्म–कफपित्तशामक; दन्तदाढर्यकर, ग्राही, रक्तस्तम्भक, स्रावस्तम्भक, शुक्रस्तम्भक, गर्भाशय शैथिल्यहर, ज्वरघ्न, विषघ्न। पुष्प–मस्तिष्क बल्य, सौमनस्यजनन, हृद्य। यूनानी मतानुसार मौलसिरी के पुष्प गरम और खुश्क (रुक्ष) तथा फल एवं छाल शीत एवं रूक्ष हैं। फूल अपने मनोरम सुगंध के कारण मनःप्रसादकर, हृद्य और मेध्य तथा फल और त्वक् संग्राही, वेदनास्थापन और उपशोषण। विशेषकर योनिस्रावनाशक एवं शुक्रमेहघ्न होते हैं। फूलों का सेवन अर्क या चूर्ण के रूप में करते हैं। अहितकर–आनाहकारक और संग्राही। निवारण–स्नेह और मधु।

मुख्य योग – बकुलाद्य तैल, बकुल पुष्पार्क।

विशेष – दंतमंजन-चूर्णों में डालने के लिए मौलसिरी की छाल एक उत्तम द्रव्य है।

यव – दे०, 'जौ'

यवास – दे०, 'जवासा'

युकेलिप्टस (तैलपर्णी)

नाम। सं०–तैलपर्णी। हिं०–युकेलिप्टस। ले०–एउकालीप्टुस् ग्लोबूल्लुस (*Eucalyptus globulus Labill.*)।

वानस्पतिक कुल – लवङ्ग-कुल (मीर्टासे : *Myrtaceae*)।

प्राप्तिस्थान – युकेलिप्टस आस्ट्रेलिया का आदिवासी वृक्ष है। दक्षिण भारत में नीलगिरी, अन्नामलाई एवं पालनी की पहाड़ियों पर इसके वृक्ष लगाये गये हैं। शिमला एवं आसाम में शिलांग में भी काफी मात्रा में इसके वृक्ष लगाये गये हैं। अन्यत्र भी सौन्दर्य के लिए लगाये हुए इसके वृक्ष मिलते हैं। इसकी पत्तियों से आसवन द्वारा एक उड़नशील सुगंधित तैल पाया जाता है, जिसे 'यूकेलिप्टस का तेल' कहते हैं। यह बाजारों में बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – युकेलिप्टस के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष होते हैं, जिनका काण्डस्कन्ध काफी ऊँचा तथा सरल होता है। काण्डत्वक् लम्बे-लम्बे तथा कागज की तरह पतले, पर्तों में उतरती है, जिसके बाद वृक्ष काण्ड सर्वत्र नीलाभ चमकीला एवं चिकना मालूम होता है। पत्तियाँ २० से २५ सें० मी० या ८ से १० इंच लम्बी, रूपरेखा में हँसिया की भाँति, सवृन्त तथा नीलाभ चमकीली हरी होती हैं। शाखाग्रों एवं छोटे पौधों की पत्तियाँ अपेक्षाकृत छोटी रूपरेखा में कुछ हृदयाकार तथा अवृन्त (*Sessile*) होती हैं। पत्तियों में तैल बिंदु पाये जाते हैं, जिससे इनको मसलने पर युकेलिप्टस के तेल की भाँति उग्र सुगंध आती है। व्यावसायिक एवं औषधीय युकेलिप्टस आयल इन्हीं पत्तियों से प्राप्त किया जाता है। पुष्प बड़े तथा पत्रकोणों में १–३ तक निकलते हैं, जो प्रायः अवृन्त या छोटे वृन्तयुक्त होते हैं। फल (*Capsule*) १.२५ से २.५ सें० मी० या ॥–१ इंच तक व्यास के, कोणाकार होते हैं, जिनका स्फुटन ढक्कन के रूप में होता है।

उपयोगी अंग – पत्र एवं युकेलिप्टस का तेल।

मात्रा – पत्रचूर्ण—$\frac{1}{2}$ से $\frac{5}{4}$ ग्राम या ४ से १० रत्ती।
तेल—२ से ५ बूंद।
वाह्य प्रयोगार्थ—आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – युकेलिप्टस का तेल रंगहीन अथवा पीताभ वर्ण के द्रव के रूप में होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की (कुछ-कुछ कर्पूर से मिलती-जुलती) उग्र सुगंधि पायी जाती है। स्वाद में यह तीक्ष्ण (*Pungent*) तथा कर्पूरसम होता है और बाद में मुँह में शैत्य का अनुभव होता है। विलेयता–जल में अत्यल्प मात्रा में घुलता है, किन्तु तेलों, वसा एवं डिहाइड्रेटेड ऐल्कोहल् में अच्छी तरह घुल जाता है। ऐल्कोहल् (८०%) की बराबर मात्रा में भी घुलनशील होता है। आपेक्षिक घनत्व (१५° पर)–०.९०६५ से ०.९१६५। अपवर्तनाङ्क (*Refractive index at* २०°)–१.४५८०–से १.४७००। आप्टिकल रोटेशन (*Optical rotation*)—५° से + १०°।

संग्रह एवं संरक्षण – युकेलिप्टस तैल को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में तथा ठंढी एवं अंधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – युकेलिप्टस तेल में मुख्यतः (लगभग ६२% तक) सिनिओल (*Cineol*) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त (२४% तक) पाइनीन्स (*Pinenes*) (५% सेस्क्विटर्पीन ऐल्कोहल्स (*Sesquiterpene alcohols*) तथा अल्प मात्रा में अन्य ऐल्डिहाइड्स एवं ऐल्कोहल्स पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – तैल–दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। [रस–कटु, तिक्त,

कषाय । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । कर्म–कफवात शामक, जीवाणुवृद्धिरोधक, जीवाणुनाशक, उत्तेजक, वेदनास्थापन, कफघ्न, श्लेष्मपूतिहर, मूत्रजनन, स्वेद-जनन, ज्वरघ्न, मालिश के लिए प्रयुक्त वायुनाशक तैलों में युकेलिप्टस का तेल भी मिलाया जाता है। पार्श्वशूल, संधिशोथ आदि में सर्षप तैल के साथ युके-लिप्टस का तैल मिला कर मालिश करने से गम्भीर शोथ का विलयन तथा वेदना का शमन होता है। प्रतिश्याय, जीर्णकास एवं दुर्गन्धित ष्ठीवन में रूमाल पर तैल छिड़क कर सूंघते हैं अथवा युकेलिप्टस की पत्तियों का फाण्ट (पत्रचूर्ण–१ तोला २० गुने उबलते जल में डालकर, १० मिनट बाद उतार कर छान लें) देते हैं। व्रणशोधन कर्म के लिए इसे पंचगुण तैल आदि योगों में मिलाते हैं।

मुख्य योग – सप्तगुण तैल।

रतनजोत

नाम। हिं०, भा० बाजार–रतनजोत । अ०–शंजार, अबु-खल्सा। अं०–अल्कानेट (*Alkanet*)। अंग्रेजी अल्कानेट व्युत्पन्न है अरबी 'अल् खना' से जिसका प्रयोग 'अल्हिना' या मेंहदी (*Lawsonia alba Lam.*) के लिए किया जाता था। उक्त नाम इसके लाल रंजक गुण के कारण रखा गया है।

वर्णन – रतनजोत कुछ औषधियों की जड़ है, जो गहरे लाल रंग की होती है। इससे जल और तेल लाल हो जाते हैं। चिकित्सा में इसका प्रधान उपयोग भैषज्य-कल्पना में तेलों को लाल रंग लाने के लिए किया जाता है। **ओनोस्मा हूकेरी** (*Onosma hookeri Clarke*) तथा **आरूएबिआ** (*Arnebia*) की कतिपय जातियों की जड़ों का संग्रह अफगानिस्तान में 'रंगे बादशाह' के नाम से किया जाता है। उक्त जड़ भारतीय बाजारों में रतन-जोत के नाम से बिकती है। चीन से भी रतनजोत आती है, जो सम्भवतः आल्कान्ना टींकोरिआ (*Alkanna tinctoria Tausch.*) की जड़ें होती हैं। रतनजोत से प्राप्त लाल विलयन क्षारों के सम्पर्क से नीले रंग का हो जाता है। **लालजड़ी**–जेरानिउम वालीचिआनुम *Geranium wallichianum Sweet.* (*Family : Geraniaceae*)– इसके ३० से० मी० से १२० से० मी० या १–४ फुट ऊँचे, रोमयुक्त तथा बहुवर्षायु क्षुप होते हैं, जिसका मूल स्तम्भ (*Rootstock*) काफी स्थूल तथा लाल होता है। यह समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में (२१३३.६ मीटर से ३३३७.७ मीटर या ७,०००–११,००० फुट की ऊंचाई तक) विशेषतः कुर्रम की घाटी, कश्मीर, शिमला एवं कुमायूं आदि क्षेत्रों में पायी जाती है। काण्ड स्थूल एवं स्वावलम्बी होता है। पत्तियाँ रूपरेखा में गोलाकार (*Orbicular*) व्यास में ५ सें० मी० से १२.५ सें० मी० या २–५ इंच तथा करतलाकार खण्डित (३–५ खण्डों युक्त) होती हैं। विच्छेद नुकीले, दन्तुर धार वाले तथा मेखाकार (*Wedge-shaped*) होते हैं। अनुपत्र (*Stipules*) आयताकार लट्वाकार तथा १.२५ से २.५ सें० मी० या ½–१ इंच लम्बे होते हैं। पुष्प व्यास में ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० (१॥–२ इंच) तथा नीले बगनी होते हैं। पुष्पागम जुलाई से सितम्बर तक होता है। इसकी जड़ों से भी लाल रंग आ जाता है। इसका संग्रह रतनजोत के नाम से किया जाता है।

राई (राजिका)

नाम। सं०–राजिका, आसुरी, तीक्ष्णगंधा। हिं०, गु०–राई। म०–मोहरी। पं०–ओहर । बं०–राई सरिषा। सिंध–अहुरि। अं०–इन्डियन मस्टर्ड (*Indian Mustard*)। ले०–ब्रास्सिका जुंसेआ (*Brassica juncea Czern & Coss.*)।

वानस्पतिक कुल – सर्षप-कुल (क्रूसीफ़ेरे, *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तरी एवं दक्षिणी भारत। विशेषतः मद्रास प्रान्त में इसकी प्रचुरता से खेती की जाती है। राई के बीज पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – राई के एकवर्षायु कोमल काण्डीय या शाकीय क्षुप होते हैं, जो आपाततः देखने में सरसों के पौधों की भाँति लगते हैं; किन्तु इसकी पत्तियाँ सरसों की भाँति काण्डसंसक्त नहीं होतीं। पत्रादि की रूपरेखा में बहुत भिन्नता पायी जाती है। इसके पुष्प हल्के पीले रंग के होते हैं, जो नम्य मञ्जरियों में निकलते हैं। फली सवृन्त तथा ३.१२५ सें० मी० से ५.६२५ सें० मी० (१। से २। इंच) लम्बी कुछ-कुछ त्रिपार्श्विक होती है। जिसमें बैंगनी आभा लिये भूरे रंग के छोटे-छोटे बीज निकलते हैं।

उपयोगी अंग – पक्व शुष्क बीज एवं उनसे प्राप्त तैल।

मात्रा – वीज चूर्ण—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा। वाह्य प्रयोग के लिए–आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – राई के वीज भूरे रंग के अथवा कभी पीताभ वर्ण के, देखने में सरसों के वीजों की भाँति किन्तु अपेक्षाकृत छोटे (२.०८३ मि० मी० या ₁₂ इंच) होते हैं। इसमें अन्य सेन्द्रिय अपद्रव्य एवं वीजों का मिलावट अधिकतम ५% होता है, तथा एलिल आइसोथायोसायनेट की मात्रा कम से कम ०.६% होती है। तेल–राई का तेल भूरापन लिये पीले रंग का अथवा सुनहले पीले रंग का द्रव होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में अत्यन्त तीक्ष्ण (*Pungent*) होता है। मिलावट – राई के वीजों में कभी-कभी स्वर्णक्षीरी या भड़भाड़ (*Argemone mexicana Linn. Family : Papaveraceae*) के वीजों का तथा तेल में स्वर्णक्षीरी वीजों के तेल का मिलावट किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – वीजों को मुखवंद डिब्बों में तथा तेल को अच्छी तरह डाटवंद शीशियों में रखना चाहिए।

संगठन – वीजों में २०%–२५% स्थिर तैल तथा अल्प मात्रा में एक उड़नशील तेल प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि – वीज—२ वर्ष। तैल—कई वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–वातकफनाशक। वीजों का लेप शोथहर, लेखन, विदाही, स्फोटजनन एवं वेदना स्थापन, मौखिक सेवन से दीपन-पाचन, शूलहर, कृमिघ्न प्लीहावृद्धिनाशक, अधिक मात्रा में प्रयुक्त करने पर वामक, रक्तपित्तकोपक, स्वेदजनन आदि। अहितकर—अधिक सेवन से तृष्णा, दाह आदि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। निवारण—इसके निवारण के लिए पित्तशामक मधुर-स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

राल (शालनिर्यास)

नाम। (१) वृक्ष। सं०–शाल, धूपवृक्ष। हिं०–साल, साखू, सखुआ। वं०–शाल। म०, गु०–शालवृक्ष। को०, संथा०–सर्जम्। था०, खर०–सखुवा। ता०–कुंगिलियम्। अं०–शाल ट्री (*Sal Tree*)। ले०–शोरेआ रोबुस्टा (*Shorea robusta Gaertn. f.*)।

(२) शालनिर्यास (राल)। हिं०, द०, म०, गु०–राल। वं०–धुना। अ०–रातीनज, रातियानज, कैकहर। फा०–रतियानः, लाल मोअब्बरी (मग़रबी)। अं०–रेजिन (*Resin*), रोजिन (*Roisin*)। ले०–रेजिना (*Resina*)।

वानस्पतिक कुल – शाल-कुल (डिप्टेरोकार्पासे (*Diptero-carpaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय की तराई तथा वाहरी पर्वत-श्रेणियों में १५२३ मीटर या ५,००० फुट की ऊँचाई तक शाल के समूहवद्ध वन पाये जाते हैं। पंजाव में अम्वाला जिले से कलेसर के जंगलों से लेकर तराई के किनारे-किनारे पूरव में आसाम तक, संथाल परगना, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, विजिगापट्टम्, पंचमढ़ी एवं कोरोमण्डल आदि में इसके वन मिलते हैं इसके तने पर चीरा लगाने से प्राप्त राल वाजारों में विकता है। राल का आयात सिंगापूर आदि से भी होता है।

संक्षिप्त परिचय – साल के ऊंचे-ऊंचे सीधे, पर्णपाती वृक्ष होते हैं, किन्तु वृक्ष विल्कुल पत्ररहित या नग्न कभी नहीं होता। छोटे वृक्ष की छाल तो कालिमा लिये भूरे रंग की कोमल किन्तु वड़े और पुराने वृक्षों की काफी मोटी, खुरदरी और अनुलंव दिशा में फटी हुई या दरारयुक्त होती है। पत्तियाँ १० से ३० सें० मी० या ४–१२ इंच लम्वी, ५ से १७.५ सें० मी० या २–७ इंच चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार-आयताकार, लम्वाग्र, मजवूत एवं चर्मिल, चिकनी एवं चमकदार तथा सरल धार, एकान्तर क्रम से स्थित, आधार की ओर गोलाकार या हृदयाकार, डंठल वेलनाकार (*Terete*) एवं १.२५ सें० मी० से २ सें० मी० या ½ से ⅘ इंच लम्वा होता है। पुष्प श्वेताभ पीत प्रायः विनाल या छोटे वृन्त वाले (*Subsessile*) सफेद रोयें से आवृत, शाखाग्र-लग्न या पत्रकोणोद्भूत गुच्छेदार मञ्जरियों (*Large lax terminal or axillary racemose panicle*) में निकलते हैं। फल लगभग १.२५ सें० मी० या ॥ इंच लम्वा, अंडाकार तथा अग्र की ओर नुकीला पहले सफेद (*White pubescent*) तथा पकने पर धूसर वर्ण का किंचित् मांसल और अस्फोटी होता है, जिसमें ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच लम्बे ५ चमसाकार (*Spathulate*) पक्ष लगे होते हैं। इससे प्राप्त राल का उपयोग धूपन के लिए तथा चिकित्सा में लेप या पलस्तर (*Plasters*) एवं मलहम वनाने के लिए किया जाता है। गरीव लोग अकाल के समय वीजों का आटा

बना कर खाते हैं। इससे प्राप्त एक स्थिर तैल जलाने के काम में लाते है। नवीन पत्तियाँ एवं पुष्पागमकाल–मार्च, अप्रैल। फलागम–मई, जून में होता है।

उपयोगी अंग – निर्यास (राल) एवं (छाल, त्वक्)।

मात्रा – त्वक् क्वाथ — २।। से ५ तो०।

राल चूर्ण — १ ग्राम से २ ग्राम या १ से २ माशा।

मलहम एवं लेप के लिए—आवश्यकतानुसार।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – ताजा शालनिर्यास या राल तो प्रायः रंगरहित होता है, परन्तु पुराना गाढ़े भूरे रंग से लेकर हल्के अम्बरी रंग का होता है। यह प्रायः गंध एवं स्वादरहित होता है और जलाने पर धूप की तरह जलता है। ऐल्कोहल् में तो यह अंशतः (१००० भाग में ८० भाग) घुलता है, किन्तु ईथर में प्रायः पूर्णतः घुल जाता है तथा तारपीन के तेल में और अन्य स्थिर तेलों (*Fixed oils*) में खूब अच्छी तरह हल हो जाता है। सल्फूरिक एसिड (गंधकाम्ल) में घोलने पर लाल रंग का विलयन प्राप्त होता है। राल का आपेक्षिक गुरुत्व १.०९७ से १.१२३ होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – राल को अच्छी तरह मुखबंद डिब्बों में रखना चाहिए।

संगठन – इसकी छाल में कषाय द्रव्य होते हैं, जो जल में उबालने पर खदिरसार के समान प्राप्त होते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल पर्यन्त।

स्वभाव – राल। गुण–लघु, रुक्ष। रस–कषाय, मधुर, विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। इसकी छाल कषाय, कटु, तिक्तरस एवं शीतवीर्य होती है। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। व्रणों में यह कोथ प्रतिबंधक और व्रणलेखन कर्म करती है। आन्तरिक उपयोग से फेफड़ों पर इसका कोथ प्रतिबंधक और काफोत्सारि कर्म होता है। व्रणों एवं अनेक त्वक् रोगों में प्रयुक्त मलहरों में यह मुख्य आधार-द्रव्य के रूप में पड़ती है। हाथ पैर का फटना या बिवाई में इसे मक्खन में मिला कर लगाते हैं।

मुख्य योग – सर्जरसादि मलहर, अतस्यादि लेप।

रास्ना

नाम। सं०–रास्ना। हिं०–रासन, रोशना। (इटावा)–वायसुरई। अलीगढ़–बनसरई। कानपुर–सोरही, सुरही। पं०–रसन। गु०–रासना, रोशन। बम्ब०–कुरास्ना। (आगरा)–छोटी कलिया। ले०–प्लूचेआ लांसेओलाटा (*Pluchea lanceolata Oliver & Hiern.*)।

वानस्पतिक कुल – मुण्डी-कुल (कॉम्पोजीटे : *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – उक्त रास्ना के स्वयंजात क्षुप पंजाब, सिंध एवं उत्तर प्रदेश में प्रचुरता से पाये जाते हैं। बाजारों में रास्ना नाम से इसी की जड़ अथवा पंचाङ्ग मिलता है। रास्ना के स्थान में इसी का व्यवहार होना चाहिए।

संक्षिप्त परिचय – रास्ना या वायसुरई के एक वर्षायु १.२ से १.५ मीटर या ४–५ फुट तक ऊंचे, बहुशाखी गुल्मक होते हैं, जिसमें अनेक पतली-पतली शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं जो खाकस्तरी सूक्ष्म रोमावृत्त होती हैं। पत्तियाँ २.५ से ५ सें० मी० या १ से २। इंच तक लम्बी, ६.२५ मि० मी० से १२.५० मि० मी० या ¼ से ½ इंच चौड़ी प्रायः अवृन्त, चर्मिल (*Coriaceous*), रूपरेखा में आयताकार या भालाकार, कुण्ठिताग्र, अग्र पर तीक्ष्ण रोमयुक्त अर्थात् तीक्ष्णाग्र (*Apiculate*), आधार की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़ी तथा दोनों पृष्ठों पर खाकस्तरी सूक्ष्म रोमावृत और सरल धार वाली होती हैं। पुष्प समशिख संयुक्त मुण्डकों (*Heads in compounds corymbs*) में निकलते हैं। अधः पत्रावली या निचक्र के बाह्य कोण पुष्पक या निपत्र आयताकार, कुण्ठिताग्र तथा मृदुरोमश होते हैं, तथा कभी-कभी रंग में बैंगनी आभा लिये होते हैं। अन्दर के निपत्र रेखाकार (*Linear*) तथा संख्या में कम होते हैं।

उपयोगी अंग – मूल, पत्र।

मात्रा – ३ ग्राम से ११.६ ग्राम या ३ माशा से १ तोला।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – रास्ना एक संदिग्ध द्रव्य है। इस नाम से भिन्न-भिन्न द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रान्तों में व्यवहृत होते हैं। किन्तु रास्ना के स्थान में उपर्युक्त वायसुरई नाम से प्रसिद्ध औषधि का ही ग्रहण होना चाहिए। (१) बंगाल, बिहार में रास्ना के स्थान में बाँदा (वांडा रॉक्सबुर्घिई *Vanda roxburghii R. Br.*) के मूल का व्यवहार होता है। इसके पौधे प्रायः आम और महुए आदि के वृक्षों की डालियों पर उगे हुए पाये जाते हैं। काण्ड ३० से ६० सें० मी० या १–२ फुट लम्बा होता है, और उसकी ग्रंथियों से अनेक मोटे और मांसल वातलम्बी (*Epiphytic*) मूल निकले रहते हैं। पत्तियाँ

१५ सें० मी० से २० सें० मी० (६–८ इंच) लम्बी, मध्यपर्शुक पर गहरी और दो कतारों में निकली हुई रहती हैं। सदण्डिक पुष्प-मञ्जरियाँ पत्तियों से लम्बी होती है। पुष्प व्यास में ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १॥–२ इंच और पंखुड़ियाँ प्रायः मिश्रित वर्ण की होती हैं। वे अधिकतर पीताभ और कभी-कभी नीलाभ होती हैं, और उनके कुछ भागों में बादामी और बैंगनी तथा सफेद रंग भी होते हैं। फल ७.५ से ८.७५ सें० मी० या ३–३॥ इंच लम्बा और सन्धियों पर रीढ़दार होता है। (२) बंगाल में कहीं-कहीं इसी कुल की दूसरी वनस्पति साक्कोलाबिउम पाप्पिलोसुम (*Saccolabium pappilosum Lindl.*) का भी ग्रहण रास्ना नाम से कर लेते हैं। (३) बम्बई बाजार में टीलोफोरा आस्थमाटिका *Tylophora asthmatica W.& A.* (*Syn.* : *T. indica* (*Burm. f Merr.* (*Family* : *Asclepiadaceae*) की जड़ रास्ना के नाम से बिकती है। इसे पित्त-मारी, अंतमल (बम्बई), खड़ की रास्ना (मरा०) कहते हैं। (४) मद्रास के वैद्य कुलंजन को ही रास्ना, गंधरास्ना या गंधनाकुली कह देते हैं और इसका व्यवहार रास्ना के नाम से करते हैं। (५) इन्युला हेलेनियम् (*Inula helenium linn.*) को अरबी-फारसी में 'रासन' या 'कुश्तेशामी' कहते हैं। अतएव कोई-कोई रास्ना से इसी का ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु रास्ना के स्थान में प्लूचेया लांसेओलाटा का ही व्यवहार होना अधिक युक्तियुक्त।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में मूल निकालकर मिट्टी आदि को साफकर, छायाशुष्क करलें और इसे मुखबन्द डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु। रस–तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातनाशक; आमपाचन, अनुलोमन, रक्तशोधक, वातोदर, श्लेष्मोदर एवं शोथनाशक, ज्वरघ्न, श्वास-कासहर, विषघ्न एवं समस्त वायु रोग नाशक होती है।

मुख्य योग – रास्ना सप्तक क्वाथ, महारास्नादि क्वाथ, रास्ना गुग्गुलु, रास्नादि घृत एवं तेल।

विशेष – रास्ना के स्थान में उपर्युक्त वायु सुरई (*Pluchea lanceolata*) नामक औषधि का ग्रहण करना चाहिए।

रीठा (अरिष्टक)

नाम। सं०–अरिष्टक, फेनिल (फ़ेनयुक्त); हिं०–रीठा। पं०–रेठा। बं०–रिठे। गु०–अरीठा। अ०–बुन्दुक हिंदी। फा०–फुन्दुके फारसी। अं०–सोपनट(*Soapnut*)। ले०–(१) सापींडुस ट्रीफ़ोलिआटुस *Sapindus trifoliatus Linn.* (दक्षिण भारतीय रीठा या बड़ा रीठा); (२) सापींडुस मुकुरोस्सी *Sapindus mukurossi Gartn.* (उत्तर भारतीय रीठा या छोटा रीठा)।

वानस्पतिक कुल–अरिष्टक-कुल या (सापींडासे *Sapiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान – सापींडुस मुकुरोस्सी के हिमालय प्रदेश में १.२ किलो मीटर या ४००० फुट की ऊंचाई तक जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त उत्तर भारत, बंगाल, आसाम आदि में बाग़-बगीचों में तथा गावों के आस-पास इसके लगाये हुए वृक्ष मिलते हैं। दक्षिण भारत में सापींडुस ट्रीफ़ोलिआटुस के वृक्ष लगाये जाते हैं। बंगाल में भी इसके लगाये वृक्ष मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – उत्तर भारत में प्रायः सापींडुस मुकुरोस्सी (*Sapindus mukurossi*) के वृक्ष पाये जाते हैं, जो देखने में कुछ-कुछ तूणी वृक्ष से मिलते-जुलते हैं। वृक्ष ६ से ९ मीटर या २० से ३० फुट ऊंचा देखने में सुन्दर; पत्र-संयुक्त, एकान्तर, ३० सें० मी० से ५० सें० मी० या १२–२० इंच लम्बा तथा समपक्ष। पत्रक–५–१० युग्म, अभिमुख अथवा एकान्तर क्रम से स्थित आकार में लम्बाग्र एवं भालाकार। पुष्प–सफेद या हल्के गुलाबी रंग के। फल–गोलाकार, गूदेदार अष्ठि-फल, जो व्यास में ०.७ से १ इंच और प्रत्येक फल में एक बीज होता है। बीज–चिकना एवं काले रंग का। (२) सापींडुस ट्रीफ़ोलिआटुस के वृक्ष दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। इसके फल ३-३ एक साथ जुटे होते हैं। पकने पर मुलायम तथा पीताभ हरे रंग के तथा किंचित् लालिमा लिये भूरे रंग के हो जाते हैं। फलों की वाह्या-कृति किंचित् वृक्काकार होती है; और पृथक् होने पर जुटे हुए स्थान पर एक हृदयाकार चिह्न पाया जाता है। इसमें पुष्पागम शरद् ऋतु में होता है तथा फल वसन्त में पकते हैं।

उपयोगी अंग– फल (विशेषतः छिलका (*Pericarp*), गुठली का गूदा (मग्ज)।

मात्रा – ०.५ ग्राम से २ ग्राम या ४ रत्ती से २ माशा तक।

चीनी र्‌हेउम् पाल्माटुम (*Rheum palmatum*) की जड़ होती है। यह भी उत्कृष्ट रेवन्द होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – संग्रह कम से कम ६–७ वर्ष पुराने पौधों से करना चाहिए। संग्रह प्रायः पुष्पागम काल के पूर्व किया जाता है। इसको अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – रेवन्दचीनी में एन्थ्राक्विनोन से व्युत्पन्न यौगिक पाये जाते हैं, जो इसके प्रमुख सक्रिय घटक होते हैं। इसमें क्राइसोफेनिक एसिड, एमोडिन, टैनिक एसिड, राल, स्टार्च, कैल्सियम ऑक्ज़लेट तथा अनेक निरिन्द्रिय लवण होते हैं। पत्तियों में ऑक्जैलिक एसिड होता है।

वीर्यकालावधि– १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु, विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफपित्तहर, अल्प मात्रा में लालाप्रसेकजनक, दीपन, यकृदुत्तेजक, ग्राही, कटु पौष्टिक; बड़ी मात्रा में रेचन; कफनिस्सारक, मूत्रार्त्तवजन आदि। इसके सेवन से ४–८ घंटे में मरोड़ के साथ पतले, पीले दस्त आते हैं। रेचन क्रिया क्राइसोफेनिक एसिड एवं एमोडिन के प्रभाव से होती है। रेचन के बाद इसमें स्थित कषाय द्रव्यों की क्रिया से दस्त अपने आप रुक जाते हैं।

विशेष – मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ सुगंधि द्रव्य और सर्जिक्षार मिलाने चाहिए। इसमें ऑक्जैलिक एसिड होने से इसका प्रयोग आमवात, अश्मरी आदि रोगों में नहीं करना चाहिए। बच्चों एवं वृद्धों में रेचन के लिए यह बहुत उपयुक्त है।

रोहीतक

नाम। सं०–रोहीतक, दाडिमपुष्प, दाडिमच्छद, प्लीघ्न। हिं०–अरुआर, रोहेड़ा। म०–रोहिड़ा। गु०–रोहिडो। ले०–टेकोमेल्ला उंडूलाटा *Tecomella undulata*(*G. Don.*) *Seem.* (पर्याय–टेकोमा उंडूलाटा *Tecoma undulata G. Don.*)।

वानस्पतिक कुल – श्योनाक-कुल (बिग्नोनिआसे : (*Bignoniaceae*)

प्राप्तिस्थान – राजस्थान, पंजाब का राजस्थान से लगा हुआ प्रदेश (हिसार–रोहतक आदि), काठियावाड़, कच्छ एवं दकन में रोहीतक के स्वयंजात वृक्ष प्रचुरता से पाये जाते हैं। अन्य प्रदेश में कहीं-कहीं इसके लगाये हुए अथवा स्वयं उत्पन्न वृक्ष भी मिल जाते हैं। भिन्न-भिन्न भारतीय बाजारों में रोहीतक के नाम से अन्य वृक्षों की छालें भी बिकती हैं। किन्तु रोहीतक के स्थान में उपर्युक्त वृक्ष की ही छाल का व्यवहार होना चाहिए।

संक्षिप्त परिचय – रोहीतक या रोहेड़ा के गुल्म या छोटे वृक्ष होते हैं, जिनकी शाखाएँ नीचे की ओर झुकी रहती हैं। पत्तियाँ खाकस्तरी हरित वर्ण की, ५ से १५ सें० मी० या २–६ इंच तक लम्बी, १.८७५ सें० मी० से ३.१२५ सें० मी० या ¾ से १¼ इंच चौड़ी, रूपरेखा में आयताकार किन्तु अपेक्षाकृत कम चौड़ी (*Narrowly oblong*) अग्र कुण्ठित तथा पत्रतट लहरदार, पत्तियाँ सूक्ष्म रोमावृत,स्पर्श में किंचित् कर्कश तथा देखने में दाड़िम-पत्रवत् लगती हैं। पर्णवृन्त २.५ से० मी० या १ इंच तक लम्बे होते हैं। पुष्प प्रायः फरवरी से अप्रैल के बीच निकलते हैं जो बड़े, ३.७५ सें० मी० से ६.२५ सें० मी० (१॥–२॥ इंच तक लम्बे) रंग में पीले से लेकर नारंग रक्त वर्ण के तथा निर्गन्ध होते हैं और छोटी-छोटी शाखाओं के अग्र पर समस्थ काण्डज क्रम में रहते हैं। पुष्पागम के समय वृक्ष अत्यन्त प्रियदर्शन मालूम होता है, और इसीलिए बगीचों में भी लगाया हुआ मिलता है। पुष्पवृन्त ६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या ¼ से ½ इंच लम्बे होते हैं। वाह्य कोश (*Calyx*) कटोरीनुमा तथा ५ समान खण्डों से युक्त होता है। पुंकेशर संख्या में ४ होते हैं। कुक्षि अथवा वर्तिकाग्र या स्टिग्मा (*Stigma*) प्रायः दो खण्डों में विभक्त (*two-lobed*) होती है। फली २० सें० मी० × १.८७५ सें० मी० (८ × ¾ इंच) बड़ी, कुछ टेढ़ी और अग्र पर नुकीली होती है। बीज सपक्ष (*winged*) २.५ सें० मी० × ६.३७५ मि० मी० (१ × ¼ इंच), चिकने तथा अग्र पर नुकीले होते हैं। पक्ष (*Wing*) झिल्लीदार होता है, जो प्रायः बीज के अग्र की ओर होता है, किन्तु आधार की ओर प्रायः इसका अभाव होता है।

उपयोगी अंग – त्वक् (तने की छाल)।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – असली रोहीतक का वर्णन ऊपर किया गया है। किन्तु रोहीतक के नाम से अन्य अनेक वृक्षों की छाल का भीव्यवहार होता है। (१) वंगीय

रोहीतक–आफानामिक्सिस पॉलीस्टाकिया *Aphanamixis polystachya* (*Wall.*) *Parker* (पर्याय–*Amoora rohituka Wt. & Arn.*) । इसे सोहागा, गीला कुसुम या पानी कुसुम (पुरी) भी कहते हैं। वंगीय वैद्य बहुत दिनों से इसे रोहीतक मानते आये हैं। वैज्ञानिक जातीय नाम (*Specific name*) से भी मालूम होता है, कि बहुत दिनों से रोहीतक के प्रतिनिधि के रूप में इसका व्यवहार होता आया है। परन्तु प्राचीन शास्त्रकारों का रोहीतक यह नहीं है। इसके छोटे-छोटे मध्यम ऊंचाई के सुन्दर वृक्ष होते हैं, जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर झुकी हुई फैलती हैं। उक्त वृक्ष हिमालय की तराई में अवध (उ० प्र०) से लेकर पूरब में सिक्कम, वंगाल, आसाम तथा छोटा नागपुर एवं दक्षिण भारत में कोंकण और पश्चिमी घाट के समीपवर्ती क्षेत्रों में (३,०००, ५००० फुट की उंचाई तक) पूना से तिन्नेवली तक पाये जाते हैं। छाल, चिकनी, काटने पर लाल किन्तु श्वेत रेखाओं से युक्त होती है। पत्तियाँ पक्षवत् ३० सें० मी० से ६० सें० मी० १–३ फुट लम्बी, पत्रक ४–७ जोड़े, ७.५ सें० मी०–२२.५ सें० मी० × ३.७५ सें० मी०–१० सें० मी० (३–६ इंच×१½–४ इंच) एवं अखण्ड होते हैं, जिनका फलक मूल प्रायः तिरछा होता है। पुष्प छोटे, श्वेत, एक लिंगी, तथा फल ३ खण्डों का पीला या मांसवर्ण का तथा व्यास में ३.७५ सें० मी० या १॥ इंच तक होता है। (२) रक्त रोहिड़ा (वम्वई)–यह वदर-कुल की र्हाम्नुस वीटीई *Rhamnus wightii W.&.A.*(*Family*: *Rhamnaceae*) नामक वृक्ष की छाल होती है, जो लाल रंग की होती है। उक्त लाल छाल रक्तरोहिड़ा के नाम से विकती है। (३) दक्षिण भारत (दकन) में एक और वृक्ष (*Chloroxylon swietenia DC.*) पाया जाता है, इसकी छाल भी कहीं-कहीं रक्तरोहिड़ा के नाम से विकती है। (४) वम्वई वाजार में रक्तरोहिड़ा नाम से *Polygonum glabrum Wllid.* (*Family* : *Polygonaceae*) भी विकता है।

संग्रह एवं संरक्षण – रोहीतक की छाल को मुखवन्द डिव्वों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–भेदन। प्रधानकर्म–रोचन, दीपन, अनुलोमन, भेदन, प्लीहा-यकृत् वृद्धिनाशक, रक्तशोधक, मूत्रसंग्रहणीय, लेखन, विपघ्न आदि।

मुख्य योग – रोहीतकारिष्ट, रोहीतक लौह।

विशेष – प्लीहोदर में रोहीतकारिष्ट का प्रयोग बहुशः किया जाता है। साथ में यदि रक्ताल्पता भी हो (यथा मलेरिया एवं कालज्वर) तो रोहीतक लौह दिया जाता है।

लवंग (लौंग)

नाम । सं०–लवंग, देवकुसुम। हिं०–लौंग, लवंग। म० गु०–लवंग। मा०–लौंग, लूंग। अ०–क़रन्फ(फू)ल। फा०–मेखक। अं०–क्लोव्ज *cloves*। ले०–कारिओफ़िल्लुम *Caryphyllum*। वृक्ष का नाम–एउजेनिआ कारिओफ़िल्लुस *Eugenia Caryophyllus* (*Spr.*) *Bull & Harr.* (पर्याय–*E. aromaticus* (*L.*) *Baill*; *Sygygium aromaticum* (*L.*) *Merr. et Perr.*)।

वानस्पतिक कुल – लवंग-कुल (मीर्टासे *Myrtaceae*)।

प्राप्तिस्थान – लवंग मलक्का द्वीपपुंज का आदिवासी पौधा है। अब जंजिवार, पेम्वा, पेनांग और मेडागास्कर सुमात्रा, वोर्नियो, मलाया, जावा आदि में लम्बे परिमाण में, दक्षिण भारत एवं लंका तथा मारिशस आदि में भी अल्प परिमाण में इसकी खेती की जाने लगी है। लौंग का अधिकांश आयात जंजिवार और पेम्वा के टापुओं से ही होता है। सर्वत्र भारतीय वाजारों में मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – व्यावसायिक लौंग वास्तव में उक्त वृक्ष की कलिका होती है, जिसको खिलने के पहिले तोड़कर सुखा लिया जाता है। लौंग के छोटे कद के सदाहरित वृक्ष होते हैं, जो देखने में बहुत सुन्दर तथा साल भर फूलते रहते हैं। वृक्ष रूप रेखा में नीचे अधिक घेरे का होता है, जो चोटी की ओर उत्तरोत्तर कम होता जाता है। पत्तियाँ सवृन्त, अभिमुख क्रम से स्थित (*Opposite*), लगभग १० सें० मी० या ४ इंच लम्बी ५ सें० मी० या २ इंच तक चौड़ी रूपरेखा में लट्वाकार आयताकार (किन्तु बीच में अधिक चौड़ी तथा आधार एवं शीर्ष की ओर उत्तरोत्तर कम चौड़ी) तथा सरल धारयुक्त तथा चमकीले हरे रंग की होती हैं, जिनको मल कर सूंघने पर अत्यन्त सुगंधित मालूम होती हैं। पुष्प छोटे-छोटे हल्के वैंगनी रंग के तथा अत्यन्त सुगन्धित होते हैं, जो शाखाग्रों पर समस्थकाण्डज सगुच्छ मञ्जरियों (*Corymobose panicles*) में निकलते हैं। कलिकाएँ

प्रारम्भ में सफेद किन्तु बाद में हरी और अन्ततः लाल (*Crimson*) हो जाती हैं। इसी समय इनका संग्रह किया जाता है। और इन्हें खुली हवा में सुखाया जाता है। अब कलिकाओं को तोड़ कर पृथक् कर लिया जाता है, और डंठल का भाग अलग संग्रह कर लिया जाता है। यह व्यवसाय में 'लौंग के डंठल *Clove stalks*' के नाम से अलग बिकता है।

उपयोगी अंग – सुखायी हुई अविकसित कलिकाएँ तथा लौंग से प्राप्त उत्पत् तैल।

मात्रा – लौंग —०.५ ग्राम से १.५ ग्राम या ४ रत्ती से १॥ माशा। तेल—½ बूंद से ३ बूंद तक।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – लौंग की शुष्क कलिका लगभग १ सें० मी० से १.७५ सें० मी० या ⅖ से ७/१० इंच (१० से १७½ मि० मी०) लम्बी तथा लालिमा लिये भूरे रंग की होती है। रूपरेखा में देखने में आपाततः मुन्दराकार मालूम होती है, जिसका नीचे का डंठलाकार भाग गोलाकार, चपटा एवं चतुष्कोणाकार होता है, जो वास्तव में दल्यक्ष (*Torus*) का ही बढ़ा हुआ भाग (*Hypanthium*) होता है। उत्तम लौंग में इस पर नाखून गड़ाने से फौरन तैल निकलता है। हाइपेंथियम् के ऊर्ध्व भाग में दो गह्वर (*Loculi*) होते हैं (जो अनुलम्ब विच्छेद *Longitudinal section* करने पर दिखाई देते हैं) जिनमें अनेक अक्षलग्न बीजीभव (*Ovules on axile placentae*) होते हैं। हाइपेंथियम् के शीर्ष पर स्वस्तिक क्रम से स्थित चार कड़े पुटपत्र (*Sepals*) होते हैं, जिनके अन्तरवकाश में मुण्डाकार रचना होती है, जो न खिलने के कारण (*Unexpanded*) परस्पर लिपटे दलपत्रों (*Petals*—जो संख्या में ४ होते हैं) से बनती है। इसके अन्दर अनेक अन्तर्मुख पुंकेशर (*Incurved stamens*) तथा मध्य में एक कड़ा कुक्षिवृन्त होता है। लौग में एक तीव्र मसालेदार सुगन्धि होती है, तथा स्वाद में तीक्ष्ण एवं सुगंधित होता है। उत्तम पुष्ट लौंग शृतशीत जल में डालने पर डूब कर नीचे बैठ जाती है, किन्तु निर्वीर्य लौंग (जिससे उत्पत् तैल खींच लिया गया होता है) जल पर तैरता रहता है। उत्तम लौंग में कम से कम १५% उत्पत् तैल (लौंग का तेल) प्राप्त होता है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम १%। डंठल का भाग (*Clove stalks*) अधिकतम ५%। जलाने पर भस्म–अधिकतम ७% प्राप्त होती है। अम्ल में अघुलनशील भस्म–अधिकतम १%।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बाजारू लौंग में प्रायः तैल निकाले हुए लौंग (*Exhausted cloves*) अथवा पुराने संशुष्कस्नेह लौंग भी मिलाये हुए होते हैं। नं० २ या ३ के नाम से बिकने वाले लौंग में अधिकांश ऐसे ही लौंग होते हैं। नाखून से दाबने पर इनमें तेलांश नहीं निकलता तथा जल में डालने पर डूबता नहीं, अपितु तैरता रहता है। इसके अतिरिक्त पुष्पवृन्तों (*Clove stalks*) का भी मिलावट किया जाता है। चूर्ण में प्रायः इस प्रकार के मिलावट की सम्भावना अधिक रहती है। कभी जब संग्रह ठीक समय पर नहीं किया जाता तो पुष्प कलिकाएँ खिल जाती हैं और दलपत्र टूट कर पृथक् हो जाते हैं। यदि तब भी लौंग संग्रहीत न की गयी तो फल भी आ जाते हैं। इस प्रकार कभी विकसित कलिकाएँ (*Blown cloves*) अथवा फल (*Mother cloves*) तथा कभी टूटे पुंकेशर एवं दलपत्रादि के टुकड़े (*Clove dust*) भी मिलाये जाते हैं। उक्त सभी प्रकार हीनवीर्य होते हैं। अतएव इनका ग्रहण नहीं होना चाहिए।

लवंग तैल – लौंग का ताजा तेल रंगहीन अथवा हल्के पीले रंग का द्रव होता है, जो कालान्तर से अथवा हवा में खुला रहने पर रक्ताभ भूरे रंग का हो जाता है। इसमें लौंग की विशिष्ट गंध एवं स्वाद पाया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – लौंग को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में रखकर ठंडी जगह में रखना चाहिए। लौंग के तेल को अच्छी तरह मुखबंद शीशियों में ठंडी एवं अँधेरी जगह में रखना चाहिए।

संगठन – लौंग में १५ से २०% तक उत्पत् तैल (लौंग का तेल) पाया जाता है, जिसमें मुख्यतः (८५% से ९२%) यूजिनोल (*Eugenol*) होता है। इसके अतिरिक्त टैनिक एसिड (१३% तक) तथा कुछ मात्रा स्थिर तैल एवं राल का भी होता है। लवंग में 'केरियोफाइलिन' (*Caryophyllin*) नामक फाइटोस्टेरोल (*Phytosterol*) तथा ६ से १०% तन्तुमय (*Crude fibre*) अंश भी होता है।

वीर्यकालावधि – लौंग—२ वर्ष। तेल—दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध । रस–तिक्त, कटु । विपाक–कटु । वीर्य-शीत । कर्म–कफपित्तशामक, दीपन–पाचन, रुचिवर्धक, लालास्रावजनक, वातानुलोमन, शूल-प्रशमन, श्लेष्मनिस्सारक, श्लेष्मपूतिहर तथा श्वासहर, वाजीकरण, मूत्रजनन, आमपाचन ज्वरघ्न । इसका उत्सर्ग श्वास, पित्त, स्तन्य, स्वेद एवं मूत्र के साथ होता है । यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है ।

मुख्य योग – लवंगादि वटी, लवंगादि चूर्ण, लवंगचतुःसम, लवंगोदक आदि ।

लताकस्तूरी – दे०, 'मुश्कदाना' ।

लहसुन (लशुन, रसोन)

नाम । सं०–रसोन, लशुन । हिं०–लहसुन । बं०– रशुन । म०–लसूण । गु०–लसण । अ०–सूम, फूम । फा०–सीर । यू०–स्कूर्दून (*Skordon*), अग्लिदियून (*Aglidion*) अं०–गार्लिक (*Garlic*) । ले०–आल्लिउम साटीवुम (*Allium sativum Linn.*) ।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लिलिआसे : *Liliaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – सारे भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है । हरे एवं शुष्क लहसुन का गरम मसाले में प्रचुरता से दैनिक व्यवहार किया जाता है ।

संक्षिप्त परिचय – लहसुन की खेती भी प्याज की भाँति होती है, और इसको भी सिंचाई की आवश्यकता होती है । यह जाड़ों में बोया जाता है, तथा ग्रीष्म के प्रारम्भ में (लगभग ४ महीने में) फसल तैयार हो जाती है । जब पत्ते मुरझा कर पीले पड़ जाते हैं, कन्द खोद कर निकाल लिये जाते हैं । लहसुन के ३० से ६० सें० मी० या १–२ फुट ऊँचे कोमलकाण्डीय पौधे होते हैं । पत्तियाँ चपटी, पतली और लम्बी होती हैं और इनको मसलने पर एक प्रकार की उग्र गंध आती है । पुष्पदण्ड काण्ड के बीच से निकलता है, जिसके शीर्ष पर गुच्छेदार श्वेत पुष्प लगते हैं । कन्द श्वेत या हल्के गुलाबी रंग के आवरण से ढका होता है, जिसके अन्दर ५–१२ तक यवाकार छोटे कंद (*Bulbils or cloves*) होते हैं । इन कन्दों को कुचलने पर एक तीव्र एवं अप्रिय गंध आती है, तथा स्वाद में यह कटु एवं तीक्ष्ण होते हैं ।

उपयोगी अंग – कन्द (*Bulbils*) एवं पत्र ।

मात्रा – कन्दकल्क १.५ से ३ ग्राम (६ ग्राम तक) या १॥–३ माशा (६ माशा तक) ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – लहसुन का सकन्दककंद (*Compound bulb*) रूपरेखा में आधार की ओर कुछ गोलाकार किन्तु अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़ा होकर नुकीलासा हो जाता है, जो वाह्यतः सफेद या हल्के गुलाबी रंग के शल्कपत्रावरण (*Membranous scales*) से ढंका रहता है । प्रत्येक कंद में ५–१२ तक छोटे कन्द (*Bulbils or Bulblets*) होते हैं, जो आधार पर चारों ओर स्थित होते हैं । उक्त कन्दिकाएँ रूपरेखा में यवाकार तथा दोनों पार्श्वों पर चपटी होती हैं तथा शल्कपत्र से आवृत होती हैं । कन्द के बीच में वायव्य काण्ड का अवशेष होता है । लहसुन में एक विशेष प्रकार की तीक्ष्ण अरुचि-कारक गंध होती है तथा मुख में चबाने पर तीक्ष्णता एवं जलन का अनुभव होता है । बड़े एवं पुष्ट तथा कृमि आदि से अभक्षित कन्दों का ग्रहण करना चाहिए ।

संग्रह एवं संरक्षण – अनार्द्र शीतल स्थानों में संग्रह करें, जहाँ हवा का समुचित प्रवेश होता हो ।

संगठन – लहसुन के कन्दों से आसवन द्वारा (०.०६ से ०.१%) तक एक पीत वर्ण का उड़नशील तैल प्राप्त होता है, जिसमें गंधक के सेन्द्रिय यौगिक होते हैं । इसके अतिरिक्त श्वेत सार, पिच्छिलद्रव्य, ऐल्ब्युमिन तथा (अल्प मात्रा में) कैल्सियम, लौह एवं विटामिन 'C' आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं ।

वीर्यकालावधि – ६ मास ।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, तीक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु एवं सर । रस–अम्ल को छोड़ कर शेष मधुर, लवण, कटु, तिक्त, कषाय यह ५ रस । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । कर्म–वात-कफनाशक, दीपन-पाचन, अनुलोमन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न, यकृदुत्तेजक, उत्तेजक, वेदनास्थापन, हृदयोत्तेजक, मेध्य, कफनिस्सारक, कफदुर्गन्धिहर, कण्ठ्य, मूत्र-आर्तवजनन तथा शुक्रल, कोथप्रशमन आदि । यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है । अहितकर–गर्भवती स्त्रियों को । निवारण–बादाम का तेल, सूखा धनिया तथा नमक और पानी में पकाने से भी इसके दोष नष्ट हो जाते हैं ।

मुख्य योग – लशुनादि वटी, लशुनाद्य घृत, रसोनपिण्ड, रसोनाष्टक, माजूनसीर आदि । काश्यप-संहिता के कल्प स्थान में लशुनकल्प नामक स्वतंत्र अध्याय है ।

विशेष – श्लीपद एवं वात के रोगियों में आहार के साथ लहसुन का सेवन कुछ अधिक मात्रा में करने से बहुत लाभ होता है। रसशास्त्र में लशुन के रस का उपयोग पारद-संस्कार के लिए किया जाता है।

लाख (लाक्षा)

नाम । सं०–लाक्षा, कीटजा, वृक्षामय, जतु। रक्तमातृका। हिं०–लाख, लाह, लाही। म०–लाख। गु०–लाख। क०, ते०, मल०–लाक्षा। अ०–लुक्, फा०–लाक। अं०–लॅक् (*Lac*)। ले०–लाक्किफ़ेर लाक्का *Laccifer (tachardia) lacca Kerr.*। लेटिन नाम लाख उत्पन्न करने वाले कीट का है।

जान्तव कुल – जंतुकादि-कुल (कॉक्सिडी *Coccidae*)।

प्राप्तिस्थान – लाक्षा वास्तव में जान्तव रालीय निर्यास है। किन्तु चूँकि लाक्षाजनक कीट वृक्षों का आश्रय करके ही रहता है, अतएव आश्रयभूत वृक्ष के रस का भी इसके निर्माण में मुख्य हाथ होता है। लाक्षा अनेक वृक्षों पर लगती है, जिनमें मुख्य कुसुम (स्क्लीकेरा ओलेओसा *Schleichera oleosa (Lovr.) Okera.* (पर्याय–*S. trijuga Willd.*), पीपल, बरगद, बेर, पलाश आदि हैं। उक्त वृक्षों से प्राप्त लाक्षा उत्तम समझी जाती है। इसी से चपड़ा (*Shellac*) भी बनाया जाता है। लाक्षा एवं चपड़ा भारत के मुख्य व्यावसायिक द्रव्य हैं। भारतवर्ष में लाक्षा का संग्रह न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र किन्तु विशेषतः बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बरार, मैसूर, उत्तर प्रदेश (विशेषतः मिर्जापुर), मध्य भारत, बम्बई आदि प्रान्तों में किया जाता है। औषधि में लाक्षा का व्यवहार होता है।

संक्षिप्त परिचय – जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लाख की उत्पत्ति वृक्षपराश्रयी विशिष्ट प्रकार के क्षुद्र कीटों द्वारा होता है। इनके लार्वा (*Larvae*) जो छोटे-छोटे (लगभग ½ मिलिमीटर) लालिमा लिये बैंगनी बिन्दुओं के रूप में होते हैं उक्त वृक्षों पर आश्रय एवं आहार के लिए उपयुक्त स्थान पर चिपक जाते हैं। वहीं वृक्षरस को ग्रहण कर यह अपना जीवन निर्वाह एवं शारीरिक वृद्धि करते हैं। इसी समय इनसे रालीय स्राव निकल कर टहनियों पर जमता जाता है। यही लाक्षा होती है। लगभग १ माह में नर कीट प्रगल्भ हो जाते हैं और उस समय यह प्रायः पंखयुक्त हो जाते हैं। इसके बाद जब स्त्रीकीट का गर्भाधान हो जाता है, तो वह तेजी से भक्षण कार्य करती हैं और इस समय लाक्षा भी अधिकाधिक मात्रा में उत्पन्न होती है। दो-तीन महीने बाद पुनः अंडे देती है। लार्वा-कीटों का प्रसार एक वृक्ष से दूसरे-दूसरे वृक्ष को हवा के द्वारा होता है। व्यवसायी क्षेत्रों में यह कार्य कृत्रिम उपायों द्वारा भी किया जाता है। इस प्रकार लाक्षोद्भवन वर्ष में दो बार होता है—एक जुलाई के महीने में (विशेषतः उत्तर भारत में) तथा दूसरे दिसम्बर-जनवरी में। उक्त लाक्षा को संग्रहीत कर बाजारों एवं कारखानों में भेजा जाता है।

उपयोगी अंग – रालीय स्राव (*Lac Resin*)।

मात्रा – ०.५ ग्राम से १.५ ग्राम या ४ रत्ती से १२ रत्ती (१॥ माशा)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – पहले लाक्षा लगी पतली-पतली टहनियों (*Stick lac*) को एकत्रित करते हैं। इससे लाक्षा (*Seed lac*) को पृथक् कर लिया जाता है। इसी को विरंजित करके व्यावसायिक चपड़ा (*Shellac*) तैयार किया जाता है। पाश्चात्य भैषज्य-कल्पना में इसका उपयोग गुटिका एवं चक्रिकावगुण्ठन (*Enteric coating for pills and tablets*) के लिए किया जाता है। यह अपद्रव्यों से शुद्ध होता है। आयुर्वेदीय भैषज्य-कल्पना में लाक्षा (*Seed lac*) का ही व्यवहार होता है। इसके गुलाबी-धूसरित वर्ण के छोटे-बड़े दाने अथवा ढेलानुमा टुकड़े पंसारियों के यहाँ मिलते हैं। कल्पों में डालने के पूर्व इसका शोधन किया जाता है। इससे अपद्रव्य पृथक् होकर शुद्ध लाक्षा प्राप्त होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – लाक्षा को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – लाक्षा में मुख्यतः रालीय घटक (*Resin*) तथा इसके अतिरिक्त कुछ मोमीय तत्त्व (*Wax*) एवं रंजक द्रव्य (*Pigmentlaccin*) आदि उपादान होते हैं।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–कफ-पित्तशामक; स्तम्भन, वर्ण्य, सन्धानीय, शोणितस्थापन, कफघ्न, त्वग्दोषहर, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न, कृमिघ्न, अतिसार-प्रवाहिका नाशक, रक्तपित्तहर तथा हिक्का, श्वास एवं उरःक्षत में उपयोगी। यूनानी

मतानुसार लाक्षा दूसरे दर्जे में गरम और तीसरे दर्जे में खुश्क होती है।

मुख्य योग – लाक्षादि तैल।

विशेष – लाख लेखन एवं विलयन है; शरीर का शोधन करती है और रक्त को बंद करती है; श्लेष्मनिःसारक एवं शरीर के द्रवों का अभिशोषण करने वाली है। यकृत् तथा आमाशय को शक्ति देती और विशेषतः रक्तष्ठीवन को बंद करने वाली है। रक्तष्ठीवन बन्द करने के लिए ०.५ ग्राम से १ ग्राम या आधा माशा से १ माशा तक धोयी हुई लाख (लुक् मग्सूल) बकरी के ताजे दूध के साथ खिलाते हैं। द्रवशोषणकर्ता होने से शरीर को कृश करने के लिए ०.५ ग्राम से २ ग्राम या आधा माशा से २ माशा तक खिलाते हैं। जीर्ण ज्वरों में लाक्षादि तैल की मालिश की जाती है।

लाल चन्दन – दे०, 'चन्दन लाल'।

लाल बहमन – दे०, 'बहमन लाल'।

लिसोढा (श्लेष्मातक)

नाम – (१) **बड़ा लिसोढ़ा**—सं०—श्लेष्मातक, बहुवार, कर्बुदार, शेलु। हिं०—लसोढ़ा, लिसोढ़ा, ल(लि) टोरा, लफेड़ा (रां), ब्योहार। बं०—बहुवार। म०— भोंकर। गु०—वड़ गूंदा, गूंदा। को०—हेमरम। संथा० —कुच। खर०—बहुवार, बेलोजाँ। अ०— सफ़िस्ताँ। फा०— सपिस्ताने कलाँ, सपिस्ताँ। अं०— लार्ज सेबेस्टन प्लम (*Large Sebesten Plum*)। ले०—कॉर्डिआ ऑब्लीकुआ *Cordia obliqua Willd.* (*Syn. C. dichotoma Forst. f.*)।

(२) **छोटा लिसोढ़ा**—सं०—श्लेष्मातक, भूकर्बुदार, भूशेलु। हिं०—छोटा लिसोढ़ा, लटोरा, गोंदनी, गोंदी। गु०—गूंदी। द०—गोदनी। अं०—स्माल सेबेस्टन प्लम् (*Small Sebesten Plum*)। ले०—कॉर्डिआ मीक्सा (*Cordia myxa Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – श्लेष्मातक-कुल (बोराजीनासे : *Boraginaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में इसके लगाये हुए एवं जंगली दोनों प्रकार के वृक्ष मिलते हैं। सुखाये हुए फल पंसारियों के यहां मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – बड़े लिसोढ़ा के मध्यम ऊंचाई के पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं। पत्तियाँ ७.५ सें० मी० या १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्बी, ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच चौड़ी, चौड़ी-लट्वाकार होती हैं, किन्तु रूपरेखा में नानारूपिता पायी जाती है। किनारे गोलदन्तुर (*Crenate*) या लहरदार (*Wavy*) होते हैं। बनावट में चर्मिल (*Coriaceous*), आधार गोलाकार या उत्तरोत्तर कम चौड़ा होकर स्फानाकार (*Cuneate*), शिराएँ ४–६ युग्म तथा नयी पत्तियाँ अधःपृष्ठ पर मृदुरोमावृत होती हैं। पर्णवृन्त १.२५ से ५ सें० मी० या $\frac{1}{2}$–२ इंच लम्बे होते हैं। पुष्प श्वेत प्रायः पंचभागी (*Pentamerous*) होते हैं, जो समशिख मञ्जरियों (*Corymbose cymes*) में निकलते हैं। प्रायः एक ही वृक्ष पर एकलिंगी एवं उभयलिंगी दोनों प्रकार के ही पुष्प पाये जाते हैं। बाह्य कोष २.५ मि० मी० से ३.७५ मि० मी० या $\frac{1}{10}$ से $\frac{3}{20}$ इंच लम्बा, दाँतदार कटावयुक्त तथा फलों के साथ भी लगा होता (*Accrescent in fruit*) है। आभ्यन्तर कोषनलिका अन्दर की ओर रोमश तथा खण्ड (*Corolla lobes*) २.५ मि० मी० से ३ मि० मी० या $\frac{1}{10}$ से $\frac{3}{25}$ इंच लम्बे होते हैं। अष्ठिलफल (*Drupes*) कच्ची अवस्था में हरे किन्तु पकने पर पीलापन लिये सफेद हो जाते हैं, जिसमें गाढ़ा, चिपचिपा और मीठा गूदा होता है। कच्चे फल का अचार और पके फल का शाक बनाया जाता है।

उपयोगी अंग – फल, पत्र एवं छाल।

मात्रा – बड़ा लसोढ़ा–५ से १५ दाना

छोटा लसोढ़ा या सूखी गोदनी का चूर्ण–६ माशा से १ तोला।

शर्बत लसोढ़ा — १ से २ तोला।

त्वक् क्वाथ — २॥ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) बड़े लिसोढ़े का अष्ठिल फल (*Drupe*) प्रायः गोलाकार, व्यास में २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१। इंच किन्तु दोनों सिरों पर अन्दर को धँसा हुआ या खातोदर होता है, जिसमें निचले सिरे का खात अपेक्षाकृत अधिक गहरा होता है। कच्ची अवस्था में हरे रंग का तथा पकने पर पीताभ श्वेत तथा सूखने पर मटमैले रंग का तथा झुर्रीदार (*Shrivelled*) होता है। गुठली (*Nut*) प्रायः गोलाकार तथा चिपटी (*Laterally Compressed*), बाह्य तल पर झुर्रीदार (*Rugose*) एवं दोनों सिरों पर खातोदर

होती है। गुठली के चारों ओर स्वच्छ, गाढ़ा एवं चिपचिपा मीठा गूदा काफी मात्रा में होता है, जो आसानी से पृथक् किया जा सकता है। गुठली अन्दर ४–कोष्ठों वाली होती है, परन्तु प्रत्येक फल में प्राय: १ बीज निकलता है जो रूपरेखा में लट्वाकार-आयताकार होता है। गुठली को काटने पर इसमें से एक अरुचिकारक गंध निकलती है। (२) गोंदनी या छोटे लिसोढ़े का अष्ठिल फल (*Drupe*)–गोलाकार, पकने पर पीला होता है। आधार की ओर स्थायी पुटचक्र की चोटी-सी लगी होती है। गुठली हृदयाकार (*Cordate*) होती है, जिसके चारों ओर चिमड़ा, चिपचिपा गूदा होता है। सूखने पर दोनों ही के फलों का बाह्य तल झुर्रीदार (*Shrivelled*) होता है। बड़े लिसोढ़े का गूदा गुठली से आसानी से पृथक् किया जा सकता है। गुठली को यदि काटा जाय, तो एक तीव्र अरुचिकारक गंध निकलती है।

संग्रह एवं संरक्षण – कच्चे या पक्व फलों को सुखा कर मुखबंद डब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – फल के गूदे में शर्करा, निर्यास और भस्म तथा छाल में टैनिन पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल। रस–मधुर। (छाल–कषाय और तिक्त)। विपाक–फल का मधुर तथा छाल का कटु। वीर्य–शीत। प्रभाव–विषघ्न। कर्म–फल—वातपित्तशामक, कफवर्धक, विषघ्न, व्रणशोधन–रोपण, कुष्ठघ्न, स्नेहन, तृष्णानिग्रहण, रक्तपित्तशामक, कफनिस्सारक, श्वासनलिकामार्दवकर, मूत्रजनन, वृष्य। छाल—कफपित्तशामक, कटुपौष्टिक, ज्वरघ्न, त्वग्रोगहर, ग्राही आदि। यूनानी मतानुसार यह समशीतोष्ण तथा प्रथम कक्षा में स्निग्ध होता है। अहितकर–यकृदामाशय दौर्बल्यजनक। निवारण–उन्नाव एवं गुलाबपत्र।

मुख्य योग – शर्बत लसोढ़ा, लऊक सपिस्ताँ। इसे बनप्सादि क्वाथ में भी मिलाते हैं।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) विषघ्न महाकषाय में श्लेष्मातक भी है।

पठानी लोध (लोध्र)

नाम। सं०–लोध्र, रोध्र, शाबर, स्थूलवल्कल, पट्टिका लोध्र। हिं०–लोध, पठानीलोध। पं०–पठानी लोध। बं०–लोध। म०–लोध्र। गु०–लोधर। मा०–लोद। कु०–लोधिया। था०–लोध। को०–लुदम्। संथा०–लोदम्। ले०–सीम्प्लोकॉस रासेमोसा (*Symplocos racemosa Roxb.*)। लेटिन नाम वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – लोध्र-कुल (सीम्प्लोकासे *Symplocaceae* या स्टीरासे *Styraceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर-पूरब भारतवर्ष में (हिमालय की तराई में कुमायूँ से लेकर आसाम तक) एवं बंगाल (बर्दवान, मिदनापुर), बिहार, छोटा नागपुर तथा दक्षिण में (मलाबार के जंगलों में) ७६१.५ मीटर या २.५०० फुट की ऊँचाई तक लोध के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। काण्डत्वक् (छाल) का व्यवहार औषधि में होता है, जो बाजारों में पठानी लोध के नाम से बिकती है।

संक्षिप्त परिचय – सीम्प्लोकॉस रासेमोसा के ३.६५ मीटर से ६–७.६ मीटर या १२ फुट से लेकर २०–२५ फुट ऊँचे छोटे-छोटे, सदाहरित वृक्ष होते हैं। काण्ड-स्कन्ध की मोटाई का व्यास साधारणत: १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ½ से १ फुट होता है। छाल खुरदरी तथा खाकस्तरी या गाढ़े खाकस्तरी रंग की होती है, जिसका बाह्य स्तर कार्कयुक्त (*Corky*) एवं पतले छिलकेदार होती है। काट (*Blaze*) ८.३ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या ⅓ से ½ इंच तक तथा रेशदार पीत वर्ण का होता है, जिस पर लालिमा लिये भूरे रंग की रेखाएँ या बिंदु होती हैं। पत्तियाँ साधारण (*Simple*) अननुपत्र या अनुपपत्र (*Exstipulate*) छोटे वृन्तयुक्त, १० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच तक (कभी-कभी अधिक) लम्बी, २.५ से ५ सें० मी०, या १–२ इंच चौड़ी अंडाकार आयताकार रूपरेखा लिये लट्वाकार-सी अथवा चौड़ी भालाकार, नुकीले अग्र वाली अथवा अग्र लम्बा किन्तु कुण्ठित अथवा कुण्ठिताग्र और सूक्ष्म गोलदन्तुर या आरावत् दंतुर धार वाली (कोई-कोई सरल धारयुक्त) होती हैं, तथा एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं। कोमल पत्तियों का ऊर्ध्व पृष्ठ चिकना किन्तु अध:पृष्ठ मृदुरोमश होता है, किन्तु बड़ी होने पर प्राय: दोनों ही पृष्ठ चिकने हो जाते हैं। मध्य शिरा से प्राय: ६ जोड़े पार्श्व शिराएँ निकली होती हैं, जो हरी पत्तियों में तो बहुत स्पष्ट नहीं मालूम होतीं, किन्तु पत्तियों के सूखने पर अधिक स्पष्ट होती हैं। पुष्प पीताभ श्वेत, सवृन्त तथा व्यास

में १ सें० मी० से १.२५ सें० मी० (⅖ से ½ इंच) होते हैं, जो २.५ से ७.५ सें० मी० या १-३ इंच लम्बी कोणोद्भूत या शाखाग्र मञ्जरियों में निकलते हैं। मञ्जरियाँ मृदुरोमावृत होती हैं। वाह्य कोश ५ खंडों वाला तथा स्थायी (*Persistent*) होता है। आभ्यन्तर कोश वाह्य कोश से तिगुना वड़ा तथा यह भी ५-खण्डों वाला होता है। पुंकेशर संख्या में अनेक होते हैं, जो कई-कई पंक्तियों में स्थित होते हैं। अष्ठिफल (*Drupe*) आयताकार या कुछ गोलाकार-सा, मांसल, वाह्य तल पर चिकना, ८.३ मि० मी० से १२.५ मि० मी० (⅓ से ½ इंच) लम्वा, कृष्णाभ वैंगनी रंग का तथा शीर्ष पर स्थायी वाह्य कोष से युक्त होता है। गुठली (*Endocarp*) कड़ी एवं उन्नत रेखाओं से युक्त होती है। प्रत्येक फल में १-३ वीज होते हैं, जो आयताकार तथा प्रचुर भ्रूणपोष या एंडोस्पर्म (*Endosperm*) युक्त होते हैं। रंगने के लिए अथवा रंग पक्का करने के लिए काष्ठक्षार मिलाया जाता है। काण्डत्वक् (छाल) आयुर्वेद की प्रसिद्ध संग्राही औषध द्रव्य है।

उपयोगी अंग – छाल (ताजी या सुखाई हुई)।

मात्रा – चूर्ण — १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा
क्वाथ — २॥ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – लोध के खातोदर या नालीदार (*Channelled*) या अन्दर को किंचित् मुड़े हुए (*Curved*) छोटे-वड़े टुकड़े होते हैं, जिसके वाह्य तल पर अनुप्रस्थ दिशा में दरारें पड़ी रहती हैं। वाहर से छाल सफेदी लिये लाल या खाकस्तरी रंग की और खुरदरी, अन्तस्तल पर पीताभ रंग की होती है और अन्तर्वस्तु लाल रंग का होता है। तोड़ने पर वाह्य भाग खट से तथा दानेदार टूटता (*Short and granular fracture*) है और अन्दर का भाग रेशेदार (*Fibrous*) होता है। स्वाद में लोध की छाल कसैली और सुगन्धित होती है। अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में रखने से सुगन्धि और भी स्पष्ट होती है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – लोध की उपर्युक्त जाति के अतिरिक्त इसकी अन्य दो जातियों की छाल का भी व्यवहार लोध्र के नाम से ही होता है। (१) सीम्प्लोकॉस क्राटेगोइडेस *Symplocos cratāegoides Buch. Ham.* (पर्याय–*S. paniculata*); (२) सीम्प्लोकॉस स्पीकाटा (*Symplocos spicata Roxb.*)। सीम्प्लोकॉस क्राटेगोइडेस के वड़े गुल्म या मध्यम कद के वृक्ष होते हैं, जो हिमालय प्रदेश में (सिंध नदी की घाटी से लेकर पूरव में आसाम तक २८६५.५ मीटर या ९,००० फुट की ऊँचाई तक) तथा खसिया की पहाड़ियों पर पाये जाते हैं। इसकी कोमल शाखाएँ सूक्ष्म मृदुरोमावृत होती हैं। पत्तियाँ ५ से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बी, अंडाकार या लट्वाकार, अंडाकार, अग्र पर सहसा नुकीली अथवा लम्बे नुकीले अग्र वाली, आधार पर गोलाकार या मुण्डित अर्थात् स्फानाकार (*Cuneate*) तथा पृष्ठ तल चिकना या मृदु रोमावृत होता है। पर्णवृन्त छोटे होते हैं। पुष्प सवृन्त, प्रायः सफेद रंग के (कभी पीले) तथा सुगंधित होते हैं, जो कोणोद्भूत या शाखाग्रच समशिख गुच्छाकार मञ्जरियों में निकलते हैं। अष्ठिलफल प्रायः गोलाकार व्यास में ८.३ मि० मी० या ⅓ इंच तक तथा शीर्ष पर स्थायी पुटचक्र युक्त और पकने पर काले हो जाते हैं। इसकी छाल श्वेताभ तथा कार्कयुक्त होती है, जिसपर खड़ी दरारें पड़ी होती हैं। सीम्प्लोकॉस स्पीकाटा–यह जाति प्रायः भारतवर्ष के अधिकांश भागों में (कुमायूँ से भूटान, आसाम, मर्तबान, पूर्वी वंगाल, सिंहभूमि, पूर्वी घाट, विजिगापट्टम्, कर्नाटक, शेवरी एवं कालीमलाइ की पहाड़ियाँ, पश्चिमी घाट तथा ट्रावन्कोर कोचीन के मैदानी भाग) पाई जाती हैं। केरल प्रान्त में लोध्र के नाम से इसी के छाल का व्यवहार होता है। सिंहभूमि में भी इसके गुल्म पाये जाते हैं। कोल भाषा में इसे मारंग (वड़ा) लुदुम कहते हैं। इसके भी साधारणतया वड़े गुल्म या मध्यमाकारी वृक्ष होते हैं, किन्तु अनुकूल परिस्थिति में कभी-कभी काफी ऊँचे (१८.३ मीटर या ६० फुट तक) एवं मोटे काण्डस्कन्ध युक्त (१.८ मीटर या ६ फुट व्यास के) वृक्ष भी मिलते हैं। पत्तियाँ साधारण, एकान्तर क्रम से स्थित, अननुपत्र या अनुपपत्र, प्रायः विनाल या वहुत छोटे वृन्त युक्त तथा १७.५ सें० मी० या ७ इंच तक लम्वी और ६.२५ सें० मी० या २॥ इंच तक चौड़ी होती हैं। पुष्प छोटे अवृन्त (*Sessile*) श्वेत या पीताभ-श्वेत तथा सुगंधित होते हैं, जो कोणोद्भूत सघन गुच्छाकार मञ्ज-

से वाँस का वृक्ष कंटकित-सा प्रतीत होता है। अन्दर से वाँस का काण्ड पोला होता है। समस्त काण्ड चर्मिल पत्रकोषों से आवृत होता है। पत्तियाँ १७.५ से २० सें० मी० या ७-८ इंच तक लम्वी तथा २.५ सें० मी० या १ इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में रेखाकार-भालाकार तथा अग्र नुकीला एवं कड़ा होता है। काफी पुराना होने पर वाँस में पुष्प फल लगते हैं। पुष्पागम गर्मियों के दिनों में होता है और उस समय समस्त काण्ड सशाख पुष्पदण्डों से आवृत होता है। फल (*Grain*) रूपरेखा में आयताकार लम्वगोल तथा ५ मि० मी से ८.३ मि० मी० (१/५ से १/३ इंच) लम्बे, एक पार्श्व पर खातोदर और शीर्ष पर कुक्षिवृन्त के अवशेष के लगे रहने से चोंचदार मालूम होता है। आपाततः देखने में यह यवाकार होता है, जिससे इनको 'वंशयव' कहते हैं। वाँस की अनेकों जातियाँ पायी जाती हैं। यह एक प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य है।

उपयोगी अंग – वंशलोचन, मूल, पत्र, पत्रांकुर, वीज।

मात्रा–वंशलोचन–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वंशलोचन के सफेद रंग के अथवा अपारदर्शक नीली आभा लिये सफेद रंग के तथा पारभासी एवं अनियमित रूपरेखा के छोटे-वड़े टुकड़े होते हैं। वड़े टुकड़े २.५ सें० मी० या १ इंच व्यास तक भी होते हैं, जिनका एक पृष्ठ उन्नत तथा दूसरा तल कुछ नतोदर (*Concavo-convex*) होता है। उक्त रूप वाँस के पोर या गाँठ (जिससे प्राप्त हुआ होता है) के अनुरूप वनने के कारण होते हैं। वाँस से प्राप्त नैसर्गिक वंशलोचन तो कुछ काली आभा लिये तथा मटमैला होता है। इसे विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा पका कर साफ किया जाता है, जिससे व्यवसाय में व्यवहृत करने के योग्य हो जाता है। जो वजन में हल्का, रंग में हल्की नीली आभा लिये सफेद सीप के समान होता है, उसे 'तवाशीर सद्फ़ी' या 'तवाशीर कवूद' कहते हैं। यह उत्तम समझा जाता है। असली वंशलोचन श्वेत वर्ण का एवं उसमें किंचित् नीली झांई दिखाई देती है, जो नकली वंशलोचन में भी पायी जाती है। यह साधारण कड़ा होता है और हाथ की अंगुलियों से दवाने पर शीघ्र टूट नहीं जाता। यह पानी को सोख लेता है, किन्तु शीघ्र नहीं घुलता। इस पर पानी डालने से यह पारदर्शक हो जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – वंशलोचन को वायु-धूलरहित अनार्द्र शीतल स्थान में वन्द डिव्वों में रखें।

संगठन – वंशलोचन में ९०% तक सिलिका तथा मंडूर, सुधा (*Lime*) ऐलुमिनियम एवं पोटास प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव–रस–कषाय, मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–वातपित्तशामक, तृष्णानिग्रण, ग्राही, हृद्य, रक्तस्तम्भक, कफनिस्सारक, श्वासहर, मूत्रल, ज्वरघ्न, वल्य, वृंहण आदि। यूनानी मतानुसार वंशलोचन शीत एवं रूक्ष है।

मुख्य योग–सितोपलादि चूर्ण, तालीशादि चूर्ण, क़ुर्स तवाशीर।

विशेष – आजकल वंशलोचन का मूल्य वहुत वढ़ जाने से नकली वंशलोचन या तदनुरूप द्रव्य भी मिलाये जाते हैं।

वचा (वच) घोड़वच

नाम। (१) घोड़वच–सं०–वचा, उग्रगन्धा, षड्ग्रंथा, गोलोमी शतपर्विका। हिं०–वच, वछ, घोड़वच। वं०–वच। गु०–घोड़ावज। म०–वेखंड। फा०–अगरेतुर्की, कारूनक। अ०–(मख़्जन एवं मुहीत आज़म)–वज (वज्ज), ऊदुल्वज्ज। अं०–स्वीट फ्लैग (*Sweet Flag*), कैलेमस रूट (*Calamus Root*)। ले०–कालामुस *Calamus*। वनस्पति का नाम–आकोरुस कालामुस *Acorus calamus Linn.* (२) वालवच–इसका वर्णन आगे स्वतंत्र शीर्षक में किया जायगा।

वानस्पतिक कुल – सूरण-कुल (आरासे *Araceae*)।

प्राप्तिस्थान – यह पूर्वी यूरोप एवं मध्य एशिया का आदिवासी पौधा है। भारतवर्ष में सर्वत्र (हिमालय प्रदेश में १८२८.८ मीटर या ६,००० फुट की ऊँचाई तक) घोड़वच के स्वयंजात एवं लगाये हुए दोनों प्रकार के पौधे मिलते हैं। मणिपुर और नागा की पहाड़ियों में तथा कश्मीर में झीलों और सोतों के किनारे यह पुष्कल होता है। इसके सुखाये हुए मूलस्तम्भ या भौमिक काण्ड (*Rhizome*) वाजारों में घोड़वच नाम से विकता है।

संक्षिप्त परिचय – घोड़वच के ६० सें० मी० से १.५ मीटर या २ से ५ फुट ऊंचे कोमल क्षुप होते हैं, जो जलाशयों के पास तथा दलदली भूमि में पुष्कल होते हैं। पत्तियाँ ईरसा (*Iris*) की पत्तियों की भाँति असिवत् या तलवार की तरह अर्थात् खड्गाकार (*Ensiform*)

तथा ०.६ से १.२ मीटर या २–४ फुट तक लम्बी और १.२५ से २.५ सें० मी० या ½ से १ इंच तक चौड़ी और हरे रंग की किनारे किंचित् लहरदार होते हैं। पुष्पव्यूह बाली की भाँति (*Spadix*) होता है, जो ५ से १० सें० मी० या २ से ४ इंच लम्बा, अवृन्त (*Sessile*) तथा वेलनाकार (व्यास में १२.५ से १८.७५ मि० मी० या ½ से ¾ इंच) तथा अग्र पर स्थित होता है। इसमें पीताभ श्वेत पुष्प सघन (ठसाठस) स्थित होते हैं। पत्रकोश (*Spathe*) १५ सें० मी० से ७५ सें० मी० या ६ से ३० इंच तक लम्बा होता है। फल छोटे-छोटे मांसल वेरी (*Berries*) होते हैं, जिनमें अनेक वीज होते हैं। इसका मूलस्तम्भ या भौमिक काण्ड अदरख की भाँति भूमि में फैलता है, और मध्यमांगुली के समान स्थूल, ५–६ पर्व वाला, खुरदरा, झुर्रीदार, रोमश, भूरे रंग का और सुगंधित होता है। इसकी पत्तियाँ भी सुगन्धित होती हैं। विदेशों में इससे एक इत्र भी निकाला जाता है।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ (भौमिक काण्ड या पाताली धड़ (*Rhizome*)।

मात्रा – १२५ मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या १ से ५ रत्ती। वमनार्थ–६२५ मि० ग्रा० से लगभग २ ग्राम या ५ से १५ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वचा की उक्त जड़ें अवस्तल पर चपटी तथा ऊर्ध्व तल वेलनाकार रूपरेखा (*Sub-cylindrical*) का होता है। यह प्रायः २० सें० मी० या ८ इंच तक लम्बी और १.८७५ सें० मी० या ¾ इंच तक मोटी तथा टेढ़ी-मेढ़ी-सी होती हैं। ताजे भौमिक काण्ड पर सूत्राकार जड़ों की एक माला-सी होती है। इन्हें तोड़ने पर छोटे-छोटे विन्दुओं के रूप में इनके चिह्न वने होते हैं। वाजार में इनके काट कर सुखाये हुए छोटे-बड़े टुकड़े मिलते हैं, जो विना छिलका उतारे (*Unpeeled*) होने पर वाहर से हल्के भूरे रंग के होते हैं तथा ऊर्ध्व तल पर पर्व की भाँति गाढ़े उन्नत चिह्न (*Annulate*) पाये जाते हैं, जहाँ शल्कपत्रों के अवशेष (*Remnants of circular bud-scales*) तथा वाल की भाँति भूरे तन्तु लगे होते हैं। पार्श्वों में कहीं-कहीं टूटी हुई शाखाओं के गोलाकार वड़े चिह्न तथा अवस्तल एवं किनारों पर टूटी हुई सूत्राकार जड़ों के चिह्न तथा विशेष होते हैं। सूखने पर ऊर्ध्व तल कुछ सिकुड़ा-सा (*Shrunken*) होता है, तथा अनुलम्ब दिशा में पतली-पतली दरारें भी पायी जाती हैं। तोड़ने पर यह टुकड़े खट से टूटते हैं और अन्दर का भाग श्वेत एवं स्पंजी (*Spongy*) मालूम होता है। सूँघने में वचा की जड़ों में एक मनोरम सुगंधि पायी जाती है; तथा स्वाद में यह कड़वी एवं चरपरी या तीती और तीक्ष्ण होती हैं। वचा का चूर्ण हल्के पीताभ नारङ्ग वर्ण (*Weak yellowish-orange*) का होता है। ईरानी वच कुछ कालाई लिये और अधिक सुगन्धित होती है। वचा में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम १%, कुल भस्म अधिकतम ६%, अम्ल में घुलनशील भस्म अधिकतम ½% तथा ऐल्कोहॉल् (७०%) में घुलनशील सत्व कम से कम २०% होता है। **शक्ति प्रमापन** (*Assay*) – वचा की शक्ति प्रमापन के लिए इसकी प्रतिशतक उत्पत् तैल का प्रमापन किया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – वाजार में व्यापारी कभी-कभी वच के नाम पर देशी कुलञ्जन (*Alpinia galanga*) की जड़ें दे देते हैं। "अकोट वच *AKot bach*" के नाम पर वत्सनाभ की कतिपय जातियों की जड़ दे दी जाती है। अतएव वच नाम के भ्रम से घोड़वच में उक्त द्रव्यों के मिलावट की सम्भावना रहती है। छिलका उतारे हुए वच के चूर्ण में कभी-कभी दालों का पिसान (*Cereal Flours*) एवं खत्मी (*Althoea*) आदि के चूर्ण मिलाये जाते हैं। वचा चूर्ण में स्टार्च के कण अधिकतम १० म्यू के वरावर होते हैं। विना छिलका उतारे वचा के चूर्ण में स्क्लिरेन्काइमा (*Schlerenchyma*) एवं क्रिस्टलतन्तु (*Crystal fibres*) अधिक नहीं पाये जाते।

संग्रह एवं संरक्षण – वचा के टुकड़ों को मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र (*Dry*) स्थानों में रखना चाहिए। चूर्ण को अच्छी तरह डाटवन्द पात्रों में रखें ताकि अन्दर नमी न पहुँचे।

संगठन – इसमें १½ से ३½% तक एक उत्पत् तैल (*Volatile oil*) पाया जाता है, जिसमें पाइनीन (*x-pinene*) एवं कैम्फीन (*Camphene* ०.२%) आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त कैलेमेन (*Calamen* ४%), कैलेमेनोल (*Calamenol* ५%), केलामेनोन (*Calamenon* १%),

एसेरोन (*Asaron*) तथा एकोरिन (*Acorin*) नामक एक चिपचिपा या गाढ़ा तथा ग्लाइकोसाइड स्वरूप का तिक्त सत्व एवं केलामीन नामक *calamine* भास्मिक तत्त्व, २१/३% एक रेजिन एवं टैनिन, म्यूसिलेज, स्टार्च तथा कैल्सियम ऑक्ज़लेट आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण – लघु, तीक्ष्ण, सर। रस – तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य – उष्ण। प्रभाव – मेघ्य। प्रधान कर्म–वाह्यतः वेदनास्थापन एवं शोथहर; वातकफ शामक, पित्तवर्धक, मेध्य, संज्ञास्थापन एवं वेदनास्थापन दीपन, (अल्प मात्रा में) कटु पौष्टिक, शूलप्रशमन, अनुलोमन, (अधिक मात्रा में) वामक, हृदयोत्तेजक, श्वास-कासहर, कण्ठ्य, मूत्रजनन, गर्भाशयोत्तेजक, स्वेद-जनन, ज्वरघ्न (सन्निपात ज्वर में विशेष उपयोगी)। यूनानी मतानुसार गरम एवं खुश्क है। अहितकर–उष्ण प्रकृति (पित्त प्रकृति) के लिए। निवारण–सौंफ, सिकंज-बीन या नीबू का शरवत। प्रतिनिधि–जीरा, रेवन्द चीनी।

मुख्य योग – वचाब्राह्मी योग, वचादि चूर्ण, सारस्वत चूर्ण, मेध्य रसायन।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) लेखनीय, अर्शोघ्न तृप्तिघ्न, आस्थापनोपग, शीतप्रशमन एवं संज्ञास्थापन महाकषाय तथा विरेचन (सू० अ० २) एवं तिक्तस्कन्ध (वि० अ० ८) और शिरोविरेचन द्रव्यों में वचा भी है। सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि, वचादि, मुस्तादि एवं ऊर्ध्वभागहर वर्ग में भी वचा है।

(२) वालवच।

नाम। सं०–श्वेतवचा, हैमवती, पारसीकवचा। हिं०–वालवच, सफेदवच, खुरासानी वच, दुधवच, दुधिया वच, मीठी वच, सतुआ (नेपाली)। वं०–खोरासानी वच, शादा वच। म०–पाँढरें वेखंड। गु०–खुरासानी वच, वालावच। फा०–सोसन ज़र्द, वज्जे खुरासानी। ले०–पारिस पॉलीफ़ील्ला (*Paris polyphylla Smith.*)।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसे *Liaiaceae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर-पश्चिमी समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश (*Temperate Himalayas*) में छायादार जगहों में इसके पौधे पाये जाते हैं। शिमला में १८२८०८ मीटर या ६,००० फुट की ऊंचाई पर छायादार जगहों में इसके पौधे काफी मात्रा में पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके छोटे-छोटे चिकने शाकीय पौधे (*Herbs*) होते हैं, जिसके विभिन्न अंगों के आकार-प्रकार में बड़ी नानारूपता पायी जाती है। इसका भौमिक काण्ड भी जमीन में फैलता (*Rootstock Creeping*) हैं; काण्ड (*Stem*) ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० या १२–१८ इंच ऊंचा प्रायः शाखारहित होता है। पत्तियाँ संख्या में ४–६, रूपरेखा में भालाकार तथा लम्बे नुकीले अग्रों वाली होती हैं, जो ७.५ से १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्बी होती हैं और काण्ड के सिरे पर छत्रक की भाँति स्थित होती हैं, जिनके बीच से एकल पुष्पवाहक दण्ड निकलता है। पर्णवृन्त छोटे (*Shortly stalked*) होते हैं। संवर्णकोश या परिदलपुंज (*Perianth*) में १२ खण्ड होते हैं, जो स्थायी तथा २ असमान चक्रों (*2-dissimilar series*) में स्थित होते हैं। वाहरी चक्र के पत्र २.५ से १० सें० मी० या १–४ इंच लम्बे तथा पत्तियों की भाँति हरे और आभ्यन्तर चक्र के पत्र प्रायः वाहरी चक्र की पत्तियों की अपेक्षा छोटे (कभी-कभी बड़े), रेखाकार (*Linear*) तथा हरिताभ-पीत या पीत वर्ण के होते हैं। पुंकेशर (*Stamens*) संख्या में सवर्णकोश खण्डों (८–१२) के बराबर। कुक्षिवृन्त (*Style*) प्रायः ४–५ शाखाओं में विभक्त होता है, जो ऊपरी सिरे पर नीचे को मुड़े होते (*Curved tips*) हैं। फल (*Capsule*) गोलाकार सुराहीनुमा, व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच तथा पकने पर पीताभ-भूरे रंग का होता है, जिसके अन्दर लाल रंग के अनेक छोटे-छोटे लम्बगोल बीज होते हैं। इसकी जड़ के काट कर सुखाये हुए टुकड़े वाजार में वालवच के नाम से वेचे जाते हैं।

उपयोगी अंग – मूल स्तम्भ या भौमिक काण्ड।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कहीं-कहीं इस नाम से आयरिस (*Iris*) जाति की विभिन्न औषधियों की जड़ मिलती है।

विशेष – (१) व्यवहार में प्रायः चिकित्सक वाह्य प्रयोग के लिए व्यवहृत योगों में घोड़वच एवं आभ्यन्तर सेवन के लिए वालवच का प्रयोग करते हैं।

(२) भावप्रकाशकार ने वचा विशेषण से इसके ४ प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) वचा (घोड़

वच), इसका वर्णन पहले किया गया है। (२) पारसीक वचा, हैमवती शुक्ला (वालबच या दुधवच)-इसका वर्णन भी किया गया है। (३) महाभरी वचा या मलयवचा-इससे चीनी एवं देशी कुलंजन का ग्रहण होता है। इनका वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। (४) द्वीपान्तर वचा (चोवचीनी)-इसका भी वर्णन पहले किया जा चुका है। ध्यान रहे कि उक्त विभिन्न वचा भिन्न-भिन्न वानस्पतिक कुलों की वनस्पतियाँ हैं।

वत्सनाभ – दे०, 'वछनाग'।

वरुण – दे०, 'बरना'।

विदारीकन्द (पतालकोंहड़ा)

नाम। सं०-विदारी, कन्दपलाश, भूमिकूष्माण्ड। हिं०-विदारीकन्द, विलाईकन्द, पतालकोंहड़ा। म०-बेंदर, वेंदरिया वेल। गु०-खाखरवेल, विदारीकन्द। (देहरादून, सहारनपुर) सुराल, सराल। खर०-पतालकोंहड़ा। संथा०-जनक्षीरा, चिर्रा। ऊ०-हाँडी फुटा, मूँई का कर्कारू। ले०-पुएरारिआ ट्यूबेरोसा। (*Pueraria tuberosa DC.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि - उपकुल (*Leguminosae : Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान — हिमालय प्रदेश की निचली पहाड़ियों के क्षेत्रों में (४,००० फुट तक), पंजाब, कुमायूं देहरादून एवं सहारनपुर के जंगल, नेपाल, आसाम, बंगाल, आबू की पहाड़ियाँ, बिहार, उड़ीसा एवं दक्षिण भारत के जंगलों में विदारी की लताएँ प्रचुरता से पायी जाती हैं। ये लताएँ प्रायः नदी नालों के करारों में अधिक पायी जाती हैं। इसके छोटे-छोटे मुलायम और नवीन कन्द हरद्वार आदि की सब्जी मण्डियों में सराल नाम से बिकते हैं। कन्द की गोलाकार काटे हुए कतरों की सुखाई हुई पपड़ियाँ बाजारों में विदारीकन्द के नाम से बिकती हैं।

संक्षिप्त परिचय – विदारी की चक्रारोही एवं मोटी सुविस्तृत लताएँ होती हैं, जिनका काण्ड छिद्रल (*Porous*) होता है। पत्तियाँ पलाश की भाँति त्रिपत्रक होती हैं, जिनमें अग्रच पत्रक तिर्यगायताकार (*Rhomboid*) और पार्श्व के दोनों पत्रक तिरछे-लट्वाकार होते हैं। उक्त पत्रक प्रायः १० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बे और ७.५ से १० सें० मी० या ३-४ इंच चौड़े एवं लम्बी नोक वाले होते हैं। इनके अवः पृष्ठ पर सघन रोम होते हैं। विदारी की लताएँ पत्रकों के गिरने पर फूलती हैं। पुष्पमञ्जरी १५ से ४५ सें० मी० या ६-१८ इंच तक लम्बी होती हैं और पुष्प नीले या नील रक्त (*Purple*) तथा फलियाँ ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच लम्बी और रोमश होती हैं। जमीन के नीचे इसमें प्रायः कई कन्द रहते हैं, जो काण्ड से दृढ़ मूल शाखा के द्वारा जुड़े रहते हैं, और नीचे भी मूल शाखा पुनः निकली रहती है। बड़े कन्द प्रायः गोलाकार (*Globose*) होते हैं। कभी-कभी कन्द २ फुट तक लम्बे एवं मोटाई में ७५ सें० मी० या २½ फुट घेरा तक पाये जाते हैं। कंदों में कुछ-कुछ मुलेठी का स्वाद आता है, इसलिए विदारी को 'स्वादुकंद' या 'इक्षुविदारी' आदि नाम दिया गया है। ये लताएँ घोड़ों को बहुत प्रिय होती हैं। इसीलिए इसे 'गजवाजिप्रिया' नाम दिया गया है। मारवाड़ में इसे 'घोड़वेल' कहते भी हैं। ताजे कन्दों को काट कर, उबाल कर स्थानिक लोग खाते भी हैं। पतझड़ काल-नवम्बर से मई तक। पुष्पागम-मार्च-अप्रैल। फलागम-नवम्बर-दिसम्बर।

उपयोगी अंग – कन्द।

मात्रा – ३ ग्राम से ११.६ ग्राम या ३ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – विदारी के कन्द (*Tubers*) आकार-प्रकार एवं लम्बाई-मोटाई में अनेक प्रकार के होते हैं। छोटे कन्द प्रायः सेव के आकार के या शंक्वाकार अथवा शलगमाकार तथा बड़े कन्द गोलाकार या तर्क्वाकार (*Spindle-shaped*) होते हैं। बाह्यतः यह हल्के भूरे रंग के होते हैं। कतरे की तरह काटने पर अन्दर का भाग सफेद तथा गूदेदार मालूम होता है। इस प्रकार कटे तल पर अनेक एक केन्द्रिक वृत्ताकार रेखाएँ (*Concentric rings*) दिखाई पड़ती हैं तथा मज्जकिरण (*Medullary rays*) भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। स्वाद में यह किंचित् मधुर, लुआबी एवं तीक्ष्ण तथा तिक्त होता है। कटे हुए तल पर आयोडीन या फेरिक क्लोराइड सॉल्यूशन डालने पर कोई रंग परिवर्तन नहीं होता। बाजार में इसके गोल-गोल कतरे काट कर सुखाये हुए विभिन्न आकार-प्रकार के पतले-चपटे सफेद टुकड़े मिलते हैं। भस्म-१८.०१% प्राप्त होती है।

स्थानापन्न द्रव्य एवं मिलावट – बंगाल में विदारी या भूमि

कुम्हड़ा के नाम से प्रायः इपोमेआ डीजीटाटा (*Ipomoea digitata* R. Br. *Syn. I. digitata Linn.* (*Family Convolbuulaceae*) कन्द विकते हैं। यह बाहर से भूरे रंग का और कतरे की भाँति काटने पर अन्दर मटमैले सफेद रंग का होता है। कन्द काटने पर प्रचुर क्षीर (*Viscid milky fluid*) निकलता है। यह शास्त्रकारों की 'क्षीर विदारी' हो सकती है। गुण-कर्म की दृष्टि से दोनों कन्द एक दूसरे के प्रतिनिधि द्रव्य हो सकते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – इसके कन्द काफी गहराई तक होते हैं। नदियों या नालों के करारों पर स्थित लताओं के कन्द आसानी से खोदे जा सकते हैं। उत्तम कन्दों को लेकर गोल-गोल पतले कतरे काट कर उन्हें सुखा लें और मुखवन्द (ढक्कनदार) पात्रों में सुरक्षित करें।

संगठन – कन्द में रालीय तत्त्व, शर्करा एवं स्टार्च पाया जाता है। क्षीरविदारी (वंगीय विदारी) में स्टार्च की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, (तिक्त)। विपाक–मधुर। वीर्य-शीत। प्रधान कर्म–वल्य, बृंहण, रसायन, स्तन्यजनन, वाजीकर, मूत्रल, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन। श्वयथु विलयन के लिए इसे जल में पीस कर लेप करते हैं। यूनानी मतानुसार गरम एवं खुश्क होता है।

मुख्य योग– विदारीकन्द का प्रयोग एकौषधि के रूप में भी करते हैं, और योगों में भी पड़ती है।

विधारा, बंगीय

नाम। सं०–वृद्धदारु। हिं०–घावपत्ता, समुन्दरशोख? विधारा? वं०–विज्ताड़क, विद्धताड़क। म०– समुद्रशोक। गु०–समदरशोष, वरधारो। मा०–समन्दरसोख। अं०–दि एलिफेन्ट क्रीपर (*The Elephant Creeper*)। ले०–आर्जिरेआ स्पेसिओजा (*Argyreia speciosa Sweet.*)।

वानस्पतिक कुल – त्रिवृत्-कुल (कॉन्वाल्वुलासे : *Convolvulacāe*)।

प्राप्तिस्थान – पश्चिम भारत के शुष्क प्रदेशों को छोड़ कर प्रायः समस्त भारतवर्ष में १५४.६ मीटर या १००० फुट की ऊँचाई तक इसकी काष्ठीय लता स्वयंजात पायी जाती है। घरों के सामने एवं वाटिकाओं में सौन्दर्य के लिए इसकी लगायी हुई लताएँ भी प्रायः सभी जगह मिलती हैं। इसके काष्ठीय काण्ड एवं जड़ के टुकड़े वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं, जो 'विधारा' के नाम से वेचे जाते हैं। वंगीय वैद्य शास्त्रीय 'वृद्ध दारुक' इसी को मानते हैं। **वक्तव्य**–वाजारों में 'समुन्दर सोख' या 'कम्मरकस' नाम से जो वीज विकते हैं, वह विधारा के वीज न होकर, तुलसी जातीय वनस्पति साल्विआ प्लेवेआ (*Salvia plebeia* R. *Br.*) के वीज होते हैं।

संक्षिप्त परिचय – घावपत्ता (विधारा?) की वृक्षों के ऊपर फैली हुई मोटी-मोटी लताएँ (*Woody climber*) होती हैं। नवीन शाखाओं पर श्वेताभ या तूलरोमश सघन आवरण होता है। पत्तियाँ व्यास में १५ से ३० सें० मी० या ६–१२ इंच और ऊपरी पृष्ठ पर चिकनी, किन्तु अवस्तल पर श्वेताभ, और मखमली रोमावरण से युक्त होती हैं। रूपरेखा में यह लट्वाकार–हृद्वत् और सवृन्त, अग्र पर कुण्ठित या तीक्ष्ण तथा पर्णवृन्त ७.५ से २२.५ सें० मी० या ३–९ इंच लम्वा होता है। पुष्प व्यास में ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच, रूपरेखा में नलिकाकार-घंटिकाकृति, वाहर से सफेद एवं तूलरोमश, किन्तु अन्दर गुलावी या जामुनी रंग के होते हैं। फल व्यास में ¾ इंच, रूपरेखा में गोलाकार होते हैं, जिनके शीर्ष पर एक रोम (*Apiculate*) होता है। कच्चे फल हरे रंग के तथा पकने पर पीताभ धूसर होते हैं। पकने पर यह स्वयं फटते हैं, जिसमें तीन-धार वाले, सफेद भूरे वीज़ निकलते हैं। वर्षा से शीतकाल तक पुष्प तथा वाद में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – मूल एवं काण्ड तथा वीज।

मात्रा – मूल (तथा काण्ड)—१.५ से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा।

वीज–०.५ से १ ग्राम या ४ से ८ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – घावपत्ते की जड़ लम्वी, काष्ठीय (*Woody*) तथा चिमड़ी (*Tough*) होती है, जिसकी छाल गाढ़े भूरे रंग की होती है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर मध्य में सुषिर काष्ठीय ऊति (*Central porous woody column*) होती है, जिसके चारों ओर एक केन्द्रिक वृत्तों में काष्ठीय तन्तु स्थित होते हैं। इन वृत्तों के वीच-वीच में तनुभित्तिक ऊति या पैरेंकाइमा (*Parenchyma*) पायी जाती है। केन्द्रस्थ काष्ठीय भित्ति में आक्षीर-वाहिनियाँ (*Lactiferous vessels*) होती हैं, जिनमें पीले रंग का दूध (*Yellowish latex*) मिलता

है। तन्भित्तिक ऊति में रेफाइड्स-पुंज (*Conglumerate raphides*) होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – विधारा के मूल एवं बीजों को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए।

संगठन – उक्त विधारा की जड़ों में अम्लीय राल तथा टैनिन की भाँति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध। रस–कटु, तिक्त, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक; व्रणपाचन, दारण, शोधन, रोपण; मेध्य, नाड़ीबल्य, दीपन, आमपाचन, अनुलोमन, रेचन, शोथहर, प्रमेहघ्न, बल्य, रसायन, शुक्रजनन आदि।

विशेष – विधारा एक संदिग्ध द्रव्य है। वंगीय वैद्य 'वृद्धदारुक' नाम से उपर्युक्त औषधि का ग्रहण करते हैं। इसीलिए विधारा नाम इसके लिए प्रचलित हो गया है। दक्षिण भारत में **मरियाद बेल** (*Ipomoea biloba-Forsk.* (*Family : Convolvulaceae*) का ग्रहण विधारा के स्थान में किया जाता है। इलाहाबाद एवं कानपुर के बाजारों में चित्रकूट के जंगलों से विधारा नाम से जो ओषधि आती है, वह **ईपोमेआ पेटालोइडेआ** (*Ipomoea petaloidea Chois.*) नामक त्रिवृत्-जातीय लता की जड़ होती है। इसके असली विधारा होने की सम्भावना अधिक है। यह निशोथ की जाति की एक लता की प्रसिद्ध जड़ है, जो खाकी या भूरी, हलकी और मुलेठी के बराबर मोटी होती है। किन्हीं-किन्हीं बाजारों में इसी के विभिन्न आकार-प्रकार के काट कर सुखाये हुए टुकड़े मिलते हैं। इसके कटे हुए तल पर गोंद की तरह एक चीज (जमा हुआ दूध) लगा होता है। स्वाद में यह कुछ कड़ुआहट लिये फीका होता है। इसका ६ माशा चूर्ण फाँकने से विना कष्ट के ५–६ दस्त आ जाते हैं।

व्याघ्रनखी-दे०, 'करेरुआ'।

शंखपुष्पी (शंखाहुली)

नाम। सं०–शंखपुष्पी, क्षीरपुष्पी। हिं०–शंखाहुली, शंखपुष्पी। ले०–कॉन्वाल्वुलस प्लूरीकाउलिस (*Convolvulus pluricaulis Chois.*)।

वानस्पतिक कुल – त्रिवृत्-कुल (कॉन्वाल्वुलासे *Convolvulaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में पथरीले एवं परती भूमि में इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – शंखपुष्पी के प्रसरणशील छोटे-छोटे घास के समान पौधे होते हैं। मूलस्तम्भ प्रायः बहुवर्षायु होता है, जिससे १० से ३० सें० मी० या ४–१२ इंच लम्बी, रोमश, कुछ-कुछ उत्थित या खड़ी या प्रसरी शाखाएँ निकलकर फैली रहती हैं। पत्तियाँ १.२५ से ३.७५ सें० मी० या ।।–१।। इंच लम्बी रेखाकार नीचे की ओर कुछ-कुछ अभिप्रासवत् या प्रतिमालाकार (*Oblanceolate*), अवृन्त तथा सूक्ष्मरोमश और तीन-तीन शिराओं से युक्त होती हैं। पुष्प हल्के गुलाबी रंग के अथवा सफेद होते हैं। वाह्य दल रोमश और रेखाकार प्रासवत् और आभ्यन्तर कोश कुप्पी के आकार का और बाहर से रोमश होता है। इसमें २ कुक्षियाँ होती हैं। मूल १० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच लम्बा (कभी ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० या १–१।। फुट तक लम्बा), पतला, किंचित् रोमश तथा हरिताभ श्वेत होता है। फल छोटे-छोटे तथा शाखाग्रों पर अथवा पार्श्वदेश में लगते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – स्वरस–२ से ४ तोला।

चूर्ण—३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

फाण्ट—२ से ५ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा एवं प्रतिनिधि द्रव्य – पुष्प के रंग भेद से इसकी तीन जातियाँ बतलायीं गयी हैं, यथा—(१) श्वेत, (२) रक्त एवं (३) नील। शंखपुष्पी नाम से वस्तुतः श्वेतपुष्पी का ही ग्रहण होना चाहिए, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। कतिपय अन्य औषधियों का भी ग्रहण शंखपुष्पी के नाम से किया जाता है: (१) कॉन्वाल्वुलस आल्सीनोइडेस *Convolvulus alsinoides Linn.* (*Family : Convolvulaceae*) — इसको 'विष्णुक्रान्ता' या 'नीलपुष्पी' कहते हैं। इसके छोटे-छोटे सुन्दर प्रसरशील क्षुप होते हैं। मूल के ऊपर से १० सें० मी० से ३७.५ सें०मी० या ४–१५ इंच लम्बी अनेक शाखाएँ निकल कर चारों ओर फैली रहती हैं। ६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या २.५सें० मी० या पत्तियाँ रेशमतुल्य मुलायम रोमों से युक्त होती हैं। पुष्प भड़कीले नीले रंग के होते हैं और दो या तीन की

संख्या में पतले पुष्पदण्डों के अग्र पर स्थित होते हैं। कुक्षिवृन्त दो और पुनः द्विविभक्त होते हैं। फल में २–४ फाँक होते हैं। (२) कांस्कोरा डेकुस्साटा (*Canscora decussata Schutlt.* (जेंटिआनासे : *Gentianaceae*)– इसको कालमेघ (को०); संखाहुली (हिं०); दानकुनी– (बं०) कहते हैं। कान्सकोरा डेकुस्साटा के १५ से ३७.५ सें० मी० या ६–१५ इंच ऊंचे और त्रिविभक्त एवं चौकोन और सपक्ष काण्ड वाले क्षुप होते हैं, जो सामान्यतया सर्वत्र भारतवर्ष में (विशेपतः नम स्थानों में, १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊंचाई तक) पाये जाते हैं, किन्तु बंगाल, विहार में विशेष रूप से होते हैं। बंगाल के वैद्य शंखपुष्पी नाम से प्रायः इसी का ग्रहण करते हैं। अतः भ्रम से इसका हिन्दी नाम 'संखाहुली' लिख दिया गया है। इसी प्रकार कोल भाषीय 'कालमेध' नाम भी भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होता है। दानकुनी की पत्तियाँ अवृन्त, अभिमुख क्रम से स्थित, प्रासवत् (भालाकार) या आयताकार प्रासवत् तथा तीन-तीन शिराओं वाली होती हैं। नीचे की पत्तियाँ २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बी, किन्तु ऊपर की क्रमशः छोटी होती हैं। पुष्प श्वेत, अनियताकार और कुछ-कुछ द्वि-ओष्ठ, पुंकेसर ४, जिनमें एक अपेक्षाकृत बहुत बड़ा होता है। कुल-धर्म के अनुसार इसमें भी शंखपुष्पी के कुछ गुण-कर्म पाये जाते हैं। कहीं-कहीं शंखपुष्पी को "कौड़ेना" नाम भी दिया जाता है। किन्तु कौड़ेना वास्तव में (*Ipomoea muricata Jacq.*)को कहते हैं, जिसके वीज कालादाना के स्थान में प्रयुक्त किये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – छायाशुष्क पंचाङ्ग को मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – ६ माह से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, सर। रस–कषाय, कटु, तिक्त। विपाक–मधुरः। वीर्य–शीत। प्रभाव–मेध्य। कर्म–त्रिदोपहर, विशेपतः, वातपित्तसंशमन, मेध्य, मस्तिप्कशामक एवं नाड़ीवल्य, दीपन-पाचन, अनुलोमन, सारक, हृद्य, रक्तस्तम्भन, स्वर्य एवं कफनिस्सारक, मूत्रविरेचन, प्रजास्थापन, कुष्ठघ्न, त्वग्रोगशामक, ज्वरघ्न, दाह प्रशमन, रसायन, एवं वल्य।

मुख्य योग – शंखपुष्पी पानक, अमृतादि रसायन।

विशेष – शंखपुष्पी उत्तम मेध्य द्रव्य है। ताजे पंचाङ्ग का सेवन ठंढई के साथ पीस कर कर सकते हैं। चरक संहिता (चि० अ० १) में भी मेध्यकर्म के लिए शंखपुष्पी के प्रयोग का निर्देश है।

शतपुष्पा – दे०, 'सोआ'।

शतावरी – दे०, 'सतावर'।

शर – दे०, 'सरपत'।

शरपुंखा – दे०, 'सरफोंका'।

शिलारस (सिल्हक)

नाम। सं०–सिल्हक, तुरुष्क। हिं०, म०, बं०–शिलारस, गु०–शेलारस, शिलारस। अ०–मीआसाइला, लब्नी। फा०–अंवर माइअ। अं०–लिक्विड स्टोरैक्स (*Liquid Storax*)। वृक्ष का नाम–(१) विदेशी लिक्विड अंवर ओरिएन्टालिस (*Liquid ambar orientalis Mill.*); (२) देशी–आल्टींजिआ एक्सेलसा (*Altingia excelsa Noronha*)।

वानस्पतिक कुल – सिल्हक-कुल (हामामेलीडासे (*Hamamelidaceāe*)

प्राप्तिस्थान – लिक्विड अंवर ओरिएन्टालिस के वृक्ष दक्षिण-पश्चिमी टर्की में प्रचुरता से पाये जाते हैं। आल्टींजिआ एक्सेलसा के वृक्ष, पूर्वी बंगाल, आसाम, भूटान तथा ब्रह्मा, पेगू, चीन, मलाया एवं जावा आदि में होते हैं। शिलारस का आयात वम्बई वाजार में प्रधानतः टर्की से ही होता है। यह सर्वत्र पंसारियों के यहाँ मिलता है। देशी शिलारस विदेशी शिलारस का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। और यह भी वाजारों में उपलब्ध होता है।

संक्षिप्त परिचय – शिलारस उक्त वृक्षों का तैल युक्त रालीय निर्यास (*Oleo-resin*) होता है, जो काण्डत्वक् को क्षत करने से प्राप्त किया जाता है। लिक्विड अंवर ओरिएन्टालिस के मध्यम कद के वृक्ष होते हैं। टर्की के दक्षिण-पश्चिम भाग में इसके जंगल पाये जाते हैं। ग्रीष्म के प्रारम्भ में वृक्ष की त्वचा को स्थान-स्थान पर पीट कर क्षतयुक्त कर दिया जाता है। इन्हीं स्थानों में निर्यास एकत्रित होता रहता है। शरद् के प्रारम्भ में छाल सहित निर्यास को खुरच कर निकाल लिया जाता है, और इसे पानी में उवाल कर वल्सम (*Balsam*) या शिलारस को पृथक् कर लेते हैं। अव शिलारस को इसी रूप में (*Crude storax*) अथवा विशोधन कर

(*Purified storax*) बाजारों में भेजते हैं। आल्टींजिआ एक्सेल्सा के ऊँचे-ऊँचे पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं, जिनका काण्डस्कन्ध १८ मीटर से २४ मीटर या ६०–८० फुट तक ऊँचा, सीधा एवं मोटाई का व्यास (*Girth*) ३ मीटर या १० फुट तक होता है। इसका उपयोग इमारती लकड़ी एवं रेल की पटरियाँ बनाने में करते हैं। इसकी त्वचा पर क्षत करने से भी शिलारस प्राप्त होता है, जो विदेशी की अपेक्षा हीनकोटि का होता है, किन्तु उसके स्थान में व्यवहृत किया जा सकता है। इसका व्यावसायिक नाम 'बर्मीज स्टोरैक्स (*Burmese storax*)' है।

उपयोगी अंग – तैलयुक्त रालीयनिर्यास (*Oleo-resin*) या बल्सम (*Balsam*) जिसे शिलारस कहते हैं।

मात्रा – ५०० मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम या ४ से १० रत्ती (मुलेठी के चूर्ण के साथ)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – नया शिलारस मधु के समान गाढ़े अर्ध घन स्वरूप का, जल से भारी, अपारदर्शक तथा खाकस्तरी भूरे रंग का होता है। इसमें जल (२०–३०%), छाल के टुकड़े तथा अन्य अपद्रव्य भी मिले होते हैं। अतएव ऐल्कोहल् में विलीन कर इन अपद्रव्यों को पृथक् किया जाता है। शिलारस में जलीयांश भी मिला होने से यदि इसको रख दिया जाय तो कुछ समय के बाद जलीयांश ऊपर आ जाता है और पीले या गाढ़े भूरे रंग का रेजिन अंश नीचे बैठ जाता है। इसको गरम करने पर जलीयांश के नष्ट हो जाने से शिलारस गाढ़े भूरे रंग का प्राप्त होता है। नये शिलारस में तो मिट्टी के तेल या नेफ्थालीन-जैसी गंध आती है, किन्तु पुराना होने पर बल्सांवत् रुचिकारक गंध एवं स्वाद पाया जाता है। विलेयता–जल रहित शिलारस ऐल्कोहल् (९०%), कार्बन डाइ सल्फाइड, क्लोरोफॉर्म एवं ग्लेशिअल एसेटिक एसिड में घुलनशील होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – भारतीय शिलारस उक्त विदेशी शिलारस का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है।

संग्रह एवं संरक्षण – शिलारस को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें एक उड़नशील तेल, सिन्नेमिक एसिड, बेंजोइक एसिड, राल प्रभृति द्रव्य, वेनिलिन, स्टाइरोल एवं स्टाइरेसिन प्रभृति द्रव्य भी होते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल पर्यन्त।

स्वभाव – गुण–स्निग्ध, लघु। रस–तिक्त, कटु, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, पूतिहर, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न, वेदना स्थापन, मूत्रार्तव जनन, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न, उत्तेजक, एवं श्लेष्महर तथा पूतिहर। यूनानी मतानुसार तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है।

मुख्य योग – पञ्चगुण तैल।

विशेष – सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में सिल्हक (तुरुष्क नाम से) का पाठ है।

शीशम (शिंशपा)

नाम। सं०–शिंशपा, कृष्णसारा। हिं०–शीशम, सीसम, सीसो। बं०–शिशुगाछ। पं०–शरईं। म०– शिसव। गु०–सीसम। अ०–सासम। फा०– शीशम। अं०–सीसु (*Sisso*)। ले०–डाल्बेर्गिआ सिस्सू (*Dalbergia sissoo Roxb.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (*Leguminosāe : Papilionaceāe*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में शीशम के लगाये हुए अथवा स्वयंजात वृक्ष मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – शीशम के ऊँचे-ऊँचे पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं, जिसकी छाल मोटी, खाकस्तरी रंग की तथा लम्बाई के रुख कुछ विदीर्ण होती है। नयी शाखाएँ कोमल एवं अवनत होती हैं। पत्र एकान्तर, सपत्रक, पत्रक संख्या में ३–५, एकान्तर क्रम से स्थित, २.५ से ७.५ सें० मी० या १ से ३ इंच लम्बे रूपरेखा में चौड़े-लट्वाकार होते हैं। पुष्प पीताभ-श्वेत होते हैं, जो पत्रकोणोद्भूत मञ्जरियों में निकलते हैं। फली लम्बी, चपटी, ३.७५ से १० सें० मी० या १॥–४ इंच लम्बी तथा २–४ बीज युक्त होती है। इसका सारकाष्ठ (*Heart-wood*) पीताभ भूरे रंग का (कपिल सार) होता है। इसकी एक दूसरी प्रजाति का सारकाष्ठ कृष्णाभ भूरे रंग का (कृष्णसार) होता है। इसे डाल्बेर्गिआ लाटीफ़ोलिआ (*Dallbergia latifolia Roxb.*) कहते हैं। इसके वृक्ष अपेक्षाकृत छोटे तथा पुष्प श्वेताभ एवं सुगंधित होते हैं।

उपयोगी अंग – सारकाष्ठ (बुरादा), छाल, पत्र एवं बीज तैल।

मात्रा – चूर्ण—३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

स्वरस—१ से २ तोला।

क्वाथ—२॥ से १० तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – संग्राह्य अंगों को मुखबंद पात्रों में उपयुक्त स्थान में संरक्षित करें।

वस्तु संगठन – काष्ठ में एक तैल पाया जाता है, और फलियों में टैनिन (२%) पाया जाता है। बीजों में भी स्थिर तैल पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – कई वर्ष तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक। (काष्ठ) कुष्ठघ्न, कृमिघ्न, व्रणशोधन, रक्तशोधक, शोथहर, गर्भाशयसंकोचक, आर्त्तवप्रवर्त्तक, लेखन एवं; पत्र—रक्तस्तम्भन, मूत्रल, मूत्रमार्गस्नेहन, चक्षुष्य, पाण्डुहर। तैल—विभिन्न चर्मरोगों में तथा दुष्ट व्रणों पर लगाया जाता है। त्वक् (छाल)—गृध्रसी आदि वातविकारों में प्रयुक्त होती है। यूनानी मतानुसार शीशम पहले दर्जे में गरम और खुश्क है।

विशेष – चरकोक्त आसवयोनि सारवृक्षों (सू० अ० २५) में तथा कषाय स्कन्ध (वि० अ० ८) के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त सालसारादि एवं मुष्ककादि गण के द्रव्यों में शिंशपा (शीशम) का भी उल्लेख है।

शृंगीविष (मोहरी)

नाम। सं०–शृङ्गीविष। हिं०–सींगियाविष, मीष्तोलिया। अ०–खानेकुल नमर। अं०–एकोनाइट रूट (*Aconite Root*)। लै०–आकोनीटुम चस्मान्थुम (*Aconitum chasmanthum Stapf. ex. Holmes.*)।

वानस्पतिक कुल – वत्सनाभ-कुल (रानुन्कुलासे *Ranunculaceae*)

प्राप्तिस्थान – पश्चिमी हिमालय में चित्राल से हजारा और कश्मीर तक २१३३.६ मीटर से ३६५७.६ मीटर या ७००० से १२००० फुट की ऊँचाई के प्रदेशों में।

संक्षिप्त परिचय – क्षुप–द्विवर्षायु। मूल–युग्म, कन्दयुक्त, ५ सें० मी० या २ इंच लम्बा, १.२ सें० मी० या आध इंच मोटा। त्वचावर्ण—काला-भूरा, अन्तर्वर्ण श्वेत। सूखने पर झुर्रीयुक्त, भार में वत्सनाभ की अपेक्षा हलका। काण्ड—सीधा, साधारण, लगभग ०.६ से १.२ मीटर या २–४ फुट ऊँचा। पत्र–बहुसंख्यक, निम्न भाग के पत्र अधिक लम्बे पर्णवृन्तयुक्त।

पुष्प—बाह्य कोषदल नीलश्वेत, पुष्प-आभ्यन्तर-कोप दल संख्या में ५।

बीज—आकार में असमान, त्रिकोणाकार।

उपयुक्त अंग – शुष्क मूल।

मात्रा – शोधित विष $\frac{1}{2}$ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में इसके मिलने वाले मूलों में बहुधा वत्सनाभ की अन्य जातियों के मूलों का मिश्रण मिलता है। इसकी दोनों वर्षो की पुरानी और नयी जड़ें परस्पर जुटी रहती हैं। पहले वर्ष वाली जड़ प्रायः नयी जड़ की अपेक्षा छोटी और बहुत सिकुड़ी हुई होती है। बाजार में मिलने वाली जड़ों में वायव्य काण्ड का भी कुछ भाग जुटा रहता है। जड़ें बाहर से रंग में भूरी अथवा कालिमा लिये भूरी होती हैं, जो प्रायः २.५ सें० मी० से ४.३७५ सें० मी० या १ से १$\frac{3}{4}$ इंच लम्बी और १.२५ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० या $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ इंच चौड़ी होती हैं। इसमें विजातीय सेन्द्रिय द्रव्य अधिकतम २ प्रतिशत और अम्ल में अघुलनशील भस्म अधिकतम १ प्रतिशत प्राप्त होती है। इसके ९० प्रतिशत शक्ति के ऐल्कोहलिक एक्सट्रक्ट को गाढ़े गंधकाम्ल में मिलाने पर गहरा बैंजनी वर्ण उत्पन्न होता है। ५ प्रतिशत शक्ति के शोरकाम्ल (नाइट्रिक एसिड) में मिलाने पर एक श्वेत पदार्थ बन कर तल में बैठ जाता है। इसी प्रकार पिक्रिक अम्ल के पूर्ण विलयन से मिलाने पर पीले रंग का अवक्षेप बन जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण – पुराने क्षुपों के मूलों का संग्रह करके छोटे-छोटे टुकड़े करके सुखा कर भली भाँति मुखबन्द किये हुए जारों में शुष्क निर्वात स्थल पर रखें।

संगठन – शुष्क मूलों में इन्डेकोनीतीन ४.३ प्रतिशत, एकोनाइटिक एसिड और श्वेतसार आदि।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – रस–कटु। गुण–लघु, उष्ण, तीक्ष्ण। वीर्य–उष्ण। विपाक–कटु।

मुख्य योग – विदेशीय एकोनाइट (*Aconitum napellus*) की भाँति।

विशेष – मोहरी या आकोनीटुम चास्मान्थुम–विलायती एकोनाइट (आकोनीटुम नेपेल्लुस) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। चरकोक्त (चि० अ० २३) मलविषों में तथा सुश्रुतोक्त (कल्प० अ० २) कन्दविषों में शृंगीविष का भी उल्लेख है।

श्योनाक––दे०, 'सोनापाठा'।

श्लेष्मातक––दे०, 'लिसोढ़ा'।

सतावर (शतावरी)

नाम। सं०–शतावरी, शतमूली, अतिरसा। हिं०–सतावर। बं०–शतमूली। पं०–सतावर। जौनसार–शरनोई। देहरादून–शन्नावल (सतावर)। म०–शतावर। गु०–शतावरी। था०–सतावर। संथा०–केदारनारी। राँची–गंगतरंग। अं०–वाइल्ड ऐस्पेरेगस (*Wild Asparagus*)। ले०–आस्पारागुस रासेमोसुस (*Asparagus racemosus Willd.*)।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसे *Liliaceäe*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के समस्त उष्ण एवं समशीतोष्ण प्रान्तों में तथा हिमालयप्रदेश में ४,००० फुट की ऊँचाई तक शतावरी की जंगली लताएँ प्रचुरता से पायी जाती हैं। वगीचों में तथा वंगलों के सामने सौन्दर्य के लिए भी यदा-कदा लगायी हुई मिलती है। इसकी सुखायी हुई जड़ बाजारों में बिकती है।

संक्षिप्त परिचय – शतावरी के काँटेदार एवं आरोहणशील झाड़ीनुमा क्षुप (*Scandent shrub*) होते हैं, जो अनेक शाखाओं द्वारा चारों ओर फैले रहते ह। प्रशाखाएँ त्रिकोणाकार, चिकनी किन्तु रेखान्वित होती हैं। काँटे (*Spines*) कुछ-कुछ टेढ़े (*Recurved*) तथा ६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या ।–।। इंच लम्वे होते हैं। पत्राभासकाण्ड या पर्णाभ काण्ड (*Cladodes*) १.२५ से २.५ सें०.मी० या ।।–१ इंच लम्वे, नोकदार (*Subulate*) हँसिया के आकार के या दात्राकार (*Falcate*) तथा अवःपृष्ठ पर नालीदार (*Channelled beneath*) होते हैं, जो २–६ एक साथ गुच्छबद्ध निकलते हैं। पुष्प सफेद और सुगंधयुक्त तथा व्यास में २.५ से ३.७५ मि० मी० या $\frac{१}{१०}$ से $\frac{३}{२०}$ इंच होते हैं, जो २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्वी सशाख मंजरियों (*Racemes*) में निकलते हैं। फल गोलाकार व्यास में ३.७५ मि० मी० से ६.२५ मि० मी० या $\frac{३}{२०}$ से $\frac{१}{४}$ इंच तक तथा पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। मूलस्तम्भ से कन्द सदृश, लम्बगोल परन्तु दोनों सिरों पर क्रमशः पतले (तर्क्वाकार *Fusiform*) श्वेत मूलों का गुच्छा निकला रहता है, जिनका चिकित्सा में उपयोग होता है। यही सुखा कर वाजार में सतावर के नाम से विकते हैं। वर्षा के आरम्भ में इसके मूल से नवीन शाखाएँ निकलती हैं और फिर पुष्पों का आविर्भाव होता है। जाड़े में फल लगते हैं।

उपयोगी अंग – मूल (*Tuberous roots*)।

मात्रा–मूल स्वरस ––१ से २ तोला।

चूर्ण––३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – शतावरी कन्द ५ सें० मी० से २० सें० मी० या २ से ८ इंच तक लम्वे तथा व्यास में १.२५ सें० मी० या $\frac{१}{२}$ इंच तक, रूपरेखा में तर्क्वाकार (*Fusiform*) अर्थात् दोनों सिरों की ओर क्रमशः कम चौड़े होते हैं। वाह्य त्वक् हल्के भूरे रंग की होती है, जिसको छील कर पृथक् कर दिया जाता है। ताजे कन्द का अन्तर्वस्तु सफेद तथा लुआवी (*Mucilaginous*), पारभासी (*Translucent*) एवं स्वाद में विरस (*Insipid*) सा होता है। सूखे कन्दों का वाह्य तल कुछ अधिक भूरे रंग का तथा सिकुड़ा होता है, जिस पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक अनुलम्व रेखाएँ-सी मालूम होती हैं, और वीच का तल कुछ खातोदर-सा मालूम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – शतावरी की जड़ों को सुखा कर, मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – शतावरी की जड़ों में म्युसिलेज (पिच्छिल द्रव्य) एवं शर्करा आदि घटक पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक–मधुर। वीर्य-शीत। प्रधान कर्म–वातपित्तशामक, वल्य, रसायन, मूत्रल, गर्भपोषक, स्तन्यजनन, शुक्रल, मेध्य, नाड़ीवल्य, हृद्य, रक्तपित्तशामक, चक्षुष्य, आदि। यूनानी मतानुसार यह पहले दर्जे में शीत एवं स्निग्ध है। अहितकर–आनाहकारक। निवारण–मिश्री।

मुख्य योग – शतावरी घृत, फलघृत, नारायण तैल, शतमूल्यादि लौह, शतावरीपानक, सफ़ूफ़े सैलान।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) वल्य, एवं वयःस्थापन महाकषाय (में 'अतिरसा' नाम से) एवं मधुर स्कन्ध

(च० वि० अ० ८) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) विदारिगन्धादि, कण्टकपञ्चमूल गण और पित्तसंशमन वर्ग (सू० अ० २९) में शतावरी नाम से इसका भी उल्लेख है।

सनाय (स्वर्णपत्री)

नाम। सं०—मार्कण्डी, मार्कण्डिका (अभिनव)। हिं०—सनाय, सनायमकी, सोनामकी (मुखी)। बं०—सोनामूखी। म०—सोनामुखी। गु०—मींढी आवल, सोनामुखी। कों०—सोनामक्की। अं०—सनाऽ, सनाऽमक्की। अं०—इंडियन या टिन्नेवेली सेन्ना (*Indian or Tinnevelly Senna*)। ले०—कास्सिआ आन्गुस्टीफ़ोलिआ (*Cassia angustifolia Vahl.*)। लेटिन नाम इसके क्षुप का है।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अम्लिका-उपकुल (*Leguminosae : Caesalpiniaceae*)।

प्राप्तिस्थान – अरब एवं हजाज आदि में कास्सिआ आन्गुस्टीफ़ोलिआ के क्षुप जंगली रूप से होते हैं। भारतीय बाजारों में यह 'सनाय मक्की' के नाम से आती हैं। अधुना दक्षिण भारत के तिनेवली, मदुरा एवं त्रिचनापली आदि स्थानों में लम्बे परिमाण में इसकी खेती की जाती है। तिनेवली में होने वाली सनाय अरबी की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। सर्वत्र बाजारों में सनाय की पत्ती पंसारियों के यहाँ मिलती है। भारतीय सनाय उत्तम एवं सस्ती होने के कारण अब अरबी सनाय की खपत कम होने लगी है।

संक्षिप्त परिचय – सनाय के पौधे (०.९ मीटर या ३ फुट तक ऊँचे) क्षुप (*Shrub*) या गुल्मक (*undershrub*) होते हैं। शाखाएँ पाण्डुर वर्ण प्रायः गोलाकार या कभी कोणाकार-सी (*Obtusely-angled*) होती हैं। पत्तियाँ सपत्रक तथा समपक्षवत् (*Paripinnate*) होती हैं, जिनमें १–८ जोड़े पत्रक (*Leaflets*) होते हैं। पत्रक अंडाकार-भालाकार, सवृन्तक (*Petiolulate*) तथा चिकने होते हैं। पुष्प अमलतास सदृश पीत वर्ण के होते हैं, जो पत्र कोणोद्भूत खड़ी मञ्जरियों (*Erect axillary racemes*) में निकलते हैं। फली चपटी होती है, जो पकने पर कुछ कृष्णाभ वर्ण की हो जाती है। औषधि में सनाय की पत्तियों एवं फलियों का व्यवहार होता है।

उपयोगी अंग – पत्र एवं फली (*Senna Pods*)।

मात्रा–पत्रचूर्ण–(१) अनुलोमनार्थ (कोष्ठ मृदु करने के लिए) १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा; (२) स्रंसनार्थ (रेचनार्थ) ६ ग्राम से ९ ग्राम या ६ से ९ माशा तक। फली–१० से २० (रेचनार्थ)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – तिनेवली सनाय (भारतीय सनाय) की पत्तियाँ (वास्तव में पत्रक) २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच तक लम्बी, १.८७५ सें० मी० या ।।। इंच तक चौड़ी, रूपरेखा में अण्डाकार-भालाकार, सरल तट या किनारे वाली, पीताभ हरित वर्ण की तथा आधार पर मध्य नाड़ी के दोनों पार्श्वभाग कुछ विषमाकार (*Asymmetrical base*) होते हैं। बंडलों में भरी जाने पर ऊपर के पत्रकों के दबाव से नीचे के पत्रकों पर ऊपर के पत्रकों की मध्यशिरा के चिह्न पड़ जाते हैं। पत्र-वयन में कड़े (*Firmer in texture*) होने से टूटे पत्रक कम होते हैं। सनाय की पत्तियों में एक विशिष्ट प्रकार की हल्की गंध होती है; तथा स्वाद में लुआबी तथा तीतापन लिये अरुचिकारक होती है। पत्तियों में काण्ड एवं डंठलों की मात्रा अधिकतम ८% तक होती है। भस्म—अधिकतम १२%। अम्ल में अनघुलनशील भस्म–अधिकतम ३%। जलविलेय सत्व–अधिकतम ३०%। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम २% तक। सनाय की पत्ती का चूर्ण धूम वर्ण लिये पीताभ हरित या हल्के जैतूनी भूरे रंग का होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – (१) सनाय मक्की (*Mecca, Arabian or Bombay Senna*) भी कास्सिआ आन्गुस्टीफ़ोलिआ से ही प्राप्त होती है, किन्तु इनका संग्रह जंगली पौधों से किया जाता है। यह अपेक्षाकृत अधिक लम्बी, कम चौड़ी तथा भूरे रंग की अथवा भूरापन लिये हरे रंग की होती है। गुण-कर्म में यह भारतीय सनाय की ही बहुत-कुछ भाँति होती है। (२) मिस्री सनाय (*Alexandrian senna*)–कास्सिआ आकूटीफ़ोलिआ (*Cassia acutifolia Delile*) नामक जाति के जंगली एवं कर्षित दोनों ही प्रकार के क्षुपों से संग्रहीत की जाती है। यह अफ्रीका के विभिन्न प्रान्तों में बोयी जाती है तथा स्वयंजात भी होती है। चूंकि यह एलिक्जेंड्रिया बन्दरगाह से विदेशों को भेजी जाती है, अतएव इसका व्यावसायिक नाम 'एलिक्जें-

ड्रिअन सेन्ना' पड़ गया है। यह भी गुण-कर्म में बिल्कुल भारतीय सनाय की ही भाँति होती है। भारतीय सनाय में प्रायः दूसरी औषधियों का मिलावट नहीं किया जाता।

संग्रह एवं संरक्षण – फसल में सनाय की पत्तियाँ भी चाय की पत्तियों की भाँति हाथ से तोड़ी जाती हैं। चुनने के बाद शीघ्र ही इन्हें धूप में सुखा लिया जाता है। शुष्क पत्तियों एवं फलियों को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – सनाय की पत्तियों में एलो-एमोडिन (*Aloe emodin* $C_{14}H_5O_2\ (OH)_2\ CH_2OH$) नामक रेचक सत्व पाया जाता है, जो स्वतंत्र रूप से तथा ग्लाइकोसाइड के रूप में, दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त र्‌हीन (*Rhein*), कम्फेरिन (*Kaempferin*) एवं आइसो–र्‌हाम्नेटिन (*Isorhamnetin*) म्युसिलेज, कैल्सियम ऑक्ज़लेट एवं राल आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं। पत्तियों में मेथिल एन्थ्राक्विनोन व्युत्पन्न यौगिकों की सकल मात्रा १% से ४% तक होती है। सनाय की फलियों में भी प्रायः यही सब उपादान होते हैं।

वीर्यकालावधि – ५ वर्ष तक।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–वामक, अनुलोमन, स्रंसन, रक्तशोधक, कृमिनाशन। यूनानी मतानुसार यह दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क तथा कफपित्तसौदा विरेचनीय एवं अवरोधोद्घाटक है। यह अन्त्र में मरोड़ उत्पन्न करती एवं वमनोत्तेजक भी है। साधारण मात्राओं में सनाय का प्रयोग करने से कोष्ठ मृदु होता है तथा पचना क्रिया सुधर कर दस्त साफ होता है। यकृत् पर भी यह थोड़ा-बहुत उत्तेजक प्रभाव करती है। अधिक मात्रा में देने से पेट में मरोड़ आकर तीव्र विरेचन होता है। इसको सेवन करने के उपरान्त ६–१० घंटे के अन्दर रेचन क्रिया पूर्णतः हो जाती है। आदतों कब्ज के रोगियों में कोष्ठशुद्धि के लिए सनाय उपयुक्त औषधि है। विकृत दोषों के निर्हरण के लिए यह एक उत्कृष्ट औषधि है। इसी कारण तृतीयक, चातुर्थिक आदि पर्याय ज्वर, पित्तज कफज एवं सौदाजन्य आमवात एवं कटिशूल, गृध्रसी, वातरक्त एवं कुपचन के कारण मल शुद्धि न होने से शरीर में मलसंचय होने पर अमलतास आदि अन्य उपयुक्त औषधियों के साथ इसका प्रयोग करने से दूषित पित्त आदि तथा व्याधिजनक विषों का शरीर से निर्हरण होता है तथा नवीन शुद्ध पित्तादि उत्पन्न होते हैं और औषधि अपना कार्य भली प्रकार करती है। शोषणोपरान्त सनाय का शरीर से निस्सरण मूत्र, स्तन्य आदि सभी शारीरिक स्रावों से होता है। अतएव स्तन्यपान कराने वाली स्त्रियों में सनाय का प्रयोग करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि माता के सनाय सेवन करने पर स्तनन्धय शिशु पर भी उसका प्रभाव पड़ सकता है। ऐसे शिशुओं में रेचन कराने के लिए सनाय के इस गुण का उपयोग भी किया जाता है। अहितकर–सनाय के उपयोग से मिचली आने लगती है और पेट में मरोड़ उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त तृष्णा एवं आकुलता भी पैदा होती है। फलियों के सेवन में प्रायः उक्त दोष नहीं पाये जाते। निवारण–सनाय के उक्त दोषों के परिहार के लिए इसके साथ सुगन्धित द्रव्य (सौंफ, सोंठ, गुलकन्द, गुलाब के फूल आदि) या लवणविरेचन (सोडा० सल्फ०, मैग० सल्फ० आदि) तथा सेंधा नमक अथवा मिश्री आदि मिलाना चाहिए। यदि चूर्ण के रूप में उपयोग करना हो तो इसे बादाम के तेल से स्नेहाक्त कर लेना अधिक अच्छा है। मुलेठी एवं मिश्री आदि मिलाने से इसके कुस्वाद का निवारण हो जाता है। विशेष–बृहदन्त्र प्रदाह (*Colitis*) एवं स्तम्भिक विबन्ध (*Spastic constipation*) में सनाय का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

मुख्य योग – पंचसकार चूर्ण, षट्सकार चूर्ण एवं यष्ट्यादि चूर्ण तथा अतरीफल सनाई, माजून सनाय आदि।

सप्तपर्ण (छितवन)

नाम। सं०–सप्तपर्ण, शारद (शरद् ऋतु में पुष्पित होने के कारण), विशालत्वक्, विषमच्छद। हिं०–छतिवन, छितवन, सतौना,। पं०–सतौना। संथा०–छतनी। को०–कुनुयुंग। बं०–छातिम। म०–सातवीण। गु०-सातवण। ले०–आलसटोनिआ स्कोलारिस (*Alstonia scholaris R.Br.*)।

वानस्पतिक-कुल – करवीर-कुल (आपोसीनासे : *Apocynaceae.*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष के उष्ण एवं नम प्रदेशों (विशेषतः दक्षिण भारत के पश्चिमी तट प्रदेशीय जंगल तथा बंगाल) में इसके जंगली एवं सड़कों के किनारे तथा पुराने बगीचों में लगाये हुए दोनों ही प्रकार के वृक्ष मिलते हैं। सप्तपर्ण की छाल (काण्डत्वक्) पंसारियों के यहाँ बिकती है।

संक्षिप्त परिचय – सप्तपर्ण के सदाहरित, ऊँचे-ऊँचे और सीधे तथा सुन्दर वृक्ष होते हैं, काण्ड-स्कन्ध (प्रायः पुराने और ऊँचे वृक्षों में) अधःभाग में अपेक्षाकृत मोटा या फूला हुआ अर्थात् पुश्ताजड़ (*Fluted or butteressed*) होता है, और शाखाएँ तथा पत्तियाँ चक्रिक-क्रम (*Vericillate*) में निकली होती हैं। प्रत्येक चक्र में पत्तियाँ ३–७ होती हैं, जो १० से २० सें० मी०×२.५ से ३.७५ सें० मी० (४–८ इंच×१–१॥ इंच), रूपरेखा में अभिलट्वाकार, अंडाकार आयताकार या आयताकार भालाकार चिकनी, चर्मिल, ऊर्ध्व तल पर चमकीले हरे रंग की तथा अधस्तल पर श्वेताभ और छोटे वृन्तयुक्त ६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० (।–॥ इंच) होती हैं। काण्डत्वक् पर चीर लगाने से अथवा पत्तियों को तोड़ने पर सफेद दूध निकलता है। शरद ऋतु में पुष्प लगते हैं, जो अत्यन्त सुगंधित तथा हरिताभ श्वेत वर्ण के होते हैं, और सघन छत्राकार गुच्छों में (*Compact umbellately corymbose cymes*) में निकलते हैं। पुष्पवाहकदण्ड (*Peduncles*) २.५ से ५ सें० मी० १–२ इंच लम्बे होते हैं, और यह भी चक्रिक क्रम से निकले होते (*Whorled*) हैं। वाह्य कोश छोटा तथा पाँचखण्डयुक्त होता है। आभ्यन्तर कोश व्यास में ८.३ मि० मी० से १२.५ मि० मी० (⅓–½ इंच) तक होता है। खण्ड प्रायः गोलाकार और फैले हुए (*Spreading*) होते हैं। फलियाँ (*Follicles*) दो-दो एक-एक साथ, नीचे लटकी हुई, प्रायः ३० सें० मी० या १ फुट तक लम्बी किन्तु पतली (व्यास में ५ मि० मी० या ⅕ इंच) होती हैं; जिनमें ८.३ मि० मी० या ⅓ इंच तक लम्बे, पतले तथा चपटे बीज होते हैं, जिनके चारों ओर रूई-सी लगी होती है। पकने पर फल स्वयं फट जाते हैं, और बीज हवा में उड़ कर बिखर जाते हैं। फलागम जाड़ों में होता है। पुष्पागम के समय वृक्ष फूलों के गुच्छों से लदा होता है, और इसके पास से गुजरने पर धीमी मनोरम सुगंधि आती है। फलागम होने पर फलियों के गुच्छे-के-गुच्छे लटके हुए होते हैं। सप्तपर्णत्वक् या छाल का व्यवहार चिकित्सा में विषमज्वरनाशक औषधि के रूप में किया जाता है।

उपयोगी अंग – त्वक् (छाल)।

मात्रा–काण्डत्वक् क्वाथार्थ या फाण्ट निर्माणार्थ—१ से २ तोला। घनसत्व – २ ग्राम से ४ ग्राम या २ माशा से ४ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – छतिवन की छाल के खातोदर अथवा नालिकाकार टुकड़े (*Channelled quilled pieces*) होते हैं। टूटे टुकड़े कभी-कभी टेढ़े-मेढ़े या चपटे होते हैं। सप्तपर्ण की छाल काफी मोटी (शाखाओं से प्राप्त छाल प्रायः ३.१२५ मि० मी० से ४.१६ मि० मी० (⅛ से ⅙ इंच) तथा काण्डस्कन्ध की छाल अपेक्षाकृत अधिक मोटी ६.२५ मि० मी० या ¼ इंच तक या कुछ अधिक) होती है। वाह्यतः यह खाकस्तरी या कृष्णाभ और अन्तस्तल पर पीताभ भूरे रंग या खाकस्तरी भूरे रंग की होती है। पुराने वृक्षों की छाल वाह्य तल पर काफी खुरदरी एवं ऊबड़-खाबड़ होती है, और लम्बाई तथा बेड़ी दोनों दिशाओं में फटी हुई या दरारयुक्त (*Fissured*) होती है। छाल के तोड़ने पर खट से टूट जाती (*Fracture short*) है, और टूटा तल कोमल मालूम होता है। ध्यानपूर्वक देखने से छाल का वाह्य भाग स्पंजी (*Spongy*) मालूम होता है, और अन्तर्भाग में मज्जक-किरणें (*Medullary rays*) मालूम होती हैं। छाल के वाह्य तल पर सर्वत्र खाकस्तरी या श्वेताभ भूरे रंग के गोल-गोल अथवा अंडाकार वातरन्ध्र के चिह्न (*Lenticels*) पाये जाते हैं। सप्तपर्ण की छाल में कोई गंध तो नहीं होती किन्तु स्वाद में यह स्थायी रूप से अत्यन्त तिक्त होती है। उत्तम नमूने में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक हो सकते हैं, और छालगत ऐल्केलायड्स की मात्रा कम से कम ०.२५% अवश्य रहती है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में सप्तपर्ण के पुराने वृक्षों से छाल ग्रहण कर छायाशुष्क कर लें और उसे मुखबंद पात्रों में अनार्द्र-शीतल स्थान में संरक्षित करें। विषम ज्वर में प्रयुक्त करने के लिए इसका घनसत्व अधिक उपयुक्त होता है। एतदर्थ ताजी छाल से रस क्रिया की पद्धति से घन सत्व बनावें और इसे चौड़े मुँह

की शीशियों में ठंडी एवं अँधेरी जगह में रखें।

संगठन – सप्तपर्ण की छाल में डिटामीन (*Ditamine* $C_{16}N_{19}O_2N$), एकिटेनीन (*Echitenine* $C_{20}H_2O_4N$), एकिटामीन (*Echitamine* : $C_{22}N_{28}O_4N_2$) तथा एकिटामिडीन आदि ऐल्केलायड्स पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एकिसेरिन, एकिटिन, एकेटीन तथा एकिरेटिन आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि–छाल–२ वर्ष। सत्व–दीर्घ काल तक।

स्वभाव–गुण–लघु, स्निग्ध। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, व्रणशोधन–रोपण, दीपन, स्तम्भन, अनुलोमन, (अल्प मात्रा में) कटु पौष्टिक, नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, कफघ्न, स्तन्यजनन, रक्तशोधक एवं हृद्य आदि। सप्तपर्ण की छाल एक उत्तम विषम ज्वर नाशक औषधि है। इस रूप में इसकी क्रिया कुनैन की तरह होती है। साथ उसके कुप्रभाव भी नहीं होते। एतदर्थ इसका फाण्ट, क्वाथ, अथवा टिंक्चर अथवा घन सत्व का उपयोग किया जा सकता है। जीर्णज्वर, चिरकालीन विषम ज्वर एवं ज्वरोत्तरकालिक दौर्बल्य, अग्निमांद्य आदि में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। प्रसूतावस्था में इसे सुगंधित द्रव्यों (वचा, अदरक, कचूर आदि) के साथ देने से ज्वर नहीं आता, अन्न ठीक पचता है, और दूध बढ़ता है। चिरकालीन अतिसार एवं प्रवाहिका एवं बृहदन्त्र की चिरकालज श्लैष्मिक कलाशोथ (*Colitis*) में भी इसकी छाल बहुत उपयोगी होती है। त्वचा पर सप्तपर्ण की उत्तेजक क्रिया होती है तथा यह रक्तशोधक भी है, अतएव त्वचा के रोगों में भी इसका प्रयोग बहुत लाभप्रद है।

मुख्य योग – सप्तपर्णसत्वादि वटी, सप्तच्छदादि क्वाथ।

विशेष – सप्तपर्ण के निम्न योग भी बाजारों में (अंग्रेजी दवाखानों में) मिलते हैं :—(१) सप्तपर्ण का प्रवाही घन सत्व (लिक्विड एक्स्ट्रक ऑफ ऐलसटोनिआ)। मात्रा – ६० से १२० बूंद (१ से २ ड्राम); (२) टिंक्चर ऑफ एलसटोनिआ। मात्रा–३० से ६० बूंद (½ से १ ड्राम)।

समुंदरसोख (समुद्रशोष)

नाम। सं०–समुद्रशोष। हिं०, मा० बाजार–समुंदर सोख, कम्मरकस। पं०, सिं०–साठी, समुंदरसोख। गु०, बम्ब०–कम्मरकस। ले०–सालविआ प्लेबेआ (*Salvia plebeia* R. Br.)।

वानस्पतिक कुल – तुलसी-कुल (लाबिआटे : *Labiatae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष (विशेषतः पंजाब) के मैदान और पहाड़ों पर १५२४ मीटर या ५,००० फुट की ऊँचाई तक इसके क्षुप पाये जाते हैं। बीज पंसारियों के यहाँ बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – समुंदरसोख के एकवर्षायु शाकीय पौधे (*Annual herb*) होते हैं, जिनका काण्ड काफी मोटा तथा कुछ मखमली होता है। पत्तियाँ साधारण (*Simple*), अननुपत्र (*Exstipulate*) २.५ से ७.५ सें० मी० या १–३ इंच तक लम्बी, रूपरेखा में लट्वाकार से आयताकार, सवृन्त, कुण्ठिताग्र एवं दन्तुर धार वाली एवं अभिमुख क्रम से स्थित होती हैं। पुष्प सवृन्त, ६.२५ मि० मी० या ¼ इंच तक लम्बे, सफेद या गुलाबी आभा लिये होते हैं, जो सशाख मञ्जरियों पर स्थान-स्थान में चक्राभ व्यूह क्रम से स्थित होते हैं। बाह्य कोश ३.१२५ मि० मी० या ⅛ इंच लम्बा तथा द्वि-ओष्ठीय होता है, किन्तु ऊर्ध्वोष्ठ की धीर, दन्तुर नहीं होती। आभ्यन्तर कोश (*Corolla*) भी द्वि-ओष्ठीय होता है। पुंकेशर संख्या में २ तथा फल चतुर्वेश्म (*Nutlets*) होते हैं। बीजों का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – बीज।

मात्रा – ३ ग्राम से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मिलने वाले समुंदरसोख के बीज, राई के दानों से बहुत छोटे, लंबगोल, चिकने और काले या कृष्णाभ भूरे रंग के होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट–कहीं-कहीं घावपत्ते (*Argyreia speciosa Sweet.*) के बीजों को भी समुंदरसोख कहते हैं। परन्तु यह बाजारों में मिलने वाला समुंदरसोख नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण–समुंदरसोख को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – इसमें १८% स्थिर तैल, ११¾% तक प्रोटीन तत्व, ४४% गोंद तथा तंतु एवं १५% भस्म एवं २% नाइट्रोजन पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – पहले दर्जे में सर्द एवं तर। उक्त बीज वीर्य-

पुष्टिकर तथा संशमन होते हैं। शुक्रमेह, शुक्रतारल्य एवं मूत्र की जलन तथा शीघ्रपतन में इसे माजूनों तथा चूर्णों में डाल कर अथवा एकौषधि के रूप में दूध के साथ व्यवहृत करते हैं। अहितकर–गुरु, विष्टंभी एवं चिरपाकी। निवारण–मधु और शर्करा।

समुद्रफल (हिज्जल)

नाम। सं०–हिज्जल, निचुल। हिं०–समुंदरफल, इंजर, समुद्रफल। बं०–हिजल। म०–समुद्रफल, सत्फल। गु०–समुदरफल, समुद्रफल। ले०–बारींगटोनिआ आकूटांगुला (*Barringtonia acutangula Gaertn.*)। लेटिननाम इसके वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – कुम्भीर-कुल – (लेसीथिडासे : *Lecythidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के अनेक भागों में विशेषतः यमुना के पूरब हिमालय के तराई के प्रदेशों में, तथा बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, मध्य प्रदेश एवं दक्षिण भारत। नदियों के किनारे तथा जलमग्न भूमि में इसके वृक्ष अधिक मिलते हैं। बीज पंसारियों के यहाँ तथा वनौषधि-विक्रेताओं के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – समुद्रफल के छोटे-छोटे या मध्यम ऊंचाई के (९ मीटर से १२ मीटर या ३०–४० फुट तक) वृक्ष होते हैं, जिनका काण्डत्वक् धूसर तथा काण्डसार श्वेत और कोमल होता है। पत्तियाँ सामान्यतः १२.५ से १५ सें० मी० या ५–६ इंच लम्बी तथा ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच चौड़ी (९×४ इंच तक) तथा लम्बगोल, अभिलट्वाकार, जिनके किनारे आरावत् सूक्ष्मदंतुर (*Serrulate*) होते हैं। पुष्प लाल रंग के तथा सुन्दर होते हैं। पुंकेशर भी लाल होते हैं। मंजरी प्रायः ३० से ६० सें० मी० या १–२ फुट लम्बी, सवृन्त काण्डज और नीचे को लटकी हुई रहती (*Pendulous racemes*) है। सौन्दर्य के लिए भी इसके वृक्ष जगह-जगह बगीचों में लगाये जाते हैं। फल लम्बगोल, चतुष्कोणाकार (चौपहल) २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बा, एक बीज वाला और पकने पर कठोर हो जाता है। समुद्र फल देखने में आपाततः बड़ी इलायची की रूपरेखा का होता है। इसके अग्र पर स्थायी वाह्य कोश का अवशेष लगा होता है।

उपयोगी अंग – फल (बीज) तथा (मूल एवं पत्र)।

मात्रा – फलचूर्ण वमनार्थ ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा, अन्य कर्मों के लिए ५०० मि० ग्राम से १००० मि० ग्राम (४ रत्ती से १ माशा)। मूल – ५०० मि० ग्रा० से १००० मि० ग्राम ४ रत्ती से १ माशा। पत्र-स्वरस–६ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में मिलने वाला शुष्क समुद्रफल प्रायः जायफल बराबर एवं रूपरेखा का होता है। बाह्यतः यह किंचित् खुरदरे तथा भूरे रंग के और अनुलम्ब उन्नत रेखाओं (*Longitudina striae*) से युक्त होते हैं। शुष्क फल अन्दर से कड़े एवं भंगुर होते हैं, किन्तु थोड़ा जल में भिगोने पर आसानी से मुलायम हो जाते हैं। इसका ताजा फल रक्ताभ वर्ण और पुराना होने पर कृष्णाभ हो जाता है। फलत्वक् अत्यन्त पतला होता है। मुख में चाबने पर स्वाद में यह पहले किंचित् मधुर, बाद में तिक्त एवं उत्क्लेशकारी (*Nauseous*) होता है। इसके जलीय विलयन को हिलाने से झाग उत्पन्न होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – दक्षिण भारत में पश्चिमी समुद्र तटवर्तीय प्रदेशों में तथा बंगाल (सुन्दर वन) एवं आसाम आदि में इसकी एक दूसरी जाति बारींगटोनिआ रासेमोसा (*Barringtonia racemosa Blume*) भी प्रचुरता से पायी जाती है। इसके बीज भी बहुत-कुछ समुद्रफल के ही समान होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फल एवं बीजों को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में रखें।

संगठन – इसमें सैपोनिन (*Sapanin*) की भाँति एक सत्व (*Barringtonin*) पाया जाता है, जो इसका मुख्य सक्रिय घटक होता है। इसमें अधिकांश भाग श्वेतसार (स्टार्च) तथा प्रोटीड (*Proteid*), वसा, रबड़ और क्षार, लवण प्रभृति उपादान होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–वमन। प्रधान कर्म–वामक, रेचन, कफनिस्सारक, कफपित्तसंशोधक, शिरोविरेचन, रक्तशोधक, ज्वरघ्न आदि। कासश्वास में इसका प्रयोग करने से वमन और विरेचन से कफ निकल जाता है, और रोग की शान्ति होती है। यूनानी मतानुसार यह गरम और खुश्क है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २) विरेचन द्रव्यों में (निचुल नाम से), वमनोपग महाकषाय (सू० अ० ४) में (विदुल नाम से) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३९) ऊर्ध्व भाग-हरगण में हिज्जल भी है।

सरपत (शर)

नाम। सं०–शर, वाण, मुञ्ज। हिं०–मूंज, सरपत, कण्डा। ले०–सावकारुम मुंजा (*Saccharum munja* Roxb.) पर्याय– (*S. ciliare Anders*)।

वानस्पतिक कुल – तृण-कुल (ग्रामीने *Gramineae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष, विशेषतः उत्तर प्रदेश, पंजाव। नदी-नालों के कछारों में गुच्छों में उगती है। यह एक प्रसिद्ध व्यवहारोपयोगी घास है।

संक्षिप्त परिचय – मूंज एक ऊँची घास होती है, जिसके पौधे गुच्छों (जूटों) में उगते हैं। नालकाण्ड या कलम (*Culms*) ७.१ मीटर से ७.२ मीटर या २३-२४ फुट तक ऊँचे वढ़ जाते हैं, और यह अन्दर से ठोस तथा वाहर से चिकने, चमकदार एवं रेखांकित से (*Striate*) होते हैं। पत्तियाँ चमकदार, अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़ी होकर नुकीली तथा कर्कश धार वाली होती हैं। काण्ड के अधः भाग की पत्तियाँ १.५ से १.८ मीटर या ५-६ फुट तक लम्बी तथा २ सें० मी० या ¾ इंच तक चौड़ी होती है। ऊपर की पत्तियाँ अपेक्षाकृत कम लम्बी एवं चौड़ी होती हैं। इसका भी घूआ (*Plumose panicle*) निकलता है, जो ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट तक लम्बा तथा पीताभ या रक्ताभ जामुनी रंग का होता है। इसके काण्ड, पत्र तथा पत्रकोषों (*Sheaths*) से निकाले रेशों की रस्सी वनायी जाती है। पत्तियों के छप्पर वनाये जाते हैं, तथा कागज वनाने के लिए भी प्रयुक्त होती हैं। मूल का ग्रहण पंचमूल में किया जाता है।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – क्वाथ ५ से १० तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में जड़ों का संग्रह कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – कुछ मास से १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म-त्रिदोषहर; तृष्णानिग्रहण एवं दाहप्रशमन, रक्तशोधक, रक्तपित्तहर, मूत्रल, स्तन्यजनन, वृष्य, चक्षुष्य आदि।

मुख्य योग – तृणपञ्चमूल क्वाथ।

सरफोंका (शरपुंखा)

नाम। सं०–शरपुंखा, प्लीहशत्रु, नीलवृक्षाकृति। हिं०–सरफो(फों)का, सरपोंखा। वं०–वननील, शरपुँख। म०–शीर-पंखा, उटाटी, उन्हाली। गु०–शरपंखों। फा०–वर्गसूफ़ार। अं०–पर्पल टेफ्रोसिआ (*Purple Tephrosia*)। ले०–टेफ्रोसिआ पुर्पूरेआ (*Tephrosia purpurea* (*Linn*). *Pers.*)। उक्त लेटिन नाम लाल फूल वाले सरफोंका के हैं।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (*Leguminosae* : *Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में (तथा हिमालय प्रदेश में १८२८.८ मीटर या ६,००० फुट की ऊँचाई तक) इसके स्वयंजात पौधे होते हैं। ऊसर तथा वलुई भूमि में प्रायः इसके पौधे अधिक मिलते हैं। गांवों एवं शहरों के आसपास की परती भूमि तथा पुराने वगीचों आदि में सर्वत्र इसके पौधे सुलभ होने से चिकित्सक जरूरत पड़ने पर ताजी औषधि का संग्रह कर लेते हैं। अतएव वाजारों में प्रायः यह नहीं विकता।

संक्षिप्त परिचय – सरफोंका के प्रायः सीधे (*Erect*), छोटे (३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट ऊँचे), वहुशाखी क्षुप होते हैं, जिनके काण्ड वेलनाकार, चिकने या किंचित् रोमश होते हैं। पत्तियाँ सपत्रक, जिनमें पत्रक ५-९ जोड़े होते हैं; तथा एक पत्रक सिरे पर (*Odd-pinnated*) होता है। पत्रक २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे तथा १.५ सें० मी० या ³⁄₁₀ इंच तक चौड़े, आयताकार प्रतिभालाकार (*Oblong-oblanceolate*) तथा नताग्र या रोमशाग्र (*Bristle-tipped*) होते हैं। सरपुंखा का क्षुप देखने में नील के क्षुप के समान दीखता है। इसीलिए वंगाल में इसे 'वननील' कहते भी हैं। पत्रकों को तोड़ने पर वाण के अग्र भाग के समान नुकीले टूटते हैं। इसीलिए इसे 'शरपुंख' या 'शरपुंखा' कहते हैं। परन्तु नील के पत्रक इस तरह नहीं टूटते। पुष्प (६.२५ मि० मी० से ८ मि० मी० या ¼ से ⅓ इंच लम्बे), लाल या जामुनी (*Purple*) रंग के होते हैं, जो पत्तियों के अभिमुखस्थित मञ्जरियों (*Leaf-opposed racemes*) में निकलते हैं, जो ७.५ से १५ सें० मी० (३-६ इंच) तक लम्बी होती हैं। फली २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बी, सीधी, किंचित् चिपटी एवं रोमश होती है, जो अग्र पर

पुष्टिकर तथा संशमन होते हैं। शुक्रमेह, शुक्रतारल्य एवं मूत्र की जलन तथा शीघ्रपतन में इसे माजूनों तथा चूर्णों में डाल कर अथवा एकौषधि के रूप में दूध के साथ व्यवहृत करते हैं। अहितकर–गुरु, विष्टंभी एवं चिरपाकी। निवारण–मधु और शर्करा।

समुद्रफल (हिज्जल)

नाम। सं०–हिज्जल, निचुल। हिं०–समुंदरफल, इंजर, समुद्रफल। बं०–हिजल। म०–समुद्रफल, सत्फल। गु०–समुदरफल, समुद्रफल। ले०–वारींगटोनिआ आकूटांगुला (*Barringtonia acutangula Gaertn.*)। लेटिननाम इसके वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – कुम्भीर-कुल – (लेसीथिडासे : *Lecythidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के अनेक भागों में विशेषतः यमुना के पूरब हिमालय के तराई के प्रदेशों में, तथा विहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, मध्य प्रदेश एवं दक्षिण भारत। नदियों के किनारे तथा जलमग्न भूमि में इसके वृक्ष अधिक मिलते हैं। वीज पंसारियों के यहाँ तथा वनौषधि-विक्रेताओं के यहाँ मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – समुद्रफल के छोटे-छोटे या मध्यम ऊंचाई के (९ मीटर से १२ मीटर या ३०–४० फुट तक) वृक्ष होते हैं, जिनका काण्डत्वक् धूसर तथा काण्डसार श्वेत और कोमल होता है। पत्तियाँ सामान्यतः १२.५ से १५ सें० मी० या ५–६ इंच लम्बी तथा ५ से ७.५ सें० मी० या २–३ इंच चौड़ी (९×४ इंच तक) तथा लम्वगोल, अभिलट्वाकार, जिनके किनारे आरावत् सूक्ष्मदंतुर (*Serrulate*) होते हैं। पुष्प लाल रंग के तथा सुन्दर होते हैं। पुंकेशर भी लाल होते हैं। मंजरी प्रायः ३० से ६० सें० मी० या १–२ फुट लम्बी, सवृन्त काण्डज और नीचे को लटकी हुई रहती (*Pendulous racemes*) है। सौन्दर्य के लिए भी इसके वृक्ष जगह-जगह वगीचों में लगाये जाते हैं। फल लम्वगोल, चतुष्कोणाकार (चौपहल) २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बा, एक वीज वाला और पकने पर कठोर हो जाता है। समुद्र फल देखने में आपाततः वड़ी इलायची की रूपरेखा का होता है। इसके अग्र पर स्थायी वाह्य कोश का अवशेष लगा होता है।

उपयोगी अंग – फल (वीज) तथा (मूल एवं पत्र)।

मात्रा – फलचूर्ण वमनार्थ ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा, अन्य कर्मों के लिए ५०० मि० ग्राम से १००० मि० ग्राम (४ रत्ती से १ माशा)। मूल – ५०० मि० ग्रा० से १००० मि० ग्राम ४ रत्ती से १ माशा। पत्र-स्वरस–६ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – वाजारों में मिलने वाला शुष्क समुद्रफल प्रायः जायफल वरावर एवं रूपरेखा का होता है। वाह्यतः यह किंचित् खुरदरे तथा भूरे रंग के और अनुलम्व उन्नत रेखाओं (*Longitudina striae*) से युक्त होते हैं। शुष्क फल अन्दर से कड़े एवं भंगुर होते हैं, किन्तु थोड़ा जल में भिगोने पर आसानी से मुलायम हो जाते हैं। इसका ताजा फल रक्ताभ वर्ण और पुराना होने पर कृष्णाभ हो जाता है। फलत्वक् अत्यन्त पतला होता है। मुख में चावने पर स्वाद में यह पहले किंचित् मधुर, वाद में तिक्त एवं उत्क्लेशकारी (*Nauseous*) होता है। इसके जलीय विलयन को हिलाने से झाग उत्पन्न होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – दक्षिण भारत में पश्चिमी समुद्र तटवर्तीय प्रदेशों में तथा वंगाल (सुन्दर वन) एवं आसाम आदि में इसकी एक दूसरी जाति वारींगटोनिआ रासेमोसा (*Barringtonia racemosa Blume*) भी प्रचुरता से पायी जाती है। इसके वीज भी वहुत-कुछ समुद्रफल के ही समान होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फल एवं वीजों को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखवन्द पात्रों में रखें।

संगठन – इसमें सैपोनिन (*Sapanin*) की भाँति एक सत्व (*Barringtonin*) पाया जाता है, जो इसका मुख्य सक्रिय घटक होता है। इसमें अधिकांश भाग श्वेतसार (स्टार्च) तथा प्रोटीड (*Proteid*), वसा, खड़ और क्षार, लवण प्रभृति उपादान होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कटु, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–वमन। प्रधान कर्म–वामक, रेचन, कफनिस्सारक, कफपित्तसंशोधक, शिरोविरेचन, रक्तशोधक, ज्वरघ्न आदि। कासश्वास में इसका प्रयोग करने से वमन और विरेचन से कफ निकल जाता है, और रोग की शान्ति होती है। यूनानी मतानुसार यह गरम और खुश्क है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० २) विरेचन द्रव्यों में (निचुल नाम से), वमनोपग महाकषाय (सू० अ० ४) में (विदुल नाम से) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३६) ऊर्ध्व भाग-हरगण में हिज्जल भी है।

सरपत (शर)

नाम। सं०–शर, वाण, मुञ्ज। हिं०–मूँज, सरपत, कण्डा। ले०–साक्कारुम मुंजा (*Saccharum munja Roxb.*) पर्याय– (*S. ciliare Anders*)।

वानस्पतिक कुल – तृण-कुल (ग्रामीने *Gramineae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष, विशेषतः उत्तर प्रदेश, पंजाब। नदी-नालों के कछारों में गुच्छों में उगती है। यह एक प्रसिद्ध व्यवहारोपयोगी घास है।

संक्षिप्त परिचय – मूँज एक ऊँची घास होती है, जिसके पौधे गुच्छों (जूटों) में उगते हैं। नालकाण्ड या कलम (*Culms*) ७.१ मीटर से ७.२ मीटर या २३-२४ फुट तक ऊँचे बढ़ जाते हैं, और यह अन्दर से ठोस तथा बाहर से चिकने, चमकदार एवं रेखांकित से (*Striate*) होते हैं। पत्तियाँ चमकदार, अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़ी होकर नुकीली तथा कर्कश धार वाली होती हैं। काण्ड के अधः भाग की पत्तियाँ १.५ से १.८ मीटर या ५-६ फुट तक लम्बी तथा २ सें० मी० या ¾ इंच तक चौड़ी होती है। ऊपर की पत्तियाँ अपेक्षाकृत कम लम्बी एवं चौड़ी होती हैं। इसका भी घूआ (*Plumose panicle*) निकलता है, जो ३० सें० मी० से ६० सें० मी० या १-२ फुट तक लम्बा तथा पीताभ या रक्ताभ जामुनी रंग का होता है। इसके काण्ड, पत्र तथा पत्रकोषों (*Sheaths*) से निकाले रेशों की रस्सी बनायी जाती है। पत्तियों के छप्पर बनाये जाते हैं, तथा कागज बनाने के लिए भी प्रयुक्त होती हैं। मूल का ग्रहण पंचमूल में किया जाता है।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – क्वाथ ५ से १० तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में जड़ों का संग्रह कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

वीर्यकालावधि – कुछ मास से १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, स्निग्ध। रस–मधुर, कषाय। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म-त्रिदोषहर; तृष्णानिग्रहण एवं दाहप्रशमन, रक्तशोधक, रक्तपित्तहर, मूत्रल, स्तन्यजनन, वृष्य, चक्षुष्य आदि।

मुख्य योग – तृणपञ्चमूल क्वाथ।

सरफोंका (शरपुंखा)

नाम। सं०–शरपुंखा, प्लीहशत्रु, नीलवृक्षाकृति। हिं०–सरफो(फों)का, सरपोंखा। बं०–वननील, शरपुँख। म०–शीर-पंखा, उटाटी, उन्हाली। गु०–शरपंखों। फा०–वर्गसूफ़ार। अं०–पर्पल टेफ्रोसिआ (*Purple Tephrosia*)। ले०–टेफ्रोसिआ पुर्पूरेआ (*Tephrosia purpurea* (*Linn*). *Pers.*)। उक्त लेटिन नाम लाल फूल वाले सरफोंका के हैं।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : अपराजितादि-उपकुल (*Leguminosae* : *Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में (तथा हिमालय प्रदेश में १८२८.८ मीटर या ६,००० फुट की ऊँचाई तक) इसके स्वयंजात पौधे होते हैं। ऊसर तथा बलुई भूमि में प्रायः इसके पौधे अधिक मिलते हैं। गांवों एवं शहरों के आसपास की परती भूमि तथा पुराने बगीचों आदि में सर्वत्र इसके पौधे सुलभ होने से चिकित्सक जरूरत पड़ने पर ताजी औषधि का संग्रह कर लेते हैं। अतएव बाजारों में प्रायः यह नहीं बिकता।

संक्षिप्त परिचय – सरफोंका के प्रायः सीधे (*Erect*), छोटे (३० सें० मी० से ६० सें० मी० या १-२ फुट ऊँचे), बहुशाखी क्षुप होते हैं, जिनके काण्ड बेलनाकार, चिकने या किंचित् रोमश होते हैं। पत्तियाँ सपत्रक, जिनमें पत्रक ५-६ जोड़े होते हैं; तथा एक पत्रक सिरे पर (*Odd-pinnated*) होता है। पत्रक २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे तथा १.५ सें० मी० या $\frac{3}{10}$ इंच तक चौड़े, आयताकार प्रतिभालाकार (*Oblong-oblanceolate*) तथा नताग्र या रोमशाग्र (*Bristle-tipped*) होते हैं। सरपुंखा का क्षुप देखने में नील के क्षुप के समान दीखता है। इसीलिए बंगाल में इसे 'वननील' कहते भी हैं। पत्रकों को तोड़ने पर बाण के अग्र भाग के समान नुकीले टूटते हैं। इसीलिए इसे 'शरपुंख' या 'शरपुंखा' कहते हैं। परन्तु नील के पत्रक इस तरह नहीं टूटते। पुष्प (६.२५ मि० मी० से ८ मि० मी० या ¼ से $\frac{5}{16}$ इंच लम्बे), लाल या जामुनी (*Purple*) रंग के होते हैं, जो पत्तियों के अभिमुखस्थित मञ्जरियों (*Leaf-opposed racemes*) में निकलते हैं, जो ७.५ से १५ सें० मी० (३-६ इंच) तक लम्बी होती हैं। फ़ली २.५ से ५ सें० मी० या १-२ इंच लम्बी, सीधी, किंचित् चिपटी एवं रोमश होती है, जो अग्र पर

कुण्ठिताग्र होती है, किन्तु एक चोंच-जैसी नोक (*Recurved at the tip*) होती है। प्रत्येक फली में ४-१० छोटे-छोटे वृक्काकार बीज होते हैं, जिनका बाहरी छिलका (*Testa*) चितकवरा (*Mottled*) होता है। बीज द्विदल पीले रंग के होते हैं। सरपुंखा के सभी अंग स्वाद में किंचित् तिक्त होते हैं। इसमें पुष्पागम वर्षा में तथा फलागम शरद् ऋतु में होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग (विशेषतः मूल) एवं पंचाङ्ग से प्राप्त क्षार।

मात्रा–चूर्ण–३ से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
स्वरस–१ से २ तोला।
क्षार–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं भेद – पुष्प भेद से शरपुंखा के २ भेद होते हैं—(१) लाल फूल वाला, (२) **सफेद** फूल वाला। लाल फूल वाले शरपुंखा का ऊपर वर्णन किया गया है। प्रायः शरपुंखा नाम से इसी का ग्रहण एवं प्रयोग किया जाता है। श्वेत शरपुंखा को 'टेफ्रोसिआ विल्लोसा' (*Tephrosia villosa Pers.*) कहते हैं। इसका पौधा जमीन पर फैलता है और रोंयेदार होता है। समस्त भारतवर्ष के मैदानी भागों में इतस्ततः इसके पौधे पाये जाते हैं। श्वेत जाति रसायन में प्रशस्त मानी गयी है। राजनिघण्टुकार ने 'कण्टपुंखा' या 'कंटक शरपुंखा' का भी वर्णन किया है। इसे 'टेफ्रोसिआ पेट्रोसा *Tephrosia petrosa Blatter & Halb.*' कहते हैं। पश्चिमी राजस्थान एवं जोधपुर तथा जैसलमेर आदि में इसके पौधे अधिक पाये जाते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – छायाशुष्क पंचाङ्ग को अनार्द्र शीतल स्थान में मुखबन्द पात्रों में रखें। शरपुंखाक्षार को अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में रखना चाहिए ताकि अन्दर आर्द्रता न प्रवेश करे।

संगठन – भस्म ६% प्राप्त होती है, जिसमें अल्प मात्रा में मैंगेनीज, क्लोरोफिल, भूरे रंग का रालीय पदार्थ, मोम, किंचित् ऐल्ब्युमिन, रंजक द्रव्य एवं क्वेर्सेटीन या क्वेरसाइट्रीन के सदृश एक सत्व होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष। क्षार–कई वर्ष तक।

स्वभाव–गुण – लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–भेदन। प्रधान कर्म–कफवातशामक, प्लीहोदरनाशक; (क्षार) रक्तरोधक, रक्तपित्तशामक, रक्तशोधक, मूत्रल, कफनिस्सारक, ज्वरघ्न, विषघ्न। श्वेत सरपुंखा रसायन होती है। यूनानी मतानुसार गरम एवं तर होती तथा रक्तार्श में विशेष उपयोगी मानी जाती है।

सरसों (सर्षप)

नाम। सं० – सर्षप, सिद्धार्थ (गौरसर्षप), कटुस्नेह, भूतनाशन। हिं०–सरसों। पं०–सरेयाँ। बं०–सरिषा। गु०–सरसव। म०–शिरसी। सिंव–सियांचिटी। अं०–रेप (*Rape*)। ले०–ब्रासिका काम्पेस्ट्रिस (*Brassica campestris L.*) तथा इसके अन्य मिश्रित भेद।

वानस्पतिक-कुल – सर्षप-कुल (क्रूसीफ़ेरे *Cruciferae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष।

संक्षिप्त परिचय – सरसों एक प्रसिद्ध तेलहन है। समस्त भारतवर्ष में काफी परिमाण में इसकी खेती की जाती है। यह जाड़ों में गेहूँ, चने आदि के साथ बोया जाता है। सरसों का तेल एक प्रसिद्ध व्यावसायिक द्रव्य है। घरेलू कार्य में इसकी काफी खपत होती है। यह खाने एवं लगाने के काम में लाया जाता है। पर-सेचन द्वारा ब्रास्सिका के मिश्रित भेद अधिक पाये जाते हैं; और मिलने वाले बीजों में जातिविशेष की शुद्धता प्रायः नहीं रह पाती। बाजारों में प्रायः लाल या काली और पीली सरसों करके २ प्रकार का सरसों मुख्य रूप से पाया जाता है। भारतवर्ष में होने वाले सर्षप में दो-तीन भेद विशेष महत्त्व के हैं—(१) *Brassica campestris var dichotoma Watt.* (२) *Brassica campestris var. glauca* तथा (३) *B. campestris var toria*। इनमें तीसरा भेद तराई के जिलों में अधिक बोया जाता है। प्रथम भेद के बीज काली या लाल सरसों के नाम से तथा इनसे प्राप्त तैल व्यवसाय में 'कोल्जा ऑयल (*Colza oil*)' के नाम से तथा दूसरे भेद से प्राप्त बीज पीली सरसों या सफेद सरसों के नाम से तथा इनसे प्राप्त तेल 'रेप ऑयल (*Rape oil*)' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सरसों के बीज साबूदाना की तरह गोल-गोल दानों के रूप में (तथा राई से बड़े) होते हैं। लाल सर्षप के दाने कुछ कालिमा लिये भूरे रंग के तथा स्पर्श में चिकने या कुछ कर्कश होते हैं। पीली या सफेद सरसों के बीज पीले या सफेद रंग के होते हैं। सरसों के कोमल पौधों का शाक खाया जाता है; तथा बीज एवं तैल का औषध्यर्थ व्यवहार भी होता है।

उपयोगी अंग – वीज एवं तेल (कटु तेल या कड़वा तेल)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – सरसों का तेल हल्का भूरापन लिये पीले रंग का या सुनहले पीले रंग के द्रव के रूप में पाया जाता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की गंध पायी जाती है तथा स्वाद में यह तीक्ष्ण होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – वीजों में प्रायः जान-वूझ कर मिलावट की सम्भावना कम होती है। इससे तीसी, कुसुम्भ (वरें) तथा भड़भाड़ (स्वर्णक्षीरी) एवं कुसुम (*Schleichera trijuga Linn.* (*Family*: *Sapindaceae*) के तेल का भी मिलावट किया जाता है, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है।

संगठन – सरसों के वीजों में २६ से ३५% तक स्थिर तैल (कटु तैल या कड़वा तेल) तथा (२८% तक) प्रोटीन एवं म्यूसिलेज आदि घटक पाये जाते हैं। तैल में मुख्यतः स्टियरिक एसिड एवं ओलिईक एसिड आदि के ग्लिसराइड्स पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त विना उवाले हुए वीजों से अल्प मात्रा में एक उत्पत् तैल भी पाया जाता है।

स्वभाव–गुण–(वीज एवं तेल) स्निग्ध, रूक्ष; (शाक)–तीक्ष्ण, रूक्ष। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातनाशक, पित्तवर्धक, लेखन, कुष्ठघ्न, वर्ण्य, वेदनास्थापन, शोणितोत्क्लेशक, दीपन, विदाही, हृदयोत्तेजक, मूत्रजनन, वाजीकरण, गर्भाशयोत्तेजक आदि। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है। प्रलेप के रूप में प्रयुक्त करने से इसकी क्रिया राई की तरह होती है। सन्धिवात, कमर के दर्द एवं अन्य पीड़ाओं को शान्त करने के लिए अन्य वेदनास्थापन औषधियाँ मिला कर इसके तेल की मालिश की जाती है। वर्ण्य एवं वल्य क्रिया के लिए वीजों का उवटन तथा तेल की मालिश की जाती हैं। सेंधा नमक मिलाकर गण्डूष धारण करने से तथा मसूढ़ों पर मालिश करने से बहुत लाभ होता है। अनेक त्वग् रोगों में वीज कल्क एवं तैल का प्रलेप तथा मर्दन किया जाता है। प्लीहावृद्धि में सरसों का तेल वहुत उपयोगी होता है।

सरिवन (शालपर्णी)

नाम। सं०–शालपर्णी, स्थिरा, विदारिगन्धा, त्रिपर्णी। हिं०–सरिवन। वं०–शालपानी। म०–सालवण, रानमाल। गु०–सालवण, पांदडियो। ले०–डेस्मोडिउम गांजेटिकुम (*Desmodium gangeticum DC.*)।

वानस्पतिक कुल – शिम्वी-कुल : प्रजापति–उपकुल (*Leguminosea* : *Papilionaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में (सड़कों के किनारे, वगीचों में तथा ऊसर जमीन में और जंगलों में छायादार जगहों में) तथा वाहरी हिमालय पर्वत-श्रेणियों में (१५२३ मीटर या ५००० फुट की ऊँचाई तक) शालपर्णी के स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। शालवनों में यह प्रचुरता से पायी जाती है। शुष्क पंचाङ्ग पंसारी लोग विक्रयार्थ रखते हैं।

संक्षिप्त परिचय – शालपर्णी के स्वावलम्वी (*Erect*) या भूमि की ओर झुके हुए या फैले हुए (*Suberect*) शाकीय या काष्ठीय गुल्मक (०.६ से १.५ मीटर या २ से ५ फुट ऊँचे) होते हैं। काण्ड किंचित् कोणदार होता है। पत्तियाँ एकपत्रक (1–*foliolate*), प्रासवत् आयताकार या कम चौड़ी और लट्वाकार, अग्र की ओर क्रमशः तीक्ष्णाग्र होती हैं। पत्र की लम्वाई में भिन्न रूपता पायी जाती है। अल्प वृद्धि वाले पौधों में पत्तियाँ केवल १.२५ सें० मी० से ३.७५ सें० मी० या ½–१½ इंच लम्वी और अति वृद्धि वाले पौधों में ७.५ से १५ सें० मी० या ३"-६" लम्वी होती हैं। रूपरेखा में आपाततः शाल की पत्तियों की भाँति मालूम होती हैं। पुष्प छोटे तथा श्वेताभ गुलावी रंग के होते हैं, जो १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ६"–१२" लम्वी विरल पतली शाखाग्र्य एवं पत्रकोणोद्भूत मञ्जरियों में रहते हैं। फली कुछ टेढ़ी या दात्राकार (*Falcate*), ६-८ संधियों से युक्त होती है, जो टेढ़े सूक्ष्म रोमों से युक्त होने के कारण कपड़ों में चिपक जाने वाली होती है। पुष्पागम वर्षा में तथा फलागम जाड़ों में होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – ६ ग्राम से १२ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – शालपर्णी के नाम से उक्त वनस्पति का ही ग्रहण करना चाहिए। शालपर्णी के मूल-संहति (*Root-System*) में प्रायः अधिमूल (*Tap-root*) का विकास अधिक नहीं होता। उसके स्थान में मूल के आधार के पास से पतली रस्सी की भाँति लम्वी-लम्वी (२-३ फुट या अधिक) अनेक (५-१५ तक या अधिक) शाखाएँ निकल कर काफी गहराई तक फैल जाती हैं। यह प्रायः प्रारम्भ से अन्त तक रूपरेखा में वेलनाकार

(*Cylindrical*), ¼ इंच तक मोटे, हल्के पीताभ वर्ण के अथवा पीताभ श्वेत रंग के तथा प्रायः चिकने होते हैं। इनके अग्र पर सूत्राकार अनेक उपमूल (*Rootlets*) होते हैं, जिनके अग्रों पर कुल-स्वभाव के अनुसार अनेक दण्डाणुयुक्त सूक्ष्म ग्रंथिकाएँ (*Bacterial nodules*) पायी जाती हैं। केन्द्रस्थ काष्ठीय भाग अपेक्षाकृत अधिक तथा तृण वर्ण का होता है। मूलत्वक् (छाल) अपेक्षाकृत पतली किन्तु चिमड़ी (*Tough*) होती है। उक्त छाल न तो काफी मोटी और न तो मांसल ही होती है; किन्तु रचना में चर्मिल या चिमड़ी होतीहै और आसानी से पृथक् की जा सकती है। रंग में यह पीताभ श्वेत वर्ण की होती है। इसमें कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती किन्तु स्वाद में लवावी तथा कुछ मिठास लिये होती है। बाजारों में जो शालपर्णी बिकने को आती है, वह प्रायः एक-एक पौधे का अलग-अलग अथवा कई-कई पौधों का पंचाङ्ग होती है, जिसके उसी के तने या सूत्राकार जड़ों से बाँधे हुए बंडल होते हैं। कभी-कभी पृथक् रूप से मूल भी बेचने को लाते हैं, जिसमें पत्रयुक्त काण्ड का भी कुछ भाग लगा होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – इस जाति तथा कुल की कतिपय अन्य वनस्पतियों का ग्रहण भी शालपर्णी के नाम से किया जाता है:—(१) *Desmodium polycarpum DC.*–इसके पत्र त्रि-पत्रक (*3-foliolate*) –त्रिपर्णी— तथा रूपरेखा में गोलांडाकार होते हैं। फलियाँ १.२५ से २ सें० मी० या ½ से ⅘ इंच लम्बी तथा अवृन्त होती हैं। (२) *Desmodium pulchellum Benth. ex Baker* —इसे गढ़वाल में 'जलसालपान' कहते हैं। (३) *D. tiliaefolium G. Don.* । (४) फ्लेमिंजिआ चप्पर *Flemingia chappar Ham.* तथा (५) *F. semialate Roxb.*–इनको देहरादून के जंगलों में सालपान तथा 'बड़ा सालपान' कहते हैं। इनके पौधे भी कुछ-कुछ शालपर्णी से मिलते-जुलते हैं, अतएव कभी शालपर्णी के नाम से इनका भी संग्रह कर लिया जाता है।

वक्तव्य – केरल प्रान्त में (१) प्सेउडार्थ्रिआ विस्सिडा *Pseudarthria viscida W. & A.* तथा (२) ऊरारिया हामोसा *Uraria hamosa Wall.*(मूविला *Muvila* मल०; नीरमल्लि *Neermalli*–ता०)—इन दो वनस्पतियों का ग्रहण शालपर्णी के नाम से तथा डेस्मोडिउम गांजेटिकुम (और इसके स्थान में प्रयोग में आने वाली अन्य जातिओं) का ग्रहण पृश्निपर्णी के नाम से किया जाता है। इसी प्रकार की परम्परा (डेस्मोडिउम जातियों का ग्रहण पृश्निपर्णी नाम से तथा ऊरारिआ जातियों का प्रयोग शालपर्णी के नाम से) स्थान-स्थान में अन्यत्र भी है। किन्तु वास्तव में शालपर्णी के नाम से डेस्मोडिउम जातियों को तथा ऊरारिअ जाति को पृश्निपर्णी के नाम से ही ग्रहण करना उचित है।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों में पंचाङ्ग को संग्रह कर, छाया-शुष्क करके मुखबंद डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन–शालपर्णी के मूल में एक पीत रालीय तत्त्व, तैल, क्षारतत्त्व तथा ६% भस्म होती है।

वीर्यकालावधि – ३-६ महीना।

स्वभाव–गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर, तिक्त। विपाक मधुर। वीर्य–उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक; ज्वरघ्न, मूत्रल, वल्य, बृंहण, रसायन, अङ्गमर्दप्रशमन, वृष्य, कफनिःसारक, शोथहर, दीपन, स्नेहन, स्तम्भन आदि।

मुख्य योग – लघु पञ्चमूल।

विशेष – चरकोक्त स्नेहोपग, श्वयथुहर, अंगमर्दप्रशमन महाकषायों, एवं मधुरस्कन्ध तथा सुश्रुतोक्त विदारिगन्धादि गण में शालपर्णी भी है।

सर्पगन्धा

नाम। सं०–सर्पगन्धा ?। हिं०–धवलबरुआ–(उ० प्र०)। बि०–घनमरवा, चंदमरवा, इसरगज। रांची–झाड़मानिक। थोल्कोवाद–अडाटारेड या नजमरेड। उरिया–पताल-गरुड। बं०–चाँदड़, चादर, छोटा चाँद। म०–अडकई। ले०–राउवॉल्फ़िआ सेर्पेन्टीना (*Rauvolfia serpentina Benth. ex Kurz.*)।

वानस्पतिक कुल – करवीर-कुल (*Apocynaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारत, पाकिस्तान, अण्डमान, लंका, बर्मा, कोचीन, मलाया, चीन, जापान, फिलिपाइन्स आदि। भारतवर्ष में यह आर्द्र एवं उष्ण प्रदेशीय हिमालय की तराई में पंजाब से पूरब में आसाम के खासी पर्वत की तराई तक फैला है। यह विशेष कर शिवालिक पर्वतमाला, रुहेलखण्ड, अवध और गोरखपुर के इलाकों में १२०४ मीटर या ४,००० फुट की ऊँचाई तक तथा कोंकण, उत्तरी कनाड़ा, दक्षिण महाराष्ट्र, मद्रास राज्य के पूर्वी-पश्चिमी घाट के प्रदेशों में ३,००० फुट तक तथा विहार

एवं उत्तरी एवं मध्य बंगाल में प्रचुरता से पाया जाता है। औषधि-निर्माण शालाओं में इसकी अत्यधिक माँग होने से जंगली पौधों से काम नहीं चलता, अतएव अब अनेक स्थलों में लम्बे परिमाण में इसकी खेती की जा रही है। भारतीय बाजारों में सर्पगन्धा मूल का आयात मुख्यतः देहरादून, बिहार, बंगाल, आसाम तथा लंका आदि से होता है। बिहारी मूल में अपेक्षाकृत सर्पेन्टीन समुदाय के ऐल्केलाइड्स अधिक, तथा देहरादून की सर्पगन्धा में अपेक्षाकृत अजमलीन समुदाय के ऐल्केलाइड्स अधिक पाये जाते है।

संक्षिप्त परिचय – सर्पगन्धा के सुन्दर, चिकने, २.५ सें० मी० से ५-६.२५ सें० मी० या १ से २-२॥ फुट तक ऊँचे गुल्मक होते हैं। काण्ड वेलनाकार, पीली छालयुक्त होता है, जिसको तोड़ने पर पाण्डुर वर्ण का चिपचिपा द्रव-जैसा रस निकलता है। पत्तियाँ चमकीली, ५ से १७.५ सें० मी० या २ से ७ इंच तक लम्बी, २.५ से ५ सें० मी० या १ से २ इंच चौड़ी, रूपरेखा में भालाकार, अभिलट्वाकार अथवा आयताकार और नुकीले अग्रवाली होती हैं। आधार की ओर मध्यशिरा के दोनों ओर का भाग असमान होता है, और उत्तरोत्तर कम चौड़ा होकर एक छोटे पर्णवृन्त में अन्त होता है। प्रत्येक ग्रन्थि पर ३-५ पत्र होते हैं, जो आमने-सामने अथवा चक्रित क्रम से स्थित होते हैं। पुष्प छोटे, श्वेत और आभ्यन्तर नाल प्रायः टेढ़ा और आपच्च और कण्ठ में प्रायः घनरोमश तथा अष्ठिफल (*Drupes*) व्यास में ६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ इंच तक, एकी या द्विखण्डी (*Didymous*), रक्ताभ किन्तु अन्ततः काले वर्ण के हो जाते हैं। औषधि में इसकी छाल युक्त जड़ का व्यवहार होता है। जड़ की मांग अत्यधिक होने से जंगली पौधों से काम नहीं चलता। अतएव अनेक उपयुक्त जगहों में इसकी खेती की जा रही है। सर्पगन्धा की कृषि लगभग सर्वत्र मैदानों में, सदाहरित जंगलों (आनूप) में और हिमालय की तराई के प्रदेशों में की जा सकती है। इसके पौधे बीज से भी उगाये जाते हैं, अथवा जड़ के टुकड़े काट कर लगाने से भी लग जाता है। इसके लिए आर्द्र छायादार भूमि अधिक उपयुक्त होती है।

उपयोगी अंग – छाल युक्त मूल।

मात्रा – रक्तभार को कम करने के लिए ३१२.५ मि० ग्रा० से ६२५ मि० ग्रा० या २॥-५ रत्ती। निद्रा लाने के लिए—१ ग्राम से २ ग्राम या १ से ३ माशा। उन्माद में—१.५ ग्राम से ३ ग्राम या १॥–३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – सर्पगन्धा मूल ४० सें० मी० या १६ इंच तक लम्बा, काफी मोटा (मोटाई का व्यास २ सें० मी० या $\frac{4}{5}$ इंच तक) तथा टेढ़ा-मेढ़ा होता है। किन्हीं-किन्हीं जड़ों में शाखाएँ भी होती हैं। बाह्य तल खुरखुरा, कुछ झुर्रीदार होता है और लम्बाई के रुख रेखाएँ या चिह्न होते हैं। तोड़ने पर यह खट से टूटती हैं, किन्तु टूटा तल अनियमित या टेढ़े-मेढ़े रूपरेखा में टूटा प्रतीत होता है। मूलत्वक् खाकस्तरी पीले से लेकर भूरापन लिये रंग का होता है। अन्दर का काष्ठीय भाग फीके या श्वेताभ वर्ण का होता है। सर्पगन्धा की जड़ों में कोई विशेष गन्ध नहीं होती, किन्तु स्वाद में यह अत्यंत तिक्त होती हैं। उत्तम जड़ में ऐल्केलाइड्स की मात्रा कम-से-कम ०.८% अवश्य होती है, तथा इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य २% से अधिक नहीं होते। परीक्षा—२ भाग नाइट्रिक एसिड तथा १ भाग जल का विलयन तैयार रख लें। जड़ को तोड़ कर टूटे हुए तल पर दो बूंद उक्त विलयन डालने से मज्जक किरणों (*Medullary rays*) पर गाढ़ा रंग पैदा होता है। कॉर्टेक्स (*Cortex*) के भाग में उक्त परिवर्तन विशेष रूप से लक्षित होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – सर्पगन्धा की जड़ों में इसके मूलस्तम्भ तथा काण्ड के टुकड़ों का भी मिलावट कर देते हैं। मूलस्तम्भ में तो क्षारादों की उपस्थिति पायी जाती है, (किन्तु मूल की अपेक्षा बहुत कम); लेकिन तने में ऐल्केलाइड्स बहुत कम मिलते हैं। कीट आदि भक्षित पुरानी जड़ों में भी ऐल्केलाइड्स कम हो जाते हैं। सर्पगन्धा की मांग अत्यधिक होने के कारण संग्रहकर्ता कभी-कभी जान-बूझ कर इसकी अन्य प्रजातियों की जड़ें भी संग्रहीत कर असली सर्पगन्धा में मिला देते हैं। सर्पगन्धा की अनेकों अन्य जातियाँ भी स्थान-स्थानमें पायी जाती हैं। इनमें निम्न विशेष महत्त्व की हैं—(१) राउवॉल्फ़िआ कानेसेंस (*Rauvolfia canescence Linn.*)–यह फैलने वाला युग्म शाखी शाखा-युक्त क्षुप है। शाखाएँ लोमश (रोयेंदार) और १.८ मीटर या ६ फुट तक लम्बी होती हैं। प्रत्येक ग्रंथि पर ३-३ पत्तियाँ चक्रित क्रम से निकलती हैं। यह जाति बंगाल में प्रचुरता से पायी जाती है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य उष्ण एवं आर्द्र

प्रदेशों में भी न्यूनाधिक मात्रा में पायी जाती है। (२) राउवॉल्फ़िआ डेन्सिफ्लोरा (*R. densiflora Benth.*)—यह जाति खासी पर्वत, पश्चिमी घाट तथा कोंकण के दक्षिण प्रदेश में अधिक मिलती है। (३) राउवॉल्फ़िआ मीक्रान्था (*R. micrantha*)—यह मलाबार के समुद्रतटीय मैदानों में अधिक पाया जाता है। दक्षिण भारत में इसकी जड़ भी बाजारों में बिकती है।

संग्रह एवं संरक्षण – सर्पगन्धा मूल का संग्रह जाड़ों में करना चाहिए। एतदर्थ ३-४ वर्ष आयु के पौधे ही चुनने चाहिए। जड़ों को मिट्टी आदि से साफ करके, छाया-शुष्क कर लें और मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – सर्पगन्धा की जड़ में (कम-से-कम ०.८%) इसके क्षारोद पाये जाते हैं, जिनमें अजमलीन (*Ajmaline*), अजमलिनीन (*Ajmalinine*), अजमलिसीन (*Ajmalicine*), सर्पेन्टीन (*Serpentine*), सर्पेन्टिनीन (*Serpentinine*) एवं रॉओल्फीन (*Rauwolfine*) आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त इसमें एक राल (*Resin*—जो इसका एक मुख्य सक्रिय घटक होता है) एवं स्टार्च, गोंद तथा लवण पाये जाते हैं। अधुना मूल का रासायनिक विश्लेषण चरम कोटि तक किया गया है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – सर्पगन्धा मूल रस में तिक्त एवं कटु विपाक वाला होता है। इसमें निद्रल प्रभाव होता है। यह मस्तिष्क पर संशामक एवं निद्रल क्रिया करता है। इसके अतिरिक्त रक्तभार को कम करने के लिए सर्पगन्धा मूल अब तक ज्ञात औषधियों में सर्वोत्तम एवं निरापद माना जाता है। तिक्त रसयुक्त होने से अल्प मात्रा में यह कटु पौष्टिक तथा पित्तसारक और पर्याप्त मात्राओं में ज्वरघ्न होता है। विषघ्न के रूप में यह प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। आज कल इसके घन सत्व से बने अथवा ऐल्केलायड्स के पृथक्-पृथक् अनेकों व्यावसायिक योग बाजारों में उपलब्ध हैं। उन्माद (*Mania*) या पागलपन, जिसमें रक्तभार बढ़ा होता है तथा रोगी बहुत बक-झक करता है, यह रामबाण औषधि है। एतदर्थ इसका चूर्ण दूध एवं शर्करा के साथ मौखिक रूप से अथवा घन सत्व की बनी गोलियाँ या टिकियाँ दी जाती हैं। अन्य व्यावसायिक योग भी व्यवहृत किये जा सकते हैं।

मुख्य योग – सर्पगन्धादि चूर्ण, सर्पगन्धा वटी, सर्पगन्धा योग।

विशेष – आयुर्वेद के प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों में केवल सुश्रुत के (उ० तं० अ० ६०) अमानुपोपसर्गाध्याय में मानस रोगहर अपराजितादि गण में सर्पगन्धा का उल्लेख है। लोक व्यवहार में यह अति प्राचीन काल से उन्माद, अनिद्रा एवं सर्पदष्ट आदि में व्यवहृत होता आ रहा है।

सलई (शल्लकी)

नाम। सं०—शल्लकी, गजभक्ष्या, सल्लकी, सुस्रवा हिं०—सालई, सलई, सालय। को०, संथा०—संलगा। मा०—सालई। गु०—शालेडो, धूपडो। ले०—बॉसवेलिआ सेर्राटा *Boswellia serrata Roxb. ex. Boleber.*। शल्लकीनिर्यास—सं०—कुन्दुरु। हिं०, द०—कुंदुर। फा०—कुंदुर। वं०—कुंद्रो। अं०—इंडियन ओलिबेनम ((*Indian Olibanum*)।

वानस्पतिक कुल – गुग्गुल-कुल (*Burseraceae*)।

प्राप्तिस्थान – मध्यप्रदेश, दकन, राजस्थान, बिहार एवं उड़ीसा तथा हिमालय की तराई में (कहीं-कहीं) सलई के समूहबद्ध जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। बाजारों में जो कुंदुर गोंद मिलता है, वह प्रायः अरब, सोकोतरा एवं अफ्रीका आदि पश्चिमी देशों से आता है, और बॉसवेलिआ फ्लोरीबुंडा (*B. floribunda*) नामक जाति से प्राप्त किया जाता है। इसे अरबी में लबान, फारसी में कुंदुर तथा अंग्रेजी में ओलिबेनम् (*Olibanum*) या फ्रेन्किन्सेन्स (*Frankincense*) कहते हैं। सलई के वृक्षों को भी चीरा लगाने से इसी प्रकार का गोंद प्राप्त होता है। अतएव इसे भारतीय लबान कह सकते हैं। व्यावसायिक रूप से इसका अधिक संग्रह नहीं किया जाता।

संक्षिप्त परिचय – सलई के ऊँचे-ऊँचे या मध्यम कद के सुन्दर वृक्ष होते हैं, जो जंगलों में शुष्क एवं बालुकामय पहाड़ियों के ढालों पर प्रायः समूहबद्ध पाये जाते हैं। काण्डस्कन्ध ३.६ से ४.५ मीटर या १२-१५ फुट तक ऊँचा और व्यास में ०.६ से १.५ मीटर या ३-५ फुट तक मोटा होता है। काण्डत्वक् रक्ताभ पीत या हरित श्वेत और चिकनी होती है, जो कागज की तरह पतले-पतले परतों में छूटती है। सदलपर्ण ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० या १-१॥ फुट लम्बे शाखाओं पर समूहबद्ध पाये जाते हैं। पत्रक प्रायः ८-१६ जोड़े, प्रायः अवृन्त या बहुत छोटे वृन्तक युक्त, ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच तक लम्बे ८.३ मि० मी० से १५ मि० मी० या ⅓ से ⅗ इंच तक

चौड़े, रूप रेखा में प्रासवत् या भालाकार (*Lanceolate*) या लट्वाकार भालाकार होते हैं, और लगभग अभिमुख क्रम से स्थित (*Sub-opposite*) होते हैं। पत्रकों का किनारा आरावत् दंतुर होता है, जिससे आपाततः देखने में सलई की पत्तियाँ भी नीम की पत्तियों-जैसी मालूम होती हैं। पत्रक अग्र पर कभी-कभी लोमयुक्त (*Mucronate*) होते हैं। इसकी छोटी टहनियों एवं पत्तियों को मसल कर सूंघने पर एक विशिष्ट प्रकार की मनोरम सुगंधि मालूम होती है। वसन्त ऋतु एवं गर्मियों में पतझड़ होता है और इसके बाद छोटे-छोटे श्वेताभ पुष्प निकलते है, जो सुगन्धित होते हैं और पत्रकोणोद्भूत मञ्जरियों में लगते हैं। गर्भाशय (*Ovary*) त्रिगह्वरक (*3-celled*) होता है। अष्ठिफल (*Drupe*) अंडाकार आयताकार, १.२५ सें० मी० से १.७५ सें० मी० या (१/२–७/१०) इंच) लम्बा तथा चिकना होता है, और पकने पर हरिताभ पीत वर्ण का हो जाता है। सलई की डालियों को तोड़ कर गाड़ देने से उनसे पत्तियाँ निकल आती हैं और वृक्ष लग जाते हैं। इसके काण्डस्कंध पर चीरा लगाने से एक गोंद निकलता है, जिसे 'कुंदुरु' या 'सलई का गोंद' कहते हैं। इसकी लकड़ी काफी हल्की एवं चिकनी होती है। अतएव पैकिंग के वक्से के लिए वहुत उपयुक्त होती है। काण्डत्वक् एवं गोंद का व्यवहार चिकित्सा में होता है। इसके २ भेद उपलब्ध होते हैं। एक में पत्रकों के किनारे दंतुर होते हैं (*Var. serrata*) तथा पृष्ठ कुछ रोमश होता है। दूसरे भेद के पत्रक चिकने तथा तट सरल (*Var-glabra*) होते हैं।

उपयोगी अंग – काण्डत्वक् एवं गोंद (कुंदुरु)।

मात्रा – गोंद–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

काण्डत्वक्–६ ग्राम से २३.६ ग्राम या ६ माशा से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कुंदुरु अर्थात् शल्लकी निर्यास या सलई का गोंद (*Indian olibanum*)–शल्लकी निर्यास उत्पत् तल युक्त रालीय गोंद (*Oleo-gum-resin*) होता है, जो ताजी अवस्था में मुलायम होता है, किन्तु वाद में सूखने पर कड़ा एवं सुनहले रंग का तथा कुछ पारदर्शक होता है। इसमें तारपीन के तेल-जैसी सुगंधि पायी जाती है। आग में डालने पर यह तुरन्त जलने लगता है, जिससे सुगंधित धुँआ निकलता है। जल के साथ आसवन करने से उत्पत् तैल पृथक् प्राप्त होता है, जो वहुत-कुछ तारपीन के तेल-जैसा होता है। उत्तम गोंद में कम-से-कम ५०% जलविलेय सत्व प्राप्त होता है। विदेशी कुंदुर – भारतीय वाजारों में जो कुंदुर गोंद मिलता है, वह प्रायः सोकोतरा, अरव एवं अफ्रीका आदि पश्चिमी देशों से आता है। यह वॉसवेलिआ फ्लोरीवुंडा से प्राप्त किया जाता है। इसके छोटे-छोटे कँटीले वृक्ष होते हैं। ताजा, नरम, शुद्ध (अमिश्र), नर, जो ऊपर से सफेद और भीतर से लेसदार, सुनहला और टूटा न हो ऐसा कुंदुर उत्तम समझा जाता है। शुद्ध कुंदुर अग्नि पर डालने से शीघ्र जल उठता है। कुंदुर में मस्तगी की-सी सुगंधि आती है। यह स्वाद में कडुआ होता है। जल में घोंटने पर इमल्सन वन जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – आकृति एवं रंगभेद से यूनानी निघण्टुओं में कुंदुर के निम्न भेदों का उल्लेख मिलता है।– (१) नरकुंदुर (कुंदुर ज़कर)–इसके दाने ललाई लिये गोल, छोटे और कड़े; या ललाई लिये पीले अथवा भूरे या गहरे पीले रंग के होते हैं। (२) मादा कुंदुर (कुन्दुर उन्सा)–इसके दाने उससे वड़े, सफेद (या पाडुश्वेत अथवा पांडुपीत) और अर्ध स्वच्छ होते हैं। इसे 'आँवल' या 'अव्वल कुंदुर' भी कहते हैं। (३) गोल कुंदुर (कुंदुर मुदहरज)–यह कुंदुर का ताजा निकला हुआ गोंद है, जिसे थैलियोंमें हिला कर अश्रुवत् गोल वना लिया जाता है। (४) किशार कुंदुर (पपड़ीदार गोंद)–यह आपस में रगड़ खाने से पृथक् हुए निर्यास की पतली एवं चौड़ी पपड़ी या पत्तर अथवा स्रावित निर्यास द्वारा आच्छादित वृक्ष वल्कल के टुकड़े होते हैं। कुंदुर के वे कण जो आपस में रगड़ खाने से अलग होकर कुंदुर की थैलियों में गिरते हैं, वम्वई के वाजार में यह 'धूप' के नाम से पृथक् विकते हैं। (५) कुंदुर का चूरा (दुक़ाक़ कुंदुर)–यह शुद्ध, नरम और पिसा हुआ उत्तम होता है।

शल्लकी वृक्ष के साथ-साथ आपाततः देखने में इसी की भाँति एक दूसरा वृक्ष भी पाया जाता है, जिसे गारुगा पीन्नाटा (*Garuga pinnata Roxb.: Family Burseraceae*) तथा अरमू, केकड़, जिगा, घोघर या खरपत कहते हैं। कुल धर्म के अनुसार इसमें भी कुछ गोंद निकलता है। किन्तु शल्लकी निर्यास के नाम से इसका संग्रह नहीं होना चाहिए।

प्रदेशों में भी न्यूनाधिक मात्रा में पायी जाती है। (२) राउवॉल्फ़िआ डेन्सिफ्लोरा (*R. densiflora Benth.*)--यह जाति खासी पर्वत, पश्चिमी घाट तथा कोंकण के दक्षिण प्रदेश में अधिक मिलतीं है। (३) राउवॉल्फ़िआ मीक्रान्था (*R. micrantha*)---यह मलाबार के समुद्रतटीय मैदानों में अधिक पाया जाता है। दक्षिण भारत में इसकी जड़ भी बाजारों में बिकती है।

संग्रह एवं संरक्षण – सर्पगन्धा मूल का संग्रह जाड़ों में करना चाहिए। एतदर्थ ३-४ वर्ष आयु के पौधे ही चुनने चाहिए। जड़ों को मिट्टी आदि से साफ करके, छाया-शुष्क कर लें और मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – सर्पगन्धा की जड़ में (कम-से-कम ०.८%) इसके क्षारोद पाये जाते हैं, जिनमें अजमलीन (*Ajmaline*), अजमलिनीन (*Ajmalinine*), अजमलिसीन (*Ajmalicine*), सर्पेन्टीन (*Serpentine*), सर्पेन्टिनीन (*Serpentinine*) एवं रॉओल्फीन (*Rauwolfine*) आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त इसमें एक राल (*Resin*—जो इसका एक मुख्य सक्रिय घटक होता है) एवं स्टार्च, गोंद तथा लवण पाये जाते हैं। अधुना मूल का रासायनिक विश्लेपण चरम कोटि तक किया गया है।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – सर्पगन्धा मूल रस में तिक्त एवं कटु विपाक वाला होता है। इसमें निद्रल प्रभाव होता है। यह मस्तिष्क पर संशामक एवं निद्रल क्रिया करता है। इसके अतिरिक्त रक्तभार को कम करने के लिए सर्पगन्धा मूल अब तक ज्ञात औषधियों में सर्वोत्तम एवं निरापद माना जाता है। तिक्त रसयुक्त होने से अल्प मात्रा में यह कटु पौष्टिक तथा पित्तसारक और पर्याप्त मात्राओं में ज्वरघ्न होता है। विषघ्न के रूप में यह प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। आज कल इसके घन सत्व से बने अथवा ऐल्केलायड्स के पृथक्-पृथक् अनेकों व्यावसायिक योग बाजारों में उपलब्ध हैं। उन्माद (*Mania*) या पागलपन, जिसमें रक्तभार बढ़ा होता है तथा रोगी बहुत बक-झक करता है, यह रामबाण औषधि है। एतदर्थ इसका चूर्ण दूध एवं शर्करा के साथ मौखिक रूप से अथवा घन सत्व की बनी गोलियाँ या टिकियाँ दी जाती हैं। अन्य व्यावसायिक योग भी व्यवहृत किये जा सकते हैं।

मुख्य योग – सर्पगन्धादि चूर्ण, सर्पगन्धा वटी, सर्पगन्धा योग।

विशेष – आयुर्वेद के प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों में केवल सुश्रुत के (उ० तं० अ० ६०) अमानुषोपसर्गाध्याय में मानस रोगहर अपराजितादि गण में सर्पगन्धा का उल्लेख है। लोक व्यवहार में यह अति प्राचीन काल से उन्माद, अनिद्रा एवं सर्पदष्ट आदि में व्यवहृत होता आ रहा है।

सलई (शल्लकी)

नाम। सं०–शल्लकी, गजभक्ष्या, सल्लकी, सुस्रवा हिं०–सालई, सलई, सालय। को०, संथा०–संलगा। मा०–सालई। गु०–शालेडो, धूपडो। ले०–बॉसवेल्लिआ सेर्राटा *Boswellia serrata Roxb. ex. Boleber.*। शल्लकीनिर्यास–सं०–कुन्दुरु। हिं०, द०–कुंदुर। फा०–कुंदुर। बं०–कुंद्रो। अं०–इंडियन ओलिबेनम् (*Indian Olibanum*)।

वानस्पतिक कुल – गुग्गुल-कुल (*Burseraceae*)।

प्राप्तिस्थान – मध्यप्रदेश, दकन, राजस्थान, बिहार एवं उड़ीसा तथा हिमालय की तराई में (कहीं-कहीं) सलई के समूहबद्ध जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। बाजारों में जो कुंदुर गोंद मिलता है, वह प्रायः अरब, सोकोतरा एवं अफ्रीका आदि पश्चिमी देशों से आता है, और बॉसवेल्लिआ फ्लोरीबुंडा (*B. floribunda*) नामक जाति से प्राप्त किया जाता है। इसे अरबी में लबान, फारसी में कुंदुर तथा अंग्रेजी में ओलिबेनम् (*Olibanum*) या फ्रेन्किन्सेन्स (*Frankincense*) कहते हैं। सलई के वृक्षों को भी चीरा लगाने से इसी प्रकार का गोंद प्राप्त होता है। अतएव इसे भारतीय लबान कह सकते हैं। व्यावसायिक रूप से इसका अधिक संग्रह नहीं किया जाता।

संक्षिप्त परिचय – सलई के ऊँचे-ऊँचे या मध्यम कद के सुन्दर वृक्ष होते हैं, जो जंगलों में शुष्क एवं बालुकामय पहाड़ियों के ढालों पर प्रायः समूहबद्ध पाये जाते हैं। काण्डस्कन्ध ३.६ से ४.५ मीटर या १२-१५ फुट तक ऊँचा और व्यास में ०.६ से १.५ मीटर या ३-५ फुट तक मोटा होता है। काण्डत्वक् रक्ताभ पीत या हरित श्वेत और चिकनी होती है, जो कागज की तरह पतले-पतले परतों में छूटती है। सदलपर्ण ३० सें० मी० से ४५ सें० मी० या १-१॥ फुट लम्बे शाखाओं पर समूहबद्ध पाये जाते हैं। पत्रक प्रायः ८-१६ जोड़े, प्रायः अवृन्त या बहुत छोटे वृन्तक युक्त, ५ से ७.५ सें० मी० या २-३ इंच तक लम्बे ८.३ मि० मी० से १५ मि० मी० या $\frac{1}{3}$ से $\frac{2}{3}$ इंच तक

चौड़े, रूप रेखा में प्रासवत् या भालाकार (*Lanceolate*) या लट्वाकार भालाकार होते हैं, और लगभग अभिमुख क्रम से स्थित (*Sub-opposite*) होते हैं। पत्रकों का किनारा आरावत् दंतुर होता है, जिससे आपाततः देखने में सलई की पत्तियाँ भी नीम की पत्तियों-जैसी मालूम होती हैं। पत्रक अग्र पर कभी-कभी लोमयुक्त (*Mucronate*) होते हैं। इसकी छोटी टहनियों एवं पत्तियों को मसल कर सूंघने पर एक विशिष्ट प्रकार की मनोरम सुगंधि मालूम होती है। वसन्त ऋतु एवं गर्मियों में पतझड़ होता है और इसके बाद छोटे-छोटे श्वेताभ पुष्प निकलते हैं, जो सुगन्धित होते हैं और पत्रकोणोद्भूत मञ्जरियों में लगते हैं। गर्भाशय (*Ovary*) त्रिगह्वरक (*3-celled*) होता है। अष्ठिफल (*Drupe*) अंडाकार आयताकार, १.२५ सें० मी० से १.७५ सें० मी० या (½–७/१० इंच) लम्बा तथा चिकना होता है, और पकने पर हरिताभ पीत वर्ण का हो जाता है। सलई की डालियों को तोड़ कर गाड़ देने से उनसे पत्तियाँ निकल आती हैं और वृक्ष लग जाते हैं। इसके काण्डस्कंध पर चीरा लगाने से एक गोंद निकलता है, जिसे 'कुंदुरु' या 'सलई का गोंद' कहते हैं। इसकी लकड़ी काफी हल्की एवं चिकनी होती है। अतएव पैकिंग के बक्से के लिए बहुत उपयुक्त होती है। काण्डत्वक् एवं गोंद का व्यवहार चिकित्सा में होता है। इसके २ भेद उपलब्ध होते हैं। एक में पत्रकों के किनारे दंतुर होते हैं (*Var. serrata*) तथा पृष्ठ कुछ रोमश होता है। दूसरे भेद के पत्रक चिकने तथा तट सरल (*Var-glabra*) होते हैं।

उपयोगी अंग – काण्डत्वक् एवं गोंद (कुंदुरु)।

मात्रा – गोंद–१ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

काण्डत्वक्–६ ग्राम से २३.६ ग्राम या ६ माशा से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कुंदुरु अर्थात् शल्लकी निर्यास या सलई का गोंद (*Indian olibanum*)–शल्लकी निर्यास उत्पत् तल युक्त रालीय गोंद (*Oleo-gum-resin*) होता है, जो ताजी अवस्था में मुलायम होता है, किन्तु बाद में सूखने पर कड़ा एवं सुनहले रंग का तथा कुछ पारदर्शक होता है। इसमें तारपीन के तेल-जैसी सुगंधि पायी जाती है। आग में डालने पर यह तुरन्त जलने लगता है, जिससे सुगंधित धुंआ निकलता है। जल के साथ आसवन करने से उत्पत् तैल पृथक् प्राप्त होता है, जो बहुत-कुछ तारपीन के तेल-जैसा होता है। उत्तम गोंद में कम-से-कम ५०% जलविलेय सत्व प्राप्त होता है। विदेशी कुंदुर – भारतीय बाजारों में जो कुंदुर गोंद मिलता है, वह प्रायः सोकोतरा, अरब एवं अफ्रीका आदि पश्चिमी देशों से आता है। यह बॉसवेलिआ फ्लोरीबुंडा से प्राप्त किया जाता है। इसके छोटे-छोटे कँटीले वृक्ष होते हैं। ताजा, नरम, शुद्ध (अमिश्र), नर, जो ऊपर से सफेद और भीतर से लेसदार, सुनहला और टूटा न हो ऐसा कुंदुर उत्तम समझा जाता है। शुद्ध कुंदुर अग्नि पर डालने से शीघ्र जल उठता है। कुंदुर में मस्तगी की-सी सुगंधि आती है। यह स्वाद में कडुआ होता है। जल में घोंटने पर इमल्सन बन जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – आकृति एवं रंगभेद से यूनानी निघण्टुओं में कुंदुर के निम्न भेदों का उल्लेख मिलता है।– (१) नरकुंदुर (कुंदुर ज़कर)–इसके दाने ललाई लिये गोल, छोटे और कड़े; या ललाई लिये पीले अथवा भूरे या गहरे पीले रंग के होते हैं। (२) मादा कुंदुर (कुन्दुर उन्सा)–इसके दाने उससे बड़े, सफेद (या पाडुश्वेत अथवा पांडुपीत) और अर्ध स्वच्छ होते हैं। इसे 'आँवल' या 'अव्वल कुंदुर' भी कहते हैं। (३) गोल कुंदुर (कुंदुर मुदहरज)–यह कुंदुर का ताजा निकला हुआ गोंद है, जिसे थैलियोंमें हिला कर अश्रुवत् गोल बना लिया जाता है। (४) किशार कुंदुर (पपड़ीदार गोंद)–यह आपस में रगड़ खाने से पृथक् हुए निर्यास की पतली एवं चौड़ी पपड़ी या पत्तर अथवा स्रावित निर्यास द्वारा आच्छादित वृक्ष वल्कल के टुकड़े होते हैं। कुंदुर के वे कण जो आपस में रगड़ खाने से अलग होकर कुंदुर की थैलियों में गिरते हैं, बम्बई के बाजार में यह 'धूप' के नाम से पृथक् बिकते हैं। (५) कुंदुर का चूरा (दुक़ाक़ कुंदुर)–यह शुद्ध, नरम और पिसा हुआ उत्तम होता है।

शल्लकी वृक्ष के साथ-साथ आपाततः देखने में इसी की भाँति एक दूसरा वृक्ष भी पाया जाता है, जिसे गारुगा पीन्नाटा (*Garuga pinnata Roxb.* : *Family Burseraceae*) तथा अरमू, केकड़, जिगा, घोघर या खरपत कहते हैं। कुल धर्म के अनुसार इसमें भी कुछ गोंद निकलता है। किन्तु शल्लकी निर्यास के नाम से इसका संग्रह नहीं होना चाहिए।

शील, सशाख तथा २२.५ सें० मी० से० ०.६ मीटर या ।।।–३ फुट तक ऊंचे होते हैं। काण्ड पतले, रेखायुक्त, रोमश और शाखाएँ प्रायः श्वेताभ रोमश होती हैं। पत्तियाँ बहुरूपिक अर्थात् रेखाकार, अण्डाकार, लट्वाकार या अभिलट्वाकार, अखण्ड या दन्तुर, अवृन्त अथवा क्रमशः संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से लगी हुई होती हैं। मुण्डक ६.२५ मि० मी० या १/४ इंच लम्बा और आयताकार तथा पुष्प हल्के जामुनी रंग के होते हैं। अधः पत्रावलि (इन्वोल्यूकर या निचक्र *Involucre*) घंटिकाकार, ०.५ सें० मी० या १/५ इंच लम्बी और उसके पत्रक प्रायः रेखाकार, लम्वाग्र और अग्र कण्टक सदृश तीक्ष्ण होते हैं। वीज कालीजीरी से मिलते-जुलते किन्तु छोटे होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग, मूल।

मात्रा–स्वरस–१ से २ तोला।

क्वाथ–२ से ४ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण –सहदेई प्रायः सर्वत्र सुलभ होने से ताजा ही व्यवहार करना चाहिए। संग्रह के लिए छायाशुष्क पंचाङ्ग को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल से संग्रहीत करें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–ज्वरघ्न। कर्म–शोथहर, वेदनास्थापन, ज्वरघ्न, अनुलोमन, कृमिघ्न, रक्तशोधक एवं रक्तस्तम्भक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न आदि। यूनानी मतानुसार यह सर्द एवं तर है। अहितकर–शीत प्रकृति को। निवारण–काली मिर्च एवं शहद।

मुख्य योग – अर्क हुम्मा नं० १ (यह योग राजकीय आयुर्वेदीय एवं यूनानी निर्माणशाला में बनता है)।

सहिजन (शिग्रु)

नाम। सं०–शोभाञ्जन, शिग्रु। हिं०–सहिजन, सहजन, सैंजन, मुनगा, सजना, संगन, सोहांजन। वं०–शजिना। पं०–सु(सो)हांजना। म०–शेवगा, सेगटा। गु० – सरगवो, सरघवो, सेकटो। सिंध–सुहांजिड़ो। मा०–सहजणो। उड़ि०–मुनगा। तें०–मुनगा। अं०–ड्रमस्टिक ट्री *Drumstick Tree*, हॉर्स-रेडिश ट्री *Horse-radish Tree*, *Indian Horse-radish Tree*। ले० (१) मधुशिग्रु या मीठा सहिजन–मोरिंगा प्टेरीगोस्पेर्मा *Moringa pterygosperma Gaertn.* (पर्याय–मोरिंगा ओलेईफ़ेरा *M. oleifera Lam.*)। (२) कटु शिग्रु या कड़वा सहिजन–*Moringa concanensis Nimmo.*।

वानस्पतिक कुल – शिग्रु-कुल (मोरिंगासे *Moringaceae*)।

प्राप्तिस्थान – मोरिंगा प्टेरीगोस्पेर्मा के वृक्ष हिमालय की तराई में चनाव से लेकर अवध तक जंगली रूप से प्रचुरता से पाये जाते है। जंगली वृक्षों के फूल-फल आदि कड़वे होते हैं; किन्तु लगाये हुए वृक्षों की फलियाँ मीठी होती हैं और शाकार्थ व्यवहृत होती हैं। अतएव समस्त भारतवर्ष में वगीचों तथा घरों के सामने इसके लगाये वृक्ष भी मिलते हैं। मोरिंगा कॉन्कानेंसिस के वृक्ष सिंध, राजस्थान, विलोचिस्तान एवं दक्षिण भारत में मिलते हैं। सहिजन की छाल एवं वीज पंसारियों के यहाँ तथा कोमल, कच्ची फलियाँ तरकारी वेंचने वालों के यहाँ मिलती हैं।

संक्षिप्त परिचय – सहिजन के छोटे-छोटे या मध्यम कद के वृक्ष होते हैं। कार्कयुक्त छाल मोटी तथा मुलायम होती है। इसका काष्ठ भी कोमल होता है, जिससे जब वृक्ष फलियों से लद जाते हैं तो डालियाँ अक्सर टूट जाती हैं। सहिजन के लिए कहावत मशहूर है "सहिजन अति फूले फले डार-पात की हानि।" पत्र संयुक्त प्रायः त्रि-पक्षवत् (*3-Pinnate*), ३० सें० मी० से ७५ सें० मी० या १ से २।। फुट लम्बे, पक्षक (*Pinnae*) ४-६ युग्म, अभिमुख क्रम से स्थित, पक्षकी या पिन्यूल (*Pinnulãe*) ६–९ युग्म तथा अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। पत्रवृन्त (*Petiole*) आधार की ओर कुछ कोपमय (*Sheathing*) होते हैं। पुष्प व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच, सुगंधित, सफेद रंग के (आधार पर पीत विन्दुकित) तथा गुच्छों में निकलते हैं। जाड़े के अन्त (एवं गर्मियों के प्रारम्भ में) पुष्पागम होता है तथा गर्मियों में फलियाँ (*Capsules*) लगती हैं, जो १७.५ सें० मी० से ५० सें० मी० या ६-२० इंच तक लम्बे, १.५ सें० मी० से २ सें० मी० या ३/५ से ४/५ इंच तक मोटे, कुछ त्रिकोणाकार-से (*3-gonous*), अनुलम्ब दिशा में ५-६ धारियों से युक्त होती है, और वीजों के वीच-वीच में पतली होती हैं। सहिजन की फलियाँ भी अमलतास की भाँति अधोलम्बि होती हैं और पकने पर हल्के भूरे रंग की होती हैं। कोमल फलियों का शाक खाया जाता है। वीज त्रिकोण (*3-cornered*), सपक्ष (*winged at the angles*) तथा २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे एवं रंग में कुछ

संग्रह एवं संरक्षण – कुंदुरु को अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए। सलई के गोंद (भारतीय कुन्दुरु) का संग्रह प्रायः नवम्बर से जून-जुलाई के महीनों में करना चाहिए। अप्रगल्भ तथा कमजोर एवं वहुत पुराने वृक्षों से अपेक्षाकृत कम निर्यास प्राप्त होता है। अतः प्रगल्भ तरुण वृक्ष एतदर्थ अधिक उपयुक्त होते हैं। संग्रह के लिए जड़ के पास काण्डस्कन्ध में ६० से ७५ सें० मी० या २-२॥ फुट लम्वा एवं १५ सें० मी० या ६ इंच चौड़ा क्षत करके छाल हटा दी जाती है। इसके वाद ४-५ दिन के अन्तर से क्षत को ताजा करते रहते हैं। इस प्रकार एक वृक्ष से लगभग १ सेर तक गोंद प्राप्त किया जाता है। वृक्षों पर क्षत करने से कोई कुप्रभाव नहीं होता।

संगठन – कुंदुरु के गोंद में (१) उत्पत् तैल, (२) राल (*Resin or Rosin*) तथा गोंद (*Gum*) का अंश पाया जाता है। भारतीय कुंदुरु (शल्लकी निर्यास) में उत्पत् तैल ८-९% तक, रोजिन ५५-५७%, गोंद २०-२३%, आर्द्रता १०-११% तथा अविलेय सत्व ४-५% तक होते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी प्रकार संरक्षित उत्तम एवं शुद्ध कुंदुरु में चिरकाल (१०–२० वर्ष तक) वीर्य वना रहता है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कुन्दुरु–तीक्ष्ण, कटु, मधुर, तिक्त एवं अनुष्ण वीर्य होता है। कर्म–स्थानिक प्रयोग से यह शोथहर, वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशक, जन्तुघ्न, व्रणशोधन एवं रोपण तथा चक्षुष्य है। मौखिक सेवन से कुन्दुरु दीपन-पाचन, ग्राही, कटुपौष्टिक (अल्प मात्रा में) वातानुलोमन, पुरीपविरजनीय, मूत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, हृद्य, रक्तस्तम्भन, कफनिस्सारक, श्लेष्मपूतिहर, मेध्य एवं वृष्य है। यूनानी मतानुसार कुंदुर दूसरे दर्जे के आदि में उष्ण एवं रूक्ष तथा कुंदुर का चूरा अपेक्षाकृत अधिक रूक्ष एवं सूक्ष्म होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–सिकंजवीन, शर्करा। वमन, संग्रहणी एवं अतिसार में इसका उपयोग करते हैं। गुदा, अर्शांकुर एवं गर्भाशय इनमें से किसी में रक्तस्राव हो तथा वाह्य अंगों एवं मस्तिष्कावरणजात रक्तस्राव तथा रक्तष्ठीवन में इसके प्रयोग से वहुत उपकार होता है। दिल की धड़कन, वृद्धि एवं स्मृतिदौर्वल्य में भी इसका प्रयोग उपकारी है। वृष्य एवं वाजीकरण कर्म के लिए भी इसे अंडा अथवा जायफल, जावित्री आदि के साथ देते हैं। वस्ति एवं गवीनी को वलप्रद होने के कारण हस्तिमेह एवं वहुमूत्र रोग में भी इसका उपयोग किया जाता है। यह रक्त एवं श्वेत प्रदर में भी प्रयुक्त होता है तथा श्वास-कास में भी लाभकारी है। कुंदुर की सुगंधि एवं उत्तेजक है। इसकी उक्त क्रिया विशेषतः श्वासमार्ग की श्लेष्मल कला पर लक्षित होती है। अतएव श्वासनलिका के जीर्णशोथ तथा जव काफी गाढ़ा एवं दुर्गन्धित कफ निकलता है तो कुंदुर को अन्य औषधियों के साथ खाने को देते हैं अथवा इसका धूमपान कराते हैं। गुणकर्म में कुन्दरु वहुत कुछ हिरावोल तथा गुग्गुल के सामन है। कुन्दुरु का वाह्य प्रयोग मरहम एवं प्रलेप के रूप में अनेक अवस्थाओं में किया जाता है। संधिवात, गंडमाला, लसीका ग्रंथिशोथ एवं अस्थिशोथ आदि में इसका लेप किता जाता है। जीर्णव्रण, प्रमेहपिड़िका आदि में अन्य औषधियों के साथ इसका मरहम प्रयुक्त किया जाता है।

मुख्य योग – चरकोक्त (सू० अ० ४) पुरीषविरजनीय महाकषाय तथा कषायस्कन्ध (वि० अ० ८) एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) रोध्रादि गण और कषायस्कंध (सू० अ० ४२) में शल्लकी भी है। इसके अतिरिक्त चरकोक्त शिरोविरेचन द्रव्यों में शल्लकी-निर्यास तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण के द्रव्यों में कुन्दुरु का भी उल्लेख है।

सहदेवी

नाम। सं०–सहदेवी। हिं०–सहदेई, सहदेइया। गु०–सेदरडी, सहदेवी। म०–सहदेवी। वं०–कुकसीम। संथाल–झुरझुरी, वरनगोमा। अं०–ऐश–कलर्ड फ्लीवेन (*Ash-coloured fleabane*)। ले०–वेर्नोनिआ सिनेरेआ (*Vernonia cinerea Less.*)।

वानस्पतिक कुल – सेवती-कुल (कॉम्पोजीटे : *Compositae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष में सहदेई के क्षुप (पहाड़ों पर भी २४०८.३६ मीटर या ८,००० फुट की ऊंचाई तक) स्वयंजात पाये जाते हैं। वर्षा ऋतु में ज्वार, मकाई तथा ईख के खेतों में विपुलता से पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – सहदेई के क्षुप स्वावलम्वी अथवा प्रसरण-

शील, सुशाख तथा २२.५ सें० मी० से० ०.६ मीटर या ।।।-३ फुट तक ऊंचे होते हैं। काण्ड पतले, रेखायुक्त, रोमश और शाखाएँ प्रायः श्वेताभ रोमश होती हैं। पत्तियाँ बहुरूपिक अर्थात् रेखाकार, अण्डाकार, लट्वाकार या अभिलट्वाकार, अखण्ड या दन्तुर, अवृन्त अथवा क्रमशः संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से लगी हुई होती हैं। मुण्डक ६.२५ मि० मी० या ¼ इंच लम्बा और आयताकार तथा पुष्प हल्के जामुनी रंग के होते हैं। अधः पत्रावलि (इन्वोल्यूकर या निचक्र *Involucre*) घंटिकाकार, ०.५ सें० मी० या ⅕ इंच लम्बी और उसके पत्रक प्रायः रेखाकार, लम्वाग्र और अग्र कण्टक सदृश तीक्ष्ण होते हैं। बीज कालीजीरी से मिलते-जुलते किन्तु छोटे होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग, मूल।

मात्रा–स्वरस–१ से २ तोला।
क्वाथ–२ से ४ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण –सहदेई प्रायः सर्वत्र सुलभ होने से ताजा ही व्यवहार करना चाहिए। संग्रह के लिए छायाशुष्क पंचाङ्ग को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल से संग्रहीत करें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–ज्वरघ्न। कर्म–शोथहर, वेदनास्थापन, ज्वरघ्न, अनुलोमन, कृमिघ्न, रक्तशोधक एवं रक्तस्तम्भक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न आदि। यूनानी मतानुसार यह सर्द एवं तर है। अहितकर–शीत प्रकृति को। निवारण–काली मिर्च एवं शहद।

मुख्य योग – अर्क हुम्मा नं० १ (यह योग राजकीय आयुर्वेदीय एवं यूनानी निर्माणशाला में बनता है)।

सहिजन (शिग्रु)

नाम। सं०–शोभाञ्जन, शिग्रु। हिं०–सहिजन, सहजन, सैजन, मुनगा, सजना, संगन, सोहांजन। वं०–शजिना। पं०–सु(सो)हांजना। म०–शेवगा, सेगटा। गु० – सरगवो, सरवगो, सेकटो। सिंध–मुहांजिड़ो। मा०–सहजणो। उड़ि०–मुनगा। ते०–मुनगा। अं०–ड्रमस्टिक ट्री *Drumstick Tree*, हॉर्स-रेडिश ट्री *Horse-radish Tree*, *Indian Horse-radish Tree*। ले० (१) मधुशिग्रु या मीठा सहिजन–मोरिंगा प्टेरीगोस्पेर्मा *Moringa pterygosperma Gaertn.* (पर्याय–मोरिंगा ओलेईफ़ेरा *M. oleifera Lam.*)। (२) कटु शिग्रु या कड़वा सहिजन–*Moringa concanensis Nimmo.*)

वानस्पतिक कुल – शिग्रु-कुल (मोरिंगासे *Moringaceae*)।

प्राप्तिस्थान – मोरिंगा प्टेरीगोस्पेर्मा के वृक्ष हिमालय की तराई में चनाब से लेकर अवध तक जंगली रूप से प्रचुरता से पाये जाते हैं। जंगली वृक्षों के फूल-फल आदि कड़वे होते हैं; किन्तु लगाये हुए वृक्षों की फलियाँ मीठी होती हैं और शाकार्थ व्यवहृत होती है। अतएव समस्त भारतवर्ष में बगीचों तथा घरों के सामने इसके लगाये वृक्ष भी मिलते हैं। मोरिंगा कॉन्कानेंसिस के वृक्ष सिंध, राजस्थान, बिलोचिस्तान एवं दक्षिण भारत में मिलते हैं। सहिजन की छाल एवं बीज पंसारियों के यहाँ तथा कोमल, कच्ची फलियाँ तरकारी बेचने वालों के यहाँ मिलती हैं।

संक्षिप्त परिचय – सहिजन के छोटे-छोटे या मध्यम कद के वृक्ष होते हैं। कार्कयुक्त छाल मोटी तथा मुलायम होती है। इसका काष्ठ भी कोमल होता है, जिससे जब वृक्ष फलियों से लद जाते है तो डालियाँ अक्सर टूट जाती हैं। सहिजन के लिए कहावत मशहूर है "सहिजन अति फूले फले डार-पात की हानि।" पत्र संयुक्त प्रायः त्रि-पक्षवत् (*3-Pinnate*), ३० सें० मी० से ७५ सें० मी० या १ से २।। फुट लम्बे, पक्षक (*Pinnae*) ४-६ युग्म, अभिमुख क्रम से स्थित, पक्षकी या पिन्यूल (*Pinnulae*) ६–६ युग्म तथा अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। पत्रवृन्त (*Petiole*) आधार की ओर कुछ कोषमय (*Sheathing*) होते हैं। पुष्प व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच, सुगंधित, सफेद रंग के (आधार पर पीत बिन्दुकित) तथा गुच्छों में निकलते हैं। जाड़े के अन्त (एवं गर्मियों के प्रारम्भ में) पुष्पागम होता है तथा गर्मियों में फलियाँ (*Capsules*) लगती हैं, जो १७.५ सें० मी० से ५० सें० मी० या ६-२० इंच तक लम्बे, १.५ सें० मी० से २ सें० मी० या ⅗ से ⅘ इंच तक मोटे, कुछ त्रिकोणाकार-से (*3-gonous*), अनुलम्ब दिशा में ५-६ धारियों से युक्त होती है, और बीजों के बीच-बीच में पतली होती हैं। सहिजन की फलियाँ भी अमलतास की भाँति अधोलम्बि होती हैं और पकने पर हल्के भूरे रंग की होती हैं। कोमल फलियों का शाक खाया जाता है। बीज त्रिकोण (*3-cornered*), सपक्ष (*winged at the angles*) तथा २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे एवं रंग में कुछ

संग्रह एवं संरक्षण – कुंदुरु को अच्छी तरह मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए। सलई के गोंद (भारतीय कुन्दुरु) का संग्रह प्रायः नवम्वर से जून-जुलाई के महीनों में करना चाहिए। अप्रगल्भ तथा कमजोर एवं वहुत पुराने वृक्षों से अपेक्षाकृत कम निर्यास प्राप्त होता है। अतः प्रगल्भ तरुण वृक्ष एतदर्थ अधिक उपयुक्त होते हैं। संग्रह के लिए जड़ के पास काण्डस्कन्ध में ६० से ७५ सें० मी० या २-२॥ फुट लम्बा एवं १५ सें० मी० या ६ इंच चौड़ा क्षत करके छाल हटा दी जाती है। इसके वाद ४-५ दिन के अन्तर से क्षत को ताजा करते रहते हैं। इस प्रकार एक वृक्ष से लगभग १ सेर तक गोंद प्राप्त किया जाता है। वृक्षों पर क्षत करने से कोई कुप्रभाव नहीं होता।

संगठन – कुंदुरु के गोंद में (१) उत्पत् तैल, (२) राल (*Resin or Rosin*) तथा गोंद (*Gum*) का अंश पाया जाता है। भारतीय कुंदुरु (शल्लकी निर्यास) में उत्पत् तैल ८-९% तक, रोजिन ५५-५७%, गोंद २०-२३%, आर्द्रता १०-११% तथा अविलेय सत्व ४-५% तक होते हैं।

वीर्यकालावधि – अच्छी प्रकार संरक्षित उत्तम एवं शुद्ध कुंदुरु में चिरकाल (१०–२० वर्ष तक) वीर्य वना रहता है।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–कषाय, तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कुन्दुरु–तीक्ष्ण, कटु, मधुर, तिक्त एवं अनुष्ण वीर्य होता है। कर्म–स्थानिक प्रयोग से यह शोथहर, वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशक, जन्तुघ्न, व्रणशोधन एवं रोपण तथा चक्षुष्य है। मौखिक सेवन से कुन्दुरु दीपन-पाचन, ग्राही, कटुपौष्टिक (अल्प मात्रा में) वातानुलोमन, पुरीषविरजनीय, मूत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, हृद्य, रक्तस्तम्भन, कफनिस्सारक, श्लेष्मपूतिहर, मेध्य एवं वृष्य है। यूनानी मतानुसार कुंदुर दूसरे दर्जे के आदि में उष्ण एवं रूक्ष तथा कुंदुर का चूरा अपेक्षाकृत अधिक रूक्ष एवं सूक्ष्म होता है। अहितकर–उष्ण प्रकृति को। निवारण–सिकंजवीन, शर्करा। वमन, संग्रहणी एवं अतिसार में इसका उपयोग करते हैं। गुदा, अर्शांकुर एवं गर्भाशय इनमें से किसी में रक्तस्राव हो तथा वाह्य अंगों एवं मस्तिष्कावरणजात रक्तस्राव तथा रक्तष्ठीवन में इसके प्रयोग से वहुत उपकार होता है। दिल की धड़कन, वुद्धि एवं स्मृतिदौर्वल्य में भी इसका प्रयोग उपकारी है। वृष्य एवं वाजीकरण कर्म के लिए भी इसे अंडा अथवा जायफल, जावित्री आदि के साथ देते हैं। वस्ति एवं गवीनी को वलप्रद होने के कारण हस्तिमेह एवं वहुमूत्र रोग में भी इसका उपयोग किया जाता है। यह रक्त एवं श्वेत प्रदर में भी प्रयुक्त होता है तथा श्वास-कास में भी लाभकारी है। कुंदुर की सुगंधि एवं उत्तेजक है। इसकी उक्त क्रिया विशेषतः श्वासमार्ग की श्लेष्मल कला पर लक्षित होती है। अतएव श्वासनलिका के जीर्णशोथ तथा जव काफी गाढ़ा एवं दुर्गन्धित कफ निकलता है तो कुंदुर को अन्य औषधियों के साथ खाने को देते हैं अथवा इसका धूमपान कराते हैं। गुणकर्म में कुन्दरु वहुत कुछ हिरावोल तथा गुग्गुल के सामन है। कुन्दुरु का वाह्य प्रयोग मरहम एवं प्रलेप के रूप में अनेक अवस्थाओं में किया जाता है। संधिवात, गंडमाला, लसीका ग्रंथिशोथ एवं अस्थिशोध आदि में इसका लेप किता जाता है। जीर्णव्रण, प्रमेहपिड़िका आदि में अन्य औषधियों के साथ इसका मरहम प्रयुक्त किया जाता है।

मुख्य योग – चरकोक्त (सू० अ० ४) पुरीषविरजनीय महा कषाय तथा कषायस्कन्ध (वि० अ० ८) एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) रोध्रादि गण और कषायस्कंध (सू० अ० ४२) में शल्लकी भी है। इसके अतिरिक्त चरकोक्त शिरोविरेचन द्रव्यों में शल्लकी-निर्यास तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण के द्रव्यों में कुन्दुरु का भी उल्लेख है।

सहदेवी

नाम। सं०–सहदेवी। हिं०–सहदेई, सहदेइया। गु०–सेदरडी, सहदेवी। म०–सहदेवी। वं०–कुकसीम। संथाल–झुरझुरी, वरनगोमा। अं०–ऐश–कलर्ड फ्लीवेन (*Ash-coloured fleabane*)। ले०–वेर्नोनिआ सिने-रेआ (*Vernonia cinerea Less.*)।

वानस्पतिक कुल – सेवती-कुल (कॉम्पोज़ीटे : *Compositaae*)।

प्राप्तिस्थान – प्रायः समस्त भारतवर्ष में सहदेई के क्षुप (पहाड़ों पर भी २४०८.३६ मीटर या ८,००० फुट की ऊंचाई तक) स्वयंजात पाये जाते हैं। वर्षा ऋतु में ज्वार, मकाई तथा ईख के खेतों में विपुलता से पायी जाती है।

संक्षिप्त परिचय – सहदेई के क्षुप स्वावलम्वी अथवा प्रसरण-

शील, सशाख तथा २२.५ सें० मी० से० ०.६ मीटर या ।।।–३ फुट तक ऊंचे होते हैं । काण्ड पतले, रेखायुक्त, रोमश और शाखाएँ प्रायः श्वेताभ रोमश होती हैं । पत्तियाँ बहुरूपिक अर्थात् रेखाकार, अण्डाकार, लट्वाकार या अभिलट्वाकार, अखण्ड या दन्तुर, अवृन्त अथवा क्रमशः संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से लगी हुई होती हैं । मुण्डक ६.२५ मि० मी० या $\frac{1}{4}$ इंच लम्बा और आयताकार तथा पुष्प हल्के जामुनी रंग के होते हैं । अधः पत्रावलि (इन्वोल्यूकर या निचक्र *Involucre*) घंटिकाकार, ०.५ सें० मी० या $\frac{1}{5}$ इंच लम्बी और उसके पत्रक प्रायः रेखाकार, लम्बाग्र और अग्र कण्टक सदृश तीक्ष्ण होते हैं । बीज कालीजीरी से मिलते-जुलते किन्तु छोटे होते हैं ।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग, मूल ।

मात्रा–स्वरस–१ से २ तोला ।
क्वाथ–२ से ४ तोला ।

संग्रह एवं संरक्षण –सहदेई प्रायः सर्वत्र सुलभ होने से ताजा ही व्यवहार करना चाहिए । संग्रह के लिए छायाशुष्क पंचाङ्ग को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल से संग्रहीत करें ।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष । रस–कटु । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । प्रभाव–ज्वरघ्न । कर्म–शोथहर, वेदनास्थापन, ज्वरघ्न, अनुलोमन, कृमिघ्न, रक्तशोधक एवं रक्तस्तम्भक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, स्वेदजनन, कुष्ठघ्न आदि । यूनानी मतानुसार यह सर्द एवं तर है । अहितकर–शीत प्रकृति को । निवारण–काली मिर्च एवं शहद ।

मुख्य योग – अर्क हुम्मा नं० १ (यह योग राजकीय आयुर्वेदीय एवं यूनानी निर्माणशाला में बनता है) ।

सहिजन (शिग्रु)

नाम । सं०–शोभाञ्जन, शिग्रु । हिं०–सहिजन, सहजन, सैजन, मुनगा, सजना, संगन, सोहांजन । बं०–शजिना । पं०–सु(सो)हांजना । म०–शेवगा, सेगटा । गु० – सरगवो, सरग्वो, सेकटो । सिंध–सुहांजिड़ो । मा०–सहजणो । उड़ि०–मुनगा । ते०–मुनगा । अं०–ड्रमस्टिक ट्री *Drumstick Tree*, हॉर्स-रेडिश ट्री *Horse-radish Tree*, *Indian Horse-radish Tree* । ले० (१) मधुशिग्रु या मीठा सहिजन–मोरिंगा प्टेरीगोस्पेर्मा *Moringa pterygosperma Gaertn.* (पर्याय–मोरिंगा ओलेईफ़ेरा *M. oleifera Lam.*) । (२) कटु शिग्रु या कड़वा सहिजन–*Moringa concanensis Nimmo.* ।

वानस्पतिक कुल – शिग्रु-कुल (मोरिंगासे *Moringaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – मोरिंगा प्टेरीगोस्पेर्मा के वृक्ष हिमालय की तराई में चनाव से लेकर अवध तक जंगली रूप से प्रचुरता से पाये जाते हैं । जंगली वृक्षों के फूल-फल आदि कड़वे होते हैं; किन्तु लगाये हुए वृक्षों की फलियाँ मीठी होती हैं और शाकार्थ व्यवहृत होती हैं । अतएव समस्त भारतवर्ष में बगीचों तथा घरों के सामने इसके लगाये वृक्ष भी मिलते हैं । मोरिंगा कॉन्कानेंसिस के वृक्ष सिंध, राजस्थान, विलोचिस्तान एवं दक्षिण भारत में मिलते हैं । सहिजन की छाल एवं बीज पंसारियों के यहाँ तथा कोमल, कच्ची फलियाँ तरकारी बेचने वालों के यहाँ मिलती हैं ।

संक्षिप्त परिचय – सहिजन के छोटे-छोटे या मध्यम कद के वृक्ष होते हैं । कार्कयुक्त छाल मोटी तथा मुलायम होती है । इसका काष्ठ भी कोमल होता है, जिससे जब वृक्ष फलियों से लद जाते हैं तो डालियाँ अक्सर टूट जाती हैं । सहिजन के लिए कहावत मशहूर है "सहिजन अति फूले फले डार-पात की हानि ।" पत्र संयुक्त प्रायः त्रि-पक्षवत् (3-*Pinnate*), ३० सें० मी० से ७५ सें० मी० या १ से २॥ फुट लम्बे, पक्षक (*Pinnae*) ४-६ युग्म, अभिमुख क्रम से स्थित, पक्षकी या पिन्यूल (*Pinnulae*) ६–९ युग्म तथा अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं । पत्रवृन्त (*Petiole*) आधार की ओर कुछ कोषमय (*Sheathing*) होते हैं । पुष्प व्यास में २.५ सें० मी० या १ इंच, सुगंधित, सफेद रंग के (आधार पर पीत विन्दुकित) तथा गुच्छों में निकलते हैं । जाड़े के अन्त (एवं गर्मियों के प्रारम्भ में) पुष्पागम होता है तथा गर्मियों में फलियाँ (*Capsules*) लगती हैं, जो १७.५ सें० मी० से ५० सें० मी० या ६-२० इंच तक लम्बे, १.५ सें० मी० से २ सें० मी० या $\frac{3}{5}$ से $\frac{4}{5}$ इंच तक मोटे, कुछ त्रिकोणाकार-से (3-*gonous*), अनुलम्ब दिशा में ५-६ धारियों से युक्त होती है, और बीजों के बीच-बीच में पतली होती हैं । सहिजन की फलियाँ भी अमलतास की भाँति अधोलम्बि होती हैं और पकने पर हल्के भूरे रंग की होती हैं । कोमल फलियों का शाक खाया जाता है । बीज त्रिकोण (3-*cornered*), सपक्ष (*winged at the angles*) तथा २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे एवं रंग में कुछ

भूरे होते हैं। सहिजन के बीजों को भ्रमवश कभी-कभी 'श्वेतमिर्च' कह देते हैं। सहिजन के काण्ड पर चीरा लगाने से एक गोंद निकलता है।

उपयोगी अंग – मूल एवं काण्ड त्वक् (छाल), बीज, पत्र एवं तैल।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – सहिजन की फलियाँ पकने पर हल्के भूरे रंग की हो जाती हैं। अन्दर रूई-जैसा मुलायम मज्जक (*Pith*) होता है, जिसमें ऊपर से नीचे तक एक कतार में १२-१८ तक कालिमा लिये भूरे रंग के, मटर के बराबर लम्ब गोल से बीज होते हैं, जो तीन धाराओं पर पक्षयुक्त (*Three membranous wings*)। होते हैं। बीज-मज्जा—सफेद, स्नेहमय (*oily*) एवं स्वाद में तिक्त होती है। मूलत्वक्—बाहर से हल्के भूरे रंग की जालमय-रेखांकित (*Reticulated*), काफी मोटी और मुलायम होती है, जिसमें तीक्ष्ण गंध एवं स्वाद होता है। अन्तस्तल सफेद होता है। काष्ठीय भाग मुलायम एवं पीताभ होता है, तथा छाल की ही भाँति इसमें भी कुछ-कुछ तीक्ष्णता होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – छाल एवं बीजों को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – मूल में टेरिगोस्पर्मिन (*Pterygospermin*) नामक जीवाणुनाशक तत्त्व (*Antibiotic substance*) पाया जाता है। बीजों में एक अनुत्पत् तैल (*Ben oil*) ३६% तक पाया जाता है, जिसमें ६०% तक प्रवाही तेल तथा ४०% ठोस वसा होती है। छाल में एक सफेद क्रिस्टली ऐल्केलॉइड तेदे, राल एवं लवाव आदि तत्त्व होते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव–गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, सर। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवात-शामक; रोचन, दीपन-पाचन, विदाही, ग्राही, शूलप्रशमन; (मधुशिग्रु) – सारक, कृमिघ्न, हृदयोत्तेजक, कफघ्न, मूत्रल, मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय करने वाला, आर्त्तवजनन (अधिक मात्रामें गर्भपातक), स्वेदजनन, ज्वरघ्न, विषघ्न। बीजों के चूर्ण का नस्य शिरोविरेचन, लेखन- चक्षुष्य, बीजों का तेल वेदनास्थापन तथा शोथहर है। छाल एवं पत्र का लेप, विदाही, शोथहर एवं विद्रधिपाचन होता है। यूनानी मतानुसार शिग्रु तीसरे दर्ज में गरम और खुश्क होता है। अहितकर–यह रक्तपित्तकर और विदाही होता है। अतएव उष्ण प्रकृति (पित्त प्रकृति) वालों के लिए अहितकर होता है। निवारण–सिरका तथा दुग्ध आदि पित्तशामक द्रव्य।

मुख्य योग – शोभाञ्जनादि लेप।

विशेष – आमवात, कटिशूल, श्वास-कास, एवं प्लीहाशोथ में इसकी फलियों एवं फूलों का सालन तथा फलियों को सिरका में डालकर उपयोग कराया जाता है। कच्ची फलियों को पानी में उबालने के बाद थोड़ा कड़वा तेल, नमक, और राई मिला कर ३-४ दिन तक धूप में रख छोड़ते हैं। इसे पक्षवध, अर्दित, आमवात, कटिशूल अरुचि एवं उदरशूल आदि में खिलाते हैं। श्वयथुविलयन एवं वेदनास्थापन के लिए इसके पत्तों का बाह्य उपयोग करते हैं।

(२) चरकोक्त (सू० अ० ४) कृमिघ्न, स्वेदोपग एवं शिरोविरेचनोपग महाकषाय में तथा कटुक स्कन्ध (वि० अ० ८) में (शिग्रुक तथा मधुशिग्रुक) एवं सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) वरुणादि गण (शिग्रु एवं मधुशिग्रुक) एवं शिरोविरेचन वर्ग में शिग्रु की भी गणना है।

सारिवा (अनन्तमूल)

नाम। सं०–अनन्ता, सारिवा, गोपी, गोपकन्या। हिं०–अनन्तमूल, कपूरी। बं०–अनन्तमूल। म०–उपरसाल, उपलसरी। गु०–उपलसरी, कागडियो कुंडेर, कपूरीमधुरी। अं०–हेमीडेस्मस् (*Hemidesmus*), इन्डियन सारसापेरिला (*Indian Sarsaparilla*)। ले०–हेमीडेस्मुस *Hemidesmus* (*Hemides.*), हेमीडेस्मी राडिक्स (*Hemidesmi Radix*)। लताका नाम–हेमीडेस्मुस ईंडिकुस (*Hemidesmus indicus R. Br.*)।

वानस्पतिक कुल – अर्क-कुल (आस्क्लापिआडासे *Asclepiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान – गंगा के उत्तरी मैदानी भाग से लेकर पूरब में बंगाल तक तथा दक्षिण में मध्य प्रदेश से लेकर लंका तक इसकी स्वयंजात लताएँ प्रचुरता से पायी जाती हैं। बम्बई-प्रान्त में पश्चिमी घाट के जांगल प्रदेशों में भी इसकी लताएँ पायी जाती हैं। किन्तु चट्टानी भूमि में होने के कारण, जड़ों को खोदने में कठिनाई होने के कारण बम्बई बाजार में भी इसकी जड़ें प्रायः बाहर से ही आती हैं।

संक्षिप्त परिचय – सारिवा की बहुवर्षायु तथा गुल्मस्वभाव की बहुशाखी लता होती है, जो जमीन पर फैलती है

(*Prostrate*) अथवा समीपवर्ती पौधे को लपेट कर (*Twining*) चढ़ती है । शाखाएँ गोल, चिकनी अथवा मृदुरोमावृत्त अथवा अनुलम्ब दिशा में सूक्ष्म धारियों से युक्त होती हैं, जो पर्वों पर अपेक्षाकृत अधिक मोटी (*Thickened at the nodes*) होती हैं । पत्तियाँ अभिमुख क्रम से स्थित रूपरेखा में अंडाकार-आयताकार (*Elliptic-oblong*) से लेकर रेखाकार-भालाकार (*Linear-lanceolate*) तक विभिन्न रूपरेखा की और ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २ से ४ इंच लम्बी एवं $\frac{५}{६}$ सें० मी० से २$\frac{५}{८}$ सें० मी० या $\frac{१}{३}$ से १। इंच तक चौड़ी होती हैं । चौड़ाई में बड़ी भिन्नता पायी जाती है । चौड़ी पत्तियाँ कुण्ठिताग्र (*Obtuse*) तथा छोटी पत्तियाँ अग्र पर नुकीली (*Acute*) तथा अग्रपर एक लोम-जैसी रचना से युक्त या तीक्ष्णाग्र, गाढ़े हरे रंग की एवं ऊर्ध्व पृष्ठ पर श्वेतचित्रित, अधःपृष्ठ पर जालमय शिराओं से युक्त (*Reticulated veins*) होती हैं । पर्णवृन्त $\frac{५}{८६}$ सें० मी० से $\frac{५}{१२}$ सें० मी० या $\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{६}$ इंच लम्बा होता है । पुष्प बाहर से हरिताभ एवं अन्दर से नीलारुण (*Purple*) तथा पत्रकोणों के अभिमुख, विनाल या सूक्ष्म पुष्पवृन्त युक्त गुच्छकों में (*Crowded in the subsessile cymes in the opposite axils*) निकलते हैं । पुटिका या फॉलिकिल (*Follicles*) शृंगाकार, दो-दो एक साथ किन्तु अपसारी (*Divergent*) १० सें० मी० से १५ सें० मी० या ४-६ इंच लम्बे, बेलनाकार (*Cylindric*), व्यास में $\frac{५}{८}$ सें० मी०, किन्तु अग्र की ओर क्रमशः पतला होकर नुकीला हो जाता है । बीज ६ से ८ मि० मि०, चपटे, लट्वाकार काले रंग के तथा सफेद लोमगुच्छों (*Coma silvery-white*) से युक्त होते हैं । पुष्पागमकाल––अषाढ़-सावन । फल शरद में पकते हैं । ताजी जड़ से कपूर जैसी गंध आती है ।

उपयोगी अंग – मूल (जड़) ।

मात्रा – मूलकल्क–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा ।
फाण्ट–१ से २ छटाँक ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – संग्रहकर्ता बाजारों में जो जड़ें लाते हैं वह प्रायः कई पौधों की जड़ें होती हैं, जो छोटे-छोटे बंडलों में बँधी होती हैं । बंडलों को बांधने के लिए लता के काण्ड काम में लाये जाते हैं । बाजारों में मिलने वाली जड़ों के लम्बे-लम्बे टुकड़े (३० सें० मी० या १ फुट तक) होते हैं जो $\frac{५}{१६}$ सें० मी० से $\frac{५}{८}$ सें० मी० या $\frac{१}{८}$ से $\frac{१}{४}$ इंच तक मोटे होते हैं । उक्त जड़ें बेलनाकार (*Cylindrical*), टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, जिन पर इतस्ततः मूल-शाखाएँ लगी होती हैं । मूलत्वक् (छिलका) खाकस्तरी आभा लिये गाढ़े भूरे रंग की होती है । इस पर अनुप्रस्थ दिशा में फटी त्वचा के चिटकने से रेखाएँ तथा अनुलम्ब दिशा में लम्बी दरारें (*Transversely cracked and fissured longitudinally*) होती हैं । अन्दर का भाग पीताभ वर्ण का तथा कड़ा (*Yellow and woody*) होता है । बाह्य वल्कल एवं मध्यस्थ काष्ठीय भाग के अन्तर्मध्य का भाग श्वेताभ एवं कोमल (*mealy white cortical layer*) होता है । वल्कल मध्यस्थ कड़े भाग से आसानी से पृथक् हो जाता है । इसमें एक हल्की सुगंधि होती है तथा स्वाद में किंचित् मधुर एवं सुगंधित होता है । सारिवामूल के चूर्ण में बाह्य वल्कल के गाढ़े भूरे रंग के छोटे-छोटे कण होते हैं, तथा श्वेत कोमल भाग (*Cortical tissues*) के छोटे-छोटे कणाकार टुकड़े होते हैं, जिनमें स्टार्च के सूक्ष्म दाने तथा कैल्सियम् ऑक्जलेट के क्रिस्टल्स पाये जाते हैं । विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% । भस्म–अधिकतम ४% ।

संग्रह एवं संरक्षण – मध्यम कद की जड़ों से त्वचा को पृथक् कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए ।

संगठन – अनन्तमूल की ताजी जड़ में अल्प मात्रा (०.२२५%) में एक उड़नशील तैल तथा हेमिडेस्टेरोल (*Hemidesterol*) एवं हेमिडेस्मोल (*Hemidesmol*) नामक दो स्टेरोल तथा रेज़िन, टैनिन्स, शर्करा, सैपोनिन तथा अल्पमात्रा में एक ग्लाइकोसाइड आदि तत्त्व पाये जाते हैं ।

वीर्यकालावधि – सारिवा का प्रयोग ताजी अवस्था में करना अधिक अच्छा है । संग्रह से इसकी सुगंधि नष्ट हो जाती है, तथा २-३ माह में ही औषधि विकृत हो जाती है ।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध । रस–मधुर, तिक्त । विपाक-मधुर । वीर्य–शीत । प्रधान कर्म–त्रिदोषशामक, दाह-प्रशमन, रक्तशोधक, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, दीपन-पाचन, मूत्रजनन, स्तन्यशोधन, चर्मरोगनाशक ।

मुख्य योग – सारिवादि क्वाथ, सारिवाद्यवलेह, सारिवाद्यासव ।

विशेष – सारिवाद्वय से श्वेत सारिवा (जिसका वर्णन यहाँ किया गया है । तथा कृष्णसारिवा (जिसका वर्णन आगे किया जायगा) का ग्रहण होता है । चरकोक्त (सू० अ०

४) स्तन्यशोधन, पुरीपसंग्रहणीय, ज्वरहर एवं दाहप्रशमन महाकषायों तथा मधुरस्कन्ध (विमानस्थान) के द्रव्यों में और सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) विदारिगन्धादि, सारिवादि एवं वल्लीपञ्चमूल गण मे सारिवा भी है।

सारिवा, कृष्ण (श्यामालता)

नाम। सं०—कृष्णसारिवा, जम्बूपत्रा सारिवा। बं०—श्यामालता। हिं०—श्यामालता, करण्टा। संथा०— उत्तरीदूधी। खर०—दुधलालर। देहरादून—दूधी। ले०—क्रिप्टोलेपिस बुकानानी (*Cryptolepis buchanani Roem. & Schult.*)।

वानस्पतिक कुल — अर्क-कुल (आस्क्लेपिआडासे : *Asclepiadaceae*)।

प्राप्तिस्थान — इसकी गुल्म स्वभाव की लताएँ होती हैं, जो समस्त भारतवर्ष में पायी जाती हैं। उत्तर भारत के बाजारों में प्रायः इसके काण्ड एवं मूल ताजी तथा सूखी और कटे हुए टुकड़ों के रूप में अथवा समूचा 'कृष्ण सारिवा' के नाम से बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय — इसकी दुग्धयुक्त विस्तृत काष्ठीय लताएँ होती हैं, जिनका काण्डत्वक् बैंगनी आभा लिये भूरी होती है और पतले पर्त के रूप में छूटती है। टहनियों पर स्पष्ट दाने होते हैं। पत्तियाँ आपाततः देखने में जम्बूपत्रसदृश, ८.७५ सें० मी० से १७.५ सें० मी० या ३।।–७ इंच तक लम्बी एवं ३.१२५ सें० मी० से ७.५ सें० मी० या १। –३ इंच चौड़ी, रूपरेखा में अंडाकार, आयताकार, अग्र प्रायः यकायक छोटे नोक वाला तथा ऊपरी पृष्ठ चमकीला हरा किन्तु अधःपृष्ठ श्वेताभ होता है। आधार की ओर फलक उत्तरोत्तर कम चौड़ा तथा पर्णवृन्त ८.३ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या ⅓ से ½ इंच लम्बा होता है। आड़ी शिराएँ (*Veins horizontal*) पत्रतट के समीप परस्पर मिली होती हैं। पुष्प पाण्डुर-पीत (*Pale-white*) वर्ण के होते हैं, जो द्विधा-विभक्त छोटी-छोटी नम्य मञ्जरियों (*Lax dichotomous cymes*) में निकलते हैं। फलियाँ (*Follicles*) दो-दो एक साथ निकलती हैं, किन्तु इनके अग्र एक दूसरे से दूर (*Divaricate*) होते हैं। यह ५ से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्बी तथा व्यास में १२.५ मि० मी० से १७.५ मि० मी० या ½ से ७⁄१० इंच तक होती हैं। बीज चपटे तथा आयताकार-लट्वाकार होते हैं, जिनकी नाभि पर तूलसदृश रोम लगे होते हैं। पुष्पागम गर्मियों में तथा फलागम जाड़ों में होता है। उपर्युक्त कृष्ण सारिवा के मूल में कोई गंध नहीं होती।

उपयोगी अंग — काण्ड एवं मूल (विशेषतः मूलत्वक्)।

मात्रा — ३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट — दक्षिण भारत में तथा भारत में अन्यत्र भी कृष्ण सारिवा के नाम से उक्त लता की जड़ों का ग्रहण न करके कनीर-कुल की ईक्नोकार्पुस फ्रूटेसेंस (*Ichnocarpus frutescens R. Br.*) नामक लता की जड़ों का ग्रहण किया जाता है। इसे दुधलत (संथा०), अनलसिंग (को०), सोयमनोई (उड़ि०) तथा तामिल में परवल्लि और मलयालम् भाषा में, पालवल्लि कहते हैं। इसकी लताएँ प्रायः छोटे वृक्षों या गुल्मों के ऊपर फैली होती हैं, और शाखाएँ मुरचई रंग की होती हैं तथा इनको तोड़ने पर भी दूध निकलता है। पत्तियाँ अण्डाकार या चौड़ाई लिये हुई आयताकार, तीक्ष्णाग्र या कुछ-कुछ लम्बाग्र, चिकनी, १।।–४।। इंच × १.२ इंच बड़ी होती हैं। छोटे-छोटे सफेद पुष्पों की पतली मञ्जरियाँ होती हैं, जो द्विधा-त्रिधा विभक्त शाखाओं से युक्त होती हैं। आभ्यन्तर दलों के खण्ड रोमश और मरोड़े हुए होते हैं। फलियाँ पतली, लम्बी, दो-दो एक साथ और बीज नालीदार और रोमगुच्छ से युक्त होते हैं। कृषक लोग तथा चरवाहे इसके काण्ड का उपयोग बोझा बाँधने के लिए करते हैं। जड़ या **मूल**—इसकी जड़ें लम्बी, काष्ठीय, प्रायः टेढ़ी-मेढ़ी तथा मुरचई रंग की अथवा जामुनी आभा लिये भूरे रंग की होती हैं। बाह्य तल कुछ चिकना होता है। ताजी जड़ों में बाह्य त्वक् काफी पतली होती है और आसानी से पृथक् हो जाती है; किन्तु सूखने पर यह पृथक् नहीं होती। मूलत्वक् हल्की गुलाबी आभा लिये होती है और इस पर जामुनी रंग लिये हुए भूरे रंग के अनेक छोटे-छोटे दाग होते हैं। स्वाद में यह हल्का कसैलापन लिये कुछ मधुर तथा गोंदीय मालूम होती है। किन्तु जड़ की छाल अथवा अन्दर के काष्ठीय भाग में भी कोई गंध नहीं पायी जाती।

संग्रह एवं संरक्षण — संग्रह के लिए मध्यम मोटाई की जड़ें ठीक होती हैं। बाह्य त्वक् को छील कर साफ करके शेष

भाग औषध्यर्थ ग्रहण किया जाता है। इसका प्रयोग ताजी अवस्था में करना अधिक श्रेयस्कर है।

संगठन – कृष्णसारिवा की जड़ में एक रालीय तत्व पाया जाता है, जो इसका सक्रिय घटक समझा जाता है।

वीर्यकालावधि – २–३ मास।

सालम मिश्री

नाम। सं०–मुञ्जातक (च० सू० अ० २७)। हिं०–सालम मिश्री। पं०–सालिबमिश्रि। अफ०–सालब, सालप। अ०–सालबमिस्री। फा०, द०–सालबमिस्री। बं०–सालम् मिछरि। गु०–सालम। म०–सालममिश्री। अं०–सैलेप (*Salep*)। ले०–(अ) देशी। (१) एउलोफ़िआ कॉम्पेस्ट्रिस (*Eulophia compestris Wall.*) (२) एउ० नूडा (*E. nuda Lind.*) (ब) विदेशी या फारसी (१) ऑर्किस लाटीफ़ोलिआ (*Orchis latifolia Linn.*) (२) आ० लाक्सीफ्लोरा (*O. laxiflora Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – मुञ्जातक-कुल (ऑर्कीडासे *Orchidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – बाजारों में प्रायः दो प्रकार की सालम मिश्री मिलती है :—(१) पंजासालम तथा (२) लहसुनी सालम। भारतवर्ष में सालम का आयात (बम्बई बाजार में) फारस से भी काफी परिमाण में होता है। फारसी पंजा एवं लहसुनी सालम प्रधानतः आ० लाटीफ़ोलिआ एवं ऑ० लाक्सीफ्लोरा के कन्द होते हैं। ऑ० लाटीफ़ोलिआ (पञ्जासालम) समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में कश्मीर से भूटान तक तथा पश्चिमी तिब्बत एवं अफगानिस्तान, फारस आदि में होता है। ऑ० लाक्सीफ्लोरा टर्की, काकेशस, फारस, अफगानिस्तान में प्रचुरता से पाया जाता है। एउ० कॉम्पेस्ट्रिस (पंजासालम), हिमालय की तराई एवं समीपवर्ती मैदानी भागों में सर्वत्र (उत्तरी अवध, नेपाल, सिक्कम, बंगाल), तथा बलूचिस्तान, अफगानिस्तान में मिलता है। एउ० नूडा समशीतोष्ण हिमालय प्रदेश में नेपाल से खसिया तक तथा दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के समीपवर्ती प्रदेशों में और नीलगिरी आदि में काफी होता है। दक्षिण भारत के बाजारों में सालम प्रायः नीलगिरी आदि से संग्रहीत कर आता है। लाहौर एवं उत्तर भारतीय बाजारों में सालम हिमालय प्रदेश से आता है। पंजासालम, लहसुनिया की अपेक्षा अधिक मूल्य पर बिकता है।

संक्षिप्त परिचय – एउफ़िआकाम्पेस्ट्रिस – इसके १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ६–१२ इंच ऊँचे क्षुप होते हैं। पत्तियाँ केवल २, जो काण्ड के शीर्ष के पास होती हैं तथा २५ सें० मी० से ४० सें० मी० या १०–१६ इंच तक लम्बी एवं रेखाकार होती हैं और पुष्पागम के काफी दिनों बाद निकलती है। पुष्पध्वज मूल से निकलता है, जिस पर नीले या बैंगनी रंग के पुष्प नम्र मञ्जरियों में निकलते है। फल २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे एवं अण्डाकार होते है। कन्द कुछ पञ्जाकार (आयताकार तथा सखण्ड) तथा खाने मे स्वादिष्ठ होता है। एउ० नूडा–के कन्द छोटे आलू की भाँति गोलाकार होते हैं, जिनके पार्श्वों से पत्तियाँ निकली होती हैं। पत्राधारों से एक मिथ्याकाण्ड (*Pseudostem*) सा बन जाता है। पुष्पध्वज ३.७५ से ५ सें० मी० या १॥–२ फुट ऊँचा, सीधा एवं कड़ा होता है। पुष्प बड़े, सफेद या पीले तथा गुलाबी एवं बैंगनी रंग मिश्रित होते हैं, जो नम्र मञ्जरियों में निकलते हैं। ऑ० लाटीफ़ोलिआ–इसके कन्द भी पञ्जाकार (अंगुलियों के समान २–३ खण्ड युक्त) होते हैं। पुष्पवाहक दण्ड ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १–३ फुट ऊँचा, मोटा, अन्दर से खोखला तथा बाहर शल्कपत्रों से आवृत होता है। पत्तियाँ, खड़ी, ५ सें० मी० से १५ सें० मी० या २–६ इंच-लम्बी, आयताकार-भालाकार, कुण्ठिताग्र तथा आधार पर काण्ड को आवृत किये रहती हैं। पुष्प ¾ इंच लम्बे, मटमैले बैंगनी रंग के तथा मञ्जरियों पर समूहबद्ध निकलते हैं।

उपयोगी अंग – कन्द (सालममिश्री)।

मात्रा – १ से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में सालम मिश्री–**पंजासालम** एवं **लहसुनीसालम** भेद से २ प्रकार की आती हैं, जिसमें पहली गोली-चपटी एवं करतलाकार होती है तथा महँगी बिकती है। दूसरी शतावरी जैसे लम्बगोल तथा आपाततः देखने में छिले हुए लहसुन के जवों की भांति होती है। लहसुनीसालम प्रायः २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच लम्बी होती है। उत्तम सालम मलाई की भाँति पीली आभा लिये सफेद रंग की तथा कुछ पारभासी होती है और इसको तोड़ने पर टूटा हुआ तल वत्सनाभ के टूटे तलों की भाँति चमकीले (*Horny texture*)

होते हैं। यह गूदेदार होनी चाहिए। झुर्रीदार या सिकुड़ी हुई सालम उत्तम नही होती। सालम में कोई विशेष गंध नहीं होती तथा स्वाद में फीकापन लिये लुआवी होती है। सूक्ष्मदर्शक से परीक्षण करने पर कन्द का अधिकांश भाग तनुभित्ति ऊति या पैरेंकाइमा (*Parenchyma*) का बना होता है. जिसकी कोषाओं में म्युसिलेज या स्टार्च होता है। इतस्ततः वाहिनी-पूल (*Fibro-vascular bundles*) भी दिखाई देते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – कंदों को छायाशुष्क कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें।

संगठन – सालम मिश्री के कन्दों में काफी मात्रा में म्युसिलेज तथा ३.६% भस्म पायी जाती है। भस्म में फॉस्फेट्स, क्लोराइड आव पोटासियम् एवं चूना होते हैं।

वीर्यकालावधि – २ वर्ष।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध। रस–मधुर। विपाक–मधुर। वीर्य–शीत। कर्म–मस्तिष्क एवं नाड़ीवल्य, वल्य, वृष्य, वृंहण, ग्राही। यूनानी मतानुसार पहले दर्जे में गरम और तर है।

मुख्य योग – सालम मिश्री का प्रयोग एकौषधि के रूप में करते हैं तथा यह पौष्टिक कल्पों में भी पड़ती है। 'माजून सालव' एवं 'सफूफ सालव' इसके यूनानी योग हैं।

विशेष – सालम मिश्री वाजीकर माजूनों में पड़ती है। उपयुक्त औषधियों के साथ इसका हरीरा बना कर भी पिलाते हैं। एकौषधि के रूप में भी इसका चूर्ण दूध के साथ दिया जाता है।

सिंघाड़ा (शृंगाटक)

नाम। सं०–शृंगाटक, जलफल, त्रिकोणफल। हिं०–सिंघाड़ा, सिंगाड़ा। वं०–पानीफल। म०–शिंगाडा। गु०–शींघोड़ा। का०, पं०–गौनरी। अं०–वाटर कैल्ट्राप (*Water caltrop*), इंडियन वाटरचेस्टनट (*Indian water chestnut*)। लै०–ट्रापा नाटांस प्र० वीस्पीनोसा (*Trapa natans* L. *var. bispinosa* (Roxb.) *Makino*. (पर्याय–*T. bispinosa* Roxb.)।

वानस्पतिक कुल – शृंगाटक-कुल (ओना ग्रासे *Onagraceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में तालाबों तथा जलाशयों में इसके पौधे लगाये जाते हैं। ताजा कोमल फल मौसम में बाजारों में विकता है। पके फलों को छील कर अन्दर का सुखाया गूदेदार भाग हमेशा पंसारियों के यहाँ मिलता है।

संक्षिप्त परिचय – सिंघाड़ा के जलीय पौधे पानी पर तैरते रहते हैं। पत्तियाँ काण्ड के ऊर्ध्व भाग में एकान्तर क्रम से स्थित होती हैं, जो ३.७५ सें० मी० से ५ सें० मी० या १॥–२ इंच लम्बी और प्रायः इतनी ही चौड़ी एवं रूपरेखा में चतुष्कोणाकार (*Rhomboid*) होती हैं। अग्र की ओर पत्र-तट सूक्ष्म दन्तुर होता है। ऊर्ध्वतल हरा किन्तु लाल शिराओं से युक्त और अधःपृष्ठ लालिमा लिये बैंगनी रंग का तथा सघन रोमावृत होता है। पत्रवृन्त पहले छोटा किन्तु बढ़ कर १० से १५ सें० मी० या ४–६ इंच तक लम्बा हो जाता है, तथा रक्ताभ वर्ण का, ऊर्ध्वपृष्ठ पर रोमावृत अधःपृष्ठ पर चिकना, और अग्र की ओर फूला होता है। पुष्प श्वेत रंग के होते हैं, जो पत्रकोणों से निकलते हैं और छोटे किन्तु मोटे वृन्तों पर धारण किये जाते हैं। फल लगने पर वृन्त नीचे को मुड़ कर जल में लटकते हैं। फल चपटे, तिकोने, २.५ सें० मी० या १ इंच लम्बे चौड़े होते हैं। फल का छिलका कड़ा, कच्चे का हरा किन्तु पकने पर काला हो जाता है। इसके दोनों कोनों पर काँटे होते हैं। फल के मध्य में शीर्ष की ओर एक चोंचदार नुकीला उत्सेध होता है, जिसके नीचे आदिमूल या मूलांकुर (*Radicle*) होता है। छिलका हटाने पर नीचे मज्जा निकलती है, जो कच्चे फलों में सफेद, मुलायम एवं रसदार होती है तथा सुखाये हुए पक्व फलों में कड़ी रक्ताभ वर्ण की तथा आपाततः देखने में सूरंजान-जैसी मालूम होती है। कच्चे फलों को कच्चा ही या उवाल कर खाया जाता है। शुष्क पक्व फलों की गिरी (*Nuts*) का आटा वनाया जाता है; और इसका सेवन विविध कल्पों यथा हलवा, रोटी आदि, के रूप में करते हैं।

उपयोगी अंग – फल-मज्जा या गिरी (गंगाधर चूर्ण में पत्रों का भी व्यवहार होता है)।

मात्रा – चूर्ण ६ ग्राम से २३.६ ग्राम ६ माशा से २ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण – सिंघाड़े को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन – गिरी में मुख्यतः स्टार्च तथा मैंगनीज भी पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १–२ वर्ष।

स्वभाव – गुण–रूक्ष, लघु । रस–मधुर, कषाय । विपाक–मधुर । वीर्य–शीत । कर्म–पित्तशामक, दाहप्रशमन, तृष्णा-निग्रह, (अधिक मात्रा में) विष्टम्भी, रक्तपित्तशामक, बल्य, वृष्य, प्रजास्थापन, मूत्रल, आदि । यूनानी मतानुसार ताजा सिंघाड़ा सर्द एवं तर और सूखा सर्द एवं खुश्क होता है । अहितकर प्रभाव–वायुकारक, धारक एवं संग्राही होने के कारण यह गुरु, विष्टम्भी, दीर्घपाकी, अवरोधजनक एवं अश्मरीजनक है । कभी मात्राधिक्य से शूल एवं मूत्रावरोध होता है । निवारण–नमक, कालीमिर्च एवं चीनी ।

मुख्य योग – माजून आर्द्र खुर्मा ।

विशेष – सिंघाड़े के आटे की रोटियाँ बनती हैं, तथा इसका हलवा खाया जाता है । कोमल कच्चे फलों की मज्जा की तरकारी बनायी जाती है । कच्चे फलों को उबालकर खाते हैं । यह फलाहार माना जाता है । यह पौष्टिक खाद्य है ।

सिरस (शिरीष)

नाम । सं०–शिरीष । हिं०–सिरीस, सिरस । बं०–शिरीष । म०–शिरस । गु०–कालीयो सरस, सरसडो । पं०–सरींह, शरीं । सिंध–सिरिंह । लें०–आल्बीज़िआ लेब्बेक (*Albizia lebbeck (L.) Benth.*) ।

वानस्पतिक कुल – शिम्बी-कुल : बब्बूल-उपकुल (*Leguminosae : Mimosaceae.*) ।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में (१२०४ मीटर ४,००० फुट तक) शिरीष के लगाये हुए तथा जंगली वृक्ष मिलते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – शिरीष के मध्यम क़द से लेकर ऊंचे-ऊँचे, पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं, जिनकी शाखाएँ चारों ओर को फैली होती हैं । अतः यह छाया-वृक्ष है, और सड़कों के किनारे भी लगाया जाता है । पत्तियाँ द्विधापक्षवत् (*Twice-pinnate*), देखने में इमली के पत्तों-जैसी लगती हैं । शीत काल में पत्ते झड़ जाते हैं । पुष्प अवृन्त तथा पीताभ श्वेत, चँवर-जैसे (*Globose umbellate heads*), सुकुमार एवं सुगंधित होते हैं । शिम्बी लम्बी (१० सें० मी० से ३० सें० मी० या ४–१२ इंच), चपटी और पतली होती है, जिसमें ६–१२ बीज होते हैं । वर्षाकाल में पुष्प और जाड़ों में फल लगते हैं, जो पीछे तक पेड़ों पर लगे रहते हैं ।

उपयोगी अंग – त्वक् (छाल), बीज, पुष्प एवं पत्र ।

मात्रा – त्वक्चूर्ण–२ ग्राम से ६ ग्राम या से २ से ६ माशा ।
बीजचूर्ण–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा ।
पुष्प या पत्रस्वरस–१ से २ तोला ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – शिरीष की छाल का बाह्य तल भूरे रंग का, खुरदरा और विदीर्ण (*Fissured*) होता है । बाह्य स्तर लम्बे-लम्बे चप्पड़ों (*Large flakes*) में पृथक् हो जाता है, जिसके नीचे का तल लाल रंग का होता है । छिलके का अन्तर्वस्तु (*Substance of the bark*) हल्के रक्त वर्ण का, कड़ा एवं खुरदरा होता है । छाल का अन्तस्तल सफेद होता है । छाल को जलाने पर भस्म ८% प्राप्त होती है । बीज—शिरीष के बीज अमलतास के बीजों की भाँति, किन्तु उनकी अपेक्षा छोटे होते हैं । यह ६.२५ मि० मी० से ८.३ मि० मी० या $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{3}$ इंच लम्बे, रूपरेखा में लट्वाकार या गोलाकार, चपटे तथा पीताभ भूरे रंग के होते हैं । बीजत्वक् अत्यन्त कड़ा होता है तथा किनारे पर नाल की रूपरेखा का एक चिह्न होता है ।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – शिरीष की कई जातियाँ पायी जाती हैं । उपर्युक्त जाति एवं आल्बीज़िआ ओडोराटिस्सिमा (*A. odoratissima Benth.*) के वृक्ष आपाततः देखने में बहुत कुछ समान प्रतीत होते हैं । इस जाति को कोई-कोई **कृष्ण** शिरीष कहते हैं । आल्बीज़िया प्रोसेरा (*A. procera Benth.*) के बहुत ऊँचे वृक्ष होते हैं और इसकी छाल श्वेत या हरित श्वेत होती है । इसे **सफेद** सिरस कह सकते हैं । यह प्राचीनों की 'कटभी' या 'किणिही' हो सकती है । आल्बीज़िआ आमारा (*A. amara Boir*) को लोग **लाल** शिरीष कहते हैं । ट्रावन्कोर-कोचीन में शिरीष से आल्बीज़िआ मार्जिनाटा (*A marginata Merr.*) नामक जाति का ग्रहण करते हैं, क्योंकि वहाँ यही अधिक पायी जाती है । इन जातियों के छाल के रंग में साधारण अन्तर होता है, अन्यथा रचना बहुत-कुछ मिलती-जुलती है ।

संग्रह एवं संरक्षण– उपयुक्त अंगों को मुखबंद पात्रों में उपयुक्त स्थान में रखें ।

संगठन – छाल में सैपोनिन, टैनिन एवं रालीय तत्त्व होते हैं ।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष एवं तीक्ष्ण । रस–कषाय, तिक्त, मधुर । विपाक–कटु । वीर्य–ईषद् उष्ण । कर्म–त्रिदोपशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, विषघ्न, चक्षुष्य, रक्तशोधक, शिरोविरेचन, कफघ्न, वृष्य, कुष्ठघ्न आदि । यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है । अहितकर–रूक्ष प्रकृति को । निवारण–गो घृत । चरकोक्त (सू० अ० ४) विषघ्न तथा वेदनास्थापन महाकषाय एवं कषाय स्कन्ध (वि० अ० ८) और (सू० अ० २ में कहे) शिरोविरेचन द्रव्यों में (शिरीषबीज) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सालसारादि गण में शिरीष का पाठ है ।

सुगंधबाला (तगर)

नाम । सं०–तगर । हिं०–तगर, सुगन्धवाला । क०–मुष्कवाला । पं०–सुगन्धवाला । म०–तकर मूल । गु०–तगर गंठोडा । अं०–इन्डियन वैलेरिअन (*Indian Valerian*), इन्डियन वैलेरिअन राइजोम (*Indian Valerian Rhizome*) । ले०–वालेरिआना ईडिका *Valeriana Indica* (*Valerian. Ind.*), वालेरिआनी ईडिकी राइजोमा (*Valerianāe Indicāe Rhizoma*) । वनस्पति का नाम–वालेरिआना जटामांसी *Valeriana jatamansi jone* (पर्याय–*V. wallichii DC.*) ।

वानस्पतिक कुल – जटामांसी-कुल (वालेरिआनासे *Valerianaceāe*) ।

प्राप्तिस्थान – अनुष्णशीत हिमालय प्रदेश (*Temperate Himalayas*) में कश्मीर से भूटान तक २१३३½ से ३०४६ मीटर या ७,०००, १०,००० फुट की ऊंचाई पर तथा खसिया की पहाड़ियों पर १२०४ से १८२८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट की ऊंचाई पर इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं । अफगानिस्तान में भी पाया जाता है । इसके सुखाये हुए गाँठदार प्रायः टेढ़े-मेढ़े मूलस्तम्भ बाजारों में सुगन्धवाला के नाम से बिकते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – इसके बहुवर्षायु शाकीय रोमश पौधे (*Pubescent perennial herb*) होते हैं, जिसका मूलस्तम्भ (*Rootstock*) मोटा और जमीन में दिगन्तसम (अनुप्रस्थ दिशा में) फैला रहता है । काण्ड १५ सें० मी० से ४५ सें० मी० या ६ से १८ इंच ऊंचा तथा प्रायः गुच्छेदार (*Tufted*) होता है । मूल या आधार के पास के पत्र (*Radical leaves*) स्थायी, सवृन्त तथा रूपरेखा में हृदयाकार-लट्वाकार, २.५ से ७.५ सें० मी० या १–३ इंच लम्बे तथा, २.५ से ३.७५ सें० मी० १–२॥ इंच चौड़े होते हैं जिनके किनारे या तट दन्तुर (*Toothed*) लहरदार, (*Sinuate*) होते हैं । काण्डीय पत्र (*Stem leaves*), संख्या में थोड़े और छोटे होते हैं । पुष्प श्वेत या कुछ-कुछ गुलाबी होते ह, जो अग्रपर समशिख पुष्पव्यूह के रूप में (*Terminal corymb*) पाये जाते हैं । पुष्प प्रायः एकलिंगी होते हैं । नरपुष्प तथा स्त्रीपुष्प पृथक्-पृथक् पौधों पर पाये जाते हैं । फल पर भी प्रायः रोम पाये जाते हैं ।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ या गाँठदार जड़ (*Rootstock : Rhizome and Roots*) ।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भौमिक काण्ड या राइजोम (*Rhizome*) मटमैले पीताभ भूरे रंग का (*Dull yellowish-brown*), टेढ़ा-मेढ़ा तथा गाँठदार और रूपरेखा में बेलनाकार (*Sub-cylindrical*) किन्तु पृष्ठ एवं अधस्तल चपटा (*dorsiventrally somewhat flattened*) होता है । अधस्तल पर टूटी हुई-जड़ों के अनेक गोल चिह्न (*Circular root scars*) पाये जाते हैं । कहीं-कहीं जड़ें लगी भी होती हैं । तोड़ने पर यह खट से टूटता है और टूटा हुआ तल, वत्सनाभ के टूटे हुए तल की भाँति लगता (*Fracture short and horny*) है । अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटे हुए तल पर बाहर की ओर छाल का भाग गाढ़े रंग का (*Dark cortex*) तथा अन्दर मज्जक (*Pith*) होता है । एधा-रेखा (*Cambium-line*) भी स्पष्ट मालम पड़ती है । पहिए के अरों की भाँति दारु रसवाहिनियों या जाइलम (ऊर्ध्ववाहिनियों) के १२–१५ बंडल या पुंज (*Xylem bundles*) मालूम होते हैं, जिनके बीच-बीच में मज्जक किरण होते हैं । जड़ों का प्रायः अभाव होता है । यह ६–७ मि० मी० लम्बी १–२ मि० मी० मोटी होती हैं, जिनकी छाल गाढ़े रंग की तथा अन्दर का काष्ठीय भाग फीके रंग का होता है । तगर में विलायती वैलेरिअन की भाँति स्वाद एवं गंध पाया जाता है, किन्तु उसकी अपेक्षा अतीव उग्र होता है । स्वाद में तिक्त एवं कर्पूर-जैसा सुगंधित होता है । इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं, और जलाने पर भस्म

अधिकतम १२% तक प्राप्त होती है। ऐल्कोहॉल (६०%) में विलेय सत्व अधिकतम (३०%) प्राप्त होता है।

प्रतिनिधिद्रव्य एवं मिलावट – समशीतोष्ण हिमालय में कश्मीर से भूटान तक १२०४ से ४६५६$\frac{1}{2}$ मीटर या (४,०००–१२,००० फुट) तथा खसिया की पहाड़ियों पर (१२०४ से १८२८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट) इसकी एक और जाति पाई जाती है, जिसे **वालेरिआना हार्डविक्कीआई** (*Valeriana hardwickii Wall.*) कहते हैं। इसकी जड़ें भी सुगन्धित होती हैं। किन्तु इनका उपयोग केवल तैल आदि को सुगन्धित करने लिए किया जाता है। इसके पौधे तगर (*V. wallichii*) की अपेक्षा छोटे होते हैं। पत्तियाँ खण्डित तथा पुष्पगुच्छक पत्र कोणों से निकलते हैं। तगर या देशी वैलेरियन, विलायती वैलेरियन (वालेरियना आफ़्फ़ीसिनालिस *Valeriana officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यूनानी वैद्यक में इसे 'सुंवुलुत्तीव' कहते हैं। कश्मीर में कहीं-कहीं इसके पौधे मिल जाते हैं। कहीं-कहीं वाजारों में तगर नाम से श्याम वर्ण की चन्दन-जैसी वजनदार लकड़ी विकती है। यह तगर नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण – तगर का संग्रह वसन्त ऋतु (*Spring*) में करना चाहिए, क्योंकि इस समय इसमें उड़नशील तेल अधिकतम मात्रा में पाया जाता है। यथासम्भव ताजी अवस्था में इनका प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है। तगर को अच्छी तरह मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। इसके चूर्ण को विशेष रूप से शीतल स्थान में तथा वन्दपात्रों में रखें ताकि नमी अन्दर न पहुँचने पावे।

संगठन – सुगन्धवाला में (०.५ से २.१२ प्रतिशत तक) एक उड़नशील तेल पाया जाता है, जो इसका मुख्य सक्रिय तत्त्व होता है। इसमें (तैल में) सेस्क्विट्र्पीन (*Sesquiterpenes*), वैलेरिक एसिड (*Valeric acid*) तथा टर्पीन-ऐल्कोहॉल् आदि तत्त्व पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एरेकिडिक एसिड तथा फैटी एसिड्स भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ६ माह से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, सर। रस–तिक्त, कटु, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–त्रिदोषहर, वेदनास्थापन, आक्षेपहर, मेध्य, दीपन, शूल-प्रशमन, सारक, यकृदुत्तेजक, कफघ्न, श्वासहर, हृदयोत्तेजक, मूत्रजनन, चक्षुष्य, कुष्ठघ्न आदि।

तगर, विलायती वैलेरिअन (*V. officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यह केन्द्रिक नाड़ी संस्थान पर संशामक या अवसादक (*Depressant effect on the Central Nervous System*) प्रभाव करता है। योषापस्मार (*Hysteria*) एवं हाइपोकाण्ड्रिएसिस (*Hypochondriasis*) आदि विकृतियों में यह उत्तम औषधि है। स्त्रियों में उदरगत वायु एवं मासिक धर्म की विकृति से होने वाले नाड़ीसंक्षोभ की अवस्था में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। वाजार में इसका टिंक्चर एवं लिक्विड एक्स्ट्रक उपलब्ध भी होता है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) शीतप्रशमन महाकषाय एवं तिक्तस्कन्ध तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में तगर भी है।

(२) कुछ समय पहले तक इसका प्रयोग सुगन्धवाला के नाम से शास्त्रीय द्रव्य वालक या ह्रीवेर के स्थान में किया जाता था। परन्तु अव यह निर्विवाद रूप से तगर सिद्ध हुआ है। पहले तगर के नाम से जो द्रव्य चलता था, वह कोई निर्गन्ध काष्ठ होता था, जिसको किसी सुगन्धित द्रव्य के साथ रखकर गंधयुक्त वना दिया जाता था।

सुदाब (सिताब)

नाम। हिं०–सिताव (व), सुदाव, सॉवत, सातरी। सं०–पीतपुष्पा, सर्पदंष्ट्रा–(नवीन)। वं०–इस्पंद। म०–सताप। गु०–सीताव। पं०–सुदाव। अ०–सुज़ाव, फ़ैजन। फा०–सदाव, सद्दाव, सुदाव, सुद्दाव। अं०–गार्डेन रू (*Garden rue*)। ले०–रूटा ग्रावेओलेन्स (*Ruta graveolens Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – जम्बीर-कुल (रूटासे : *Rutaceae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस आदि विदेश। भारतवर्ष के वगीचों में भी इसके पौधे लगाये जाते हैं। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः फारस से होता है। स्थानिक वाजारों में आस-पास के कृषक भी लाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – सुदाव के फलपाकान्ती छोटे-छोटे शाकीय पौधे होते हैं। काण्ड वेलनाकार, अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त तथा स्पर्श में मुलायम होता है। पत्तियाँ धूम्र वर्ण एकान्तरक्रम से स्थित तथा द्विविभक्त होती हैं। खण्ड अभिप्रासवत् होते हैं। पत्तियों पर सर्वत्र छोटे-छोटे विन्दुवत् तैल ग्रंथियाँ पायी जाती हैं, जिससे इनको मसल-

वीर्यकालावधि – १ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष एवं तीक्ष्ण । रस–कषाय, तिक्त, मधुर । विपाक–कटु । वीर्य–ईषद् उष्ण । कर्म–त्रिदोषशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, विषघ्न, चक्षुष्य, रक्तशोधक, शिरोविरेचन, कफघ्न, वृष्य, कुष्ठघ्न आदि । यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है । अहितकर–रूक्ष प्रकृति को । निवारण–गो घृत । चरकोक्त (सू० अ० ४) विषघ्न तथा वेदनास्थापन महाकषाय एवं कषाय स्कन्ध (वि० अ० ८) और (सू० अ० २ में कहे) शिरोविरेचन द्रव्यों में (शिरीषबीज) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सालसारादि गण में शिरीष का पाठ है।

सुगंधवाला (तगर)

नाम । सं०–तगर । हिं०–तगर, सुगन्धवाला । क०–मुष्कवाला । पं०–सुगन्धवाला । म०–तकर मूल । गु०–तगर गंठोडा । अं०–इन्डियन वैलेरिअन (*Indian Valerian*), इन्डियन वैलेरिअन राइजोम (*Indian Valerian Rhizome*) । लें०–वालेरिआना ईंडिका *Valeriana Indica* (*Valerian. Ind.*), वालेरिआनी ईंडिकी राइजोमा (*Valerianāe Indicāe Rhizoma*) । वनस्पति का नाम–वालेरिआना जटामांसी *Valeriana jatamansi jone* (पर्याय–*V. wallichii DC.*) ।

वानस्पतिक कुल – जटामांसी-कुल (वालेरिआनासे *Valerianaceāe*) ।

प्राप्तिस्थान – अनुष्णशीत हिमालय प्रदेश (*Temperate Himalayas*) में कश्मीर से भूटान तक २१३३½ से ३०४६ मीटर या ७,०००, १०,००० फुट की ऊंचाई पर तथा खसिया की पहाड़ियों पर १२०४ से १८२८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट की ऊंचाई पर इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं । अफगानिस्तान में भी पाया जाता है। इसके सुखाये हुए गाँठदार प्रायः टेढ़े-मेढ़े मूलस्तम्भ बाजारों में सुगन्धवाला के नाम से बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके बहुवर्षायु शाकीय रोमश पौधे (*Pubescent perennial herb*) होते हैं, जिसका मूलस्तम्भ (*Rootstock*) मोटा और जमीन में दिगन्तसम (अनुप्रस्थ दिशा में) फैला रहता है । **काण्ड १५ सें० मी० से ४५ सें० मी० या ६ से १८ इंच ऊंचा** तथा प्रायः गुच्छेदार (*Tufted*) होता है। **मूल या** आधार के पास के पत्र (*Radical leaves*) स्थायी, सवृन्त तथा रूपरेखा में हृदयाकार-लट्वाकार, २.५ से ७.५ सें० मी० या १–३ इंच लम्बे तथा, २.५ से ३.७५ सें० मी० १–२॥ इंच चौड़े होते हैं जिनके किनारे या तट दन्तुर (*Toothed*) लहरदार, (*Sinuate*) होते हैं । काण्डीय पत्र (*Stem leaves*), संख्या में थोड़े और छोटे होते हैं । पुष्प श्वेत या कुछ-कुछ गुलाबी होते ह, जो अग्रपर समशिख पुष्पव्यूह के रूप में (*Terminal corymb*) पाये जाते हैं। पुष्प प्रायः एकलिंगी होते हैं। नरपुष्प तथा स्त्रीपुष्प पृथक्-पृथक् पौधों पर पाये जाते हैं । फल पर भी प्रायः रोम पाये जाते हैं।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ या गाँठदार जड़ (*Rootstock: Rhizome and Roots*) ।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा ।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भौमिक काण्ड या राइजोम (*Rhizome*) मटमैले पीताभ भूरे रंग का (*Dull yellowish-brown*), टेढ़ा-मेढ़ा तथा गाँठदार और रूपरेखा में बेलनाकार (*Sub-cylindrical*) किन्तु पृष्ठ एवं अवस्तल चपटा (*dorsiventrally somewhat flattened*) होता है । अवस्तल पर टूटी हुई जड़ों के अनेक गोल चिह्न (*Circular root scars*) पाये जाते हैं । कहीं-कहीं जड़ें लगी भी होती हैं । तोड़ने पर यह खट से टूटता है और टूटा हुआ तल, वत्सनाभ के टूटे हुए तल की भाँति लगता (*Fracture short and horny*) है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटे हुए तल पर बाहर की ओर छाल का भाग गाढ़े रंग का (*Dark cortex*) तथा अन्दर मज्जक (*Pith*) होता है । एधा-रेखा (*Cambium-line*) भी स्पष्ट मालूम पड़ती है । पहिए के अरों की भाँति दारु रसवाहिनियों या जाइलम (ऊर्ध्ववाहिनियों) के १२–१५ बंडल या पुंज (*Xylem bundles*) मालूम होते हैं, जिनके बीच-बीच में मज्जक किरण होते हैं । जड़ों का प्रायः अभाव होता है । यह ६–७ मि० मी० लम्बी १–२ मि० मी० मोटी होती हैं, जिनकी छाल गाढ़े रंग की तथा अन्दर का काष्ठीय भाग फीके रंग का होता है । तगर में विलायती वैलेरिअन की भाँति स्वाद एवं गंध पाया जाता है, किन्तु उसकी अपेक्षा अतीव उग्र होता है । स्वाद में तिक्त एवं **कर्पूर-जैसा सुगंधित** होता है । इसमें विजातीय सेन्द्रिय **अपद्रव्य अधिकतम २%** होते है, और जलाने पर भस्म

अधिकतम १२% तक प्राप्त होती है। ऐल्कोहॉल (६०%) में विलेय सत्व अधिकतम (३०%) प्राप्त होता है।

प्रतिनिधिद्रव्य एवं मिलावट – समशीतोष्ण हिमालय में कश्मीर से भूटान तक १२०४ से ४६५६$\frac{1}{3}$ मीटर या (४,०००–१२,००० फुट) तथा खसिया की पहाड़ियों पर (१२०४ से १८२८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट) इसकी एक और जाति पाई जाती है, जिसे **वालेरिआना हार्डविक्कीआई** (*Valeriana hardwickii Wall.*) कहते हैं। इसकी जड़ें भी सुगन्धित होती हैं। किन्तु इनका उपयोग केवल तैल आदि को सुगन्धित करने लिए किया जाता है। इसके पौधे तगर (*V. wallichii*) की अपेक्षा छोटे होते हैं। पत्तियाँ खण्डित तथा पुष्पगुच्छक पत्र कोणों से निकलते हैं। तगर या देशी वैलेरियन, विलायती वैलेरियन (वालेरियना आफ़्फ़ीसिनालिस *Valeriana officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यूनानी वैद्यक में इसे 'सुंबुलुत्तीब' कहते हैं। कश्मीर में कहीं-कहीं इसके पौधे मिल जाते हैं। कहीं-कहीं बाजारों में तगर नाम से श्याम वर्ण की चन्दन-जैसी वजनदार लकड़ी बिकती है। यह तगर नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण – तगर का संग्रह वसन्त ऋतु (*Spring*) में करना चाहिए, क्योंकि इस समय इसमें उड़नशील तेल अधिकतम मात्रा में पाया जाता है। यथासम्भव ताजी अवस्था में इनका प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है। तगर को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। इसके चूर्ण को विशेष रूप से शीतल स्थान में तथा बन्दपात्रों में रखें ताकि नमी अन्दर न पहुँचने पावे।

संगठन – सुगन्धवाला में (०.५ से २.१२ प्रतिशत तक) एक उड़नशील तेल पाया जाता है, जो इसका मुख्य सक्रिय तत्त्व होता है। इसमें (तैल में) सेस्क्विटर्पीन (*Sesquiterpenes*), वैलेरिक एसिड (*Valeric acid*) तथा टर्पीन-ऐल्कोहॉल् आदि तत्त्व पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एरेकिडिक एसिड तथा फैटी एसिड्स भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ६ माह से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, सर। रस–तिक्त, कटु, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–त्रिदोषहर, वेदनास्थापन, आक्षेपहर, मेध्य, दीपन, शूलप्रशमन, सारक, यकृदुत्तेजक, कफघ्न, श्वासहर, हृदयोत्तेजक, मूत्रजनन, चक्षुष्य, कुष्ठघ्न आदि।

तगर, विलायती वैलेरिअन (*V. officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यह केन्द्रिक नाड़ी संस्थान पर संशामक या अवसादक (*Depressant effect on the Central Nervous System*) प्रभाव करता है। योपापस्मार (*Hysteria*) एवं हाइपोकाण्ड्रिएसिस (*Hypochondriasis*) आदि विकृतियों में यह उत्तम औषधि है। स्त्रियों में उदरगत वायु एवं मासिक धर्म की विकृति से होने वाले नाड़ीसंक्षोभ की अवस्था में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। बाजार में इसका टिंक्चर एवं लिक्विड एक्सट्रैक्ट उपलब्ध भी होता है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) शीतप्रशमन महाकषाय एवं तिक्तस्कन्ध तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में तगर भी है।

(२) कुछ समय पहले तक इसका प्रयोग सुगन्धवाला के नाम से शास्त्रीय द्रव्य वालक या ह्रीवेर के स्थान में किया जाता था। परन्तु अब यह निर्विवाद रूप से तगर सिद्ध हुआ है। पहले तगर के नाम से जो द्रव्य चलता था, वह कोई निर्गन्ध काष्ठ होता था, जिसको किसी सुगन्धित द्रव्य के साथ रखकर गंधयुक्त बना दिया जाता था।

सुदाब (सिताब)

नाम। हिं०–सिताब (ब), सुदाब, सॉवत, सातरी। सं०–पीतपुष्पा, सर्पदंष्ट्रा–(नवीन)। बं०–इस्पंद। म०–सतापं। गु०–सीताब। पं०–सुदाब। अ०–सुज़ाब, फ़ैजन। फा०–सदाब, सद्दाब, सुदाब, सुद्दाब। अं०–गार्डेन रू (*Garden rue*)। लें०–रूटा ग्रावेओलेन्स (*Ruta graveolens Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – जम्बीर-कुल (रूटासे : *Rutaceae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस आदि विदेश। भारतवर्ष के बगीचों में भी इसके पौधे लगाये जाते हैं। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः फारस से होता है। स्थानिक बाजारों में आस-पास के कृषक भी लाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – सुदाब के फलपाकान्ती छोटे-छोटे शाकीय पौधे होते हैं। काण्ड बेलनाकार, अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त तथा स्पर्श में मुलायम होता है। पत्तियाँ धूम्र वर्ण एकान्तरक्रम से स्थित तथा द्विविभक्त होती हैं। खण्ड अभिप्रासवत् होते हैं। पत्तियों पर सर्वत्र छोटे-छोटे बिन्दुवत् तैल ग्रंथियाँ पायी जाती हैं, जिससे इनको मसल-

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष एवं तीक्ष्ण। रस–कषाय, तिक्त, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–ईषद् उष्ण। कर्म–त्रिदोषशामक, शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, विषघ्न, चक्षुष्य, रक्तशोधक, शिरोविरेचन, कफघ्न, वृष्य, कुष्ठघ्न आदि। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–रूक्ष प्रकृति को। निवारण–गो घृत। चरकोक्त (सू० अ० ४) विषघ्न तथा वेदनास्थापन महाकषाय एवं कषाय स्कन्ध (वि० अ० ८) और (सू० अ० २ में कहे) शिरोविरेचन द्रव्यों में (शिरीषबीज) तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) सालसारादि गण में शिरीष का पाठ है।

सुगंधबाला (तगर)

नाम। सं०–तगर। हिं०–तगर, सुगन्धबाला। क०–मुष्क-वाला। पं०–सुगन्धवाला। म०–तकर मूल। गु०–तगर गंठोडा। अं०–इन्डियन वैलेरिअन (*Indian Valerian*), इन्डियन वैलेरिअन राइजोम (*Indian Valerian Rhizome*)। ले०–वालेरिआना ईडिका *Valeriana Indica* (*Valerian. Ind.*), वालेरिआनी ईडिकी राइजोमा (*Valerianāe Indicāe Rhizoma*)। वनस्पति का नाम–वालेरिआना जटामांसी *Valeriana jatamansi jone* (पर्याय–*V. wallichii DC.*)।

वानस्पतिक कुल – जटामांसी-कुल (वालेरिआनासे *Valerianaceāe*)।

प्राप्तिस्थान – अनुष्णशीत हिमालय प्रदेश (*Temperate Himalayas*) में कश्मीर से भूटान तक २१३३½ से ३०४६ मीटर या ७,०००, १०,००० फुट की ऊंचाई पर तथा खसिया की पहाड़ियों पर १२०४ से १८२८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट की ऊंचाई पर इसके स्वयंजात पौधे पाये जाते हैं। अफगानिस्तान में भी पाया जाता है। इसके सुखाये हुए गाँठदार प्रायः टेढ़े-मेढ़े मूलस्तम्भ बाजारों में सुगन्धवाला के नाम से विकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – इसके बहुवर्षायु शाकीय रोमश पौधे (*Pubescent perennial herb*) होते हैं, जिसका मूलस्तम्भ (*Rootstock*) मोटा और जमीन में दिगन्तसम (अनुप्रस्थ दिशा में) फैला रहता है। काण्ड १५ सें० मी० से ४५ सें० मी० या ६ से १८ इंच ऊंचा तथा प्रायः गुच्छेदार (*Tufted*) होता है। मूल या आधार के पास के पत्र (*Radical leaves*) स्थायी, सवृन्त तथा रूपरेखा में हृदयाकार-लट्वाकार, २.५ से ७.५ सें० मी० या १–३ इंच लम्बे तथा, २.५ से ३.७५ सें० मी० १–२॥ इंच चौड़े होते हैं जिनके किनारे या तट दन्तुर (*Toothed*) लहरदार, (*Sinuate*) होते हैं। काण्डीय पत्र (*Stem leaves*), संख्या में थोड़े और छोटे होते हैं। पुष्प श्वेत या कुछ-कुछ गुलाबी होते ह, जो अग्रपर समशिख पुष्पव्यूह के रूप में (*Terminal corymb*) पाये जाते हैं। पुष्प प्रायः एकलिंगी होते हैं। नरपुष्प तथा स्त्रीपुष्प पृथक्-पृथक् पौधों पर पाये जाते हैं। फल पर भी प्रायः रोम पाये जाते हैं।

उपयोगी अंग – मूलस्तम्भ या गाँठदार जड़ (*Rootstock; Rhizome and Roots*)।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – भौमिक काण्ड या राइजोम (*Rhizome*) मटमैले पीताभ भूरे रंग का (*Dull yellowish-brown*), टेढ़ा-मेढ़ा तथा गाँठदार और रूपरेखा में वेलनाकार (*Sub-cylindrical*) किन्तु पृष्ठ एवं अधस्तल चपटा (*dorsiventrally somewhat flattened*) होता है। अधस्तल पर टूटी हुई जड़ों के अनेक गोल चिह्न (*Circular root scars*) पाये जाते हैं। कहीं-कहीं जड़ें लगी भी होती हैं। तोड़ने पर यह खट से टूटता है और टूटा हुआ तल, वत्सनाभ के टूटे हुए तल की भाँति लगता (*Fracture short and horny*) है। अनुप्रस्थ विच्छेद करने पर कटे हुए तल पर बाहर की ओर छाल का भाग गाढ़े रंग का (*Dark cortex*) तथा अन्दर मज्जक (*Pith*) होता है। एधा-रेखा (*Cambium-line*) भी स्पष्ट मालूम पड़ती है। पहिए के अरों की भाँति दारु रसवाहिनियों या जाइलम (ऊर्ध्ववाहिनियों) के १२–१५ बंडल या पुंज (*Xylem bundles*) मालूम होते हैं, जिनके बीच-बीच में मज्जक किरण होते हैं। जड़ों का प्रायः अभाव होता है। यह ६–७ मि० मी० लम्बी १–२ मि० मी० मोटी होती हैं, जिनकी छाल गाढ़े रंग की तथा अन्दर का काष्ठीय भाग फीके रंग का होता है। तगर में विलायती वैलेरिअन की भाँति स्वाद एवं गंध पाया जाता है, किन्तु उसकी अपेक्षा अतीव उग्र होता है। स्वाद में तिक्त एवं कर्पूर-जैसा सुगंधित होता है। इसमें विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं, और जलाने पर भस्म

अधिकतम १२% तक प्राप्त होती है। ऐल्कोहॉल (६०%) में विलेय सत्व अधिकतम (३०%) प्राप्त होता है।

प्रतिनिधिद्रव्य एवं मिलावट– समशीतोष्ण हिमालय में कश्मीर से भूटान तक १२०४ से ४६५६⅔ मीटर या (४,०००–१२,००० फुट) तथा खसिया की पहाड़ियों पर (१२०४ से १८२८ मीटर या ४,०००–६,००० फुट) इसकी एक और जाति पाई जाती है, जिसे **वालेरिआना हार्डविक्कीआई** (*Valeriana hardwickii Wall.*) कहते हैं। इसकी जड़ें भी सुगन्धित होती हैं। किन्तु इनका उपयोग केवल तैल आदि को सुगन्धित करने लिए किया जाता है। इसके पौधे तगर (*V. wallichii*) की अपेक्षा छोटे होते हैं। पत्तियाँ खण्डित तथा पुष्पगुच्छक पत्र कोणों से निकलते हैं। तगर या देशी वैलेरियन, विलायती वैलेरियन (वालेरियना आफ़्फ़ीसिनालिस *Valeriana officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यूनानी वैद्यक में इसे 'सुंबुलुत्तीव' कहते हैं। कश्मीर में कहीं-कहीं इसके पौधे मिल जाते हैं। कहीं-कहीं वाजारों में तगर नाम से श्याम वर्ण की चन्दन-जैसी वजनदार लकड़ी विकती है। यह तगर नहीं है।

संग्रह एवं संरक्षण – तगर का संग्रह वसन्त ऋतु (*Spring*) में करना चाहिए, क्योंकि इस समय इसमें उड़नशील तेल अधिकतम मात्रा में पाया जाता है। यथासम्भव ताजी अवस्था में इनका प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है। तगर को अच्छी तरह मुखवन्द पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। इसके चूर्ण को विशेष रूप से शीतल स्थान में तथा वन्दपात्रों में रखें ताकि नमी अन्दर न पहुँचने पावे।

संगठन– सुगन्धवाला में (०.५ से २.१२ प्रतिशत तक) एक उड़नशील तेल पाया जाता है, जो इसका मुख्य सक्रिय तत्त्व होता है। इसमें (तैल में) सेस्क्विटर्पीन (*Sesquiterpenes*), वैलेरिक एसिड (*Valeric acid*) तथा टर्पीन-ऐल्कोहॉल् आदि तत्त्व पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एरेकिडिक एसिड तथा फैटी एसिड्स भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – ६ माह से १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, सर। रस–तिक्त, कटु, मधुर, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–त्रिदोषहर, वेदनास्थापन, आक्षेपहर, मेध्य, दीपन, शूलप्रशमन, सारक, यकृदुत्तेजक, कफघ्न, श्वासहर, हृदयोत्तेजक, मूत्रजनन, चक्षुष्य, कुष्ठघ्न आदि।

तगर, विलायती वैलेरिअन (*V. officinalis Linn.*) का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। यह केन्द्रिक नाड़ी संस्थान पर संशामक या अवसादक (*Depressant effect on the Central Nervous System*) प्रभाव करता है। योषापस्मार (*Hysteria*) एवं हाइपोकाण्ड्रिएसिस (*Hypochondriasis*) आदि विकृतियों में यह उत्तम औषधि है। स्त्रियों में उदरगत वायु एवं मासिक धर्म की विकृति से होने वाले नाड़ीसंक्षोभ की अवस्था में इसका प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। वाजार में इसका टिंक्चर एवं लिक्विड एक्स्ट्रक उपलब्ध भी होता है।

विशेष – चरकोक्त (सू० अ० ४) शीतप्रशमन महाकषाय एवं तिक्तस्कन्ध तथा सुश्रुतोक्त (सू० अ० ३८) एलादि गण में तगर भी है।

(२) कुछ समय पहले तक इसका प्रयोग सुगन्धवाला के नाम से शास्त्रीय द्रव्य वालक या ह्रीवेर के स्थान में किया जाता था। परन्तु अब यह निर्विवाद रूप से तगर सिद्ध हुआ है। पहले तगर के नाम से जो द्रव्य चलता था, वह कोई निर्गन्ध काष्ठ होता था, जिसको किसी सुगन्धित द्रव्य के साथ रखकर गंधयुक्त वना दिया जाता था।

सुदाब (सिताब)

नाम। हिं०–सिताव (व), सुदाव, सॉवत, सातरी। सं०–पीतपुष्पा, सर्पदंष्ट्रा–(नवीन)। वं०–इस्पंद। म०–सताप। गु०–सीताव। पं०–सुदाव। अ०–सुज़ाव, फ़ैजन। फा०–सदाव, सद्दाव, सुदाव, सुद्दाव। अं०–गार्डेन रू (*Garden rue*)। ले०–रूटा ग्रावेओलेन्स (*Ruta graveolens Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – जम्बीर-कुल (रूटासे : *Rutaceae*)।

प्राप्तिस्थान – फारस आदि विदेश। भारतवर्ष के वगीचों में भी इसके पौधे लगाये जाते हैं। भारतवर्ष में इसका आयात मुख्यतः फारस से होता है। स्थानिक वाजारों में आस-पास के कृषक भी लाते हैं।

संक्षिप्त परिचय – सुदाव के फलपाकान्ती छोटे-छोटे शाकीय पौधे होते हैं। काण्ड वेलनाकार, अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त तथा स्पर्श में मुलायम होता है। पत्तियाँ धूम्र वर्ण एकान्तरक्रम से स्थित तथा द्विविभक्त होती हैं। खण्ड अभिप्रासवत् होते हैं। पत्तियों पर सर्वत्र छोटे-छोटे विन्दुवत् तैल ग्रंथियाँ पायी जाती हैं, जिससे इनको मसल-

कर सूंघने पर एक उग्र गंध आती है। स्वाद में यह तिक्त एवं उत्क्लेशकारक होती हैं। पुष्प छोटे तथा पीले रंग के होते हैं, जिनमें ५ लहरदार, अग्र पर अन्दर को मुड़े दलपत्र होते हैं। फल छोटे तथा त्रिकोष्ठीय होते है, जिनमें प्रत्येक में एक-एक त्रिकोणाकार एवं कत्थई रंग के बीज होते हैं। जंगली एवं कर्षित या बागी भेद से यह २ प्रकार का होता है। औषधीय प्रयोग के लिए प्रायः बोये हुए पौधों का संग्रह किया जाता है। बाजारों में इसका शुष्क पंचाङ्ग मिलता है, जो टूट कर टुकड़े-टुकड़े होता है।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग तथा इससे प्राप्त सुगंधित तैल (रोग़न सुदाब)।

मात्रा – पंचाङ्ग — २ से ५ ग्राम या २ से ५ माशा।
तैल — १ से ५ बूंद।

संग्रह एवं संरक्षण – फल परिपक्व होने पर जड़ के पास से क्षुप को काट कर, छायाशुष्क कर और इसके टुकड़े काट कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल एवं अँधेरी जगह में रखें। तैल को अम्बरी शीशियों में शीतल तथा अँधेरी जगह में रखें।

संगठन – सुताब में एक उड़नशील तेल तथा रूटिन (*Rutin*) नामक ग्लुकोसाइड पाया जाता है। तेल में ९०% मेथिल नानिलकीटोन पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – पंचाङ्ग —६ माह से १ वर्ष।
तैल —दीर्घकाल तक।

स्वभाव – सुदाब स्वभावतः उष्ण एवं रूक्ष होता है। यह छेदन, विलयन, प्रमाथी, दीपन, वायुनाशक, वातानुलोमन स्वेदजनन, आक्षेपहर, नाड़ियों को उत्तेजक, मूत्रल एवं आर्तवजनन तथा अगदगुणसहित संग्राही होता है।
अहितकर – शिरःशूलकारक एवं दृष्टि दौर्बल्यकारक।
निवारण–सिकंजबीन तथा अनीसून।

सुपारी (पूग)

नाम। सं०–पूग, गुवाक, क्रमुक? हिं०–सु(सो)पारी, छालिया, कसैली। बं०–सुपारि। मं०–सुपारी, पोफल, (ली)। गु०–सोपारी। अं०–एरीका-नट (*Areca nut*), बीटल-नट (*Betle-nut*)। ले०–आरेका काटेकू (*Areca catechu Linn.*। लेटिन नाम इसके वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल – ताड़-कुल (पल्मासे *Palmaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष में दक्षिण बम्बई, मैसूर, मद्रास एव बंगाल के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में तथा आसाम में सोपारी की प्रचुर मात्रा में खेती की जाती है। सुपारी मलाया का आदिवासी पौधा है, और मलाया द्वीपपुञ्जों एवं पूर्वी तथा फिलिपाइन द्वीपसमूह में तथा मेडागास्कर एवं पूर्वी अफ्रीका के समुद्र तट पर भी यह प्रचुरता से होता है। पक्व फलों के सुखाये हुए बीज बाजारों में बिकते हैं। कच्चे फलों को जल में उबालने से लाल सुपारी प्राप्त होती है, जो साधारण सुपारी की अपेक्षा काफी मुलायम होती है। यह **चिकनी सुपारी** के नाम से बाजारों में मिलती है। भारतवर्ष में सुपारी की काफी खपत होती है। अतएव यहाँ की उपज से काम नहीं चलता।

संक्षिप्त परिचय – सुपारी के वृक्ष भी नारियल की भाँति होते हैं, जो साधारणतया ०.९ मीटर से १२.१९ मीटर या ३–४० फुट ऊँचे (कभी-कभी इससे भी अधिक) होते हैं। पत्तियाँ १२० सें० मी० से १८० सें० मी० या ४–६ फुट लम्बी होती हैं, जिनमें अनेक पत्रक होते हैं, जो ३० से ९० से० मी० या १–३ फुट तक लम्बे और सूक्ष्म रोमश होते हैं। ऊपर की पत्तियों के पत्रक प्रायः परस्पर जुटे हुए (*Confluent*) होते हैं। पुष्पव्यूह अवृन्तकाण्डज तथा रंगीन पत्रकोष से आवृत होता है। पुष्पदण्ड कठिन तथा अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त होता है। स्त्रीपुष्प आधार की ओर तथा संख्या में कम होते हैं। शेष दण्ड पर नर पुष्प होते हैं, जो विनाल (*Sessile*) होते हैं। फल एक साथ अनेक लगते हैं, जो लम्बगोल, २.५ से ५ सें० मी० या १–२ इंच लम्बे, चिकने तथा कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर नारंगी रंग के अथवा रक्त वर्ण हो जाते हैं। इनका बाहरी आवरण नारियल की भाँति सूत्रमय होता है। इनको हटाने पर अन्दर सुपारी के बीज मिलते हैं। ताजी सुपारी नशा करती है और इसको खाने से शिर में चक्कर आने लगते हैं। अग्नि के प्रभाव से इसकी विषाक्तता नष्ट हो जाती है। इसीलिए चिकनी सुपारी खाने के लिए अधिक पसन्द की जाती है। सुपारी के खेतों में कुछ ऐसे भी वृक्ष आ जाते हैं, जिनके फलों में यह विषैला प्रभाव स्थायी बना रहता है। इन वृक्षों की पहचान साधारण वृक्षों से नहीं हो पाती। अतएव बाजारू सोपारी में कभी विषैली सुपारी भी आ जाती है।

उपयोगी अंग – पके हुए फलों के शुष्क बीज।

मात्रा – १ से ३ ग्राम (५ ग्राम तक) या १ से ३ माशा (५ माशे तक)।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – सुपारी के बीज रूपरेखा में गोलाकार शंकु (*Rounded cone*) की भाँति होते हैं, जो १.२५ सें० मी० से ३.१२५ सें० मी० या ॥–१। इंच तक लम्बे एवं १८.७५ मि० मी० से ३१ मि०मी० या ॥।–१। इंच तक चौड़े होते हैं। वाह्यतः हल्के लालिमा लिये भूरे रंग के अथवा पीताभ भूरे रंग के होते हैं। वाह्य तल पर सूक्ष्म रेखाओं का जाल-सा फैला होता है, जो प्रायः नाभि (*Hilum*) से प्रारम्भ होती है। इससे यह आपाततः देखने में जायफल-सा मालूम होता है (किन्तु जायफल प्रायः रूप में लम्बगोल होता है)। उक्त सुपारी के बीज आधार के मध्य भाग में किंचित् खातोदर या अंदर को धँसे (*Depressed*) होते हैं। आधार पर मध्यभिति (*Mesocarp*), जो तन्तुमय या रेशेदार होती है तथा अन्तर्भित्ति (*Endocarp*) जो सफेद पतले पर्त के रूप में होती है, का कुछ अंश लगा होता है। चुटकी से मलने पर यह भंगुर भूसी की भाँति आसानी से पृथक् हो जाते हैं। बीजों को तोड़ने पर अन्दर का भाग हल्के भूरे रंग का होता है, जिसके बीच-बीच का भाग सफेद होता है। सुपारी या छालिया को काटने पर यदि उसके अन्दर श्वेत रेखाएँ अधिक हों तो वह अच्छी होती है। स्वाद में यह कसैले एवं किंचित् तिक्त होते हैं, किन्तु कोई विशेष गंध नहीं पायी जाती। सुपारी का चूर्ण हल्की लालिमा लिये भूरे रंग का अथवा हल्के भूरे रंग का होता है, जो स्वाद में बीजों की भाँति कसैला तथा किंचित् तीता होता है। इसमें एक हल्की गंध भी पायी जाती है। वाजारू सुपारी में बीजों के साथ संसक्त फलावरण की मध्यभिति एवं अन्तर्भित्ति का भाग अधिकतम २% तक होता है। अन्य विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम १% तथा भस्म २½% तक प्राप्त होती है।

स्थानापन्न द्रव्य एवं मिलावट – सुपारी (एरिका) की कतिपय अन्य प्रजातियों के फल एवं बीज भी असली सुपारी से कुछ मिलते-जुलते होने के कारण इसमें मिलाये जाते हैं; अथवा सुपारी के नाम से इनका व्यवहार किया जाता है। इनमें नागा की पहाड़ियों पर एक जाति होती है, जिसको आरेका नागेन्सिस् (*Arecan nagensis Griff.*) कहते हैं। इसी प्रकार लंका में पायी जाने वाली आरेका कॉन्सिन्ना (*Areca concinna* (*DC.*) एवं अंडमान द्वीपसमूह तथा सुमात्रा में होने वाली आरेका ट्रीआन्ड्रा (*A. triandra Roxb.*) जातियाँ महत्त्व की हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – सुपारी को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – सुपारी में कषाय तत्त्व (टैनिक एवं गैलिक एसिड), एक स्थिर तेल, गोंदीय पदार्थ, अल्प मात्रा में एक उड़नशील तेल, काष्ठीयत्व (लिग्निन *Lignin*), १५% तक एक लाल रंजक तत्त्व (एरिका रेड *Areca red*) तथा अनेक क्षारोद (ऐल्केलाइड्स) पाये जाते हैं। क्षारोदों में एरिकोलीन (*Arecoline* $C_8H_{13}O_2N$) ०.०७ से १% तक, गुवाकीन (*Guvacine*), गुवाकोलीन (*Guvacoline*), एरिकेडीन या एरीकेन (*Arecaine*) ०.१%, एवं एरीकोलिडीन (*Arecclidine*) आदि महत्त्व के हैं। पानी में उबालने से इसके रंजक तत्त्व एवं कषाय घटक जल में आ जाते हैं।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष। रस–कषाय, मधुर। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–कफपित्तशामक, (स्वेदन करने पर त्रिदोषशामक); स्तम्भन, व्रणरोपण, नाड़ीबल्य, लालास्रावजनक, रोचन, दीपन, शुक्रस्तम्भन, गर्भाशयशोथहर, मूत्रसंग्रहणीय, स्वेदजनन। अहितकर प्रभाव–सुपारी ओजोनाशक, विकासी तथा धातुओं में शैथिल्य पैदा करता है। अधिक खाने से भ्रम पैदा करता है, जिससे नशा-सा आता है और चक्कर आते हैं इसके अतिरिक्त यह उरः खरत्वकारक एवं अश्मरी-जनक भी है। अतएव इसका सेवन दूध, घी आदि स्निग्ध पदार्थों के साथ करना चाहिए। उरः खरत्वादि अहितकर प्रभावों के निवारण के लिए, कतीरा एवं इलायची का सेवन करना चाहिए।

मुख्य योग – सुपारी पाक, हलवाए सुपारीपाक, माजून सुपारी पाक, सफ़ूफ सुपारी।

विशेष – सुपारी को वालू में भूनने से अथवा स्वेदन कर सुखा लेने से यह शुद्ध हो जाती है। इससे गुण में भी वृद्धि होती है, तथा अहितकर प्रभावों की सम्भावना भी कम हो जाती है।

सुरंजान (कड़वा एवं मीठा)

नाम । हिं०, म०, गु०—सुरंजान । भा०, वा०—सूरंजान, सूरिंजान । फा०—सूरिंजान । अं०, ले०—कॉल्चिकम् (*Colchicum*) । (१) कड़वा सुरिंजान । हिं०, भा०, वा०—सुरंजान कड़ुआ । फा०—सूरिंजाने तल्ख । का०—सूरिंजान । अं०—कश्मीर या बिटर हर्मोडैक्टिल (*Kashmir or bitter hermodactyl*) । ले०—कॉल्चीकुम लूटेउम *Colchicum luteum Baker* (वनस्पति) । (२) मीठा सुरिंजान । हिं०—भा०, वा०—सुरंजान मीठा । फा०—सूरिंजाने शीरीं । अं०—स्वीट हर्मोडैक्टिल (*Sweet Hermodactyl*) ।

वानस्पतिक कुल – पलाण्डु-कुल (लीलिआसे : *Liliaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – सुरंजान कडवा (कॉल्चीकुम लूटेउम) अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, एवं भारतवर्ष में पश्चिमी हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेशों में (६०२ मीटर से २७८३ मीटर या २,००० से ९,००० फुट की ऊँचाई पर) पहाड़ों की ढाल पर घासों के बीच तथा मुरी की पहाड़ियों से कश्मीर और चंबा तक तथा पंजाब में इसके पौधे उगते हैं। श्रीनगर के आसपास तथा गढ़ी से बारामुला तक सड़कों के किनारे इसके पौधे बहुतायत से मिलते हैं। मीठा सुरंजान फारस में होता है, और भारतवर्ष में इसका आयात वहीं से होता है। कड़वे एवं मीठे दोनों प्रकार के सूरंजान के सुखाये हुए समूचे कंद (*Corms*) अथवा इसके गोल-गोल कतरेनुमा काटकर सुखाये टुकड़े बाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं। इसके अतिरिक्त बाजारों में इससे बनायी हुई गहरे भूरे रंग की रसक्रिया भी 'हरनतूतिया' के नाम से मिलती है। अफगानिस्तान एवं उत्तर भारत में यह एक बहुत प्रसिद्ध औषधि है। आधुनिक चिकित्सा में केवल कड़वे सूरंजान का ही व्यवहार होता है।

लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट एवं टिंक्चर आदि के निर्माण में सुरंजान के कंद एवं बीज दोनों का ही व्यवहार होता है। कंद एवं बीज दोनों से इसका ऐल्केलायड् कौल्चिसीन भी पृथक् रूप से प्राप्त किया जाता तथा औषध्यर्थ व्यवहृत होता है। काल्चिसीन एवं बीज तथा कंदों से बने टिंक्चर आदि योग सर्वत्र अंग्रेजी दवाखानों में मिलते हैं।

संक्षिप्त परिचय – कॉल्चीकुम लूटेउम के एकवर्षायु तथा कोमल काण्डीय छोटे पौधे होते हैं। पत्तियाँ संख्या में कम, रूपरेखा में स्फीताकार, रेखाकार-आयताकार अथवा प्रति-भालाकार (*Oblanceolate*) एवं कुण्ठिताग्र तथा पुष्पागम के साथ निकलती हैं, जो पहले छोटी होती हैं, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ कर फल लगने तक १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ६ से १२ इंच तक लम्बी हो जाती हैं। पुष्प प्रत्येक पौधे पर केवल १–२ लगते हैं, जो प्रायः वसन्त ऋतु में निकलते हैं और पूर्ण विकसित होने पर व्यास में २.५ से ३.७५ सें० मी० या १–१॥ इंच तक होते हैं। सवर्ण कोश या परिदलपुंज (*Perianth*) सुनहले पीले रंग का होता है, जिसके खण्ड आयताकार, अथवा प्रतिभालाकार एवं कुण्ठिताग्र होते हैं। कोशनलिका ७.५ से १० सें० मी० या ३–४ इंच तक लम्बी होती हैं। पुंकेशर संख्या में ६ होते हैं, जो लम्बाई में सवर्ण कोश से छोटे होते हैं। पराग कोश (*Anthers*) पीले रंग के तथा केशर सूत्रों से भी बड़े होते हैं। कुक्षिवृन्त (*Style*) सूत्राकार होती है, किन्तु लम्बाई में सवर्ण कोश से बड़ी होती है। फल (*Capsule*) २.५ से ३.७ सें० मी० या १–१॥ इंच लम्बे एवं स्फोटी होते हैं, जिनमें भूरापन लिये सफेद रंग के छोटे-छोटे बीज भरे होते हैं।

उपयोगी अंग – कंद (*Corms*) तथा (बीज एवं कन्द तथा बीजों से प्राप्त सत्व (कॉल्चिसीन) ।

मात्रा – कड़वा सुरंजान कंद—१२५ मि० ग्रा० से ३७५ मि० ग्रा० या १ से ३ रत्ती।

मीठा सुरंजान—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

हरनतूतिया—६.२५ मि० ग्रा० से ६२.५ मि० ग्रा० या १/४ से १/२ रत्ती।

कड़वे सुरंजान का सत्व (कौल्चिसीन) – १/९६ से १/४ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – कड़वे सूरंजान के ताजे कन्द प्रायः १.५ सें० मी० से ३.५ सें० मी० या ३/५ से १ ३/५ इंच तक लम्बे एवं व्यास में १ सें० मी० से २ सें० मी० या २/५ से ४/५ इंच तक और आपाततः देखने में सिंघाड़े-जैसे तथा कुछ शंक्वाकार होते हैं, जिनका एक पृष्ठ उन्नतोदर किन्तु दूसरा तल चपटा होता है। चपटे तल के मध्य में ऊपर से नीचे तक एक परिखा-सी होती है, जहाँ से

दूसरे वर्ष का कंद (*Daughter corm*) लगता है। कंदों का बाहरी छिलकेदार पर्त (*Membranous coat*) प्रायः नहीं पाया जाता। कंद प्रायः पारभासी (*Translucent*) अथवा अपारदर्शक होते हैं तथा इनके बाह्य तल एवं अन्तर्वस्तु भी अनुलम्ब दिशा में सूक्ष्म रेखांकित-सा होता है, जो तन्तुवाहिनी-पूलों (*Fibro-vascular bundles*) के द्योतक होते हैं। सुखाया हुआ कन्द काफी कड़ा होता है, और इसका बाह्य तल चिकना एवं हल्के या गाढ़े भूरे रंग का अथवा भूरापन लिये खाकस्तरी होता है। तोड़ने पर यह खट से तथा मुलायम टूटते (*Short mealy fracture*) हैं। टूटा हुआ तल सफेद एवं पिष्टमय मालूम होता है, जिस पर खाकस्तरी रंग के सूक्ष्म बिन्दुओं के रूप में टूटे हुए वाहिनीपूलों के चिह्न पाये जाते हैं। सुरंजान के कंदों में प्रायः कोई गंध नहीं पायी जाती, किन्तु स्वाद में यह तिक्त एवं कड़वे (*Acrid*) होते हैं। सुखाये हुए उत्तम कन्दों में कम से कम ०.२% कॉल्चिसीन पाया जाता है। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २%। अम्ल में घुलनशील भस्म—अधिकतम ½% प्राप्त होती है। मीठा सुरंजान कड़वे की अपेक्षा बड़ा, रंग में हल्का तथा स्वाद में तीता एवं कड़वा नहीं होता। बाजारों में सुरंजान का छिलका उतार कर सुखाये हुए गोल-गोल कतरेनुमा काटे हुए टुकड़े भी मिलते हैं। **बीज**—सुरंजान (कड़वे) बीज रूपरेखा में अंडाकार अथवा अनियमित रूप से गोलाकार, छोटे (व्यास में २–३ मिलिमीटर) तथा हल्का भूरापन लिए सफेद रंग के होते हैं। नाभि या वृन्तक अर्थात् हाइलम (*Hilum*) के पास बीज उत्तरोत्तर कम चौड़े होकर नुकीले से मालूम पड़ते हैं, और इसके सामने दूसरे सिरे पर एक सूक्ष्म चोंच सी (*Beak*) अथवा एरंडबीज की भाँति किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म घुंडीसी (कैरंकल *Caruncle*) होता है। ताजे बीज प्रायः कई-कई परस्पर संसक्त से होते हैं। उबालने पर बीजों का बाह्य चोल (*Testa*) प्रायः पृथक् हो जाता है, किन्तु अन्तःचोल रक्ताभ भूरे रंग का लगा होता है। अतः उबाले हुए बीज गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। कंदों की भाँति बीजों में भी कोई गंध नहीं पायी जाती। स्वाद में यह तिक्त होते हैं। उत्तम बीजों में कम से कम ५% तक कॉल्चिसीन पाया जाता है। बीजों को जलाने पर भस्म अधिकतम ५% तक तथा अम्ल में अविलेय भस्म अधिकतम १% प्राप्त होती है। बीजों में विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% तक हो सकते हैं। **कॉल्चिसीन**-कॉल्चिसीन के हल्के पीले रंग के, अक्रिस्टली (*Amorphous*) छोटे-छोटे पपड़ीदार टुकड़े या चूर्ण होता है, जो हवा में खुला रहने से गाढ़े रंग का हो जाता है। यह प्रायः गंधहीन तथा स्वाद में तिक्त होता है। कॉल्चिसीन अत्यन्त विषैली औषधि है। विलेयता—कॉल्चिसीन जल में घुल जाता है। ऐल्कोहल् (९५%) तथा क्लोरोफार्म में सुविलेय होता है; किन्तु ईथर में बहुत कम घुलता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—विदेशीय कड़वा सुरंजान भी गुणकर्म में बिल्कुल भारतीय कड़वे सुरंजान की ही भाँति होता है। इसका वानस्पतिक नाम कॉल्चीकुम आउटुम्नाले (*Colchicum autumnale Linn.*) है। यह मध्य एवं दक्षिण यूरोपीय देशों तथा इंग्लैण्ड आदि में चरागाहों में होता है।

संग्रह एवं संरक्षण—सुरंजान का संग्रह जून-जुलाई के महीनों में पुष्पागम के पूर्व करना चाहिए। औषधीय प्रयोग के लिए दो वर्ष आयु वाले पौधों का कन्द अधिक उपयुक्त होता है। कन्दों पर से छिलकेदार शल्कपत्रों को साफ कर समूचे अथवा गोल-गोल कतरेनुमा टुकड़े काट छायाशुष्क कर, अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में विषैली औषधियों के साथ पृथक् रूप से रखना चाहिए। बीजों को पक्व फलों से प्राप्त कर उपर्युक्त विधि से रखें। सुरंजान कन्द एवं बीज चूर्ण, हरनतूतिया एव कॉल्चिसीन को अम्बरी रंग की शीशियों में अच्छी तरह मुखबंद करके (ताकि अन्दर वायु एवं आर्द्रता न प्रविष्ट हो सके) अनार्द्र शीतल एवं अँधेरी जगह में रखें। हरनतूतिया को चौड़े मुँह की शीशियों में रखना अधिक उपयुक्त होगा।

संगठन—भारतीय कड़वे सुरंजान के (शुष्क) कंदों में (०.२०% से ०.२५% तक) कॉल्चिसीन (*Colchicine*) नामक ऐल्केलायड, जो इसका प्रधान कार्यकर वीर्य या सक्रिय घटक होता है, तथा स्टार्च शर्करा, गोंद, टैनिन एवं रंजक तत्त्व आदि उपादान पाये जाते हैं। इसके बीजों (विशेषतः बीजत्वक्) में भी कॉल्चिसीन पाया जाता है, किन्तु कन्दों की अपेक्षा बीजों में अधिक मात्रा (०.३०% से ०.४३% तक) में मिलता है। इसके

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–अर्शोघ्न। कर्म–कफवातशामक, रुचिवर्धक, दीपन-पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, बल्य, रसायन, आर्त्तवजनन, तथा वेदनास्थापन आदि।

मुख्य योग – बृहत् एवं स्वल्प सूरणमोदक।

विशेष – शाकार्थ व्यवहार करने के लिए इसकी तीक्ष्णता को कम करने के लिए, पहले सूरण को नीबू, इमली आदि खट्टे पदार्थ अथवा फिटकरी के साथ जल में उबाल लेना चाहिए।

तीक्ष्ण एवं उष्ण होने से यह रक्तपित्त प्रकोपक होता है, अतएव चर्मरोग वाले तथा रक्तपित्त के रोगियों को सूरण का प्रयोग यथासम्भव नहीं करना चाहिए।

सेमल (शाल्मली)

नाम। सं० – शाल्मली, मोचा, कंटकाढ्या, तूलिनी, स्थिरायु। हिं०–सेमल, सेमर, सेंवर, सेंवल, लाल सेमल। बं०–शिमुलगाछ। म०–लाल साँवर, काँटे सामर। गु०–शीमलो। पं०–सिंवल। अं०–रेड सिल्क-कॉटन ट्री (*Red silk-cotton tree*)। ले०–बॉम्बाक्स सेइबा *Bombax ceibe L.* (पर्याय–*B. malabaricum DC.*) *Salmalia malabaricum (DC.) Schott. and Eendl.*। **जड़**–हिं०–सेमलमूसला, सेमल मुशली, सेमलकंद (यह १–२ वर्ष आयु के वृक्षों की जड़ होती है)। **गोंद** या निर्यास––सं०–शाल्मलीवेष्ठ, मोचास्राव। हिं०–मोचरस, सुपारी का फूल। गु०, म०, क०, ता०, ते०, बम्बई–मोचरस। फा०–गुलसुपारी, गुले फ़ोफ़ल।

वानस्पतिक कुल – शाल्मली-कुल (बॉम्बाकासे *Bombacaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के समस्त उष्णत्तर जंगलों में इसके स्वयंजात वृक्ष पाये जाते हैं। गाँवों के आस-पास सड़कों के किनारे एवं बगीचों में इसके वृक्ष लगाये भी जाते हैं। सेमलमूसला एवं मोचरस बाजारों में पंसारियों के यहाँ अथवा वनौषधि विक्रेताओं के यहाँ बिकते हैं।

संक्षिप्त परिचय – सेमल के ऊँचे-ऊँचे, कँटीले तथा पतझड़ करने वाले या पर्णपाती वृक्ष होते हैं, जो प्रायः दीर्घ जीवी होते हैं। काण्डस्कन्ध सीधा, काफी मोटा तथा पुराने वृक्षों में आधार की ओर (जड़ के पास) काफी फूला या मोटा अर्थात् पुश्ताजड़ (*Buttressed*) होता है। शाखाओं पर सर्वत्र शंक्वाकार कण्टक (*Conical prickles*) पाये जाते हैं। पत्र करतलाकार खण्डित (*Digitate*) होते हैं, जो १५ सें० मी० से ३० सें० मी० या ६–१२ इंच उंठल पर धारण किये जाते हैं। पत्रखण्ड या पत्रक प्रत्येक पत्ती में (*Leaflets*) संख्या में ५–७ होते हैं, जो १५ सें० मी० से २२.५ सें० मी० या ६–६ इंच लम्बे, ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३–५ इंच चौड़े, भालाकार, अभिलट्वाकार या प्रतिभालाकार (*Oblanceolate*) लम्बाग्र एवं सरल तट वाले होते हैं जो २.५ सें० मी० या १ इंच तक लम्बे वृन्तकों (*Petiolules*) पर धारण किये जाते हैं। इसमें बड़े आकार के तथा मोटे दलों के लाल पुष्प लगते हैं। वाह्य कोष कटोरीनुमा तथा काफी मोटा या गूदेदार होता है, जिसकी लोग तरकारी बनाते हैं। दलपत्र (*Petals*) नारंग वर्ण के अथवा गाढ़े लाल रंग के होते हैं, जो ७.५ सें० मी० से १५ सें० मी० या ३–६ इंच लम्बे, रूपरेखा में आयताकार, तथा वाह्य तल पर श्वेतरोमावृत (*White tomentose*) होते हैं। फल (*Capsule*) १२.५ से १७.५ सें० मी० या ५–७ इंच लम्बा, लम्बगोल या अंडाकार तथा पंचकोणीय (*5-angled*) होते हैं, जिनके फटने पर अन्दर अभिलट्वाकार, चिकने तथा काले बीज निकलते हैं, जिनके चारों ओर सफेद रेशमी रूई लगी होती है। सेमल की रूई तकिया एवं गद्दों में भरने के लिए बहुत अच्छी समझी जाती है। बिनौलों की भाँति बीजों से तेल भी प्राप्त किया जाता है। जाड़े के अन्त में फूल आते हैं और गर्मी के दिनों में फल पकते हैं। पुराने वृक्षों की त्वचा में एक प्रकार के कृमि लगने से छोटे-छोटे कोटर से बन जाते हैं, जिसमें जेली की भाँति गाढ़ा स्राव जमा होता रहता है। स्राव अधिक हो जाने पर उसके दबाव से वहाँ की त्वचा फट जाती है और स्राव बाहर निकल कर जम जाता है। यही 'मोचरस' होता है।

उपयोगी अंग – निर्यास (मोचरस) एवं सेमलमूसला (१–२ वर्ष आयु के पौधों की जड़)।

मात्रा – मोचरस–१.५ ग्राम से ३ ग्राम या १॥ से ३ माशा। सेमल मुशली––६ ग्राम से १२ ग्राम या ६ माशा से १ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) मोचरस––ताजा मोचरस प्रायः श्वेताभ होता है, जो धीरे-धीरे लाल रंग का हो जाता है,

और अन्ततः सूख कर लाल रंग के अश्रुवत् टुकड़ों के रूप में ही जाता है, जो भंगुर (*Brittle*) होते हैं। बड़े टुकड़े प्रायः अन्दर से खोखले हो जाते हैं। सूखे मोचरस को जल में भिगाने से यह फूल कर पूर्ववत् आकार-प्रकार को धारण कर लेता है। स्वाद में मोचरस अत्यंत कसैला होता है। (२) **सेमल का मूसला**—छाल उतारा हुआ सेमल का मूसला पीताभ श्वेत वर्ण का, कोमल तथा लुआबी (*Mucilaginous*) होता है। पानी में भिगोने से काफी मात्रा में स्वच्छ लुआब निकलता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट—श्वेत शालमली या 'कूटशालमली' सेईवा पेंटांड्रा *Ceiba pentandra (L.) Gaertn.* (पर्याय—*Eriodendron anfractuosum DC.*) रक्तशालमली का उत्तम प्रतिनिधि द्रव्य है। इसका निर्यास भी गाढ़े लाल रंग का होता है। जिन प्रान्तों में रक्त शालमली कम होता है तथा वहाँ कूट शालमली के वृक्ष अधिकता से पाये जाते हैं, वहाँ इसके उन सभी अंगों का व्यवहार रक्त शालमली की ही भाँति किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण—मोचरस एवं सेमल मूसली को अच्छी तरह डाटबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन—मोचरस में प्रधानतः टैनिक एसिड (कषायाम्ल) एवं गैलिक एसिड (मायाफलाम्ल) पाया जाता है। सेमल मूसले में काफी मात्रा में लुआबी तत्त्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि—सेमल मूसला—१ वर्ष।
मोचरस—दीर्घकाल तक।

स्वभाव—गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। रस—मधुर (मोचरस—कषाय)। विपाक—मधुर (मोचरस—कटु)। वीर्य—शीत। कर्म। (मोचरस)—स्तम्भन, व्रणरोपण, रक्तस्तम्भन, शुक्र-स्तम्भन। (सेमलमूसली)—बल्य, वृष्य, बृंहण। (कच्चे फल)—कासहर, मूत्रल। (पुष्प)—रक्तस्तम्भन। यूनानी मतानुसार सेमलमूसली पहले दर्जे में गरम और तर तथा मोचरस दूसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है।

मुख्य योग—शालमली घृत, पुष्यानुगचूर्ण, बृहद् गंगाधरचूर्ण।

विशेष—चरकोक्त (सू० अ० ४) पुरीषविरजनीय महा-कषाय में शालमलि एवं शोणित स्थापन, वेदनास्थापन गण तथा कषायस्कन्ध (वि० अ० ८) और सुश्रुतोक्त प्रियङ्ग्वादि गण में मोचरस का उल्लेख है।

सेव (सिम्बितिका)

नाम। सं०—सिम्बितिका, सेव। हिं०—सेव, सेव। गु०, म०—सफरचंद। सिंध—सूफ़। अ०—तुफ़ाह। अं०—एपल (*Apple*)। ले०—पीरस मालुस (*Pyrus malus Linn.*)। लेटिन नाम वृक्ष का है।

वानस्पतिक कुल—तरुणी-कुल (*Rosaceae*)।

प्राप्तिस्थान—उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष में (विशेषत कश्मीर, कुमाऊँ, गढ़वाल, कांगड़ा, पंजाब आदि) इसके वृक्ष लगाये जाते हैं। अब यह सिंध, मध्य भारत और दक्षिण भारत तक फैल गया है। कश्मीर एवं उत्तर-पश्चिम हिमालय में सेव कहीं-कहीं (लगभग २७४३ मीटर या ९,००० फुट की ऊँचाई तक) जंगली भी मिलता है। यह सर्वत्र बाजारों में मेवाफरोशों के यहाँ मिलता है। फसल के समय में अधिक और अपेक्षाकृत सस्ता मिलता है। प्रशीतक संग्रहालयों (*Cold storage*) में भी सेव का संरक्षण किया जाता है, जिससे बड़े शहरों में वर्ष भर फल बेचने वालों के यहाँ यह उपलब्ध होता है।

संक्षिप्त परिचय—सेव के छोटे कद के वृक्ष (कभी ९ मीटर या ३० फुट तक) होते हैं। कोमल शाखाएँ, पत्तियों के अधस्तल तथा पुष्पव्यूह श्वेत मृदुरोमावृत होते हैं। पत्तियाँ ५ से ७.५ सें०मी० या २-३ इंच लम्बी, रूपरेखा में लट्वाकार, नुकीले अग्र तथा दन्तुर धारवाली होती हैं। पुष्प ३.७५ से ५ सें० मी० या १॥-२ इंच लम्बे तथा गुलाबी रंग के होते हैं। वाह्य कोश सघन रोमावृत होता है। फल गोलाकार, छोटे-बड़े तथा दोनों सिरों पर धँसा हुआ तथा एक छोटे डंठल से युक्त होता है। स्थान एवं स्वाद भेद से यह खट्टा, खटमिट्ठा तथा मीठा कई तरह का होता है। कश्मीरी सेव अधिक अच्छे होते हैं।

उपयोगी अंग—पक्व फल।

मात्रा—सेव का मुरब्बा—१ से २ तोला।
शर्बत (पानक)—२ से ४ तोला।
रुब्ब सेव—१ से १॥ तोला।

संग्रह एवं संरक्षण—फसल के समय पके फलों को लेकर मुरब्बा आदि बना कर शीशे के पात्रों में संरक्षित करना चाहिए।

संगठन—सेव में ८०% तक जलांश, तथा इसके अतिरिक्त ऐल्ब्युमिन, शर्करा, निर्यास, हरितरंजन द्रव्य, सेवाम्ल (मेलिक एसिड), सुधा (कैल्सियम) एवं विपुल प्रमाण

में फॉस्फोरस प्रभृति उपादान होते हैं ।

वीर्यकालावधि – मुरब्बे आदि कल्पों के रूप में दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, स्निग्ध । रस–मधुर, कषाय । विपाक–मधुर । वीर्य–शीत । प्रभाव–हृद्य । कर्म–वात-पित्त शामक; रोचन, दीपन, यकृद्‌बल्य, अल्पमात्रा में ग्राही और अधिक मात्रा में मृदुरेचन । (आमाशय की अम्लता को भी कम करता है), हृद्य, रक्तशोधक, मस्तिष्कबल्य, बृंहण, बल्य, वर्ण्य, ज्वरघ्न, दाहप्रशमन, मूत्रल, अश्मरी-नाशन । यूनानी मतानुसार मीठा सेव पहले दर्जे में गरम और तर तथा खट्टा पहले दर्जे में सर्द और खुश्क है ।

मुख्य योग – सेव का मुरब्बा, शर्बत सेव एवं रुब्ब सेव ।

सेहुण्ड (स्नुही)

नाम। सं०–स्नुक्, स्नुही, गुडा, सुधा, सेहुण्ड, वज्री, महावृक्ष । हिं०–थूहर, थूहड़, सेंड, सेहुंड । पं०, मा०, गु०–थोर । काठियावड़–कंटालो थोर । म०–निवडुंग, कांटे निवडुंग । बं०–मनसासिज, मनसा गाछ । अ०–ज़कूम । ले०–(१) एउफ़ॉर्बिआ नेरिईफ़ोलिआ *Euphorbia neriifolia Linn*; (२) एउफ़ॉर्बिआ निवूलिआ *Euphorbia nivulia Buch. Ham.* ।

वानस्पतिक कुल–एरण्ड-कुल (एउफ़ॉर्बिआसे *Euphorbiaceae*)।

प्राप्तिस्थान– दकन का पठार राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश एवं उड़ीसा आदि में इसके (*E. neriiolia L.*) जंगली क्षुप प्रचुरता से पाये जाते हैं । समस्त भारतवर्ष में लगाया जाता है । बलचिस्तान एवं मलाया द्वीपसमूह आदि में भी मिलता है । गाँवों के आसपास बाड़ों पर लगाये हुए इसके वृक्ष अधिक मिलते हैं । *E. nivulia Buch.Ham.* शुष्क और नग्न पहाड़ियों पर अधिक होता है । इसके लगाये हुए क्षुप भी मिलते हैं ।

संक्षिप्त परिचय – (१) *E. neriifolia L.*– इसके सशाख बड़े गुल्म या छोटे वृक्ष (१.८ मीटर से ७.५ मीटर या ६-१५ फुट ऊँचे) होते हैं । कंटकीभूत अनुपत्रों (*Stipular spines*) के जोड़े उपशाखाओं (*Branchlets*) की ऊँची बाह्य वृद्धियों (*Tubercles or swellings*) पर स्थित रहते हैं, जो परस्पर मिल कर काण्ड को पंचकोणीय सा बना देते हैं । पत्तियाँ रूपरेखा में अभिलट्वाकार होतीं तथा बहुत-कुछ *E. nivulia* की पत्तियों से स्वरूपतः मिलती-जुलती हैं । अधःपत्रावलि या निचक्र (*Involucres*) पीताभ होता है । फल त्रिकोष्ठीय (*Tricoccous*) होते हैं । कोष्ठ पृथक्-पृथक् होने से तीनों फल पृथक्-से (*Three radiating follicles*) मालूम पड़ते हैं । बीज छोटे-छोटे सरसों के दानों की भाँति तथा खाकस्तरी भूरे रंग के होते हैं । शीत काल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं, और वसन्त में पुष्प और फल लगते हैं । (२) *E. nivulia*—इसके वृक्ष ३ से ६ मीटर या १०-३० फुट तक ऊँचे होते हैं, जिसकी शाखाएँ सीधी, रूपरेखा में गोल (*Terete*), खण्डमय (*Jointed*) तथा चक्राकार क्रमसे (*whorled branches*) निकली होती है, जो दो-दो एक साथ कंटकीभूत उपपत्रों से युक्त होती हैं । पत्तियाँ अस्थायी, मांसल २२.५ सें० मी० या ६ इंच तक लम्बी, ६.२५ सें० मी० या २॥ इंच तक चौड़ी रूपरेखा में रेखाकार प्रतिभालाकार (*Linearoblanceolate*), या स्रुवाकार (*Spathulate*), कुण्ठिताग्र तथा अग्र पर लोमयुक्त (*Apiculate*) एवं अवृन्त होती हैं । एकाभव्यूह में अधःपत्रावलि प्रायः पीताभ होती है । फल, त्रिखण्डीय (*3-lobed*) तथा खण्ड किंचित् चपटे (*Compressed*) होते हैं ।

उपयोगी अंग – मूल, पत्र एवं क्षीर ।

मात्रा – काण्डस्वरस–(बाल मात्रा) १॥ से ३ माशा ।
युवक मात्रा–१॥-२ तोला ।
पत्रस्वरस–२ से ५ बूँद ।
क्षीर (दूध)–६२.५ से १२५ मि० ग्रा० या ½ से १ रत्ती ।
मूलचूर्ण–२५० मि० ग्रा० से ५०० मि० ग्राम या २ से ४ रत्ती ।

संग्रह एवं संरक्षण – २-३ वर्ष पुराने सेहुण्ड से चीरा लगा कर शिशिर ऋतु में दुग्ध का संचय करें । मुखबंद शीशियों में इसे अनार्द्र शीतल स्थान में रखें ।

संगठन – इसमें युफॉर्बोन (*Euphorbine*), राल, निर्यास, रबड़, (काउचूक) एवं कैलसियम आदि तत्त्व पाये जाते हैं ।

वीर्यकालावधि – मूल–१ वर्ष ।

स्वभाव – गुण–लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध । रस–कटु । विपाक–कटु । वीर्य–उष्ण । कर्म–कफवातहर; लेखन, तीव्ररेचन । शोथहर, वेदनास्थापन, कफनिस्सारक, त्वग्दोषहर, विषघ्न आदि । यूनानी मतानुसार सेहुण्ड दूसरे दर्जे में उष्ण और तीसरे में रूक्ष तथा दूध चौथे दर्जे में उष्ण एवं रूक्ष हैं । अहितकर–उष्ण प्रकृति के लिए । निवारण–दूध ।

मुख्य योग – स्नुह्यादि वर्ति, स्नुह्यादि तैल, वज्रक्षार ।

विशेष — अधोभागहर द्रव्यों में 'थूहर' या 'स्नुही' एक उत्तम औषधि है। इसका दूध तीव्र रेचक होता है। किन्तु मात्रा कम होने से प्रयोग की सुविधा के लिए वारीक किये हुए निशोथ या चने के आटे को थूहर दूध से भावित कर चने के बराबर गोलियाँ बना लें और रोगी के बलाबल अनुसार प्रयुक्त करें। इसी प्रकार काली मिर्च के चूर्ण को थूहर के दूध से भावित कर अथवा दूध में सेंधा नमक मिला कर भी गोलियाँ बनायी जा सकती हैं। कफज व्याधियों में विरेचनार्थ यह उत्तम औषधि है।

सोंठ (शुण्ठी)

नाम। सं०–शुण्ठी, शृंगवेर, नागर, विश्वभेषज। हिं०–सोंठ। म०–सुँठी। गु०–सुँठ। अ०–जंजबील याबिस। फा० – जंजबीले खुश्क। अं० – ड्राई जिंजर (*Dry Ginger*)। (वनस्पति का नाम) – ज़ींजीबेर ऑफ़्फ़ीसिनाले (*Zingiber officinale Rosc.*)।

वानस्पतिक कुल – हरिद्राकुल (स्किटामिनासे *Scitamitaceae*)।

संक्षिप्त परिचय – क्षुप-वार्षिक। मूल–ताजे मूल का नाम अदरक (आर्द्रक) तथा शुष्क मूल का नाम शुण्ठी (सोंठ)। काण्ड–०·६ से १·२ मीटर या २ से ४ फुट ऊँचा। शाखा–लगभग ४५ सें० मी० या १.५ फुट। पत्र–बांस के पत्तों के समान तथा स्निग्ध, ३० से ६० सें० मी० १ से २ फुट लम्बे और लगभग १.२५ से २.५ सें० मी० या ½ से १ इंच चौड़े। पुष्प–हरिताभ, बैंगनी, ओष्ठयुक्त। पुष्पवृन्त–१५ से २० सें० मी० या ६ से १२ इंच लम्बा।

उपयोगी अंग – कन्द (भौमिक काण्ड)।

मात्रा – अर्क–१ से ३ तोला।
स्वरस–१ से २ तोला।
चूर्ण–१ से २ ग्राम या १ से २ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में जो सोंठ मिलती है, वह ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २-४ इंच लम्बी, चपटी तथा सशाख एवं मटमैले पीताभ या हल्के भूरे रंग का कन्दाकार भौमिक काण्ड होती है। बाह्य तल अनुलम्ब दिशा में रेखांकित तथा कुछ झुर्रीदार होता है। तोड़ने पर सूखे हुए कन्द खट से टूटते हैं तथा टूटा हुआ तल स्टार्ची मालूम होता है तथा उस पर अनेक रेशे निकले होते हैं। इसमें एक मनोरम सुगंधि पायी जाती है, तथा स्वाद में तीक्ष्ण होती है। उत्पत्तिस्थान भेद से सोंठ के कन्दों में रंग एवं गंधादि में थोड़ा बहुत अंतर पाया जाता है। भस्म अधिकतम ६ प्रतिशत; जल में घुलनशील भस्म न्यूनतम १.७ प्रतिशत। ९० प्रतिशत के ऐल्कोहल में घुलनशील सत्व न्यूनतम ४.५ प्रतिशत। जल में घुलनशील सत्व न्यूनतम १० प्रतिशत। छिलका उतारा हुआ और विशेष रूप से बनाये हुए तन्तुरहित सोंठ को हिन्दी में 'सतुआ सोंठ,' मैदा सोंठ या 'वैतरा सोंठ' तथा अरबी में 'जंजबील सतवा' कहते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – शुष्क कन्द को वायु एवं धूलरहित अनार्द्र और शीतल स्थान में भलीभाँति मुखबन्द किये हुए डिब्बों में या शीशियों में रखें।

संगठन – उड़नशील तैल २ प्रतिशत, वसा, ओलियोरेजिन (जिन्जरीन) तथा म्यूसिलेज एवं श्वेतसार (२ प्रतिशत) आदि।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध (शुण्ठी)। गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण (आर्द्रक)। रस–कटु। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण।

मुख्य योग – तालीशादिचूर्ण, लवंगादि चूर्ण, जवारिश जन्जबील, हिंग्वष्टक चूर्ण आदि।

विशेष – शुंठी या सोंठ त्रिकटु या त्र्यूषण तथा **पंचकोल** का एक द्रव्य है, जो आयुर्वेदीय योगों में प्रचुरता से पड़ते हैं। चरकोक्त (सू० अ० ४) दीपनीय एवं शूलप्रशमन महाकषाय में (शृंगवेर नाम से) तथा सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि गण एवं त्रिकटु गण के द्रव्यों में शुण्ठी भी है।

सोआ (शतपुष्पा)

नाम। सं०–शतपुष्पा। हिं०–सोआ, सोया। बं०–शुल्फा, शलुफा। म०–शेपु। गु०, पं०–सुवा। सिंध–सूआ। मा०–सोवा। अ०–शिबित्त, शिब्बित। फा०–शूद (त)। अं०–इन्डियन डिल फ्रूट (*Indian Dill Fruit* (फल); इन्डियन डिल) *Indian Dill* (वनस्पति)। ले०–आनेथुम फ्रुक्टुस *Anethum Fructus* (*Aneth. Fruct.*) (फल)। (वनस्पति)–आनेथुम सोवा *Anethum sowa Kurz.* (पर्याय–*Peucedanum sowa Kurz.*)।

वानस्पतिक कुल – छत्रक-कुल (ऊम्बेल्ली फ़ेरे *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में जाड़े के दिनों में अन्य पत्रशाकों के साथ सोआ बोया जाता है। इसके सुखाये हुए पक्व फल (बीज के नाम से) बाजारों में बिकते हैं। भूमध्यसागर तटवर्ती प्रदेशों में तथा फ्रांस एवं रूस आदि

में भी होता है।

संक्षिप्त परिचय – सोआ के पौधे ३० से ९० सें० मी० या १-३ फुट तक ऊँचे तथा कोमल होते हैं। पत्तियाँ द्वि-त्रि–विभक्त (*2-3 pinnate*) होती हैं, जिनके अन्तिम खण्ड १.२५ सें० २.५ सें० मी० या ॥–१ इंच लम्बे तथा रेखाकार (*Linear*) होते हैं। इस प्रकार स्थूलतः पत्तियाँ सौंफ की पत्तियों के समान, किन्तु अपेक्षाकृत छोटी तथा सुगंधित होती हैं। पुष्प पीले तथा सौंफ की तरह छत्रयुक्त होते हैं। हरे धनिये की तरह सौंफ के पत्तों को सुगंध के लिए तरकारी में डालते हैं। फल (जिनको बीज कहते हैं) सौंफ के बीज के समान किन्तु उनसे छोटे तथा चपटे होते हैं।

उपयोगी अंग – पत्र, बीज (फल) एवं बीजोत्थ तेल।

मात्रा – बीज–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
बीजोत्थ तेल–१ से ३ बूँद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – (१) बीज (फल)—सोआ के बीज लगभग ⅙ इंच (४ मि० मि०) लम्बे तथा ⅟₁₂ इंच (२ मि०मि०) तक चौड़े होते हैं, तथा चौड़ाई में दोनों ओर एक पर जैसी बारीक झिल्ली लगी होती (*Narrowly winged*) है। पृष्ठ तल पर रेखाएँ अधिक उन्नत एवं स्पष्ट (*Darsal intermediate ridges distinct*) होती हैं। दोनों एकस्फोटीफलार्ध-खण्ड (*Mericarps*) जुटे हुए होते हैं तथा एक वृन्त (*Pedicel*) से लगे होते हैं। प्रत्येक हलखात (*furrow*) में एक-एक बड़ी तेलनलिका (*Vitta*) होती है। सन्धिक तल (*Commissure*) पर दो तेल-नलिकाएँ (*Vittae*) होती हैं। सोआ के बीजों में, एक सुगन्धि पायी जाती है, तथा स्वाद में किंचित् तिक्त, तीक्ष्ण एवं सुगंधित होते हैं। ग्राह्य बीजों में कम-से-कम २% उड़नशील तेल होना चाहिए। सेन्द्रिय अपद्रव्य अधिकतम २% होते हैं।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – विलायती सोआ (पेउसेडानुम ग्रावेओलेन्स *Peucedanum graveolens Benth.*) के बीज भी गुण-कर्म की दृष्टि से देशी सोआ की ही भाँति होते हैं। अब भारतवर्ष में भी यह बोया जाता है। देशी सोआ के बीज विलायती सोआ के बीजों (*European Dill*) की अपेक्षा कम चौड़े तथा अधिक मोटे होते हैं। पृष्ठ तल की रेखाएँ कुछ फीके रंग की होने के कारण अधिक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। पक्ष भी अपेक्षाकृत कम चौड़े (*border less winged*) होते हैं। अन्यथा स्वरूप में और कोई विशेष अन्तर नहीं होता। (२) तेल – सोआ का तेल, रंगहीन अथवा हल्के पीले रंग का द्रव होता है, जो इसके फलों से आसवन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसमें काले जीरे के तेल की भांति सुगंधि पायी जाती है; तथा स्वाद में यह पहले मधुर एवं सुगंधित किन्तु बाद में तीक्ष्ण (*Pungent*) मालूम होता है। १५° तापक्रम पर इसका आपेक्षिक गुरुत्व ०.९४४८–०.९८९६ होता है। इसमें १९-२२% तक कारवोन (*Carvone*) होता है। विलेयता-बराबर आयतन के ऐल्कोहल (९०%) से घुल जाता है। ऑप्टिकल रोटेशन (*Optical rotation*) : +४१° से +४८°। अपवर्तनांक-तालिका (*Refractive index at* २०°)—१.४९१ से १.४९९।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व बीजों (फलों) को सुखा कर मुखबन्द डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें। इसके चूर्ण को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में शीतल स्थान में रखना चाहिए, अन्यथा उड़नशील तेल के उड़ जाने से ओषधि निर्वीर्य हो जाती है। सोआ के तेल को अच्छी तरह मुख-बन्द शीशियों में शीतल एवं अँधेरे स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – सोआ के बीजों में ३-४% एक उड़नशील तेल पाया जाता है, जिस पर इसकी सुगंधि तथा कर्म निर्भर करता है। तेल में एपिओल, (*Dill-apiole* : $C_{12}H_{14}O_4$), एनीथीन (*Anethene* : $C_{10}H_{16}$) नामक द्रव हाइड्रो-कार्बन तथा कारवोन (*Carvone*) से मिलता-जुलता तत्त्व पाया जाता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। कर्म–कफवातशामक, वेदनास्थापन, रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न, शोथहर, हृदयोत्तेजक, कफघ्न, मूत्रल, आर्त्तवजनन, स्तन्यजनन, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, शुक्रनाशन। यूनानी मतानुसार सोआ पत्र दूसरे दर्जे में गरम और पहले में खुश्क तथा बीज एवं तेल तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क हैं। अहितकर (बीज एवं तैल)—मस्तिष्क एवं दृष्टि को तथा कामावसादक। निवारण – सिकंजबीन और अम्ल द्रव्य।

मुख्य योग – अर्क सोआ।

सोनापाठा (श्योनाक)

नाम। सं०–श्योनाक, शुकनास, टिण्टुक, अरलु, दीर्घवृन्त, पृथुशिम्ब। हिं०–सोनापाठा। देहरादून–तारलू। गढ़वाल–टंटिआ। कु०–फरकट, ढोलदगड़ों। खर०–सोनपत्ता। था०–सोना। को०–रेंगेवनम्। संथा०–वनहाटक, वनहटा। गोंड–जयमंगल। राँची–कनसुपती, भालूसुपली। लाट–खड़्वार। वं०–शोणा। म०–टेंटू। मिर्जापुर एवं विन्ध्य के जंगल–डगडौआ। ले०–ओरोक्सीलुम ईडिकुम (*Oroxylum indicum Vent.*)।

वानस्पतिक कुल – श्योनाक-कुल (बिग्नोनिआसे *Bignoniaceae*)।

प्राप्तिस्थान –भारतवर्ष के पश्चिमी शुष्क प्रदेशों को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र श्योनाक के जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। इसकी मूलत्वक् (जड़ की छाल) वृहत् पंचमूल में पड़ती है, और पंसारियों के यहाँ बिकती है।

संक्षिप्त परिचय – श्योनाक के छोटे-छोटे (४.५ से ७.५ मीटर या १५-२५ फुट तक ऊँचे कभी-कभी उपयुक्त परिस्थिति में ५० फुट या १५.२३ मीटर तक) वृक्ष होते हैं, जिसमें शाखाएँ थोड़ी होती हैं, तथा पत्तियाँ शाखाग्रों पर समूहवद्ध होकर स्थित होती हैं। पत्तियाँ ०.६ से १.२ मीटर या २-४ फीट लम्बी, द्वि–या त्रिपक्षाकार तथा अभिमुख क्रम से स्थित होती हैं। नीचे की पत्तियाँ प्रायः त्रि-पक्षाकार (*3-pinnate*), मध्य की द्विपक्षाकार (*Bi-pinnate*) और शीर्ष के पास की सकृत्पक्षवत् (*Simply pinnate*) होती हैं। उपपक्ष या पक्षक (*Pinnæ*) ३-४ युग्म, पक्षकी या पिन्यूल (*Pinnules*) ३-५ पत्रक होते हैं। पत्रक ७.५ से १२.५ सें० मी० या ३.५ इंच तक लम्बे, ५ से ८.७५ सें० मी० या २-३।। इंच तक चौड़े, रूपरेखा में चौड़े लट्वाकार, लम्वाग्र तथा अखण्ड और चिक्कण, पत्रनाल और पत्रदण्ड पर दाने पड़े होते हैं। पुष्पवाहक दण्ड (*Peduncle*) वहुत लम्वा (६० से ९० सें० मी० या २-३ फीट तक) होता है। पुष्प वहुत वड़े, मांसल और जामुनी रंग के तथा दुर्गन्वित होते हैं, जो अग्र्यनम्र मञ्जरियों (*Lax terminal racemes*) में सवृन्त काण्डज क्रम से निकले होते हैं। पुष्पवृन्त २.५ से ३.७५ सें० मी० १-१।। इंच लम्बे होते हैं। पुटचक्र (वाह्य कोश) २.५ सें० मी० या १ इंच लम्वा, १.५ सें० मी० या ¾ इंच चौडा, चर्मिल तथा रूपरेखा में कुछ-कुछ अंगुस्ताना (*Thimble*) के आकार का होता है। दलचक्र (आभ्यन्तर कोश) घंटिकाकार होता है, जिसमें नलिका वाहर से हरिताभ किन्तु पत्र लाल रंग के होते हैं। पुंकेशर संख्या में ५ और प्रायः सभी प्रगल्भ होते हैं। फली (*Capsule*) तलवार-जैसी टेढी, चिकनी, कठोर, ३० सें० मी० से ७५ सें० मी० या १-२।। फीट लम्बी, ५ सें० मी० या ८.७५ सें० मी० या २-३।। इंच चौड़ी होती है। वीज चपटे और आधार के अतिरिक्त चारों ओर सफेद झिल्लीदार पंखयुक्त होते हैं। वसन्त (मार्च-अप्रैल) में प्रायः वृक्ष पत्रहीन हो जाता है, जिसमें केवल तलवार-जैसी फलियाँ लटकी रहती हैं। इसके वाद नये पत्ते आते हैं। ग्रीष्म एवं वर्षा के प्रारम्भ में पुष्पागम तथा जाड़ों में फलागम होता है।

उपयोगी अंग – मूलत्वक्।

मात्रा – मूलत्वक् चूर्ण–१.२५ ग्राम से २.५० ग्राम या १० से २० रत्ती।

स्वरस–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – श्योनाक के जड़ की छाल मोटी, वाहर से भूरे रंग की और अन्तस्तल पर पीले रंग की होती है। तोड़ने से यह खट से टूटती (*Fracture short*) है। इसमें कोई गंध नहीं होती तथा स्वाद में कुछ कड़ुआहट लिये हल्की तीती होती है। श्योनाक की ताजी जड़ वाह्यतः खाकस्तरी या हल्के भूरे रंग की होती है, जो कुछ गुलावी या वैंगनी आभा लिये होती है। रूपरेखा में वेलनाकार तथा मोटी और कड़ी (*Woody*) होती है, और वाह्य तल चिकना तो होता है, किन्तु इस पर सूक्ष्म दरारें (*Faintly fissured*) भी होती हैं। सूखी हुई जड़ सिकुड़ी हुई होती है तथा त्वचा अनुलम्ब दिशा में झुर्रीदार (*Longitudinally wrinkled*) होती है। छाल का वाह्य तल चिकना, पतला और अत्यंत मुलायम होता है और जरा-सी खरोंच से छिल जाता है। ताजी जड़ों में छाल देखने में मोटी ६.२५ से १२.५ मि० मी० या ¼ से ½ इंच) रसदार और कुछ फूली हुई सी (*Turgid*) तथा मटमैले सफेद रंग की या पीताभ वर्ण की होती है; किन्तु हवा में खुली रहने से यह हरिताभ वर्ण की हो जाती है। ताजी जड़ का अनुप्रस्थ-विच्छेद (*T. S.*) करने पर उक्त परिवर्तन छाल के अन्दर के भाग से प्रारम्भ होकर वाहर की ओर फैलता है। जड़ के सूखने पर छाल सिकुड़ती तथा काष्ठीय भाग से मजवूती से चिपकी होती है

और कठिनाई से पृथक् होती है। ताजी छाल स्वाद में प्रथम मधुरता लिये लुवावी और वाद में कुछ तीती मालूम होती है; किन्तु सूखी छाल में तिक्तता अपेक्षाकृत बहुत कम हो जाती है। तोड़ने पर छाल का अधिकांश वाहरी भाग खट से टूटता है, किन्तु अन्दर का कुछ भाग रेशेदार (*Fibrous*) होता है। काण्डत्वक्-मूलत्वक् की अपेक्षा यह कम रसदार तथा मधुर होती है, किन्तु रचना में उसकी अपेक्षा अधिक चर्मिल या चिमड़ी (*More leathery or tough*) होती है। ताजी छाल को काटने पर इसमें भी मूलत्वक् की भाँति रंग परिवर्तन (हरिताभ) लक्षित होता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – कभी-कभी 'घोड़ानिंव' या घोड़ाकरञ्ज (*Ailanthus excelsa Roxb.*) जिसे उत्तर प्रदेश में कहीं-कहीं अरुअ भी कहते हैं, की छाल अरलु और इस प्रकार श्योनाक के नाम से संग्रहीत एवं प्रयुक्त की जाती है। किन्तु यह भ्रमपूर्ण है। आइलाथुस एक्सेलसा के वृक्ष विहार, छोटा नागपुर मध्यप्रदेश, दकन तथा विजगापट्टम् एवं गंजम के जंगलों में प्रचुरता से पाये जाते हैं। अन्यत्र भी सड़कों के किनारे तथा शहरों में भी इसके लगाये वृक्ष मिलते हैं। पत्तियाँ आपाततः देखने में नीम-जैसी किन्तु अपेक्षाकृत बहुत वड़ी एवं कुछ दुर्गंधित-सी होती है। लकड़ी नरम और हल्की होती है। अतएव जरा हवे की झोंक से इसकी मोटी-मोटी शाखें टूट जाती हैं। पीताभ पुष्पों की वड़ी-वड़ी मञ्जरियाँ और पंखदार फल होते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – श्योनाक के मूलत्वक् का संग्रह जाड़ों में करना चाहिए; और इसे छायाशुष्क करके अनार्द्र शीतल स्थान में मुखवन्द पात्रों में रखना चाहिए। ताजी जड़ से ही छाल को पृथक् कर लेना चाहिए, क्योंकि सूखने पर जड़ से छाल आसानी से पृथक् नहीं होती। कालान्तर से इसके कृमि भक्षित होने की आशंका अधिक रहती है। संरक्षण में इसका ध्यान रखना चाहिए।

संगठन – इसके मूलत्वक् में ओरोक्सीलिन (*Oroxylin*) नामक क्रिस्टलाइन स्वरूप का तिक्त ग्लुकोसाइड, एक कटु तत्त्व, पेक्टिन, वसा, मोम, क्लोरोफिल एवं अल्पतः सीट्रिक एसिड प्रभृति तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – कुछ महीनों तक।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष। रस–तिक्त, कषाय। विपाक–कटु। वीर्य–शीत। कर्म–त्रिदोषशामक; शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणरोपण, दीपन-पाचन (तथा आमपाचन), स्तम्भन, कफघ्न, मूत्रल, स्वेदजनन, ज्वरघ्न, अल्पमात्रा में कटु पौष्टिक।

मुख्य योग – वृहत् पंचमूल, श्योनाक-पुटपाक।

विशेष – चरकोक्त अनुवासनोपग, पुरीषसंग्रहणीय, शोथहर तथा शीतप्रशमन महाकषायोक्त (च० सू० अ० ४) द्रव्यों में और कषायस्कन्धोक्त (च० वि० अ० ८) में श्योनाक का भी उल्लेख है। सुश्रुतोक्त अम्बष्ठादि गण एवं वृहत्पञ्चमूल में भी श्योनाक है।

सोम ? (एफिड्रा)

नाम। सं०–सोम ? हिं०–टूटगंठा, तूतगांठा (चकरौता)। पं०–असमानिया, चेवा। वं०–सोमकल्पलता। (सतलज की घाटी)–फोक। ईरान–होम। चीन—माहुअंग। जापान–माओह। ले०–(१) एफ़ेड्रा गेरार्डिआना *Ephedra gerardona Wall* (पर्याय–*E. vulgaris Hak. f. non Rich.*)। (२) एफ़ेड्रा नेव्रोडेन्सिस् (*Ephedra nebrodensis Tineo.*)।

वानस्पतिक कुल – सोम-कुल (*Gnetaceae*)।

प्राप्तिस्थान – हिमालय प्रदेश में कश्मीर से सिक्कम तक २१३३.६ से ४८७६.८ मीटर या ७,०००-१६,००० फुट की ऊँचाई तक विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वयंजात क्षुप पाये जाते हैं। चम्बा, कुलु, लाहुल, लदाख, वशहर तथा चकराता आदि में प्रायः इसके पौधे मिल जाते हैं। सीमाप्रान्त, वजीरिस्तान एवं ईरान में भी एफिड्रा पाया जाता है। इसका शुष्क पंचाङ्ग पंसारियों के यहाँ विकता है। इसके विशिष्ट व्यापारियों के यहाँ से सीधे भी मंगाया जा सकता है।

संक्षिप्त परिचय – एफ़ेड्रा के छोटे (६ इंच से ३॥ फुट तक ऊँचे) सर्पणशील झाड़ीनुमा क्षुप होते हैं। काण्ड पतला किन्तु कड़ा और पर्वो पर कुछ मोटा या ग्रंथिल-सा होता है। इसकी जड़ में से ही स्तम्भ समूह निकलते हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटती हैं। प्रति ग्रंथि पर दो और अभिमुख या अनेक और एक चक्र में शाखाएँ निकलती हैं। ये हरी और रेखांकित होती हैं। पुराने काण्ड की त्वचा, धूसर होती है। आपाततः देखने में एफिड्रा की शाखाएँ पत्र-रहित मालूम होती हैं। केवल ग्रंथियों पर शल्क सदृश

पत्र होते हैं। इन शल्क पत्रों के मिलने से एक पीताभ या भूरा द्विविभक्त कोष बना होता है। नर पुष्पों की विदण्डिक मञ्जरियाँ (*Male spikes*) अकेली या २-३ के गुच्छे में रहती हैं। इन पर ४-८ नर पुष्प होते हैं। नारी पुष्पों (*Female cones*) की मञ्जरी अकेली और १-२ पुष्पों की होती है। फल लट्वाकार, लाल, मांसल और दो काले बीजों से युक्त होता है। स्थानिक लोग फलों को खाते हैं। पंचाङ्ग का संग्रह व्यावसायिक रूप से काफी परिमाण में किया जाता है। अंग्रेजी औषधि निर्माण-शालाओं में इसकी काफी माँग है। इससे एफेड्रीन नामक ऐल्केलायड पृथक् किया जाता है, जिसके यौगिक श्वास या दमा के दौरे को रोकने के लिए रामबाण औषधि के रूप में व्यवहृत होते हैं।

उपयोगी अंग – पंचाङ्ग।

मात्रा – चूर्ण–६२५ मि० ग्रा० से १.२५ ग्राम या ५ से १० रत्ती।

क्वाथ–२ से ४ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजारों में एफेड्रा का शुष्क काण्ड मिलता है, जो ग्रंथियों पर टूट कर टुकड़े-टुकड़े के रूप में होता है। इसमें चीड़ से मिलती-जुलती उग्र सुगंधि पायी जाती है और स्वाद में यह अति कसैला होता है। एफेड्रा की सक्रियता इसमें पाये जाने वाले एफेड्रीन नामक ऐल्केलायड् पर निर्भर करती है। उत्पत्तिस्थान एवं संग्रह-काल आदि के भेद से इसकी मात्रा में भी न्यूनाधिक्य पाया जाता है। उत्तम नमूने में कम-से-कम १¼% एफेड्रीन होती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – एफेड्रा का प्रयोग चीन में अतिप्राचीन काल से होता आरहा है। औषधीय दृष्टि से चीन में भी एफेड्रा की दो महत्त्व की जातियाँ (*Species*) पायी जाती है—(१) एफेड्रा सिनिका (*Ephedra sinica Stapf.*) तथा (२) एफेड्रा एक्विसेटिना (*E. equisetina Bunge.*)। यूरोपीय देशों में एफेड्रा का आयात मुख्यतः चीन से ही होता था। किन्तु अब अपने देश में भी इसकी अनेक महत्त्व की जातियों का पता लग गया है। एफेड्रीन की दृष्टि से भारतीय जातियाँ कहीं उत्कृष्टतर होती हैं। उक्त सक्रिय प्रजातियों के अतिरिक्त एफेड्रा की अन्य अनेक जातियाँ भी पायी जाती हैं, जो औषधीय दृष्टि से अग्राह्य हैं। भारत में नेपाल का एफेड्रा सर्वोत्तम होता है।

संग्रह एवं संरक्षण – एफेड्रीन की अधिकतम मात्रा हरी शाखाओं में पायी जाती है। जाड़ों में अन्य ऋतुओं की अपेक्षा एफेड्रीन अधिकतम पायी जाती है। अतएव हिमपात के पूर्व ही इसका संग्रह कर अच्छी तरह छाया-शुष्क कर लें और मुखबन्द डिब्बों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षण करना चाहिए और इसे प्रकाश से बचाना चाहिए।

संगठन – इसमें ०.२८ से २.८ प्रतिशत तक एफेड्रीन नामक ऐल्केलायड पाया जाता है, जो इसका मुख्य सक्रिय तत्त्व होता है।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

उपयोग – तमकश्वास का दौरा रोकने के लिए यह परमोपयोगी औषधि है।

मुख्य योग – श्वासारि चूर्ण।

स्याहजीरा – दे०, 'जीरा, स्याह'।

स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) ?

नाम। सं०–स्वर्णक्षीरी ?। हिं०–सत्यानाशी (सी), भड़-भाँड़। बं०–शियालकाँटा। म०–कांटेधोत्रा, पिवला धोत्रा। गु०–दारुडी। सिं०–खरकां ढेरी। अं०–मेक्सिकन पॉपी (*Mexican Poppy*), यलो पॉपी (*Yellow poppy*)। ले०–आर्गेमोने मेक्सीकाना (*Argemone mexicana Linn*)।

वानस्पतिक कुल – अहिफेन-कुल (पापावेरासे : *Papaveraceae*)।

प्राप्तिस्थान – भड़भाँड़ उत्तरी अमेरिका के मेक्सिको प्रान्त तथा पश्चिमी द्वीपसमूह का आदिवासी पौधा है, किन्तु अब सर्वत्र भारतवर्ष में (विशेषतः सड़कों के किनारे तथा ऊसर-परती भूमि में) नैसर्गिक रूप से पाया जाता है।

संक्षिप्त परिचय – भड़भाड़ के ३० सें० मी० से १.२ मीटर या १-४ फुट तक ऊंचे, कोमलकाण्डीय, कँटीले क्षुप होते हैं इसके पत्र, काण्ड, पुष्प तथा फल प्रायः सभी अवयव कांटेदार होते हैं, और उनके तोड़ने पर पीला दूध निकलता है। पत्तियाँ ७.५ से १७.५ सें० मी० या ३-७ इंच लम्बी, अवृन्त, आधे दूर तक काण्डसंसक्त (*Amplexicaul*), किनारे लहरदार–खण्डित (*Sinuate-pinnatifid*) होती हैं, जिनका पृष्ठ श्वेत हरित चित्रित होता है। पुष्प

अस्थिभग्न एवं अभिघातज शोथ आदि में हड़जोड़ के काण्ड एवं पत्रकल्क का लेप करते हैं अथवा इससे सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। स्थानिक प्रयोग के साथ-साथ उक्त अवस्थाओं में इसका स्वरस भी पिलाते हैं। अग्निमांद्य, अजीर्ण, अर्श, वातरक्त एवं उपदंश आदि में भी इसका मौखिक सेवन किया जाता है। नकसीर में इसके स्वरस का नस्य देते हैं तथा कर्णस्राव में स्वरस कर्ण बिंदु के रूप में प्रयुक्त होता है।

मुख्य योग – अस्थिसंहार तैल।

हरड़ (हरीतकी)

नाम। सं०–हरीतकी, अभया, पथ्या, शिवा, अव्यथा। हिं०–हड़, हरड़, हर्रे, हर्रै। बं०–हर्तकी। पं०–हर। म०–हरड़ा। गु०–हरडे। ने०–हेरडो। ते०–करक्काय। ता०–कडुक्काय। अं०–चेबुलिक माइरोबेलन्स (*Chebulic myrobalans*))। ले०–टेर्मिनालिआ चेबूला (*Terminalia Chebula Retz.*)।

वानस्पतिक कुल – हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटासे *Combretaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारत विशेषतः काँगड़ा, बम्बई और बंगाल में १५४.६ मीटर से ६१४.४ मीटर या १,००० से ३,००० फुट की ऊंचाई के प्रदेशों में।

संक्षिप्त परिचय – वृक्ष–ऊंचा। प्रकांड–लम्बा, सीधा, पुष्ट तथा शाखावान्। शाखा-कोमल, गोल। पत्र–आकार में वासक पत्र के समान, ७.५ सें० मी० से २० सें० मी० या ३ से ८ इंच लम्बा, ३.७५ से ६.२५ सें० मी० या डेढ़ से ढाई इंच चौड़ा, मसृण, हरित तथा लगभग अभिमुख क्रम से स्थित। पर्णवृन्त–लगभग २.५ सें० मी० या १ इंच तक। पुष्प श्वेताभ तथा लम्बी मञ्जरियों में। पुष्पागमकाल–वसंत। फल–२.५ से ५ सें० मी० या १ से २ इंच लम्बा तथा कठोर।

उपयोगी अंग – फल साधारणतया तीन रूपों में प्राप्त होते हैं–(१) **पक्व फल या बड़ी हरड़**-इसे अमृतसरी हरड़ भी कहते हैं। यह फल पूर्णतया प्रगल्भ एवं परिपक्व होता है। (२) **अर्धपक्व फल**–इसे 'पीली हरड़' कहते हैं। इसका वर्ण भूरा पीला, लम्बाई लगभग २.५ से ३.७५ सें० मी० या १ इंच से डेढ़ इंच तक तथा चौड़ाई आधे से एक इंच तक होती है। लम्बाई की दिशा में फल के बाह्य तल पर ५-६ उन्नत रेखाएँ या धारियाँ होती हैं, जो स्पर्श में कठोर होती हैं। इसका गूदा ३ मि० मी० से ४ मि० मी० या $\frac{3}{25}$ इंच से $\frac{4}{25}$ इंच मोटा, बीज से असंसक्त, गंधहीन तथा स्वाद में कसैला होता है। (३) **अपक्व फल**–इसे 'छोटी हरड़' या 'जंगी हरड़' कहते हैं। इसका वर्ण भूरा काला, तथा आकार में पीली हरड़ से छोटा। दोनों सिरों पर दबा हुआ तथा एक सिरे पर वृन्तक का चिह्न होता है। लम्बाई में उन्नत रेखाएँ या धारियाँ होती हैं। छोटी हरड़ प्रायः गन्धहीन और स्वाद में कषाय तथा किंचित् तिक्त होती है।

मात्रा – छोटी हरड़ (घृत में भुनी हुई) चूर्ण १.५ ग्राम से ३ ग्राम या डेढ़ से तीन माशा।
बड़ी हरड़ (विरेचनार्थ) चूर्ण–३ ग्राम से ६ ग्राम या ३ से ६ माशा।
बड़ी हरड़ (रसायनार्थ) चूर्ण–१.५ से ३ ग्राम या डेढ़ से तीन माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – डेढ़ तोले से अधिक वज़न की, भरी हुई, छिद्ररहित, छोटी गुठली और बड़े वक्कल दल वाली हरड़ उत्तम मानी गयी है। औषधि कार्य के लिए ऐसी ही हरड़ का प्रयोग करना चाहिए।

संग्रह एवं संरक्षण – उत्तम फलों को चैत, वैसाख में ग्रहण कर सुखा कर अनार्द्र और शीतल स्थान में बन्द डिब्बों में रखना चाहिए।

संगठन – टैनिक अम्ल (२० से ४० प्रतिशत तक), गैलिक अम्ल और राल आदि।

वीर्यकालावधि – १-३ वर्ष।

स्वभाव – गुण-लघु, रूक्ष। रस–लवण रस को छोड़ कर शेष सभी पाँचो रस (किन्तु कषायप्रधान)। विपाक–मधुर। वीर्य–उष्ण। प्रभाव–त्रिदोषहर। प्रधान कर्म–दीपन, पाचन, मृदुरेचन (किन्तु स्विन्न हरीतकी ग्राही), रसायन, मेध्य आदि।

मुख्य योग – अभयादि क्वाथ, अभयादि चूर्ण, अभयारिष्ट, इतरीफलसगीर एवं त्रिफला आदि।

विशेष – सुश्रुतोक्त परूपकादि, त्रिफला, आमलक्यादि एवं त्रिवृतादि गण के द्रव्यों में हरीतकी भी है।

हरमल

नाम। हिं०, बम्ब०, बं०–इस्बंद, हरमल। पं०–हुर्मुल। म०–हरमल। गु०–हरमर, हरमल, इस्पन्द, हर्मरो। अ०–ह(हु) रमल, हुर्मुल। फा०–इसपंद, सिपंद। अं०–सीरिअन

रू (*Syrian rue*) । ले०–पेगानुम हर्मला (*Peganum harmala Linn.*) ।

वानस्पतिक कुल – जम्बीर-कुल (रूटासे : *Rutaceae*) ।

प्राप्तिस्थान – हरमल ईरान का आदिवासी पौधा है। सम्प्रति वलूचिस्तान, वज़ीरिस्तान, कुर्रम घाटी, सिंध, कच्छ, पंजाव, कश्मीर, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा दक्षिण के पठार एवं कोंकण आदि में भी होता है। इसके वीज पंसारियों के यहाँ विकते हैं। देशी उपज के अतिरिक्त इसका आयात फारस से भी होता है।

संक्षिप्त परिचय – हरमल के ३० सें० मी० से ९० सें० मी० या १-३ फुट ऊँचे गुल्म स्वभाव के वहुवर्षायु शाकीय पौधे होते हैं। इसका भौमिक भाग तो वहुवर्षायु होता है, किन्तु वायव्य भाग फल पाकान्त होता है। शाखाएँ-प्रशाखाएँ द्वि-विभक्त होती तथा अन्ततः समशिख रूप से स्थित प्रतीत होती हैं। पुष्प सफेद रंग के तथा सवृन्त या अवृन्त होते हैं और एकल क्रम से स्थित होते हैं। फल (*Capsule*) गोलाकार, व्यास में ४.१६ मि० मी० से ८.३ मि० मी० या $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{3}$ इंच, स्पष्टतः त्रिखण्डीय और त्रिकोष्ठीय होता है। प्रत्येक कोष्ठ में १-१ त्रिकोणाकार धूसर वर्ण वीज होता है। इन्हीं वीजों का व्यवहार औषधि में होता है।

उपयोगी अंग – वीज।

मात्रा – १ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – हरमल के वीज २.५ मि० मी० या $\frac{1}{10}$ इंच से लेकर ४.१६ मि० मी० या $\frac{1}{6}$ इंच तक लम्बे तथा १.५ मि० मी० से ३·१ मि० मी० ($\frac{1}{16}$ से $\frac{1}{8}$ इंच) तक चौड़े, रूपरेखा में नानारूप कोणाकार (*Irregularly angular*) तथा मटमैलापन लिये हल्के भूरे रंग के होते हैं। वाजारू वीजों में प्रायः वृन्त तथा वाह्य कोश एवं फलों के अवशेष भी मिले होते हैं। अनुलम्ब दिशा में वीजों को काटने पर अन्दर खाकस्तरी सफेद रंग का तैलीय भ्रूणपोष (*Endosperm*) दिखाई देता है। हरमल के वीज स्वाद में तिक्त होते हैं तथा इनको कुचलने पर तम्वाकू जैसी उग्र मदकारी गंध आती है। इसके वीजों को कुचल कर ऐल्कोहल् या जल में भिगोने पर विलयन में नीली आभा आती है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – दक्षिण भारत में कहीं-कहीं मेंहदी के वीजों को इस्पंद नाम से वेचते हैं।

संग्रह एवं संरक्षण – वीजों को अन्य अपद्रव्यों से साफ कर मुखवंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में संरक्षित करें।

संगठन – हरमल के वीजों में हर्मलीन, हर्मीन, हर्मेलोल हर्मेगागीन नामक ऐल्केलाइड्स पाये जाते हैं। मिला कर वीजों में ४% तक एल्केलायड्स पाये जाते हैं, जिनमें ६६% हर्मलीन होता है। इनके अतिरिक्त रंजक तत्त्व युक्त एक राल भी मिलता है, जिसमें भांग-जैसी मादक गंध होती है।

वीर्यकालावधि – १-२ वर्ष।

स्वभाव – हरमल अति उष्ण एवं रूक्ष होता है। यह आक्षेप-हर, मादक, स्वापजनन, वेदनास्थापन, आर्तवजनन, स्तन्य, वाजीकर, कोष्ठवात प्रशमन, क्रमिघ्न, तथा वातकफनाशक होता है।

हल्दी (हरिद्रा)

नाम। सं०–हरिद्रा, रजनी, निशा, गौरी। हिं०–हलदी, हल्दी, हरदी। वं०–हलुद। म०–हलद। गु०–हलदर। पं०–हरदल, हरधल। अ०–उरूकुस्सफर। फा०–ज़र्दचोव (व:), दारज़र्द। अं०–टर्मेरिक (*Turmeric*), टर्मेरिक राइज़ोम (*Turmeric Rhizome*), टर्मेरिक रूट (*Turmeric Root*)। (क्षुप)–ले०–कुर्कूमा डोमेस्टिका *Curcuma domestica Val.* (पर्याय–*C. longa L.*)।

वानस्पतिक कुल – आर्द्रक-कुल (*Zingiberaceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष में विहार, मद्रास, वंगाल एवं वम्वई प्रान्त में लम्बे परिमाण में इसकी खेती की जाती है। सर्वत्र हल्दी पंसारियों के यहाँ मिलती हैं।

संक्षिप्त परिचय— हल्दी के वहुवर्षायु (वर्षानुवर्षी) स्वभाव के कोमल-काण्डीय (*Perennial herb*) ६० से ९० सें० मी० या २-३ फुट ऊँचे पौधे होते हैं, जो आपाततः देखने में अदरक के पौधों की भाँति लगते हैं। वायव्य भाग में प्रधानतः पत्तियों का पुंजमात्र होता है, जो ३० से ४५ सें० मी० या १-१॥ फुट तक लम्बी होती हैं। पत्रनाल भी प्रायः पत्र फलक के वरावर तथा कोशा-कार-से (*Sheathing*) होते हैं। पत्रफलक रूपरेखा में आयताकार भालाकार अग्र एवं आधार दोनों तरफ उत्तरोत्तर कम चौड़े होते जाते हैं। पुष्पवाहक दण्ड १५ सें० मी० या ६ इंच तक लम्वा होता है, जो प्रायः कोशाकार पत्रनालों से आवृत होता है। पुष्प पीत व

के सवृन्त काण्डज मंजरियों में निकलते हैं। भौमिक-काण्ड गाँठदार होता है, जिससे सूत्राकार जड़ें निकली होती हैं। प्रायः ६-१० महीने में फसल तैयार हो जाती है। जब नीचे की पत्तियाँ सूख कर पीली पड़ जाती हैं तब कन्द खोदकर पृथक् कर लिये जाते हैं। बाजारों में भेजने के पूर्व रंग रूप को ठीक करने के लिए इनको संस्कारित भी करते हैं। हल्दी का मुख्य कन्द प्रायः गोलाकार गांठदार होता है, जिससे छोटी अंगुली की भाँति लम्ब गोल शाखाएँ लगी होती हैं। व्यवसायी प्रायः इन दोनों प्रकार की गाँठों को पृथक्-पृथक् बेचते हैं। लम्बी हल्दी गोल की अपेक्षा अधिक अच्छी समझी जाती है।

उपयोगी अंग – कन्दाकार भौमिक-काण्ड।

मात्रा––चूर्ण–१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
स्वरस–१ से २ तोला।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में हल्दी की गाँठें दो प्रकार की मिलती हैं––(१) गोल (*Round turmeric*) तथा (२) लम्बी (*Long turmeric*)। गोल कन्द रूपरेखा में लट्वाकार आयताकार या सेव के आकार के (*Pyriform*) होते हैं। चौड़ाई प्रायः लम्बाई की आधी होती है। लम्बी हल्दी १८.७५ मि० मी० से ५ सें० मी० (॥।-२ इंच) तक लम्बी १ सें० मी० से १.८७५ सें० मी० या $\frac{3}{8}$ से $\frac{3}{4}$ इंच तक मोटी होती है। हल्दी की उक्त गाँठें बाहर से पीले रंग की अथवा पीताभ भूरे रंग की होती हैं। इस पर जगह-जगह टूटी हुई जड़ों के चिह्न होते हैं। गांठों पर अनेक गोल-गोल वलयाकार या मुद्रिकाकार चिह्न (*Annulations*) होते हैं। तोड़ने पर टूटे हुए तल वत्सनाभ की तरह टूटते हैं (*Fracture horny*) तथा अंदर का भाग गाढ़े पीले रंग का अथवा रक्ताभ पीत वर्ण का होता है। हल्दी में एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि पायी जाती है, तथा स्वाद में यह तिक्त एवं सुगंधित होती है। मुँख में चावने पर लाला स्राव पीले रंग का हो जाता है। हल्दी चूर्ण रक्ताभ पीत वर्ण का होता है। उत्तम हल्दी में उड़नशील तेल––कम-से-कम ४% होता है। ऐल्कोहल में विलेय सत्व–कम-से-कम ८%। अम्ल में अनघुलनशील भस्म–अधिकतम १%। विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य–अधिकतम २%। जलाने पर भस्म अधिकतम ६% तक प्राप्त होती है। औषधीय प्रयोग के लिए लम्बी हल्दी अधिक उत्तम समझी जाती है।

परीक्षण –(१) संकेन्द्रित गंधकाम्ल (*Sulphuric acid*) अथवा गंधकाम्ल एवं ऐल्कोहल (६०%) के मिश्रण में हल्दी डालने से यह गाढ़े लाल रंग की हो जाती है। (२) अब इसमें टंकणाम्ल (बोरिक एसिड *Boric acid*) डालने से रंग में परिवर्तन होकर रक्ताभ भूरा (*Reddishbrown*) हो जाता है। क्षार (*Alkalies*) डालने पर पुनः यह बदल कर हरिताभ नीला (*Greenish-blue*) हो जाता है। (३) फिल्टर पेपर का एक टुकड़ा लेकर हल्दी के सुरासार-सत्व (*Alcoholic extract*) से तर कर सुखा लें। अब इसे पुनः बोरिकएसिड सॉल्यूशन से तर कर उस पर थोड़ा हाइड्रोक्लोरिक-एसिड डालें और फिल्टर पेपर को फिर सुखा लें। इस प्रकार संस्कारित करने से फिल्टर पेपर का रंग गुलाबी या भूरापन लिये लाल हो जाता है। पुनः यह क्षारीय द्रव्य के सम्पर्क से गाढ़ा नीला या हरिताभ काला (*Greenish-black*) हो जाता है। शक्ति प्रमापन–एतदर्थ प्रतिशतक उत्पत् तैल की मात्रा का प्रमापन किया जाता है।

संग्रह एवं संरक्षण–हल्दी चूर्ण को अच्छी तरह मुखबन्द पात्रों में रख कर अँधेरी जगह में रखना चाहिए और पात्र के अन्दर नमी या आर्द्रता (*Moisture*) नहीं पहुँचनी चाहिए।

संगठन – हरिद्रा में कर्कुमिन ($C_{21}H_{20}O_4$) नामक स्फटिकीय स्वरूप का पीत रंजक तत्त्व पाया जाता है, जो ऐल्कोहल में घुल जाता है, और विलयन गाढ़े पीले रंग का प्राप्त होता है। क्षारों के सम्पर्क से उक्त विलयन रक्ताभ भूरे रंग का हो जाता है। कन्दों में (४–६%) उत्पत् तैल पाया जाता है, जिसमें कर्पूर-जैसी हल्की सुगन्धि आती है। तैल का मुख्य घटक कर्कुमेन (*Curcumen*) नामक टर्पीन (*Terpene*) होता है। इनके अतिरिक्त (२४% तक) स्टार्च एवं (३०%) तक ऐल्बुमिन जातीय तत्त्व (*Albuminoids*) भी पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष तक।

स्वभाव––गुण–रुक्ष, लघु। रस–तिक्त, कटु। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, पित्तरेचक एवं पित्तशामक, वेदनास्थापन, रुचिवर्धक, पित्तरेचन, कटु पौष्टिक, आमपाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न, रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक एवं श्लेष्मनिःसारक, एवं रक्तस्तम्भक, कफघ्न, मूत्रसंग्रहणीय, प्रमेहघ्न, मूत्रविरजनीय, गर्भाशय, स्तन्य एवं शुक्र शोधन, कुष्ठघ्न, विषघ्न। वाह्यतः स्थानिक

प्रयोग से शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण एवं लेखन होता है। यूनानी मतानुसार यह तीसरे दर्जे में गरम एवं खुश्क है। अहितकर–हृदय के लिए। निवारण–विजौरा और नीबू का रस।

मुख्ययोग – हरिद्राखण्ड,

विशेष – हरिद्रा चूर्ण विभिन्न प्रमेहों में स्वतंत्र रूप से एकौषधि के रूप में अथवा अनुपान के रूप में व्यवहृत होता है।

चरकोक्त (सू० अ० ४) लेखनीय, कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न तथा विषघ्न महाकषाय एवं तिक्तस्कन्ध (वि० अ० ८) और शिरोविरेचन द्रव्यों (सू० अ० २) में तथा सुश्रुतोक्त हरिद्रादि, मुस्तादि गण (सू० अ० ३८) और श्लेष्म संशमन वर्ग (सू० अ० ३९) में हरिद्रा की भी गणना है।

हाऊबेर (हपुषा)

नाम। सं०–हपुषा, हवुषा। हिं०–हाऊबेर, हूवेर। पं०–अवहल, हाऊबेर, पामा। द०, बम्ब०–अवहल। क०–यठुर। अ०–हब्बुल अरअर, समरतुल् अरअर, अवहल्। फा०–समरसरोकोही, तुख्मरहल। अं०–जुनिपर बेरीज (*Juniper Berries*)। लै०–जूनिपेरुस फ्रुटुक्स (*Junipers Fructus*)। वृक्ष का नाम–जूनिपेरुस कोम्मूनिस (*Juniperus communis Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – देवदार्वादि-कुल कोनिफ़ेरे (*Coniferae*)।

प्राप्तिस्थान – उत्तर-पश्चिम हिमालय में कुरम की घाटी तक १५२३ मीटर से ४२६७ मीटर या ५,००० से १४,००० फुट की (सामान्यतः ३३३७.७ से ४२६७ मीटर या ११,००० से १४,०००) ऊँचाई तक इसके जंगली वृक्ष पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त फारस, यूरोप एवं उत्तरी अमरीका में भी यह प्रचुरता से होता है।

संक्षिप्त परिचय – हपुषा की घनी झाड़ियाँ होती हैं, जिनमें चतुर्दिक शाखाएँ फैलती हैं, जो ऊपर की ओर न बढ़ कर प्रायः नम्य स्वरूप से बढ़ती हैं। पत्तियाँ ६.२५ मि० मी० से १८.७५ मि० मी० या $\frac{1}{4}$ से $\frac{3}{4}$ इंच तक लम्बी, रेखाकार (*Linear*), अग्र पर नुकीली (*Sharply pointed*) देखने में सरो की पत्तियों की तरह तथा ३–३के चक्र में (*in whorls of* 3) निकलती हैं। शाखा के साथ इनकी स्थिति समकोण पर होती है। ऊर्ध्व तल किंचित् खातोदर, चिकना तथा फीके रंग का अथवा नीलाभ श्वेत वर्ण का तथा अधःपृष्ठ या पृष्ट तल (*dorsal surface*) गाढ़े हरे रंग का तथा उन्नतोदर (*Convex*) होता है। पुष्प पत्रकोणोद्भूत नम्र अवृन्तकाण्डज (*Catkins axillary*) पुष्प व्यूहों में निकलते हैं। पुष्प एकलिंगी जो पृथक्-पृथक् पौधों पर (*Dioecious*) होते हैं। फल लगभग गोल (*Subglobose*) १० मि०मी० या $\frac{3}{8}$ इंच तक लम्बा अर्थात् जंगली बेर के बराबर तथा लाल रंग का होता है, जिनके भीतर (१–३) तक बीज होते हैं। फल प्रायः अगस्त सितम्बर के महीनों में पकते हैं और पकने पर इनका छिलका नीलाभ काले (*Bluish-black*) वर्ण का हो जाता है। औषधि में इन्हीं का उपयोग होता है।

उपयोगी अंग – पक्व फल एवं फलों से प्राप्त उड़नशील तैल।

मात्रा – चूर्ण — ३ से ५ ग्राम या ३ से ५ माशा।
क्वाथ — १ से २ तोला।
तैल — दीपनार्थ १–२ बूंद।
४ से ६ बूंद।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – हाऊबेर की बेरी प्रायः गोलाकार-सी (*Sub-spherical berry-like*) व्यास में ५ मि० मी० से १० मि० मी० या $\frac{1}{5}$ से $\frac{2}{5}$ इंच, बैंगनी रंग लिये काले रंग की (*Purplish-black*) तथा खाकस्तरी रंग के मुलायम क्षोद (*Greyish waxy bloom*) से आवृत होती है। शीर्ष पर तीन परिखाएँ-सी भिन्न दिशाओं में जाती दिखाई (*Tri-radiate furrows*) देती हैं। फलमूल के साथ एक छोटा डंठल लगा होता है, जहाँ कोमल पत्रों अर्थात् निपत्र (*Bracts*) के १–२ या ३ चक्र पाये जाते हैं। फल में १–३ तक लट्वाकार (*Ovate*) बीज पाये जाते हैं, जिस पर कतिपय (६–१०) तैल ग्रंथियाँ पायी जाती हैं। फलों में भूरे रंग का गूदा पाया जाता है, जिसमें तैल कोषाएँ (*Oil cells*) पायी जाती हैं। अवहल में वल्साँ-जैसी एक सुगंधि पायी जाती है तथा स्वाद में किंचित् मधुर एवं तारपीनवत् चरपरा होता है।

कच्चे या अप्रगल्भ (*Immature*) एवं

विकृत फल	— अधिकतम	१०%
विजातीय सेन्द्रिय अपद्रव्य	— ,,	३%
अम्ल में अघुलनशील अम्ल	— ,,	२%

शक्ति प्रमापन (*Assay*)–चूँकि हाऊबेर की क्रियाशीलता इसमें पाये जाने वाले उड़नशील तैल के ऊपर है, अतएव इसकी उत्तमता एवं शक्तिप्रमापन के लिए इसमें पाये जाने वाले तैल की प्रतिशतक मात्रा का प्रमापन किया जाता है। देशी हाऊबेर में विदेशी की अपेक्षा

उड़नशील तैल कम पाया जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – हिमालय प्रदेश में उक्त हाऊबेर के अतिरिक्त इसकी एक और जाति पायी जाती है, जिसे जुनीपेरुस माक्रोपोडा (*Juniperus macropoda Boiss.*) कहते हैं। इसके फल अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। रासायनिक संघटन की दृष्टि से यह प्रथम जाति से मिलते-जुलते हैं। अतएव उसके स्थान में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

रोगन अरअर (ओलेउम जूनीपेरी) *Oleum Juniperi* (*ol. Juniper*) -ले०; ऑयल ऑवजूनिपर–अं०। यह रंगहीन या हरापन लिये हल्के पीले रंग के धुँधले द्रव के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की सुगंधि पायी जाती है तथा स्वाद में जलनयुक्त तिक्त (*Burning bitter taste*) होता है।

आपेक्षिक घनत्व—जूनीपेरुस माक्रोपोड का तेल १५° तापक्रम पर ०.८४०–०.८५०। जूनीपेरुस कोम्मूनिस २०° तापक्रम पर ०.८६२–०.८८२।

Optical roration ३° से १८° (जू० माक्रो०)। १° से १५° (जू० कोम्मू०)।

Refractive Index–१.४७० से १.४८०५ (जू० माक्रो०)। (२०तापक्रमपर) १.४७६ से १.४८४ (जू० कोम्मू०)।

विलेयता—ताजा ज्युनियर का तेल ४ गुने आयतन के ऐल्कोहल् (९५%) में विलेय होता है और स्वच्छ विलयन वनता है। रखने से यह धीरे-धीरे गाढ़ा हो जाता है और विलेयता भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। बेंजीन, कार्वन डाइसल्फाइड तथा क्लोरोफार्म में किसी भी मात्रा में मिल जाता (*Miscible*) है।

संग्रह एवं संरक्षण – पक्व फलों को संग्रह कर अच्छी तरह मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें। रोग़न अरअर या ज़्युनियर ऑयल को अच्छी तरह डाटवंद शीशियों में अँधेरे एवं शीतल स्थान में रखना चाहिए।

संगठन – भारतीय हाऊबेर में उड़नशील तेल (रोग़न अरअर या ज्युनियर ऑयल तथा लगभग १०% राल (*Resin*), ३३% तक शर्करा, एक तिक्त सत्व एवं ज्युनिपेरिन (*Juniperin*) आदि तत्त्व पाये जाते हैं। तेल में पाइनीन (*Pinene* $C_{10}H_{16}$) कैम्फीन (*Camphene* $C_{10}H_{16}$ केडिनीन (*Cadinene* $C_{15}H_{24}$), (टर्पिनिओल *Terpineol* $C_{10}H_{16}O$, तथा ज्युनियर कैम्फर आदि तत्त्व पाये जाते हैं।

वीर्यकालावधि – हाऊबेर में १ वर्ष तक तथा तेल में दीर्घकाल तक।

स्वभाव – गुण–गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु, तिक्त। विपाक–कटु। वीर्य–उष्ण। प्रधान कर्म–कफवात शामक, मूत्रल एवं मूत्रमार्गविशोधक, आर्त्तवप्रवर्त्तक, कफनिस्सारक, दीपन, अनुलोमन, नाड़ी उत्तेजक। यूनानी मतानुसार दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर–गर्भशातक है। प्रतिनिधि–आर्तवजनन में सुद्दाव की पत्ती।

मुख्य योग – हपुषादि चूर्ण।

हिंस्रा (हँइसा)

नाम। सं०–हिंस्रा, कन्थारी। हिं०–हैंस, हँइसा। गु०–कन्थार। ले०–काप्पारिस सेपीआरिआ (*Capparis-Sepiaria Linn.*)।

वानस्पतिक कुल – वरुण-कुल (काप्पारीडासे : (*Cappari daceae*)।

प्राप्तिस्थान – समस्त भारतवर्ष (पश्चिम में सिंध, पंजाव से लेकर ब्रह्मा तक तथा दक्षिण में लंका तक) के शुष्क प्रदेशों में झाड़ीदार जंगलों में तथा पुराने बग़ीचों में इसके गुल्म पाये जाते हैं। हैंसा की जड़ का व्यवहार वाह्यतः शोथघ्न के रूप में किया जाता है, किन्तु वाजारों में विक्रयार्थ प्राय: इसका संग्रह नहीं किया जाता।

संक्षिप्त परिचय – इसके गुल्म विस्तृत और खड़े परन्तु शाखाएँ पतली, लम्वी एवं प्रसरणशील स्वभाव की होती हैं। ग्रन्थियों पर टेढ़े तीक्ष्ण काँटों के जोड़े होते हैं; तथा शाखाएँ कभी-कभी तूलसम श्वेताभ रोमावृत होती हैं। पत्तियाँ १२.५ मि० मी० से ४२.५ मि० मी० या ½–१$\frac{७}{१०}$ इंच तक लम्वी, १२.५ मि० मी० से १८.७५ मि० मी० या ।।–।।। इंच चौड़ी, रूपरेखा में लट्वाकार आयताकार, अथवा अभिलट्वाकार या आयताकार अभिप्रासवत् होती हैं। अग्र कुछ नुकीला या कुण्ठित तथा पर्णवृन्त २ मि० मी० या $\frac{१}{१२}$ इंच लम्वा होता है। पुष्प सफेद रंग के तथा व्यास में ८ से १२.५ मि० मी० या ⅓ से ½ इंच होते हैं, जो छोटे पुष्पवाहकदण्ड (कभी-कभी इसका अभाव होता है) पर छत्रक की भाँति स्थित होते हैं। पुष्पवृन्त (*Pedicels*) पतले, कोमल तथा

६.२५ मि० मी० से १२.५ मि० मी० या ¼ से ½ इंच लम्बे होते हैं। फल मटर की भाँति तथा पकने पर काले हो जाते हैं। आयुर्वेदीय साहित्य में इसका वर्णन 'हिंस्रा' एवं 'कन्थारी' आदि नामों से किया गया है। हैंसा एवं कन्थार आदि स्थानिक नाम इसी के पोषक हैं।

उपयोगी अंग – मूल।

मात्रा – (बाह्य प्रयोग के लिए) आवश्यकतानुसार।

संग्रह एवं संरक्षण – प्राय: सर्वत्र सुलभ होने से आवश्यकता पड़ने पर ताजी जड़ प्राप्त की जा सकती है। जाड़ों में मूल का संग्रह कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें तथा इसे पृथक् विषैली औषधियों के साथ रखें।

वीर्यकालावधि – १ वर्ष।

स्वभाव – गुण-कर्म एवं प्रयोग की दृष्टि से हैंसा को भी बहुत कुछ करेरूआ की ही भाँति समझना चाहिए। इसके मूलकन्द का व्यवहार उग्र शोथों को बैठाने एवं पकाने के लिए किया जाता है।

हींग (हिंगु)

नाम। सं०–हिंगु, रामठ, बाह्लीक। हिं०–हींग, हिंग। बं०–हिंगु, हिङ्। म०–हिंग। गु०–हींग, वघारणी। अ०–हिल्तीत। फा०–अंगोज़, अंगज़द। अं०, ले०–एसेफीटिडा (*Asafoetida*)। वनस्पतिक का नाम—(१) फ़ेरुला नार्थेक्स (*Ferula narthex Boiss.*) (२) फ़ेरुला फेटिडा (*Ferula foetida Bunge Regel.*)।

वानस्पतिक कुल – छत्रक-कुल (ऊम्बेल्लीफ़ेरी *Umbelliferae*)।

प्राप्तिस्थान – फ़ेरुला नार्थेक्स के पौधे कश्मीर, बालटिस्तान एवं आस्तोर (*Astor*) में प्रचुरता से पाये जाते हैं। फेरुला फेटिडा फारस, कन्धार एवं अफगानिस्तान आदि में होता है। व्यावसायिक उत्तम हींग इन्हीं वनस्पतियों से प्राप्त की जाती है। क्वेटा, डेरा ईस्माइलखाँ, मुल्तान एवं पेशावर में हींग की बड़ी मंडियाँ हैं। भारतवर्ष में हींग का आयात मुख्यत: अफगानिस्तान तथा फारस से तथा उक्त बाजारों से होता है। हींग सर्वत्र बाजारों में मिलती है।

संक्षिप्त परिचय – हींग एक तैल एवं रालयुक्त गोंद (*Oleo-gum-resin*) है, जो उक्त वनस्पतियों की जड़ एवं प्रकाण्ड पर चीरा लगाने से प्राप्त होती है। फ़ेरुला नार्थेक्स के १.५ से ३ मीटर या ५–१० फुट ऊँचे, बहुवर्षायु स्वभाव के गंधयुक्त एवं कोमलकाण्डीय पौधे होते हैं। पत्तियाँ कोमल, रोमश, संयुक्त, २–४ पक्षयुक्त होती हैं। अन्तिम खण्डों के पत्रकों के किनारे मुड़े हुए, सरल अथवा सूक्ष्म दन्तुर होते हैं। पत्राधार काण्डसंसक्त होता है। पुष्प छोटे-छोटे तथा पीले रंग के होते हैं, जो संयुक्त छत्रकों (*Compounds umbels*) में निकलते हैं। फल ३ मि० मी० से ५ मि० मी० या ⅛ से ⅕ इंच लम्बे, ⅕ इंच चौड़े होते हैं। इसकी जड़ मोटी एवं सशाख होती है। फ़ेरुला फ़ेटिडा के क्षुप भी पूर्ववत् होते हैं, किन्तु इसकी जड़ कन्दाकार (गाजर की तरह) होती है। इसके फलों पर प्राय: तैल नलिकाएँ या तैलिकाएँ (*Vittae*) नहीं पायी जातीं। हींग के फलों को **अन्जुदान** कहते हैं। यूनानी वैद्यक में इसका भी औषधीय व्यवहार किया जाता है। पत्तियों का स्थानिक लोग शाक बनाते हैं। (हींग का संग्रह)—फारसी हींग के पौधों की जड़ें गाजर की भाँति कन्दवत् एवं काफी मोटी होती हैं। ४–५ वर्ष आयु के होने पर पौधे हींग के संग्रह के योग्य हो जाते हैं। मार्च-अप्रैल के महीनों में पुष्पागम के पूर्व जड़ के पास की मिट्टी खुरच कर हटा दी जाती है, जिससे जड़ों का ऊपरी भाग दिखाई देने लगता है। अब जड़ के कुछ ऊपर तने से पौधा बिल्कुल काट दिया जाता है। कटे तल से दूध-जैसा गाढ़ा स्राव निकलने लगता है। धूल-मिट्टी आदि अपद्रव्यों को मिलने से बचाने के लिए कटे तल को उपयुक्त पात्रों से ढंक देते हैं। कुछ दिनों के बाद स्राव को खुरच कर पृथक् कर लेते हैं, और दूसरा ताजा क्षत कर देते हैं। इस प्रकार ३ महीने तक हींग का संग्रह किया जाता है, जब तक कि स्राव निकलना बिल्कुल बंद नहीं हो जाता। कश्मीर आदि में हींग का संग्रह तने एवं जड़ दोनों से किया जाता है। तने से हींग का संग्रह प्राय: जून के महीने में किया जाता है, जब कि फल अभी अपक्व ही होते हैं। जड़ से संग्रह जुलाई-अगस्त के महीने में किया जाता है जब कि पत्तियाँ सूख कर गिर जाती हैं।

उपयोगी अंग – गोंद (*Oleo-gum-resin*)

मात्रा। शुद्ध हींग–१२५ मि० ग्रा० से ५०० मि० ग्रा० या १ से ४ रत्ती।

शुद्धाशुद्ध परीक्षा – बाजार में हींग प्राय: दो रूपों में मिलती है—(१) अश्रुवत् गोल-गोल या चपटे दानों (जो

व्यास में ५ मि० मी० से ३१.२५ मि० मी० या $\frac{१}{५}$ से १$\frac{१}{४}$ इंच तक होते हैं) के रूप में (*Tears*) जो खाकस्तरी या मटमैले पीताभ वर्ण के होते हैं; (२) ढेलों के रूप में, जिसमें अनेक अश्रुवत् दाने परस्पर चिपके होते हैं। बाजारू हींग प्रायः इसी रूप में मिलती है। कभी-कभी हींग राल की तरह जमे हुए पेस्ट (*Paste*) के रूप में भी मिलती है। हींग का ताजा कटा हुआ तल पीताभ वर्ण का तथा पारभासी अथवा सफेद तथा अपारदर्शक होता है, जो उत्तरोत्तर गुलाबी तथा लाल और अन्ततः लालिमा लिये भूरे रंग का हो जाता है। फारस से हींग चमड़े के थैलों में बाँध कर भेजी जाती है। जब यह थैले खोले जाते हैं, तो बीच में ढेलों के दबाव से शुद्ध हींग अर्ध घन द्रव के रूप में मिलती है। इसको पृथक् **हीरा हींग** के नाम से अधिक मूल्य पर बेचते हैं। हींग में लहसुन-जैसी उग्र स्थायी गंध होती है, तथा स्वाद में यह कटु एवं तिक्त होती है। उत्तम हींग को जल में घोलने पर धीरे-धीरे पूर्णतः घुल जाती है और विलयन दुधिया घोल-जैसा हो जाता है। पात्रतल में प्रायः कोई अवशेष प्रक्षिप्त नहीं होता। दियासलाई लगाने पर उत्तम हींग प्रायः पूरी-की-पूरी जल जाती है। इसको जलाने पर ३ से ५% तक भस्म प्राप्त होती है। उत्तम हींग में अम्ल में अनघुलनशील भस्म—अधिकतम १५% तथा (२) ऐल्कोहल में अविलेय सत्व अधिकतम ५०% प्राप्त होते हैं।

परीक्षण – सल्फ्यूरिक एसिड के सम्पर्क से इसका रंग गाढ़े लाल रंग का या लालिमा लिये भूरे रंग का हो जाता है। पुनः जल से एसिड का प्रक्षालन कर देने से बैंगनी रंग का हो जाता है। हींग के ताजे कटे हुए तल पर नाइट्रिक एसिड (५०% *V/V*) डालने से उसका रंग हरा हो जाता है।

प्रतिनिधि द्रव्य एवं मिलावट – बाजारों में अश्रुवत् दानों के रूप में जो हींग आती है, वह सबसे अच्छी होती है। शेष पिण्ड एवं पेस्ट के रूप में हींग में बालू, कंकड़, मिट्टी एवं हींग के पौधों के काण्ड मूल पत्रादि के टुकड़े मिले होते हैं। कभी-कभी इसमें बबूल का गोंद एवं आटा आदि अपद्रव्य जान-बूझ कर मिला दिया जाता है। कन्धारी हींग प्रायः रक्ताभ वर्ण की होती है। इसमें तत्स्थानीय लाल मिट्टी का मिलावट होता है। कभी-कभी (विशेषतः फारसी हींग में) जवाशीर (*Galbanum*) एवं रोजिन आदि अन्य निर्यासों का मिलावट भी होता है। प्रतिनिधि द्रव्य– उक्त जातियों के अतिरिक्त फारस में हींग की कतिपय अन्य जातियाँ यथा फ़ेरुला आल्लिआसेउस (*F. alliaceous Boiss.*) आदि भी पायी जाती हैं, जिनसे हींग का संग्रह किया जाता है। यह हीन कोटि की होती है।

संग्रह एवं संरक्षण – हींग को मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखना चाहिए। पात्र के अन्दर आर्द्रता या नमी नहीं पहुँचनी चाहिए।

संगठन – हींग में ४०–६४% तक रालीय अंश, २५% गोंद एवं ६ से १७% उत्पत् तैल पाया जाता है। हींग की अपनी विशिष्ट गंध एवं क्रियाशीलता इसी उत्पत् तैल के कारण होती है। उक्त तैल ताजी अवस्था में रंगहीन द्रव के रूप में होता है, जो कालान्तर से पीले रंग का हो जाता है। इसमें टर्पीन्स (*Terpenes*) एवं डाइसल्फाइड्स आदि तत्त्व होते हैं। रालीय अंश का आसवन करने से अम्बेलिफेरोन (*Umbelliferone*) नामक तत्त्व प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि – दीर्घ काल तक।

स्वभाव – गुण–लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य-उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक, पित्तवर्धक, उत्तेजक, वेदनास्थापन, आक्षेपहर, रोचन, दीपन-पाचन, अनुलोमन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न, जन्तुघ्न, कफनिस्सारक, श्वासहर, आर्तवजनन, कटु पौष्टिक, वल्य, ज्वरघ्न, शीतप्रशमन, आदि। हींग का शरीर से निस्सरण श्वासनलिका, त्वचा एवं वृक्कों द्वारा होता है।

यूनानी मतानुसार हींग चौथे दर्जे में गरम एवं दूसरे दर्जे में रूक्ष तथा इसके फल (जिनको बीज कहते हैं) अर्थात् अंजुदान दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अहितकर—यकृत्, मस्तिष्क एवं उष्ण प्रकृति वालों के लिए। निवारण–अनार, कतीरा, सेब, चन्दन, अनीसूँ। बीज—वस्ति के लिए अहितकर है। निवारण–खरबूजे के बीज।

मुख्य योग – हिंग्वादि वटी, हिंग्वष्टक चूर्ण, रजःप्रवर्त्तनी वटी, हिंगुकर्पूर वटिका।

विशेष – मौखिक सेवन के लिए हींग का शोधन कर व्यवहृत करते हैं। एतदर्थ इसको (१) आठ गुने जल में घोल

लेते हैं और उक्त घोल को मन्द आँच पर पका कर पुनः जलहीन कर लेते हैं, अथवा (२) गाय के घी में भूनते हैं (भृष्ट हिंगु)। जब शुष्क और खर हो जाता है, तो उतार लेते हैं। प्रथम प्रकार शोधित हिंगु फुफ्फुस रोगों में तथा द्वितीय प्रकार उदर रोगों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।

चरकोक्त (सू० अ० ४) दीपनीय एवं संज्ञास्थापन महाकषाय एवं कटुस्कन्ध तथा सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि और ऊपकादि गण के द्रव्यों में हिंगु का भी उल्लेख है।

हुरहुर

नाम। सं०-अजगंधा, उग्रगंध, सुवर्चला ? आदित्यभक्ता ? हिं०-हुलहुल, हुरहुर। को०-चमनी। संथा०-श्वेत काटा अड़ा (सफेद हुर-हुर)। बं०-हुरहुरिया। पं०-बुगरा। म०-तिलवण। गु० - तलवणी, तलवणा। सिंध०-किनी वुटी। ले०-(१) श्वेतपुष्पा-गीनांड्रोप्सिस गीनांड्रा *Gynandropsis gynandra* (L.) *Briq.* (पर्याय- *G. pentaphylla* DC.)। (२) पीतपुष्पा-क्लेओम विस्कोसा *Cleome viscosa Linn.* (३) वैंगनी-क्लेओम मोनोफ़िल्ला (*Cleome monophylla.*)।

वानस्पतिक कुल – वरुण-कुल (काप्पारीडासे *Capparidaceae*)।

प्राप्तिस्थान – भारतवर्ष के समस्त उष्ण प्रदेशों में चौमासे में हुरहुर के पौधे घास की तरह उगते हैं। गाँवों के आस-पास परित्यक्त भूमि में, बगीचों, सड़कों के किनारे तथा जोते हुए खेतों में इसके पौधे मिलते हैं। वैंगनी पुष्प का हुरहुर विशेपतः बिहार-उड़ीसा से लेकर गुजरात तथा दक्षिण भारत में (कोंकण, महाराष्ट्र आदि) में पाया जाता है। हुरहुर के वीज कभी-कभी वाजारों में पंसारियों के यहाँ मिलते हैं।

परिचय – श्वेत हुरहुर के उग्र दुर्गन्धयुक्त १–३ फुट ऊँचे पौधे होते हैं। पत्तियाँ सपत्रक, पाणिवत्, पत्रक संख्या में ५ तथा रूपरेखा में अभिलट्वाकार तथा ग्रंथिल रोमश होते हैं। पुष्प सफेद या वैगनी रंग के होते हैं। मञ्जरियाँ स्पर्श में चिपचिपी (*Glutenous*) होती हैं। निपत्र (*Bracts*) भी त्रि-पत्रक होते हैं। पुंकेशर लम्बा तथा वैंगनी रंग का होता है। फलियाँ (*Capsules*) ५ सें० मी० से १० सें० मी० या २–४ इंच लम्बी अग्र की ओर क्रमशः पतली होती हैं। सिरे पर कुक्षिवृन्त का अवशेप लगा होता है। बाह्य तल रेखांकित तथा चिकना होता है। फलियों में सरसों के बराबर काले रंग के तथा रूपरेखा में कुछ-कुछ वृक्काकार वीज होते हैं, जिनको मुख में चावने पर कुछ सरसों-जैसा स्वाद होता है। पत्तियों को मसल कर सूंघने पर एक उग्र दुर्गन्धि आती है तथा स्वाद में यह तीक्ष्ण (*Pungent*) होती हैं। कहीं-कहीं आदिवासी लोग पत्तियों का शाक बनाते हैं। (२) पीले हुरहुर के पौधे भी कुछ पहले की ही तरह होते हैं, किन्तु इसमें नीचे की पत्तियाँ तो ५-पत्रकों वाली किन्तु ऊपर के पत्र त्रिपत्रक होते हैं। वीज सफेद हुरहुर की तरह किन्तु गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। गुण-कर्म की दृष्टि से तीनों ही प्रकार के हुरहुर प्रायः मिलते-जुलते तथा एक दूसरे के प्रतिनिधि रूप से ग्राह्य हैं।

उपयोगी अंग – वीज, पत्र, मूल।

मात्रा – वीजचूर्ण —१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।
पत्रस्वरस—३ माशा से १ तोला।
मूल—१ ग्राम से ३ ग्राम या १ से ३ माशा।

संग्रह एवं संरक्षण – जाड़ों के अन्त में पक्व फलियों से वीजों को प्राप्त कर मुखबंद पात्रों में अनार्द्र शीतल स्थान में रखें तथा पात्र पर इसके नाम का प्रपत्रक (लेविल) लगा दें।

संगठन – हुरहुर के ताजे पौधों को कूचने से एक उत्पत् तैल पाया जाता है, जिसमें लहसुन तथा सरसों के समान गुणकर्म होते हैं। परन्तु शुष्क पौधों में यह नहीं पाया जाता। वीजों से एक स्थिर तैल प्राप्त होता है।

वीर्यकालावधि – वीज—१ वर्ष।

स्वभाव – गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। रस–कटु। विपाक–कटु। वीर्य-उष्ण। प्रधान कर्म–कफवातशामक। स्वेदजनन, ज्वरघ्न, दीपन-पाचन, अनुलोमन, कोष्ठवातप्रशमन, शूल-हर, कृमिघ्न (विशेपतः केंचुआ नाशक)। तीनों प्रकार के हुरहुर के वीज स्थानिक प्रयोग से राई के समान क्रिया करते और दाहजनन, उत्तेजक, पूतिहर, वेदनास्थापन तथा रक्तिमाजनक होते हैं। कर्णशूल एवं पूतिकर्ण में पत्रकल्क एवं स्वरस सिद्ध तैल कान में डालने से उपकार होता है। १–३ माशा हुरहुर वीज का चूर्ण खिलाने से उदरगत केंचुआ कृमि का निर्हरण होता है।

अनुक्रमणिका

इस ग्रन्थ, वनौषधि निदर्शिका में आये हुए द्रव्यों के विविध भाषानामों की हिन्दी वर्णानुक्रमणिका

[ह]

Index of Latin and English Names

[B]

[C]

[D]

[F]

[G]

[M]

[Q]

[R]

[S]